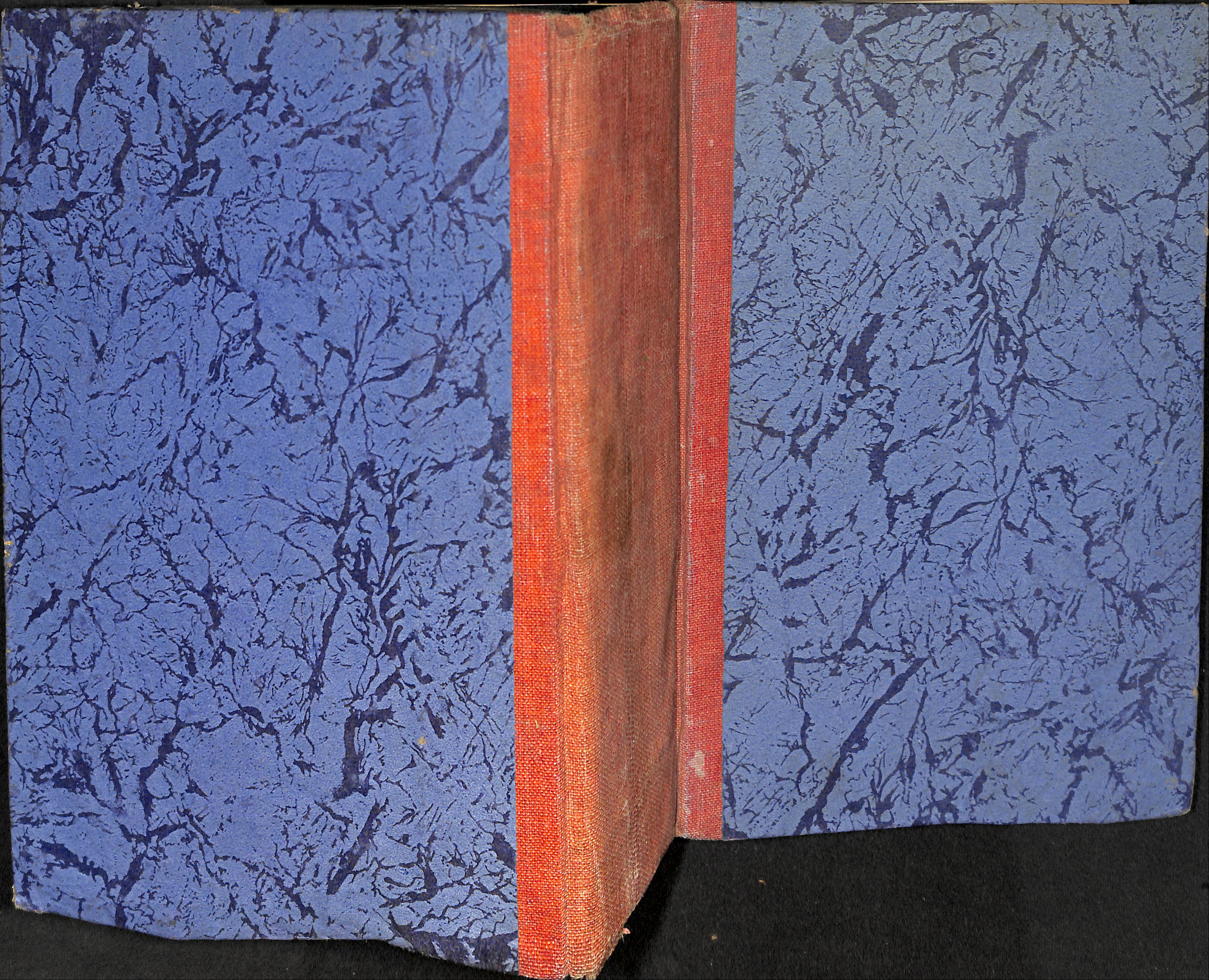

Ishwar Ashram Trust
LIBRARY
ACC. No.... 7/2
New Delhi

श्रीयोगवाशिष्ठ भाषा

द्वितीय भाग

[निर्वाण प्रकरण]

श्रीमत्पटियाला नगर-नरेश की परम जिज्ञासु
भक्त दोनों बहनों के इस अपार संसार
से उद्धरणहेतु कथा श्रवण प्रसंग से
साधु रामप्रसादजी महाराज
निरंजनीजी-कृत

संशोधित संस्करण

प्रकाशक
नवलकिशोर प्रेस
लखनऊ

* * *

[आठवीं बार सन् १९४१ ई० सर्वाधिकार सुरक्षित]

Printed by K. D. Seth, at the N. K. Press, Lucknow.

NEWAL KISHORE BOOK DEPOT
PRICE Rs. 6/12/-

योगवाशिष्ठ की अनुक्रमणिका ।

द्वितीय भाग

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क

निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध ।

१ दिवसरात्रिव्यापार १
२ विश्रामदृढ़ीकरण ३
३ ब्रह्मैक्यप्रतिपादन ७
४ चित्तभावाभाव ८
५ राघवविश्रान्ति १०
६ अज्ञानमाहात्म्य ११
७ अविद्यालता १७
८ अविद्यानिराकरण.... १८
९ अविद्याचिकित्सा २०
१० जीवन्मुक्तिनिश्चयोपदेश २३
११ जीवन्मुक्तिनिश्चय.... २९
१२ ज्ञानज्ञेयविचार ३०
१३ भुशुण्डिउपाख्यान.... ३१
१४ भुशुण्डिदर्शन ३३
१५ भुशुण्डिसमागम ३४
१६ भुशुण्डिउपाख्यान.... ३५
१७ सन्तमाहात्म्य ३९
१८ भुशुण्डिउपाख्याने जीवितवृत्तान्त ४१
१९ चिरअतीत ४४
२० भुशुण्डिउपाख्याने सकल्पनिराकरण ४६
२१ भुशुण्डिप्राण अपानसमाधि ४७
२२ भुशुण्डिचिरंजीविहेतु ५१
२३ भुशुण्डिउपाख्यानसमाप्ति ५३
२४ परमार्थयोगोपदेश ५५
२५ देहसत्ताविचार ६०
२६ वशिष्ठआश्रम ६७
२७ रुद्रवशिष्ठसमागम ६८
२८ ईश्वरोपाख्याने जगत्परमात्मरूप ७०
२९ वशिष्ठेश्वरसंवादे चैतन्योन्मुखत्वविचार ७३
३० ईश्वरोपाख्याने मनप्राणोक्तप्रतिपादन ७९
३१ तथा देहपातविचार ८३
३२ तथा दैवप्रतिपादन ८६
३३ तथा परमेश्वरोपदेश ९०
३४ ईश्वरोपाख्यानदेवनिर्णय ९२
३५ महेश्वरवर्णन ९४
३६ ईश्वरोपाख्याने नीतिनृत्य ९६
३७ ईश्वरपा० अन्तर्बाह्यपू० ९६
३८ देवअर्चनाविधान ९८
३९ ईश्वरोपाख्याने देवपूजाविचार १०१
४० जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादन १०३
४१ परमार्थविचार १०६
४२ विश्रान्ति आगमन १०८
४३ चित्तसत्तासूचन १११
४४ बिल्वोपाख्यान ११३
४५ शिलाकोशोपदेश ११४
४६ सत्ताउपदेश ११६
४७ ब्रह्मैकताप्रतिपादन ११८
४८ स्मृतिविचारयोग १२०
४९ संवेदनविचार १२२
५० यथार्थोपदेश १२६
५१ नारायणावतार १३१
५२ अर्जुनोपदेश १३२
५३ अर्जुनोपदेश सर्वंब्रह्मप्रतिपादन १३८
५४ जीवनिर्णय.... .... १४०
५५ श्रीकृष्णसंवादे अर्जुनविश्रान्ति १४३
५६ श्रीकृष्णअर्जुनसंवादे भविष्यत्गीता १४६
५७ प्रत्यक् आत्मबोध १४८
५८ विभूतियोगोपदेश १५१
५९ जाग्रत्स्वप्नविचार १५२
६० ब्रह्मैक्यताप्रतिपादन १५३
६१ वैतालप्रश्नोक्ति १६५
६२ राजावैतालसंवादे वैतालब्रह्मपदप्राप्ति १६८
६३ भगीरथोपदेश १६९
६४ निर्वाणवर्णन १७२
६५ भगीरथोपाख्यानसमाप्ति १७३
६६ शिखरध्वजचुड़ालोपाख्यान १७४
६७ चुड़ालाप्रबोध १७६
६८ अग्निसोमविचारयोग १७८
६९ चिन्तामणिवृत्तान्त १९०
७० हस्तिआख्यान २०३
७१ हस्तिवृत्तान्त २०४
७२ शिखरध्वजसर्वत्याग २०७
७३ चित्तत्याग.... .... २१०
७४ राजविश्रान्ति २१३
७५ शिखरध्वजविश्रान्ति २१८
७६ शिखरध्वजबोध २१९
७७ शिखरध्वजप्रथमबोध २२३
७८ शिखरध्वजबोध २२४
७९ तथा २२६

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क

८० परमार्थउपदेश २२८
८१ शिखरध्वजबोध २३०
८२ शिखरध्वजश्रीप्राप्ति २३५
८३ विवाहलीला २४३
८४ मायाशक्रागमन २४४
८५ मायापिञ्जर २४६
८६ चुड़ालाप्राकट्य २४७
८७ शिखरध्वजचुड़ालाख्यान २५१
८८ बृहस्पतिबोधन २५२
८९ मिथ्यापुरुषाकाशरक्षाकरण २५५
९० मिथ्यापुरुषोपाख्यानसमाप्ति.... .... २५७
९१ परमार्थयोगोपदेश २५९
९२ महाकर्त्राद्युपदेश २६१
९३ कलनानिषेध २६४
९४ सन्तलक्षणमाहात्म्य २६७
९५ इक्ष्वाकुप्रत्यक्षोपदेश २७१
९६ राजाइक्ष्वाकुप्रत्यक्षोपदेश २७२
९७ मनुइक्ष्वाकुआख्याने सर्वंब्रह्मप्रतिपादन २७८
९८ परमनिर्वाण २८२
९९ मोक्षरूप २८५
१०० परमार्थोपदेश २८७
१०१ समाधान २९०
१०२ मनुइक्ष्वाकुसंवादसमाप्ति २९४
१०३ ज्ञानीलक्षणविचार २९६
१०४ कर्माकर्मविचार २९७
१०५ तुरीयपदविचार ३०२
१०६ काष्ठमौनवृत्तान्त ३०४
१०७ अविद्यानाशरूप ३०६
१०८ जीवत्वअभावप्रतिपादन ३०९
१०९ सारप्रबोध ३११
११० ब्रह्मैकत्वप्रतिपादन ३१२
[illegible]
११२ प्रथम द्वितीय और तृतीय भूमिकालक्षण विचार ३१९
११३ तृतीय भूमिका विचार ३२२
११४ विश्ववासनारूप ३२५
११५ सृष्टिनिर्वाणएकताप्रतिपादन.... ३२८
११६ विश्वआकाशएकताप्रतिपादन ३३०
११७ विश्वविजय ३३२
११८ विश्वप्रमाण ३३५
११९ जगद्भावप्रतिपादन ३३७
१२० पिण्डनिर्णय ३४२
१२१ बृहस्पतिबलिसंवाद ३४३
१२२ तथा ३४६
१२३ चित्तअभावप्रतिपादन ३४७
१२४ पञ्चमभूमिका ३४८
१२५ षष्ठभूमिकाउपदेश ३५१
१२६ सप्तभूमिकालक्षणविचार ३५४
१२७ संसरणभावप्रतिपादन ३५५
१२८ इच्छाचिकित्सोपदेश ३५७
१२९ कर्मबीजदाहोपदेश ३६०
१३० अहंकारनाशविचार ३६२
१३१ विद्याधरवैराग्य ३६५
१३२ संसाररूपवृक्ष ३७२
१३३ संसारआडम्बर उत्पत्ति ३७३
१३४ चित्तचमत्कार ३७५
१३५ सर्गउपसर्गोपदेश ३७६
१३६ यथाभूतार्थभावरूपयोगोपदेश ३७७
१३७ इन्द्रोपाख्याने त्रसरेणुजगत् ३७९
१३८ संकल्पासंकल्पै- [illegible] ३८२
१३९ भुशुण्डिविद्याधरोपाख्यानसमाप्ति ३८४
१४० अहंकारअस्तयोगोपदेश ३८६
१४१ विराट् आत्मा ३८७
१४२ ज्ञानबन्धयोग ३९३
१४३ सुखेन योगोपदेश ३९६
१४४ मङ्किऋषि परमवैराग्यनिरूपण.... ४०१
१४५ मङ्किवैराग्ययोग ४०५
१४६ मङ्किऋषिप्रबोध ४०६
१४७ मङ्किऋषिनिर्वाणप्राप्ति ४०९
१४८ सुखेन योगोपदेश ४१३
१४९ निराशयोगोपदेश ४१५
१५० भावनाप्रतिपादनोपदेश ४१७
१५१ हंससंन्यासयोग ४२१
१५२ निर्वाणयुतयुक्त्युपदेश ४२३
१५३ शान्तिस्थितियोगोपदेश ४२७
१५४ परमार्थयोगोपदेश ४२९
१५५ तथा ४३३
१५६ इच्छानिषेधयोगोपदेश ४३५
१५७ जगत्उपदेश ४३८
१५८ परमनिर्वाणयोगोपदेश ४४४
१५९ वशिष्ठगीतोपदेश ४४७
१६० वशिष्ठगीतासंसारोपदेश ४५१
१६१ जगत्उपशमयोगोपदेश ४५२
१६२ पुनर्निर्वाणउपदेश ४५३
१६३ ब्रह्मैकताप्रतिपादन ४५७
१६४ हरिणोपाख्यानवृत्तान्तयोगोपदेश.... ४६१
१६५ [illegible]गोपाख्यानयोगोपदेश ४६४

सर्गाङ्क विषय पृष्ठाङ्क

निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध।

१६६ स्वभावसत्तायोगोपदेश ४७०
१६७ मोक्षोपदेश ४७२
१६८ विवेकदूत ४७६
१६९ सर्वसत्ताउपदेश ४७९
१७० सप्तप्रकारजीवसृष्टि ४८४
१७१ सर्वशान्तिउपदेश ४८६
१७२ ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादन ४९०
१७३ निर्वाणनिरूपण ४९२
१७४ द्वैतएकताप्रतिपादन ४९४
१७५ परमशान्तिनिर्वाण ४९५
१७६ आकाशकुटीवशिष्ठसमाधि ४९७
१७७ विदितवेदअहंकार ४९९
१७८ ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादन ५०२
१७९ जगज्जालसमूह ५०३
१८० जगज्जालनिरूपण ५०७
१८१ बोधजगदेकताप्रतिपादन ५११
१८२ जगदेकताप्रतिपादन ५१३
१८३ विद्याधरीविशोक ५१६
१८४ विद्याधरीवेग ५२३
१८५ विद्याधरी अभ्यास ५२५
१८६ प्रत्यक्षप्रमाणजगत्निराकरण ५२९
१८७ शिलान्तरवशिष्ठब्रह्मसंवाद ५३३
१८८ अन्यजगत्प्रलय ५३७
१८९ निर्वाणनिरूपण ५३९
१९० विराट् आत्मा ५४१
१९१ विराट्शरीर ५४५
१९२ जगत्ब्रह्मप्रलय ५४६
१९३ ब्रह्मजलमय ५४८
१९४ वासनाक्षयप्रतिपादन .... ५[illegible]
१९५ जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादन ५५१
१९६ देवीरुद्रोपाख्यान ५५४
१९७ अन्तरोपाख्यान ५५७
१९८ पुरुषप्रकृतिविचार ५५९
१९९ अनन्तजगत् ५६८
२०० अन्तरोपाख्याने पृथ्वीधातु ५७१
२०१ अन्तरोपाख्याने जलरूप.... .... ५७४
२०२ अन्तरोपाख्याने चिद्रूप ५७६
२०३ ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादन ५७९
२०४ आकाशकुटीसिद्धसमाधियोग ५८१
२०५ अन्तरोपाख्यान ५८७
२०६ अन्तरोपाख्यानसमाप्ति ५९२
२०७ मुक्तसंज्ञा ५९५
२०८ जीवन्मुक्त व्यवहार ६००
२०९ परमार्थरूप ६०२
२१० नास्तिकवादीनिराकरण ६०५
२११ परमउपदेश १०
२१२ चैतन्य आकाशपरमज्ञान ६१२
२१३ सर्वपदार्थभाव ६१९
२१४ जाग्रत्स्वप्नैकताप्रतिपादन ६२७
२१५ जगन्निर्वाण ६३१
२१६ कारणकार्यभाव ६३४
२१७ अभावप्रतिपादन ६३५
२१८ विपश्चित्समुद्रप्राप्ति ६३७
२१९ जीवन्मुक्तलक्षण ६४१
२२० विपश्चिदुपाख्यान ६५३
२२१ विपश्चित्शरीरप्राप्ति ६५८
२२२ [illegible]पाख्यान ६६३
२२३ विपश्चित् कथा ६६६
२२४ महाशववृत्तान्त ६७०
२२५ स्वयंमाहात्म्यवृत्तान्त.... .... ६७१
२२६ मच्छरव्याध ६७३
२२७ हृदयान्तरस्वप्नमहाप्रलय ६७६
२२८ हृदयान्तरप्रलयाग्निकदाह ६८५
२२९ कर्मनिर्णय ६८८
२३० महाशवोपाख्याने निर्णयोपदेश.... ६९२
२३१ कार्यकारणाकारणनिर्णय.... .... ६९८
२३२ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिविचार.... .... ७०१
२३३ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति ७०२
२३४ सुषुप्ति ७०५
२३५ तथा ७०७
२३६ स्वप्ननिर्णय ७०९
२३७ स्वप्नविचार ७१३
२३८ रात्रिसंवाद ७१६
२३९ रात्रिप्रबोध ७२०
२४० यथार्थोपदेश ७२२
२४१ भविष्यत्कथा ७२३
२४२ सिद्धनिर्वाण ७२७
२४३ विपश्चित्देशान्तरभ्रम ७३१
२४४ स्वर्गनरकप्रारब्ध ७३७
२४५ निर्वाणउपदेश.... ७४१
२४६ अविद्यानाशोपदेश ७४४
२४७ इन्द्रिययज्ञ ७४७
२४८ ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादन ७५१
२४९ जाग्रत्स्वप्नप्रतिपादन ७५२
२५० शिलोपाख्यानसमाप्ति.... .... ७५४
२५१ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिअभाव.... .... ७५७
२५२ [illegible]लभजनकोपदेश [illegible]
२५३ जीवन्मुक्तलक्षण ७६५

सर्गाङ्क	विषय	पृष्ठाङ्क
२५४	जीवन्मुक्तिबाह्यलक्षणव्यवहार	७६८
२५५	द्वैतएकताअभाव	७७१
२५६	स्मृतिअभावजगत्परमाकाश	७७४
२५७	ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादन	७७७
२५८	ब्रह्मगीतापरमनिर्वाण	७८०
२५९	परमार्थगीता	७८३
२६०	ब्रह्माण्डोपाख्यान	७८६
२६१	ब्रह्मगीता....	७८८
२६२	इन्द्राख्यान	७९२
२६३	सर्वब्रह्मप्रतिपादन	७९६
२६४	ब्रह्मगीतागौर्युद्यान	७९८
२६५	ब्राह्मण कथा	८०३
२६६	ब्राह्मणभविष्यत्राज्यप्राप्ति	८०५
२६७	कुन्ददन्तोपदेश	८१०
२६८	कुन्ददन्तविश्रामप्राप्ति	८१४
२६९	ब्रह्मप्रतिपादन	८१६
२७०	जीवसंसरण	८२४
२७१	सर्वब्रह्मरूपप्रतिपादन	८२८
२७२	विद्यावादबोधोपदेश	८२९
२७३	रामविश्रान्ति	८४०
२७४	तथा	८४२
२७५	तथा	८४३
२७६	तथा	८४५
२७७	चिन्तामणिप्राप्ति	८४८
२७८	गुरुशास्त्रउपमा	८४९
२७९	विश्रामप्रकटीकरण	८५२
२८०	निर्वाणनिरूपण	८६१
२८१	चिदाकाशजगदेकताप्रतिपादन	८६३
२८२	जगदभाव	८६५
२८३	प्रश्न	८६८
२८४	प्रश्नोत्तर....	८७०
२८५	द्वितीय प्रश्नोत्तर	८७२
२८६	राजप्रश्नोत्तरसमाप्ति....	८७४
२८७	पूर्वरामकथा	८७७
२८८	उत्साह	८८०
२८९	मोक्षोपाय	८८२

इति

द्वितीय भाग समाप्त।

श्रीगणेशाय नमः।

श्रीयोगवाशिष्ठ

द्वितीय भाग

निर्वाण प्रकरण प्रारम्भ।

बाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज! उपशम प्रकरण के अनन्तर अब तुम निर्वाण प्रकरण सुनो जिसके जानने से तुम निर्वाणपद को प्राप्त होगे। बड़े उत्तम वचन मुनिनायक ने रामजी से कहे हैं और रामजी ने सब ओर से मन खैंचकर मुनीश्वर के वाक्यों में स्थापित किया है। और राजा लोग भी निस्पन्द हो गये मानों काग़ज़ पर चित्र लिखे हैं—और वशिष्ठजी के वचनों को विचारने लगे। राजकुमार भी विचारते और कण्ठ हिलाते थे और शिर और भुजा फेर के विस्मय को प्राप्त हुए। वे प्रसन्नता को प्राप्त हुए कि जिस जगत् को सत्य जानकर हम बिचरते थे वह है ही नहीं। ऐसा विचारकर वे आश्चर्य को प्राप्त हुए। तब दिन का चतुर्थभाग रह गया और सूर्य अस्त हुए—मानों वशिष्ठजी के वचन सुनकर वे भी कृतार्थ हुए हैं—सब तेज क्षीण हो गया और शीतलता प्राप्त हुई। स्वर्ग से जो सिद्ध और देवता आये थे उनके गले में मन्दार आदिक वृक्षों के फूल थे उनसे पवन के द्वारा सब स्थान सुगन्धित हो गये और भँवरे फूलों पर गुञ्जार करने लगे और झरोखों के मार्ग से सूर्य की किरणें आती थीं उनसे सूर्यमुखी कमल जो राजा और देवताओं के शीश पर थे वह सूख गये। जैसे मन से जगत् की सत्ता निवृत्त हो जाती है और वृत्ति सकुचती जाती है। बालक जो सभा में बैठे थे और पिञ्जरों में जो पक्षी बैठे थे उनके भोजन का समय हुआ और बालकों के भोजन के निमित्त मातायें उठीं। जब चौथे पहर राजा की नौबत, नगारे, भेरी, सहनाई, बाजे बजने लगे और वशिष्ठजी जो बड़े ऊँचे स्वर से कथा

कहते थे उनका शब्द नगारे और बाजों से दब गया तब—जैसे वर्षाकाल का मेघ गरजता है और मोर बोलकर तूष्णी हो जाते हैं तैसे ही वशिष्ठजी तूष्णी हो गये। ऐसा शब्द हुआ कि जिससे आकाश, पृथ्वी और सब दिशा भर गये और पिञ्जरों में पक्षी पंखों को फैलाकर भड़ भड़ शब्द करने लगे—जैसे भूकम्प हुए से लोग काँपते और शब्द करते हैं—और बालक माता के शरीर से लपट गये। इसके अनन्तर मुनिशार्दूल वशिष्ठजी बोले कि हे निष्पाप, रघुनाथ! मैंने तुम्हारे चित्तरूपी पक्षी के फँसाने के निमित्त अपना वाक्‌रूपी जाल फैलाया है, इससे अपने चित्त को वश करके तुम आत्मपद में लगो। हे रामजी! यह जो मैंने तुमको उपदेश किया है उसके सार में दुर्बुद्धि को त्यागकर चित्त को लगाओ। जैसे हंस जल को त्यागकर दूध पान करता है तैसे ही आदि से अन्तपर्यन्त सब उपदेश बारम्बार विचारकर सार को अङ्गीकार करो। इस प्रकार संसारसमुद्र से तरकर परमपद को प्राप्त होगे। अन्यथा न होगे। हे रामजी! जो इन वचनों को अङ्गीकार करेगा वह संसारसमुद्र से तर जावेगा और जो अङ्गीकार न करेगा वह नीच गति को प्राप्त होगा। जैसे विन्ध्याचल पर्वत की खाईं में हाथी गिरके कष्ट पाता है तैसे ही वह संसार में कष्ट पावेगा। हे रामजी! ये जो मेरे वचन हैं इनको ग्रहण न करोगे तो नीचे गिरोगे—जैसे पन्थी हाथ से दीपक त्यागकर रात्रि को गढ़े में गिरता है—और जो असंग होकर व्यवहार में विचरोगे तो आत्मसिद्धि को प्राप्त होगे। यह जो मैंने तुमको तत्त्वज्ञान; मनोनाश और वासना क्षय कहा है, इस अभ्यास से सिद्धि को प्राप्त होगे। यह शास्त्र का सिद्धान्त है। हे सभा! हे महाराजो, हे राम, लक्ष्मण और भूपतिलोगो! जो कुछ मैंने तुमसे कहा है उसको तुम विचारो; जो कुछ और कहना है उसे मैं प्रातःकाल कहूँगा। इतना कह बाल्मीकिजी बोले, हे साधो! इस प्रकार जब मुनीश्वर ने कहा तब सब सभा उठ खड़ी हुई और वशिष्ठजी के वचनों को पाकर सब खिल आये—जैसे सूर्य को पाकर कमल खिल आता है। वशिष्ठ और विश्वामित्र दोनों इकट्ठे उठे और वशिष्ठजी विश्वामित्र को अपने आश्रम में ले गये। आकाशचारी देवता और सिद्ध वशिष्ठजी को नमस्कार करके अपने अपने

स्थानों को गये, राजा दशरथ अर्घ्य पाद्य से वशिष्ठजी का पूजन करके अपने अन्तःपुर में गये और श्रोता लोग भी आज्ञा लेकर और वशिष्ठजी का पूजन करके अपने अपने स्थानों में गये। राजकुमार अपने मण्डल को गये, मुनीश्वर वन में गये और राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्न वशिष्ठजी के आश्रम को गये और पूजा करके फिर अपने गृह में आये। सब श्रोता अपने अपने स्थानों को जाकर स्नानसन्ध्यादिक कर्म करने लगे, पितर और देवताओं की पूजा और ब्राह्मणों से लेकर भृत्यपर्यन्त सबको भोजन कराकर अपने मित्र और भाइयों के साथ भोजन किया और यथाशक्ति अपने वर्णाश्रम के धर्म को साधा। जब सूर्य भगवान् अस्त हुए और दिन की क्रिया निवृत्त होगई तब रात्रि हुई और निशाचर विचरने लगे तब भूचर, राजऋषि और राजपुत्र आदिक जो श्रोता थे सो रात्रि को एकान्त में अपने अपने आसन पर बैठकर विचारने लगे। राजकुमार और राजा अपने अपने स्थानों पर बैठे और ब्राह्मण, तपस्वी कुशादिक बिछाकर बैठे विचारते थे कि संसार के तरने का क्या उपाय कहा है; और जो वशिष्ठजी ने वचन कहे थे उनमें भले प्रकार चित्त को एकाग्र कर और भले प्रकार विचार कर निद्रा को प्राप्त हुए। जैसे सूर्य उदय हुए पद्मिनियाँ मुँद जाती हैं तैसे ही वे सब सुषुप्ति को प्राप्त हुए; पर राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तीन पहर वशिष्ठजी के उपदेश को विचारते रहे और आधे पहर सोकर फिर उठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे दिवसरात्रिव्यापारवर्णनं
नाम प्रथमस्सर्गः ॥ १ ॥

बाल्मीकिजी बोले, हे साधो! इस प्रकार जब रात्रि व्यतीत हुई और तम का नाश हुआ तब राम, लक्ष्मण, शत्रुघ्नादिक स्नान और सन्ध्यादिक कर्म करके वशिष्ठजी के आश्रम में जा स्थित हुए। वशिष्ठजी भी संध्यादिक करके अग्निहोत्र करने लगे और जब कर चुके तब रामादिक ने उनको अर्घ्य पाद्य से पूजा और चरणों पर भले प्रकार मस्तक रक्खा। जब रामजी गये थे तब वशिष्ठजी के द्वारे पर कोई न था पर एक घड़ी में अनेक सहस्र जीव आये और वशिष्ठजी रामादिक को साथ लेकर [illegible]

दशरथ के गृह में आये। तब राजा दशरथ उनकी अगवानी को आगे आये और वशिष्ठजी का आदर व पूजन किया और दूसरे लोगों ने भी बहुत पूजन किया। निदान नभचर और भूचर जितने श्रोता थे वे सब आये और नमस्कार करके बैठे और सब निस्पन्द और एकाग्र होकर स्थित भये। जैसे निस्पन्द वायु से कमलों की पंक्ति अचल होती है तैसे वे बैठे। भाटजन जो स्तुति करनेवाले थे वे भी एक ओर बैठे और सूर्य की किरणें झरोखों के मार्ग से आईं—मानों किरणें भी वशिष्ठजी के वचन सुनने को आई हैं। तब वशिष्ठजी की ओर रामजी ने देखा जैसे स्वामिकार्त्तिक शंकर की ओर; कच बृहस्पति की ओर और प्रह्लाद शुक्र की ओर देखें और जैसे भ्रमर भ्रमता-भ्रमता आकाशमार्ग से कमल पर आ बैठता है तैसे ही रामजी की दृष्टि औरों को देखते-देखते वशिष्ठजी पर आ स्थित हुई। तब वशिष्ठजी ने रामजी की ओर देखा और बोले; हे रघुनन्दन! मैंने जो तुमको उपदेश किया है वह तुमको कुछ स्मरण है? वे वचन परमार्थबोध के कारण, आनन्दरूप और महा गम्भीर हैं। अब और भी बोध के कारण और अज्ञानरूपी शत्रु के नाशकर्ता, इन्दुप्रभा वचनों को सुनो। निरन्तर आत्मसिद्धान्त शास्त्र में तुमसे कहता हूँ। हे रामजी! वैराग्य और तत्त्व के विचार से संसारसमुद्र को तरता है और सम्यक्तत्त्व के बोध से जब दुर्बोध निवृत्त हो जाता है तब वासना का आवेश नष्ट हो जाता है और निर्दुःखपद को प्राप्त हो जाता है। वह पद देशकाल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है। वही ब्रह्म जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है और भ्रम से द्वैत की नाईं भासता है। वह सब भावों से अविच्छिन्न सर्वत्र ब्रह्म है, इस प्रकार महत् स्वरूप जानकर शान्तिमान् हो। हे रामजी! केवल ब्रह्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है; न कुछ चित्त है, न अविद्या है, न मन है, न जीव है; यह सब कलना ब्रह्म में भ्रम से फुरती हैं। जो स्पन्द फुरना दृश्य और चित्त है सो कलनारूप संभ्रम है। ब्रह्म में कोई पदार्थ नहीं। हे रामजी! स्वर्ग, पाताल और भूमि में सदाशिव से तृण पर्यन्त जो कुछ दृश्य है वह सब परब्रह्म है—चिद्रूप से अन्य नहीं। उदासीन और मित्र, बान्धव से लेकर सब ब्रह्म हैं। जबतक अज्ञान कलना से जगत् में बुद्धि

स्थित है और ब्रह्मभाव नानात्व है तबतक चित्तादि कलना होती है; जब तक देह में अहंभाव है और अनात्मदृश्य में ममत्व है तबतक चित्त आदिक भ्रम होता है और जबतक सन्तजन और सत्‌शास्त्रों से ऊँचे पद को नहीं पाया और मूर्खता क्षीण नहीं हुई तबतक चित्तादिक भ्रम होता है। हे रामजी! जबतक देहाभिमान शिथिलता को नहीं प्राप्त हुआ; संसार की भावना नहीं मिटी और सम्यक्‌ज्ञान करके स्थिति नहीं पाई; जबतक चित्तादिक प्रकट हैं; तबतक अज्ञान से अन्धा है और विषयों की आशा के आवेश से मूर्च्छित है और मोह मूर्च्छा से नहीं उठा तब तक चित्तादिक कलना होती है। हे रामजी! जबतक आशारूपी विषकी गन्ध हृदयरूपी वन में होती है तबतक विचाररूपी चकोर नहीं प्राप्त होता और भोगवासना नहीं मिटती। जब भोगों की आशा मिट जावे और सत्य शीतलता और संतुष्टता में हृदय प्राप्त हो तब चित्तरूपी भ्रम निवृत्त हो जाता है। जब मोह और तृष्णा निवृत्त करिये और नित्य अभ्यास हो तब चित्त शान्त भूमिका को प्राप्त होता है। हे रामजी! जिस पुरुष की स्थिति स्वरूप में हुई है वह आपको देह से भिन्न देखता है। उस सम्यक्‌दर्शी के चित्त की भूमिका कहते हैं। जब अनन्त चेतनतत्त्व की भावना होती है और दृश्य को त्यागकर आत्मस्वरूप में प्राप्त होता है तब वह पुरुष सब जगत् को अपना अंग ही देखता है अर्थात् सब अपना स्वरूप देखता है। ऐसा जो आत्मरूप देखता है उसको जीवत्वादिक भ्रम कहाँ है? जब अज्ञान भ्रम निवृत्त होता है तब परम अद्वैत पद उदय होता है। जैसे रात्रि के क्षीण हुए सूर्य उदय होता है तैसे ही मोह के निवृत्त हुए आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है और जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब चित्त नष्ट हो जाता है। जैसे सूखा पत्र अग्नि में दग्ध हो जाता है तैसे ही ज्ञानवान् का चित्त नष्ट हो जाता है। हे रामजी! जीवन्मुक्त जो महात्मा पुरुष और परावरदर्शी है और जिसको सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है उसका चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है। वह चित्त सत्य कहाता है और उसमें वासना भी दृष्टि नहीं आती। वह चैतन्यमन है और वह चित्त सत्यपद को प्राप्त हुआ है। यह जगत् ज्ञानवान् को लीलामात्र

भासता है और वह हृदय से शान्तिरूप और नित्य तृप्त है। उसको सर्वदा आत्मज्योति भासती है; विवेक से उसके चित्त से जगत् की सत्ता निवृत्त हो गई है और स्वरूप में उसने स्थिति पाई है सो चित्तसत्ता कहाती है। फिर वह कर्म चेष्टा करता भी दृष्टि आता है और मोह को नहीं प्राप्त होता। जैसे भुना बीज नहीं उगता तैसे ही ज्ञानी की चेष्टा जन्म का कारण नहीं और जो अज्ञानी हैं उनकी वासना मोहसंयुक्त है। जैसे कच्चा बीज उगता है तैसे ही अज्ञानी वासना से फिर फिर जन्म लेता है और जिस चित्त से आसक्ति निवृत्त हुई है उसकी वासना जन्म का कारण नहीं। वह चित्तसत्ता कहाती है। हे रामजी! जिन पुरुषों ने पाने योग्य पद पाया है और ज्ञानाग्नि से चित्त दग्ध किया है वे फिर जन्म नहीं लेते। जो कुछ जगत् है उनको सब ब्रह्मरूप है जैसे वृक्ष और तरु नाममात्र दो हैं वास्तव में एक ही है; तैसे ही ब्रह्म और जगत् नाममात्र दोनों हैं, पर वास्तव में एक ही है। जैसे जल में तरङ्ग और बुद्बुदे जलरूप हैं तैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है। चैतन्य आत्मारूपी मिरच में जगत्रूपी तीक्ष्णता है। हे रामजी! ऐसे ब्रह्म तुम हो। जो तुम कहो कि मैं चित्त नहीं तो कुछ माना जाता है, क्योंकि जो तुम कहो मैं जड़ हूँ तो तुम आकाशवत् हुए तुम्हारे में कलना का उल्लेख कैसे हो? जो चैतन्य हो तो शोक किसका करते हो और जो चिन्मय हो तो निरायास आदि अन्त से रहित हुए। निदान सब तुमहीं हो अपने स्वरूप को स्मरण करो तब शान्ति पावोगे। जो सब भाव में स्थित हो और सबको उदय करनेवाले शान्तरूप, चैतन्य और ब्रह्मरूप हो। हे रामजी! ऐसी जो चैतन्यरूपी शिला है उसके उदय में वासनारूपी फुरना कहाँ है? वह तो महाघनरूप है। हे रामजी! जो तुम हो सोई हो, उसमें और तुम्हारे में कुछ भेद नहीं। वही सत् और असत्रूप होकर भासता है, जिसके अन्तर सब पदार्थ हैं और जिसमें नानात्व और 'अहं', 'त्वं' 'अज्ञ' 'तज्ज्ञ' की कुछ कलना नहीं। ऐसा जो सत्यरूप चिद्घन आत्मा है उसको नमस्कार है। हे रामजी! तुम्हारी जय हो। तुम आदि और अन्त से रहित विशाल हो और शिला के अन्तर्वत् चिद्घनस्वरूप आकाशवत् निर्मल हो। जैसे समुद्र में तरङ्ग हैं तैसे ही तुम्हारे

में जो जगत् है सो लीलामात्र है। तुम अपने घनस्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रामदृढीकरणं
नाम द्वितीयस्सर्गः ॥ २ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे निष्पाप, रामजी! जिस चैतन्यरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग फुरते और लीन हो जाते हैं ऐसे अनन्त आत्मभाव की भावना से मुक्त और भाव अभाव से रहित हो। ऐसा जो चिदात्म तुम्हारा स्वरूप है वही सब जगत्रूप है तब वासनादिक आवरण कहाँ हैं? जीव और वासना सब आत्मा का किञ्चन है दूसरी वस्तु कुछ नहीं तब और कथा और प्रसंग कैसे हो? हे रामजी! महासरल गम्भीर और प्रकाशरूप जो चैतन्य समुद्र है वह तुम्हारा रूप है और रामरूपी एक तरङ्ग फुर आया है सो समुद्र तुम हो ऐसा जो आत्मतत्त्व है वह जगत्रूपी होकर व्यापारी भासता है। जैसे अग्नि से उष्णता, फूल से सुगन्ध, कज्जल से कृष्णता, बरफ़ से शुक्लता, गुड़ से मधुरता और सूर्य से प्रकाश भिन्न नहीं तैसे ही ब्रह्म से अनुभव भिन्न नहीं—नित्यरूप है। अनुभव से अहं भिन्न नहीं, अहं जीव भिन्न नहीं, जीव से मन भिन्न नहीं, मन से इन्द्रियाँ भिन्न नहीं, इन्द्रियों से देह भिन्न नहीं और देह से जगत् भिन्न नहीं। इस प्रकार महाचक्र जो प्रवृत्त की नाई हुआ है सो कुछ हुआ नहीं, न शीघ्र प्रवर्तन है न चिरकाल का प्रवर्ता है, न कोई न्यून है और न अधिक है, सर्वदा एक अखण्डसत्ता परमात्मतत्त्व है जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। वही सत्ता वज्रभूत और वही पूर्ण होकर स्थित है, द्वैतकल्पना कुछ नहीं। ऐसे अपने स्वरूप में जो पुरुष स्थित है वह जीवन्मुक्त है। ऐसा जो ज्ञानवान् है वह मन, इन्द्रियों और शरीर की चेष्टा भी करता है पर उसको कर्तव्य का लेप नहीं लगता। हे रामजी! ज्ञानवान् को न कुछ त्यागने योग्य रहता है और न ग्रहण करने योग्य है; वह सब पदार्थों से निर्लेप रहता है जबतक इसको ग्रहण और त्याग की बुद्धि होती है तबतक संसार के सुख दुःख का भागी होता है और इससे हेयोपादेय का जिसको अभाव है वह सुख दुःख का भागी नहीं होता। हे रामजी! जो कुछ जगत् है वह एक अद्वैत आत्मतत्त्व

है, अन्य कुछ नहीं। जैसे घट मठ की उपाधि से आकाश नाना प्रकार का भासता है और समुद्र तरङ्ग से अनेक रूप भासता है पर नानात्वभाव को नहीं प्राप्त होता तैसे ही आत्मा में नाना प्रकार का जगत् भासता है और नानात्व को नहीं प्राप्त होता। ऐसे स्वरूप को जानकर उसमें स्थित हो; बाहर से अपने वर्णाश्रम का व्यवहार करो पर हृदय से पत्थर की नाईं हर्ष शोक से रहित स्थित हो। संवितमात्र आत्मा को जो अपना रूप देखता है वही सम्यक्दर्शी है और उसका अज्ञान और मोह नष्ट हो जाता है। जैसे नदी का वेग मूलसहित तट के वृक्ष को काटता है तैसे ही आत्मज्ञान मोह सहित अज्ञान को काटता है। मित्रता, वैर, हर्ष, शोक, राग, द्वेष आदिक जो विकार हैं वे चित्त में रहते हैं सो उसका चित्त नष्ट हो जाता है। हे रामजी! ज्ञानी सोता भी दृष्टि आता है पर कदाचित् नहीं सोता जिसका अनात्मा में अहंभाव निवृत्त हुआ है और जिसकी बुद्धि लेपायमान नहीं होती वह पुरुष इस लोक को मारे तो भी उसने कोई नहीं मारा और न वह बन्धायमान होता है। हे रामजी! जो वस्तु न हो और भासे उसको मायामात्र जानिये, जानने से वह नष्ट हो जावेगी। जैसे तेल विना दीपक शान्त हो जाता है तैसे ही ज्ञान से वासना क्षय हो जाती है और चित्त अचित्त हो जाता है। जिसको सुख दुःख में ग्रहण त्याग नहीं वह जीवन्मुक्त आत्मस्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठेनिर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकप्रतिपादनन्नाम तृतीयस्सर्गः॥३॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियादिक जो दृश्य हैं वह सब अचिन्त्य चिन्मात्र है और जीव भी उससे अभिन्नरूप है। जैसे सुवर्ण और भूषण में भेद कुछ नहीं तैसे ही चिन्मात्र और जीवादिक अभिन्न हैं। जबतक चित्त अज्ञान में होता है तबतक जगत् का कारण होता है और जब अज्ञान नष्ट हो जाता है तब चित्तादिक का अभाव हो जाता है। अध्यात्मविद्या जो वेदान्तशास्त्र है उसके अभ्यास से अज्ञान नष्ट हो जाता है। जैसे अग्नि के तेज से शीत का अभाव हो जाता है तैसे ही अध्यात्मविद्या के विचार और अभ्यास से अज्ञान नष्ट हो जाता है। जबतक अज्ञान का कारण तृष्णा उपशम को नहीं प्राप्त हुई तबतक अज्ञान है और जब तृष्णा नष्ट हो तब जानिये कि अज्ञान का अभाव हुआ। हे रामजी! तृष्णारूपी विषूचिका रोग के नाश करने का मन्त्र अध्यात्मशास्त्र ही है, उसके अभ्यास से तृष्णा क्षीण हो जाती है। जैसे शरत्काल में कुहिरा नष्ट हो जाता है, तैसे ही आत्मअभ्यास से चित्त शान्त हो जाता है; और जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट हो जाता है तैसे ही विचार से मूर्खता नष्ट हो जाती है। जब चित्त अचित्तता को प्राप्त होता है तब वासनाभ्रम क्षीण हो जाता है जैसे तागे से मोती पिरोये होते हैं और तागे के टूटे से मोती भिन्न भिन्न हो जाते हैं तैसे ही अज्ञान के नष्ट हुए मनादिक सब नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष अध्यात्मशास्त्र के अर्थ को नहीं धारण करते और न प्रीति ही करते हैं वे पापी कीटादिक नीचयोनि को प्राप्त होंगे। हे कमलनयन! तुम्हारे में जो कुछ मूर्खता और चञ्चलता थी वह नष्ट हो गई है और जैसे पवन के ठहरने से जल अचल होता है तैसे ही तुम स्थिर और भाव अभाव से रहित परम आकाशवत् निर्मल पद को प्राप्त हुए हो। हे रामजी! मैं ऐसे मानता हूँ कि मेरे वचनों से तुम बोधवान् हुए हो और विस्तृत अज्ञानरूपी निद्रा से जागे हो। समान जीव भी हमारी वाणी से जग आते हैं, और तुम तो अति उदार बुद्धि हो तुम्हारे जागने में क्या आश्चर्य है? हे रामजी! जब गुरु भी दृढ़ होता है और शिष्य भी शुद्धपात्र होता है तब गुरु के वचन उसके हृदय में प्रवेश करते हैं सो मैं गुरु भी समर्थ हूँ कि मुझको अपना स्वरूप सदा प्रत्यक्ष है और सतशास्त्र के अनुसार मैंने वचन कहे हैं और तेरा हृदय भी शुद्ध है उसमें वे प्रवेश कर गये हैं। जैसे तप्त पृथ्वी के क्षेत्र में जल प्रवेश कर जाता है तैसे ही तेरे हृदय में वचनों ने प्रवेश किया है। हे राघव! हम महानुभाव रघुवंश कुल के बड़े गुरु के गुरु हैं; हमारे वचन तुमको धारने आते हैं। अब खेद से रहित होकर अपने प्रकृत आचार को करो। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब मुनीश्वर ने कहा तब सूर्य अस्त होने लगा और सब सभा परस्पर नमस्कार करके अपने अपने स्थानों को गई। रात्रि व्यतीत हुए सूर्य की किरणों के निकलते ही सब फिर आ बैठे।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठेनिर्वाणप्रकरणेचित्तभावाभाववर्णनंनामचतुर्थस्सर्गः४

रामजी बोले, हे मुनीश्वर! मैं परम स्वस्थता को प्राप्त होकर अपने आप में स्थित हूँ और आपके वचनों की भावना से जगज्जाल के स्थित हुए भी मुझको शान्ति हो गई है। आत्मानन्द से मैं तृप्त हुआ हूँ—जैसे बड़ी वर्षा से पृथ्वी तृप्त होती है—और प्रसन्नता को पाकर स्थित हूँ। सब ओर से केवल आत्मारूप मुझको भासता है और नानात्व का अभाव हुआ है। जैसे कुहिरे से रहित दिशा और आकाश निर्मल भासता है तैसे ही सम्यक्ज्ञान से मुझको शुद्ध आत्मा भासता है और मोह निवृत्त हो गया है। मोहरूपी जङ्गल में जो तृष्णारूपी मृग और रागद्वेष आदिक धूलि और कुहिरा था सो सब निवृत्त हो गया है और ज्ञानरूपी वर्षा से सब शान्त हो गये हैं। अब मैं आत्मानन्द को प्राप्त हुआ हूँ, जो आदि अन्त से रहित और अमृत है बल्कि अमृत का स्वाद भी उसके आगे तुच्छ भासता है। ऐसे आनन्द से मैं अपने स्वभाव में प्राप्त हुआ हूँ मैं राम हूँ अर्थात् सब में रमनेवाला हूँ; मेरा मुझको नमस्कार है। अब मैं सब सन्देह से रहित हूँ और सब संशय और विकार मेरे नष्ट हुए हैं। जैसे प्रातःकाल होने से निशाचर और वैताल आदिक निवृत्त हो जाते हैं तैसे ही राग द्वेषादिक विकारों का अभाव हुआ है और निर्मल विस्तीर्ण हिम की नाईं हृदयकमल में मैं स्थित हूँ। जैसे भँवरा फिरता फिरता कमल में आ स्थित होता है तैसे ही मैं आत्मरूपी सार में स्थित हूँ। अविद्यारूपी कलङ्क आत्मा को कहाँ था मैं तो निश्चय से निर्मलता को प्राप्त हुआ हूँ। जैसे सूर्य के उदय हुए तम का अभाव हो जाता है तैसे ही मेरी संशय और अविद्या नाश हुई है। अब मुझे सर्व आत्मा भासता है और कलना कोई नहीं। भावित आकार अपने स्वरूप को प्राप्त हुआ। मैं पूर्व प्रकृति को देख के हँसता हूँ कि क्या जानता था और क्या करता था। मैं तो नित्य शुद्ध ज्यों का त्यों आदि अन्त से रहित हूँ। हे मुनीश्वर! तेरे वचनरूपी अमृत के समुद्र में मैंने स्नान किया है और उससे अजर अमर आनन्दपद को पाकर सूर्य से भी ऊँचे पद को प्राप्त हुआ हूँ और वीतशोक होकर परम शुद्धता, समता, शीतलता और अद्वैत अनुभव को प्राप्त हूँ।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठेनिर्वाणप्रकरणेराघवविश्रान्तिवर्णनन्नामपञ्चमस्सर्गः ५

वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम वचन सुनो; तुम्हारे हित की कामना से मैं कहता हूँ। अब तुम आत्मपद को प्राप्त हुए हो परन्तु बोध की वृद्धि के निमित फिर सुनो; जिसके सुनने से अल्पबुद्धि भी आनन्दपद को प्राप्त हो। हे रामजी! जिसको अनात्म में आत्माभिमान है और आत्मज्ञान नहीं हुआ उसको इन्द्रियरूपी शत्रु दुःख देते हैं जैसे निर्बल पुरुष को चोर दुःख देते हैं और जिसकी आत्मपद में स्थिति हुई है उसको इन्द्रियाँ दुःख नहीं देतीं—जैसे दृढ़ राजा के शत्रु भी मित्र हो जाते हैं तैसे ही ज्ञानवान् के इन्द्रियगण मित्र होते हैं। जिन पुरुषों की देह में स्थित बुद्धि है और इन्द्रियों के विषय की सेवना करते हैं उनको बड़े दुःख प्राप्त होते हैं। हे रामजी! आत्मा और शरीर का सम्बन्ध कुछ नहीं है। जैसे तम और प्रकाश विलक्षण स्वभाव हैं तैसे ही आत्मा और देह का परस्पर विलक्षण स्वभाव है। आत्मा सर्वविकारों से रहित, नित्यमुक्त, उदय अस्त से रहित और सबसे निर्लेप है और सदा ज्यों का त्यों प्रकाशरूप भगवान् आत्मा सत्‌रूप है उसका सम्बन्ध किससे हो? देह जड़ और असत्य, अज्ञानरूप, तुच्छ, विनाशी और अकृतज्ञ है उसका संयोग किस भाँति हो? आत्मा चैतन्य, ज्ञान, सत् और प्रकाशरूप है उसका देह के साथ कैसे संयोग हो? अज्ञान से देह और आत्मा का संयोग भासता है; सम्यक्ज्ञान से संयोग का अभाव भासता है। हे रामजी! ये मैंने निपुण वचन कहे हैं; इनका बारम्बार अभ्यास करने से संसार मोह का अभाव हो जावेगा। जब संसार का कारण मोह निवृत्त हुआ तब फिर उसका सद्भाव न होगा जबतक अज्ञानरूपी निद्रा से दृढ़ होकर नहीं जागता तबतक आवरण रहता है। जैसे निद्रा के जागे से फिर निद्रा घेर लेती है पर जब दृढ़ होके जागे तब फिर नहीं घेरती; तैसे ही दृढ़ अभ्यास से अज्ञान निवृत्त हुआ फिर आवरण न करेगा। इससे मोह और दुःख निवृत्त के अर्थ दृढ़ अभ्यास करो। हे रामजी! आत्मा देह के गुण को अङ्गीकार नहीं करता; यदि देह के गुण अङ्गीकार करे तो आत्मा भी जड़ हो जावे पर वह तो सदा ज्ञानरूप है; और जो देह आत्मा का गुण परमार्थ से अङ्गीकार करे तो देह भी चेतन हो जावे पर वह तो जड़रूप है

उसको अपना ज्ञान कुछ नहीं। जब ज्यों का त्यों ज्ञान हो तब शरीर तुच्छ और जड़ भासे। हे रामजी! देह और आत्मा का कुछ सम्बन्ध नहीं और समवायसम्बन्ध भी नहीं फिर इससे मिलकर वृथा दुःख को ग्रहण करना इससे बढ़ के और मूर्खता क्या है? जब कुछ भी इसका समान लक्षण हो तब सम्बन्ध भी हो पर जिसका कुछ भी समान लक्षण न हो उसका सम्बन्ध कैसे हो? आत्मा चैतन्य है, देह जड़ है; आत्मा सत्‌रूप है, देह असत्‌रूप है; आत्मा प्रकाशरूप है, देह तमरूप है; आत्मा निराकार है, देह साकार है; आत्मा सूक्ष्म है और देह स्थूल है तो फिर आत्मा और देह का सम्बन्ध कैसे हो? और जब इनका संयोग ही नहीं तब दुःख किसका हो? जैसे सूक्ष्म और स्थूल; दिन और रात्रि; ज्ञान और अज्ञान; धूप और छाया; सत् और असत् का सम्बन्ध नहीं होता तैसे ही आत्मा और देह का संयोग नहीं होता और देह के सुख दुःख से आत्मा को सुखी दुःखी जानना मिथ्याभ्रम है। जरा-मरण; सुख-दुःख; भाव-अभाव आत्मा में रञ्चकमात्र भी नहीं, यदि देह में अभिमान होता है तो ऊँच नीच जन्म पाता है; वास्तव में कुछ नहीं, केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है और उसमें विकार कोई नहीं। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में होता है और जल के हिलने से प्रतिबिम्ब भी चलता है तैसे ही देह के सुख दुःख से आत्मा में सुख दुःख विकार मूर्ख देखते हैं—आत्मा सदा निर्लेप है और जब यथाभूत सम्यक् आत्मज्ञान हो तब देह में स्थित भी भ्रम को न प्राप्त हो। हे रामजी! जब यथाभूत ज्ञान होता है तब सत् को सत् जानता है और असत् को असत् जानता है। जैसे दीपक हाथ में होता है तब सत्-असत् पदार्थ भासते हैं तैसे ही ज्ञान से सत्-असत् यथार्थ जानता है और अज्ञान से मोह में भ्रमता है। जैसे वायु से पत्र भ्रमता है तैसे ही मोहरूपी वायु मे अज्ञानी जीव भ्रमता है और कदाचित् स्वस्थ नहीं होता। जैसे यन्त्र की पुतली तागे से चेष्टा करती है तैसे ही अज्ञानी जीव प्राणरूपी तागे से चेष्टा करते हैं और जैसे नटुआ अनेक स्वांग धारता है तैसे ही कर्म से जीव अनेक शरीर धारता है। जैसे काठ की पुतली तृण, काष्ठ, फूलादिक को लेती, त्यागती और नृत्य करती है तैसेही ये प्राणी भी चेष्टा करते हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का ग्रहण करते हैं। जैसे वह पुतलियाँ जड़ हैं तैसे ही ये भी जड़ हैं। यदि कहिये कि इनमें तो प्राण है तो जैसे लुहार की धौंकनी श्वास को लेती और त्यागती है तैसे ही ये जीव भी चेष्टा करते हैं। हे रामजी! अपना वास्तव स्वरूप है सो ब्रह्म है; उसके प्रमाद से जीव मोह और कृपणता को प्राप्त होते हैं। जैसे लुहार की खाल वृथा श्वास लेती है तैसे ही इनकी चेष्टा व्यर्थ है इनकी चेष्टा और बोलना अनर्थ के निमित्त है—जैसे धनुष से जो बाण निकलता है सो हिंसा के निमित्त है, उससे और कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता तैसे ही अज्ञानी की चेष्टा और बोलना अनर्थ और दुःख के निमित्त है, सुख के निमित्त नहीं और उसकी संगति भी कल्याण के निमित्त नहीं—जैसे जङ्गल के ठूँठ वृक्ष से छाया और फल की इच्छा करनी व्यर्थ है, उससे कुछ फल नहीं होता और न विश्राम के निमित्त छाया ही प्राप्त होती है; तैसे ही अज्ञानी जीव की संगति से सुख नहीं होता। उनको दान देना व्यर्थ है—जैसे कीचड़ में घृत डालना व्यर्थ होता है तैसे ही मूर्खों को दान दिया व्यर्थ होता है और उनके साथ बोलना भी व्यर्थ है। जैसे यज्ञ में श्वान को बुलाना निष्फल है तैसे ही उनके साथ बोलना निष्फल है। हे रामजी! जो अज्ञानी जीव हैं वे संसार में आते, जाते और जन्मते, मरते हैं और शरीर में आस्था करते हैं; एवम् पुत्र, दारा, बान्धव, धनादिक से ममत्वबुद्धि करते हैं पर इस मिथ्यादृष्टि से वे दुःख पाते हैं और मुक्ति कदाचित् नहीं होती, क्योंकि अनात्म में आत्मबुद्धि को त्याग नहीं करते और ममता बुद्धि में दृढ़ रहते हैं। हे रामजी! जो अज्ञानी हैं वे असत्पदार्थ को देखते हैं और वस्तुरूप की ओर से अन्धे हैं इससे वे परमार्थ धन से विमुख रहते हैं। नरक का सार जो स्त्री आदिक हैं उनमें वे प्रीति करते हैं और उनको देखकर प्रसन्न होते हैं। जैसे मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होता है तैसे ही स्त्री आदिकों को देखकर मूर्ख प्रसन्न होते हैं। हे रामजी! मूर्ख के मारने के निमित्त स्त्रीरूपी विष की बेलि है; नेत्ररूपी उसके फूल हैं, ओष्ठरूपी पत्र हैं, स्तनरूपी गुच्छे हैं और अज्ञानरूपी भँवरे वहाँ

विराजमान होते हैं और नाश करते हैं। मतिरूपी तालाब में हर्षरूपी कमल और चित्तरूपी भँवरे सदा रहते हैं और अज्ञानरूपी नदी में दुःखरूपी लहरें और तृष्णारूपी बुद्‌बुदे हैं; ऐसी नदी मरणरूपी बड़वाग्नि में जा पड़ेगी। हे रामजी! जब जन्म होता है तब जीव महागर्भ अग्नि से जलता हुआ निकलता है और महामूर्ख अवस्था में निकलकर दुःखी होता है; जब यौवन अवस्था को प्राप्त होता है तब विषयों को सेवता है—वे भी दुःख के कारण होते हैं और फिर वृद्धावस्था को प्राप्त होता है तब शरीर अशक्त होता है और हृदय को तृष्णा जलाती है। इस प्रकार जन्म मरण अवस्था में जीव भटकते हैं। हे रामजी! संसाररूपी कूप में मोहरूपी घटों की माला है और तृष्णा और वासनारूपी रस्सी से बाँधे हुए जीव भ्रमते हैं। ज्ञानवान् को संसार कोई दुःख नहीं देता; गोपद की नाईं तुच्छ हो जाता है और अज्ञानी को समुद्रवत् तरना कठिन होता है। वह अपने भीतर ही भ्रम देखता है और निकल नहीं सकता—थोड़ा भी उसको बहुत हो जाता है। जैसे पक्षी को पिंजरे में और कोल्हू के बैल को घर ही में बड़ा मार्ग हो जाता है तैसे ही अज्ञानी को तुच्छ संसार बड़ा हो भासता है। हे रामजी! जिस जगत् को रमणीय जानकर जीव उसके पदार्थों की इच्छा करता है वे सब पञ्चभौतिक पदार्थ हैं पर मोह से उनको सुन्दर जानता है उनमें प्रीति करता है और स्थिर जानता है और वह सब अनर्थ के निमित्त होते हैं। हे रामजी! अज्ञानरूपी चन्द्रमा के उदय से भोगरूपी वृक्ष पुष्ट होते हैं और जन्मों की परंपरा रस को पाते हैं कर्मरूपी जल से सिंचते हैं और पुण्य और पापरूपी मञ्जरी उनमें होती हैं। अज्ञानरूपी चन्द्रमा का वासनारूपी अमृत है और आशारूपी चकोर उसको देखकर प्रसन्न होता है। आशारूपी कमलिनी पर अज्ञानरूपी भँवरा बैठकर प्रसन्न होता है इससे सब जगत् अज्ञान से रमणीय भासता है। हे रामजी! जिस अज्ञान से यह जगत् स्थित है उसका प्रवाह सुनो। जब अज्ञानरूपी चन्द्रमा पूर्ण होकर स्थित होता है तब कामनारूपी क्षीर समुद्र उछलता है और अनेक तरङ्ग फैलाता है। उसके रस से तृष्णारूपी मञ्जरी पुष्ट होती है और काम, क्रोध, लोभ और

मोहरूपी चकोर उसको देखकर प्रसन्न होते हैं। देह अभिमानरूपी रात्रि के निवृत्त हुए और विवेकरूपी सूर्य के उदय हुए अज्ञानरूपी चन्द्रमा का प्रकाश निवृत्त हो जाता है। हे रामजी! अज्ञान से जीव भ्रमते हैं और उनकी चेष्टा विपर्यय हो गई है; जो तुच्छ और नीच दुःखरूप पदार्थ हैं उनको देखकर सुखदायक और रमणीय जानते हैं और स्त्री को देख प्रसन्न होते हैं। कवीश्वर कहते हैं कि इसके कपोल कमलवत्, नेत्र भँवरेवत्, होठ हँसनेवाले और भुजा बेलि की नाईं हैं; कञ्चन के कलशवत् स्तन हैं; उदर और वक्षस्थल बहुत सुन्दर हैं और जंघस्थल केले के स्तम्भवत् हैं। जिस स्त्री की कवि स्तुति करते हैं वह स्त्री रक्तमांस की पुतली है; कपोल भी रक्तमांस हैं, होठ भी रक्तमांस हैं; भुजा विष के वृक्ष के टासवत् हैं; स्तन भी रक्तमांस हैं और संपूर्ण शरीर भी रक्तमांस अस्थि से पूर्ण एक बुत बनी है उसको जो रमणीय जानते हैं वे मूर्ख मोह से मोहित हुए हैं और अपने नाश के निमित्त इच्छा करते हैं। जैसे सर्पिणी से जो कोई हित करेगा वह नष्ट होगा तैसे ही इससे हित किये से नाश होगा और जैसे कदलीवन का महाबली हाथी काम से नीच गति पाता है और संकट में पड़ता है और अंकुश सहकर जो अपमान को प्राप्त होता है, सो एक के हित से ही ऐसी गति को प्राप्त होता है, तैसे ही यह जीव स्त्री की इच्छा करके अनेक दुःख पाता है। जैसे दीपक को रमणीय जानकर पतङ्ग उसमें प्रवेश करता है और नष्ट होता है तैसे ही यह जीव स्त्री की इच्छा करता है और उसके संग से नाश को प्राप्त होता है। लक्ष्मी का आश्रय करके जो सुख की इच्छा करता है वह भी सुखी न होगा। जैसे पहाड़ दूर से देखनेमात्र सुन्दर भासता है तैसे ही यह भी देखने में सुन्दर लगती है पर लक्ष्मी का आश्रय करके जो सुख की इच्छा करे सो सुख न मिलेगा, अन्त में दुःख को ही प्राप्त होगा। जब लक्ष्मी प्राप्त होती है तब अनर्थ और पाप करने लगता है और दुःख का पात्र होता है; और जब जाती है तब दुःख दे जाती है और उससे जलता रहता है। हे रामजी! जगत् में सुख की इच्छा करना व्यर्थ है; प्रथम जन्म लेता है तब भी दुःख से जन्म लेता है; फिर जन्म

कर मूर्ख और नीच बालक अवस्था को प्राप्त होता है तब कुछ विचार नहीं होता है उसमें दुःख पाता है और कुछ शक्ति नहीं होती उससे दुःख पाता है; जब यौवन अवस्थारूपी रात्रि आती है तब उसमें काम, क्रोध, लोभ और मोहरूपी निशाचर विचरते हैं और तृष्णारूपी पिशाचिनी बिचरती है, क्योंकि उस अवस्था में विवेकरूपी चन्द्रमा नहीं उदय होता उससे अन्धकार में वे सब क्रीड़ा करते हैं। हे रामजी ! यौवन अवस्थारूपी वर्षाकाल में बुद्धि आदिक नदियाँ मलिनभाव को प्राप्त होती हैं; कामरूपी मेघ गर्जता है और तृष्णारूपी मोरनी उसको देख प्रसन्न होकर नृत्य करती है। फिर यौवन अवस्थारूपी चूहे को जरारूपी बिल्ली भोजन कर लेती है और शरीर महाजर्जरीभूत हो निर्बल हो जाता है, तृष्णा बढ़ती जाती है और हृदय से जलता है; निदान फिर मृत्युरूपी सिंह जरारूपी हरिण को भोजन कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य उपजता और मरता है और आशारूपी रस्सी से बँधा हुआ घटीयन्त्र की नाईं भटकता है—शान्ति कदाचित् नहीं पाता। हे रामजी! ब्रह्माण्डरूपी एक वृक्ष है और उसमें जीवरूपी पत्र लगे हैं सो कर्मरूपी वायु से हिलते हैं और अज्ञानरूपी उसमें जड़ता है। चित्तरूपी ऊँचा वृक्ष है उस पर लोभादिक उलूक बैठते हैं। जगत्रूपी ताल में शरीररूपी कमल हैं उन पर जीवरूपी भँवरे आ बैठते हैं और कालरूपी हाथी आकर उनको भोजन कर जाता है। हे रामजी ! जनतारूपी जीर्ण पक्षी आशारूपी फाँसी से बाँधे हुए वासनारूपी पिंजड़े में पड़े हैं और राग द्वेषरूपी अग्नि में पड़े हुए कालरूपी पुरुष के मुख में प्रवेश करते हैं। जनरूपी पक्षी उड़ते फिरते हैं सो कोई दिन उनको अब कालरूपी व्याध जाल फैलावेगा तब फँसा लेगा। हे रामजी ! संसाररूपी ताल में जीवरूपी मछलियाँ हैं और कालरूपी बगला उनको भोजन करता है। कालरूपी कुम्हार जनरूपी मृत्तिका के बासन बनाता है और वे शीघ्र ही फूट जाते हैं। जीवरूपी नदी कर्मरूपी तरङ्गों को फैलाती है और कालरूपी बड़वाग्नि में जा पड़ती है। जगत्रूपी हाथी के मस्तक में जीवरूपी मोती हैं; उस हाथी को कालरूपी सिंह भोजन कर जाता है। वह कालरूपी भक्षक

ऐसा है कि जिसने ब्रह्मा को भी भोजन किया है और करता है पर तृप्त नहीं होता। जैसे घृत की आहुति से अग्नि तृप्त नहीं होता तैसे ही काल जीवों के भोजन से तृप्त नहीं होता। हे रामजी ! एक निमेष में अनेक जगत् उपजते हैं और निमेष में लीन हो जाते हैं। सबके अभाव हुए जो शेष रहता है वह रुद्र है; फिर वह भी निवृत्त होता है और सबके पीछे एक परमतत्त्व ब्रह्मसत्ता रहती है। हे रामजी ! जो कुछ जगत् है वह अज्ञान से भासता है। जन्म, मरण, बालअवस्था, यौवन और वृद्धादिक विकार अज्ञान से भासते हैं और अज्ञान के नष्ट हुए सब नष्ट हो जाते हैं। जबतक आत्मविचार नहीं उपजता तबतक अज्ञान रहता है और जब आत्मविचार उपजता है तब अज्ञानरूपी रात्रि निवृत्त हो जाती है केवल ब्रह्मपद भासता है।
इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अज्ञानमाहात्म्यवर्णनन्नामषष्ठस्सर्गः ६॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह संसाररूपी यौवन चेतनरूपी पर्वत के शृङ्ग पर स्थित है और अविद्यारूपी बेलि उसमें बढ़कर विकाश को प्राप्त हुई है और सुख, दुःख, भाव, अभाव, अज्ञानपत्र, फूल और फल हैं। जहाँ अविद्या सुखरूप होकर स्थित होती है वहाँ ऊँचे सुख को भुगाती है और सत्य की नाईं होती है और जहाँ दुःखरूप होकर स्थित होती है तहाँ दुःखरूप भासती है। वही सुख दुःख इसके फल हैं। दिनरूपी फूल हैं और रात्रिरूपी भँवरे हैं; जन्मरूपी अंकुर हैं और भोगरूपी रस से पूर्ण है। जब विचाररूपी घुन अविद्यारूपी वृक्ष को खाने लगता है तब वह नष्ट हो जाती है। जबतक विचाररूपी घुन नहीं लगा तबतक वह दिन-दिन बढ़ती जाती है और दृढ़ होती जाती है। हे रामजी ! अविद्यारूपी बेलि का मूल संवित् फुरना है उससे फैली है; तारागण उसके फूल हैं, चन्द्रमा और सूर्य उसका प्रकाश है और दुष्कृत कर्मरूपी नरकस्थान कण्टक हैं; शुभ कर्मरूपी स्वर्ग उसके फूल हैं और सुख दुःखरूपी फल लगते हैं, जीवरूपी उसके पत्र हैं जो कालरूपी वायु से हिलते हैं और जीर्ण होकर गिर पड़ते हैं; पृथ्वीरूपी उसकी त्वचा है, पर्वतरूपी पीड़ है, मरणरूपी उसमें छिद्र हैं, जन्मरूपी अंकुर हैं और मोहरूपी कलियाँ हैं जिनके महासुन्दर गौर अंग हैं उनसे जीव मोहित होते हैं—जैसे स्त्री को

देखकर पुरुष मोहित होते हैं—और सात समुद्र के जल से सींची जाती है जिससे पुष्ट होती है। उस बेलि में एक विष की भरी सर्पिणी रहती है जो कोई उसके निकट जाता है उसको काटती है और वह मूर्च्छा से गिर पड़ता है। संसाररूपी मूर्च्छा की देनेवाली तृष्णारूपी सर्पिणी है। वह बेलि अन्यथा नष्ट नहीं होती; जब विचाररूपी घुन इसको लागे तो नष्ट हो जाती है। हे रामजी! जो कुछ प्रपञ्च तुमको भासता है सो सब अविद्यारूप है; कहीं अविद्या जलरूप हुई है कहीं पहाड़, कहीं नाग, कहीं देवता, कहीं दैत्य, कहीं पृथ्वी, कहीं चन्द्रमा, कहीं सूर्य, कहीं तारे, कहीं तम, कहीं प्रकाश, कहीं तेज, कहीं पाप, कहीं पुण्य, कहीं स्थावर, कहीं मूढ़रूप, कहीं अज्ञान से दीन और कहीं ज्ञान से आपही क्षीण हो जाती है। कहीं तप दान आदिक से क्षीण होती है; कहीं पापादिक से वृद्ध होती है; कहीं सूर्यरूप होकर प्रकाशती है, कहीं स्थानरूप होती है, कहीं नरक में लीन है, कहीं स्वर्गनिवासी है, कहीं देवता होती है, कहीं कृमि होती है, कहीं विष्णुरूप होकर स्थित हुई है; कहीं ब्रह्मा होकर स्थित है, कहीं रुद्र है, कहीं अग्निरूप है, कहीं पृथ्वीरूप हुई है और कहीं आकाश व कहीं भूत, भविष्यत् और वर्तमान हुई है। हे रामजी! जो कुछ देखने में आता है वह सब महिमा इसी की है। ईश्वर से आदि तृणपर्यंत सब अविद्यारूप है जो इस दृश्यजाल से अतीत है उसको आत्मलाभ जानो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यालतावर्णनन्नाम सप्तमस्सर्गः ७॥

रामजी ने पूछा, हे ब्रह्मन्! विष्णु और हर आदिक तो शुद्ध आकार आकाश जाति हैं इनको अविद्या तुम कैसे कहते हो? यह सुनकर मुझको संशय उत्पन्न हुआ है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! प्रथम अविद्या और तत्त्व सुनो कि किसको कहते हैं। जो अविद्यमान हो और विद्यमान भासे वह अविद्या है और जो सदा विद्यमान है उसको तत्त्व कहते हैं। हे रामजी! शुद्ध संवित् और कलना से रहित जो चिन्मात्र आत्मसत्ता है सोही तत्त्व है; उसमें जो अहं उल्लेख से संवेदनकलना पूर्णरूप से फुरी है सोही चिन्मात्र संवित् का आभास है। वही संवेदन फुरकर स्थानभेद से सूक्ष्म, स्थूल और मध्यमभाव को प्राप्त हुई है और फिर वही दृढ़ स्पन्द से मननभाव को प्राप्त हुई है। सात्त्विक, राजस और तामस तीनों उसी के आकार हुए हैं। वह अविद्या त्रिगुण प्राकृतधर्मिणी हुई है और तीन गुण जो तुझसे कहे हैं वे भी एक एक गुण तीन तीन प्रकार के हुए हैं जिससे अविद्या के गुण नव प्रकार के भेद को प्राप्त हुए हैं। जो कुछ तुमको दृश्य भासता है वह अविद्या के नव गुणों में है। ऋषीश्वर, मुनीश्वर, सिद्ध, नाग, विद्याधर और देवता अविद्या के सात्त्विकभाग हैं और उस सात्त्विक के विभाग में नाग सात्त्विक—तामस हैं, विद्याधर, सिद्ध, देवता और मुनीश्वर, अविद्या के सात्त्विक भाग में सात्त्विक—राजस हैं और हरिहरादिक केवल सात्त्विक हैं। हे रामजी! सात्त्विक जो प्रकृतभाग है उसमें जो तत्त्वज्ञ हुए हैं वे मोह को नहीं प्राप्त होते, क्योंकि वे मुक्तिरूप होते हैं। हरिहरादिक शुद्ध सात्त्विक हैं और सदा मुक्तिरूप होकर जगत् में स्थित हैं। वे जबतक जगत् में हैं तबतक जीवन्मुक्त हैं और जब विदेहमुक्त हुए तब परमेश्वर को प्राप्त होते हैं। हे रामजी! एक अविद्या के दो रूप हैं। एक अविद्या विद्यारूप होती है—जैसे बीज फल को प्राप्त होता है और फल बीजभाव को प्राप्त होता है जैसे जल से बुद्बुदा उठता है तैसे ही अविद्या से विद्या उपजती है और विद्या से अविद्या लीन होती है। जैसे काष्ठ से अग्नि उपजकर काष्ठ को दग्ध करती है तैसे ही विद्या अविद्या से उपजकर अविद्या को नाश करती है। वास्तव में सब चिदाकाश है जैसे जल में तरङ्ग कलनामात्र है तैसे ही विद्या अविद्याभावनामात्र है। इसको त्यागकर शेष आत्मसत्ता ही रहती है। अविद्या और विद्या आपस में प्रतियोगी हैं—जैसे तम और प्रकाश, इससे इन दोनों को त्यागकर आत्मसत्ता में स्थित हो। विद्या और अविद्या कल्पनामात्र हैं। विद्या के अभाव का नाम अविद्या है और अविद्या के अभाव का नाम विद्या है। यह प्रतियोगी कल्पना मिथ्या उठी है। जब विद्या उपजती है तब अविद्या को नष्ट करती है और फिर आप भी लीन हो जाती है—जैसे काष्ठ से उपज़ी अग्नि काष्ठ को जलाकर आप भी शान्त होजाती है—उससे जो शेष रहता है वह अशब्द पद सर्वव्यापी है। जैसे वटबीज में पत्र, टास, फूल, फल और पत्ते होते हैं तैसे ही सबमें

एक अनुस्यूतसत्ता व्यापी है सो ही ब्रह्मतत्त्व सर्वशक्ति है, उसी से सर्वशक्ति का स्पन्द है और आकाश से भी शून्य है। जैसे सूर्यकान्त में अग्नि होती है और दूध में घृत है तैसे ही सब जगत् में ब्रह्म व्याप रहा है। जैसे दधि के मथे विना घृत नहीं निकलता तैसे ही विचार विना आत्मा नहीं भासता और जैसे अग्नि से चिनगारें और सूर्य से किरणें निकलती हैं तैसे ही यह जगत् आत्मा का किंचनरूप है। जैसे घट के नाश हुए घटाकाश अविनाशी है तैसे ही जगत् के अभाव से भी आत्मा अविनाशी है। हे रामजी! जैसे चुम्बक पत्थर की सत्ता से जड़ लोह चेष्टा करता है परन्तु चुम्बक सदा अकर्ता ही है तैसे ही आत्मा की सत्ता से जगत् देहादिक चेष्टा करते हैं और चेतन होते हैं परन्तु आत्मा सदा अकर्ता है। इस जगत् का बीज चैतन्य आत्मसत्ता है और उसमें संवित् संवेदन आदिक शब्द भी कल्पनामात्र है। जैसे जल को कहिये कि बहुत सुन्दर और चञ्चल है सो जल ही जल है तैसे ही संवेदन आदिक सब चैतन्यरूप हैं। जहाँ न किञ्चन है, न अकिञ्चन है सो तुम्हारा स्वरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यानिराकरणंनामाष्टमस्सर्गः॥८॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! स्थावर-जङ्गम जो कुछ जगत् तुमको भासता है वह आधिभौतिकता को नहीं प्राप्त हुआ। वह सब चिदाकाशरूप है और उसमें कुछ भाव अभाव की कल्पना नहीं और जीवादिक भेद भी नहीं। हमको तो भेदकल्पना कुछ नहीं भासती। जैसे रस्सी में सर्प का अभाव है तैसे ही ब्रह्म में भेदकल्पना का अभाव है। हे रामजी! आत्मा के अज्ञान से भेदकल्पना भासती है और आत्मा के जाने से भेदकल्पना मिट जाती है वही सर्वसंपदा का अन्त है। शुद्ध चैतन्य में चित्त का सम्बन्ध होने का नाम अविद्या है। जो पुरुष चित्त की उपाधि से रहित चिन्मात्र है वह शरीर के नाश हुए नाश नहीं होता और शरीर के उपजे से नहीं उपजता। शरीर के उपजने और विनशने में वह सदा एकरस ज्यों का त्यों स्थित है। जैसे घट के उपजने और विनशने में घटाकाश ज्यों का त्यों रहता है तैसे ही शरीर के भाव अभाव में आत्मा ज्यों का त्यों है जैसे बालक दौड़ता है तो उसको सूर्य भी दौड़ता भासता है और स्थित होने में स्थित भासता है परन्तु सूर्य ज्यों का त्यों है; तैसे ही चित्त की चञ्चलता से मूर्ख जन आत्मा को व्याकुल देखते हैं; चित्त के अचलता में अचल देखते हैं और चित्त के उपजने में उपजता देखते हैं परन्तु आत्मा सदा ज्यों का त्यों है। जैसे मकड़ी अपने जाले से आप ही वेष्टित होती है और निकल नहीं सकती तैसे ही जीव अपनी वासना से आप ही बन्धायमान होते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! अत्यन्त मूर्खता को प्राप्त होकर जो स्थावर आदिक स्थित हुए हैं उनकी वासना कैसी होती है सो कृपा करके कहिये? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो स्थावर जीव हैं वे अमनसत्ता को नहीं प्राप्त हुए। वे केवल मन अवस्था में भी प्रतिष्ठित नहीं पर मध्य अवस्था में हैं। उनकी पुर्यष्टका सुषुप्तिरूप है सो केवल दुःख का कारण है। उनका मन नहीं नष्ट हुआ वे सुषुप्ति अवस्था में जड़रूप स्थित हैं सो काल पाकर जागेंगे अब उनकी सत्ता मूकजड़ होकर स्थित है। रामजी ने पूछा; हे देवताओं में श्रेष्ठ! यदि उनकी सत्ता अद्वैतरूप होकर स्थावर शरीर में स्थित है तो मुक्ति अवस्था उनके निकट है यह सिद्ध हुआ। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मुक्ति कैसे निकट होती है? मुक्ति तब होती है जब बुद्धिपूर्वक वस्तु को विचारे और यथाभूत अर्थदृष्टि आवे। जब सत्ता समान का बोध हो तब केवल आत्मपद को प्राप्त हो। हे रामजी! जब ज्यों का त्यों पदार्थ जानकर वासना को त्याग करे तब सत्ता समान पद प्राप्त हो। प्रथम अध्यात्म शास्त्र को विचारे और उसमें जो सार है उसकी बारम्बार भावना करे तब उससे जो प्राप्त हो सो सत्ता समान परब्रह्म कहाता है। स्थावर के भीतर वासना है परन्तु बाहर दृष्टि नहीं आती, क्योंकि उनकी सुषुप्ति वासना है। जैसे बीज में अंकुर होता है और फिर उगता है; तैसे ही उनके जन्म होवेंगे और वासना जागेगी। उनके भीतर जगत् की सत्यता है पर बाहर दृष्टि नहीं आती है। वे सुषुप्तिवत् जड़धर्मा हैं वे अनन्त जन्मों में दुःख पावेंगे। हे रामजी! स्थावर जो अब जड़धर्मीसुषुप्तिपद में स्थित हैं सो बारम्बार जन्म को पावेंगे–जैसे बीज में पत्र, टास, फूल और फल स्थित होते हैं और मृत्तिका में घटशक्ति है तैसे ही स्थावर में वासना

स्थित है। जिसमें वासनारूपी बीज है वह सुषुप्तिरूप कहाता है और वह सिद्धता जो मुक्ति है नहीं प्राप्त होती। जहाँ निर्बीज वासना है सो तुरीयापद है और वह सिद्धता को प्राप्त करती है। हे रामजी! जब चित्तशक्ति दृढ़ वासना से मिली होती है तब स्थावर होती है और वह फिर जागती है। जैसे कोई कर्म करता हुआ सो जाता है तो सुषुप्ति से उठकर फिर वही कर्म करने लगता है, क्योंकि कर्मरूपी वासना उसके भीतर रहती है; तैसे ही स्थावर वासना से फिर जन्म पावेंगे। जब वह वासना हृदय से दग्ध हो तब जन्म का कारण नहीं होती। आत्मसत्ता समानभाव से घट पट आदिक सब पदार्थों में स्थित है। जैसे वर्षाकाल का एक ही मेघ नानारूप होकर स्थित होता है तैसे ही एक ही आत्मसत्ता सर्व पदार्थों में स्थित होती है। इससे सब में आत्मा ही व्याप रहा है। ऐसी दृष्टि से जो रहित है उसको विपर्यय दृष्टि भ्रमदायक होती है और जब आत्मदृष्टि प्राप्त होती है तब सब दुःख नाश हो जाते हैं। हे रामजी! असम्यक्दृष्टि को ही बुद्धीश्वर अविद्या कहते हैं। वह अविद्या जगत् का कारण है और उससे सब पसारा होता है। जब उससे रहित अपना स्वरूप भासे तब अविद्या नष्ट होती है। जैसे बरफ़ की कणिका धूप से नष्ट हो जाती है तैसे ही शुद्धस्वरूप के अभ्यास से अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे स्वप्न से रहित जब अपना स्वरूप देखता है तब फिर स्वप्न की ओर नहीं जाता, तैसे ही शुद्धस्वरूप के अभ्यास से सम्पूर्ण भ्रम निवृत्त हो जाते हैं। हे रामजी! जब वस्तु को वस्तु जानता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है पर दीपक को हाथ में लेकर देखिये तो अन्धकार की कुछ मूर्ति दृष्टि नहीं आती, और जैसे उष्णता से घृत का पिंड गल जाता है तैसे ही आत्मा के दर्शन हुए अविद्या नहीं रहती। वास्तव में अविद्या कुछ वस्तु नहीं, अविचार से सिद्ध है और विचार किये से लीन हो जाती है। जैसे प्रकाश से तम लीन हो जाता है तैसे ही विचार से अविद्या लीन हो जाती है। अज्ञान से अविद्या की प्रतीति होती है। जबतक आत्मतत्त्व को नहीं देखा तबतक अविद्या ही प्रतीति होती है और जब आत्मा को

देखा तब अविद्या का अभाव हो जाता है। प्रथम यह विचार करे कि रक्त, मांस और अस्थि का यन्त्र जो शरीर है उसमें "मैं क्या वस्तु हूँ"? "सत्य क्या है? और असत्य क्या है?" इस विचार से जिसका अभाव होता है वह असत्य है और जिसका अभाव नहीं होता वह सत्य है। फिर अन्वय व्यतिरेक से विचारे कि कार्यकल्पित के होते भी हो और उसके अभाव में भी हो सो अन्वय सत्य है। देहादि के भाव में भी जो आत्मा अधिष्ठान है और इनके अभाव में भी निरुपाधि सिद्ध है सो सत्य है और देहादिक व्यतिरेक असत्य है। ऐसे विचारकर आत्मतत्त्व का अभ्यास करे और असत् देहादिक से वैराग्य करे तब निश्चय करके अविद्या लीन हो जाती है, क्योंकि वह वास्तव नहीं है, असत्यरूप है। उसके नष्ट हुए जो शेष रहे सो निष्किंचन है और सत्य है, ब्रह्म निरन्तर है सो तत्त्ववस्तु उपादेय करने योग्य है। हे रामजी! ऐसे विचार करके अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे पौंड़े का रस जिह्वा से लगता है तब अवश्य स्वाद आता है तैसे ही आत्मविचार से अविद्या अवश्य नष्ट हो जाती है। यदि वास्तव में कहिये तो अविद्या भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं एक अखंड ब्रह्मतत्त्व है। जिससे घट, पट, रथ आदिक पदार्थ भिन्न-भिन्न भासते हैं उसको अविद्या जानो और जिससे सबमें एक ब्रह्मभावना होती है उसको विद्या जानो। इस विद्या से अविद्या नष्ट हो जावेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्याचिकित्सावर्णनं-
नाम नवमस्सर्गः ॥ ९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! बोध के निमित्त मैं तुमको बारम्बार सार कहता हूँ कि आत्मा का साक्षात्कार भावना के अभ्यास विना न होगा। यह जो अज्ञान अविद्या है सो अनन्त जन्म का दृढ़ हुआ भीतर बाहर दिखाई देता है, आत्मा सब इन्द्रियों से अगोचर है जब मन सहित षट् इन्द्रियों का अभाव हो तब केवल शान्ति को प्राप्त होता है। हे रामजी! जो कुछ वृत्ति बहिर्मुख फुरती है सो अविद्या है, क्योंकि वह वृत्ति आत्मतत्त्व से भिन्न जानकर फुरती है और जो अन्तर्मुख आत्मा की ओर फुरती है सो विद्या अविद्या को नाश करेगी। अविद्या के दो रूप हैं—एक प्रधान-

रूप और दूसरा निकृष्टरूप है। उस अविद्या से विद्या उपजकर अविद्या को नाश करती है और फिर आप भी नष्ट हो जाती है। जैसे बाँस से अग्नि उपजती है और बाँस को जलाकर आप भी शान्त हो जाती है तैसे ही जो अन्तर्मुख है सो प्रधानरूप विद्या है और जो बहिर्मुख है सो निकृष्टरूप अविद्या है। इससे अविद्याभाव को नाश करे। हे रामजी! अभ्यास विना कुछ सिद्ध नहीं होता। जो कुछ किसी को प्राप्त होता है सो अभ्यासरूपी वृक्ष का फल है। चिरकाल जो अविद्या का दृढ़ अभ्यास हुआ है तब अविद्या दृढ़ हुई है। जब आत्मज्ञान के निमित्त यत्न करके दृढ़ अभ्यास करोगे तब अविद्या नष्ट हो जावेगी। हे रामजी! हृदयरूपी वृक्ष में जो अविद्यारूपी बुरी लता फैल रही है उसको ज्ञानरूपी खड्ग से काटो और जो कुछ अपना प्रकृत आचार है उसको करो तब तुमको दुःख कोई न होगा जैसे जनक राजा ज्ञात ज्ञेय होकर व्यवहार को करता था तैसे ही आत्मज्ञान का दृढ़ अभ्यास कर तुम भी विचरो। हे रामजी! जैसा निश्चय, पवन, विष्णुजी, सदाशिव, ब्रह्मा, बृहस्पति, चन्द्रमा, अग्नि, नारद, पुलह, पुलस्त्य, अङ्गिरा, भृगु, शुकदेव और ज्ञात ज्ञेय ब्राह्मणों का है वही तुमको भी प्राप्त हो। रामजी ने पूछा, हे ब्राह्मण! जिस निश्चय से बुद्धिमान् विशोक होकर स्थित हुए हैं वह मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे सम्पूर्ण ज्ञानवानों का निश्चय है और जैसे वे व्यवहार में सम रहे हैं सो सुनो। विस्ताररूप जो कुछ जगज्जाल तुमको भासता है वह निर्मल ब्रह्मसत्ता अपनी महिमा में स्थित है—जैसे समुद्र में तरङ्ग स्थित होते हैं और नाना प्रकार के उत्पन्न होते हैं सो एक जलरूप है, जल से भिन्न नहीं; तैसे ही जो ग्रहण करनेवाला है सो भी ब्रह्म है और जिसको भोजन करता है वह भी ब्रह्म है, मित्र भी ब्रह्म है, शत्रु भी ब्रह्म है; ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है। यह निश्चयज्ञानवान् को सदा रहता है और ब्रह्म को ब्रह्म स्पर्श करता है तब किसको स्पर्श किया? हे रामजी! जिनको सदा यही निश्चय रहता है उनको राग द्वेष कुछ दुःख नहीं दे सकते। ब्रह्म ही ब्रह्म में फुरता है; भावरूप भी ब्रह्म है, अभावरूप भी ब्रह्म है; कुछ भिन्न नहीं तो फिर रागद्वेष कलना कैमे हो?

ब्रह्म ही ब्रह्म को चेतता है; ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है, ब्रह्म ही अहं अस्मि है; ब्रह्म ही सम है; ब्रह्म ही आत्मा है और घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, ब्रह्म ही से विस्तार को प्राप्त हुआ है। हे रामजी! जब सर्वत्र ब्रह्म ही है तब राग विराग कलना कैसे होवे? मृत्यु भी ब्रह्म है, शरीर भी ब्रह्म है; मरता भी ब्रह्म है और मारता भी ब्रह्म है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रम से भासता है तैसे ही आत्मा में सुख दुःख मिथ्या है। भोग भी ब्रह्म है, भोगनेवाला भी ब्रह्म है और भोक्ता देह भी ब्रह्म है, निदान सर्वत्र ब्रह्म ही है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और मिट जाते हैं सो जल से भिन्न नहीं तैसे ही शरीर उपजते और मिट जाते हैं सो ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है। हे रामजी! जल के तरङ्ग जो मृत्यु को प्राप्त होते हैं तो क्या हुआ वे तो जल ही हैं; तैसे ही मृतक ब्रह्म ने जो मृतक देह ब्रह्म को मारा तब कौन मुआ और किसने मारा? जैसे एक तरङ्ग जल से उपजा और दूसरे तरङ्ग से मिल दोनों इकट्ठे होकर मिट गये सो जल ही जल है; वहाँ मैं, तू इत्यादिक दूसरा कुछ नहीं; तैसे ही आत्मा में जो जगत् है सो आत्मा ही अपने आप में स्थित है; तेरा, मेरा, भिन्न कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण में भूषण और जल में तरङ्ग अभेदरूप है तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। हे रामजी! जो पुरुष यथार्थदर्शी है उसको सदा यही निश्चय रहता है और जिनको सम्यक्ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ उनको विपर्ययरूप और का और भासता है। पर वास्तव में सदा एकरूप है; ज्ञान और अज्ञान का भेद है। जैसे रस्सी एक होती है परन्तु जिसको सम्यक्ज्ञान होता है उसको रस्सी भासती है और जिसको सम्यक्ज्ञान नहीं होता उसको सर्प हो भासता है; तैसे ही जो ज्ञानवान् पुरुष है उसको सब ब्रह्मसत्ता ही भासती है और जो अज्ञानी है उसको जगत् नानारूप हो भासता है और दुःखदायक होता है पर ज्ञानवान् को सुखरूप है। जैसे अन्धे को सब ओर अन्धकार ही भासता है और नेत्रवान् को प्रकाशरूप होता है तैसे ही सर्वजगत् आत्मरूप है परन्तु ज्ञानी को आत्मसत्ता सुखरूप भासती है और अज्ञानी को दुःखदायक है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में बैतालबुद्धि होती है और उससे भयवान् होता है पर बुद्धिमान् निर्भय होता है तैसे ही अज्ञानी को

जगत् दुःखदायक है और ज्ञानी को सुखरूप है। यदि मेरा निश्चय पूछो तो यों है कि मैं सर्व, ब्रह्म, नित्य, शुद्ध, सर्व में स्थित हूँ; न कोई विनशता है, न उपजता है। जैसे जल में तरङ्ग न कुछ उपजते हैं और न विनशते हैं जल ही जल है तैसे ही भूत भी आत्मा में है और जगत् भी आत्मरूप है। आत्मब्रह्म ही अपने आप में स्थित है और शरीर के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। मृतकरूप भी ब्रह्म है शरीर भी ब्रह्म है ब्रह्म ही अनेकरूप होकर भासता है ब्रह्म से भिन्न शरीर आदिक कुछ सिद्ध नहीं होते। जैसे तरङ्ग, फेन और बुद्बुदे जलरूप हैं तैसे ही देह, कलना, इन्द्रियाँ, इच्छा देवतादिक सब ब्रह्मरूप हैं और जैसे भूषण सुवर्ण से भिन्न नहीं होता—सुवर्ण ही भूषणरूप होता है—तैसे ही ब्रह्म से व्यतिरेक जगत् नहीं होता ब्रह्म ही जगत्रूप है। जो मूढ़ हैं उनको द्वैतकलना भासती है। हे रामजी! मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा और इन्द्रियाँ सब ब्रह्म ही के नाम हैं और सुख दुःख कुछ नहीं। अहं आदिक, जो शब्द हैं उनमें भिन्न भिन्न भावना करनी व्यर्थ है, अपना अनुभव ही अन्य की नाईं हो भासता है—जैसे पहाड़ में शब्द करने से प्रतिशब्द का भास होता है सो अपना ही शब्द है उसमें और की कल्पना मिथ्या है। जैसे स्वप्न में कोई अपना शिर कटा देखता है सो व्यर्थ है पर सो भी भासि आता है। जिसको असम्यक्ज्ञान होता है उसको ऐसे ही है। हे रामजी! ब्रह्म सर्वशक्ति है उसमें जैसी भावना होती है वही भासि आता है। जिसको सम्यक्ज्ञान होता है वह उसे निरहंकार, सुप्रकाश और सर्वशक्ति देखता है। कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण; यह जो षट्कारक बुद्धि है सो सब सर्वत्र ब्रह्म ही है और ब्रह्म ही अर्पण, ब्रह्म ही हवि, ब्रह्म ही अग्नि, ब्रह्म ही होत्र, ब्रह्म ही हुतनेवाला और ब्रह्म ही फल देता है; ऐसे जाननेवाले का नाम ज्ञानी है और ऐसे न जानने से अज्ञानी है। जाननेवाले का नाम ब्रह्मवेत्ता है। हे रामजी! यदि चिरकाल का बान्धव हो और उसको देखिये तो जानिये कि बान्धव है और जो देखने में न आये और उसका अभ्यास दूर हो गया हो तो बान्धव भी अबान्धव की नाईं हो जाता है; तैसे ही अपना आप ही ब्रह्मस्वरूप है, जब भावना होती है तब ऐसे ही भासि

आता है कि मैं ब्रह्म हूँ और द्वैत कल्पना लीन हो जाती है—सर्व ब्रह्म ही भासता है। जैसे जिसने अमृत पान किया है वह अमृतमय होता है और जिसने नहीं पान किया वह अमृतमय नहीं होता; तैसे ही जिसने जाना है कि मैं ब्रह्म हूँ वह ब्रह्म ही होता है और जिसने नहीं जाना उसको नानात्व कल्पना रूप जन्म मरण भासता है और ब्रह्म अप्राप्त की नाईं भासता है। हे रामजी! जिसको ब्रह्मभावना का अभ्यास है वह अभ्यास के बल से शीघ्र ही ब्रह्म होता है। ब्रह्मरूपी बड़े दर्पण में जैसी कोई भावना करता है तैसा ही रूप हो भासता है। मन भावनामात्र है, दुर्वासना से स्वरूप का आवरण हुआ है; जब वासना नष्ट होती है तब निष्कलङ्क आत्मतत्त्व ही भासता है। जैसे शुद्ध वस्त्र पर केशर का रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है, तैसे ही वासना से रहित चित्त में ब्रह्म निश्चय होता है। हे रामजी! आत्मा सर्वकलना से रहित है और तीनों काल में नित्य, शुद्ध, सम और शान्तरूप है। जिसको ज्ञान होता है वह ऐसे जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ। और सर्वदाकाल, सर्व में सर्व प्रकार सर्व घट, पटादिक जो जगज्जाल है उसमें मैं ही ब्रह्म आकाशवत् व्याप रहा हूँ? न कोई मुझको दुःख है, न कर्म है, न किसी का त्याग करता हूँ और न वाञ्छा करता हूँ और सर्वकलना से रहित निरामय हूँ। मैं ही रक्त, पीत, श्वेत और श्याम हूँ और रक्त, मांस अस्थि का वपु भी मैं ही हूँ; घट पटादिक जगत् भी मैं ही हूँ और तृण, बेलि, फूल, गुच्छे, टास, वन, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, ग्रहण, त्याग, संकुचना, भूत आदि शक्ति सब मैं ही हूँ। विस्तार को प्राप्त मैं ही भया हूँ; वृक्ष, बेलि, फल, गुच्छे, जिसके आश्रय फुरते हैं वह चिदात्मा मैं ही हूँ और सबमें रसरूप मैं ही हूँ। जिसमें यह सर्व है और जिससे यह सर्व है; जो सर्व है और जिसको सर्व है ऐसा चिदात्मा ब्रह्म मैं ही हूँ। जिसके चैतन्य; आत्मा, ब्रह्म, सत्य, अमृत, ज्ञानरूप इत्यादिक नाम हैं; ऐसा सर्वशक्त, चिन्मात्र, चैत्य से रहित प्रकाशमात्र, निर्मल, सर्वभूतों का प्रकाशक और मन, बुद्धि, इन्द्रियों का स्वामी मैं हूँ। जो कुछ भेद कलना है सो मनादि ही की थी और अब इनकी कलना को त्यागकर मैं अपने प्रकाश में स्थित हूँ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिक जो सब जगत्

का कारण है उन सबका चैतन्य आत्मारूप ब्रह्म, निरामय, अविनाशी, निरन्तर, स्वच्छ आत्मा, प्रकाशरूप, मन के उत्थान से रहित, मौनरूप मैं ही हूँ और परम अमृत, निरन्तर सर्वभूतों में सत्तारूप से मैं ही स्थित हूँ। सदा अलेप साक्षी, सुषुप्ति की नाईं और द्वैतकलना से रहित अक्षोभरूप अनुभव मैं ही हूँ। शान्तरूप जगत् में मैं ही फैल रहा हूँ और सब वासना से रहित अक्षोभरूपी अनुभव मैं ही हूँ। जिससे सब स्वाद का अनुभव होता है सो चैतन्य ब्रह्म आत्मा मैं ही हूँ। जिसका चित्त स्त्री में आसक्त है; जिसको चन्द्रमा की कान्ति से अधिक मुदिता है और जिससे स्त्री का स्पर्श और मुदिता का अनुभव होता है ऐसा चैतन्य ब्रह्म मैं ही हूँ और सुख दुःख की कलना से रहित अमनसत्ता और अनुभवरूप जो आत्मा है सो चैतन्यरूप आत्मा ब्रह्म मैं ही हूँ। खजूर और नींब आदिक में स्वादरूप मैं ही हूँ; खेद और आनन्द, लाभ और हानि मुझको तुल्य है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और साक्षी तुरीयारूप आदि, अन्त से रहित चैतन्य ब्रह्म निरामय मैं हूँ। जैसे एक खेत के पौड़ों में एक ही सा रस होता है तैसे ही अनेक मूर्तियों में एक ब्रह्मसत्ता ही स्थित है। वह सत्य, शुद्ध, सम, शान्तरूप और सर्वज्ञ है, जो प्रकाशक और सूर्य की नाईं है सो प्रकाशरूप ब्रह्म मैं ही हूँ और सब शरीरों में व्याप रहा हूँ। जैसे मोती की माला में तागा गुप्त होता है जिसमें मोती पिरोये हैं; तैसे ही मोतीरूपी शरीर में तन्तुरूप गुप्त मैं ही हूँ और जगत्रूपी दूध में ब्रह्मरूपी घृत मैं ही व्याप रहा हूँ। हे रामजी! जैसे सुवर्ण में जो नाना प्रकार के भूषण बनते हैं सो सुवर्ण से भिन्न नहीं होते तैसे ही सब पदार्थ आत्मा में स्थित हैं–आत्मा से भिन्न नहीं। पर्वत, समुद्र और नदियों में सत्तारूप आत्मा ही है; सर्व संकल्पों का फलदाता और सर्व पदार्थों का प्रकाशक आत्मा ही है और सब पाने योग्य पदार्थों का अन्त है। उस आत्मा की उपासना हम करते हैं जो घट, पट, तट और कन्ध में स्थित है। जाग्रत् में जो सुषुप्तिरूप स्थित है और जिसमें कोई फुरना नहीं, ऐसे चैतन्यरूप आत्मा की उपासना हम करते हैं। मधुर में जो मधुरता है और तीक्ष्ण में तीक्ष्णता है और जगत् में चलना शक्ति है उस चैतन्य

आत्मा की हम उपासना करते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीया और तुरीयातीत में जो समतत्त्व है उसकी हम उपासना करते हैं। त्रिलोकी के देहरूपी मोतियों में जो तन्तु की नाईं अनुस्यूत है और फैलाने और संकोचने का कारण है उस चैतन्यरूप आत्मा की हम उपासना करते हैं। जो षोड़श कलासंयुक्त और षोड़श कला से रहित और अकिंचन, किंचनरूप है उस चैतन्य आत्मा की हम उपासना करते हैं। चैतन्यरूप अमृत जो क्षीरसमुद्र से निकला है और चन्द्रमा के मण्डल में रहता है, ऐसा जो स्वतः सिद्ध अमृत है जिसको पाकर कदाचित् मृत्यु न हो उस चैतन्य अमृत की हम उपासना करते हैं। जो अखण्ड प्रकाश है और सब भूतों को सुन्दर करता है उस चिदात्मा को हम उपासते हैं। जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध प्रकाशते हैं और आप इससे रहित है उस चैतन्य आत्मा की हम उपासना करते हैं। सब में हूँ और सब में नहीं और भी कोई नहीं इस प्रकार विदित वेद अपने अद्वैतरूप में विगतज्वर होकर स्थित होते हैं। यही निश्चय ज्ञानवानों का है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तनिश्चयोपदेशो
नाम दशमस्सर्गः ॥ १० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो निष्पाप पुरुष है उसको यही निश्चय रहता है कि सत्यरूप आत्मतत्त्व है यह पूर्ण बोधवान् का निश्चय है। उसको न किसी में राग होता है और न किसी में द्वेष होता है; उसको जीना और मरना सुख दुःख नहीं देते और वह एक समान रहता है। वह विष्णुनारायण का अङ्ग है अर्थात् अभेद है और सदा अचल है। जैसे सुमेरु पर्वत वायु से चलायमान नहीं होता तैसे ही वह दुःख से चलायमान नहीं होता। ऐसे जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे वन में बिचरते हैं और नगर द्वीप आदिक नाना प्रकार के स्थानों में भी फिरते हैं परन्तु दुःख नहीं पाते। कोई स्वर्ग में फूलों के वन और बग़ीचों में फिरते हैं कोई पर्वत की कन्दराओं में रहते हैं, कोई राज्य करते हैं और शत्रुओं को मारकर शिर पर झुलाते हैं; कितने श्रुति–स्मृति के अनुसार कर्म करते हैं; कोई भोग भोगते हैं; कोई विरक्त होकर स्थित हैं; कोई दान, यज्ञादिक कर्म

करते हैं; कोई स्त्रियों के साथ लीला करते, कहीं गीत सुनते और कहीं नन्दनवन में गन्धर्व गायन करते हैं; कोई गृह में स्थित हैं; कोई तीर्थ और यज्ञ करते हैं, कोई नौबत, नगारे और तुरियाँ इत्यादिक सुनते और नाना प्रकार के स्थानों में रहते हैं परन्तु आसक्त नहीं होते। जैसे सुमेरु पर्वत ताल में नहीं डूबता तैसे ही ज्ञानवान् किसी पदार्थ में बन्धवान् नहीं होते। वे इष्ट को पाकर हर्षवान् नहीं होते और अनिष्ट को पाकर दुःखी नहीं होते। वे आपदा और सम्पदा में तुल्य रहते हैं और प्रकृत आचार (कर्म) करते हैं, परन्तु उनका हृदय सर्व आरम्भ से रहित है। हे राघव! इसी दृष्टि का आश्रय करके तुम भी विचरो। यह दृष्टि सब पापों का नाश करती है। अहंकार से रहित होकर जो इच्छा हो सो करो, जब यथार्थदर्शी हुए तब निर्बन्ध हुए फिर जो कुछ पतित प्रवाह से आ प्राप्त होगा उसमें सुमेरु की नाईं तुम रहोगे। हे रामजी! यह सब जगत् चिन्मात्र है; न कुछ सत्य है, न असत्य है; वहीं इस प्रकार होकर भासता है। इस दृष्टि को आश्रय करके और तुच्छ दृष्टि को त्यागो। हे रामजी! असंसक्त बुद्धि होकर सर्व भाव अभाव में स्थित होकर राग द्वेष से चलायमान न हो; अब सावधान हो। रामजी बोले, हे भगवन्! बड़ा आश्चर्य है कि मैंने आपके प्रसाद से जानने योग्य पद जाना और प्रबुद्ध हुआ हूँ। जैसे सूर्य की किरणों से कमल प्रफुल्लित होते हैं तैसे ही मैं प्रफुल्लित हुआ हूँ और जैसे शरत्काल में कुहिरा नष्ट हो जाता है तैसे ही आपके वचनों से मेरा संदेह और मान मोह मद मत्सर सब नष्ट हो गये हैं। मैं अब सब क्षोभ से रहित शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तनिश्चयवर्णनं नामैकादशस्सर्गः ॥ ११ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सम्यक्ज्ञान के पश्चात् जीवन्मुक्त पद में किस प्रकार विश्रान्ति पाते हैं सो कहो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संसार तरने की युक्ति है सो योगनाम्नी है। वह युक्ति दो प्रकार की है—एक सम्यक्ज्ञान और दूसरी प्राण के रोकने से। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! इन दोनों में सुगम कौन है जिससे दुःख भी न हो और फिर क्षोभ भी न हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! दोनों प्रकार से योग शब्द कहाता है तो भी योग प्राण के रोकने का नाम है। योग और ज्ञान दोनों संसार से तरने के उपाय हैं। इन दोनों का फल एक ही सदाशिव ने कहा है। हे रामजी! किसी को योग करना कठिन होता है और ज्ञान का निश्चय सुगम होता है और किसी को ज्ञान का निश्चय कठिन होता है और योग करना सुगम है। यदि मुझसे पूछो तो दोनों में ज्ञान सुगम है, क्योंकि इसमें यत्न और कष्ट थोड़ा है। जानने योग्य पदार्थ के जाने से फिर सुपने में भी भ्रम नहीं होता, क्योंकि वह साक्षीभूत होकर देखता है और जो बुद्धिमान् योगीश्वर हैं उनको भी कुछ यत्न नहीं होता, वे स्वाभाविक ही चले जाते हैं और गुरु की युक्ति समझकर चित्त शान्त हो जाता है। हे रामजी! दोनों की सिद्धता अभ्यासरूप यत्न से होती है; अभ्यास विना कुछ नहीं प्राप्त होता। वह ज्ञान तो मैंने तुमसे कहा है। जो हृदय में विराजमान ज्ञेय है उसका जानना ही ज्ञान है जो प्राण अपान के रथ पर आरूढ़ है और हृदयरूपी गुहा में स्थित है। हे रामजी! उस योग का भी क्रम सुनो वह भी परम सिद्धता के निमित्त है। प्राणवायु जो नासिका और मुख के मार्ग से आती जाती है उसके रोकने का क्रम कहता हूँ। उससे चित्त उपशम हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ज्ञानज्ञेयविचारो नाम द्वादशस्सर्गः ॥ १२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ब्रह्मरूपी आकाश के किसी अणु में यह जगत्‌रूपी स्पन्द आभास फुरा है—जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणों में मृगतृष्णा का जल फुर आता है—उस जगत् के कारणभाव को वह प्राप्त हुआ है जो ब्रह्म के नाभिकमल से उत्पन्न हुआ है और पितामह नाम से कहाता है। उसका मानसीपुत्र श्रेष्ठ आचारी मैं वशिष्ठ हूँ। नक्षत्र और ताराचक्र में मेरा निवास है और युग युग प्रति मैं वहाँ रहता हूँ। एक समय मैं नक्षत्रचक्र से उड़ा और इन्द्र की सभा में गया तो देखा कि वहाँ ऋषीश्वर, मुनीश्वर बैठे थे। इतने में नारद आदिक चिरंजीवी का जो प्रसंग चला तो शातातप नाम एक बुद्धिमान् ऋषी-

श्वर ने कहा कि हे साधो! सबमें चिरंजीव एक है। सुमेरु पर्वत की कोण पद्मरागनाम्नी कन्दरा के शिखर पर एक कल्पवृक्ष है जो महासुन्दर और अपनी शोभा से पूर्ण है। उस वृक्ष के दक्षिण दिशा की डाल पर बहुत पक्षी रहते हैं उन पक्षियों में एक महाश्रीमान् कौवा रहता है जिसका नाम भुशुण्डि है। वह वीतराग और बुद्धिमान् है और उसका आलय उस कल्पवृक्ष के टास पर बना हुआ है। जैसे ब्रह्मा नाभिकमल में रहते हैं तैसे ही वह उस आलय में रहता है। जैसे वह जिया है तैसे न कोई जिया है और न जीवेगा। उसकी बड़ी आयु है और वह महाबुद्धिमान्, विश्रान्तिमान्, शान्तरूप और काल का वेत्ता है। हे साधो! बहुत जीना भी उसी का फल है और पुण्यवान् भी वही है। उसको आत्मपद में विश्रान्ति हुई है और संसार की आस्था जाती रही है। इस प्रकार जब उन देवताओं के देव ने कहा तब सम्पूर्ण सभा में ऋषीश्वरों ने दूसरी बार पूछा कि उसका वृत्तान्त फिर कहो। तब उसने फिर वर्णन किया तो सब आश्चर्य को प्राप्त हुए। जब यह कथा वार्त्ता हो चुकी तब सब सभा उठ खड़ी हुई और अपने-अपने आश्रम को गये, पर मैं आश्चर्यवान् हुआ कि ऐसे पक्षी को किसी प्रकार देखना चाहिये ऐसा विचार करके मैं सुमेरु पर्वत की कन्दरा के सम्मुख हो चला और एक क्षण में वहाँ जा पहुँचा तो क्या देखा कि महाप्रकाशरूप वह कन्दरा का शिखर रत्नमणियों से पूर्ण है और उसका गेरू की नाईं रङ्ग है। जैसे अग्नि की ज्वाला होती है तैसे ही उसका प्रकाशरूप था मानों प्रलयकाल में अग्नि की ज्वाला जलती है—और बीच में नीलमणि धूम्र के समान था—मानों धुआँ निकलता है और सब रङ्गों की खानि है। ऐसा प्रकाश था मानों संध्या के लाल बादल इकट्ठे हुए हैं; मानों योगीश्वरों के ब्रह्मरन्ध्र से अग्नि निकलकर इकट्ठी हुई वा मानों बड़वाग्नि समुद्र से निकलकर मेघ को ग्रहण करने के निमित्त स्थित हुई है। निदान महासुन्दर रचना बनी हुई थी जो फल और रत्नमणि संयुक्त प्रकाशवान् था और ऊपर गङ्गा का प्रवाह चला जाता था सो यज्ञोपवीतरूप था। गन्धर्व गीत गाते थे, देवियों के रहने के स्थान बने थे और हर्ष

उपजाने को महासुन्दर लीला के स्थान विधाता ने वहाँ रचे थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने सुमेरुशिखरलीलावर्णनं नाम त्रयोदशस्सर्गः॥ १३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ऐसे शिखर पर मैंने कल्पवृक्ष देखा कि वह महासुन्दर फलों से पूर्ण है और रत्न और मणियों के गुच्छे और स्वर्ण की बेलें लगी हुई हैं; तारों से दूने फूल दृष्टि आते हैं; मेघ के बादल से दूने पत्र दृष्टि आते हैं और सूर्य की किरणों से दुगुने त्रिवर्ग भासते हैं; जिनका बिजली की नाईं चमत्कार है। पत्रों पर देवता, किन्नर, विद्याधर और देवियाँ बैठी हैं और अप्सरा आ नृत्य और गान करती हैं—जैसे भँवरे गुञ्जार करते फिरते हैं। हे रामजी! रत्नों के गुच्छे और कलियाँ और मणि के फूल फल पत्र निरन्ध्र दृष्टि आते थे; सब स्थान फूल फल गुच्छों से पूर्ण थे और छहों ऋतु के फूल फल वहाँ पाये जाते थे। उस वृक्ष के एक टास पर पक्षी बैठे कहीं फूल फलादिक खाते थे, कहीं ब्रह्माजी के हंस बैठे थे, कहीं अग्नि के वाहन तोते, कहीं अश्विनीकुमार और भगवती के शिखावाले मोर, कहीं बगले, कहीं कबूतर और कहीं गरुड़ बैठे ऐसे शब्द करते थे मानों ब्रह्म कमल से उपजकर ॐकार का उच्चार करते हैं कई ऐसे पक्षी देखे कि उनकी दो दो चोंचें थीं। फिर मैं आगे देखने को गया तो जहाँ उस वृक्ष का टास था वहाँ अनेक कौवे बैठे देखे। जैसे महाप्रलय में मेघ लोकालोक पर्वत पर आन बैठते हैं तैसे ही वहाँ अनेक कौवे अचल बैठे थे जो सोम, सूर्य, इन्द्र, वरुण और कुबेर के यज्ञ की रक्षा करनेवाले और पुण्यवान् स्त्रियों की प्रसन्नता देनेवाले भर्ता के संदेशे पहुँचानेवाले हैं। उनके मध्य में एक महा श्रीमान् और कान्तिमान् कौवा ऊंची ग्रीवा किये हुए बैठा था। जैसे नीलमणि चमकती है तैसे ही उसकी ग्रीवा चमकती थी और पूर्ण मन और मानी अर्थात् मान करने योग्य; सुन्दर और प्राणस्पन्द को जीतनेवाला, नित्य अन्तर्मुख और नित ही सुखी वह चिरंजीवी पुरुष वहाँ बैठा था जगत् में दीर्घआयु और जगत् की आगमापायी गति देखते देखते जिसने बहुत कल्प का स्मरण किया है; इन्द्र की जिसने कई परम्परा देखी हैं; लोकपाल, वरुण, कुबेर, यमा-

दिक के कई जन्म देखे हैं और देवतों और सिद्धों के अनेक जन्म जिस पुरुष ने देखे हैं और जिसका प्रसन्न और गम्भीर अन्तःकरण है; जिसकी सुन्दरवाणी वक्रता से रहित है; जो निर्मल और निरहंकार सबका सुहृद मित्र है; जो पिता समान हैं उनको पुत्र की नाईं है और जो पुत्र के समान हैं उनको उपदेश करने के निमित्त पिता और गुरु की नाईं समर्थ है और जो सर्वथा, सर्वप्रकार, सर्वकाल, सबमें समर्थ और प्रसन्न, महामति, हृदय, पुण्डरीक, व्यवहार का वेत्ता है; गम्भीर और शान्तरूप महाज्ञात ज्ञय है; ऐसे पुरुष को मैंने देखा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डिदर्शनंनाम चतुर्दशस्सर्गः १४॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इसके अनन्तर मैं आकाशमार्ग से वहाँ आया और महातेजवान् दीपकवत् प्रकाशवान् मेरा शरीर था। जब मैं उतरा तब जितने पक्षी वहाँ बैठे थे वे सब जैसे वायु से कमल की पंक्ति क्षोभ को प्राप्त होती है और भूकम्प से समुद्र क्षोभ को प्राप्त होता है तैसे ही क्षोभ को प्राप्त हुए। उनके मध्य में जो भुशुण्डि था उसने मुझको यद्यपि अकस्मात् देखा तो भी जान गया कि यह वशिष्ठ है और खड़ा होकर बोला; हे मुनीश्वर ! स्वस्थ हो, कुशल तो है। हे रामजी ! ऐसे कहकर उसने संकल्प के हाथ रचे और उनसे मेरा अर्घ्यपाद्यकर भावसंयुक्त पूजन किया और नौकरों को दूर करके आप ही वृक्ष के बड़े पत्र ले और उनका आसन रचकर मुझको बैठाकर बोला अहो आश्चर्य है! हे भगवन् ! आपने बड़ी कृपा की कि दर्शन दिया। चिरपर्यन्त दर्शनरूपी अमृत से हम वृक्ष सहित पूर्ण हो रहे हैं। हे भगवन् ! मेरे पुण्य इकट्ठे होकर प्रसन्नता के निमित्त आपको प्रेर ले आये हैं। हे मुनीश्वर ! देवता जो पूजने योग्य हैं उनके भी आप पूज्य हो। कृपा करके कहो कि आप किस निमित्त आये हैं और आपका क्या मनोरथ है ? आपके चरणों के दर्शन करके मैंने तो सब कुछ जाना है। स्वर्ग की सभा में जब चिरंजीवियों का प्रसंग चला था तब मैं भी शरण में आया था इससे आप मुझको पवित्र करने आये हो परन्तु प्रभु के वचनरूपी अमृत के स्वाद की मुझको इच्छा है इस निमित्त मैं प्रभु के मुख से कुछ सुना चाहता हूँ। हे रामजी ! जब इस प्रकार चिरंजीवी भुशुण्डि नाम पक्षी ने मुझसे कहा तब मैंने कहा, हे पक्षियों के महाराज ! जो कुछ तुमने कहा सो सत् है। मैं अभ्यागत तुम्हारे आश्रम पर इस निमित्त आया हूँ कि चिरंजीवियों की कथा चली थी और उसमें तुम्हारा वर्णन हुआ था। तुम मुझको शीतल चित्त दृष्टि आते हो; और कुशलमूर्ति हो और संसाररूपी जाल से निकले हुए दीखते हो। इससे मेरे इस संशय को दूर करो कि कब तुमने जन्म लिया था, ज्ञात ज्ञेय कैसे हुए; तुम्हारी आयु कितनी है; कौन-कौन वृत्तान्त तुमको देखा हुआ स्मरण है और किस कारण यहाँ निवास किया है। भुशुण्डि बोले, हे मुनीश्वर ! जो कुछ तुमने पूछा वह सब कहता हूँ, शनैः शनैः तुम श्रवण करो। तुम तो स्वयम् साक्षात् प्रभु; त्रिलोकी के पूज्य और त्रिकालदर्शी हो परन्तु जो कुछ तुमने आज्ञा की है सो मानने योग्य है। तुम सारिखे महात्मा पुरुषों के सम्मुख हुए अपने में जो कुछ तप्तता होती है वह भी निवृत्त हो जाती है—जैसे मेघ के आगे आये हुए सूर्य की तप्तता मिट जाती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डिसमागमनं
नाम पञ्चदशस्सर्गः ॥ १५ ॥

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! इस जगत् में सब देवताओं के बड़े देव सदाशिव हैं जिन्होंने अर्धाङ्गिनी भगवती को शरीर में धारण किया है और जो महासुन्दर मूर्ति और त्रिनेत्र हैं। जिनकी बड़ी जटा हैं और मस्तक पर चन्द्रमा है जिससे अमृत टपकता है; और जटा के चहुँ ओर गङ्गा फिरती हैं जैसे फूलों की माला कण्ठ में होती है। नीलकण्ठ कालकूट के पाने से विषविभूषण हो गया है; कण्ठ में मुण्ड की माला है और सब ओर से भस्म लगी हुई है। दिशा उनके वस्त्र हैं; श्मशान में गृह है और महाशान्तरूप बिचरते हैं। उनके साथ जो सेना है उसके महाभयानक आकार हैं; किसी के तो रुद्र की नाईं तीन नेत्र हैं; किसी का तोते की नाईं मुख है; किसी का ऊँट का मुख है; कोई गर्दभमुखी है; किसी का बैल का मुख है; कोई जीवों के हृदय में प्रवेश करके रक्त मांस के भोजन करनेवाले हैं; कोई पहाड़ में रहते हैं; कितने वन, कन्दराओं और श्मशान में रहते हैं। उनके साथ

देवियाँ भी ऐसी हैं जिनकी महाभयानक चेष्टा और आचार हैं। उन देवियों में जो मुख्य देवियाँ हैं उनका जिस जिस दिशा में निवास है वह सुनो। जया, विजया, जित और अपराजित वामादिशा की ओर तुम्बर रुद्र के आश्रित हैं; और सिद्धा, मुखका, रक्तका और उतला, भैरव रुद्र के आश्रित हैं। सर्व देवियों के मध्य ये अष्टनायिका और शतसहस्र देवियाँ हैं रुद्राणी, वैष्णवी, ब्रह्माणी, वाराही, वायवी, कौमारी, वासवी, सौरी इत्यादिक। इनके साथ मिली हुई आकाश में उत्तम देव, किन्नर, गन्धर्व, पुरुष, सुरसंभवतियाँ तिनके साथ हुई हैं। भूचरपृथ्वी में कोटों हैं और नाना प्रकार के रूप, नाम धारकर पृथ्वी में जीवों को भोजन करती हैं। उनके वाहन ऊँट, गर्दभ, काक, वानर, तोते इत्यादिक हैं। उन देवियों में कई पशुधर्मिणी हैं जो क्षुद्रकर्म में स्थित हैं और कई विदितवेद जीवन्मुक्तपद में स्थित हैं। उनके मध्य नायका अलम्बसा देवी है। जैसे विष्णु का वाहन गरुड़ है तैसे ही उस देवी का वाहन काक है और यह देवी अष्टसिद्धि के ऐश्वर्य संयुक्त है। वे देवियाँ एककाल में बिचारती भई और जगत् के पूज्य तुम्बर और भैरव की पूजा कर विचार किया कि सदाशिव हमारे साथ भावसंयुक्त नहीं बोलते और हमको तुच्छ जानते हैं इससे हम इनको कुछ अपना प्रभाव दिखावें, क्योंकि प्रभाव दिखाये विना कोई किसी को नहीं जानता। ऐसे विचार करके उमा को वश करके दुराय लेगईं और उत्साह करके मद्य, मांसादिक भोजन किया। निदान माया के छल से पार्वती को मारकर चावल की नाईं पकाया और उसके कुछ अङ्ग पकाये हुए सदाशिव को दिये। तब सदाशिव ने जाना कि मेरी प्यारी पार्वती इन्होंने मारी है। ऐसे निश्चय करके वह कोप करने लगे तब उन देवियों ने अपने-अपने अङ्ग से उसके अङ्ग निकाले सौरीने नेत्र, कौमारी ने नासा और इसी प्रकार सबने अपने अपने अङ्ग निकाल कर वैसी ही पार्वती की मूर्ति ला दी और नूतन विवाह कर दिया तब सदाशिव प्रसन्न हुए, सब ठौर उत्साह और आनन्द हुआ और सब देवियाँ अपने-अपने स्थानों को गईं। चन्द्रनाम काक जो अलम्बसा देवी का वाहन था उसने ब्रह्माणी की हंसिनी के साथ क्रीड़ा की और इसी प्रकार सब ने क्रीड़ा की जिससे सबको गर्भ रहे। निदान वह हंसिनी ब्रह्माणी के पास गई तब ब्रह्माणी ने कहा कि अब तुमको मेरे उठाने की शक्ति नहीं—तुम गर्भवती हो—जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहाँ जाओ; फिर आना। हे मुनीश्वर! ऐसे कहकर ब्रह्माणी निर्विकल्प समाधि में स्थित हुई और नाभिसरोवर जो ब्रह्माजी का उत्पत्तिस्थान है वहाँ जा स्थित हुई और उस ताल के कमलपत्र पर निवास किया। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब उन हंसिनियों ने तीन तीन अण्डे दिये। जैसे बेल से अंकुर उत्पन्न होता है तैसे ही उनसे एकविंशति अण्ड क्रम से उत्पन्न हुए। कुछ काल उपरान्त जब उनको फोड़ा तो उन अण्डों से हमारे अङ्ग उत्पन्न हुए और क्रम करके जब हम बड़े हो उड़ने योग्य हुए तब माता हमको ब्रह्माणी के पास ले गई। उनके आगे हमने मस्तक टेका तब ब्रह्माणी ने, जो कि उसी समय समाधि से उतरी थी, हमको देखकर कृपा की वृत्ति धार हमारे शिर पर हाथ रक्खा। उसके हाथ रखने से हमारी अविद्या नष्ट हो गई और हमारा मन तृप्त और शान्तरूप हो गया और हम जीवन्मुक्त पद में स्थित हुए। तब हमको यह वृत्ति फुर आई कि किसी प्रकार एकान्त में जाकर ध्यान में स्थित होवें। देवी ने आज्ञा की कि अब तुम जाओ; तब देवीजी की आज्ञा से हम पिता के पास आये और पिता ने हमको कण्ठलगाया और मस्तक चूंबा। फिर हमने अलम्बसा देवी की पूजा की तब पिता ने हमसे कहा, हे पुत्रो! तुम संसाररूपी जाल में तो नहीं फँसे और यदि फँसे हो तो मैं भगवती की प्रार्थना करता हूँ वह भृत्यों पर दयालु है—जैसे तुम चाहोगे तैसे ही तुमको प्राप्त करेगी। तब हमने कहा, हे पिता! हम तो ज्ञात ज्ञेय हुए हैं; जो कुछ जानने योग्य था वह जाना है और जो पाने योग्य था वह हमने ब्रह्माणी देवीजी के प्रसाद से पाया है। अब हमको एकान्त स्थान की इच्छा है जहाँ एकान्त हो वहाँ जा बैठें। तब चन्द्र पिता ने कहा, हे पुत्रो! सुमेरु पर्वत निर्दोष, महापावन, निर्भय और क्षोभ रहित सुन्दर स्थान है, वह सर्वरत्नों की खानि है, सर्व देवतों का आश्रयरूप है और सूर्य—चन्द्रमा उसके दीपक हैं जो चहुँ ओर फिरते हैं। ब्रह्माण्डरूपी मण्डप का वह थम्भा है और सुवर्ण का है, चन्द्र सूर्य उसके

नेत्र हैं और तारों की कण्ठ में माला है। दशों दिशा उसके वस्त्र हैं, रत्नमणियों के भूषण हैं और वृक्ष और बेल रोमावली हैं। उसकी त्रिलोकी में पूजा होती है और वह षोड़शसहस्र योजन पाताल में है जहाँ नाग और दैत्य पूजा करते हैं और चौरासी सहस्र योजन ऊर्ध्व को है जहाँ गन्धर्व, देवता, किन्नर, राक्षस, मनुष्य पूजा करते हैं। ऐसा पर्वत जम्बूद्वीप के एक स्थान में स्थित है और उसके आश्रय चतुर्दश प्रकार के भूतजाति रहते हैं वह बड़ा ऊँचा पर्वत है और पद्मराग नाम उसका एक शिखर सूर्यवत् उदय है। शिखर पर एक बड़ा कल्पवृक्ष है जो मानों जगत्‌रूपी शिखर का प्रतिबिम्ब आपड़ा है। उस कल्पवृक्ष के दक्षिणदिशा की ओर जो डाल है उसमें महारत्न के गुच्छे, सुवर्ण के पत्र और चन्द्रमा के बिम्बवत् फूल हैं और सघन और रमणीय गुच्छे लगे हैं। वहाँ एक आलय बना हुआ है; वहाँ मैं भी आगे रह आया हूँ। जब देवीजी समाधि में स्थित हुई थीं तब मैं वहाँ आलय बनाकर स्थित हुआ था। चिन्तामणि की उसमें शलाका लगी हैं और महारत्नों से बना है। वहाँ जा तुम निवास करो। वहाँ और कौवों के पुत्र भी रहते हैं जिनका हृदय आत्मज्ञान से शीतल है और बाहर से भी शीतल हैं। तुमको वहाँ भोग भी हैं और मोक्ष भी है। हे वशिष्ठजी! जब इस प्रकार पिता ने हमसे कहा तब हम सबों ने पिता के चरण परसे और पिता ने हमारा मस्तक चूंबा। निदान हम बिन्ध्याचलपर्वत से उड़े और आकाशमार्ग से मेघ नक्षत्र, चक्र, लोकान्तर होकर ब्रह्मलोक में पहुँच देवीजी को प्रणाम किया और उनने भली प्रकार हमारे ऊपर कृपादृष्टि की। दया और स्नेह सहित कण्ठ लगाया और मस्तक चूँबा। हम भी मस्तक टेककर सुमेरु को चले और सूर्य और चन्द्रमा के लोकों और तारागण, लोकपाल और देवताओं के लोक, मेघ और पवन के स्थान लांघकर सुमेरुपर्वत के कल्पवृक्ष पर पहुँचे। हे मुनीश्वर! जिस प्रकार हम उपजे और जिससे ज्ञान को प्राप्त हुए हैं और जिस प्रकार यहाँ आ स्थित हुए हैं वह सब समाचार तुम्हारे आगे अखण्डित कहा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने अस्ताचललाभो
नाम षोडशस्सर्गः ॥ १६ ॥

भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! यह चिरकाल की वार्त्ता तुमसे कही है वह सृष्टि इस सृष्टि से दूर है परन्तु मैंने तुमको वर्तमान की नाईं अभ्यास के बल से सुनाया है। हे मुनीश्वर! मेरा कोई पुण्य था सो फला है कि तुम्हारा निर्विघ्न दर्शन हुआ और यह आलय शाखा और वृक्ष आज पवित्र हुए। अब जो कुछ संशय है सो पूछो तो मैं कहूँ। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार कहकर उसने मेरा भली प्रकार अर्घ्यपाद्य से आदर सहित पूजन किया तब मैंने उससे कहा, हे पक्षियों के ईश्वर! तुम्हारे वे भाई कहाँ हैं जो तुम्हारे समान तत्त्ववेत्ता थे; वह तो दृष्टि नहीं आते, अकेले तुमहीं दीखते हो? भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! यहाँ मुझको बहुत युग की पंक्ति व्यतीत हुई है जैसे सूर्य को कई दिन रात्रि व्यतीत हो जाते हैं तैसे ही मुझको युग व्यतीत हुए हैं। कुछ काल वे भी रहे थे पर समय पाकर उन्होंने शरीर त्याग दिये और तृण की नाईं तनु त्यागकर शिव आत्मपद को प्राप्त हुए। हे मुनीश्वर! बड़ी आयु हो अथवा सिद्ध महन्त हो; बली हो, अथवा ऐश्वर्यवान् हो, काल सबको ग्रासि लेता है। फिर मैंने पूछा, हे साधो! जब प्रलयकाल का समय आता है तब सूर्य, चन्द्रमा, वायु, मेघ ये सब अपनी-अपनी मर्यादा त्याग देते हैं और बड़ा क्षोभ होता है पर तुमको खेद किस कारण नहीं होता? सूर्य की तपन से अस्ताचल उदयाचलादिक पर्वत भस्म हो जाते हैं पर उस क्षोभ में तुम खेदवान् क्यों नहीं होते? भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! कई जीव जगत् में आधार से रहते हैं और कई निराधार रहते हैं जिनको सेना आदिक ऐश्वर्य पदार्थ होते हैं वे आधार सहित हैं और जो इन पदार्थों से रहित हैं वे निराधार हैं पर दोनों को हम तुच्छ देखते हैं सत् कोई नहीं। बड़े-बड़े ऐश्वर्यवान् और बली भी हैं परन्तु सत्य कोई नहीं। उनमें पक्षी की जाति महातुच्छ है जिनका उजाड़ वन में निवास है और वहाँ ही उनका दानापानी है। ये निरालम्ब हैं और इनकी जीविका दैव ने ऐसे ही बनाई है। हे भगवन्! मैं तो सदा सुखी हूँ और अपने आपमें स्थित आत्मसन्तोष से तृप्त हूँ। कदाचित् इस जगत् के क्षोभ से खेद को प्राप्त नहीं होता और स्वभावमात्र में सन्तुष्ट

और कष्टचेष्टा से मुक्त हूँ। हे ब्राह्मण ! अब हम केवल काल को व्यतीत करते हैं और जगत् के इष्ट अनिष्ट हमको चला नहीं सकते। न मरने की हमको इच्छा है और न जीने की इच्छा है, क्योंकि जीना मरना शरीर की अवस्था है, आत्मा की अवस्था नहीं। हमको जीने का राग नहीं और मरने में द्वेष नहीं—जैसी अवस्था प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट हैं। हे मुनीश्वर ! ऐसे-ऐसे देखे हैं कि वे फिर भस्म हो गये हैं; उनकी अवस्था देखकर हमारे मन की चपलता जाती रही है और हम इस कल्पवृक्ष पर बैठे हैं जिसमें रत्नों की बेलि लगी हैं। इस पर बैठकर मैं प्राण अपान की गति को देखता हूँ। इनकी कला की जो सूक्ष्म गति है उसका मैं ज्ञाता हूँ और दिन रात्रि का मुझको कुछ ज्ञान नहीं। सत्बुद्धि से मैं काल को जानता हूँ और सार असार को भी भले प्रकार जानता हूँ। हे मुनीश्वर ! जो कुछ विस्तार भासता है वह सब झूठ है, सत् कुछ नहीं; इसी कारण हमको किसी दृश्यपदार्थ की इच्छा नहीं, हम परम उपशमपद में स्थित हैं और सब जगत् भी हमको शान्तरूप है। जो कोई इस जगज्जाल का आश्रय करता है वह सुखी नहीं होता। यह सब जगत् चञ्चलरूप है और स्थिर कदाचित् नहीं होता। इसकी अवस्था में हम पत्थरवत् अचल हैं; न किसी का हमको राग फुरता है और न द्वेष है; न हम किसी की इच्छा करें; सब जगत् हमको तुच्छ भासता है। यह सब भूतरूपी नदियाँ कालरूपी समुद्र में जा पड़ती हैं पर हम किनारे खड़े हैं इससे कदाचित् नहीं डूबते और जितने जीव हैं वे डूबते हैं ? पर कई एक तुम सारिखे निकले हुए हैं और तुम्हारी कृपा से हम भी निर्विकार पद को प्राप्त हुए हैं। हे मुनीश्वर ! मैं निर्विकार सब जगत् के क्षोभ से रहित हूँ और आत्मपद को पाकर उपशमरूप हूँ। हे मुनीश्वर ! तुम्हारे दर्शन से मैं अब पूर्ण आनन्द को प्राप्त हुआ हूँ; सन्त की संगति चन्द्रमा की चाँदनीवत् शीतल है और अमृत की नाईं आनन्द को देनेवाली है ऐसा कौन है जो सन्त के संग से आनन्द को न प्राप्त हो; अर्थात् सब आनन्द को प्राप्त होते हैं। हे मुनीश्वर ! सन्त का संग चन्द्रमा के अमृत से भी अधिक है, क्योंकि वह शीतल गौण है

हृदय की तपन नहीं मिटाता और सन्त का संग अन्तःकरण की तपन मिटाता है वह अमृत क्षीरसमुद्र के मथन के क्षोभ से निकला है और सन्त का संग सुख से प्राप्त होता है और आत्मानन्द को प्राप्त करता है—इससे यह परम उत्तम है। मैं तो इससे और कोई उत्तम नहीं मानता; सन्त का संग सबसे उत्तम है सन्त भी वे ही हैं जिनकी आपातरमणीय सब इच्छा निवृत्त हुई हैं अर्थात् जो विचार विना दृश्यपदार्थ सुन्दर भासते हैं और नाशवन्त हैं वे उनको तुच्छ भासते हैं और वे सदा आत्मानन्द से तृप्त हैं। वे अद्वैतनिष्ठ हैं; उनकी द्वैतकलना का अभाव हुआ है वे सदा आत्मानन्द में स्थित हैं। ऐसे पुरुष सन्त कहाते हैं। उन सन्तों की संगति ऐसी है जैसे चिन्तामणि होती है; जिसके पाये से सब दुःख नष्ट होते हैं। हे मुनीश्वर ! त्रिलोकीरूपी कमल के भँवरे और सब ज्ञानवानों से उत्तम तुमहीं दृष्टि आये हो। तुम्हारे वचन स्निग्ध, कोमल और आत्मरस से पूर्ण, हृदयगम्य और उचित हैं और तुम्हारा हृदय महागम्भीर और उदार, धैर्यवान् और सदा आत्मानन्द से तृप्त है; इससे तुम सबसे उत्तम मुझको दीखते हो। तुम्हारे दर्शन से मेरे सब दुःख नष्ट हुए हैं और आज मेरा जन्म सफल हुआ है। तुम सारिखे सन्तों का संग आत्मपद को प्राप्त करता है। और दुःख और भय नष्ट करके निर्भयता को प्राप्त करता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सन्तमाहात्म्यवर्णनं
नाम सप्तदशस्सर्गः॥ १७॥

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! तुमने जो पूछा था कि सूर्य, वायु और जल का क्षोभ होता है तो तुम खेदवान् क्यों नहीं होते उसका उत्तर सुनो। जब जगत् को क्षोभ होता है तब भी मेरा कल्पवृक्ष यह स्थिर रहता है क्षोभ को प्राप्त नहीं होता। हे मुनीश्वर ! यह मेरा वृक्ष सब लोक को अगम है। भूत नष्ट होते हैं तब भी मैं इससे सुखी रहता हूँ। जब हिरण्यकशिपु द्वीपों सहित पृथ्वी समेटकर पाताल ले गया था तब भी मेरा वृक्ष कम्पायमान न हुआ; जब देवता और दैत्यों का युद्ध हुआ तब और सब पर्वत चलायमान हुए पर मेरा वृक्ष स्थिर रहा और जब क्षीरसमुद्र के मथने के निमित्त विष्णुजी सुमेरु को भुजा से उखाड़ने लगे पर मेरा वृक्ष कम्पाय-

मान न हुआ तब मन्दराचल को ले गये। और क्षीर समुद्र को मथने लगे। प्रलयकाल का पवन और मेघ का क्षोभ हुआ तब भी मेरा वृक्ष कम्पायमान न हुआ। फिर एक दैत्य आनकर सुमेरु को पटकने लगा और उसने कुछ उखाड़ा परन्तु मेरा वृक्ष कम्पायमान न हुआ। हे मुनीश्वर! बड़े-बड़े उपद्रव हुए हैं और प्रलयकाल के मेघ, पवन और सूर्य तपे हैं तब भी मेरा वृक्ष स्थिर रहा है। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! फिर मैंने उससे पूछा कि हे साधो! जब प्रलयकाल के वायु और मेघ क्षोभते हैं तब तू विगतज्वर कैसे रहता है? भुशुण्डजी ने कहा, हे साधो! जब प्रलयकाल के वायु, मेघादिक क्षोभ करते हैं तब मैं कृतघ्न की नाईं अपने आलय को त्यागकर और सब क्षोभ से रहित आकाश में स्थित होता हूँ और सब अंगों को सकुचा लेता हूँ। जैसे वासना के रोंके से मन सकुच जाता है तैसे ही मैं भी अङ्ग को सकुचा लेता हूँ। हे मुनीश्वर! जब प्रलयकाल का सूर्य तपता है तब मैं जल की धारणा से जलरूप हो जाता हूँ; जब वायु चलता है तब पर्वत की धारणा बाँधकर स्थित हो जाता हूँ, जब बहुत तत्त्वों का क्षोभ होता है तब सबको त्यागकर ब्रह्माण्ड खप्पर के पार जो निर्मल परमपद है वहाँ मैं सुषुप्तिवत् अचल गम्भीर हो जाता हूँ और जब ब्रह्मा उपजकर फिर सृष्टि रचता है तब मैं सुमेरु के वृक्ष पर इसी आलय में स्थित होता हूँ। फिर मैंने पूछा, हे पक्षियों के ईश्वर! जैसे तुम अखण्ड स्थित होते हो तैसे ही और योगीश्वर क्यों नहीं स्थित होते? भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! परमात्मा की यह नीति किसी से लंघी नहीं जाती; उन योगीश्वरों की नीति इसी प्रकार हुई है और मेरी उत्पत्ति इसी प्रकार है। ईश्वर की नीति अतुल है। उसकी तुल्यता किसी से नहीं की जाती; जहाँ जैसी नीति हुई वहाँ वैसे ही है; अन्यथा किसी से नहीं होती। हमको इसी प्रकार हुई है कि कल्प कल्प में इसी पर्वत के वृक्ष पर आलय होता है और हम आय निवास करते हैं। वशिष्ठजी बोले, हे पक्षियों के नायक! तुम्हारी अत्यन्त दीर्घ आयु है; तुम ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न और योगेश्वर हो और तुमने अनेक आश्चर्य देखे हैं उनमें जो स्मरण है वह कहो? भुशुण्डजी बोले, हे मुनी-

श्वर! एक बार ऐसे स्मरण आता है कि पृथ्वी पर तृण और वृक्ष ही थे और कुछ न था; फिर एक बार एकादशसहस्रवर्ष पर्यन्त भस्म ही दृष्टि आती थी; जो वृक्ष और तृण थे सो सब जल गये थे; एक बार ऐसी सृष्टि हुई कि उसमें चन्द्र और सूर्य न उपजे और दिन और रात्रि की गति कुछ जानी न जाती थी पर कुछ सुमेरु के रत्नों का प्रकाश होता था; एक कल्प ऐसा हुआ है कि जिसमें देवता और दैत्यों का युद्ध हुआ था। और जब दैत्यों की जीत हुई तो उन्होंने सब देवता मनुष्यों की नाईं हत किये। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों देवताओं के सिवा और सब सृष्टि उन्होंने जीती और बीस युग पर्यन्त उन्हीं की आज्ञा चली। एकबार ऐसे स्मरण आता है कि दो युग पर्यन्त पृथ्वी पर वृक्ष ही वृक्ष थे और कुछ सृष्टि न थी; एक बार दो युग पर्यन्त पृथ्वी पर पर्वत ही पर्वत सघन हो रहे थे और कुछ न था और एकबार ऐसा हुआ कि सब जल ही जल हो गया और कुछ न भासे केवल सुमेरु पर्वत थंभे की नाईं भासे। एकबार अगस्त्यमुनि दक्षिण दिशा से आये और विन्ध्याचलपर्वत बढ़ा और सब ब्रह्माण्ड चूर्ण कर दिये। हे मुनीश्वर! बहुत कुछ स्मरण है परन्तु संक्षेप से सुनो। एककाल सृष्टि में मनुष्य, देवतादिक कुछ न भासते थे; एक बार ऐसी सृष्टि हुई थी कि ब्राह्मण मद्यपान करते थे शूद्र बड़े हो बैठे थे और सब जीवों में विपर्यय धर्म हो गये थे; एकबार ऐसी सृष्टि स्मरण में आती है कि पृथ्वी में कोई पर्वत दृष्टि न आता था; एकबार सृष्टि ऐसी उत्पन्न हुई कि सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, लोकपाल आदि कोई न उपजा; एक सृष्टि ऐसी हुई कि सब ही उपजे; एक सृष्टि ऐसी हुई कि उसमें स्वामिकार्त्तिक न उपजा, दैत्य बढ़ गये और दैत्यों ही का राज्य हो गया। मुझको बहुत स्मरण है कहाँ तक कहूँ। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, इन्द्र, उपेन्द्र और लोकपालों के बहुत जन्म मुझको स्मरण आते हैं। जब हिरण्यकशिपु को जो वेद को चुरा ले आया था हरि ने मारा था वह भी स्मरण है और क्षीरसमुद्र मथना भी स्मरण है। ऐसी सृष्टि भी देखी है कि जिसमें विष्णुजी का वाहन गरुड़ नहीं हुआ; ब्रह्माजी हंस वाहन विना हुए हैं और रुद्र बैल वाहन विना हुए हैं। इसी

प्रकार बहुत कुछ देखा है क्या क्या तुम्हारे आगे वर्णन करूँ ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने जीवितवृत्तान्तवर्णनं नामाष्टादशस्सर्गः ॥ १८ ॥

भुशुण्डिजी बोले, हे मुनीश्वर ! जब फिर सृष्टि उत्पन्न हुई तब तुम भारद्वाज, पुलस्त्य, नारद, इन्द्र, मरीचि, उद्दालक, क्रतु, भृगु, अङ्गिरा, सनत्कुमार, भार्गवेश आदिक उपजे । फिर सुमेरु, मन्दराचल, कैलास, हिमालय आदिक पर्वत उपजे और अत्रि, वासुदेव, बाल्मीकि इत्यादिक यह तो अल्पकाल के उपजे हैं। हे मुनीश्वर ! तुम ब्रह्मा के पुत्र हो और तुम्हारे आठ जन्म मुझको स्मरण आते हैं । कभी तुम आकाश से उपजे हो, कभी जल से उपजे, कभी पहाड़ से उपजे, कभी पवन से उपजे और कभी अग्नि से उपजे हो । हे मुनीश्वर ! मन्दराचल पर्वत को क्षीरसमुद्र में डालकर जब मथने लगे और देवता और दैत्य क्षोभवान् हुए कि मन्दराचल नीचे चला जाता है तब विष्णुजी ने कच्छपरूप धारणकर पर्वत को ठहराया था और अमृत निकाला था सो मुझको द्वादशबार स्मरण आता है । तीन बार हिरण्यकशिपु पृथ्वी को पाताल में समेट ले गया है और छः बार परशुराम रेणुका माता का पुत्र हुआ है सो बहुत सृष्टि के पीछे हुआ है । जब क्षत्रियों में दैत्य उपजने लगे तो उनके नाश निमित्त विष्णुजी ने परशुरामजी का अवतार लिया था । हे मुनीश्वर ! एक सृष्टि ऐसी हुई है कि जिसमें अगले से विपर्ययरूप शास्त्र और पुराण के अर्थ हुए और एक कल्प में और ही पाठ और ही युक्ति और ही अर्थ हुए क्योंकि युग युग प्रति और ही पुराण होते हैं, किसी को देवता बनाते हैं और किसी को ऋषीश्वर मुनीश्वर कहते हैं । कथा और इतिहास भी मुझे बहुत स्मरण हैं । बाल्मीकिजी ने द्वादशबार रामायण बनाई और विलय हो गया है और व्यासजी ने दोबार महाभारत बनाई और उन्होंने सातबार अवतार लिया है । हे मुनीश्वर ! इस प्रकार आख्यान, कथा, इतिहास और शास्त्र जो जो हुए हैं वे सब मुझको बहुत स्मरण में आते हैं । हे साधो ! दैत्यों के मारने के निमित्त विष्णुजी युग युग प्रति अवतार लेते हैं । एकादशबार मुझको रामजी स्मरण में आते हैं और वसुदेव के गृह में पृथ्वी के भार उतारने के निमित्त कृष्णजी ने सोलह बार अवतार लिया है सो भी मुझको स्मरण है और तीन बार नरसिंह अवतार धारण कर विष्णु ने हिरण्यकशिपु को मारा है । हे मुनीश्वर ! इसी प्रकार मुझको अनेक सृष्टि स्मरण आती है परन्तु सबही भ्रममात्र है, कुछ उपजी नहीं । जब आत्मतत्त्व में देखता हूँ तब कुछ सृष्टि नहीं भासती सब सत्तामात्र है । जैसे जल में बुद्बुदे उपजकर लीन हो जाते हैं तैसे ही आत्मा में मन के फुरने से कई सृष्टि उपजती हैं और लीन हो जाती हैं । उस फुरने से कई सृष्टि देखी हैं ; कोई सदृश ही उपजती हैं, कोई अर्धसदृश और कोई विपर्ययरूप हैं । हे मुनीश्वर ! कोई कोई सृष्टि में एक से ही आकार और कर्म—आचार होते हैं कोई मन्वन्तर मन्वन्तर प्रति और ही और सृष्टि होती है और किसी में ऐसे होता है कि पुत्र पिता हो जाता है; शत्रु मित्र हो जाता है ; बान्धव अबान्धव और अबान्धव बान्धव हो जाता है । इस प्रकार भी विपर्यय होते दृष्टि आये हैं । कभी इस ही कल्पवृक्ष पर हमारा आलय होता है, कभी मन्दराचल में ; कभी हिमालय पर्वत में ; और कभी मालव पर्वत में होता है । इसी प्रकार वन, वृक्ष और बेलि पर हो जाता है और कभी इसी कल्पवृक्ष के ऊपर हो जाता है पर अब तो बहुत काल से इसी कल्पवृक्ष पर रहता हूँ । जब सृष्टि का नाश हो जाता है तब भी मेरा यही शरीर रहता है । मैं आसन लगाकर अपनी पुर्यष्टक को ब्रह्मसत्ता में स्थित करता हूँ इसी कारण मुझको फिर यही शरीर प्राप्त होता है । हे मुनीश्वर ! यह जगत् सब संकल्पमात्र है ; जैसा संकल्प फुरता है तैसा ही आगे हो भासता है । यह जगत् सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं केवल भ्रमरूप है । उस जगत् भ्रम में अनेक आश्चर्य दृष्टि आते हैं ; पिता पुत्र हो जाता है ; मित्र शत्रु हो जाता है ; स्त्री पुरुष हो जाती है; और पुरुष स्त्री हो जाता है । कभी कलियुग में सतयुग बर्तने लगता है और सतयुग में कलियुग बर्तने लगता है और कभी द्वापर में त्रेता और त्रेता में द्वापर बर्तता है । कभी अदृश्य ही वेद विद्या के अर्थ होते हैं और नाना प्रकार के आश्चर्य भासते हैं । हे मुनीश्वर ! जब एक सहस्र चौकड़ी युग की व्यतीत होती

हैं तब ब्रह्माजी का एक दिन होता है सो एकबार दो दिन पर्यन्त ब्रह्मा समाधि में लगा रहा और सृष्टि शून्य हो रही—यह भी स्मरण आता है और भी कई देश क्रिया विचित्ररूप स्मरण आते हैं; क्या क्या कहूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिराततिवर्णनन्नामैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ १९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जब भुशुण्डजी ने कहा तब मैंने फिर जिज्ञासा के अर्थ पूछा कि हे पक्षियों के ईश्वर! तुमतो चिरकाल पर्यन्त जगत् में व्यवहार करते रहे हो तो तुम्हारे शरीर को मृत्यु ने किस निमित्त न ग्रास किया? भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! तुम सब जानते हो परन्तु ब्रह्मजिज्ञासा करके पूछते हो इससे जैसे विद्यार्थी वेदार्थ पढ़कर फिर गुरु के आगे कहते हैं तैसे ही मैं आज्ञा मानकर कहता हूँ। हे मुनीश्वर! मृत्यु किसको मारता है और किसको नहीं मारता सो सुनो। दुःखरूपी मोती वासनारूपी तांत से पिरोये हैं; यह माला जिसके हृदयरूपी गले में पड़ी हुई है उसको मृत्यु मारता है और जिसके कण्ठ में यह माला नहीं पड़ी उसको मृत्यु नहीं मारता। शरीररूपी वृक्ष में चित्तरूपी सर्प बैठा है। आशारूपी अग्नि जिस वृक्ष को नहीं जलाती वह मृत्यु के वश नहीं होता। रागद्वेषरूपी विष से पूर्ण जो चित्तरूपी सर्प है, तृष्णा से चूर्ण होता है और लोभरूपी व्याधि से नष्ट होता है उसको मृत्यु मारता है और ग्रस लेता है। जिसको इनका दुःख नहीं स्पर्श करता उसको मृत्यु भी नहीं नाश करता। हे मुनीश्वर! शरीररूपी समुद्र क्रोधरूपी बड़वाग्नि से जलता है जिसको क्रोधरूपी अग्नि नहीं जलाता उसको मृत्यु भी नहीं मारता। जिसका मन परम पावन और निर्मल पद में दृढ़ विश्रान्त और स्थित हुआ है उसको मृत्यु नाश नहीं करता। हे मुनीश्वर! जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, तृष्णा, चिन्ता, चञ्चलता, अभिमान, प्रमाद इत्यादि दुःख होते हैं उसको मृत्यु मारता है और जिसको काम, क्रोध, लोभादिक रोग संसार बन्धन का कारण बाँध नहीं सकते और जो इनसे लेपायमान नहीं होता उसको आधि व्याधिरूपी मल नहीं स्पर्श करता। जो मनुष्य लेता है, देता है और सब कार्य करता है पर चित्त में अनात्म

अभिमान स्पर्श नहीं करता उसको और जो पुरुष इष्ट की वाञ्छा नहीं करता और अनिष्ट में दोष नहीं करता दोनों की प्राप्ति में सम रहता है उसको समाहितचित्त कहते हैं। हे मुनीश्वर! जो कुछ ऐश्वर्यवान् सुन्दर पदार्थ हैं वे सब असत्‌रूप हैं; पृथ्वी पर चक्रवर्ती राजा और स्वर्ग में गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर, देवता और उनकी स्त्रीगण और सुरों की सेना आदिक सब नाशरूप हैं! मनुष्य, दैत्य, देवता, असुर, पहाड़, ताल, नदियाँ जो कुछ बड़े पदार्थ हैं वे सबही नाशरूप हैं। स्वर्ग, पृथ्वी और पाताललोक जो कुछ जगत् भोग हैं वे सब असत्‌रूप और अशुभ हैं। कोई पदार्थ श्रेष्ठ नहीं; न पृथ्वी का राज्य श्रेष्ठ है, न देवताओं का रूप श्रेष्ठ है न नागों का पाताललोक श्रेष्ठ है न कुछ शास्त्रों का विचारना श्रेष्ठ है, न काव्य का जानना श्रेष्ठ है; न पुरातन कथाक्रम वर्णन करना श्रेष्ठ है; न बहुत जीना श्रेष्ठ है; न मूढ़ता से मर जाना श्रेष्ठ है; न नरक में पड़ना श्रेष्ठ है और न इस त्रिलोकी में और कोई पदार्थ श्रेष्ठ है; जहाँ सन्त का मन स्थित है वही श्रेष्ठ है। यह नाना प्रकार का जगत्क्रम चलरूप है; जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे मूढ़ होकर चलपदार्थ में नहीं रमते और बहुत जीने की इच्छा भी नहीं करते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने संकल्पनिराकरणन्नाम विंशतितमस्सर्गः ॥ २० ॥

भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! केवल एक आत्मदृष्टि सबसे श्रेष्ठ है; जिसके पाये से सब दुःख नाश होते हैं और परमपद प्राप्त होता है। वह आत्मचिन्तन सर्व दुःखों का नाशकर्त्ता है और चिरकाल के तीनों तापों से तपे और जन्म के मार्ग से थके हुए जीवों के श्रम को दूर करता है और तपन मिटाता है। समस्त दुःखों की खानि अविद्या अनर्थ प्राप्त करनेवाली है उसको नाश करती है। जैसे अन्धकार को प्रकाश नष्ट करता है तैसे ही जीव के हृदय में शीतल प्रकाश उपजाती है। हे भगवन्! ऐसी जो आत्मचिन्तना सब संकल्पों से रहित है सो तुम सारिखे को सुगम प्राप्त है और हम सारिखों को कठिन है, क्योंकि समस्त कलना से अतीत है। हे मुनीश्वर! उस आत्मचिन्तन की सखी और

भी कोई प्राप्त हो तो सब ताप मिट जावें और महा शीतलता हो उनमें से मुझको एक सखी प्राप्त हुई है वह सब दुःखों का नाश करती है, सब सौभाग्य देनेवाली और जीने का मूल है । ऐसी प्राणचिन्ता मुझको प्राप्त हुई है। हे रामजी ! जब इस प्रकार मुझसे काकभुशुण्ड ने कहा तब मैंने जानकर भी क्रीड़ा के निमित्त फिर उससे पूछा कि हे सर्वसंशयों के निवृत्त करनेवाले, चिरंजीवी, पुरुष ! सत्य कहो प्राणचिन्ता किसको कहते हैं ? भुशुण्डजी बोले, हे सर्ववेदान्त के वेत्ता और सर्व संशयों के नाशकर्त्ता ! मेरे उपहास के निमित्त तुम मुझसे पूछते हो। तुम तो सब कुछ जानते हो परन्तु तुमसे शिष्य की भाँति कहता हूँ। क्योंकि गुरु के आगे कहना भी कल्याण के निमित्त है। भुशुण्डजी के जीने का कारण और भुशुण्ड को आत्मलाभ देनेवाली प्राणचिन्ता कहाती है। हे भगवन् ! इसी दृष्टि का आश्रय करके मैं परमपद को प्राप्त हुआ हूँ मुझको बन्धन नहीं होता और सब अवस्था में बैठते, चलते, जागते, सोते सब ठौर मेरा चित्त सावधान रहता है इस कारण कोई बन्धन नहीं होता। हे मुनीश्वर ! मैंने प्राण और अपान के संसरने की गति पाई है; उस युक्ति से मुझको आत्मबोध हुआ है और उस बोध से मेरे मद, मोहादिक विकार सब नष्ट हो गये हैं और शान्तरूप होकर स्थित हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! जिसको प्राण अपान की गति प्राप्त हुई है वह सब आरम्भ कर्म को करे अथवा सब आरम्भ का त्याग करे परन्तु सदा शान्तरूप है; उसका काल सुख से व्यतीत होता है। हे मुनीश्वर ! प्राण हृदय से उपज कर द्वादश अंगुलपर्यन्त बाहर जाता है और वहाँ जाकर स्थित होता है; उस ठौर से अपानरूप हो हृदय में आकर स्थित होता है। हे मुनीश्वर ! बाहर आकाश के सम्मुख जो प्राण जाता है सो अग्निवत् उष्ण होता है और जो हृदयाकाश के सम्मुख आता है सो शीतल नदी के प्रवाहवत्–आता है। अपान चन्द्रमारूप है और बाहर से अन्तर आता है और प्राण भीतर से बाहर जाता है, वह अग्नि, उष्ण और सूर्यरूप है। प्राणवायु हृदयाकाश को तपाता है और अन्न को पचाता है और अपान हृदय को चन्द्रमा की सदृश शीतल करता है। हे मुनीश्वर ! अपानरूपी चन्द्रमा जब प्राणरूपी सूर्य में जहाँ तत्त्व है लीन होता है तो उसमें स्थित हुआ मन फिर शोक को नहीं प्राप्त होता और प्राणरूपी सूर्य जब अपानरूपी चन्द्रमा के घर में लीन होता है उस अवस्था में मन स्थित हुआ फिर जन्म का भागी नहीं होता। हे मुनीश्वर ! सूर्यरूपी प्राण अपने सूर्यभाव को त्यागकर अपानरूपी चन्द्रमा को जबतक नहीं प्राप्त हुआ उस अवस्था के देशकाल को विचारे तो फिर शोक नहीं पाता और सब भ्रम नष्ट हो जाते हैं। द्वादश अंगुल पर्यन्त जो आकाश है उससे अपानरूपी चन्द्रमा उपजकर हृदय के प्राणरूपी सूर्य में लीन होता है पर सूर्यभाव को जबतक नहीं प्राप्त होता उसके मध्यभाव अवस्था में जिसका मन लगा है वह परमपद को प्राप्त होता है। हृदय में चन्द्रमा और सूर्य के अस्तभाव और उदयभाव का ज्ञाता हुआ और इसका आधारभूत जो आत्मा है उसको जानकर फिर मन नहीं उपजता। हे मुनीश्वर ! प्राण और अपानरूपी सूर्य और चन्द्रमा जो हृदय आकाश में उदय और अस्त होते हैं उनके प्रकाश से हृदय में जो भास्कर देव है उसको जो देखता है वही देखता है। बाहर जो सूर्य प्रकाशता है और कभी अन्धकार होता है तो उस प्रकाश के उदय हुए और तम के क्षीण हुए कुछ सिद्ध नहीं होता परन्तु जब हृदय का तम दूर होता है तब परमसिद्धता को प्राप्त होता है। बाहर के तम नष्ट हुए लोकों में प्रकाश होता है और हृदय के तम नष्ट हुए आत्मप्रकाश उदय होता है और अज्ञान अन्धकार का अभाव हो परमपद को जानकर मुक्त होता है। प्राण अपान की युक्ति जाने से तम नष्ट हो जाता है। हे मुनीश्वर ! प्राण अपानरूपी जो चन्द्रमा और सूर्य हैं सो यत्न विना उदय और अस्त होते हैं। जब प्राणरूपी सूर्य हृदयकोट से उपजकर बाहर जाता है तब उसी क्षण अपानरूपी चन्द्रमा में लीन होता है और अपानरूपी चन्द्रमा उदय हो आता है और जब अपानरूपी चन्द्रमा हृदयकोट के प्राणवायुरूपी सूर्य में स्थित होता है तब उसी क्षण में प्राणरूपी सूर्य उदय होता है। प्राण के अस्त हुए अपान उदय होता है और अपान के अस्त हुए प्राण उदय होता है। जैसे छाया के अस्त हुए धूप उदय होती है और धूप के

अस्त हुए छाया उदय होती है तैसे ही प्राण अपान की गति है। हे मुनीश्वर! जब हृदयकोट से प्राण उदय होता है तब प्राण का रेचक होने लगता है और अपान का पूरक होने लगता है और जब प्राण अपान में स्थित हुआ तब अपान का कुम्भक होता है। उस कुम्भक में जब स्थिति होती है तब फिर तीनों तापों से नहीं तपता। जब अपान का रेचक होता है तब प्राण का पूरक होने लगता है और जब अपान जा स्थित होता है तब प्राण का कुम्भक होता है। उसमें जब स्थित होता है तब भी तीन तापों से तपायमान नहीं होता। हे मुनीश्वर! प्राण अपान के भीतर जो शान्तरूप आत्मतत्त्व है उसमें जब स्थिति होती है तब मन तपायमान नहीं होता और जब अपान आ स्थित होता है और प्राण उदय नहीं हुआ उस अवस्था में जो साक्षीभूत सत्ता है वह आत्मतत्त्व है। उसमें जब स्थिति होती है तब फिर वह कठिन नहीं होता। जब अपान के स्थान में प्राण जा स्थित होता है और अपान जबतक उदय नहीं हुआ वहाँ जो देश, काल, अवस्था है उसमें मन स्थित होता है तब मन का मनत्वभाव जाता है और फिर नहीं उपजता। हे मुनीश्वर! प्राण जो अपान में स्थित हुआ और अपान उदय नहीं हुआ वह कुम्भक है। अपान प्राण में स्थित भया और प्राण जब तक उदय नहीं हुआ उस कुम्भक में जो शान्त तत्त्व है वह आत्मा का स्वरूप है और शुद्ध और परम चैतन्य है। जो उसको प्राप्त होता है वह फिर शोकवान् नहीं होता। जैसे पुष्प में गन्ध से प्रयोजन होता है तैसे ही प्राण अपान के भीतर जो अनुभव तत्त्व स्थित है उससे प्रयोजन है। वह न प्राण है, न अपान है; उस अनुभव आत्मतत्त्व की हम उपासना करते हैं। प्राण अपानकोट क्षय को प्राप्त होता है और अपान प्राणकोट में क्षय होता है; उस प्राण-अपान के मध्य में जो चिदात्मा है उसकी हम उपासना करते हैं। हे मुनीश्वर! जो प्राण का प्राण है; अपान का अपान है; जीव का जीव है और देह का आधारभृत है ऐसे चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जिसमें सर्व है, जिससे यह सर्व है और जो यह सर्व है; ऐसा जो चिदात्मा है उसकी हम उपासना करते हैं। जो सर्वप्रकाश का प्रकाश है; सब पावन का पावन है और सब भाव अभाव पदार्थों का अपना आप है उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जो पवन परस्पर हृदय में संपुटरूप है उसमें स्थित जो साक्षीरूप और भीतर बाहर सब ठौर वही है; उस चिदात्मा की हम उपासना करते हैं। जब अपान अस्त हुआ और प्राण नहीं उपजा उस क्षण में जो कलंक से रहित है उस चैतन्यतत्त्व की हम उपासना करते हैं। जब प्राण अस्त हुआ और अपान नहीं उपजा ऐसा जो नासिका के अग्र में शुद्ध आकाश है और उसमें जो सत्यता है उस चिद्सत्ता की हम उपासना करते हैं। जो प्राण अपान के उत्पत्ति का स्थान; भीतर बाहर सब ओर से व्याप्त और सब योगकला का आधारभूत है उस चिद्तत्त्व की हम उपासना करते हैं। जो प्राण अपान के रथ पर आरूढ़ है और शक्ति का शक्तिरूप है उस चिद्तत्त्व की हम उपासना करते हैं। हे मुनीश्वर! जो संपूर्ण कला कलंक से रहित और सर्वकला जिसके आश्रय हैं ऐसा जो अनुभवतत्त्व है और सब देवता जिसकी शरण को प्राप्त होते हैं उस आत्मतत्त्व की हम उपासना करते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने समाधिवर्णनं नाम एकविंशतितमस्सर्गः ॥ २१ ॥

भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! इस प्रकार मैं प्राणसमाधि को प्राप्त हुआ हूँ और इस क्रम से मैं आत्मपद को प्राप्त हुआ हूँ। इसी निर्मल दृष्टि का आश्रय करके स्थित हूँ और एक निमेष भी चलायमान नहीं होता। सुमेरु पर्वत की नाईं स्थित हूँ और चलता हुआ भी स्थिर हूँ; जाग्रत् में सुषुप्ति स्वप्न में स्थित हूँ और सर्वदा आत्मसमाधि में लगा रहता हूँ; विक्षेप कदाचित् नहीं होता। हे मुनीश्वर! नित्य अनित्य भाव से जो जगत् स्थित है उसको त्यागकर मैं अन्तर्मुख अपने आपमें स्थित हूँ और प्राण अपान की कला जो तुम्हारे विद्यमान कही है उसका सदा ऐसे ही प्रवाह चला जाता है उसमें मेरी अयत्न समाधि है इससे मैं सदा सुखी रहता हूँ कुछ कष्ट नहीं होता। जिसको यह कला नहीं प्राप्त हुई वह कष्ट पाता है। हे मुनीश्वर! अज्ञानी जीव महाप्रलयपर्यन्त संसार समुद्र में डूबते हैं और निकलकर फिर डूबते और इसी प्रकार गोते खाते

हैं और जिन पुरुषों ने पुरुषार्थ करके आत्मपद पाया है वे सुख से बिचरते हैं। हे मुनीश्वर! भूतकाल की मुझको चिन्ता नहीं और भविष्य की इच्छा नहीं; वर्तमान में यथाप्राप्त राग द्वेष से रहित होकर बिचरता हूँ। मैं सुषुप्ति की नाईं स्थित हूँ इससे केवल स्वरूप में भाव अभाव पदार्थों से रहित हूँ और इस कारण चिरंजीवी हो दुःख से रहित हूँ। प्राण अपान की कला को शम करके स्वरूप में स्थित हूँ। आज यह कुछ पाया है और कल यह पाऊँगा यह चिन्ता मेरी दूर होगई है, इस कारण निर्दुःख जीता हूँ न किसी की प्रशंसा करता हूँ और न कदाचित् निन्दा करता हूँ; सब आत्मस्वरूप देखता हूँ इस कारण सुखी जीता हूँ। इष्ट की प्राप्ति में हर्षवान् नहीं और अनिष्ट की प्राप्ति में शोकवान् नहीं होता मैंने परम त्याग किया है सर्व आत्मभाव देखता हूँ और जीवभाव दूर हो गया है इस कारण अदुःख जीता हूँ। हे मुनीश्वर! मेरे मन की चपलता मिट गई है और राग द्वेष दूर हो गये हैं। मन शान्त हुआ है। इस कारण अरोग जीता हूँ, काष्ठ, सुन्दर स्त्री, पहाड़, तृण, अग्नि और सुवर्ण को सम देखता हूँ। हे मुनीश्वर! मैं जरामरण के दुःख और राजलाभ के सुख और शोक से रहित समभाव में स्थित हूँ और निर्दुःख जीता हूँ ये मेरे बान्धव हैं, ये अन्य हैं। यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह सब कलना मुझको कुछ नहीं इसीसे सुखी जीता हूँ और आहार व्यवहार करता, बैठता, चलता, सूँघता, स्पर्श करता और श्वास लेता हूँ परन्तु यह जो अभिमान है कि मैं 'देह हूँ', इस अभिमान से रहित हो सुखी जीता हूँ। इस संसार की ओर से मैं सुषुप्तरूप हूँ और इस संसार की गति को देखकर हँसता हूँ कि वास्तव में यह है नहीं आश्चर्य है; इस कारण निर्दुःख जीता हूँ। हे मुनीश्वर! मैं सर्वदा काल, सर्वप्रकार, सर्व पदार्थों में समबुद्धि हूँ और विषमता मुझको कुछ नहीं भासती; न किसी से सुखी होता हूँ और न दुःखी हूँ—जैसे हाथ फैलाइये तौ भी शरीर है और संकोचिये तौ भी शरीर है इसी प्रकार मैंने सर्वात्मा आपको जाना है इससे मुझको कोई दुःख नहीं। मेरी बोली और निश्चय स्निग्ध और कोमल सबको हृदयगम्य है। सर्वत्र मैं जो ऐसे देखता हूँ इस कारण

निर्दुःख जीता हूँ। चरण से मस्तक पर्यन्त देह में मुझको ममता नहीं और अहंकाररूपी कीचड़ से मैं निकला हूँ इस कारण अरोग जीता हूँ। कार्यकर्ता और भोजनकर्ता भी दृष्टि आता हूँ परन्तु मेरे मन में निष्कर्मता दृढ़ है। हे मुनीश्वर! सामर्थ्य करके कार्य करूँ तौ भी मुझको अभिमान नहीं और दरिद्री होऊँ तौ भी संपत्ति और सुख की इच्छा नहीं अर्थात् किसी में आसक्त नहीं होता। इस असत्यरूप शरीर के नाश हुए अभिमान नष्ट नहीं होता। भूतों का समूह सब असत्यरूप है और आत्मा सत्यरूप है; ऐसे जानकर मैं स्थित हूँ और आशारूपी फाँसी से मेरे मुक्तचित्त की वृत्ति समाहित हुई है और अनात्म में आत्म अभिमान की वृत्ति नहीं फुरती। हे मुनीश्वर! मैंने जगत् को असत्य जाना है और आत्मा को सत्य और हाथ में बिल्वफलवत् प्रत्यक्ष जाना है। इस जगत् में मैं सुषुप्त प्रबुद्ध हूँ। सुख को पाकर मैं सुखी नहीं होता और दुःख को पाकर दुःखी नहीं होता। सबका मैं परममित्र हूँ इस कारण मैं निर्दुःख जीता हूँ; आपदा में अचलचित्त हूँ; संपदा में सब जगत् का मित्र हूँ और भाव अभाव से ज्यों का त्यों हूँ इस कारण सदासुखी जीता हूँ। न मैं परिच्छिन्न अहं हूँ; न कोई अन्य है; न कोई मेरा है और न मैं किसी का हूँ; यह भावना मेरे चित्त में दृढ़ है। मैं जगत् हूँ; और मैं ही आकाश, देश, काल, क्रिया, सब हूँ; यह निश्चय मुझको दृढ़ है। घट भी चैतन्य है, पट भी चैतन्य है, रथ भी चैतन्य है और यह सब चैतन्य तत्त्व है; यह निश्चय मुझको दृढ़ है इस कारण अदुःख जीता हूँ। हे मुनिशार्दूल! यह सब जो मैंने तुमसे कहा भुशुण्ड नाम काक ने जो त्रिलोकीरूपी कमल का भँवरा है मुझसे कहा था।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्याने चिरञ्जीविहेतुकथनं नाम द्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ २२ ॥

भुशुण्डजी बोले, हे मुनीश्वर! जैसा मैं हूँ तैसा तुम्हारी आज्ञा के सिद्धि अर्थ कहा है नहीं तो गुरु के आगे कहना भी ढिठाई है। तुम ज्ञान के पारगामी हो। फिर मैं बोला, हे भगवन्! आश्चर्य है और आश्चर्य से भी आश्चर्य है कि तुमने श्रवण का भूषण कहा और आत्म

उदितरूप वचन जो तुमने कहे हैं वे परम विस्मय के कारण हैं। हे भगवन्! तुम धन्य हो। तुम महात्मा पुरुष हो और चिरंजीवियों के मध्य तुम मुझको साक्षात् दूसरे ब्रह्मा भासते हो। आज हम भी धन्य हैं कि तुम्हारे जैसे महापुरुष के मुख से इस प्रकार आत्मतत्त्व सुना है जैसे मैंने पूछा तैसे ही तुमने कहा। हे साधो! मैंने सब भूमिलोक देखे हैं और दिशागण, आकाश और पाताललोक भी देखे हैं; त्रिलोकी में तुमसा कोई बिरला ही है। जैसे बाँस बहुत हैं पर मोतीवाला बिरला ही होता है तैसे ही तुम सारिखे बिरले हैं। हे साधो! आज हम पुण्यरूप हुए हैं और आज हमारी देह पवित्र हुई जो तुम जैसे मुक्तआत्मा का दर्शन हुआ है। हे साधो! अब हम सप्तर्षियों के मध्य जाते हैं; हमारे मध्याह्न का समय हुआ है। जब मैंने ऐसे कहा तब भुशुण्डि कल्पलता से उठ खड़ा हुआ और संकल्प के हाथ करके उसने सुवर्ण का पात्र रचकर मोती और रत्नों से भरा और मुझको अर्घ्यपाद्य करके पूजन किया। जैसे सदाशिव की पूजा करते हैं तैसे ही उसने चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त मेरा पूजन किया और बहुत नम्र होकर प्रणाम किया। मैंने भी उसको प्रणाम किया और इस प्रकार परस्पर नमस्कार करके मैं वहाँ से उठ खड़ा हुआ और आकाशमार्ग को चला। जैसे पक्षी उड़ता है तैसे ही मैं उड़ा और वह भी मेरे साथ उड़ा। परस्पर हम दोनों हाथ ग्रहण किये जब एक योजन पर्यन्त चले गये तब मैंने उससे कहा; हे साधो! तुम अब इहाँ से फिरो। इस प्रकार बारम्बार कहकर मैंने उसको ठहराया और मैं चला गया। जबतक मैं उसको दृष्टि आता रहा तबतक वह देखता रहा और जब मैं न दीखा तब वह अपने स्थान में जा बैठा। मैं सप्तर्षियों के मण्डल में जा पहुँचा और अरुन्धती से पूजित हुआ। हे रामजी! भुशुण्डि के आश्चर्यरूप वचन मैंने तुमको सुनाये हैं। अब भी सुमेरु के शृङ्ग पर उस कल्पवृक्ष की लता में वह कल्याणरूप सम स्थित है और शान्तिरूप और मान करने के योग्य है और सदा समाधिमान् है। हे रामजी! यह हमारा और उसका समागम सतयुग के दो सौ वर्ष व्यतीत हुए हुआ था और अब सतयुग क्षीण हो त्रेतायुग बर्तता है उसमें तुम उपजे हो। हे रामजी! अभी आठ वर्ष बीते हैं कि हमारा उसका फिर मिलाप हुआ था तो वह उसी वृक्षलता पर है। हे रामजी! यह इतिहास जो मैंने तुमसे कहा है सो परम उत्तम है। जब इसको विचारोगे तब संसारभ्रम निवृत्त हो जावेगा। मुनि वाशिष्ठ और भुशुंडि की कथा को जो निर्मलबुद्धि से विचारेगा वह भवरूप संसार के भय से तरेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्ड्युपाख्यानसमाप्तिर्नाम
त्रयोविंशतितमस्सर्गः ॥ २३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे अनघ! यह जो मैंने तुमसे भुशुण्डि का वृत्तान्त कहा इसे बोध करके भुशुण्डि महासंकट से तरा है, इस दशा को तुम भी आश्रय करके प्राणों की युक्ति से अभ्यास करो तब तुम भी भुशुण्डि की नाईं भवसमुद्र के पार होगे। जैसे भुशुण्डि ने ज्ञानयोग से पाने के योग्य पद पाया है तैसे ही तुम भी पावो और जैसे प्राण अपान के अभ्यास से भुशुण्डि परमतत्त्व को प्राप्त हुआ है तैसे ही तुम भी अभ्यास करके प्राप्त हो। विज्ञानदृष्टि जो तुमने सुनी है उसकी ओर चित्त को लगाकर आत्मपद को पावो फिर जैसे इच्छा हो तैसे करो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! पृथ्वी में आपके ज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के प्रकाश से मेरे हृदय से अज्ञानरूपी तम दूर हो गया है और अब प्रबुद्ध होकर अपने आनन्दरूप में स्थित हुआ हूँ और जानने योग्य पद को जानता हूँ—मानो दूसरा वशिष्ठ हुआ हूँ। हे भगवन्! यह जो भुशुण्डि का चरित्र आपने परमार्थबोध के निमित्त कहा है उसमें रक्त, मांस और अस्थि का शरीररूपी गृह किसने रचा है; कहाँ से उपजा है; कैसे स्थित हुआ है और कौन इसमें स्थित है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! परमार्थतत्त्व के बोध और दुःख के निवृत्त के अर्थ ये मेरे वचन हैं सो सुनो। अस्थि इस शरीररूपी गृह का थम्भा है और इसके नव द्वार हैं; रक्त मांस से जो यह लेपन किया है सो किसी ने बनाया नहीं आभासमात्र है और मिथ्या भ्रम से भासता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासता है तैसे ही असत्यरूप शरीर भी भ्रम से भासता है। हे रामजी! जबतक अज्ञान है तबतक देह सत्य भासता है और जब ज्ञान होता है तब देह

असत्यरूप भासता है—जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न के पदार्थ सत्य भासते हैं और जाग्रत् काल में स्वप्न असत्य भासता है; तैसे ही अज्ञानकाल में अज्ञान के देहादिक पदार्थ सत्य भासते हैं और ज्ञानकाल में असत्य हो जाते हैं। जैसे जल में बुद्‌बुदा जल के अज्ञान से सत्य भासता है और जल के जाने से असत्य भासता है; और सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी भासती है; तैसे ही आत्मा में देह भासता है। हे रामजी! जो कुछ जगत् भासता है वह सब आभासमात्र अज्ञान से भासता है और 'अहं' 'त्वं' आदिक कल्पना सब मनोमात्र मन में फुरती हैं। तुम जो कहते हो कि देह अस्थि और मांस का गृह रचा है; सो अस्थिमांस से नहीं रचा संकल्पमात्र है, संकल्प से भासता है और संकल्प के अभाव हुए देह नहीं पाया जाता। हे रामजी! स्वप्न में जो देह धरकर दिशा, तट, पर्वत इत्यादि तुम देखते फिरते हो जाग्रत् में तुम्हारा वह देह कहाँ जाता है? जो देह सत्य होता तो जाग्रत् में भी रहता और मनोराज से स्वर्ग को जाता है तथा सुमेरु और भूमिलोक में फिरता है। हे रामजी! इन स्थानों में जैसे मन का फुरना देह होकर भासता है सो असत्यरूप है तैसे ही यह शरीर मन के फुरनेमात्र है इससे असत्य जानो। यह मेरा धन है, यह मेरा देह है, यह मेरा देश है इत्यादिक कल्पना मन की रची हुई है—सबका बीज, चित्त ही है। हे रामजी! जगत् को दीर्घकाल का स्वप्न जानो वा दीर्घ चित्त का भ्रम जानो अथवा दीर्घ मनोराज जानो; वास्तव में जगत् कुछ नहीं। जब अपने वास्तव परमात्मस्वरूप को अभ्यास करके जानता है तब जगत् असत्यरूप भासता है। हे रामजी! मैंने पूर्व भी तुमको ब्रह्माजी के वचनों से कहा है कि सब जगत् मन का रचा हुआ है—इससे संकल्पमात्र है। चिरकाल का जो अभ्यास हो रहा है इससे सत् भासता है; जब दृढ़ पुरुष प्रयत्न से आत्म-अभ्यास हो तब असत्य भासेगा। हे रामजी! जो भावना हृदय में दृढ़ होती है उसका अभाव भी सुगम नहीं होता पर जब उसके विपर्यय भावना का अभ्यास करिये तब उसका अभाव हो जाता है। यह मैं हूँ, यह और है इत्यादिक कलना जो हृदय में दृढ़ हो रही है जब इसके विपर्यय आत्मभावना हो तब वह मिटे और सर्व आत्मा ही भासे।

हे रामजी! जिसकी तीव्र भावना होती है वही रूप उसका हो जाता है—जैसे कामी पुरुष को सुन्दर स्त्री की कामना रहती है तैसे ही जीव को जब आत्मपद की चिन्ता रहे तब वही रूप होता है। जैसे कीटभृङ्गी हो जाता है और जैसे दिन में व्यापार का अभ्यास होता है तो रात्रि को स्वप्न में भी वही देखता है; तैसे ही जिसका जीव को दृढ़ अभ्यास होता है वही अनुभव होता है। जैसे सूर्य आकाश में तपता है और मरुस्थल में जल होकर भासता है पर वहाँ जल का अभाव है; तैसे ही भाव से रहित पृथ्वी आदिक पदार्थ भ्रम से भावरूप भासते हैं। जैसे दृष्टि दोष से आकाश में तरुवरे मोर पुच्छवत् भासते हैं तैसे ही अज्ञान से जगज्जाल भासते हैं। हे रामजी! यह जगत् सब आभासरूप है स्वरूप के प्रमाद से भय और दुःख को प्राप्त होता है पर जब स्वरूप को जानता है तब भ्रम, भय और दुःख से रहित होता है। जैसे स्वप्नपुर में चित्त के भ्रम से सिंहों से भय पाता है और जब जाग्रत् स्वरूप में चित्त आता है तब सिंह का भय निवृत्त हो जाता है, तैसे ही आत्मज्ञान से निर्भय होता है। जब वैराग अभ्यास करके जीव निर्मल आत्मपद को प्राप्त होता है तब फिर क्षोभ को नहीं प्राप्त होता और रागद्वेषरूपी मल उसको नहीं स्पर्श करता। जैसे ताँबा जब पारस के स्पर्श से सुवर्ण होता है तब वह ताँबे-भाव को नहीं ग्रहण करता, तैसे ही जीव फिर मलिन नहीं होता। अहं, त्वं आदिक जो कुछ जगत् भासता है वह सब आभासमात्र ही है। हे रामजी! प्रथम सत्य असत्य को जानकर असत्य का निरादर करो और सत्य का अभ्यास करो तब चित्त सर्वकलना से रहित होकर शान्तपद को प्राप्त होता है। जो तत्त्वज्ञान से सम्यक्‌दर्शी हुआ है उसको जगत् के इष्ट पदार्थ पाये से हर्ष नहीं होता और अनिष्ट के पाये से शोक नहीं होता; वह न किसी की स्तुति करता है, न किसी की निंदा करता है और हृदय में शीतल और शान्तरूप हो जाता है। जब कोई बान्धव मृतक हो तब उससे तपायमान क्यों होता है वह तो अवश्य ही मरता। जब अपनी मृत्यु आवे तब अवश्य शरीर छूटता है वृथा क्यों तपायमान होता है। जब सम्पदा प्राप्त हो तो उससे हर्षवान् नहीं होता, क्योंकि जा

कुछ भोगना था सो भोगा हर्ष किससे हुआ ? दुःख आन प्राप्त हो तब शोक क्यों करना शरीर का व्यवहार सुख दुःख आता जाता है और अमिट है और जब अपना किया कर्म उदय होता है तब भी शोक क्यों करता है ? हे रामजी! जो सत्य है वह असत्य नहीं और जो असत्य है सो सत्य नहीं फिर रागद्वेष किस निमित्त करना ? जिसको ऐसा निश्चय हुआ है कि न मैं हूँ, न जगत् है और न पृथ्वी है तो वह शोक किसका करे और जब देह अन्य है और मैं चैतन्य हूँ तो चैतन्य का तो नाश नहीं होता तब शोक किसका करना ? हे रामजी ! दुःख तो किसी प्रकार नहीं है पर जबतक विचार नहीं तबतक दुःख होता है और विचार किये से दुःख कोई नहीं रहता। सम्यक्दर्शी जो मुनीश्वर है वह सत्य को सत्य और असत्य को असत्य जानता है इस कारण दुःख नहीं पाता और जो असम्यक्दर्शी है वह अज्ञान से दुःख पाता है। जैसे दिन के अन्त में मण्डल शीतल हो जाता है तैसे ही सम्यक्दर्शी का हृदय शीतल होता है। जिसको कर्तव्य में कर्तृत्व का अभिमान नहीं है वही सम्यक्दर्शी है। हे रामजी ! जितने जगत् के पदार्थ हैं उनको हृदय से आभासमात्र जानो और बाहर जैसे आचार हो तैसे करो अथवा उसका भी त्याग करो और निराभास होकर स्थित होओ। मैं चिदाकाश, नित्य, सर्वज्ञ और सबसे रहित हूँ; ऐसा अभ्यास करके एकान्त और निर्मल आपको देखोगे। अथवा ऐसी धारणा करो कि न मैं हूँ, न यह भोग है, न अर्थरूप जगत् आडम्बर है; अथवा ऐसे धारो कि मैं ही नित्य शुद्ध, चिदात्मा और आकाशरूप सब कुछ हूँ, मेरे से कुछ भिन्न नहीं और मैं अपने आपमें स्थित हूँ। इन दोनों पक्षों में जो इच्छा हो सो ग्रहण करो तो तुमको सिद्धता का कारण होगा। जगत् को आभासमात्र जानो परन्तु यह भी कलङ्करूप है इस चिन्तना को भी त्यागकर निराभास हो। तुम चिदाकाश, नित्य, सर्वव्यापी और सबसे रहित हो; आभास को त्यागकर निर्मल अद्वैत हो रहो अथवा विधि निषेध दोनों दृष्टियों का आश्रय करो। हे रामजी ! क्रिया को करो परन्तु रागद्वेष से रहित हो। जब रागद्वेष से रहित होगे तब उत्तम पदार्थ ब्रह्मानन्द को

प्राप्त होगे और जो सर्व का अधिष्ठान है उसको पावोगे। हे रामजी ! जिसका हृदय रागद्वेषरूपी अग्नि से जलता है उसको सन्तोष, वैराग आदिक गुण नहीं प्राप्त होते। जैसे दग्ध भूतल के वन में हरिण प्रवेश नहीं करते तैसे ही रागद्वेषादिकवाले हृदय में सन्तोषादिक नहीं प्रवेश करते। हे रामजी ! हृदयरूपी कल्पतरु है। ऐसा वृक्ष जो रागद्वेषादिक सर्पों से रहित है उससे कौन पदार्थ है जो प्राप्त न हो—शुद्धहृदय से सब कुछ प्राप्त होता है। हे रामजी! जो बुद्धिमान् भी है और शास्त्र का ज्ञाता भी है परन्तु रागद्वेष संयुक्त है वह सियार की नाईं नीच है और उसको धिक्कार है। जिन पदार्थों के पाने के निमित्त लोग यत्न करते हैं वे तो आते जाते हैं। धन को इकट्ठा कोई करता है और कोई ले जाता है तब रागद्वेष किसका करिये ? जो कुछ प्रारब्ध है सो अवश्य होता है, धन का व्यर्थ यत्न क्या करिये ? बान्धव और वस्त्र आते हैं और फिर जाते भी हैं। जैसे समुद्र में झष का आश्रय बुद्धिमान् नहीं लेते तैसे ही जगत् के पदार्थों का आश्रय ज्ञानवान् नहीं लेते। भाव-अभावरूप परमेश्वर की माया है और संसार की रचना स्वप्न की नाईं है; उनमें जो आसक्त होते हैं उनको वे सर्पिणीवत् डसते हैं। धन, बान्धव और जगत् वास्तव में मिथ्या ही हैं अज्ञान से सत्य भासते हैं। हे रामजी ! जो आदि न हो और अन्त भी न रहे पर मध्य में भासे उसको भी असत्य जानिये। जैसे आकाश में फूल असत्य है तैसे ही संसार-रचना असत्य है और जैसे संकल्प रचना असत्य है; जैसे गन्धर्वनगर सुन्दर भासता है पर नष्ट हो जाता है और जैसे स्वप्नपुर दीर्घकाल का भासता है पर भ्रमरूप है; तैसे ही यह जगत् असत्यरूप और भ्रममात्र है केवल संकल्परूप अभ्यास के वश से दृढ़ता को प्राप्त हुआ है। दीवार जो आकारवान् भासती है सो आकार से रहित प्रकाशरूप है और आत्मपद सुषुप्ति की नाईं अद्वैतरूप है। उस सुषुप्तिरूप पद से जब गिरता है तब दीर्घ स्वप्न को देखता है। हे रामजी ! अज्ञानरूपी निद्रा में जो अपने स्वभाव से गिरा है वह संसाररूपी स्वप्नभ्रम को देखता है। जब अज्ञानरूपी निद्रा का अभाव हो तब अपने आत्मराज और निर्विकल्प मुदित आत्मपद को प्राप्त होता है। जैसे सूर्य को देखकर कमल

प्रफुल्लित होते हैं तैसे ही ज्ञान से शुभगुण फूलते हैं। आत्मरूपी सूर्य सब दुःख से रहित है। जो पुरुष निद्रा में होता है वह सूक्ष्म वचनों से नहीं जागता पर बड़े शब्द करने और जल डालने से जागता है सो मैंने तुम पर मेघ की नाईं गर्जकर वचनरूपी जल की वर्षा की है और ज्ञानरूपी शीतलता सहित ये वचन हैं उनसे अब तुम ज्ञानरूपी जाग्रत् बोध को प्राप्त हुए। ऐसे ज्ञानरूपी सूर्य से जगत् को भ्रमरूप देखोगे। हे रामजी ! तुमको न जन्म है, न मृत्यु है, न कोई दुःख है, न भ्रम है, सर्वसंकल्पों से रहित आत्मपुरुष अपने आपमें स्थित हो और तुम्हारी वृत्ति सम, शान्त और सुषुप्ति की नाईं है और अति विस्तृत, सम और शुद्ध अपने स्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो
नाम चतुर्विंशतितमस्सर्गः ॥ २४ ॥

इतना कहकर, बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने वचन कहे तब रामजी सम, शान्त और चेतनतत्त्व में विश्राम पाकर परमानन्द को प्राप्त हुए और समस्त सभा जो बैठी थी वह भी वशिष्ठजी के वचन सुनकर सम और आत्मसमाधि में स्थित हो रही और बोलने का व्यवहार शान्त हो गया। पिंजरे में जो पत्ती बोलते थे वे भी शान्त हो गये, वन के जो वानर थे वे भी वचन सुनकर स्थित हो रहे और सर्व ओर से शान्ति हो गई। जैसे अर्धरात्रि के समय भूमि शान्तरूप हो जाती है तैसे ही सभा के लोग तूष्णी हो रहे और वचनों को विचारने लगे कि क्या उपदेश मुनीश्वर ने किया है। एक घड़ी पर्यन्त शान्ति रही उसके अनन्तर फिर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अब तुम सम्यक् प्रबुद्ध हुए हो और अपने आपमें स्थित हुए हो जो कुछ जाना है उसके अभ्यास का त्याग न करना इसी में दृढ़ रहना। हे रामजी ! संसाररूपी चक्र का नाभि स्थान चित्त है। उस चित्तनाभि के स्थिर हुए संसारचक्र भी स्थिर हो जाता है। इस संसाररूपी चक्र का बड़ा तीक्ष्ण वेग है; यद्यपि रोकते हैं तो भी फुरने लगता है; इससे दृढ़ प्रयत्न करके इसको रोकिये। सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के वचन युक्त बुद्धि से रुकता है। हे रामजी ! अज्ञान से जो दैवकल्पा है उसका त्यागकर अपने पुरुषार्थ का आश्रय करो;

इससे परम शान्तपद प्राप्त होता है। ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त जो सब अज्ञानरूपी संसारचक्र है सो असत्यरूप है और भ्रम से सत्य की नाईं भासता है इसको त्याग करो। हे रामजी ! असत्यरूप पदार्थों में जो रागद्वेष करते हैं वे मूर्ख हैं उनसे तो चित्र का पुरुष भी श्रेष्ठ है। जब इष्टविषय प्राप्त होता है तब वे हर्ष से प्रफुल्लित होते और अनिष्ट की प्राप्ति से द्वेष करते हैं पर चित्र के पुरुष को रागद्वेष किसी में नहीं होता इस कारण मैं कहता हूँ कि चित्र का पुरुष भी इनसे श्रेष्ठ है। ये आधि व्याधि से जलते हैं पर वह सदा ज्यों का त्यों है। चित्र का पुरुष तब नाश हो जब आधारभूत को नाश करिये; अधिष्ठान के नाश विना उसका नाश नहीं होता और मनुष्य अविनाश के आधार है उसका नाश नहीं होता पर मूर्खता से आपको नाश होते मानते हैं और रागद्वेष से संयुक्त हैं इससे चित्र के पुरुष से भी तुच्छ हैं। मनोराज संकल्परूप देह भी इस देह से श्रेष्ठ है, क्योंकि जो कुछ दुःख इसको होते हैं वे बड़े कालपर्यन्त रहते हैं पर मनोराज का दुःख और संकल्प के आये से अभाव हो जाता है इससे थोड़ा है। संकल्पदेह से भी स्थूलदेह तुच्छ है। हे रामजी ! जो थोड़े काल से देह हुई है उसमें दुःख भी थोड़ा है और जो दीर्घ संकल्परूपी देह है वह दीर्घ दुःख को ग्रहण करती है इससे महानीच है। हे रामजी ! यह देह भी संकल्पमात्र है न सत्य है, न असत्य है; उसके भोग के निमित्त मूर्ख यत्न करते हैं और क्लेश पाते हैं। देह अभिमान करके इसके सुख से वे सुखी होते हैं और दुःख से दुःखी होते हैं और इसके नष्ट हुए आपको नष्ट हुआ मानते हैं। जैसे मनोराज के नाश हुए पुरुष और दूसरे चन्द्रमा के नाश हुए चन्द्रमा का नाश नहीं होता तैसे ही इस देह के नाश हुए देही पुरुष का नाश नहीं होता जैसे संकल्प पुरुष के नाश हुए पुरुष का नाश नहीं होता और जैसे स्वप्नभ्रम के नाश हुए पुरुष का नाश नहीं होता, तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। जैसे घन धूप के कारण रेणु में जल भासता है और भली प्रकार जा देखिये तब जल का अभाव हो जाता है परन्तु देखनेवाले का अभाव नहीं होता; तैसे ही संकल्प से रचा विनाशरूप जो देह है उसके नाश हुए तुम्हारा

नाश तो नहीं होता। हे रामजी! दीर्घकाल का रचा जो स्वप्नमय देह है उसके दुःख और नाश से आत्मा को दुःख और नाश नहीं होता। चैतन्य आत्मसत्ता नष्ट नहीं होती और स्वरूप से चलायमान भी नहीं होती; न विकार को प्राप्त होती है; वह तो सर्वदा शुद्ध और अच्युतरूप अपने आप में स्थित है और देह के नाश हुए उसका नाश नहीं होता। अज्ञान के दृढ़ अभ्यास से देह के धर्म अपने में भासने लगे हैं; जब आत्मा का दृढ़ अभ्यास हो तो देहाभिमान और देह के धर्मों का अभाव हो जावे। जैसे कोई चक्र पर चढ़कर भ्रमता है तो उतरने पर कुछ काल भ्रमता भासता है पर जब चिरकाल व्यतीत होता है तब स्थित हो जाता है; इसी प्रकार देहरूपी चक्र को प्राप्त हुआ और अज्ञान से भ्रमा हुआ आपको भ्रमता देखता है और जब अज्ञान का वेग निवृत्त होता है तब भी कोई काल देहभ्रम भासता है जिससे जानता है कि मेरा नाश होता है, मुझको दुःख होता है इत्यादिक। यह कल्पना अज्ञान से भासती है पर जब उस भ्रमदृष्टि को धैर्य से निवृत्त करते हैं तब अभाव हो जाती है। हे रामजी! जैसे भ्रम से रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही आत्मा में देह भासती है सो असत्य और जड़ है; न कर्म करती है और न मुक्त होने की इच्छा करती है। देव परमात्मा भी कुछ नहीं करता; वह सदा शुद्ध, द्रष्टा और प्रकाशक है। जैसे निर्वात दीप अपने आप में स्थित होता है तैसे ही तुम भी शुद्ध स्वरूप अपने आपमें स्थित हो। जैसे सूर्य आकाश में स्थित होता है पर सर्व जगत् को प्रकाश करता है और उसके आश्रय लोग चेष्टा करते हैं परन्तु सूर्य कुछ नहीं करता वह केवल सबका साक्षीभूत है तैसे ही आत्मा के आश्रय देहादिक की चेष्टा होती है परन्तु आत्मा साक्षीरूप है और पापपुण्य से रहित है। हे रामजी! इस देहरूपी शून्य गृह में अहंकाररूपी पिशाच कल्पित है जैसे बालक परछाहीं में वैताल कल्प के भय पाता है तैसे ही अहंकाररूपी पिशाच कल्पकर जीव भय पाता है। वह अहंकाररूपी पिशाच महानीच है और सब सन्तजनों से निन्द्य है। जब अहंकाररूपी वैताल निकले तब आनन्द हो। देहरूपी शून्य गृह में इसका निवास है; जो पुरुष इसका टहलुआ हो रहा है उसको

यह नरक में ले जाता है इससे तुम इसके टहलुआ न होना। जब इसके नाश का उपाय करोगे तब आनन्द पावोगे। हे रामजी! यह चित्तरूपी उन्मत्त वैताल जिसको स्पर्श करता है उसको अशुद्ध करता है अर्थात् उसका धैर्य और निश्चय विपर्यय करके उसे दुःख देता है और निज स्वरूप से गिरा देता है। जो बड़े बड़े साधु महन्त हैं वे भी इसके भय से समाधि में स्थित होते हैं कि किसी प्रकार अहंकार का अभाव हो। हे रामजी! अहंकाररूपी पिशाच जिसको स्पर्श करता है उसको आप-सा कर लेता है। यह जैसे आप तुच्छ है तैसे ही और को भी तुच्छ करता है। जहाँ सत्संग सत्शास्त्र का विचार और आत्मज्ञान का निवास नहीं होता उस शून्य और उजाड़रूपी देहमन्दिर में यह रहता है और जो कोई ऐसे स्थान में प्रवेश करता है उसमें प्रवेश कर जाता है। हे रामजी! जिसको अहंकाररूपी पिशाच लगा है उसका धन से कल्याण नहीं होता और न मित्र बान्धव से कल्याण होता है। अहंकार पिशाच से मिला हुआ जो कुछ क्रिया कर्म वह करता है सो अपने नाश के निमित्त करता है और विष की बेलि को उपजाता और बढ़ाता है। हे रामजी! जो पुरुष विवेक और धैर्य से रहित है उसको अहंकाररूपी पिशाच शीघ्र ही खा जाता है। वह सर्वरूप है और जिसको स्पर्श करता है उसको शव कर छोड़ता है। जिसको अहंकाररूपी पिशाच लगा है वह नरकरूपी अग्नि में काष्ठ की नाईं जलेगा। अहंकाररूपी सर्प देहरूपी वृक्ष के छिद्र में विष को धारे बैठा है; उसके निकट जो जावेगा उसको मार डालेगा और जो अहंमम भाव को प्राप्त होगा सो मृतक समान होगा और जन्म-मरण पावेगा। अहंकाररूपी पिशाच जिसको लगा है उसे मलिन करता है और स्वरूप से गिराकर संसाररूपी गढ़े में डालता है और बड़ी आपदा को प्राप्त करता है। जितनी आपदा हैं उन्हें अहंकार प्राप्त करता है। बहुत वर्ष पर्यन्त भी उन आपदाओं का वर्णन न कर सकेगा। हे रामजी! यह जो मलिन कल्पना उठती है कि 'मैं हूँ', 'मैं मरता हूँ', 'मैं दग्ध होता हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि सो अहंकाररूपी पिशाच की शक्ति है। आत्मस्वरूप नित्य शुद्ध, चिदाकाश, सर्वगत, सच्चिदानन्द,

जो सबका अपना आप है पर अहंकार के वश से जीव आपको परिच्छिन्न और अलेप दुःखी मानता है। जैसे आकाश सर्वगत और अलेप है, तैसे ही आत्मा सबमें अलेप है और सबसे असम्बन्धी है पर अहंकार के सम्बन्ध से रहित है। हे रामजी ! ग्रहण, त्याग, चलना, बैठना इत्यादिक जो कुछ क्रिया है सो देहरूपी यन्त्र और वायुरूपी रस्सी से अहंकाररूपी यन्त्री कराता है और आत्मा सदा निर्लेप सबका अधिष्ठानरूप कारणकार्य भाव से रहित है। जैसे वृक्ष की उँचाई का कारण आकाश निर्लेप है, तैसे ही आत्मा सर्वचेष्टा का कारण अधिष्ठान और निर्लेप है जैसे आकाश और पृथ्वी का सम्बन्ध नहीं तैसे ही आत्मा और अहंकार का सम्बन्ध नहीं है। चित्त को जो आप जानते हैं वे महामूर्ख हैं। आत्मा प्रकाशरूप, नित्य और सर्वगत विभु है; चित्त मूर्ख जड़ है और आवरण करता है। हे रामजी ! आत्मा सर्वज्ञ और चैतन्यरूप है; चित्त मूढ़ है और पत्थरवत् जड़ है, इसको दूर करो इसका और तुम्हारा कुछ सम्बन्ध नहीं। तुम इस मोह से तरो। देहरूपी शून्य गृह में चित्तरूपी वैताल का निवास है; जिसको वह अपने वश करता है उसको बान्धव भी नहीं छुड़ा सकते और शास्त्र भी नहीं छुड़ा सकते जिसका देहाभिमान क्षीण हो गया है उसको गुरु और शास्त्र भी छुड़ा सकते हैं जैसे अल्प कीचड़ से हरिण को निकाल लेते हैं तैसे ही गुरु और शास्त्र निकाल लेते हैं। हे रामजी ! जितने देहरूपी शून्य मन्दिर हैं उन सबमें अहंकाररूपी पिशाच रहता है, कोई देहरूपी गृह अहंकार पिशाच से खाली नहीं और भय से मिला हुआ है। जैसे पिशाच अपवित्र स्थान में रहता है, पवित्र स्थान में नहीं रहता तैसे ही जहाँ सन्तोष, विचार, अभ्यास, सत्सङ्ग से रहित देह है उस स्थान में अहंकार निवास करता है और जहाँ सन्तोष, विचार, अभ्यास और सत्संग होता है तहाँ से मिट जाता है। जितने शरीररूपी श्मशान हैं वे चित्तरूपी वैताल से पूर्ण हैं और अपरिमित मोहरूपी वैताल के वश जगत्‌रूपी महावन में मोह को प्राप्त होते हैं। जैसे बालक मोह पाता है। हे रामजी ! तुम आपसे अपना उद्धार करो और सत्य विचार करके धैर्य को प्राप्त हो। इस जगत्‌रूपी पुरातन वन में

जीवरूपी मृग विचरते हैं और भोगरूपी तृण का आश्रय करते हैं पर वे भोगरूपी तृण देखने में तो सुन्दर भासते हैं परन्तु उनके नीचे गड्ढा है। जैसे हरियाली और तृण से ढपा हुआ गड्ढा देखके मृग के बालक भोजन करने लगते हैं और गड्ढे में गिर पड़ते हैं तैसे ही जीवरूपी मृग भोगों को रमणीय जानकर भोगने लगते हैं और उनकी तृष्णा से नरक आदिक में गिरते और अग्नि में जलते हैं, हे रामजी ! तुम ऐसे न होना। जो कोई भोगों की तृष्णा करेगा वह नरकरूपी गडढे में गिरेगा, इससे तुम मृगमति को त्यागकर सिंहवृत्ति को धारो। मोहरूपी हाथी को सिंह होकर अपने नखों से विदारण करो और भोग की तृष्णा से रहित हो। भोग की तृष्णावाले जीव जम्बूदीपरूपी जङ्गल में मृग की नाईं भटकते हैं—उन्हीं की नाईं तुम न बिचरना। हे रामजी ! स्त्री जो रमणीय भासती हैं उनका स्पर्श अल्पकाल ही शीतल और सुखदायक भासता है परन्तु कीचड़ की नाईं है। जैसे कीचड़ का लेप भी शीतल भासता है परन्तु तुच्छ है। जैसे हाथी दलदल में फँसा हुआ निकल नहीं सकता, तैसे ही यह भोगरूपी दलदल में फँसा हुआ नहीं निकल सकता। इससे तुम सन्त की वृत्ति को ग्रहण करो। ग्रहण करना किसको कहते हैं और त्याग किसका नाम है ऐसे विचार से असत्‌वृत्ति को त्याग करो और आत्मतत्त्व का आश्रय करो। हे रामजी ! यह अपवित्र देह अस्थि, मांस, रुधिर से पूर्ण है और तुच्छ है और इसका दुष्ट आचार है। देह के निमित्त भोग की इच्छा करने से कुछ परमार्थ सिद्ध नहीं होता। देह और ने रची है, चेष्टा और से करती है और ने इसमें प्रवेश किया है; दुःख को और ग्रहण करता है जो दुःख का भागी होता है। संकल्प ने देह रची है, प्राण से चेष्टा करता है, अहंकार पिशाच ने इसमें प्रवेश किया है और गर्जता है; मन की वृत्ति सुख दुःख को ग्रहण करती है और जीव दुःखी होता है। इससे आश्चर्य है। हे रामजी ! परमार्थसत्ता एक है और सर्व समान है। इससे भिन्न सत्ता नहीं। जैसे पत्थर घन जड़ होता है और उसमें और कुछ नहीं फुरता तैसे ही सत्तामात्र से भिन्न द्वैत सत्ता किसी पदार्थ की नहीं। जैसे पत्थर घनरूप है तैसे ही परमात्मा घनरूप है और जड़ चेतन भिन्न

कोई नहीं यह मिथ्या संकल्प की रचना है। जैसे बालक को परछाहीं में वैताल भासता है तैसे ही सब कल्पना मन की है जैसे एक पौंड़े के रस से गुड़, शक्कर इत्यादि होती है तैसे ही एक परमोत्तम सत्तासमान सर्व है उसमें जड़ चेतन की कल्पना मिथ्या है। जबतक सम्यक्दृष्टि नहीं प्राप्त हुई तबतक जड़ चेतन की दृष्टि होती है और जब यथार्थदृष्टि प्राप्त होती है तब भेदकल्पना सब मिट जाती है। जैसे सीपी में रूपा भासता है सो न सत्य होता है और न असत्य होता है, तैसे ही आत्मा में जड़, चेतन, सत्य, असत्य विलक्षण कल्पना है। हे रामजी! जो सत्य है सो असत्य नहीं होता और जो असत्य है सो सत्य नहीं होता। आत्मा सदा सत्यरूप अपने आप में स्थित है और उसमें द्वैत और एक का अभाव है। जैसे पत्थर में अन्य सत्ता का अभाव है तैसे ही आत्मा में द्वैतसत्ता का अभाव है। नानारूप भासता है तो भी द्वैत कुछ नहीं सदा अनुभवरूप है और उसमें विभाग कल्पना कुछ नहीं–सदा अद्वैतरूप है भेदकल्पना चित्त से भासती है; जब चित्त का अभाव होता है तब जड़ चेतन की कल्पना मिट जाती है जैसे बन्ध्या के पुत्र और आकाश में वृक्ष का अभाव है तैसे ही आत्मा में कल्पना का अभाव है। हे रामजी! यह चेतन है, यह जड़ है, यह उपजता है, यह मिट जाता है इत्यादिक कल्पना सब मिथ्या हैं। जैसे रस्सी में सर्प मिथ्या है तैसे ही केवल निर्विकल्प चिन्मात्र आत्मा में कल्पना मिथ्या है गुरु और शास्त्र भी जो आत्मा को चैतन्य कहते हैं और अनात्मा को जड़ कहते हैं वह भी बोध के निमित्त कहते हैं और दृष्टान्त युक्त से दृश्य को आत्मस्वरूप में स्थिति कराते हैं। जब स्वरूप में दृढ़ स्थिति होगी तब जड़ चेतन की भेद कल्पना जाती रहेगी केवल अचैत्य चिन्मात्र सत्ता भासेगी जो तत्त्व है। इस प्रकार गुरु जड़ चेतन के विभाग का उपदेश करते हैं तो भी मूर्ख नहीं ग्रहण कर सकते तो जब प्रथम ही अचैत्य–चिन्मात्र–अवाच्यपद का उपदेश करे तब कैसे ग्रहण करे। हे रामजी! और आश्चर्य देखो कि चित्त और है, इन्द्रियाँ और हैं; देह और है, देह का कर्ता कोई दृष्टि नहीं आता और अहंकार से वेष्टित की है। यह जीव ऐसा मूर्ख है कि देह को अपना

आप जानता है और दुःख पाता है पर जो विचारवान् पुरुष आत्मपद में स्थित हुए हैं उन महानुभावों को कोई क्रिया दुःख बन्धन नहीं कर सकती। जैसे मन्त्र जाननेवाले को सर्प दुःख नहीं दे सकता तैसे ही ज्ञानवान् को कर्म बन्धन नहीं करते। हे रामजी! न तुम शीश हो, न नेत्र हो, न रक्त हो, न मांस हो, न अस्थि आदिक हो, न मन हो और न भूतजात हो; तुम चित्त से रहित चैतन्य केवल चिन्मात्र साक्षीरूप हो इसीलिये शरीर से ममता त्यागकर नित्य शुद्ध और सर्वगत आत्मस्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देहसत्ताविचारो नाम
पञ्चविंशतितमस्सर्गः ॥ २५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसी दृष्टि का ऐसा आश्रय करो और भेदकष्ट दृष्टि का त्याग और नाश करो। जब कष्टदृष्टि नष्ट होगी तब ऐसा आत्मानन्द प्रकट होगा जिस आनन्द के पाये से अष्टसिद्धि का ऐश्वर्य भी अनिष्ट जानकर त्यागोगे। अब और दृष्टि सुनो जो महामोह का नाश करती है और जो आत्मपद पाना कठिन है उसे सुख से प्राप्त कराती है जिसका नाश कदाचित् नहीं होता। यह दृष्टि दुःख से रहित आनन्दरूप शिवजी से मैंने सुनी है जो पूर्वकाल में कैलास की कन्दरा में संसारदुःख की शान्ति के लिये अर्धचन्द्रधारी सदाशिव ने मुझसे कही थी। हे रामजी! महाचन्द्रमा की नाईं शीतल और प्रकाशमान हिमालय पर्वत का एक शिखर कैलासपर्वत है जहाँ गौरी के रमणीय स्थान और मन्दिर हैं और गङ्गा का प्रवाह झरनों से चलता है, पक्षी शब्द करते हैं और मन्द-मन्द सुखदायक पवन चलता है। कुबेर के मोर वहाँ विचरते हैं, कल्पवृक्ष लगे हुए हैं और महाउज्ज्वल, शीतल, सुन्दर कन्दरा पर मन्दार और तमाल वृक्ष लगे हुए हैं जिनमें ऐसे फूल लगे हैं मानो श्वेत मेघ हैं। वहाँ गन्धर्व और किन्नर आते और गाते हैं और देवताओं के रमणीय सुन्दर स्थान हैं। उस पर्वत पर सदाशिव त्रिनेत्र हाथ में त्रिशूल लिये और गणों से वेष्टित अर्धाङ्ग में भगवती को लिये विराजते हैं। ऐसे सर्व लोकों के कारण ईश्वर जिन्होंने कामदेव का गर्व नाश किया और षट्मुख सहित स्वामिकार्त्तिक जिनके पास बैठे हैं और महाभयानक

शून्य श्मशानों में जिनका निवास है उस देव की मैंने पूजा की और महापुण्यवान् एक कुटी बनाकर एक कमण्डलु और फूल और माला पूजन के निमित्त रक्खे यथाशास्त्र पुण्यक्रिया से उसमें तप करने लगा। जल पान करूँ, फल भोजन करूँ, विद्यार्थी जो साथ थे उनको पढ़ाऊँ और शास्त्र का अर्थ विचारूँ। ब्रह्मविद्या की पुस्तकों का समूह आगे था और मृग और उनके बालक बिचरते थे इस प्रकार वेद का पढ़ना, ब्रह्मविद्या को विचारना और शास्त्रअनुसार तप करना इन गुणों से कैलास वनकुञ्ज में हम विश्राम करते थे। निदान श्रावण बदी अष्टमी की अर्धरात्रि को जब मैं समाधि से उतरा तो क्या देखता हूँ कि दशोदिशा काष्ठवत् मौन और शान्तरूप हैं; महातम घिरा है और मन्द मन्द पवन चलता है और ओस के कनके गिरते हैं–मानो पवन हँसी करता है। उसी समय महाशीतल अमृतरूपी किरणों से चन्द्रमा प्रकाशित हो ओषधियों को रस से पुष्ट करने लगा, चन्द्रमुखी कमल खिल आये; चकोर अमृत की किरणों को पानकर मानो चन्द्रमारूप हो गये; प्रातःकाल के तारों की नाईं मणि ऊपर आन पड़ने लगीं और सप्तर्षि शिर पर स्थित हुए–मानो मेरे तप को देखने आये हैं। सप्तर्षियों में पिछले जो तीन तारे हैं उनके मध्य में मेरा मन्दिर है वहाँ मैं सदा विराजता हूँ। चन्द्रमा से सब स्थान शीतल हो गये और पवन से फूल गिरने लगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठआश्रमवर्णनं नाम
षड्विंशतितमस्सर्गः ॥ २६ ॥

वाशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! तब मुझको तेज का प्रकाश दृष्टि आने लगा। जैसे मन्दराचल पर्वत के पाये से क्षीरसमुद्र उछल आता है। मानो हिमालय पर्वत मूर्ति धरकर स्थित है। मानो माखन का पहाड़-पिण्ड स्थित हुआ है व सब शंखों की स्पष्टता स्थित हुई है वा मोती का समूह इकट्ठा होकर उड़ने लगा है। महातीक्ष्ण प्रकाश दृष्टि आने लगा मानो गङ्गा का प्रवाह उछलने लगा है। उस प्रकाश की शीतलता ने सब दिशा और तट पूर्ण कर लिये और मैं देखकर आश्चर्यवान् हुआ कि क्या अकाल ही प्रलय होने लगा। तब मैं बोधदृष्टि से मन में विचारने लगा कि यह क्या है और देखा कि देवताओं के गुरु ईश्वर सदाशिव चन्द्रकला को धारे हुए और गौरी भगवती का हाथ ग्रहण किये गणों के समूह से वेष्टित चले आते हैं। उनके कानों में सर्प पड़े थे, कण्ठ में मुण्डों की माला थी, शीश पर जटा थी और उनपर कदम्ब वृक्ष और तमाल वृक्ष के फूल पड़े हुए थे। उनको प्रथम मैंने मनसे देखा; मन ही से मन्दार वृक्ष के पुष्प लेकर अर्घ्य पाद्य किया; मन ही से प्रणाम किया और मन ही से प्रदक्षिणा कर अपने आसन से उठ खड़ा हुआ फिर अपने शिष्य को जगा अर्घ्यपाद्य लेकर चला और त्रिनेत्र शिवजी को पुष्प-अञ्जली दे और प्रदक्षिणा कर प्रणाम किया; तब चन्द्रधारी ने मुझको कृपादृष्टि से देखा और सुन्दर मधुरवाणी से कहा; हे ब्राह्मण ! अर्घ्य पाद्य ले आवो हम तेरे आश्रम में अतिथि आये हैं। हे निष्पाप ! तुझको कल्याण तो है ? तू मुझको महाशान्तरूप भासता है और महासुन्दर उज्ज्वल तप की लक्ष्मी से तू शोभित है। चलो हम तुम्हारे आश्रम को चलें। हे रामजी ! फूलों से आच्छादित स्थान में सदाशिव बैठे थे सो ऐसे कहकर उठ खड़े हुए और अपने गणों सहित मेरी कुटी में आये। वहाँ मैंने पुष्प और अर्घ्य से उनके चरणों की पूजा करके फिर हाथों की पूजा की और इसी प्रकार चरणों से लेकर शीश पर्यन्त सब अङ्गों की पूजा की। फिर गौरी भगवती का पूजन करके उनकी सखियों और शिवके गणों को पूजा। हे रामजी ! इस प्रकार भक्तिपूर्वक जब मैं पार्वती परमेश्वर का पूजन कर चुका तब शशिकला के धारी शिवजी ने शीतल वाणी से मुझसे कहा कि हे ब्राह्मण ! नाना प्रकार की चिन्तनेवाली जो चित्तवृत्ति है सो तेरे स्वरूप में विश्रान्ति को प्राप्त हुई है और तेरी संवित् आत्मपद में स्थित हुई है। तुम्हारे शिष्यों को कल्याण तो है और तुम्हारे पास जो हरिण बिचरते हैं वे भी सुख से हैं ? मन्दार वृक्ष तुमको पूजा के निमित्त फूल फल भली प्रकार देते हैं और गङ्गाजी तुमको भली प्रकार स्नान कराती हैं ? देह के इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में तुम खेदवान् तो नहीं होते ? इस पर्वत में कुबेर के अनुचर यक्ष और राक्षस जो रहते हैं वे तुमको दुःख तो नहीं देते और मेरे गण जो निशाचर हैं वे तो तुमको कष्ट नहीं देते ?

हे रघुनन्दन ! इस प्रकार जब देवेश ने मुझसे वाञ्छित पश्न किये तब मैंने उनसे कहा; हे कल्याणरूप, महेश्वर ! जो तुमको सदा स्मरण करते हैं उनको इस लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो पाना कठिन हो और उनको भय भी किसी का नहीं। जिनका चित्त तुम्हारे स्मरण के आनन्द में सर्व ओर से पूर्ण हुआ है वे जगत् में दीन नहीं होते। वही देश और उन्हीं जनों के चरण और वही दिशा पर्वत वन्दना करने योग्य हैं जहाँ एकान्त बुद्धि बैठकर तुम्हारा स्मरण होता है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण पूर्वपुण्यरूपी वृक्ष का फल है और वर्तमान कर्मों से सिंचता है। तुम मन के परम मित्र हो, तुम्हारा स्मरण सर्व आपदा का हरनेवाला है और सर्वसम्पदारूपी लता को बढ़ानेवाला वसन्तऋतु है। हे प्रभो ! बड़ी महिमा और बड़े से बड़े कर्मों के कारण का कारण तुम्हारा स्मरण है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण विवेकरूपी समुद्र में परमार्थरूपी रत्न है, अज्ञानरूपी तम का नाशकर्ता सूर्य का समूह है, ज्ञान अमृत का कलश धैर्यरूपी चाँदनी का चन्द्रमा और मोक्ष का द्वार है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण अपूर्वरूपी उत्तम दीपक है और चित्त का मण्डप जो संसार है उस सबको प्रकाशता है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण उदार चिन्तामणि की नाईं सर्व आपदा को निवृत्त करनेवाला और बड़े उत्तम पद को देनेवाला है। हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण एकक्षण भी चित्त में स्थित हो तो सर्व दुःख और भय नाश करता है और वरदायक है। उसके बल से मैं भी तुम्हारे नाईं सुख से बसता हूँ। बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब मुनीश्वर ने कहा तब दिन का अन्त हुआ; सब सभा परस्पर नमस्कार करके अपने अपने स्थानों को गई और सूर्य की किरणों के साथ फिर सब अपने अपने आसन पर आ बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रुद्रवशिष्ठसमागमो नाम
सप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ २७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब मैंने इस प्रकार कहा तब गौरी भगवती जगत् माता जैसे माता पुत्र से कहे मुझसे बोलीं; हे वशिष्ठजी ! अरुन्धती जो पतिव्रताओं में मुख्य है वह कहाँ है ? उसको ले आवो वह मेरी प्यारी सखी है उससे मैं कथा वार्ता करूँगी। हे रामजी ! इस

प्रकार जब मुझसे पार्वती ने कहा तब मैं शीघ्र ही जाकर अरुन्धती को ले आया और वे दोनों परस्पर कथा वार्ता करने लगीं। मैंने विचारा कि मुझको ईश्वर मिले हैं और पूछने का अवसर भी पाया है इससे सर्व ज्ञान के समुद्र से पूछकर संदेह दूर करूँ। हे रामजी ! ऐसे विचार करके मैंने गौरीश से पूछा और जो कुछ चन्द्रकलाधारी ने मुझसे कहा है वह तुझसे कहता हूँ। मैंने पूछा, हे भगवन् ! भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के ईश्वर और सब कारणों के कारण तुम्हारे प्रसाद से मैं कुछ पूछने को समर्थ हुआ हूँ। हे महादेव ! जो कुछ मैं पूछता हूँ उसे प्रसन्नबुद्धि हो उद्वेग को त्यागकर शीघ्र ही कहो। हे सर्व पापों के नाश करने और सर्व कल्याण के वृद्धि करनेवाले ! देव अर्चन का विधान मुझसे कहो। ईश्वर बोले, हे ब्राह्मण ! जो उत्तम देव अर्चन है और जिसके किये से संसारसमुद्र से तर जाइये सो सुनो। हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ! पुण्डरीकाक्ष जो विष्णु हैं सो देव नहीं और त्रिलोचन जो शिव हैं सो भी देव नहीं; कमल से उपजा ब्रह्मा है सो भी देव नहीं और सहस्र नेत्र इन्द्र भी देव नहीं, न देव पवन है, न सूर्य है, न अग्नि है, न चन्द्रमा है, न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय हैं, न तुम हो, न मैं हूँ, न देह है, न चित्त है और न कलनारूप है; अकृत्रिम, अनादि, अनन्त और संवित्रूप देव कहाता है। आकारादिक परिच्छिन्नरूप हैं सो वास्तव में कुछ नहीं। एक अकृत्रिम, अनादि, अनन्त, चैतन्यरूप देव है सो देवशब्द से कहाता है और उसी का पूजन पूजन है। उस देव को जिससे यह सब हुआ है और जो सत्ताशान्त—आत्मरूप है उसको सब ठौर में देखना यही उसका पूजन है पर जो उस संवित् तत्त्व को नहीं जानते उनको आकार की अर्चना कही है। जैसे जो पुरुष योजनपर्यन्त नहीं चल सकता उसको एक कोस दो कोस का चलना भी भला है; तैसे ही जो पुरुष अकृत्रिम देव की पूजा नहीं कर सकता उसको आकार का पूजना भी भला है। हे ब्राह्मण ! जिस की भावना कोई करता है उसके फल को उसी अनुसार भोगता है। जो परिच्छिन्न की उपासना करता है उसको फल भी परिच्छिन्न प्राप्त होता है और जो अकृत्रिम, आनन्द, अनन्त देव की उपासना करता है उसको

वही परमात्मरूपी फल प्राप्त होता है। हे साधो! अकृत्रिम फल को त्याग कर जो कृत्रिम को चाहते हैं वे ऐसे हैं जैसे कोई मन्दार वृक्ष के वन को त्याग कर कंटक के वन को प्राप्त हो। वह देव कैसा है, उसकी पूजा क्या है और क्योंकर होती है सो सुनो। बोध, साम्य और शम ये तीन फूल हैं। बोध सम्यक्ज्ञान का नाम है; अर्थात् आत्मतत्त्व को ज्यों का त्यों जानना; साम्य सबमें पूर्ण देखने को कहते हैं और शम का अर्थ यह है कि चित्त को निवृत्त करना और आत्मतत्त्व से भिन्न कुछ न फुरना इन्हीं तीनों फूलों से शिव चिन्मात्र शुद्ध देव की पूजा होती है और आकार अर्चन से अर्चा नहीं होती आत्मसंवित् जो चिन्मात्र है उसको त्यागकर और जड़ की जो अर्चना करते हैं वे चिर पर्यन्त क्लेश के भागी होते हैं। हे ब्राह्मण! जो ज्ञात ज्ञेय पुरुष हैं वे आत्मध्यान से भिन्न पूजन अर्चन को बालक की क्रीड़ावत् मानते हैं। आत्मा भगवान् एक देव है सो ही शिव है और परम कारणरूप है; उसका सर्वदा ही ज्ञान अर्चन से पूजन है और कोई पूजा नहीं है। चैतन्य, आकाश और निरवयव स्वभाव एक आत्मदेव को जान और पूज्यपूजक और पूजा त्रिपुटी से आत्मदेव की पूजा नहीं होती। मैंने पूछा, हे भगवन्! चैतन्य आकाशमात्र आत्मा को वैसे जगत् और चैतन्य को कैसे जीव कहते हैं सो कहो। ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! चैतन्य आकाश प्रसिद्ध है वह प्रकृति से रहित है और जो महाकल्प में शेष रहता है वह आपही किंचनरूप होता है उस किंचन से यह जगत् होता है। जैसे स्वप्न में चिदात्मा ही सर्वगत जगत्रूप होकर भासता है तैसे ही जाग्रत् जगत् भी चिदाकाशरूप है। आदि सर्ग से लेकर इसकाल पर्यन्त आत्मा से भिन्न का अभाव है। जैसे स्वप्न में जो जगत् भासता है सो भी सब चिदाकाशरूप है भिन्न कल्पना कोई नहीं। चिन्मात्र ही पहाड़रूप हैं, चिन्मात्र ही जगत् है; चिन्मात्र ही आकाश है; चिन्मात्र ही सब जीव हैं; और चिन्मात्र ही सब भूत हैं; चिन्मात्र से भिन्न कुछ नहीं। सृष्टि के आदि से अन्त पर्यन्त जो कुछ द्वैत कल्पना भासती है सो भ्रममात्र है। जैसे स्वप्ने में कोई किसी के अङ्ग काटे सो काटता तो नहीं निद्रा द्वेष से ऐसे भासता है; तैसे ही यह जाग्रत् जगत्

भी भ्रममात्र है। हे मुनीश्वर! आकाश, परमाकाश और ब्रह्माकाश तीनों एक ही के पर्याय हैं—जैसे स्वप्न में संकल्परूप माया से अनुभव होता है सो सब चिदाकाश है; तैसे ही यह जाग्रत् जगत् चिदाकाशरूप है और जैसे स्वप्नपुर आकाश से कुछ भिन्न नहीं होता, तैसे ही जाग्रत् स्वप्ना भी आत्मतत्त्व होकर भासता है, आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं। हे मुनीश्वर! जैसे स्वप्न में चिदाकाश ही घट पट आदिक होकर भासता है, तैसे ही स्थित प्रलयादि जगत् चिदात्मा से कुछ भिन्न नहीं आत्मा ही ऐसे भासता है। जैसे शुद्ध संवित् मात्र से भिन्न स्वप्न में नगर नहीं पाया जाता तैसे ही जाग्रत् में अनुभव से भिन्न कुछ नहीं पाते। हे मुनीश्वर! जगत् तीनों कालों में भाव अभावरूप पदार्थ हो भासता है सो सब चिदाकाशरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! यह देव मैंने तुमको परमार्थ से कहा है। तुम में और सर्वभूत जाति जगत् में सबका जो देव है सो चिदाकाश परमात्मा है—उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे संकल्पपुर में चिदाकाश ही शरीररूप हो भासता है उससे कुछ भिन्न नहीं बना तैसे ही यह सब चिदाकाशरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने जगत्परमात्मरूपवर्णनन्नामाष्टाविंशतितमस्सर्गः ॥ २८ ॥

ईश्वर बोले, हे ब्राह्मण! इस प्रकार यह सर्वविश्व केवल परमात्मारूप है। परमात्माकाश ब्रह्म ही एक देव कहाता है; उसही का पूजन सार है और उसही से सब फल प्राप्त होते हैं। वह देव सर्वज्ञ है और सब उसमें स्थित हैं। वह अकृत्रिम देव अज, परमानन्द और अखण्डरूप है; उसको साधन करके पाना चाहिये जिससे परमसुख प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! तू जागा हुआ है, इस कारण मैंने तुझसे इस प्रकार की देव अर्चना कही है पर जो असम्यक्दर्शी बालक हैं, जिनको निश्चयात्मक बुद्धि नहीं प्राप्त हुई उनको धूप, दीप, पुष्पकर्म आदिक से अर्चना कही है और आकार कल्पित करके देव की मिथ्या कल्पना की है। हे मुनीश्वर! अपने संकल्प से जो देव बनाते हैं और उसको पुष्प, धूप, दीपादिक से पूजते हैं सो भावनामात्र है उससे उनको संकल्परचित फल की प्राप्ति होती है यह बालक

बुद्धि की अर्चना है। तुम सारिखे की यही पूजा है जो तुमसे सर्व आत्मभावना से कही है। हे मुनीश्वर! हमारे मत में तो और देव कोई नहीं; एक परमात्मा देव ही तीनों भुवनों में है। वही देव शिव है और सर्वपद से अतीत है। वह सर्वसंकल्पों से रहित है और सर्वसंकल्पों का अधिष्ठान भी वही है। देश काल और वस्तु के परिच्छेद से वह रहित है और सर्व प्रकार शान्तरूप एक चिन्मात्र निर्मल स्वरूप है। वही देव कहाता है। हे मुनीश्वर! जो संवित्सत्ता पञ्चभूतकला से अतीत और सर्वभाव के भीतर स्थित है वही सबको सत्ता देनेवाला देव है और सबकी सत्ता हरनेवाला भी वही है। हे ब्राह्मण! जो ब्रह्म सत्य-असत्य के मध्य और सत्य असत्य के परे कहाता है वही देव परमात्मा है। परम स्वतः सत्तास्वभाव से जो सबको प्राप्त हुआ है और महाचित्त कहाता है सो परमात्म देवसत्ता है जैसे सब वृक्षों की लता के भीतर रस स्थित है तैसे ही सत्तासमान रूप से परमचेतन आत्मा सर्व ओर से स्थित है जो चैतन्यतत्त्व अरुन्धती का है और जो चैतन्यतत्त्व तुझ निष्पाप का और पार्वती का है वही चैतन्यतत्त्व मेरा है और वही चैतन्यतत्त्व त्रिलोकी मात्र का है सोई देव है और देव कोई नहीं। हाथ पाँव संयुक्त जो देव कल्पते हैं वह चिन्मात्र सार नहीं; चिन्मात्र ही सर्व जगत् का सारभूत है और वही अर्चना करने योग्य है, उससे सब फलों की प्राप्ति होती है वह देव कहीं दूर नहीं और किसी प्रकार किसी को प्राप्त होना भी कठिन नहीं। जो सबकी देह में स्थित और सबका आत्मा है सो दूर कैसे हो और कठिनता से कैसे प्राप्त हो। सब क्रिया वही करता है, भोजन, भरण और पोषण वही करता है, वही श्वास लेता है और सबका ज्ञाता भी वही है जो पुर्यष्टका में प्रतिबिम्बित होकर प्रकाशता है जैसे पर्वत पर जो चर अचर की चेष्टा होती है और चलते, बैठते और स्थित होते हैं सो सबका आधारभूत पर्वत है; तैसे ही मन सहित षट्इन्द्रियों की चेष्टा आत्मा के आश्रय होती है। उसी की संज्ञा व्यवहार के निमित्त तत्त्ववेत्ताओं ने देव कल्पी है। एकदेव, चिन्मात्र, सूक्ष्म, सर्वव्यापी, निरञ्जन, आत्मा, ब्रह्म इत्यादिक नाम ज्ञानवानों ने उपदेशरूप व्यवहार के निमित्त रक्खे हैं। हे मुनीश्वर! जो कुछ विस्तारसहित जगत

भासता है सबका वह प्रकाशक है और सबसे रहित है, नित्य, शुद्ध और अद्वैतरूप है और सब जगत् में अनुस्यूत है। जैसे वसन्तऋतु में नाना प्रकार के फूल और वृक्ष भासते हैं पर सबमें एक ही रस व्याप रहा है जो अनेक रूप हो भासता है; तैसे ही एक ही आत्मसत्ता अनेकरूप होकर भासती है। हे मुनीश्वर! जो कुछ जगत् है सो सब आत्मा का चमत्कार है और आत्मतत्त्व में ही स्थित है; कहीं आकाश, कहीं जीव, कहीं चित्त और कहीं अहंकाररूप है; कहीं दिशारूप, कहीं द्रव्य, कहीं भाव विकार, कहीं तम, कहीं प्रकाश और कहीं सूर्य, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक स्थावर जङ्गमरूप होकर स्थित है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुद्बुदे होते हैं तैसे ही एक परमात्मा देव में त्रिलोकी है। हे मुनीश्वर! देवता, दैत्य, मनुष्य आदिक सब एकदेव में बहते हैं। जैसे जल में तृण बहते हैं, तैसे ही परमात्मा में जीव बहते हैं। वही चैतन्यतत्त्व चतुर्भुज होकर दैत्यों का नाश करता है जैसे जल मेघरूप होकर धूप को रोकता है—और वही चैतन्यतत्त्व त्रिनेत्र मस्तक पर चन्द्र धारे और वृषभ पर आरूढ़ पार्वतीरूपी कमलिनी के मुख का भँवरा रुद्र होकर स्थित होता है। वही चेतना विष्णुरूपसत्ता है, जिसके नाभिकमल से ब्रह्मा त्रिलोकी वेदत्रयरूप कमलिनी की लता बड़ी होकर स्थित हुआ है। हे मुनीश्वर! इस प्रकार एक ही चैतन्यतत्त्व अनेकरूप होकर स्थित हुआ है जैसे एक ही रस अनेक रूप होकर स्थित होता है और जैसे एक ही सुवर्ण अनेक भूषणरूप होकर स्थित होता है, तैसे ही एक ही चैतन्य अनेकरूप होके स्थित होता है। इससे सर्वदेह एक चैतन्यतत्त्व के हैं। जैसे एक वृक्ष के अनेक पत्र होते हैं तैसे ही एक ही चैतन्य के सर्व देह हैं। वही चैतन्य मस्तक पर चूड़ामणि धारनेवाला त्रिलोकपति इन्द्र होकर स्थित हुआ है। देवतारूप होकर वही स्थित हुआ है और दैत्यरूप होकर भी वही स्थित है और मरने और उपजने का रूप भी वही धारता है। जैसे एक समुद्र में तरङ्ग के समूह उपजते और मिट जाते हैं सो सब जलरूप ही हैं तैसे ही उपजना और विनशना चैतन्य में होता है वह चैतन्यरूप परमात्मा एक ही वस्तु है। हे मुनीश्वर! चैतन्यरूपी आदर्श में जगतरूपी प्रतिबिम्ब

होता है और अपनी रची हुई वस्तु को आप ही ग्रहण करके अपने में धारता है। जैसे गर्भिणी स्त्री अपने गर्भ को धारती है तैसे ही चैतन्यतत्त्व जगत्‌रूप प्रतिबिम्ब को धारता है। हे मुनीश्वर! सर्वक्रिया उसी देव से सिद्ध होती हैं और सूर्यादिक उसी से प्रकाशते हैं और उसी से प्रफुल्लित होते हैं। जैसे नील और रक्त कमल सूर्य से प्रफुल्लित होते हैं तैसे ही आत्मा से अन्धकार और प्रकाश दोनों सिद्ध होते हैं। हे मुनीश्वर! त्रिलोकीरूपी धूलि चेतनरूपी वायु से उड़ती है। जो कुछ जगत् के आरम्भ हैं उन सबको चैतन्यरूपी दीपक प्रकाश करता है। जैसे जल के सींचने से बेल प्रफुल्लित होती है और फूलफल उत्पन्न करती है, तैसे ही चैतन्यसत्ता सब पदार्थों को प्रकट करती है और सबको सत्ता देकर सिद्ध करती है। हे मुनीश्वर! चैतन्य ही में जड़ की सिद्धता और चेतन ही में जड़ का अभाव होता है जैसे प्रकाश ही से अन्धकार सिद्ध होता है और प्रकाश ही से अन्धकार का अभाव होता है तैसे ही सब देह चैतन्य से सिद्ध होते हैं और चैतन्य ही से देहों का अभाव होता है। विष्णु भी उसी से होते हैं और शिवजी भी उसी से होते हैं। हे मुनीश्वर! ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो चैतन्य विना सिद्ध हो; जो कोई पदार्थ है सो आत्मा ही से सिद्ध होता है। हे मुनीश्वर! शरीररूपी सुन्दर वृक्ष बड़ी ऊँची डालों सहित है परन्तु चैतन्यरूपी मञ्जरी विना नहीं शोभता। जैसे रस विना वृक्ष नहीं शोभता तैसे ही चैतन्य विना शरीर नहीं शोभता। बढ़ना, घटना आदिक जो विकार हैं वह एक आत्मा से सिद्ध होते हैं यह जगत् सब चैतन्यरूप है और चैतन्यमात्र ही अपने आप में स्थित है इतना कह वशिष्ठजी बोले। हे रामजी! जब इस प्रकार अमृतरूपी वाणी से त्रिनेत्र ने मुझसे कहा तब मैंने नम्रता से पूछा। हे देव! जब सब जगत् चैतन्य देव व्यापकरूप स्थित है और चैतन्य ही बड़े विस्तार को प्राप्त भया है तब यह प्रथम चेतन था अब यह चेतनता से रहित है इस कल्पना का सब लोकों में प्रत्यक्ष अनुभव कैसे होता है। ईश्वर बोले। हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ! यह महाप्रश्न तैंने किया है उसका उत्तर सुन। इस शरीर में दो चेतन स्थित हैं एक चैतन्योन्मुखत्वरूप है और दूसरा निर्विकल्प आत्मा। जो चेतन चैतन्योन्मुखत्व दृश्य से मिला हुआ है सो जीव संकल्प के फुरने से अन्य की नाईं हो गया है पर वास्तव में और कुछ नहीं हुआ केवल दृश्य संकल्प के अनुभव को ग्रहण करने से जीवरूप हुआ है। जैसे स्त्री अपने शीलधर्म को त्यागकर दुराचारिणी हो जाती है तो उसकी शीलता जाती रहती है परन्तु स्त्री का स्वरूप नहीं जाता तैसे ही चैतन्योन्मुखत्व से अनुभवरूपी जीवरूप हो जाता है परन्तु चैतन्यस्वरूप का त्याग नहीं करता। जैसे संकल्प के वश से पुरुष एक क्षण में और रूप हो जाता है तैसे ही चित्तसत्ता फुरने भाव से अन्यरूप हो जाती है। हे मुनीश्वर! आदि में चित्त स्पन्द चित्‌कला में हुआ है, तब शब्द के चेतने से आकाश हुआ; फिर स्पर्श तन्मात्रा का चेतना हुआ तब वायु प्रकट हुआ, इसी प्रकार पाँचों तन्मात्रा के फुरने से पञ्चतत्त्व हुए। फिर देश आदिक का विभाग हुआ उसमें जीव प्रतिबिम्बित हुआ; फिर निश्चय वृत्ति हुई उसका नाम बुद्धि हुआ; फिर अहंवृत्ति फुरी उसका नाम अहंकार हुआ; फिर संकल्प विकल्प वृत्ति फुरी उसका नाम मन हुआ; चिन्तना से चित्त हुआ; फिर संसार की भावना हुई तब संसार का अनुभव हुआ और अभ्यास के वश से संसार भासने लगा जैसे विपर्ययभावना करके ब्राह्मण आपको चाण्डाल जाने; तैसे ही भावना के विपर्यय होने से वही चैतन्य आपको जीव मानने लगा है; संकल्प की दृढ़ता से चेतनरूपी जीव को ग्रहण कर संकल्प में वर्तता है और अनन्त संकल्पों से जड़ता तीव्रता को प्राप्त होकर जड़भाव को ग्रहण कर देहभाव को प्राप्त होता है। जैसे जल दृढ़ जड़ता से बर्फ़रूप हो जाता है तैसे ही चैतन्य जब अनन्त संकल्पों से जड़ देहभाव को प्राप्त होता है तब चित्त मन मोहित हुआ जड़ता का आश्रय करके संसार में जन्म लेता है और मोह को प्राप्त हुआ तृष्णा से पीड़ित होता और काम, क्रोध, संयुक्त भाव-अभाव में प्राप्त होता है। एवं अपनी अनन्तता को त्यागकर परिच्छिन्न व्यवहार में वर्तता है; दुःखदायक अग्नि से तप्त हुआ शून्यभाव को प्राप्त होता है और भेद को ग्रहण करके महादीन हो जाता है। हे मुनीश्वर! मोहरूपी गड्ढे में जीवरूपी हाथी फँसा है

और भाव अभाव से सदा डोलायमान होता है। जैसे जल में तृण भासता है तैसे ही असाररूप संसार में विकारसंयुक्त रागद्वेष से जीव तपता रहता है शान्ति को कदाचित् नहीं पाता और जैसे यूथ से बिछुरा मृग कष्टवान् होता है तैसे ही आवरण भाव जन्म मरण से जीव कष्टवान् होता है और अपने संकल्प से आप ही भय पाता है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पकर आप ही भय पाता है तैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भयभीत होता है और संकट पाता है; आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ कष्ट से कष्ट पाता है और कर्मों को करके तपायमान हुआ अनेक जन्म पाता है और भय में रहता है। बालक होता है तब महादीन और परवश होता है; यौवन अवस्था में कामादिक के वश हुआ स्त्री में रत रहता है और वृद्ध अवस्था में चिन्ता से मग्न होता है। जब मृतक होता है तब कर्मों के वश फिर जन्मता है और गर्भ में दुःख पाता है और फिर बालक, यौवन, वृद्ध और मृतक अवस्था को पाता है। स्वरूप से गिरा हुआ इसी प्रकार भटकता है, कदाचित् स्थिर नहीं होता। हे मुनीश्वर! एक चित्सत्ता स्पन्दभाव से अनेक भाव को प्राप्त होती है; कहीं दुःख से रुदन करती है, कहीं दुःख भोगती है, कहीं स्वर्ग में देवाङ्गना होती है, पाताल में नागिनी, असुरों में असुरी, राक्षसों में राक्षसी, वनकोट में बानरी, सिंहों में सिंही, किन्नरों में किन्नरी, हरिणों में हरिणी, विद्याधरों में विद्याधरी, गन्धर्वों में गन्धर्वी, देवताओं में देवी इत्यादिक जो रूप धारती है सो चैतन्योन्मुखत्व जीवकला है। क्षीरसमुद्र में वह विष्णुरूप होकर स्थित होती है, ब्रह्मपुरी में ब्रह्मारूप होती है, पञ्चमुख होकर रुद्र होती है और स्वर्ग में इन्द्र होती है। तीक्ष्णकला से सूर्य दिन का कर्ता होती है और क्षण, दिन, मास, वर्ष करती है। चन्द्रमा होकर वही रात्रि करती और काल होकर नक्षत्र फेरती है। कहीं प्रकाश, कहीं तम, कहीं बीज, कहीं पाषाण, कहीं मन होती है और कहीं नदी होकर बहती है, कहीं फूल होकर फूलती है, कहीं भँवर होकर सुगन्ध लेती है, कहीं फल होकर दीखती है, कहीं वायु होकर चलती है, कहीं अग्नि होकर जलाती है, कहीं बरफ़ होती है और कहीं आकाश होकर दीखती है। हे मुनीश्वर! इसी प्रकार सर्वगत सर्वात्मा सर्वशक्तिता से एक ही रूप चित्शक्ति आकाश से भी निर्मल है। जैसे चेतता है तैसे ही होकर स्थित हुई है। जैसी जैसी भावना करती है शीघ्र ही तैसा रूप हो जाती है परन्तु स्वरूप से भिन्न नहीं होती। जैसे समुद्र में फेन तरङ्ग होकर भासते हैं परन्तु जल से भिन्न नहीं—जल ही जल है तैसे ही चित्शक्ति अनेकरूपों को धारती है परन्तु चैतन्य से भिन्न नहीं होती। चित्शक्ति ही कहीं हंस, कहीं काक, कहीं शूकर, कहीं मक्खी, चिड़िया इत्यादिक रूप धारकर संसार में प्रवर्तती है जैसे जल में आया तृण भ्रमता है तैसे ही भ्रमती है और अपने संकल्प से आप ही भय पाती है और जैसे गधा अपना शब्द सुन आप ही दौड़ता है और भय पाता है तैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भय पाता है। हे मुनीश्वर! यह मैंने जीवशक्ति का आचार तुझसे कहा; इसी आचार को ग्रहण करके बुद्धि नीच पशुधर्मिणी हुई है और स्वरूप के प्रमाद से जैसा-जैसा संकल्प करती है तैसी ही तैसी कर्मगति को प्राप्त हो शोकवान् होती है, अनन्त दुःख पाती है और अपनी चैत्यता से ही मलिन होती है। जैसे तुष से ढपा चावल बड़े संताप को प्राप्त होता है; फिर फिर बोया जाता है; फिर फिर उगता है और काटा जाता है; तैसे स्वरूप के आवरण से जीवकला दुर्भाग्य से जन्म मरण दुःख को प्राप्त होती है। जैसे भर्तार से रहित स्त्री शोकवान् होती है तैसे ही जीवकला कष्ट पाती है। हे मुनीश्वर! जड़दृश्य और अनात्मरूप की प्रीति करने और निज स्वरूप के विस्मरण करने से आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ चित्त, जीव को नीच योनि में प्राप्त करता है जैसे घटीयन्त्र कभी नीचे जाता है और कभी ऊर्ध्व को जाता है तैसे ही जीव आशा के वश हुआ कभी पाताल और कभी आकाश को जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठेश्वरसंवादे चैतन्योन्मुखत्वविचारो नामैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः॥ २९॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! स्वरूप के विस्मरण से जो इस प्रकार होता है कि मैं हन्ता हूँ, मैं दुःखी हूँ; सो अनात्मा में अहं प्रतीति करके ही

दुःख का अनुभव करता है। जैसे स्वप्न में पुरुष आपको पर्वत से गिरता देख के दुःखी होता है और आपको मृतक हुआ देखता है तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से अनात्म में आत्म अभिमान करके आपको दुःखी देखता है। हे मुनीश्वर! शुद्धचैतन्यतत्त्व में जो चित्तभाव हुआ है सो चित्तकला फुरने से जगत् का कारण हुआ है परन्तु वास्तव में स्वरूप से भिन्न नहीं। जैसे जैसे चित्तकला चेतती गई है तैसे ही जगत् होता गया है। वह चित्त का कारण भी नहीं हुआ और जब कारण ही नहीं हुआ तब कार्य किसको कहिये? हे मुनीश्वर! न वह चित्त है, न चेतन है, न चेतनेवाली है, न द्रष्टा है, न दृश्य है और न दर्शन है जैसे पत्थर में तेल नहीं होता न कारण है, न कर्म है और न कारण इन्द्रियाँ हैं, जैसे चन्द्रमा में श्यामता नहीं होती। न वह मन है और न मानने योग्य दृश्य वस्तु है—जैसे आकाश में अंकुर नहीं होता। न वह अहन्ता है, न तम है और न दृश्य है—जैसे शंख को श्यामता नहीं होती। हे मुनीश्वर! न वह नाना है, न अनाना है—जैसे अणु में सुमेरु नहीं होता। न वह शब्द है, न स्पर्श का अर्थ है—जैसे मरुस्थल में बेलि नहीं होती। न वस्तु है, न अवस्तु है—जैसे बरफ़ में उष्णता नहीं होती। न शून्य है, न अशून्य है, न जड़ है, न चेतन है—जैसे सूर्यमण्डल में अन्धकार नहीं होता। हे मुनीश्वर! शब्द और अर्थ इत्यादिक की कल्पना भी उसमें कुछ नहीं—जैसे अग्नि में शीतलता नहीं होती। वह तो केवल केवलीभाव अद्वैत चिन्मात्र तत्त्व है स्वरूप से किसी को कुछ भी दुःख नहीं होता। हे मुनीश्वर! जगत् को असत् जानकर अभावना करना और आत्म को सत जानकर भावना करना इस भावना से सर्व अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं पर यह और किसी से प्राप्त नहीं होता अपने आप ही से प्राप्त होता है और अनादि ही सिद्ध है। जब उसकी ओर भावना होती है तब सब भ्रम मिट जाते हैं और जब अनात्मभावना होती है तब उसका पाना कठिन होता है। जो यत्न के साथ है सो यत्न विना नहीं पाया जाता; आत्मा निर्विकल्प, अद्वैत और सबसे अतीत है, उसे अभ्यास विना कैसे पाइये? आत्मतत्त्व परम, एक, स्वच्छ, तेज का भी प्रकाशक, सर्वगत, निर्मल,

नित्य सदा उदित, शक्तिरूप, निर्विकार और निरञ्जन है। घट, पट, वट, वृक्ष, गादी, वानर, दैत्य, देवता, समुद्र, हाथी इत्यादिक स्थावर-जङ्गम-रूप जो कुछ जगत् है सबका साक्षीरूप होकर आत्मतत्त्व स्थित है और दीपकवत् सबको प्रकाशता है। आप सर्वक्रिया से अतीत है पर उसी से सर्वकार्य सिद्ध होते हैं; सर्वक्रिया संयुक्त भासता है और सर्वविकल्प से रहित जड़वत् भी भासता है परन्तु परम चैतन्य है। आत्मतत्त्व सब चेतन का सार चेतन, निर्विकल्प और परमसूक्ष्म है और अपने आपमें किञ्चन हो भासता है। अपने ही प्रमाद से रूप, अवलोक और नमस्कार त्रिपुटी भासती है; जब बोध होता है तब ज्यों का त्यों आत्मा भासता है। नित्य, शुद्ध, निर्मल और परमानन्दरूप के प्रमाद से चैतन्य चित्तभाव को प्राप्त होता है जैसे साधु भी दुर्जन के संग से असाधु हो जाते हैं तैसे ही अनात्मा के संग से यह नीचता को प्राप्त होता है। जैसे सोना दूसरी धातु की मिलौनी से खोटा हो जाता है और जब शोधा जाता है तब शुद्धता को प्राप्त होता है तैसे ही अनात्म के संग से यह जीव दुःखी होता है और जब अभ्यास और यत्न करके अपने शुद्ध रूप को पाता है तब वही रूप हो जाता है। जैसे मुख के श्वास से दर्पण मलीन हो जाता है तो उसमें मुख नहीं भासता पर जब मलिनता निवृत्त होती है तब शुद्ध होता है और उसमें मुख स्पष्ट भासता है; तैसे ही चित्त संवेदन के प्रमाद से फुरने के कारण जगत् भ्रम भासने लगता है और आत्मस्वरूप नहीं भासता। जब यह जगत् सत्ता फुरने सहित दूर होगी तब आत्मतत्त्व भासेगा और जगत् की असत्यता भासेगी। हे मुनीश्वर! जब शुद्ध संवित् में चेतनता का फुरना निवृत्त होता है तब जीव अहंताभाव को प्राप्त होता है और अहंकार को प्राप्त होने से अविनाशीरूप को विनाशी जानता है। हे मुनीश्वर! स्वरूप से कुछ भी उत्थान होता है तो उससे स्वरूप से गिरके कष्ट पाता है। जैसे पहाड़ से गिर नीचे चला जाता है और चूर्ण होता है तैसे ही जीव स्वरूप से उत्थान होता है और अनात्मा में अभिमान और अहंप्रतीति होती है तब अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! सब पदार्थों का सत्ता

रूप आत्मा है; उसके अज्ञान से दैवत्वभाव को प्राप्त होता है जब उसका बोध हो तब दैवतभाव निवृत्त हो जावेगा वह आत्मा शुद्ध और चिन्मात्रस्वरूप है उसी की सत्ता से देह इन्द्रियादिक भी चेतन होते हैं और अपने अपने विषय को ग्रहण करते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश से सब जगत् का व्यवहार होता है और प्रकाश विना कोई व्यवहार नहीं होता, तैसे आत्मा की सत्ता से ही देह, इन्द्रियादिक का व्यवहार होता है और अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। हे मुनीश्वर! जो नेत्र में मुख्य श्यामता है वह अपने आपमें रूप को ग्रहण करती है उसका बाहर के विषय से संयोग होता है और उस रूप का जिसमें अनुभव होता है वह परम चैतन्य सत्ता है। त्वचा इन्द्रियाँ और स्पर्श का जब संयोग होता है तो इन जड़ों का जिससे अनुभव होता है वह साक्षीभूत परम चैतन्यसत्ता है और नासिका इन्द्रिय का जब गन्ध तन्मात्र से संयोग होता है तो उसके संयोग में जो अनुभवसत्ता है सो परम चैतन्य है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचों विषयों को श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना, नासिका पाँचों इन्द्रियों से मिलकर जाननेवाला साक्षीभूत परम चैतन्य आत्मतत्त्व है। वह मुख्य संवित् परम चैतन्य कहाता है और जो बहिर्मुख फुरकर दृश्य से मिला है वह मलीन चित्त कहाता है जब वही मलीनरूप अपने शुद्धस्वरूप में स्थित होता है तब शुद्ध होता है। हे मुनीश्वर! यह जगत् सब आत्मस्वरूप है और शिलाघन की नाईं अद्वैत और सर्व विकारों से रहित है; न उदय होता है और न अस्त होता है संकल्प के वश से जीवभाव को प्राप्त होता है और संकल्प के निवृत्त हुए परमात्मारूप हो जाता है। हे मुनीश्वर! आदि चित्तकला जीवरूपी रथ पर आरूढ़ हुई है; जीव अहंकाररूपी रथ पर आरूढ़ हुआ है; अहंकार बुद्धिरूपी रथ पर आरूढ़ है; बुद्धि मनरूपी रथ पर आरूढ़ है; मन प्राणरूपी रथ पर चढ़ा है और प्राण इन्द्रियाँरूपी रथ पर चढ़े हैं। इन्द्रियों का रथ देह है और देह का रथ पदार्थ है। जो कर्म इन्द्रियाँ करती हैं उसी के वश जरामरणरूपी संसार पिंजरे में भ्रमती हैं। इस प्रकार यह चक्र चलता है और उसमें प्रमाद करके जीव भटकता है। हे मुनीश्वर! यह चक्र आत्मा का आभास विरूप है। जैसे स्वप्नपुर में नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं सो वास्तव में कुछ नहीं हैं; तैसे ही यह जगत् वास्तव में कुछ नहीं है और जैसे मृगतृष्णा की नदी भ्रम करके भासती है, तैसे ही यह जगत् भ्रम से भासता है। हे मुनीश्वर! मन का रथ प्राण है; जब प्राणकला फुरने से रहित होती है तब मन भी स्थित हो जाता है और मन के स्थित हुए मन का मनन भी शान्त हो जाता है। जब प्राणकला फुरती है तब मन का मनन भी फुरता है और जब प्राणकला स्थित होती है तब मनन निवृत्त हो जाता है। जैसे प्रकाश विना पदार्थ नहीं भासते और वायु के शान्त हुए धूर नहीं उड़ती तैसे ही प्राण के फुरने से रहित मन शान्त होता है। जैसे जहाँ पुष्प होते हैं वहाँ गन्ध भी होती है और जहाँ अग्नि है वहाँ उष्णता भी होती है; तैसे ही जहाँ प्राणस्पन्द होता है वहाँ मन भी होता है। हृदय में जो नाड़ी है उसमें प्राण स्वतः फुरते हैं और उसी से मनन होता है। संवित् जो स्वच्छरूप है सो जड़ अजड़ सर्वत्र भासती है और संवेदन प्राणकला में फुरती है। हे मुनीश्वर! आत्मसत्ता सर्वत्र अनुस्यूत है परन्तु जहाँ प्राणकला होती है वहाँ भासती है और जहाँ प्राणकला नहीं होती वहाँ नहीं भासती। जैसे सूर्य का प्रकाश सब ठौर में होता है परन्तु जहाँ उज्ज्वल स्थान, जल अथवा दर्पण होता है वहाँ प्रतिबिम्ब भासता है और ठौर नहीं भासता; तैसे ही आत्मसत्ता सर्वत्र है परन्तु जहाँ प्राणकला पुर्यष्टका होती है वहाँ भासती है और ठौर नहीं भासती। जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब भासता है और शिला में नहीं भासता तैसे ही पुर्यष्टका जो मनरूप है सो सबका कारण है और अहंकार, बुद्धि, इन्द्रियाँ उसी के भेद हैं; जो आपही से कल्पित है; सब दृश्यजाल उसही से उदय होता है और कोई वस्तु नहीं। यह भली प्रकार अनुभव किया है। इससे मन ही देहादिक हो प्रवर्तता है। और सब वस्तु उसही से भासती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने मनप्राणोक्तप्रतिपादनं नाम त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३० ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! आत्मसत्ता विना जीव कन्धवत् होता है और आत्मसत्ता से चेतन होकर चेष्टा करता है। जैसे चुम्बक पाषाण की सत्ता से जड़ लोहा चेष्टा करता है, तैसे ही सर्वगत आत्मा की सत्ता से जीव फुरता है और आत्मसत्ता भी जीवकला में भासती है और ठौर नहीं भासती। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण में भासता है और ठौर नहीं भासता, तैसे ही परमात्मा सर्वगत और सर्वशक्त भी है परन्तु जीवकला ही में है। हे मुनीश्वर! शुद्ध वास्तव स्वरूप से जो इस जीवकला का उत्थान दृश्य की ओर हुआ है इससे चित्तभाव को प्राप्त हुआ है। जैसे शूद्र की संगति करके ब्राह्मण भी आपको शूद्र मानने लगता है, तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीवकला आपको चित्त जानने लगी है। अज्ञान से घेरा हुआ जीव महादीनभाव को प्राप्त होता है; जड़ देह के अभ्यास से कष्ट पाता है और काम, क्रोध, वात, पित्तादिक से जलता है। जैसी जैसी भावना होती है तैसा ही तैसा कर्म करता है और उन कर्मों की भावना से मिला हुआ भटकता है। जैसे रथ पर आरूढ़ होकर रथी चलता है तैसे ही जीव आत्मा मन प्राण और कर्मों से चलता है। हे मुनीश्वर! चैतन्य ही जड़ दृश्य को अङ्गीकार करके जीवत्वभाव को प्राप्त होता है और मन प्राणरूपी रथ पर चढ़कर पदार्थ की भावना से नाना प्रकार के भेद को प्राप्त हुए की नाईं स्थित होता है। जैसे जल ही तरङ्गभाव को प्राप्त होता है, तैसे ही चैतन्य ही नाना प्रकार होकर स्थित होता है। निदान यह जीवकला आत्मा की सत्ता को पाकर वृत्ति में फुरनरूप होती है। जैसे सूर्य की सत्ता को पाकर नेत्र रूप को ग्रहण करते हैं तैसे ही परमात्मा की सत्ता पाकर जीव वृत्ति में फुरता है और परमात्मा चित्त में स्थित हुआ फुरणरूप जीता है। जैसे घर में दीपक होता है तब प्रकाश होता है; दीपक विना प्रकाश नहीं होता। अपने स्वरूप को भुलाकर जीव दृश्य की ओर लगा है इस कारण आधि व्याधि से दुःखी होता है। जैसे जब कमल डोडी के साथ लगता है तब उस पर भ्रमरे आन स्थित होते हैं; तैसे ही जब जीव दृश्य की ओर लगता है तब दुःख होता है और उससे जीव दीन हो जाता है। जैसे जल तरङ्गभाव को प्राप्त होता है—तैसे ही जीव अपनी क्रिया से बन्धायमान होता है। जैसे बालक अपनी परछाहीं को देखकर आपही अविचार से भय पाता है तैसे ही अपने स्वरूप के प्रमाद से जीव आपही दुःख पाता है और दीनता को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! चिद्शक्ति सर्वगत अपना आप है। उसकी अभावना करके जीव दीनता को प्राप्त होता है। जैसे सूर्य बादल से घिर जाता है तैसे ही मूढ़ता से आत्मा का आवरण होता है पर जब प्राणों का अभ्यास करे तब जड़ता निवृत्त हो और अपना आप आत्मा स्मरण हो। जिनकी वासना निर्मल हुई है तो वह स्थिर हुई एकरूप हो जाती है और वे जीव जीवन्मुक्त होकर चिरपर्यंत जीते हैं और हृदयकमल में प्राणों को रोककर शान्ति को प्राप्त होते हैं। जब काष्ठ लोष्टवत् देह गिर पड़ती है तब पुर्यष्टका आकाश में लीन हो जाती है। जैसे आकाश में पवन लीन होता है तैसे ही उनका मन पुर्यष्टका वहाँ ही लीन हो जाती है। हे मुनीश्वर! जिनकी वासना शुद्ध नहीं हुई उनकी पुर्यष्टका मृत्युकाल में आकाश में स्थित होती है और उसके अनन्तर फिर फुर आती है तब उस वासना के अनुसार स्वर्ग नरक को देखने लगता है। जब शरीर मन और प्राण से रहित होता है तब शून्यरूप हो जाता है। जैसे पुरुष घर को त्यागकर दूर जा रहता है तैसे ही शरीर को त्यागकर मन और प्राण और ठौर जा रहते हैं और शरीर शून्य हो जाता है। हे मुनीश्वर! चिद्सत्ता सर्वत्र है परन्तु जहाँ पुर्यष्टका होती है वहाँही भासती है और चेतन का अनुभव होता है और ठौर नहीं होता। हे मुनीश्वर! जब यह जीव शरीर को त्यागता है तब पञ्चतन्मात्रा को ग्रहण करके संग ले जाता है और जहाँ इसकी वासना होती है वहाँ ही प्राप्त होता है। प्रथम इसका अन्तवाहक शरीर होता है, फिर दृश्य के दृढ़ अभ्यास से स्थूलभाव को प्राप्त हो जाता है और अन्तवाहकता विस्मरण हो जाती है। जैसे स्वप्न में भ्रम से स्थूल आकार देखता है; तैसे ही मोह करके मरता है तब अपने साथ स्थूल आकार देखता है। फिर स्थूलदेह में अहं प्रतीति करता है और उससे मिलकर क्रिया करता है तब असत्य को सत्य मानता है और सत्य को असत्य जानता है। इस प्रकार भ्रम को प्राप्त होता है। जब सर्वगत

चिदंश से जीव मनरूप होता है तब जगत्भाव को प्राप्त होता है। जब देह से पुर्यष्टका निकल जाती है तब आकाश में जा लीन होती है और देह फुरने से रहित होती है तब उसको मृतक कहते हैं और अपने स्वरूप शक्ति को विस्मरण करके जर्जरीभाव को प्राप्त होता है। जब जीव-शक्ति हृदयकमल में मूर्च्छित होती है और प्राण रोंके जाते हैं तब यह मृतक होता है। एवम् फिर जन्म लेता है और फिर मर जाता है। हे मुनीश्वर! जैसे वृक्ष में पत्र लगते हैं; और काल पाकर नष्ट हो जाते हैं और फिर नूतन लगते हैं; तैसे ही यह जीव शरीर को धारता है और नष्ट हो जाता है; फिर शरीर धारता है और वह भी नष्ट हो जाता है। जो वृक्ष के पत्र की नाईं उपजते और नष्ट होते हैं उनका शोक करना व्यर्थ है। हे मुनीश्वर! चैतन्यरूपी समुद्र में शरीररूपी अनेक तरङ्ग बुद्बुदे उपजते और नष्ट होते हैं उनका शोक करना व्यर्थ है। जैसे दर्पण में जो अनेक पदार्थ का प्रतिबिम्ब होता है सो दर्पण से भिन्न नहीं होता तैसे ही चैतन्य में अनेक पदार्थ भासते हैं। वह चैतन्य निर्मल आकाश की नाईं विस्तीर्णरूप है, उसमें जो पदार्थ फुरते हैं वे अनन्यरूप हैं और विधि शरीर भी वही रूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देहपातविचारो
नामैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे अर्द्धचन्द्रधारी! जो चैतन्यतत्त्व परमात्मा पुरुष है वह अनन्त और एक रूप है उसको यह द्वैत कहाँ से प्राप्त हुआ? भूत और भविष्यकाल कहाँ से दृढ़ हो रहे हैं? एक में अनेकता कहाँ से प्राप्त हुई है? बुद्धिमान् दुःख को कैसे निवृत्त करते हैं और वह कैसे निवृत्त होता है? ईश्वर बोले, हे ब्राह्मण! ब्रह्मचैतन्य सर्वशक्त है। जब वह एक ही अद्वैत होता है तब निर्मलता को प्राप्त होता है। एक के भाव से द्वैत कहाता है और द्वैत की अपेक्षा से एक कहाता है पर यह दोनों कल्पनामात्र हैं। जब चित्त फुरता है तब एक और दो की कल्पना होती है और चित्तस्पन्द के अभाव हुये दोनों की कल्पना मिट जाती है और कारण से जो कार्य भासता है सो भी एकरूप है। जैसे बीज से लेकर फल पर्यन्त वृक्ष का विस्तार है सो एक ही रूप है और बढ़ना घटना उसमें कल्पना होती है; तैसे ही चैतन्य में चित्तकल्पना होती है तब जगत्रूप हो भासता है परन्तु उस काल में भी वही रूप है। हे मुनीश्वर! वृक्ष के समेत भी बीज एक वस्तुरूप है और कुछ नहीं हुआ परन्तु बीज फुरता है तब वृक्ष हो भासता है, तैसे ही जब शुद्ध चैतन्य में चेतन कलना फुरती है तब जगत्रूप हो भासता है। हे मुनीश्वर! कारण-कार्य विकाररूप जगत् असम्यक्दृष्टि से भासता है। जैसे जल में तरङ्ग भासते हैं सो जल रूप हैं—जल से भिन्न नहीं, जैसे शश के सींग असत् हैं और जल में द्वैततरङ्ग कलना असत् है—अज्ञान से भासती है; तैसे ही आत्मा में अज्ञान से जगत् भासता है। जैसे द्रवता से जल ही तरङ्गरूप हो भासता है तैसे ही फुरने से आत्मतत्त्व जगत्रूप हो भासता है और द्वैत नहीं। चैतन्यरूपी बेल फैली है और उसमें पत्र, फूल और फल एक ही रूप हैं। जैसे एक बेल अनेकरूप हो भासती है तैसे ही एक ही चैतन्य जो अहं, त्वं, देश, काल आदिक विकार होकर भासता है सो वही रूप है। हे मुनीश्वर! जब सब ही एक चैतन्य है तब तेरे प्रश्न का अवसर कहाँ हो? देश, काल, क्रिया, नीति आदिक जो शक्ति-पदार्थ हैं सो एक ही चिदात्मा है। जैसे जल में जब द्रवता होती है तब तरङ्गरूप हो भासता है और उसका नाम तरङ्ग होता है, तैसे ही ब्रह्म में जगत् फुरता है तब अहं, त्वं आदिक नाना प्रकार के नाम होते हैं पर वह ब्रह्म, शिव, परमात्मा, चैतन्यसत्ता, द्वैत, अद्वैत आदिक नामों से अतीत है; वाणी का विषय नहीं। ऐसा निर्विकल्प निर्विषय तत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। यह जगत् जो कुछ भासता है सो भी वही चैतन्यतत्त्व है। जैसे बेल फूल और पत्र होकर फैलती है तैसे ही चैतन्य सर्वरूप होकर फैलता है। हे मुनीश्वर! महा चैतन्य में जब किंचन होता है तब जीवरूप होकर स्थित होता है और फिर द्वैतकलना को देखता है। जैसे स्वप्न में अपना स्वरूप त्यागकर परिच्छिन्न वपु को धारण करता है और द्वैतरूप जगत् देखता है पर जब जागता है तब अपने अद्वैतरूप को देखता है परन्तु जागे विना भी द्वैत कुछ नहीं हुआ; तैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी कुछ है नहीं भ्रम से भासता है। जब यह जीव अपने वास्तवस्वरूप की ओर

सावधान होता है तब उसके अभ्यास से वही रूप हो जाता है। हे मुनीश्वर! इस जीव का आदि वपु अन्तवाहक है और संकल्प ही उसका रूप है; जब उसमें अहं भावना तीव्र होती है तब वही आधिभौतिक होकर भासता है। जब उसमें सत्यता दृढ़ हो जाती है तो उसकी भावना करके रागद्वेषसे क्षोभायमान होता है। पर जब काकतालीयवत् अकस्मात् से हृदय में विचार उपजता है तब संकल्परूपी आवरण दूर हो जाता है और अपने वास्तवस्वरूप को प्राप्त होता है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पकर भय पाता है तैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भय पाता है। हे मुनीश्वर! यह जो कुछ जगत् भासता है सो सब संकल्पमात्र है; जैसा संकल्प हृदय में दृढ़ होता है तैसा ही भासने लगता है। प्रत्यक्ष देखो कि जो पुरुष कुछ कार्य करता है तो कर्तृत्वभाव उसके हृदय में दृढ़ होता है और कहता है कि यह कार्य मैं न करूँ; जब यही संकल्प दृढ़ होता है तब उस कार्य से आपको अकर्ता जानता है; तैसे ही दृश्य की भावना से जगत् सत्य दृढ़ हो गया है। जब दृश्य का संकल्प निवृत्त होता है और आत्मभावना में लगता है तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है और आत्मा ही भासता है। हे मुनीश्वर! परमार्थ से द्वैत कुछ है ही नहीं, सब संकल्प रचना है। संकल्प से रचा जो दृश्य है सो संकल्प के अभाव से अभाव हो जाता है। जैसे मनोराज और गन्धर्व नगर मन से रचित होता है और जब संकल्प के अभाव हुए से अभाव होता है तब क्लेश कुछ नहीं रहता। हे मुनीश्वर! जगत् संकल्प की तुष्टता से जीव दुःख का भागी होता है। जैसे स्वप्न में संकल्प करके जीव दुःखी होता है। इस संकल्पमात्र की इच्छा त्यागने में क्या कृपणता है? जैसे स्वप्न में जो सुख भोगता है सो सुख भी कुछ वस्तु नहीं भ्रममात्र है तैसे ही यह सुख भी भ्रममात्र है। हे मुनीश्वर! संकल्प विकल्प ने जीव को दीन किया है। जब संकल्प विकल्प को त्याग करता है तब चित्त अचित्त हो जाता है और ऊँचे पद में विराजमान होता है। जिस पुरुष ने विवेकरूपी वायु से संकल्परूपी मेघ को दूर किया है वह परम निर्मलता को प्राप्त होता है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही संकल्प

विकल्परूपी मल से रहित जीव उज्ज्वलभाव को प्राप्त होता है। संकल्प के त्यागे से जो शेष रहता है सो सत्तामात्र परमानन्द तेरा स्वरूप है। हे मुनीश्वर! आत्मा सर्वशक्तिरूप है; जैसी भावना होती है तैसा ही उसे अपनी भावना से देखता है इससे सब संकल्पमात्र है; भ्रम से उदय हुआ है और संकल्प के लीन हुए सब लीन हो जाता है। हे मुनीश्वर! संकल्परूपी लकड़ी और तृष्णारूपी घृत से जन्मरूपी अग्नि को यह जीव बढ़ाता है और फिर अन्त कदाचित् नहीं होता। जब असंकल्परूपी वायु और जल से इसका अभाव करे तब शान्त हो जाता है। जैसे दीपक निर्वाण हो जाता है तैसे ही जन्मरूपी अग्नि का अभाव हो जाता है और संकल्परूपी वायु से तृण की नाईं भ्रमता है। हे मुनीश्वर! तृष्णारूपी कंज की बेलि को जीव संकल्परूपी जल से सींचता है; जब असंकल्परूपी शोषता और विचाररूपी खड्ग से काटे तब उसका अभाव होता है। जो अभावमात्र है सो आभास के क्षय हुए अभाव हो जाता है। जैसे गन्धर्वनगर होता है तैसे ही यह जगत् असम्यक्ज्ञान से भासता है और सम्यक्ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे कोई राजा स्वप्न में अपने को रङ्क देखे और पूर्व का स्वरूप विस्मरण करके दीनता को प्राप्त हो पर जब पूर्व का स्वरूप स्मरण आवे तब आपको राजा जाने और दुःख मिट जावे; तैसे ही जीव को जब अपने पूर्व का वास्तव स्वरूप विस्मरण हो जाता है तब आपको परिच्छिन्न दीन और दुःखी जानता है पर जब स्वरूप का ज्ञान होता है तब सब दुःख का अभाव हो जाता है और जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही निर्मल हो जाता है। जैसे वर्षाकाल के मेघ गये से आकाश निर्मल होता है तैसे ही अज्ञानरूपी मल से रहित जीव निर्मल होकर शुद्धपद को प्राप्त होता है। जो ऐसी युक्ति से भावना करता है कि मैं एक आत्मा और द्वैत से रहित हूँ तो वही होता है और द्वैत का अभाव हो जाता है और उत्तमपद ब्रह्मदेव पूज्य, पूजक और पूजा; किञ्चित् निष्किंचन की नाईं चित्त एकरूप हो जाता है।

इति श्रीयो० निर्वाण० ईश्वरो० दैवप्रतिपादनन्नाम द्वात्रिंशत्तमस्सर्गः ३२॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! वह देव निरन्तर स्थित है; द्वैत और एक पद से रहित है और द्वैत और एक संयुक्त भी वही है। संकल्प से मिलकर चेतनरूप संसार को प्राप्त हुआ है और जो संकल्प मल से रहित है वह संसार से रहित है। जब ऐसे जानता है कि 'मैं हूँ' इसी संकल्प से बन्धवान् होता है और जब इसके भाव से मुक्त होता है तब सुख दुःख का अभाव हो जाता है और शुद्ध निरञ्जन एकसत्ता सर्वात्मा आकाशवत् होता है इसी का नाम मुक्ति है। आकाशवत् व्यापक ब्रह्म होता है। वशिष्ठजी बोले, हे प्रभो! जब मन में मन क्षीण होता है और इन्द्रियाँ मन में लीन होती हैं वह द्वितीय और तृतीयपद किसकी नाईं शेष रहता है? जो महासत्ता आत्मसत्ता सबको लीन करती है सो किसकी नाईं है? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! जब मन से मन को जिसके अंग इन्द्रियाँ हैं विचार करके छेदता है अथवा उपासना करके आत्मबोध प्राप्त होता है तब द्वैत एक की कल्पना नष्ट हो जाती है और जगज्जाल की सत्यता नष्ट हो जाती है उसके पीछे जो शेष रहता है सो आत्मतत्त्व प्रकाशता है। जैसे भूने बीज से अंकुर नहीं उपजता तैसे ही जब मन उपशम होता है तब उसमें जगत् सत्ता का अभाव हो जाता है और चैतन्यसत्ता चित्तसत्ता को भक्षण कर लेती है। जब मनरूपी मेघ की सत्ता नष्ट होती है तब शरत्काल के आकाशवत् निर्मल आत्मसत्ता भासती है। जब चित्त की चपलता मिट जाती है तब परम निर्मल पावन चिन्मात्रतत्त्व प्राप्त होता है; एक द्वैत–और भाव-अभावरूपी संसार-कल्पना मिट जाती है और सम सत्तारूप तत्त्व जो सर्वव्यापक और संसारसमुद्र से पार करनेवाला प्राप्त होता है तब सुषुप्त की नाईं निर्भय बोध हो जाता है और शान्तिरूप आत्मा को पाकर शान्तरूप हो जाता है। हे मुनीश्वर! मन की क्षीणता का यह प्रथमपद तुमसे कहा है अब द्वितीयपद सुनो। जब चित्तशक्ति मन के मनन से मुक्त होती है तब चन्द्रमा के प्रकाशवत् शीतल हो जाता है; आकाशवत् विस्तृतरूप अपना आप भासता है और घन सुषुप्तरूप हो जाता है। जैसे पत्थर की शिला पोल से रहित होती है तैसे ही वह दृश्य से रहित घन सुषुप्त उसका रूप होता है और नमक के सदृश रसमय ब्रह्म हो जाता है जैसे आकाश में शब्द लीन हो जाता है तैसे ही वह चित्त आत्मा में लीन हो जाता है और जैसे वायु चलने से रहित अचल होता है तैसे ही चित्त अचल हो जाता है। जैसे गन्ध पुष्प में स्थित होती है तैसे ही चित्तवृत्ति आत्मतत्त्व में विश्राम को पाती है। वह आत्मसत्ता न जड़ है, न चेतन है; सर्व कल्पना से रहित अचैत्य चिन्मात्र बीजरूप सब सत्ताओं को धारण करनेवाली और देश काल के परिच्छेद से रहित है। जिसको वह प्राप्त होती है उसको तुरीयापद भी कहते हैं। वह सर्वदुःख कलङ्क से रहित पद है। उस सत्ता को पाकर साक्षी की नाईं स्थित होता है और सर्वत्र, सर्वदा सम स्थित होता है। सर्वप्रकाश वही है और शान्तिरूप है। उस आत्मसत्ता का जिसको आत्मतत्त्व से अनुभव होता है उसको द्वितीयपद प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर! यह द्वितीयपद भी तुझसे कहा अब तृतीयपद सुन। जब आत्मतत्त्व में वृत्ति का अत्यन्त परिणाम होता है तब ब्रह्म, आत्मा आदिक नामों की भी निवृत्ति हो जाती है; भाव अभाव की कल्पना कोई नहीं फुरती और स्थान की नाईं अचल वृत्ति होकर परमशान्त और निष्कलङ्क सबसे उल्लंघित तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है। जो सबका अन्त और सबका आधाररूप एक, अद्वैत, नित्य, चिन्मात्रतत्त्व है और तुरीया से भी आगे है जिसमें वाणी की गति नहीं। हे मुनीश्वर! सर्वकल्पना से रहित अतीतपद जो मैंने तुमसे कहा है उसमें स्थित हो। वही सनातन देव है और विश्व भी वही रूप है। वही तत्त्व संवेदन के वश से ऐसा रूप होकर भासता है पर वास्तव में न कुछ प्रवृत्त है और न कुछ निवृत्त है; आकाशरूप समसत्ता अद्वैततत्त्व अपने आप में स्थित और आकाशवत् निर्मल है और उसमें द्वैतभ्रम का अभाव है। एक चिद्घनसत्ता पाषाणवत् अपने आप में स्थित है उसमें और जगत् में रञ्चक भी भेद नहीं। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं होता तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। सम सत्ता शिव शान्तिरूप और सर्ववाणी के विलास से अतीत है इसकी चतुर्मात्रा है और तुरीया परमशान्त है। इतना कह बाल्मीकिजी बोले, हे भारद्वाज!

इस प्रकार जब ईश्वर ने कहा और परम शान्तिरूप आत्मतत्त्व का प्रसङ्ग वशिष्ठजी ने सुना तब दोनों की वृत्ति आत्मतत्त्व में स्थित हो गई और तूष्णीं हो गये मानों चित्र लिखे हैं—और एक मुहूर्त पर्यन्त चित्त की वृत्ति ऐसे ही रही। फिर ईश्वर जागे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने परमेश्वरोपदेशो
नाम त्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३३ ॥

वाल्मीकिजी बोले कि एक मुहूर्त्त उपरान्त सदाशिवजी ने तीनों नेत्र खोले तो जैसे पृथ्वीरूपी डब्बे से सूर्य निकले तैसे ही उनके नेत्र निकले और जैसे द्वादश सूर्य का प्रकाश इकट्ठा हो तैसे ही उनका प्रकाश हुआ। उन्होंने देखा कि वशिष्ठजी के नेत्र मुँदे हुए हैं, तब कहा कि हे मुनीश्वर! जागो अब नेत्र क्यों मूँदे हो? जो कुछ देखना था सो तो तुमने देखा अब समाधि लगाने का श्रम किस निमित्त करते हो? तुम सरीखे तत्त्ववेत्ताओं को किसी में हेयोपादेय नहीं होता। तुम जैसे बुद्धिमान् हो तैसे ही आत्मदर्शी भी हो। जो कुछ पाने योग्य था सो तुमने पाया है और जानने योग्य जाना है। बालकों के बोध के निमित्त जो तुमने मुझसे पूछा था सो मैंने कहा है अब तुमको तूष्णीं रहने से क्या प्रयोजन है? हे रामजी! इस प्रकार कहकर सदाशिव ने मेरे भीतर प्रवेश करके चित्त की वृत्ति से जगाया और जब मैं जागा तब फिर ईश्वर ने कहा, हे वशिष्ठजी! इस शरीर की क्रिया का कारण प्राणस्पन्द है। प्राणों से ही शरीर की चेष्टा होती है और उसमें आत्मा उदासीन की नाईं स्थित है वह न कुछ करता है, न भोगता है। जब जीव को अपने स्वरूप का प्रमाद होता है तब देह में अभिमान होता है और क्रिया करता और भोगता आपको मानता है इससे दुःख पाता है और इस लोक परलोक में भटकता है। जब आत्मविचार उपजता है तब आत्मा का अभ्यास होता है; देह अभिमान मिट जाता है और दुःख से मुक्त होता है। शरीर के नष्ट हुए आत्मा का नाश नहीं होता। शरीर चेतन होकर प्राणों से फुरता है; जब प्राण निकल जाते हैं तब शरीर मूक जड़रूप हो जाता है। चलाने और पवित्र करनेवाली जो संवित्शक्ति है वह आकाश से भी सूक्ष्म है। वह शरीर के नाश हुए नाश नहीं होती और जो नाश नहीं होती तो नाश का भ्रम कैसे हो? हे मुनीश्वर! आत्मतत्त्व ब्रह्मसत्ता सर्वत्र है परन्तु वहीं भासती है जहाँ सात्त्विकगुण का अंश मन होता है और प्राण होते हैं। मन और प्राणों सहित देह में भासती है। जैसे निर्मल दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब भासता है और आदर्श मलीन होता है तब मुख विद्यमान भी होता है परन्तु नहीं भासता है; तैसे ही मन और प्राण जब देह में होते हैं तब आत्मा भासता है और जब मन और प्राण निकल जाते हैं तब मलीन शरीर में आत्मसत्ता नहीं भासती। हे मुनीश्वर! आत्मसत्ता सब ठौर पूर्ण है परन्तु भासती नहीं जब उसका अभ्यास हो तब सर्वात्मरूप होकर भासती है। सर्वकलना से रहित शुद्ध शिवरूप सर्व की सत्तारूप वही है। विष्णु, शिव, ब्रह्मा, देवता, अग्नि, वायु, चन्द्रमा, सूर्यादिक सब जगत् का आदिवपु वही है। वह एक देव शुद्धचैतन्यरूप सब देवों का देव है, सब उसके नौकर हैं और सब उसके चित्त उल्लास हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जो बड़े हैं सो उसही तत्त्व से प्रकट हुए हैं। जैसे अग्नि से चिनगारे उपजते हैं और समुद्र से तरङ्ग प्रकट होते हैं तैसे ही हम उससे प्रकट हुए हैं। यह अविद्या भी उसही से प्रकट हो अनेक शाखाओं को प्राप्त हुई है। देव, अदेव, वेद और वेद के अर्थ और जीव सब उस अविद्या की जटा हैं और अनन्तभाव को प्राप्त हुई हैं जो फिर-फिर उपजती और मिटती है। देश, काल, पृथिव्यादिक भी सब उसी से उत्पन्न हैं और सर्वसत्तारूप वही आत्मदेव है। हम जो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र हैं सो हमारा परमपिता आत्मा ही है; सर्वका मूल बीज वही देव है और सब उससे उपजे हैं। जैसे वृक्ष से पत्र उपजते हैं तैसे ही सब उसी महादेव से उपजते हैं; सबका अनुभवकर्ता वही है और सबको सत्ता देनेवाला और सब प्रकाशों का प्रकाशक वही है। वह तत्त्ववेत्ताओं से पूजने योग्य है, सबमें प्रत्यक्ष है और सर्वदा सर्व प्रकार सबमें उदित आकार चैतन्य अनुभवरूप है। उसके आवाहन में मन्त्र, आसन आदिक सामग्री न चाहिये, क्योंकि वह सर्वदा अनुभवरूप से प्रत्यक्ष है और सर्व प्रकार सर्व ठौर में विद्यमान है। जहाँ-जहाँ उसके पाने

का यत्न करिये वहाँ-वहाँ आगे ही विद्यमान है। वह शिवतत्त्व आदि ही से सिद्ध है और मन वाणी में तीनोंरूप वही हो भासता है। सबकी आदि और पूज्य और नमस्कार करने योग्य है और जानने योग्य भी वही है। हे मुनीश्वर! ऐसा जो आत्मतत्त्व जरा, मृत्यु, शोक और भय का काटनेवाला है उसको जीव आपसे आपही देखता है और उसके साक्षात्कार हुए चित्त भूने बीज की नाईं हो जाता है फिर नहीं उगता। वह शिवतत्त्व जीव का भी बीज है और सर्वपद का पद वही है। अनुभवरूप आत्मा परमपद है; भिन्नदृष्टि का त्याग करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देवनिर्णयो
नाम चतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३४ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! वह चिद्‌रूप तत्त्व सबके भीतर स्थित है। अनुभवमय शुद्ध देव ईश्वर और सब बीज का बीज वही है। सर्व सारों का सार; कर्मों का कर्म और धर्मों का धर्म चैतन्यधातु निर्मलरूप सब कारणों का कारण और आप अपना कारण है। वह सर्वभाव अभाव का प्रकाशक और सर्व चेतनों की चैतन्यसत्ता परम प्रकाशरूप है। भौतिक प्रकाश से रहित और अलौकिक प्रकाश सब जीवों का जीव वही है। चैतन्य घन निर्मल आत्मा अस्ति तन्मयरूप है और सत् असत् से रहित महासत्‌रूप है। सर्वसत्ता की सत्ता वही है। वही चिन्मात्रतत्त्व नानारूप हो रहा है। जैसे एक ही आत्मसत्ता स्वप्न में आकाश, कन्ध, पहाड़ आदिक होकर भासती है तैसे ही नाना रङ्ग रञ्जना होकर वही भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी अनेक कोटि किरणों से अनेक तरङ्ग संयुक्त हो भासती है तैसे ही यह जगत् उसमें भासता है। हे मुनीश्वर! उसी आत्मतत्त्व का यह आभास प्रकाश है; उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे अग्नि से उष्णता भिन्न नहीं—वही रूप है; तैसे ही आत्मा से जगत् कुछ भिन्न नहीं—वही स्वरूप है। सुमेरु भी उसके आगे परमाणुरूप है; संपूर्ण काल उसका एक निमेषरूप है; कल्प भी निमेष और उन्मेषवत् उदय और लय होते हैं और सप्त समुद्र संयुक्त पृथ्वी उसके रोम के अग्रवत् तुच्छ है। ऐसा वह देव है। वह संसार रचना को नहीं करता और कर्तृत्वभाव को प्राप्त होता है। बड़े कर्मों को करता भासता है तौ भी कुछ नहीं करता; द्रव्यरूप दृष्टि आता है तौ भी द्रव्य से रहित है निर्द्रव्य है तौ भी द्रव्यवान् है; देहवान् नहीं तौ भी देहवान् है और बड़ा देहवान् है तौ भी अदेह है। सर्वका सत्तारूप वही देव है। ठंढी, भोलि, घले, मतचुल, पिंढली, माँगले, बेल, विलिमिला, लोबलाग, युगुल, सभस इत्यादि वाक्य निरर्थक हैं; इनका अर्थ कुछ नहीं तौ भी उस देव से सिद्ध होते हैं। ऐसा कुछ नहीं जो उस देव में असत् नहीं और ऐसा भी कुछ नहीं जो उस देव से सत् नहीं। हे मुनीश्वर! जिससे यह सर्व है; जो यह सर्व है और सर्व में नित्य है उस सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महेश्वरवर्णनन्नाम
पञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३५ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! शब्द की सत्तारूप वही है; सर्वसत्तारूप रत्नों का डब्बा वही है और वही तत्त्व चमत्कार करके फुरता है। जैसे जल ही तरङ्ग, फेन, बुद्‌बुदे आदिक आकार हो करके फुरता है तैसे ही वह देव नाना प्रकार के आकार होकर फुरता है। वही फल और गुच्छेरूप होकर स्थित होता है और वही उनमें सुगन्धित होता है। घ्राण इन्द्रिय में स्थित होकर आपही उसे सूँघता है; आपही त्वचा इन्द्रिय होता है; आपही पवन होकर चलता है; आपही ग्रहण करता है; आपही जलरूप होता है; आपही वायु होकर सुखाता है; आपही श्रवणेन्द्रिय और आपही शब्द होकर ग्रहण करता है। इसी प्रकार जिह्वा, त्वचा, नासिका, कर्ण और नेत्र होकर आपही स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और शब्द को ग्रहण करता है। उसी ने सब पदार्थ रचे हैं और उसी ने नीति रची है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शिव और पञ्चम ईश्वर सदाशिव पर्यन्त वही देव इस प्रकार हुआ है और आपही साक्षीवत् स्थित होता है। जैसे दीपक के प्रकाश से मन्दिर की सर्वक्रिया होती हैं तैसे ही संसाररूपी मण्डप की सब क्रिया उसी साक्षी से होती हैं उसमें उसकी शक्ति नृत्य करती है और आप साक्षीरूप होकर देखता है। वशिष्ठजी बोले कि फिर मैंने पूछा, हे जगत्नाथ!

शिव की शक्ति क्या है, कैसे स्थित है; देव को साक्षात् कैसे है और उसकी नृत्य कैसे होती है ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! आत्मतत्त्व स्वभाव से अचल और शान्तरूप है। शिव परमात्मा निर्मल चिन्मात्ररूप और निराकार है। उसकी शक्ति इच्छा और काल, नीति, मोह, ज्ञान, क्रियाकर्त्रादि शक्ति हैं। उन शक्तियों का अन्त नहीं। वह अनन्तरूप चिन्मात्र देव है। यह जो मैंने तुझसे शक्ति कही है सो भी शिवरूप है भिन्न नहीं शिव और शक्ति एकरूप है और बहुत भासती है। जैसे पदार्थों में अर्थ शक्ति और आत्मा में साक्षी शक्ति कल्पित है तैसे ही कालशक्ति नृत्यक की नाईं ब्रह्माण्डरूपी नृत्यमण्डल में नृत्य करती है और क्रियाशक्ति भी कर्तृत्व से नृत्य करती है सो शक्ति कहाती है। जैसे आदिनीति हुई है ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त तैसे ही स्थित है—अन्यथा नहीं होती। हे मुनीश्वर ! यह सम्पूर्ण जगत् नृत्य करता है। संसाररूपी नटिनी के प्रेरनेवाली नीति है और परमेश्वर परमात्मा साक्षीरूप है। वह सदा उदित प्रकाशरूप है और एकरस स्थित है नीति आदिक शक्ति भी उससे भिन्न नहीं वे वही रूप हैं—इससे सर्वदेव ही जानो द्वैत नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने नीतिनृत्यवर्णनन्नाम षट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३६ ॥

ईश्वर बोले हे मुनीश्वर ! वह एक देव परमात्मा सन्तों से पूजने योग्य है। वह चिन्मात्र अनुभव आत्मा घटपटादिक सर्व में स्थित है और ब्रह्मा इन्द्रादिक देवता और जीव सबके भीतर बाहर भी वही स्थित है। उस सर्वात्मा शान्तरूप देव का पूजन दो प्रकार से होता है। उस इष्टदेव का पूजन ध्यान है और ध्यान ही पूजन है। जहाँ-जहाँ मन जावे वहाँ-वहाँ लक्ष्यरूप आत्मा का ध्यान करो। सबका प्रकाशक आत्मा ही है; चिद्रूप अनुभव से भीतर स्थित है और अहंता से सिद्ध है। वही सबका साररूप है और सबका आश्रयरूप है। उसका जो विराट्रूप है सो सुनो। वह अनन्त है; परमाकाश उसकी ग्रीवा है; अनेक पाताल उसके चरण हैं; अनेक दिशायें उसकी भुजा हैं; सर्व प्रकाश उसके शस्त्र हैं; हृदयकोश कोण में स्थित है और ब्रह्माण्ड समूहों को परंपरा से

प्रकाशता है। परमाकाश अपाररूप है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि देवता और जीव उसकी रोमावली हैं, त्रिलोकी में जो देहरूपी यन्त्र हैं उनमें इच्छादिक शक्तिरूप सूत्र व्यापा है जिससे सब चेष्टा करते हैं। वह देव एक ही है और अनन्त है। सत्तामात्र उसका स्वरूप है, सब जगज्जाल उसका विवृत है, काल उसका द्वारपाल है और पर्वतादिक ब्रह्माण्ड जगत् उसकी देह के किसी कोण में स्थित है। उस देव की चिन्तना करो। उसके सहस्र चरण हैं और सहस्र ही नेत्र, शीश और भुजा और भुजाओं के विभूषण हैं। सर्वत्र उसकी नासिका इन्द्रिय है; सर्वत्र रसना इन्द्रिय है, सर्वत्र त्वचा इन्द्रिय है और सर्व ओर मन है पर सर्व मननकला से अतीत है। सर्व ओर वही शिवरूप सर्वदा सर्वका कर्ता है; सर्व संकल्पों के अर्थ का फलदायक है और सर्वभूत के भीतर स्थित और सब साधनों को सिद्ध करता है। ऐसा देव सबमें सब प्रकार और सर्वदा काल स्थित है। उसी देव की चिन्तना करो और उसी देव के ध्यान में सावधान रहो। सदा उस ही के आकार रहना उस देव का बाहरी पूजन है। अब भीतर का पूजन सुनो। हे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ ! संवितमात्र जो देव है सो सदा अनुभव से प्रकाशता है। उसका पूजन दीपक करके नहीं होता और न धूप, पुष्प, दान, लेप और केशर से होता है। अर्घ्य, पाद्यादिक जो पूजा की सामग्री हैं उनसे भी उस देव का पूजन नहीं होता। उसका पूजन तो क्लेश विना नित्य ही होता है। हे मुनीश्वर ! एक अमृतरूपी जो बोध है उससे उस देव का सजातीय प्रत्यय ध्यान करना उसका परम पूजन है। हे मुनीश्वर ! शुद्ध चिन्मात्र देव अनुभवरूप है उसका सर्वदाकाल और सर्व प्रकार पूजन करो; अर्थात् देखते, स्पर्श करते, सूँघते, सुनते, बोलते, देते, लेते, चलते, बैठते और इससे लेकर जो कुछ क्रिया हैं सब प्रत्येक चैतन्य साक्षी में अर्पण करो और उसी के परायण हो। इस प्रकार आत्मदेव का पूजन करो। हे मुनीश्वर! आत्मदेव का ध्यान करना ही धूप दीप है और सर्व सामग्री पूजन की यही है। ध्यान ही उस देव को प्रसन्न करता है और उससे परमानन्द प्राप्त होता है और किसी प्रकार से उस देव की प्राप्ति नहीं होती मुनीश्वर मूढ़ भी इस प्रकार

ध्यान से उस ईश्वर की पूजा करे तो त्रयोदश निमेष में जगत् उदान के फल को पाता है और सत्रह निमेष के ध्यान से प्रभु को पूजे तो अश्वमेधयज्ञ के फल को पावे और केवल ध्यान से आत्मा का एक घड़ी पर्यन्त पूजन करे तो राजसूययज्ञ किये के फल को पावे। जो दो प्रहर पर्यन्त ध्यान करे तो लक्ष राजसूययज्ञ के फल को पावे और जो दिन पर्यन्त ध्यान करे तो असंख्य फल पावे। हे मुनीश्वर! यह परम योग है; यही परम क्रिया है और यही परम प्रयोजन है। हे मुनीश्वर! दोनों पूजा मैंने तुमसे कही। जिसको ये परमपूजा प्राप्त होती हैं वह परमपद को प्राप्त होता है; उसको सब देवता नमस्कार करते हैं और सब करके वह पुरुष पूजने योग्य होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने अन्तर्बाह्य
पूजावर्णनन्नाम सप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३७ ॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! अब तुम अभ्यन्तर का पूजन सुनो जो सर्वत्र पवित्र करनेवाले को भी पवित्र करता है और सब तम और अज्ञान का नाश करता है। वह आत्मपूजन मैं तुमसे कहता हूँ जो सर्व प्रकार से सर्वदा काल में उस देव का पूजन होता है और व्यवधान कभी नहीं पड़ता; चलते, बैठते, जागते, सोते सर्व व्यवहार में नित्य ध्यान में रहता है। हे मुनीश्वर! इस संसार में संवित्‌रूप चिन्मात्र नित्य स्थित है उसका पूजन करो। जो सब प्रत्ययों का कर्ता और सदा अनुभव से प्रकाशता है उसका आपसे आप पूजन करो। उठते, चलते, खाते, पीते जो कुछ बाहर के अर्थ त्याग, ग्रहण और भोग हैं सबको करते भी उस देव की पूजा करो। हे मुनीश्वर! शरीर में—शिवलिङ्ग चिह्न से रहित बोधरूप देव है, यथाप्राप्त में सम रहना उस देव का पूजन है। यथाप्राप्ति के समभाव में स्नान करके शुद्ध होकर बोधरूप लिङ्ग का पूजन करो। जो कुछ प्राप्त हो उसमें रागद्वेष से रहित होना और सर्वदा साक्षीरूप अनुभव में स्थित रहना यही उसका पूजन है। हे मुनीश्वर! सूर्य के भुवन आकाश में यही सूर्य होकर प्रकाशता है और चन्द्रमा के भुवन में चन्द्रमा होकर स्थित होता है। इनसे आदि लेकर जो पदार्थ के समूह हैं जैसी-जैसी भावना से उनमें फुरना हुआ है वही रूप होकर वह देव स्थित है। हे मुनीश्वर! जो नित्य, शुद्ध, बोधरूप और अद्वैत है उसको देखना और किसी में वृत्ति न लगाना यही उस देव का पूजन है। प्राण अपानरूपी रथ पर आरूढ़ हुआ जो हृदय में स्थित है उसका ज्ञान ही पूजन है। वही सब कर्म कर्ता है; सब भोगों का भोक्ता और सब शब्दों का स्मरण करनेवाला और भागवतरूप है और सबकी भावना करनेवाला परम प्रकाशरूप है। ऐसा जो संवित् तत्त्व है उसको सर्वज्ञ जानकर चिन्तना करना वही उसका पूजन है। वह देव सब देहों में स्थित है तौ भी आकाशवत् निर्मल है। वह जाता भी है और नहीं जाता। प्राणरूपी आलय में प्रकाशता है, हृदय, कण्ठ, तालु, जिह्वा, नासिका और पीठ में व्यापक है शब्द आदिक विषयों को करता और मन को प्रेरता है। जैसे तिल के आश्रय तेल है तैसे ही आत्मा सबका आश्रय है। वह कलनारूपी कलङ्क से रहित है और कलनागण से संयुक्त भी है। सम्पूर्ण देहों में वही एकदेव व्याप रहा है परन्तु प्रत्यक्ष हृदय में जो होता है सो निर्मल चिन्मात्र प्रकाशरूप है और कलनारूपी कलङ्क से रहित सदा प्रत्यक्ष है और अपने आपही से अनुभव होता है। सर्वदा सर्व पदार्थों का प्रकाशक प्रत्यक् चैतन्य आत्मतत्त्व जो अपने आपमें स्थित है सो अपने फुरने से शीघ्र ही द्वैत की नाईं हो जाता है। हे मुनीश्वर! जो कुछ साकाररूप जगत् दृष्ट आता है सो सब विराट् आत्मा है। इससे आपको विराट् की भावना करो कि हाथ, पाँव, नख, केश यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा देह है; मैं ही प्रकाशरूप एक देव हूँ, नीति इच्छादिक मेरी शक्ति हैं और सब मेरी उपासना करते हैं। जैसे स्त्री श्रेष्ठ भर्तार की सेवा करती है तैसे ही शक्ति मेरी उपासना करती है; मन मेरा द्वारपाल है जो त्रिलोकी का निवेदन करनेवाला है; चिन्तन मेरी आने-जानेवाली प्रतिहारी है, नाना प्रकार के ज्ञान मेरे अङ्ग के भूषण हैं; कर्मइन्द्रियाँ मेरे द्वार हैं और ज्ञानइन्द्रियाँ मेरे गण हैं। ऐसा मैं एक अनन्त आत्मा अखण्डरूप भेद से रहित अपने आपमें स्थित सबमें परिपूर्ण हूँ। हे मुनीश्वर! इसी भावना से जो एक देव की पूजा करता है वह परमात्मदेव को प्राप्त होता है। दीनता आदिक उसके क्लेश सब नष्ट हो जाते हैं,

अनिष्ट की प्राप्ति में उसे शोक नहीं उपजता और इष्ट की प्राप्ति में हर्ष नहीं उपजता; न तोषवान् होता है और न कोपवान् होता है; विषय की प्राप्ति से न तृप्त मानता है और न इनके वियोग से खेद मानता है; और न अप्राप्त की वाञ्छा करता है, न प्राप्त के त्याग की इच्छा करता है; सर्वपदार्थ में समभाव रहता है। ऐसा पुरुष उस देव का परम उपासक है। ग्रहण त्याग से रहित सबमें तुल्य रहना और भेदभाव को प्राप्त न होना उस देव का उत्तम अर्चन है। हे मुनीश्वर! चैतन्यतत्त्व देव मैंने तुमसे कहा है जो देहों में स्थित है। जो वस्तु प्राप्त हो उसको अर्चन करके उसी के आगे रखना; सबका साक्षी आत्मा को देखना और किसी से खेदवान् न होना और उसमें अहंप्रतीति रखकर भिन्न दृश्य की भावना न करना; यही उस देव की अर्चना है। हे मुनीश्वर! जो कुछ प्राप्त हो उसमें यत्न विना तुल्य रहना जो भक्ष्य, लेह्य, चोष्य भोजन प्राप्त हो उसे देव के आगे रखके ग्रहण त्याग की बुद्धि उसमें न करना, यह उस देव का पूजन है। सब पदार्थों की प्राप्ति में देव की पूजा करने से अनिष्ट भी इष्ट हो जाता है। मृत्यु आवे तो देव की पूजा; जन्म हो तब देव की पूजा, दरिद्र आवे तब देव की पूजा, राग प्राप्त हो तो देव की पूजा और नाना प्रकार की विचित्र चेष्टा करनी सो सब देव के आगे पुष्प हैं; रागद्वेष में सम रहना ही उस देव की पूजा है। सन्तों के हृदय की रहनेवाली जो मैत्री है कि सम्पूर्ण विश्व का मित्र होना उससे भी उस देव का पूजन है और भोग, त्याग, राग से जो कुछ प्राप्त हो उससे उस देव का पूजन करो। जो नष्ट हुआ सो हुआ और जो प्राप्त हुआ सो हुआ दोनों में निर्विकार रहना इससे उस देव का अर्चन करो। ये भोग आपातरमणीय हैं, होते भी हैं और नष्ट भी हो जाते हैं इनकी इच्छा न करना; सदा सन्तुष्ट रहना जैसे आनि प्राप्त हो उसमें राग द्वेष से रहित होना सो उस देव का अर्चन है। हे मुनीश्वर! जो कुछ प्रारब्ध से प्राप्त हो उससे आत्मा का अर्चन करो और इच्छा अनिच्छा को त्यागकर जो प्राप्त हो उससे उस देव का अर्चन करो। हे मुनीश्वर! ज्ञानवान् न किसी की इच्छा करता है और न त्याग करता है जो अनिच्छित प्राप्त हो उसको भोगता है। जैसे समुद्र में नदी प्राप्त

होती हैं और वह उससे न कुछ हर्ष मानता है न शोक करता है तैसे ही ज्ञानवान् इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग द्वेष से रहित यथाप्राप्त को भोगता है सो ही उस देव का पूजन है, देश, काल, क्रिया, शुभ अथवा अशुभ प्राप्त हो उसमें संसरण विकार को प्राप्त न होना उस देव की अर्चना है यदि द्रव्य अनर्थरूप हो तौ भी समरस से मिला हुआ अमृत हो जाता है। जैसे षट्रसस्वाद शक्कर से मिले हुए मधुर हो जाते हैं तैसे ही अनर्थरूपी रस समरस से मिले हुए अमृत हो जाते हैं, खेद नहीं करते और अनन्तरूप हो जाते हैं। चन्द्रमा की नाईं सब भावना अमृतमय हो जाती है। जैसे आकाश निर्लेप है तैसे ही समताभाव करके चित्त राग द्वेष से रहित निर्मल हो जाता है। द्रष्टा को दृश्य से मिला न देखना साक्षीरूप रहना ही देव की अर्चना है। जैसे पत्थर की शिला निस्पन्द होती है तैसे ही विकल्प से रहित चित्त अचल होता है; सो ही देव की अर्चना है। हे मुनीश्वर! भीतर से आकाशवत् असंग रहना और बाहर से प्रकृतिआचार में रहना, किसी का संग हृदय में स्पर्श न करना और सदा समभाव विज्ञान से पूर्ण रहना ही उस देव की उपासना है। जिसके हृदयरूपी आकाश से अज्ञानरूपी मेघ नष्ट हो गया है उसको स्वप्न में भी विकार नहीं प्राप्त होता और जिसके हृदयरूपी आकाश से अहंतारूपी कुहिरा शान्त हो गया है वह शरत्काल के आकाशवत् उज्ज्वल होता है। हे मुनीश्वर! जिसको समभाव प्राप्त हुआ है और उससे उसने देव को पाया है वह पुरुष ऐसा हो जाता है जैसा नूतन बालक राग द्वेष से रहित होता है। जीवरूपी चेतना को उल्लंघ कर परम चैतन्यतत्त्व को प्राप्त होता है और सकल इच्छा और सुख दुःख भ्रम से मुक्तशरीर का नायक प्रतिष्ठित होता है सोही देव अर्चना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देवार्चनाविधान-
न्नामाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः॥ ३८॥

ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! जैसी कामना हो और जो कुछ आरम्भ करो अथवा न करो सो अपने आपसे चिन्मात्र संवित्तत्त्व की अर्चना करो इससे वह देव प्रसन्न होता है और जब देव प्रसन्न हुआ तब प्रकट

होता है। जब उसको पाया और स्थित हुआ तब राग द्वेषादिक शब्दों का अर्थ नहीं पाया जाता। जैसे अग्नि में बर्फ़ का कणका नहीं पाया जाता तैसे ही फिर उसमें रागद्वेषादिक नहीं पाये जाते इससे उस देव की अर्चना करनी योग्य है। यदि राज्य अथवा दरिद्र व सुख दुःख प्राप्त हो उसमें सम रहना ही देव अर्चना करनी है। हे मुनीश्वर! शुद्धचिन्मात्र से प्रमादी न होना इसी का नाम अर्चना है। जो कुछ घटपट आदिक जगत् भासता है सो सब आत्मरूप है उससे भिन्न कुछ नहीं। वह आत्मा शिव शान्तिरूप अनाभास है और एक ही प्रकाशरूप है। सम्पूर्ण जगत् प्रतीतमात्र है और आत्मा से भिन्न कुछ द्वैत वस्तु आभास नहीं। सर्वात्मा रूप अद्वैततत्त्व जब भासता है तब उसमें प्राप्त हुआ जानता है कि बड़ा आश्चर्य है; घटपटादिक सब वही रूप है और तो कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! यह सब सर्वात्मा अनन्त शिवतत्त्व है, जिसको ऐसे निश्चय प्राप्त हुआ है उसने देव की पूजा जानी है। घटपट आदिक जो पदार्थ हैं और पूज्य-पूजा-पूजकभाव सो सब ब्रह्मरूप हैं; निर्मलदेव आत्मा में कुछ भेद भाव नहीं है। हे मुनीश्वर! आत्मदेव सर्वशक्त और अनन्तरूप है जगत् में उससे भिन्न कुछ नहीं। निर्मल प्रकाश संवित् रूप आत्मा स्थित है; हमको तो ईश्वरदेव से भिन्न कुछ नहीं भासता और सर्वत्र, सर्व प्रकार वही सर्वात्मा सम्पूर्ण दृष्ट आता है। जिनको देश काल के परिच्छेद सहित ईश्वर भासता है वे हमारे उपदेश के पात्र नहीं; वे ज्ञानबन्ध नीच हैं! उनकी दृष्टि को त्यागकर मेरी दृष्टि का आश्रय ले तो स्वस्थ, वीतराग और निरामय हो और यथाप्रारब्ध जो कुछ सुख दुःख आन प्राप्त हो खेद से रहित होकर उस देव का अर्चन करे तब शान्ति प्राप्त हो। हे मुनीश्वर! उस देव की सब प्रकार सर्वात्मा करके भावना करो—यही उसका पूजन है। वृत्ति का सदा अनुभवरूप में स्थित रहना और यथाप्राप्त में खेद से रहित बिचरना यही उस देव की अर्चना है। जैसे स्फटिक के मन्दिर में प्रतिबिम्ब भासते हैं सो और कुछ नहीं निष्कलङ्क स्फटिक ही है, तैसे ही सब ओर से रहित और जन्मादिक दुःख से रहित निष्कलङ्क आत्मा है

उसकी प्राप्ति से तेरे में जन्मादिक कलङ्क दुःख कुछ न रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ईश्वरोपाख्याने देवपूजाविचारो
नामैकोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ३९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे देव! शिव किसको कहते हैं और ब्रह्म, आत्म, परमात्म, तत्सत्, निष्किञ्चन, शून्य, विज्ञान इत्यादिक किसको कहते हैं और ये भेदसंज्ञा किस निमित्त हुई हैं कृपा करके कहो? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! जब सबका अभाव होता है तब अनादि अनन्त अनाभास सत्तामात्र शेष रहता है जो इन्द्रियों का विषय नहीं उसको निष्किञ्चन कहते हैं। फिर मैंने पूछा, हे ईश्वर! जो इन्द्रियाँ, बुद्धि आदिक का विषय नहीं उसको क्योंकर पा सकते हैं? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! जो मुमुक्षु हैं और जिनको वेद के आश्रयसंयुक्त सात्त्विकी वृत्ति प्राप्त हुई है उनको सात्त्विकीरूप जो गुरुशास्त्रनाम्नी विद्या प्राप्त होती है उससे अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मतत्त्व प्रकाश हो आता है। जैसे साबुन से धोबी वस्त्र का मैल उतारता है तैसे ही गुरु और शास्त्र अविद्या को दूर करते हैं। जब कुछ काल में अविद्या नष्ट होती है तब अपना आप ही दिखता है। हे मुनीश्वर! जब गुरु और शास्त्रों का मिलकर विचार प्राप्त होता है, तब स्वरूप की प्राप्ति होती है; द्वैतभ्रम मिट जाता है और सर्व आत्मा ही प्रकाशता है और जब विचार द्वारा आत्मतत्त्व निश्चय हुआ कि सर्व आत्मा ही है उससे कुछ भिन्न नहीं तो अविद्या जाती रहती है। हे मुनीश्वर! आत्मा की प्राप्ति में गुरु और शास्त्र प्रत्यक्ष कारण नहीं क्योंकि जिनके क्षय हुए से वस्तु पाइये उनके विद्यमान हुए कैसे पाइये? देह इन्द्रियों सहित गुरु होता है और ब्रह्म सर्व इन्द्रियों से अतीत है; इनसे कैसे पाइये? अकारण है परन्तु कारण भी हैं, क्योंकि गुरु और शास्त्र के क्रम से ज्ञान की सिद्धता होती है और गुरु और शास्त्र विना बोध की सिद्धता नहीं होती। आत्मा निर्देश और अदृश्य है तो भी गुरु और शास्त्र से मिलता है और गुरु और शास्त्र से भी मिलता नहीं अपने आप ही से आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकार में पदार्थ हो और दीपक के प्रकाश से दीखे तो दीपक से नहीं पाया अपने आपसे पाया है

तैसे ही गुरु और शास्त्र भी हैं। यदि दीपक हो और नेत्र न हों तब कैसे पाइये और नेत्र हों और दीपक न हो तो भी नहीं पाया जाता जब दोनों हों तब पदार्थ पाया जाता है; तैसे ही गुरु और शास्त्र भी हों और अपना पुरुषार्थ और तीक्ष्णबुद्धि हो तब आत्मतत्त्व मिलता है अन्यथा नहीं पाया जाता। जब गुरु, शास्त्र और शिष्य की शुद्ध बुद्धि तीनों इकट्ठे मिलते हैं तब संसार के सुख दुःख दूर होते हैं और आत्मपद की प्राप्ति होती है। जब गुरु और शास्त्र आवरण को दूर कर देते हैं तब आपसे आप ही आत्मपद मिलता है। जैसे जब वायु बादल को दूर करती है तब नेत्रों से सूर्य दीखता है। अब नाम के भेद सुनो। जब बोध के वश से कर्म इन्द्रियाँ और ज्ञान इन्द्रियाँ क्षय हो जाती हैं उसके पीछे जो शेष रहता है उसका नाम संवित्तत्त्व आत्मसत्ता आदिक हैं। जहाँ ये सम्पूर्ण नहीं और इनकी वृत्ति भी नहीं उसके पीछे जो सत्ता शेष रहती है सो आकाश से भी सूक्ष्म और निर्मल अनन्त परमशून्यरूप है—जहाँ शून्य का भी अभाव है। हे मुनीश्वर! जो शान्तरूप मुमुक्षु मनन कलना से संयुक्त हैं उनको जीवन्मुक्ति पद के बोध के निमित्त शास्त्र मोक्ष उपाय, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, लोकपाल, पण्डित, पुराण, वेद, शास्त्र और सिद्धान्त रचे हैं और उनमें शास्त्रों ने चैतन्य ब्रह्म, शिव, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, सत्, चित्, आनन्द आदिक भिन्न भिन्न अनेक संज्ञा कही हैं पर ज्ञानी को कुछ भेद नहीं। हे मुनीश्वर! ऐसा जो देव है उसका ज्ञानवान् इस प्रकार अर्चन करते हैं और जिस पद के हम आदिक टहलुये हैं उस परमपद को वे प्राप्त होते हैं। फिर मैंने पूछा, हे भगवन्! यह सब जगत् अविद्यमान है और विद्यमान की नाईं स्थित है सो कैसे हुआ है। समस्त कहने को तुमहीं योग्य हो? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! जो ब्रह्म आदिक नाम से कहाता है वह केवल शुद्ध संवित्मात्र है और आकाश से भी सूक्ष्म है। उसके आगे आकाश भी ऐसा स्थूल है जैसा अणु के आगे सुमेरु स्थूल होता है। उसमें जब वेदनाशक्ति आभास होकर फुरती है तब उसका नाम चेतन होता है। फिर जब अहन्ताभाव को प्राप्त हुआ—जैसे स्वप्न में पुरुष आपको हाथी देखने लगे तैसे आपको अहं

मानने लगा, फिर देशकाल आकाश आदिक देखने लगा तब चेतन कला जीव अवस्था को प्राप्त हुई और वासना करनेवाली हुई; जब जीवभाव हुआ तब बुद्धि निश्चयात्मक होकर स्थित हुई और शब्द और क्रियाज्ञान संयुक्त हुई और जब इनसे मिलकर कल्पना हुई तब मन हुआ जो संकल्प का बीज है। तब अन्तवाहक शरीर में अहंरूप होकर ब्रह्मसत्ता स्थित हुई। इस प्रकार यह उत्पन्न हुई है। फिर वायुसत्ता स्पन्द हुई जिससे स्पर्श सत्ता त्वचा प्रकट हुई; फिर तेजसत्ता हुई जिससे प्रकाशसत्ता हुई और प्रकाश से नेत्रसत्ता प्रकट हुई; फिर जलसत्ता हुई जिससे स्वादरूप—रससत्ता हुई और उससे जिह्वा प्रकट हुई; फिर गन्धसत्ता से भूमि, भूमि से घ्राणसत्ता और उससे पिण्डसत्ता प्रकट हुई। फिर देशसत्ता, कालसत्ता और सर्वसत्ता हुई जिनको इकट्ठा करके अहंसत्ता फुरी। जैसे बीज पत्र, फूल, फलादिक के आश्रय होता है तैसे ही इस पुर्यष्टका को जानो। यही अन्तवाहक देह है इन सबका आश्रय ब्रह्मसत्ता है। वास्तव में कुछ उपजा नहीं केवल परमात्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे तरंगादि में जल स्थित है तैसे ही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। हे मुनीश्वर! संवित् में जो संवेदन पृथक्रूप होकर फुरे उसे निस्पन्द करके जब स्वरूप को जाने तब वह नष्ट हो जाती है। जैसे संकल्प का रचा नगर संकल्प के अभाव हुये अभाव हो जाता है; तैसे ही आत्मा के ज्ञान से संवेदन का अभाव हो जाता है। हे मुनीश्वर! संवेदन तबतक भासता है जबतक उसको जाना नहीं; जब जानता है तब संवेदन का अभाव हो जाता है और संवित् में लीन हो जाता है; भिन्नसत्ता इसकी कुछ नहीं रहती। हे मुनीश्वर! जो प्रथम अणु तन्मात्रा थी सो भावना के वश से स्थूल देह को प्राप्त हुई और स्थूल देह होकर भासने लगी; आगे जैसे जैसे देशकाल पदार्थ की भावना होती गई तैसे तैसे भासने लगी और जैसे गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर भासता है तैसे ही भावना के वश से ये पदार्थ भासने लगे हैं मैंने पूछा, हे भगवन्! गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर के समान इसको कैसे कहते हो? यह जगत् तो प्रत्यक्ष दीखता है? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर! संसार का दुःख

वासना के वश से दीखता है कि, अविद्यमान में स्वरूप के प्रमाद करके विद्यमान बुद्धि हुई है और जगत् के पदार्थों को सत् जानकर जो वासना फुरती है उससे दुःख होता है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् अविद्यमान है। जैसे मृगतृष्णा का जल असत्य होता है तैसे ही यह जगत् असत्य है उसमें वासना, वासक और वास्य तीनों मिथ्या हैं जैसे मृगतृष्णा का जल पान करके कोई तृप्त नहीं होता, क्योंकि जल ही असत् है; तैसे ही यह जगत् ही असत् है इसके पदार्थों की वासना करनी वृथा है। ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त सब जगत् मिथ्यारूप है। वासना, वासक और वास्य पदार्थों के अभाव हुए केवल आत्मतत्त्व रहता है और सब भ्रम शान्त हो जाता है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् भ्रममात्र है—वास्तव में कुछ नहीं। जैसे बालक को अज्ञान से अपनी परछाहीं में वैताल भासता है और जब विचार करके देखे तब वैताल का अभाव हो जाता है तैसे ही अज्ञान से यह जगत् भासता है और आत्मविचार से इसका अभाव हो जाता है। जैसे मृगतृष्णा की नदी भासती है और आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासता है; तैसे ही आत्मा में अज्ञान से देह भासता है। जिसकी बुद्धि देहादिक में स्थिर है वह हमारे उपदेश के योग्य नहीं है। जो विचारवान् है उसको उपदेश करना योग्य है और जो मूर्ख भ्रमी और असत्वादी सत्कर्म से रहित अनार्य है उसको ज्ञानवान् उपदेश न करे। जिनमें विचार, वैराग्य, कोमलता और शुभ आचार हों उनको उपदेश करना योग्य है और जो इन गुणों से रहित हों उनको उपदेश करना ऐसे होता है जैसे कोई महासुन्दर और सुवर्णवत् कान्तिवाली कन्या को नपुंसकपुरुष को विवाह देने की इच्छा करे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं
नाम चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे भगवन् ! वह जीव जो आदि में उत्पन्न हुआ और अपने साथ देहभ्रम देखने लगा उसके अनन्तर वह कैसे स्थित हुआ ? ईश्वर बोले, हे मुनीश्वर ! वह जीव स्वप्न की नाईं सर्वगत चिद्घन आत्मा के आश्रय उपजकर अपने शरीर को देखता भया। हे मुनीश्वर ! आदि जो जीव फुरकर प्रमाद को न प्राप्त हुआ और अपने स्वरूप ही में अहंप्रत्यय रहा,| इस कारण ईश्वर होकर स्थित हुआ। उसको यह निश्चय रहा कि मैं सनातन, नित्य, शुद्ध, परमानन्द और अव्यक्तरूप परमपुरुष हूँ आत्मा की अपेक्षा से उसको जीव कहा है और सृष्टि जगत् की अपेक्षा करके उसको ईश्वर कहा। हे मुनीश्वर ! वह जो आदि जीव है सो कभी विष्णुरूप होकर ब्रह्मा को नाभिकमल से उत्पन्न करता है, किसी सृष्टि में प्रथम ब्रह्मा हुआ है और विष्णु और रुद्र उससे हुए हैं। किसी सृष्टि में प्रथम रुद्र हुआ उससे विष्णु और ब्रह्मा हुए। चैतन्य आकाश में जैसा-जैसा संकल्प फुरा है तैसा ही तैसा होकर स्थित हुआ है। आदि जीव ने उपजकर जिस-जिस प्रकार का संकल्प किया है तैसा-तैसा होकर स्थित हुआ है वास्तव में सब असत्रूप है और अज्ञानरूप भ्रम करके हुआ है। जैसे परछाहीं में वैताल होता है तैसे ही अज्ञान करके सत्रूप हो भासता है। आदि पुरुष से लेकर जो सृष्टि है सो परमाकाश के एक निमेष में हुई है और उन्मेष में लय हो जाती है। एक निमेष के प्रमाद से कल्प के समूह व्यतीत हो जाते हैं और परमाणु परमाणु में सृष्टियाँ फुरती हैं उनमें कल्प और महाकल्प भासते हैं। कई सृष्टियाँ परस्पर दिखती हैं और कई अन्योन्य अदृश्यरूप हैं। इसी प्रकार सृष्टियाँ उसके स्पन्दकला में फुरी हैं और चमत्कार होता है और जब स्पन्दकला स्वरूप की ओर आती है तब लीन हो जाती है। जैसे स्वप्न का पर्वत जागे से लीन हो जाता है तैसे ही जाग्रत् की सृष्टि अफुर हुए लीन हो जाती है। हे मुनीश्वर ! जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टियाँ हैं उन सृष्टियों को कोई देशकाल रोक नहीं सकता, क्योंकि वे अपने-अपने संकल्प में स्थित हैं और आत्मा का चमत्कार है। जैसा फुरना फुरता है तैसा चमत्कार भासता है। हे मुनीश्वर ! न कुछ उपजा है, न कुछ नाश होता है; स्वतः चैतन्यतत्त्व अपने आपमें चमकता है। जैसे स्वप्ननगर उपजकर नष्ट हो जाता है और संकल्प का पहाड़ उपजकर मिट जाता है; तैसे ही जगत् उपजकर नष्ट हो जाता है। जैसे स्वप्न और संकल्प के पहाड़ को कोई रोक नहीं सकता तैसे ही अपनी-अपनी सृष्टि को देशकाल रोक नहीं सकता,

क्योंकि और ठौर में इनका सद्भाव नहीं। इससे यह जगत् अपने-अपने काल में सत्‌रूप है, आत्मा में सद्भाव नहीं—संकल्परूप है। हे मुनीश्वर! जैसे आदितत्त्व से जीव ईश्वर फुरे हैं तैसे ही कर्म फुरे हैं। रुद्र से लेकर वृक्ष पर्यन्त सब एक क्षण में उसी तत्त्व से फुर आये हैं। सुमेरु आदिक भी अपने स्थित में रोकते हैं अन्य अणु को नहीं रोक सकते क्योंकि वहाँ है ही नहीं। इससे आत्मा में सृष्टि आभासरूप है। हे मुनीश्वर! इस प्रकार सब जगत् मायामात्र है और भावना से भासता है; जब आत्मा का अभ्यास होता है, तब भेदकल्पना मिट जाती है और केवल उपशमरूप शिवतत्त्व भासता है। हे मुनीश्वर! निमेष का जो शत भाग है उसके अर्द्धभाग प्रमाद होने से नाना प्रकार का जगत् हो भासता है। सत् असत्‌रूप जगत् मनरूपी विश्वकर्मा बनाता है। आत्मतत्त्व न दूर है, न निकट है, न नीचे है, न ऊँचे है, न पूर्व में है और न पश्चिम में है सत् असत् के मध्य अनुभवरूप सर्व का ज्ञाता है। उसको प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण विषय नहीं कर सकते—जैसे जल से अग्नि नहीं निकलती। हे मुनीश्वर! जो कुछ तुमने पूछा था सो मैंने कहा उसमें चित्त के लगाने से तुम्हारा कल्याण होगा। इतना कह सदाशिव बोले कि अब हम अपने वाञ्छित स्थान को जाते हैं; चलो पार्वती अपने स्थान को चलें। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार ईश्वर ने कहा तब मैंने अर्घ्य पाद्य से उनका पूजन किया और ईश्वर पार्वती और गणों को लेकर आकाशमार्ग को चले। जब तक मुझको दृष्टि आते रहे तबतक मैं उनकी ओर देखता रहा फिर अपने कुश के स्थान पर आन बैठा और जो कुछ ईश्वर ने उपदेश किया था वह मैं अपनी सुध बुध से विचारने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थविचारो
नामैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः॥ ४१॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ ईश्वर ने मुझसे कहा सो मैं आप भी जानता था और तुम भी जानते हो। यह जगत् भी असत् है और देखनेवाला भी असत् है; उस मायारूप जगत् में मैं तुमसे सत क्या कहूँ और असंत् क्या कहूँ? जैसे जल में द्रवता होती है तैसे ही आत्मा में जगत् है और जैसे पवन में स्पन्द और आकाश में शून्यता होती है तैसे ही आत्मा में जगत् है। हे रामजी! जो कुछ पतित प्रवाह से प्राप्त होता है उसी से मैं देवअर्चन करता हूँ। इस क्रम से मैं निर्वासनिक हूँ और जगत् की क्रिया में भी निर्दुःख होकर चेष्टा करता हूँ; व्यवहार करता दृष्टि आता हूँ तो भी सदा शान्तिरूप हूँ और यथाप्राप्त आचाररूपी फूल से आत्मदेव की अर्चना करता हूँ—छेद भेद मुझको कोई नहीं होता है। हे रामजी! विषय और इन्द्रियों का सम्बन्ध सब जीवों को तुल्य है पर जो ज्ञानवान् हैं वे सावधान रहते हैं और जो कुछ देखते, सुनते, बोलते, खाते, सूँघते और स्पर्श करते हैं वह सब आत्मतत्त्व में अर्चन करते हैं और आत्मा से भिन्न नहीं जानते। अज्ञानियों को कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान होता है और उसमें वे दुःखी होते हैं। हे रामजी! तुमभी ऐसी दृष्टि का आश्रय करके संसाररूपी वन में निःसंग होकर बिचरो तो तुमको कुछ खेद न होगा। जिसकी वृत्ति इस प्रकार समान हो गई है उसको बड़ा कष्ट प्राप्त हो व धन बांधवों का वियोग हो तो भी उसको खेद नहीं होता। यह जो दृष्टि मैंने तुमसे कही है जब उसका आश्रय करोगे तब तुमको कोई दुःख न होगा। हे रामजी! सुख, दुःख, धन और बान्धवों का वियोग ये सब पदार्थ अनित्य हैं ये आते भी हैं और जाते भी हैं इनको आगमापायी जानकर बिचरो। यह संसार विषमरूप है, एकरस कदाचित् नहीं रहता; इसको स्थित जानकर दुःखी न होना। हे रामजी! पदार्थ और काल जैसे जावे तैसे जावे और जैसे सुख दुःख आवे तैसे आवे ये सब आगमापायी पदार्थ हैं; आते भी हैं और जाते भी हैं। इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति में हर्षवान् न होना और अनिष्ट की प्राप्ति और इष्टके वियोग से खेदवान् न होना; जैसे आवे तैसे जावे, जैसे जावे तैसे आवे; जिसको आना है वह आवेगा और जिसको जाना है वह जावेगा; ये सुख दुःख प्रवाहरूप हैं इनमें आस्था करके तपायमान न होना। हे रामजी! यह सब जगत् तुमही हो और तुमही जगत्‌रूप हो और चिन्मात्र विस्तृत आकार भी तुमही हो; यदि सब तुमही

हो तो हर्ष शोक किस निमित्त करते हो ? इसी दृष्टि का आश्रय करके जगत् में सुषुप्त होकर बिचरो तो तुरीयातीत अवस्था को प्राप्त होगे जो सम प्रकाशरूप है। हे रामजी ! जो कुछ मुझे तुमसे कहना था सो कहा है आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। पीछे तुमने पूछा था कि अनन्तरूप ब्रह्म में कलङ्क कैसे प्राप्त हुआ है ? सो अब फिर प्रश्न करो कि मैं उत्तर दूँ। रामजी ने कहा, हे ब्रह्मन् ! अब मुझको कुछ संशय नहीं रहा; मेरे सब संशय नष्ट हो गये हैं और जो कुछ जानना था सो मैंने जाना है। अब मैं परम अकृत्रिम तृप्तता को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! आत्मा में न मैल है, न द्वैत है और न एक आदि कोई कल्पना है। पहिले मुझको अज्ञानता थी तब मैंने पूछा था; अब तुम्हारे वचनों से मेरी अज्ञानता नष्ट हुई है इससे कुछ कलङ्क नहीं भासता। आत्मा में न जन्म है, न मरण है सर्व ब्रह्म ही है। हे मुनीश्वर ! प्रश्न संशय से उपजता है सो संशय मेरा नष्ट हो गया है। जैसे यन्त्री की पुतली हिलाने से रहित अचल होती है तैसे ही मैं संशय से रहित अचल स्थित हूँ और सर्व सारों का सार मुझको प्राप्त हुआ है। जैसे सुमेरु अचल होता है तैसे ही मैं अचल हूँ और कोई क्षोभ मुझको नहीं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो मुझको त्यागने योग्य हो और ऐसा भी कोई पदार्थ नहीं जो ग्रहण करने योग्य हो, न किसी पदार्थ की मुझको इच्छा है और न अनिच्छा है मैं शांतरूप स्थित हूँ; न स्वर्ग की मुझको इच्छा है न नरक से द्वेष है; सर्व ब्रह्मरूप मुझको भासता है और मन्दराचल पर्वत की नाईं आत्मतत्त्व में स्थित हूँ। हे मुनीश्वर ! जिसको अवस्तु में वस्तुबुद्धि होती है और कलना हृदय में स्थित होती है वह किसी को ग्रहण करता है; किसी को त्याग करता है और दीनता को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर ! यह संसार महासमुद्ररूप है; उसमें राग द्वेषरूपी कलोलें हैं और शुभ अशुभरूपी मच्छ रहते हैं। ऐसे भयानक संसारसमुद्र से अब मैं आपके प्रसाद से तर गया हूँ और सब सम्पदा के अन्त को प्राप्त होकर मेरे दुःख नष्ट हो गये हैं। सबके सार को प्राप्त होकर मैं पूर्ण आत्मा हूँ और अदीन पद और परम शान्त अभेदसत्ता को प्राप्त हुआ हूँ। आशारूपी हाथी को मैंने सिंह बनकर मारा है अब मुझको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता। मेरे सब विकल्पजाल कट गये हैं, इच्छादिक विकार नष्ट हो गये हैं और दीनता जाती रही है। तीनों जगत् में मेरी जय है और मैं सदा उदितरूप हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रान्तिआगमनं नाम
द्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो केवल देह इन्द्रियों से करता है और मन से नहीं करता वह जो कुछ करता है सो कुछ नहीं करता। जो कुछ इन्द्रियों से इष्ट प्राप्त होता है उससे क्षणमात्र सुख प्राप्त होता है; उस क्षण की प्रसन्नता में जो बन्धवान् होता है वह बालकवत् मूर्ख है। जो ज्ञानवान् है वह उसमें बन्धवान् नहीं होता। हे रामजी ! वाञ्छा ही इसको दुःखी करती है। जो सुन्दर विषयों की वाञ्छा होती है तो जब जीव यत्न से उनको प्राप्त करता है तो क्षणभर सुख होता है और जब वियोग होता है तब दुःखी होता है। इस कारण इनकी वाञ्छा त्यागना ही योग्य है। इनकी वाञ्छा तब होती है जब स्वरूप का अज्ञान होता है और देहादिक में सदभाव होता है जब देहादिक में अहंभाव होता है तब अनेक अनर्थ की प्राप्ति होती है; इससे हे रामजी ! ज्ञानरूपी पहाड़ पर चढ़े रहना और अहन्तारूपी गढ़े में न गिरना। हे रामजी ! आत्मज्ञानरूपी सुमेरु पर्वत पर चढ़कर फिर अहन्ता (अभिमान) करके गढ़े में गिरना बड़ी मूर्खता है। जब दृश्यभाव को त्यागोगे तब अपने स्वभावसत्ता को प्राप्त होगे, जो सम और शान्तरूप है और जिससे विकल्पजाल सब मिट जावेगा, समुद्रवत् पूर्ण होगे और द्वैतरूप न फुरेगा। हे रामजी ! जब हृदय में विषय को विष जाने तब मन भी निरस हो जाता है और चित्त निस्सङ्ग होता है। वास्तव में देखो तो सबमें सत्ता समानरूप ब्रह्म चिद्घन स्थित है पर अद्वैतस्वरूप के प्रमाद से नहीं भासता। हे रामजी ! आत्मा का अज्ञान ही बन्धनरूप है और आत्मा का बोध मुक्तरूप है; इससे बल करके आपही जागो तब इस बन्धन से मुक्त होगे। हे रामजी ! जिसमें विषय का स्वाद नहीं और जिसमें उनका अनुभव होता है वह तत्त्व

आकाशवत् निर्मलसत्ता वासना से रहित है। वासना से रहित होकर जो पुरुष कुछ क्रिया करता है वह विकार को नहीं प्राप्त होता। यदि अनेक क्षोभ आनि प्राप्त हों तो भी उसको विकार कुछ नहीं होता। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ये तीनों आत्मरूप भासते हैं; जब ऐसे जाने तब किसी का भय नहीं रहता। चित्त के फुरने से जगत् उत्पन्न होता है और चित्त के अफुर हुए लीन हो जाता है। जब वासना सहित प्राण उदय होते हैं तब जगत् उदय होता है और जब वासना सहित प्राण लीन होते हैं तब जगत् भी लीन होता है। अभ्यास करके वासना और प्राणों को स्थित करो। जब मूर्खता उदय होती है तब कर्म उदय होते हैं और मूर्खता के लीन हुए कर्म भी लीन होते हैं; इससे सत्संग और सत्शास्त्रों के विचार से मूर्खता को क्षय करो। जैसे वायु के संग से धूलि उड़के बादल का आकार होती है तैसे ही चित्त के फुरने से जगत् स्थित होता है। हे रामजी! जब चित्त फुरता है तब नाना प्रकार का जगत् फुर आता है और चित्त के अफुर हुए जगत् लीन हो जाता है। हे रामजी! वासना शान्त हो अथवा प्राणों का निरोध हो तब चित्त अचित्त हो जाता है और जब चित्त अचित्त हुआ तब परमपद को प्राप्त होता है। हे रामजी! दृश्य और दर्शन सम्बन्ध के मध्य में जो परमात्मसुख है और जो एकान्तसुख है सो संवित् ब्रह्मरूप है; उसके साक्षात्कार हुए मन क्षय होता है। जहाँ चित्त नहीं उपजता सो चित्त से रहित अकृत्रिम सुख है। ऐसा सुख स्वर्ग में भी नहीं होता। जैसे मरुस्थल में वृक्ष नहीं होता तैसे ही चित्त सहित विषयों से सुख नहीं होता। चित्त के उपशम में जो सुख है सो वाणी से कहा नहीं जाता; उसके समान और कोई सुख नहीं और उससे अतिशय सुख भी नहीं। और सुख नाश हो जाता है पर आत्मसुख नाश नहीं होता—अविनाशी है और उपजने विनशने से रहित है। हे रामजी! अबोध से चित्त उदय होता है और आत्मबोध से शान्त हो जाता है। जैसे मोह से बालक को वैताल दिखाई देता है और मोह के नष्ट हुए नष्ट हो जाता है; तैसे ही अज्ञान से चित्त उदय होता है और अज्ञान के नष्ट हुए नष्ट होता है। यदि चित्त विद्यमान भी भासता है तब भी बोध से निर्बीज होता है। जैसे पारस के साथ मिलकर ताँबा सुवर्ण होता है तो आकार तो वही दृष्टि आता है परन्तु ताँबे भाव का अभाव हो जाता है; तैसे ही अज्ञान से जगत् भासता है और ज्ञान से चित्त अचित्त हो जाता है; जड़ जगत् नहीं भासता, ब्रह्मसत्ता ही भासती है और सत्पद को प्राप्त होता है परन्तु नामरूप तैसे ही भासता है। हे रामजी! ज्ञानी का चित्त भी क्रिया करता दृष्टि आता है परन्तु चित्त अचित्त हो जाता है। जो अज्ञान करके भासता है सो ज्ञान करके शून्य हो जाता है। जो कुछ जगत् अबोध से भासता था सो बोध से शान्त हो जाता है फिर नहीं उपजता। वह चित्त शान्तपद को प्राप्त होता है। कुछ काल तो वह भी तुरीया अवस्था में स्थित हुआ बिचरता है फिर तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है। अधः, ऊर्ध्व, मध्य सर्वब्रह्म ही इस प्रकार अनेक होकर स्थित हुआ है। अनेक भ्रम करके भी एक ही है और सर्वात्मा ही है—चित्तादिक कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तसत्तासूचनन्नाम
त्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अब तुम संक्षेप से एक अपूर्व और आश्चर्यरूप बोध का कारण दृष्टान्त सुनो। एक बेलफल है जिसका अनन्त योजन पर्यन्त विस्तार है और जिसे अनन्त युग व्यतीत हो गये हैं जर्जरीभाव को कदाचित् नहीं प्राप्त होता। वह अनादि है, उसमें अविनाशी रस है इससे कभी नाश नहीं होता और चन्द्रमा की नाईं सुन्दर है। सुमेरु आदिक जो बड़े पहाड़ हैं उनको महाप्रलय का पवन तृणों की नाईं उड़ाता है पर वह पवन भी उसको नहीं हिला सकता। हे रामजी! योजनों की अनन्त कोटानिकोट संख्या है पर उसकी संख्या नहीं की जाती। ऐसा वह बेलफल है और बहुत बड़ा है। जैसे सुमेरु के निकट राई का दाना सूक्ष्म और तुच्छ भासता है तैसे ही उस बेलफल के आगे ब्रह्माण्ड सूक्ष्म और तुच्छ भासता है। वह बेल रस से पूर्ण है, कभी गिरता नहीं और पुरातन है। उसका आदि, अन्त और मध्य; ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादिक भी नहीं जान सकते और न उसके मूल को कोई जान सकता है; न मध्य को कोई जान सकता है। उसका अदृष्ट

आकार है और अदृष्ट फल है; अपने प्रकाश से प्रकाशता है; उसका घन आकार है; सदा अचल है किसी विकार को नहीं प्राप्त होता और सत्, निर्मल, निर्विकार, निरन्तररूप, निरन्ध्र और चन्द्रमा की नाईं शीतल, सुन्दर है। उसमें ज्ञान संवित्‌रूपी रस है सो अपना रस आपही लेता है और सबको देता है और सबको प्रकाशकर्ता भी वही है। उसमें अनेक चित्ररेखों ने निवास किया है परन्तु वह अपने स्वरूप को नहीं त्यागता अनेकरूप होकर भासता है और उसमें स्पन्दरूपी रस फुरता है। तत्वं, इदं, देश, काल, क्रिया, नीति, राग, द्वेष, हेयोपादेय, भूत, भविष्यत्, काल, प्रकाश, तम, विद्या, अविद्या इत्यादि कलना जाल उस रस के फुरने से फुरते हैं। वह बेल आत्मरूप है और अनुभवरूपी उसमें रस है। वह सदा अपने आपमें स्थित और नित्य शान्तरूप है। उसको जानकर पुरुष कृतकृत्य होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बिल्वोपाख्यानंनाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४४ ॥

रामजी बोले, हे भगवन्! सर्वधर्मों के वेत्ता आपने यह बेलरूपी महाचिद्घन सत्ता कही सो मुझे ऐसे निश्चय हुआ कि चैतन्य ही अहंतादिक जगत् हो भासता है भेद रंचक भी नहीं; एक द्वैत कलना सर्व वही है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे ब्रह्माण्ड की मज्जा सुमेरु आदिक पृथ्वी है तैसे ही चैतन्य बेल की मज्जा यह ब्रह्माण्ड है। सब जगत् चैतन्य बेलरूप है—भिन्न नहीं और उस चैतन्य का विनाश नहीं हो सकता। हे रामजी! चैतन्यरूपी मिरचे के बीज में जगत्‌रूपी चमत्कार तीक्ष्णता है सो सुषुप्तवत निर्मल है और शिला के अन्तरवत् अमिश्रित है। हे रामजी! अब और आश्चर्यरूप एक आख्यान सुनो कि महासुन्दर प्रकाशसंयुक्त स्निग्ध और शीतल स्पर्श है और विस्तृतरूप एक शिला है सो महानिरन्ध्र और घनरूप है। उसमें कमल उपजते हैं और उसकी ऊर्ध्व बेल है अधः मूल है और अनेक शाखा हैं। रामजी बोले, हे भगवन्! सत्य कहते हो यह शिला मैंने भी देखी है कि नदी में विष्णु की मूर्ति शालग्राम है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ऐसे तो तुम जानते

हो और देखा भी है परन्तु जो शिला मैं कहता हूँ वह अपूर्व शिला है और उसके भीतर ब्रह्माण्ड के समूह हैं और कुछ भी नहीं। हे रामजी! चैतन्यरूपी शिला जो मैंने तुमसे कही है उसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हैं; उस घनचैतन्यता से शिला वर्णन की है। वह अनन्तघन और निरन्ध्र है और आकाश, पृथ्वी, पर्वत, देश, नदियाँ, समुद्र इत्यादिक सबही विश्व उस शिला के भीतर स्थित है और कुछ नहीं है। जैसे शिला के ऊपर कमल लिखे होते हैं सो शिलारूप हैं; शिला से भिन्न नहीं; तैसे ही यह जगत् आत्मरूपी शिला में है; आत्मा से भिन्न नहीं। हे रामजी! भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल उस शिला की पुतलियाँ हैं। जैसे शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है तैसे ही यह जगत् आत्मा में है उपजा नहीं, क्योंकि मनरूपी शिल्पी कल्पता है और उससे नाना प्रकार का जगत् भासता है; आत्मा में कुछ उपजा नहीं। जैसे सुषुप्तरूप शिला के ऊपर कमल रेखा लिखी होती है वह शिला से भिन्न नहीं; तैसे ही यह जगत् आत्मा में है आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे शिला में पुतली होती हैं सो उदय अस्त नहीं होतीं शिला ज्यों की त्यों है; तैसे ही आत्मा में जगत् उदय अस्त नहीं होता, क्योंकि वास्तव में कुछ नहीं है। आत्मा में द्वैतकल्पना अज्ञान से भासती है और जब बोध होता है तब शान्त हो जाती है। जैसे समुद्र में पड़ी जल की बूँद समुद्ररूप हो जाती है तैसे ही बोध से कल्पना आत्मा में लीन हो जाती है। हे रामजी! चैतन्यआत्मा अनन्त है और उसमें कोई विकार और कल्पना नहीं है पर अज्ञान से कल्पना भासती है और ज्ञान से लीन हो जाती है। विकार भी आत्मा के आश्रय भासते हैं पर आत्मा विकार से रहित है। ब्रह्म से विकार उत्पन्न होते हैं और ब्रह्म ही में स्थित हैं पर वास्तव में कुछ हुए नहीं; सब आभासमात्र हैं। जैसे किरणों में जलाभास होता है तैसे ही ब्रह्म में जगत् विकार आभास होता है। जैसे बीज में पत्र, डाल, फूल और फल का विस्तार होता है और बीजसत्ता सबमें मिली होती है, बीज से कुछ भिन्न नहीं होता; तैसे ही चिद्घन आत्मा के भीतर जगत् विस्तार है सो चिद्घन आत्मा से भिन्न नहीं; वही अपने आपमें स्थित है और जगत् भी वही रूप है। यदि एक मानिये तो द्वैत

भी होता है और यदि एक नहीं कहा जाता तो द्वैत कहाँ हो ? जगत् और आत्मा में कुछ भेद नहीं; अद्वैत आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। जैसे शिला में मूर्ति लिखी होती है सो शिलारूप है; तैसे ही जगत् आत्मारूप है और जैसे शिला में भिन्न-भिन्न विषममूर्ति होती हैं और आधाररूप शिला अभेद है तैसे ही आत्मा में जगन्मूर्ति भिन्न भिन्न विषमरूप भासती है और चैतन्यरूप आधार अभेद है। ब्रह्मसत्ता समान सुषुप्तवत् समास्थित है बड़े विकार भी उसमें दृष्टि आते हैं परन्तु वास्तव सुषुप्तवत् विकार से रहित स्थित है और फुरने से रहित चैतन्यरूप शिला स्थित है उस नित्य शान्त चिद्घनरूप सत्ता में यह जगत् कल्पित है अधिष्ठान सत्ता सदा सर्वदा शान्तरूप है भेद कदाचित् नहीं जैसे जल में तरङ्ग अभेदरूप है और सुवर्ण में भूषण अभिन्नरूप है तैसे आत्मा में जगत् अभिन्नरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिलाकोशउपदेशोनाम
पञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे बीज के भीतर फूल, फल और सम्पूर्ण वृक्ष होता है सो आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है जब फल परिपक्व होता है तब बीज ही होता है तैसे आत्मा भी जगत् में है परन्तु सदा अच्युत और सम है कदाचित् भेद विकार और परिणाम को प्राप्त नहीं हुआ अपनी सत्ता से स्थित है जगत् के आदि, मध्य, अन्त में वही है कुछ और भाव को प्राप्त नहीं हुआ देशकाल कर्म आदिक जो कुछ कलना भासती है सो वही रूप है जो कुछ शब्द और अर्थ है वह आत्मा से भिन्न नहीं जैसे वृक्ष के आदि भी बीज है और अन्त भी बीज है और जो कुछ मध्य में विस्तार भासता है वह भी वही रूप है भिन्न कुछ नहीं तैसे जगत् के आदि भी आत्मसत्ता है अन्त भी आत्मसत्ता है जो कुछ मध्य में भासता है वह भी वही रूप है। हे रामजी ! चैतन्यरूपी महाआदर्श में सम्पूर्ण जगत् प्रतिबिम्ब होता है और सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र है जैसा जैसा किसी में फुरना दृढ़ होता है तैसे ही आत्मसत्ता के आश्रित होकर भासता है जैसे चिन्तामणि में जैसा कोई संकल्प धारता है तैसा ही प्रकट हो आता है सो संकल्पमात्र ही होता है, तैसे जैसी

जैसी भावना कोई करता है तैसी तैसी आत्मा के आश्रित होकर भासती है। अनन्त जगत् आत्मरूपी मणि के आश्रित स्थित होते हैं जैसी कोई भावना करता है तैसी उसको हो भासती है। हे रामजी ! आत्मरूपी डब्बे से जगत्रूपी रत्न निकलते हैं। जैसा फुरना होता है तैसा ही जगत् भासि आता है। जैसे शिला के ऊपर रेखा होती हैं और नाना प्रकार के चित्र भासते हैं सो अनन्यरूप है। तैसे ही आत्मा में जगत् अनन्यरूप है। और जैसे शिला के ऊपर शंख चक्रादिक रेखा भासती हैं तैसे ही आत्मा में यह जगत् भासता है सो आत्मरूप है। आत्मरूपी शिला निरन्ध्र है, उसमें छिद्र कोई नहीं जैसे जल में तरङ्ग जलरूप होते हैं तैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है। वह ब्रह्म सम, शान्तरूप और सुषुप्तवत् स्थित है उसमें जगत् कुछ फुरा नहीं शिला की रेखावत् है। जैसे बेल के भीतर मज्जा होती है, तैसे ही ब्रह्म में जगत् स्थित है और जैसे आकाश में शून्यता, जल में द्रवता और वायु में स्पन्दता होती है, तैसे ही ब्रह्म में जगत् है। ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे तरु और वृक्ष में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं—ब्रह्म ही जगत् है और जगत् ही ब्रह्म है। हे रामजी ! इसमें भाव-अभाव भेद कल्पना कोई नहीं ब्रह्मसत्ता ही प्रकाशती है और ब्रह्म ही जगत्रूप होकर भासता है। जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणें जलरूप होकर भासती हैं; तैसे ही ब्रह्म जगत्रूप होकर भासता है। हे रामजी ! सुमेरु आदिक पर्वत और तृण, वन और चित्त जगत् परिणाम से लेकर भूतों को विचार देखिये तो परमसत्ता ही भासती है और सब पदार्थों में सूक्ष्मभाव से वही सत्ता व्यापी है। जैसे जल का रस वनस्पति में व्यापा हुआ है, तैसे ही सब जगत् में सूक्ष्मता करके आत्मसत्ता व्यापी हुई है। जैसे एक ही रस सत्ता, वृक्ष, तृण और गुच्छों में व्यापी हुई है और एक ही अनेकरूप होकर भासती है; तैसे ही एक ही ब्रह्मसत्ता अनेकरूप होकर भासती है। हे रामजी ! जैसे मोर के अण्डे में अनेक रङ्ग होते हैं और जब अण्डा फूट जाता है तब उससे शनैःशनैः अनेक रङ्ग प्रकट होते हैं सो एक ही रस अनेक रूप हो भासता है, तैसे ही एक ही आत्मा अनेकरूप से जगत् आकार होकर भासता है। जैसे मोर के अण्डे में एक ही

रस होता है परन्तु जो दीर्घसूत्री अज्ञानी हैं उनको भविष्य के अनेक रङ्ग उसमें भासते हैं सो अनउपजे ही उपजे भासते हैं; तैसे ही यह जगत् अनउपजा ही नानात्व अज्ञानी के हृदय में स्थित होता है और जो ज्ञानवान् हैं उनको एकरस ब्रह्मसत्ता ही भासती है। जैसे मोर का रस परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ एकरस है और जब परिणाम को प्राप्त होकर नानारूप हुआ तब भी एक रस है; तैसे ही यह जगत् परमात्मा में भासता है तो भी परमात्मा ही है और जब नानारूप होकर भासता है तो भी भेद नहीं है परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ परन्तु अज्ञानी को नानात्व भासता है और ज्ञानवान् को एकसत्ता ही भासती है। अथवा इस दृष्टान्त का दूसरा अर्थ यह है कि जैसे मोर के अण्डे में नानात्व कुछ हुआ नहीं पर जिसकी दुर्दृष्टि है उसको उसमें अनउपजी नानात्व भासती है और जिसकी दुर्दृष्टि नहीं उसको बीज ही भासता है, नानात्व नहीं भासता; तैसे ही जिनको अज्ञानरूपी दुर्दृष्टि है उनको अनउपजा ही जगत् नानात्व हो भासता है और जो अज्ञान दृष्टि से रहित हैं उनको एक ही ब्रह्म भासता है और कुछ नहीं भासता। हे रामजी! नानात्व भासता है तो भी कुछ नहीं; जैसे मोर के अण्डे में नानारङ्ग भासते हैं तो भी एकरूप है; तैसे ही इस जगत् में भिन्न-भिन्न पदार्थ भासते हैं तो भी एक ब्रह्मसत्ता है; द्वैत कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सत्ताउपदेशो नाम
षट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे अनउपजे कान्तिरङ्ग मयूर के अण्डे में होते हैं सो बीज से भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही अहं त्वं आदिक जगत् आत्मा में अनउदय ही उदयरूपी भासता है। जैसे बीज में उन रङ्गों की उदय भी अनउदयरूप है, तैसे ही आत्मा में जगत् की उदय भी अनउदयरूप है। आत्मसत्ता अशब्दपद है वाणी से कुछ कहा नहीं जाता। ऐसा सुख स्वर्ग तथा और किसी स्थान में भी नहीं है जैसा सुख आत्मा में स्थित हुए पाया जाता है। हे रामजी! आत्मसुख में विश्रान्ति पाने के निमित्त मुनीश्वर, देवता, सिद्ध और महाऋषि दृश्यदर्शन का

सम्बन्ध फुरने को त्यागकर स्थित होते हैं इससे वह उत्तम सुख है। संवित् में संवेदन का फुरना जिनका निवृत्त हुआ है उन पुरुषों को दृश्यभावना कोई नहीं फुरती और न कोई कर्म उनको स्पर्श करता है; प्राण भी उनके निस्पन्द होते हैं; चित्तचेतन के सम्बन्ध से रहित चित्र की मूर्तिवत् स्थित होते हैं और शान्तरूप स्थित होते हैं। हे रामजी! जब चित्तकला फुरती है तब संसारभ्रम प्राप्त होता है और जब चित्त का फुरना मिट जाता है तब शान्तरूप अद्वैत स्थित होता है। जैसे युद्ध राजा की सेना करती है और जीत हार राजा की होती है तैसे ही चित्त के फुरने के द्वारा आत्मा में बन्ध मोक्ष होता है। यद्यपि आत्मा सत्‌रूप और अच्युत है परन्तु मन, बुद्धि और अन्तःकरण के द्वारा आत्मा में बन्ध मोक्ष भासता है। आत्मा सबका प्रकाशक है—जैसे चन्द्रमा की चाँदनी वृक्षादिकों को प्रकाशती है, तैसे ही आत्मा सब पदार्थों को प्रकाशता है। वह आत्मा न दृश्य है, न उपदेश का विषय है, न विस्ताररूप है, न दूर है, केवल चैतन्यरूप अनुभव आत्मा है। वह न देह है, न इन्द्रिय है; न गुण है; न चित्त है; न वासना है; न जीव है, न स्पन्द है; न और को स्पर्श करता है; न आकाश है; न सत् है, न असत् है; न मध्य है; न शून्य है, न अशून्य है; न देश, काल, वस्तु है; न अहं है, न इतर इत्यादिक है; सर्व शब्दों से रहित प्रकाशता है और केवल अनुभवरूप है। उसका न आदि है, न अन्त है; न उसे शस्त्र काटते हैं; न उसे अग्नि जला सकती है; न जल गला सकता है; न यह है, न वह है; न उसे वायु सोख सकती है और न किसी की सामर्थ्य उस पर चलती है। वह चित्‌रूपी आत्मतत्त्व है न जन्मता है और न मरता है। देहरूपी घट कई बार उपजते हैं और कई बार नष्ट होते हैं और आत्मरूपी आकाश सबके भीतर बाहर अखण्ड अविनाशी है। जैसे अनेक घटों में एकही आकाश स्थित होता है तैसे ही अनेक पदार्थों में एकही ब्रह्मसत्ता आत्मरूप से स्थित है। हे रामजी! जो कुछ स्थावर-जङ्गम जगत् दृष्ट आता है सो सब ब्रह्मरूप है जो निर्धर्म, निर्गुण, निरवयव, निराकार, निर्मल, निर्विकार है और आदि अन्त से रहित, सम और शान्तरूप है। ऐसी दृष्टि

का आश्रय करके स्थित हो। हे रामजी! इस दृष्टि का आश्रय करोगे तो बड़े कार्य भी तुमको स्पर्श न करेंगे। जैसे आकाश को बादल स्पर्श नहीं करते तैसे ही तुमको कर्म स्पर्श न करेंगे। काल, क्रिया, कारण, कार्य, जन्म, स्थिति, संहार आदिक जो संसरणरूप संसार है सो सब ब्रह्म रूप है। इसी दृष्टि का आश्रय करके बिचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मएकताप्रतिपादनं नाम
सप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४७ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यदि ब्रह्म में कोई विकार नहीं तो भाव-अभावरूप जगत् किससे भासता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! विकार किसको कहते हैं? प्रथम तो यह सुनो। जो वस्तु अपने पूर्वरूप को त्यागकर विपर्ययरूप को प्राप्त हो और फिर पूर्व के स्वरूप को न प्राप्त हो उसको विकार कहते हैं। जैसे दूध से दही होकर फिर दूध नहीं होता; जैसे बालक अवस्था बीत जाती है तो फिर नहीं आती और जैसे युवा अवस्था गई हुई फिर नहीं आती इसका नाम विकार है परब्रह्म निर्मल है; आदि भी निर्विकार है अन्त भी निर्विकार है और मध्य में जो उसमें कुछ विकार मल भासता है सो अज्ञान से भासता है। मध्य में भी ब्रह्म अविकारी ज्यों का त्यों है। हे रामजी! जो पदार्थ विपर्ययरूप होजाता है वह फिर अपने स्वरूप को नहीं प्राप्त होता और ब्रह्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों अद्वैतरूप है और आत्म अनुभव से प्रकाशती है। जो कभी अन्यथारूप को प्राप्त न हो उसको विकार कैसे कहिये? हे रामजी! जो वस्तु विचार और ज्ञान से निवृत्त होजाय उसको भ्रममात्र जानिये वह वास्तव में कुछ नहीं। जो कुछ विकार है सो अज्ञान से भासता है और जब आत्मबोध होता है तब निवृत्त हो जाता है। जिसके बोध से विकार नष्ट होजाय उसे विकार कैसे कहिये? जो ब्रह्म शब्द से कहाता है सो निर्वेदरूप आत्मा है। जो आदि अन्त में सत् हो उसे मध्य में भी सत् जानिये और इससे भिन्न हो सो अज्ञान से जानिये। आत्मरूप सदा सर्वदा समरूप है। आकाश और पवन भी अन्यभाव को प्राप्त हो जाते हैं परन्तु आत्मतत्त्व कदाचित् अन्य भाव को नहीं प्राप्त होता। वह तो

प्रकाशरूप एक नित्य और निर्विकार ईश्वर है; भाव अभाव विकार को कदाचित् नहीं प्राप्त होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! एकतत्त्व विद्यमान है सो ब्रह्म सदा सर्वदा निर्मलरूप है तो उस संवित् ब्रह्म में यह अविद्या कहाँ से आई है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह सर्वब्रह्म है; आगे भी ब्रह्म था और पीछे भी ब्रह्म होगा। उस निर्विकार और आदि, अन्त, मध्य से रहित ब्रह्म में अविद्या कोई नहीं—यह निश्चय है। जो वाच्य-वाचक शब्द से उपदेश के निमित्त ब्रह्म कहता है उसमें अविद्या कहाँ है? हे रामजी! 'अहं' 'त्वं' आदिक जगत् भ्रम और अग्नि, वायु आदिक सर्व ब्रह्मसत्ता है और अविद्या रञ्चकमात्र भी नहीं। जिसका नाम ही अविद्या है उसे भ्रममात्र और असत् जानो। जो विद्यमान ही नहीं है उसका नाम क्या कहिये? फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन्! उपशम प्रकरण में आपने क्यों कहा था कि अविद्या है और इस प्रकार कैसे कहते हो कि विद्यमान नहीं है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इतने कालपर्यन्त तुम अबोध थे इस निमित्त मैंने तुम्हारे जागने के निमित्त युक्ति कल्प कर कही थी और अब तुम प्रबुद्ध हुए हो तब मैंने कहा है कि अविद्या अविद्यमान है। हे रामजी! अविद्या, जीव और जगत् आदिक का क्रम अप्रबोध को जगाने के निमित्त वेदवादी ने वर्णन किया है। जब तक मन अप्रबोध होता है तबतक अविद्या भ्रम है और युक्ति विना अनेक उपायों से भी बोधवान् नहीं होता। जब बोधवान् होता है तब सिद्धान्त को उपदेश की युक्ति विना भी पाता है और अबोध मन युक्ति विना नहीं पा सकता। हे रामजी! जो कार्य युक्ति से सिद्ध होता है वह और यत्न से नहीं साधा जाता। जैसे युक्तिरूपी दीपक से अन्धकार दूर होता है और बल यत्न से निवृत्त नहीं होता; तैसे ही युक्ति विना और यत्न से अज्ञान की निद्रा निवृत्त नहीं होती। यदि अप्रबोध को सर्वब्रह्म सिद्धान्त का उपदेश कीजिये तो वह उपदेश व्यर्थ होता है—जैसे कोई दुःखी अपना दुःख दीवाल के आगे जा कहे तो उसका कहा वह नहीं सुनती और उसका कहना भी वृथा होता है; तैसे ही अप्रबुद्ध को सर्व ब्रह्म का उपदेश व्यर्थ होता है। मूढ़ युक्ति से जगता है और बोध-

वान् को प्रत्यक्ष तत्त्व का उपदेश होता है। हे रामजी ! अब तुम यह धारणा करो कि ब्रह्म, तीनों जगत् और अहं, त्वं आदिक सब ब्रह्म हैं द्वैत कल्पना कोई नहीं; फिर जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो और दृश्य संवेदन न फुरे सदा आत्मा में स्थित रहो। इस प्रकार अनेक कार्य में भी लेप न होगा। हे रामजी ! जो चैतन्यवपु परमात्मा प्रकाशरूप है सो सदा अहंभाव से फुरता है। ऐसा जो अनुभवरूप है उसी में चलते, बैठते, खाते, पीते, चेष्टा करते स्थित रहो तब तुम्हारा अहं ममभाव निवृत्त हो जावेगा और जो शान्तरूप ब्रह्म सर्वभूतों में स्थित है उसको तुम प्राप्त होगे और आदि अन्त से रहित शुद्ध संवित्मात्र प्रकाशरूप आत्मा को देखोगे। जैसे मृत्तिका के पात्र घट आदिक सब मृत्तिका के ही हैं तैसे ही तुम सर्वभूत आत्मा को देखोगे। जैसे मृत्तिका से घट भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा से जगत् भी भिन्न नहीं जैसे वायु से स्पन्द और जल से तरङ्ग भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा से प्रकृति भिन्न नहीं। जैसे जल और तरङ्ग शब्दमात्र दो हैं तैसे ही आत्मा और प्रकृति शब्दमात्र दो हैं पर भेद कुछ नहीं केवल अज्ञान से भेद भासता है और ज्ञान से नष्ट हो जाता है। जैसे रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही आत्मा में प्रकृति है। हे रामजी ! चित्तरूपी वृक्ष है और कल्पनारूपी बीज है, जब कल्पनारूपी बीज बोया जाता है तब चित्तरूपी अंकुर उत्पन्न होता है और उससे जब भावरूप संसार उत्पन्न होता है तब आत्मज्ञान करके कल्पनारूपी बीज दग्ध होता है और चित्तरूपी अंकुर नष्ट हो जाता है। हे रामजी ! चित्तरूपी अंकुर से सुख दुःखरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। जब चित्तरूपी अंकुर नष्ट हो तब सुख दुःखरूपी वृक्ष कहाँ उपजे ? हे रामजी ! जो कुछ द्वैतभ्रम है सो अबोध से उपजता है और बोध से नष्ट हो जाता है। आत्मा जो परमार्थ सार है उसकी भावना करो तब संसारभ्रम से मुक्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्मृतिविचारयोगोनामाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ ४८ ॥

रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो कुछ जानने योग्य था सो मैंने जाना और जो कुछ देखने योग्य था सो देखा; अब मैं आपके ज्ञानरूपी अमृत के सींचने से परमपद में पूर्णात्मा हुआ हूँ। हे मुनीश्वर ! पूर्ण ने सब विश्व पूर्ण किया है; पूर्ण से पूर्ण प्रतीत है और पूर्ण में पूर्ण ही स्थित है—द्वैत कुछ नहीं, यह अब मुझको अनुभव हुआ है। हे मुनीश्वर ! ऐसे जानकर भी मैं लीला और बोध की वृद्धि के निमित्त आपसे पूछता हूँ। जैसे बालक पिता से पूछता है तो पिता उद्वेग नहीं करता, तैसे ही आप उद्वेगवान् न होना। हे मुनीश्वर ! श्रवण, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण ये पाँचों इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष दृष्टि आती हैं पर मरे पर विषय को क्यों नहीं ग्रहण करतीं और जीते कैसे ग्रहण करती हैं ? घटादिक की नाईं बाहर से ये जड़ स्थित हैं पर हृदय में अनुभव कैसे होता है ? और लोहे की शलाकावत् ये भिन्न भिन्न हैं पर इकट्ठी कैसे हुई हैं ? परस्पर जो एक आत्मा में अनुभव होता है कि मैं देखता; मैं सुनता हूँ इनसे आदि लेकर वृत्ति क्योंकर इकट्ठी हुई है ? मैं सामान्य भाव से जानता भी हूँ परन्तु विशेष करके आपसे पूछता हूँ। वशिष्ठजी बोले हे रामजी ! इन्द्रियाँ, चित्त और घट, पट आदिक पदार्थ निर्मल चैतन्यरूप आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मतत्त्व आकाश से भी सूक्ष्म और स्वच्छ है। हे रामजी ! जब चैतन्यतत्त्व से पुर्यष्टका (चैत्यता) की भावना फुरी तो उसने आगे इन्द्रिय गणों को देखा और इन्द्रियगण चित्त के आगे हुये हैं। इनकी घनता से चैतन्यतत्त्व पुर्यष्टका को प्राप्त हुआ है। उसी में सब घटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित हुये हैं और पुर्यष्टका में भासे हैं। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! अनन्त जगत् जो रचे हैं और महाआदर्श में प्रतिबिम्बित हैं उस पुर्यष्टका का रूप क्या है और कैसे हुई है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! आदि अन्त से रहित जगत् का बीजरूप जो अनादि ब्रह्म है सो निरामय और प्रकाशरूप है और कल्पना और कलना से रहित, शुद्ध, चिन्मात्र और अचेतन जगत् का बीज वही अनादि ब्रह्म है। वह जब कलना के सन्मुख हुआ तब उसका नाम जीव हुआ उस जीव ने जब देह को चेता और अहंभाव फुरा तब अहंकार हुआ; जब मनन करने लगा तब मन हुआ; जब निश्चय करने लगा तब बुद्धि हुई, जब पदार्थों के देखनेवाली इन्द्रियों की भावना हुई, तब इन्द्रियाँ हुईं जब देह की भावना करने

लगा तब देह हुई और जब घटपट की भावना हुई तब घटपट हुये; इसी प्रकार जैसी जैसी भावना होती गई तैसे ही पदार्थ होते गये। हे रामजी! यही स्वभाव जिसका है उसको पुर्यष्टका कहते हैं। स्वरूप से विपर्ययरूपी दृश्य की ओर भावना होने और कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदिक की भावना, कलना और अभिमान जो चित्तकला में हुआ है इससे उसको जीव कहते हैं। निदान जैसी जैसी भावना का आकार हुआ तैसी ही तैसी वासना को करता भया। जैसे जल से सींचा हुआ बीज डाल, पत्र, फूल और फलभाव को प्राप्त होता है तैसे ही वासना से सींचा हुआ जीव स्वरूप के प्रमाद से महाभ्रमजाल में गिरता है और ऐसे जानता है कि मैं मनुष्य देह सहित हूँ अथवा देवता व स्थावर हूँ पर ऐसे नहीं जानता कि मैं चिदात्मा हूँ। वह देह से मिला हुआ परिच्छिन्न और तुच्छरूप आपको देखता है। इस मिथ्याज्ञान से डूबता है और देह में अभिमान से वासना के वश हुआ चिरपर्यन्त ऊँचे नीचे और बीच में भ्रमता है। जैसे समुद्र में आयाहुआ काष्ठ तरङ्गों से उछलता है और घटीयन्त्र का बर्तन नीचे ऊपर जाता है तैसे ही जीव वासना के वश से नीचे और ऊपर भ्रमता है। जब विचार और अभ्यास करके आत्मबोध को प्राप्त होता है तब संसार बन्धन से मुक्त होता है और आदि अन्त से रहित आत्मपद को प्राप्त होता है। बहुत काल योनिरेखा को भोग के आत्मज्ञान के वश से परमपद को प्राप्त होता है। हे रामजी! स्वरूप से गिरे हुये जीव इस प्रकार भ्रमते हैं और शरीर पाते हैं। अब यह सुनो कि इन्द्रियाँ मृतक हुये विषय को किस निमित्त ग्रहण नहीं करतीं। हे रामजी! जब शुद्धतत्त्व में चित्तकलना फुरती है तब वह जीवरूप होती है और मन सहित षट्इन्द्रियों को लेकर देहरूपी गृह में स्थित हो बाहर के विषय को ग्रहण करती है। मनसहित षट्इन्द्रियों के सम्बन्ध से विषय का ग्रहण होता है; इनसे रहित विषयों को कदाचित् नहीं ग्रहण करती। इस प्रकार इनमें स्थित होकर जीवकला विषय को ग्रहण करती है। यद्यपि इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न हैं तौ भी इनको एकता कर लेती हैं और ये अहंकाररूपी तागे से इकट्ठी होती हैं। देह और इन्द्रियाँ

माणिक्य की नाईं हैं; इनको इकट्ठे करके जीव कहता है कि मैं देखता, सूँघता, सुनता, फिरता, बोलता हूँ और इन्हीं के अभिमान से विषय को ग्रहण करता है। हे रामजी! देह इन्द्रियाँ मन आदिक जड़ हैं परन्तु आत्मा की सत्ता पाकर अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं। जबतक पुर्यष्टका देह में होती है तबतक इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण करती हैं और जब पुर्यष्टका देह से निकल जाती है तब इन्द्रियाँ विषय को नहीं ग्रहण करतीं। हे रामजी! ये जो प्रत्यक्ष नेत्र, नासिका, कान, जिह्वा और त्वचा भासते हैं सो ये इन्द्रियाँ नहीं हैं इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म तन्मात्रा हैं; ये उनके रहने के स्थान हैं। जैसे गृह में झरोखे होते हैं तैसे ही ये स्थान हैं। हे रामजी! अब जीव का रूप सुनो आत्मतत्त्व सब ठौर में पूर्ण है परन्तु उसका प्रतिबिम्ब वहाँ ही भासता है जहाँ निर्मल ठौर होता है। जैसे निर्मल जल में प्रतिबिम्ब होता है और जैसे दो कुण्ड हों एक जल से पूर्ण हो और दूसरा जल से रहित हो तो सूर्य का प्रकाश तो दोनों में तुल्य होता है परन्तु जिसमें जल है उसमें प्रतिबिम्बित होता है और जल के डोलने से प्रतिबिम्ब भी हिलता दृष्ट आता है पर जहाँ जल नहीं है वहाँ प्रतिबिम्ब भी नहीं; तैसे ही जहाँ सात्त्विक अंश अन्तःकरण होता है वहाँ आत्मा का प्रतिबिम्ब जीव भी होता है और जबतक शरीर में होता है तबतक शरीर चेतन भासता है; पर जब वह जीवकला पुर्यष्टकारूप शरीर को त्याग जाती है तब शरीर जड़ भासता है। जैसे कुण्ड से जल निकल जाय तो कुण्ड सूर्य के प्रतिबिम्ब से हीन हो जाता है, तैसे ही अन्तःकरण और तन्मात्रा पुर्यष्टका में आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। जब पुर्यष्टका शरीर को त्याग जाती है तब शरीर जड़ भासता है। हे रामजी! जैसे झरोखे के आगे कोई पदार्थ रखिये तो झरोखे को पदार्थ का ज्ञान नहीं होता और जब उसका स्वामी देखता है तब पदार्थ को ग्रहण करता है; तैसेही इन्द्रियों के स्थानों में जो सूक्ष्मतन्मात्रा ग्रहण करनेवाली होती है वही विषयों को ग्रहण करती है और जब तन्मात्रा नहीं होती तब इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर सकतीं। हे रामजी! प्रत्यक्ष देखो कि कथा का श्रोता पुरुष कथा में बैठा होता है पर यदि उसका चित्त और ठौर निकल जाता है तब प्रत्यक्ष बैठा रहता है परन्तु

कुछ नहीं सुनता; क्योंकि उसकी श्रवण इन्द्रिय मन के साथ गई है; तैसे ही जब पुर्यष्टका निकल जाती है तब मृतक होता है और इन्द्रियाँ भी विषयों को ग्रहण नहीं करतीं। हे रामजी! अहं मम आदि जो दृश्य है सो भी सर्ग के आदि में आत्मरूपी समुद्र से तरङ्गवत् फुरा है, उसके पश्चात् दृश्य कलना हुई है सो न देश है, न काल है, न क्रिया है, न यह सब असत्रूप है; वास्तव में कुछ नहीं। ऐसे जानकर संसार के सुख, दुःख, हर्ष, शोक, राग, द्वेष से रहित होकर विचरो तब तुम माया से तर जावोगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संवेदनविचारो नामैकोन
पञ्चाशत्तमस्सर्गः॥ ४९॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वास्तव में इन्द्रियादिक गण कुछ उपजे नहीं; आदि ब्रह्मा की उत्पत्ति जैसे मैंने तुमसे कही है सो सब तुमने सुनी और जैसे आदि जीव पुर्यष्टकारूप ब्रह्मा उपजा है तैसे और भी उपजे हैं। हे रामजी! जीव पुर्यष्टका में स्थित होकर जैसी-जैसी भावना करता गया है तैसे ही तैसे भासने लगा है और फिर उसी की सत्ता पाकर अपने-अपने विषय को ग्रहण करने लगे हैं, वास्तव में इन्द्रियाँ भी कुछ वस्तु नहीं। सब आत्मा के आभास से फुरती हैं; इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषय ये संवेदन से उपजे हैं सो जैसे उपजे हैं तैसे तुमसे कहे हैं। हे रामजी! शुद्ध संवित् सत्तामात्र से जो अहं उल्लेख हुआ है सोही संवेदन हुई है। वही संवेदन जीवरूप पुर्यष्टकाभाव को प्राप्त हो और बुद्धि, मन और पञ्चतन्मात्रा को उपजाकर आपही उनमें प्रवेशकर स्थित हुई है उसको पुर्यष्टका कहते हैं परन्तु यह उपजी भी स्पन्द में है आत्मा से कुछ नहीं उपजा। वह आत्मा न एक है, न अनेक है और परमात्मतत्त्व अस्ति अनामय है और उसमें वेदना भी अनन्यरूप है। हे रामजी! उसमें न कोई द्वैत कलना है और न कुछ मनशक्ति है केवल शान्त सत्ता है उसी को परमात्मा कहते हैं जो मनसहित षट् इन्द्रियों से अतीत अचैत्य चिन्मात्र है उससे जीव उत्पन्न हुआ है। यह भी मैं उपदेश के निमित्त कहता हूँ वास्तव में कुछ उपजा नहीं केवल भ्रममात्र है। जहाँ जीव उपजा है वहाँ उसको अहंभाव विपर्यय हुआ है; यही अविद्या है सो उपदेश से लीन हो जाती

है। जैसे निर्मली से जल की मलिनता लीन हो जाती है तैसे ही गुरु और शास्त्र के उपदेश को पाकर जब अविद्या लीन हो जाती है तब भ्रमरूप आकार शान्त हो जाते हैं और ज्ञानरूप आत्मा शेष रहता है जिसमें आकाश भी स्थूल है। जैसे परमाणु के आगे सुमेरु स्थूल होता है तैसे ही आत्मा के आगे आकाश स्थूल है। हे रामजी! आत्मा के आगे जो स्थूलता भासती है सो भ्रममात्र है। जो बड़े उदार आरम्भ भासते हैं सो तो असत् हैं तब और पदार्थों की क्या बात है? हे रामजी! आत्मा में जगत् कुछ नहीं पाया जाता, क्योंकि वस्तु असम्यक् ज्ञान से भासती है और सम्यक् ज्ञान से नहीं पाई जाती। जो कुछ--जगत्जाल भासते हैं वे सब मायामात्र हैं उनसे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता। जैसे मृगतृष्णा का जल पान नहीं किया जाता तैसे ही जगत् के पदार्थों से कुछ परमार्थ सिद्ध नहीं होता, सब अज्ञान से भासते हैं। हे रामजी! जो वस्तु सम्यक्ज्ञान से पाइये उसे सत् जानिये और जो सम्यक्ज्ञान से न रहे उसे भ्रममात्र जानिये। यह जीव पुर्यष्टका अबिद्धक भ्रम है, असत् ही सत् हो भासता है और जब गुरु और शास्त्रों का विचार होता है तब जगत् भ्रम मिट जाता है। पुर्यष्टका में स्थित होकर जीव जैसी भावना करता है तैसी सिद्धि होती है। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पता है तैसे ही जीवकला अपने आपमें देश, काल, तत्त्व आदिक कल्पती है और भावना के अनुसार उसको भासते हैं। जैसे बीज से पत्र, डाल, फूल, फलादिक विस्तार होता है तैसे ही तन्मात्रा से भूतजात सब भीतर, बाहर, देश, काल, क्रिया, कर्म हुआ है। आदि जीव फुरकर जैसा संकल्प धारता है तैसे ही हो भासता है सो यह संवेदन भी आत्मा से अनन्यरूप है। जैसे मिरच में तीक्ष्णता और आकाश में शून्यता अनन्यरूप है; तैसे ही आत्मा में संवेदन अनन्यरूप है। उस संवेदन ने उपजकर निश्चय धारा है कि ये पदार्थ ऐसे हैं ये ऐसे हैं सो तैसे ही स्थित हुए अन्यथा कदाचित् नहीं होते। आदिजीव ने फुरकर जो निश्चय धारा है उसी का नाम नीति है और स्वरूप से सर्व आत्मसत्ता है; आत्मसत्ता ही रूप धारकर स्थित हुई है। जैसे एक ही पौंड़े का रस शकर आदि

और मृत्तिका घट पटादिक आकार को धारती है तैसे ही आत्मसत्ता सर्व ज्ञान को पाती है। जैसे एक ही जल का रस; पत्र, डाल, फूल, फलादिक होकर भासता है तैसे ही एक ही आत्मसत्ता घट, पट और दीवार आदिक आकार हो भासती है। हे रामजी! जैसे आदि जीव ने निश्चय किया है तैसे ही स्थित है अन्यथा कदाचित् नहीं होता, परन्तु जगत् काल में ऐसे है; वास्तव में न बिम्ब है और न प्रतिबिम्ब है। ये द्वैत में होते हैं सो द्वैत कुछ नहीं केवल चिदानन्द ब्रह्म आत्मतत्त्व अपने आप में स्थित है और देहादिक भी सर्व चिन्मात्र है। हे रामजी! जो कुछ जगत् भासता है सो आत्मा का किंचनरूप है। जैसे रस्सी सर्परूप भासती है तैसे ही आत्मा जगत्‌रूप हो भासता है और जैसे सुवर्ण भूषण हो भासता है तैसे ही आत्मा दृश्यरूप हो भासता है जैसे सुवर्ण में भूषण कुछ वास्तव नहीं होते तैसे ही आत्मा में दृश्य वास्तव नहीं। जैसे स्वप्न का पत्तनदेश असत् ही सत् हो भासता है तैसे ही जीव को देह पृथक् भासती है। हे रामजी! आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है परन्तु फुरने से अनेक रूप धारती है। जैसे एक नटवा अनेक स्वाँग धारता है तैसे ही आत्मसत्ता देहादिक अनेक आकार धारती है और जैसे स्वप्न में एक ही अनेकरूप धार चेष्टा करता है, तैसे ही जगत् में आत्मसत्ता नानारूप धारती है। हे रामजी! आत्मा नित्य शुद्ध और सबका अपना आप है। अपने स्वरूप के प्रमाद से आपसे आपका जन्ममरण जानता है पर वह जन्ममरण असत्‌रूप है जैसे कोई पुरुष आपको स्वप्न में श्वानरूप देखे तैसे ही यह आपको जन्मता मरता देखता है। जैसे इसको पूर्वभावना है और भ्रम से असत् को सत् जानता है और जैसे स्वप्न में वस्तु को अवस्तु और अवस्तु को वस्तु देखता है; तैसे ही जाग्रत् में विपर्यय देखता है। जैसे जाग्रत् के ज्ञान से स्वप्न भ्रम निवृत्त हो जाता है तैसे ही आत्मा अधिष्ठान के ज्ञान से जगत् भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे पूर्व का दुष्कृतकर्म किया हो तो उसके पीछे सुकृत कर्म करे तो वह घट जाता है तैसे ही पूर्व संस्कार से जब नीच वासना होती है और फिर आत्मतत्त्व का अभ्यास करता है तो पुरुष प्रयत्न से मलिन वासना नष्ट हो जाती है। जबतक वासना मलिन होती है तबतक उपजता विनशता और गोते खाता है और जब सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से आत्मज्ञान उपजता है तब संसारबन्धन से छूटता है—अन्यथा नहीं छूटता। हे रामजी! वासनारूपी कलङ्क से जीव घेरा हुआ है और देहरूपी मन्दिर में बैठकर अनेक भ्रम दिखाता है। आदि जीव को जो फुरा है सो अपने स्वरूप को त्यागकर अनात्म भ्रम को देखा। जैसे बालक परछाहीं में भूत कल्पे, तैसे ही जीव ने कल्पकर जैसी भावना की तैसा ही भासने लगा। आदि जीव पुर्यष्टका में स्थित हुआ है। बुद्धि, मन, अहंकार और तन्मात्रा का नाम पुर्यष्टका है और अन्तवाहक देह है। चैतन्य आत्मा अमूर्ति है; आकाश भी उसके निकट स्थूल है, प्राणवायु गुच्छे के समान है और देह सुमेरु के समान है। ऐसा सूक्ष्मजीव है। सुषुप्त जड़रूप और स्वप्नभ्रम दोनों अवस्थाओं में स्थावर-जङ्गमरूपी जीव भटकते हैं; कभी सुषुप्ति में स्थित होते हैं और कभी स्वप्न में स्थित होते हैं। इसी प्रकार दोनों अवस्थाओं में जीव भटकते हैं। हे रामजी! सबका देह अन्तवाहक है और उसी देह से सब चेष्टा करते हैं। कभी स्थावर में जाकर वृक्ष और पत्थरादिक योनि पाते हैं। जब स्वप्न में होते हैं तब जङ्गमयोनि पाते हैं सो भी कर्म वासना के अनुसार पाते हैं; जब तामसी वासना घन होती है तब कल्पवृक्ष चिन्तामण्यादिक स्वरूप को प्राप्त होते हैं; जब केवल तामसी घन मोहरूपी होती है तब वृक्ष और पत्थरादिक योनि पाते हैं। इसका नाम सुषुप्ति है सो लय घन मोहरूप है और इससे भिन्न जङ्गमविक्षेपरूप स्वप्न अवस्था है, कभी उसमें होता है और कभी सुषुप्तिरूप स्थावर होता है। हे रामजी! सुषुप्ति अवस्था में वासना सुषुप्तिरूप होती है सो फिर उगती है इससे मोहरूप है। उस सुषुप्ति से जब उतरता है तब विक्षेपरूप स्वप्न होता है और जब बोध हो तब जाग्रत् अवस्था पावे। जाग्रत् दो प्रकार की है। जाग्रत् वही है जो लय और विक्षेपता से रहित चेतन अवस्था है; उससे रहित और मनोराज सब स्वप्नरूप है। एक जीवनमुक्ति जाग्रत् है और दूसरी विदेहमुक्ति है। जीवनमुक्ति तुरीयारूप है और विदेहमुक्ति तुरीयातीत है। यह अवस्था जीव को बोध

से प्राप्त होती है और जीव को बोध पुरुष प्रयत्न से होता है—अन्यथा नहीं होता। हे रामजी ! जीव का फुरना ज्ञानरूप है। यदि दृश्य की ओर लगता है तो वही रूप हो जाता है और यदि सत् की ओर लगता है तो सत्‌रूप हो जाता है एवम् जब दृश्य के सम्मुख होता है तब दीर्घभ्रम को देखता है। जीव के भीतर जो सृष्टिरूप हो फुरता है सो भी आत्मसत्ता से कुछ भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे बटलोही में दानों के समान जल उछलता है सो उस जल से वस्तु भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा के सिवा जीव के भीतर और कुछ वस्तु नहीं और सृष्टि जो भासती है सो मायामात्र है। हे रामजी ! जीव को स्वरूप के प्रमाद से सृष्टि भासती है और सतवत् हो गई है उससे नाना प्रकार का विश्व भासता है और नाना प्रकार की वासना फुरती है उससे बन्धायमान हुआ है। जब वासना क्षय हो तब मुक्तिरूप हो। हे रामजी ! घनवासना मोहरूप का नाम सुषुप्ति जड़ अवस्था है और क्षीण स्वप्नरूप है। जब स्वरूप का प्रमाद होता है तब दृश्य में सत्‌बुद्धि होती है और जब उसमें प्रतीति होती है तब नाना प्रकार की वासना उदय होती है पर जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब संसारसत्यता नष्ट हो जाती है—फिर वासना नहीं फुरती। हे रामजी ! घनवासना तबतक फुरती है जबतक दृश्य की सत्‌बुद्धि होती है और जब जगत् का अत्यन्त अभाव होता है तब वासना भी नहीं रहती। जैसे भूषण पिघलाकर जब सुवर्ण किया तब भूषणबुद्धि नहीं रहती। जो वस्तु अज्ञान से उपजी है सो ज्ञान से लीन हो जाती है, एवं वासनाभ्रम अबोध से उपजा है और बोध से लीन हो जाता है। हे रामजी ! घनवासना से सुषुप्ति जड़ अवस्था होती है और तनुवासना से स्वप्न देखता है। घन-वासना मोह से जीव स्थावर अवस्था को प्राप्त होता है; मध्यवासना से तिर्यक्‌योनि पाता है अर्थात् पशु, पक्षी और सर्पादिक होता है; तनुवासना से मनुष्यादिक शरीर पाता है और नष्ट-वासना से मोक्ष पाता है। हे रामजी ! यह जगत् सब संकल्प से रचा है। घट पट आदिक जो बाहर देखते और ग्रहण करते हो वही हृदय में स्थित हो जाते हैं और जब उनको ग्रहण करते हो, तो ग्राह्य ग्राहक का सम्बन्ध

देखते हो कि यह मैंने ग्रहण किया है और यह मैंने लिया है। जो ज्ञानवान् है वह न ग्रहण करने का अभिमान करता है और न कुछ त्यागने का अभिमान करता है उसको भीतर बाहर सब चिदाकाश भासता है। चैतन्यसत्ता का यह चमत्कार है; तीनों जगत्‌रूप होकर वही प्रकाशता है रञ्चकमात्र भी कुछ अन्य नहीं—केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुद्‌बुदे होकर भासते हैं परन्तु जल ही जल है—जल से कुछ भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा जगत्‌रूप होकर भासता है द्वैत नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे यथार्थोपदेशो
नाम पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे जीव को स्वप्न में जो संसार उदय होता है वह कल्पनामात्र होता है, न सत् है और न असत् है जीव के फुरने से ही भ्रम भासता है; तैसे ही यह जाग्रत् अवस्था भ्रममात्र है—स्वप्न और जाग्रत् एकरूप है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् का एक क्षण भी दीर्घकाल होता है तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जाग्रत् भी दीर्घकाल का भ्रम हुआ है जिससे सत् को असत् जानता है और असत् को सत् जानता है; जड़ को चेतन जानता है और चेतन को विपर्यय ज्ञान से जड़ जानता है। जैसे स्वप्न में एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है; तैसे ही आदि जीव एकसे अनेक होकर भासता है। जैसे किसी स्थान में चोर भ्रम भासता है तैसे ही आत्मा में तीनों जगत् भ्रम भासता है। जैसे सुषुप्ति से स्वप्नभ्रम उदय होता है तैसे ही अद्वैततत्त्व आत्मा में जगत्‌भ्रम होता है। आत्मा अनन्त सर्वगत जीव का बीजरूप है जैसा उसके आश्रय फुरना होता है तैसा ही सिद्ध होकर भासता है। हे रामजी ! जिस पुरुष की स्वरूप में स्थिति हुई है वह सदा निःसंग होकर बिचरता है। जैसे विष्णुजी के निःसंगता के उपदेश से अर्जुन मुक्त होकर बिचरेंगे; तैसे ही हे महाबाहो ! तुम भी बिचरो। हे रामजी ! पांडु के पुत्र अर्जुन जैसे सुख से जन्म व्यतीत करेंगे और सब व्यवहारों में भी सुखी और स्वस्थ रहेंगे तैसे ही तुम भी निस्संग होकर बिचरो। रामजी ने पूछा, हे ब्राह्मण ! पांडु के पुत्र अर्जुन कब होंगे और कैसे

विष्णुजी उनको निःसंग का उपदेश करेंगे ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अस्ति तन्मात्रतत्त्व में आत्मादिक संज्ञा कल्पकर कही हैं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही निर्मलतत्त्व अपने आपमें स्थित है; जैसे सुवर्ण में भूषण और समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं तैसे ही आत्मा में चौदह प्रकार के भूतजाति फिरते हैं और जैसे जाल में पक्षी भ्रमते हैं तैसे ही जगत् में जीव भ्रमते हैं और चन्द्रमा, सूर्य, लोकपाल होकर स्थित हैं और उन्होंने पञ्चभूतों के कर्म रचे हैं कि यह पुण्य ग्रहण करने योग्य है और यह पाप त्यागने योग्य है; पुण्य से स्वर्गादिक सुख प्राप्त होता है और पाप से नरक होता है। यह मर्यादा लोकपाल ने स्थापन की है। इस प्रकार संसाररूपी नदी में जीव बहते हैं। संसाररूपी नदी अवच्छिन्नरूप बहती भासती है पर क्षण-क्षण में नष्ट होती है। इस जगत् में सूर्य के पुत्र यमराज लोकपाल बड़े प्रतापवान् और तेजवान् हैं और सब जीवों को मारते हैं और उस पतित प्रवाह कार्य के कर्म में स्थित हैं। उनका जीवों को मारना और दण्ड देना ही नियम है परन्तु चित्त में पहाड़ की नाईं स्थित हैं। वे यमराज चार-चार युगों प्रति कभी आठ, कभी सात, कभी बारह वा सोलह वर्षों का नियम धार के किसी जीव को नहीं मारते और उदासीन की नाईं स्थित होते हैं। जब पृथ्वी में अधिक भूत हो जाते हैं और चलने को मार्ग नहीं रहता और कोई दुष्टजीव जीवों को दुःख देते हैं उससे पृथ्वी भारी और दुःखी होती है तब पृथ्वी के भार उतारने के निमित्त विष्णुजी अवतार धारकर दुष्टजीवों का नाश करते हैं और धर्ममार्ग को दृढ़ करते हैं। हे रामजी ! इस प्रकार नियम के धारनेवाले यम को अनन्तयुग अपने व्यवहार को करते व्यतीत हो गये हैं और भूत और जगत् अनेक हो गये हैं। इस सृष्टि का जो अब वैवस्वत यम है सो आगे द्वादशवर्ष पर्यन्त नियम करेगा और किसी को न मारेगा तब जीव क्रूरकर्म करने लगेंगे और पृथ्वी भूतों से भर जावेगी। जैसे वृक्ष गुच्छों के साथ संघट्ट हो जाते हैं तैसे ही पृथ्वी प्राणियों के साथ संघट्ट हो जावेगी और जैसे चोर से डरकर स्त्री भर्त्ता की शरण जाती है तैसे ही पृथ्वी भी दुःखित होकर विष्णु की शरण जावेगी तब विष्णुजी दो देह धारकर पृथ्वी का भार उतारेंगे और सन्मार्ग स्थापन करेंगे। सब देवता भी अवतार लेकर उनके साथ आवेंगे और नरों में नायक भाव को प्राप्त होंगे। एक देह से तो विष्णु भगवान् वसुदेव के गृह में पुत्ररूप कृष्ण नाम से होंगे और दूसरी देह से पाण्डु के गृह में अर्जुन नाम से युधिष्ठिर नामक धर्मपुत्र के भाई होंगे और समुद्र जिसकी मेखला है ऐसी जो पृथ्वी है तिसका राज्य करेंगे। उसके चचा के पुत्र का दुर्योधन नाम होगा और उसका और भीम का बड़ा युद्ध होगा। दोनों ओर संग्राम की लालसा होके अठारह अक्षौहिणी सेना इकट्ठी होकर बड़े भयानक युद्ध होंगे और उनके बल से हरि पृथ्वी का भार उतारेंगे। हे रामजी ! उस सेना के युद्ध में विष्णु का अर्जुन नाम देह होगा जो गाण्डीव धनुष् धारके प्रकृतस्वभाव में स्थित हो हर्ष शोकादिक विकार संयुक्त निरधर्मा होगा और युद्ध में अपने बांधवों को देखकर मूर्च्छित होगा और मोह और कायरता से उसके हाथ से धनुष् गिर पड़ेगा और आतुर होगा तब बोध देह से उसको हरि उपदेश करेंगे। जब दोनों सेनाओं के मध्य में अर्जुन मोहित होकर गिरेगा तब हरि कहेंगे कि हे राजसिंह अर्जुन ! तू मनुष्यभाव को प्राप्त हो क्यों मोहित हुआ है ? इस कायरता को त्याग कर; तू तो परम प्रकाश आत्मतत्त्व है। सबका आत्मा आनन्द, अविनाशी, आदि, अन्त, मध्य से रहित; सर्वव्यापी, परमअंकुररूप, निर्मल, दुःख के स्पर्श से रहित, नित्य, शुद्ध, निरामय है। हे अर्जुन ! आत्मा न जन्मता है, न मरता है; होकर भी फिर कुछ और नहीं होता क्योंकि अजन्मा निरन्तर और पुरातन सबका आदि है। उसका शरीर के नाश हुए नाश नहीं होता तू क्यों वृथा कायरता को प्राप्त हुआ है ?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे नारायणावतारो
नामैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! जो इस आत्मा को हन्ता मानते हैं और हतहोता मानते हैं वे आत्मा को नहीं जानते। यह आत्मा न मरता है और न मारता है क्योंकि जो अक्षयरूप और निराकार आकाश से भी

सूक्ष्म है उस आत्मा परमेश्वर को कोई किस प्रकार मारे। हे अर्जुन ! तुम अहंकाररूप नहीं। इस अनात्म अभिमानरूपी मल को त्याग करो; तुम जन्म-मरण से रहित मुक्तरूप हो। जिस पुरुष को अनात्म में अहंभाव नहीं और जिसकी बुद्धि कर्तृत्व भोक्तृत्व से लेपायमान नहीं होती वह पुरुष सब विश्व को मारे तौ भी उसको नहीं मारता और न बन्धवान् होता है। हे अर्जुन ! जिसको जैसा दृढ़ निश्चय होता है उसको तैसा ही अनुभव होता है, इससे यह, मैं, मेरा इत्यादि जो मलिन संवित् निश्चय होता है उसको त्यागकर स्वरूप में स्थित हो। जो ऐसी भावना में स्थित नहीं होते और आपको नष्ट होता मानते हैं सो सुखदुःख से रागद्वेष में जलते हैं। हे अर्जुन ! वे अपने त्रिगुणरूप असंख्य कर्मों में बर्तते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इनसे पाँचों तत्त्व—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी उपजे हैं और उन भूतों के अंश श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका विषयों में स्थित हैं वे अपने विषय को ग्रहण करती हैं। नेत्र—रूप, त्वचा—स्पर्श, जिह्वा—रस, नासिका—गन्ध और श्रवण—शब्द ग्रहण करते हैं; उसमें अहंकार से जो मूढ़ हुआ है वह आपको कर्ता मानता है कि मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्पर्श करता हूँ, स्वाद लेता हूँ और गन्ध लेता हूँ। हे अर्जुन ! ये सब कर्म कलना से रचे हैं। इन्द्रियों से कर्म होते हैं और अहंभाव से जीव वृथा क्लेश का भागी होता है। बहुत ने मिलकर कर्म किया और इसमें एक ही अभिमानी होकर दुःख पाता है। बड़ा आश्चर्य है कि देह और इन्द्रियों से कर्म होते हैं और जीव अभिमानी होकर सुख, दुःख और राग, द्वेष से जलता है। इससे इनका संग और अभिमान त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। योगी केवल इन्द्रियों से कर्म करता है और उनमें अभिमान वृत्ति नहीं करता। हे अर्जुन ! इस जीव को अहंकार ही दुःखदायक है कि अनात्म में आत्म-अभिमान करता है। जो अभिमानरूपी विष के चूर्ण से रहित होकर चेष्टा करता है वह दुःख का कारण नहीं होता; वह सदा सुखरूप है। हे अर्जुन ! जैसे सुन्दर शरीर विष्ठा और मल से मलिन किया हो तो उसकी शोभा जाती रहती है तैसे ही बुद्धिमान् शास्त्र का वेत्ता और गुणों से सम्पन्न भी हो पर यदि अनात्म में आत्म अभिमान करे तो उसकी शोभा जाती रहती है। जो निर्मल, निरहंकार, सुख-दुःख में सम और क्षमावान् है वह शुभकर्म करे अथवा अशुभ करे उसको किसी कर्म का स्पर्श नहीं होता। हे अर्जुन ! ऐसे निश्चयवान् होकर कर्म को करो। हे पांडुपुत्र ! युद्ध तुम्हारा परमधर्म है उसे करो। अपना अतिक्रूर कर्म भी कल्याण करता है। पराया धर्म उत्तम भी दुःखदायक है और अपना धर्म अल्प भी अमृत की नाईं सुखदायक है। हे अर्जुन ! चाहे जैसा कर्म करो; यदि तुम्हारे में अहंभाव न होगा तो वह तुमको स्पर्श न करेगा। संग अभिमान को त्याग और योग में स्थित होकर कर्म करो। जो निःसंग पुरुष है उसको कोई कर्म प्राप्त हो पर वह उसको करता हुआ बन्धवान् नहीं होता। इससे ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममय कर्म करो तब शीघ्र ही ब्रह्मरूप हो जावोगे। जो कुछ आचार कर्म हो उसे ब्रह्म में अर्पण करो। संन्यास योग युक्ति से कर्मों को करते भी मुक्तिरूप होगे। इतना सुन अर्जुन ने पूछा, हे भगवन् ! संगत्याग, ब्रह्मअर्पण, ईश्वरअर्पण और योग किसको कहते हैं ? मोह की निवृत्ति के लिये इनको पृथक्-पृथक् कहिये। श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन ! प्रथम तुम यह सुनो कि ब्रह्म किसको कहते हैं। जहाँ सब संकल्प शान्त हैं केवल एक घन वेदना है; दूसरी भावना का उत्थान नहीं केवल अचैत्य चिन्मात्रसत्ता है उसको परब्रह्म कहते हैं। उसको जानकर उसके पाने का उद्यम करना और जिस विचार से उसको पाइये उसका नाम ज्ञान है। उसमें स्थित होने का नाम योग है। ऐसा निश्चय करना कि यह सब ब्रह्म है; मैं ब्रह्म हूँ और सब जगत् मैं ही हूँ; और ब्रह्म से भिन्न कुछ भावना न करना इसका नाम ब्रह्मअर्पण है। नाना प्रकार का जो जगत भासता है सो क्या है ? भीतर भी शून्य है और बाहर भी शून्य है। जिसकी शिला की उपमा है ऐसा जो आकाशवत् सत्तारूप है सो न शून्य है, न शिलावत् है; उसके आश्रय स्पन्दकलना स्फूर्ति की नाईं अन्यवत् जगत्रूप होकर भासती है परन्तु आकाश की नाईं शून्य है। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुद्बुदे अनेकरूप होकर स्थित होते हैं सो जल ही हैं और कुछ

नहीं एक जल ही अनेकरूप भासता है; तैसे ही एक ही वस्तुसत्ता घट, पट आदिक आकार होकर भासती है। संवित्सार आत्मा में भेदकलना कुछ नहीं; अज्ञान से अनेकरूप भेदकलना विकल्पजाल भासते हैं और अनेकभाव को प्राप्त होते हैं। आत्मा को अनेक नाम रूप देखना और भिन्न भिन्न देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धयादिक अनेक में अहंप्रतीति से एकत्रभाव देखना अज्ञानता है। यह कलना ज्ञान से नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन! संकल्पजालों को त्याग करने का नाम असंग कहते हैं। सब कलना जालों को भी ईश्वर से भिन्न न जानना इस भावना से द्वैतभाव गलित हो जावेगा—इसका नाम ईश्वरसमर्पण कहते हैं। हे अर्जुन! जब ऐसी अभेद भावना होती है तब आत्मबोध प्राप्त होता है। बोध से सब शब्द अर्थ एकरूप भासते हैं; सब शब्दों का एकही शब्द भासता है और एकही अर्थ सब शब्दों में भासता है। हे अर्जुन! सर्व जगत् में हूँ; दिशा और आकाश में हूँ और कर्म, काल, द्वैत, अद्वैत में ही हूँ; तू मुझसे मन लगा, मेरी भक्ति कर, मेरा ही भजन कर और मुझही को नमस्कार कर तब तू मुझही को प्राप्त होगा। हे अर्जुन! मैं आत्मा हूँ और तुम मेरे ही परायण हो। अर्जुन बोले, हे देव! आपके दो रूप हैं—एक पर और दूसरा अपर; उन दोनों रूपों में मैं किसका आश्रय करूँ जिससे मैं परमसिद्धि पाऊँ? श्रीभगवान् बोले, हे अनघ! एक समानरूप है और दूसरा परमरूप है। यह जो शङ्ख, चक्र, गदादिक संयुक्त है सो तो मेरा समानरूप है और परमरूप आदि अन्त से रहित एक अनामय है उस ब्रह्मरूप को आत्मा और परमात्मा आदिक नाम से कहते हैं। जबतक तुम अप्रबोध हो और तुमको अनात्म देहादिक में आत्म अभिमान है तबतक मेरे चतुर्भुज आकार की पूजा के परायण हो और कर्मों को करो और जब प्रबोध होगे तब मेरे परमरूप को प्राप्त होगे जो आदि-अन्त-मध्य से रहित है। उसको पाकर फिर जन्म-मरण में न आवोगे। जब तुम मोह आदि शत्रुओं के नाशकर्ता और ज्ञानवान् होगे तब आत्मा से मेरा पूजन होगा। मैं सबका आत्मा हूँ। हे अर्जुन! मैं मानता हूँ कि तुम अब प्रबोध हुए हो, आत्मपद में विश्राम पाया है और संकल्पकलना से रहित एक आत्मसत्ता में स्थित होकर मुक्त हुए हो। ऐसे योग से तुम सब भूतों में स्थित होकर आत्मा को देखोगे, सब भूतों को आत्मा में स्थित देखोगे और सर्वत्र तुमको समबुद्धि होगी तब स्वरूप में तुमको दृढ़ स्थिति होगी। हे अर्जुन! जो सब भूतों में स्थित आत्मा को देखता है एकत्वभाव से भजन करता है और जिसको आत्मा से भिन्न और भावना नहीं फुरती वह सब प्रकार वर्तमान भी है तो भी फिर जन्म-मरण में नहीं आता। हे अर्जुन! जिसमें सर्व शब्दों का अर्थ है और जो सर्व शब्दों में एक अर्थरूप है ऐसी आत्मसत्ता न सत् है और न असत् है; सत्-असत् से जो रहित सत्ता है सो आत्मसत्ता है। वह सब लोगों के चित्त में प्रकाशरूप करके स्थित है। हे भारत! जैसे दूध में घृत और जल में रस स्थित होता है तैसे ही मैं सब लोगों के हृदय में तत्त्वरूप स्थित हूँ। जैसे दूध में घृत स्थित है, तैसे ही सब पदार्थों के भीतर में आत्मा स्थित हूँ और जैसे रत्नों के भीतर-बाहर प्रकाश होता है, तैसे ही मैं सर्व पदार्थों के भीतर-बाहर स्थित हूँ। जैसे अनेक घटों के भीतर-बाहर एकही आकाश स्थित है तैसे ही मैं अनेक देहों के भीतर बाहर अव्यक्तस्वरूप स्थित हूँ। हे अर्जुन! ब्रह्मा से आदि तृण पर्यन्त सब पदार्थों में सत्तासमान से मैं स्थित हूँ और नित्य अजन्मा हूँ। मुझमें जो चित्तसंवेदन फुरा है सो ब्रह्मसत्ता की नाईं हुआ है और फुरने से जगत्रूप हो भासता है पर आत्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है—कुछ द्वैत नहीं। हे अर्जुन! आत्मा सबका साक्षीरूप है—उसको जगत् का सुख दुःख स्पर्श नहीं करता। जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब को ग्रहण करता है परन्तु सबमें सम है और किसी से खेदवान् नहीं होता; तैसे ही सब पदार्थ अवस्था का साक्षीभूत आत्मा है परन्तु किसी को स्पर्श नहीं करता और शरीर के नाश में उसका नाश नहीं होता। जो ऐसा देखता है सो ही यथार्थ देखता है। हे अर्जुन! पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, पवन में स्पर्श और स्पन्दशक्ति मैं ही हूँ; अग्नि में प्रकाश और आकाश में शब्दशक्ति मैं ही हूँ। तुमसे क्या कहूँ कि यह मैं हूँ। सर्वात्म सर्व का आत्मा मैं हूँ—मुझसे कुछ भिन्न नहीं। हे पाण्डव! यह जो सृष्टि प्रवर्त्तती है और उत्पन्न और प्रलय होती दृष्टि आती है सो मुझमें

ऐसे हैं जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और लीन होते हैं। जैसे पहाड़ पत्थररूप है; वृक्ष काष्ठरूप है और तरङ्ग जलरूप है तैसे ही सर्व पदार्थों में मैं आत्मारूप हूँ। जो सब भूतों को आत्मा में देखता है सो आत्मा को अकर्ता देखता है। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरङ्ग और सुवर्ण में भूषण भासते हैं तैसे ही नाना आकार आत्मा में भासते हैं। हे अर्जुन! ये नाना प्रकार के पदार्थ ब्रह्मरूप हैं—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं; तब और क्या कहिये; भावविकार क्या कहिये और जगत् द्वैत क्या कहिये? जो सब वही है तो वृथा मोहित क्यों होते हो? इस प्रकार सुनकर बुद्धिमान् इस लोक में समरसचित्त विचरते हैं। हे अर्जुन! उस पद को तुम क्यों नहीं प्राप्त होते जो पुरुष निर्वाण और निर्मोह हुए हैं और जिनकी सब अभिलाषायें निवृत्त हुई हैं वे अव्ययपद को प्राप्त हुए हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपदेशो
नाम द्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे महाबाहो! फिर मेरे परम वचन सुनो; मैं तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त कहता हूँ, क्योंकि तुम्हारा हितकारी हूँ। ये जो शीतोष्ण विषय हैं सो इन्द्रियों से छूते हैं और आगमापायी हैं अर्थात् आते हैं और फिर निवृत्त हो जाते हैं इससे अनित्य हैं, इनको सह रहो ये आत्मा को स्पर्श नहीं करते। तुम तो एकआत्मा आदि, अन्त, मध्य में पूर्ण, निराकार, अखण्ड और व्यापक हो तुमको शीत, उष्ण, सुख, दुःख खण्डित नहीं कर सकते ये कलना से रचे हुए हैं। जैसे सुवर्ण में भूषण का निवास है तैसे ही आत्मा में इनका असत् निवास है। हे भारत! जिसको इन्द्रियों के भ्रमरूप भोग और स्पर्श चलायमान नहीं कर सकते और सुखदुःख सम हैं उस पुरुष को मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे अर्जुन! आत्मा नित्य, शुद्ध और सर्वरूप है और इन्द्रियों के स्पर्श असत्‌रूप हैं इसलिये असत् पदार्थ सत आत्मा को मोहित नहीं कर सकते। ये अल्पमात्र तुच्छ हैं और बोधरूप आत्मतत्त्व सर्वगत शुद्धरूप है; उसको इनका स्पर्श कैसे हो—सत् को असत् स्पर्श नहीं कर सकता। जैसे रस्सी में सर्प का आभास होता है सो रस्सी को स्पर्श नहीं कर सकता; जैसे मूर्ति की अग्नि काग़ज़ को जला नहीं सकती और जैसे स्वप्न के क्षोभ जाग्रत्‌पुरुष को स्पर्श नहीं कर सकते; तैसे ही इन्द्रियाँ और उनके विषय आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकते हैं। हे अर्जुन! जो सत् है सो असत् नहीं होता और जो असत् है सो सत् नहीं होता। सुखदुःखादिक असत्‌रूप हैं और परमात्मा सत्‌रूप है। जगत की सत् वस्तुयें घटादिक और आकाश की असत् फलादिक त्यागे से जो निष्किञ्चन महासत् पद शेष रहे उसमें स्थित हो। हे अर्जुन! ज्ञानवान् पुरुष इष्ट अनिष्ट से चलायमान नहीं होता; वह इष्ट (सुख) से हर्षवान् नहीं होता और अनिष्ट (दुःख) से शोकवान् नहीं होता चैतन्य पाषाणवत् शरीर में स्थित होता है। हे साधो! यह चित्त भी जड़ है और देह इन्द्रियादिक भी जड़ हैं। आत्मा चेतन है इनके साथ मिला हुआ आपको देह क्यों देखना? चित्त और देह भी आपस में भिन्न भिन्न हैं; देह के नष्ट हुए चित्त नहीं नष्ट होता और चित्त के नष्ट हुए देह नहीं नष्ट होता। इनके नष्ट हुए जो आपको नष्ट हुआ मानता है और इनके सुखदुःख से सुखीदुःखी होता है वह महामूर्ख है। हे अर्जुन! स्वरूप के प्रमाद से जो देहादिक में अहंप्रतीति करता है और आपको भोक्ता मानता है वह निर्बुद्धि है। जब आत्मा का बोध होता है तब आपको अकर्ता, अभोक्ता और अद्वैत देखता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है और रस्सी के बोध से सर्प का अभाव होता है; तैसे ही आत्मा के अज्ञान से देह और इन्द्रियों के सुखदुःख भासते हैं और आत्मज्ञान से सुख दुःख का अभाव हो जाता है। हे अर्जुन! यह विश्व एक अज ब्रह्मस्वरूप है। न कोई जन्मता है और न मरता है—यह सत् उपदेश है। हे अर्जुन! ब्रह्मरूपी समुद्र में तुम एक तरङ्ग फुरे हो और कुछ काल रहके फिर उसी में लीन हो जावोगे—इससे तुम्हारा स्वरूप निरामय ब्रह्म है। सब जगत् ब्रह्म का स्पन्द है और समय पाकर दृष्टि आता है; इससे मान, मद, शोक और सुख, दुःख सब असत्‌रूप हैं। तुम शान्तिमान् हो रहो। हे अर्जुन! प्रथम तो तुम ब्रह्ममय युद्ध करो और जो कुछ अक्षौहिणी सेना है उसका अनुभव से नाश करो। यह द्वैत कुछ नहीं एकही सर्वदा परब्रह्मरूप स्थित

है। ब्रह्ममय युद्ध करो और सुख, दुःख; हानि, लाभ और जय, अजय इनकी उस युद्ध में एकता करो। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ जगत भासता है सो सब ब्रह्म ही है ब्रह्म से कुछ भिन्न नहीं; ऐसे जानके लाभ, हानि में सम होकर स्थित हो और चिन्तना कुछ न करो। हे अर्जुन! जड़ शरीर से कर्म स्वाभाविक होते हैं; जैसे वायु का फुरना स्वाभाविक होता है तैसे ही शरीर से कर्म स्वाभाविक होते हैं। हे अर्जुन! भोजन, यजन, दान इत्यादिक जो कुछ कार्य करो सो आत्मा ही में अर्पण करो; सदा आत्मसत्ता में स्थित रहो और सबको आत्मरूप देखो। हे अर्जुन! जो किसी के हृदय में दृढ़ निश्चय होता है वही रूप उसको भासता है। जब तुम इस प्रकार अभ्यास करोगे तब ब्रह्मरूप हो जावोगे—इसमें संशय नहीं। हे अर्जुन! जो कर्मों में आत्मा को अकर्ता देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है और सम्पूर्ण कर्मों के करते भी कुछ नहीं करता। हे अर्जुन! कर्मों के फल की इच्छा भी न हो और कर्मों से विरसता भी न हो—योग में स्थित होकर कर्म को करो। हे धनंजय! कर्तृत्व के अभिमान और फल की वाञ्छा को त्यागकर कर्म करो। जो कर्मों के फल और संग को त्यागकर नित्य तृप्त हुआ है वह करता हुआ भी कुछ नहीं करता। हे अर्जुन! जिसने सब आरम्भों में कामना और संकल्प का त्याग किया है और ज्ञान अग्नि से कर्म जलाये हैं उसको बुद्धिमान् पण्डित कहते हैं। जो आत्मा में समस्थित है और सब अर्थों में निस्स्पृह और निर्द्वन्द्वसत्ता में स्थित है यथाप्राप्ति में बर्तता है सो पृथ्वी का भूषण है और समुद्र की नाईं अचल अपने आपसे तृप्त है। जैसे समुद्र में अनिच्छित जल प्रवेश करता है तैसे ही ज्ञानवान् में सुख प्रवेश करते हैं। वह शान्तरूप सर्व कामनाओं से रहित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अर्जुनोपदेशे सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम त्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५३ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! तुम देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित, अविनाशी और अजर आत्मा हो। अजर परिणाम से रहित को कहते हैं। हे अर्जुन! तुम शोक मत करो; यह जगत् तुमको अज्ञान से भासता है। अज्ञान अपने प्रमाद को कहते हैं और प्रमाद अनात्म में आत्म अभिमान करने का नाम है। हे अर्जुन! यह जो संसाररूप तुम्हारा देह है इसमें अभिमान मत करो—यह मिथ्या है—इसमें दुःख होता है और तुम असंग और अविनाशी हो; तुम्हारा नाश कदाचित् नहीं होता। हे अर्जुन! जो विनाशरूप है वह कदाचित् न होगा और जो सत्य है उसका अभाव न होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने इन दोनों का निर्णय किया है। हे अर्जुन! जिससे यह सब प्रकाशता है उसको तुम अविनाशी जानो उसको कोई विनाश नहीं कर सकता। हे अर्जुन! तुम ऐसे हो और यह आत्मा सबका अपना आप है उसका विनाश कैसे हो? अज्ञानी मनुष्य उसका विनाश होता मानते हैं। अर्जुन ने पूछा, हे भगवन्! आप कहते हैं कि आत्मा अविनाशी है और सबका अपना आप है तो उनका क्योंकर नाश होता है? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! तुम सत्य कहते हो। किसी का नाश नहीं होता परन्तु अज्ञान से अपना नाश होता मानते हैं। हे अर्जुन! तुम आत्मवेत्ता हो रहो। वह आत्मा एक अद्वैत है जिसको एक भी नहीं कह सकते तो द्वैत कहाँ हो? अर्जुन बोले, हे भगवन्! आप कहते हैं कि आत्मा एक है तो मृत्यु भी दूसरा न हुआ और लोग मर के नरक-स्वर्ग भोगते हैं; यदि मृत्यु नहीं तो लोग मरते क्यों हैं और पाप-पुण्य क्यों भोगते हैं? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! न कोई मरता है और न जन्मता है—यह स्वप्न की नाईं मिथ्या कल्पना है। जैसे निद्रादोष से जन्मना और मरना भासता है तैसे ही संसार में यह जन्म मरण अज्ञान से भासता है। अज्ञान फुरने का नाम है उस फुरने ही से नरक और स्वर्ग कल्पा है। हे अर्जुन! जैसे यह जीव भोगता है सो तुम सुनो। इस जीव ने अपने स्वरूप के प्रमाद से संकल्प के शरीर रचे हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में मन, बुद्धि और अहंकार से जीव प्रकाश करता है। उससे मिलकर जैसी वासना करता है तैसा ही आगे भोगता है। वह वासना तीन प्रकार की है—एक सात्त्विकी; दूसरी राजसी और तीसरी तामसी। जैसी वासना होती है तैसा ही स्वर्ग और नरक बन जाता है। सात्त्विकी वासना से स्वर्ग बन जाता है और

भिन्न से नरकादिक बन जाते हैं। स्वर्गनरक केवल वासनामात्र हैं; वास्तव में न कोई स्वर्ग है और न नरक है; न कोई मरता है, न जन्मता है केवल एक आत्मा ही ज्यों का त्यों स्थित है परन्तु यह जगत् भास भ्रम से होता है। इस जीव ने अज्ञान से चिरकाल वासना का अभ्यास किया है, उसी से भ्रम देखता है। अर्जुन बोले, हे जगत्पते! यह जीव जो नरक, स्वर्गादिक योनि जगत् में देखता है उसका कारण कौन है? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! अज्ञान से जो अनात्मा में आत्म अभिमान हुआ है उससे जगत् को सत् जानकर वासना करने लगा है और जैसे जैसे जगत् को सत् जानकर वासना करता है तैसे ही जगत्भ्रम देखता है। जब आत्मविचार उपजता है तब जगत् को स्वप्न की नाईं देखता है और वासना भी क्षय हो जाती है और जब वासना क्षय होती है तब कल्याण होता है। फिर अर्जुन ने पूछा, हे भगवन्! चिर अभ्यास से जो संसारभ्रम दृढ़ हो रहा है सो किस प्रकार उपजा है और किस प्रकार लीन होगा? श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! मूर्खता और अज्ञता से जो अनात्म देहादिक में आत्मभावना होती है उससे जगत् को सत् जान वासना करता है और उस वासना के अनुसार जगत्भ्रम देखता है पर जब स्वरूप का अभ्यास करता है तब वासना नष्ट हो जाती है इससे हे अर्जुन! तुम स्वरूप का अभ्यास करो। अहं, मम आदिक वासना को त्यागकर केवल आत्मा की भावना करो। यह देह वासनारूप है जब वासना निवृत्त होगी तब देह भी लीन हो जावेगी और जब देह लीन हुई तब देश, काल, क्रिया, जन्म, मरण भी न रहेंगे। यह अपने ही संकल्प से उठे हैं और भ्रमरूप हैं; उनकी वासना से घेरा हुआ जीव भटकता है। जब आत्मबोध होता है तब वासना से मुक्त होता है और निरालम्ब असंकल्प अविनाशी आत्मतत्त्व पाता है। उसी को मोक्ष कहते हैं। हे अर्जुन! जब जीव को तत्त्वबोध होता है तब वासनारूपी जाल से मुक्त होता है और जो वासना से मुक्त हुआ सो मुक्त हुआ। यदि पुरुष सर्वधर्म-परायण भी हो और सर्वज्ञ और शास्त्रों का वेत्ता भी हो पर यदि वासना से मुक्त नहीं हुआ तो वह सब ओर से

बन्ध है जैसे दृष्टि के दोष से निर्मल आकाश में मोर के पुच्छवत् तारे भासते हैं तैसे ही मूर्ख को शुद्ध आत्मा में वासनारूपी मल जगत् भासता है। जैसे पिंजरे में पक्षी बन्द होता है तैसे ही वह बन्ध होता है। जिसके हृदय में वासना है वह बन्ध है और जिसके हृदय में वासना नहीं है उसको मोक्ष जानो। हे अर्जुन! जिसके हृदय में जगत् की वासना है वह यदि बड़ी प्रभुता संयुक्त दृष्टि आता है तो भी दरिद्री है और दुःख का भागी है; और जिसकी वासना नष्ट हुई है वह यदि प्रभुता से रहित दृष्टि आता है तो भी बड़ा प्रभुतावान् है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवनिर्णयो
नाम चतुष्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! इस प्रकार तुम निर्वासनिक जीवन्मुक्त होकर बिचरो तब तुम्हारा अन्तःकरण शीतल हो जावेगा; जरामरण से मुक्त और निःसंग आकाशवत् होगे और इष्ट-अनिष्ट को त्याग बीतराग होकर स्थित होगे। हे अर्जुन! पतित प्रवाह जो कार्य आन प्राप्त हो उसको करो और युद्ध में कायरता मत करो। आत्मा अविनाशी है और देह नाशवन्त है; देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता। हे अर्जुन! जो जीवन्मुक्त पुरुष हैं वे रागद्वेष से रहित होकर प्रवाह पतितकार्य को करते हैं। तुम भी जीवन्मुक्तस्वभाव होकर बिचरो और 'यह मैं करूँ' 'यह न करूँ'; इस ग्रहणत्याग के संकल्प को त्यागो। इसी से ज्ञानवान् बन्धवान् नहीं होते। जो मूर्ख हैं वे इसमें बन्धवान् होते हैं और जीवन्मुक्त पुरुष सुषुप्तवत् स्थित होकर प्रवाह पतित और प्रबुद्ध की नाईं वासना से रहित हुए कार्य करते हैं। जैसे कच्छप अपना अङ्ग समेट लेता है तैसे ही ज्ञानवान् वासना को सकुचा लेता है और आपको चिन्मात्ररूप जानता है। मुझमें जगत् माला के दानों की नाईं पिरोया हुआ है और सब जगत् मेरा अङ्ग है। जैसे अपने हाथ पसारे और समेटे और जैसे समुद्र से तरङ्ग उठते और लीन होते हैं; तैसे ही विश्व आत्मा से उपजते और लीन होते हैं—भिन्न कुछ नहीं। हे अर्जुन! जैसे चँदवे के ऊपर नाना प्रकार के चित्र लिखे होते हैं परन्तु

वह रङ्ग और वस्त्र से भिन्न नहीं होते; तैसे ही आत्मा में मनरूपी चितेरे ने जगत् रचा है और अनउपजा होकर भासता है। जैसे थंभे में चितेरा कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी सो आकाशरूपी पुतलियाँ उसके मन में फुरती हैं, तैसे ही ये तीनों जगत् कालसंयुक्त चित्त में फुरते हैं। चितेरा भी मूर्तियाँ तब लिखता है जब उसके चित्त के भीतर कल्पना होती है पर यह आश्चर्य है कि मन आकाश में चित्र कल्पता है। हे अर्जुन ! यह चित्र स्पष्ट भासता है तो भी आकाशरूप है। जैसे स्वप्नसृष्टि आकाशरूप होती है तैसे ही यह भी है आकाश और भीत में भेद नहीं परन्तु आश्चर्य है कि भेद भासता है। जैसे मनोराज स्वप्नपुर में जगत् मन के फुरने से भासता है और अफुर हुए लय हो जाता है सो मनोमात्र है; तैसे ही यह मनोमात्र है और आकाश से भी शून्यरूप है। जैसे स्वप्नपुर और मनोराज में एक क्षण में बड़े काल का अनुभव होता है और पूर्वरूप के विस्मरण से सत् हो भासता है तैसे ही यह जगत् सत् हो भासता है। जबतक प्रमाद होता है तबतक भासता है पर जब इस क्रम से आत्मा को देखता है तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है यद्यपि प्रकट देखता है परन्तु लीन हो जाता है और शरत्काल के आकाशवत् निर्मल भासता है। जैसे चितेरे के मन में चित्र फुरते हैं सो आकाशरूप है तैसे ही यह जगत् आकाशरूप है। हे अर्जुन ! भाव-अभाववृत्ति को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो तब आकाशवत् निर्मल हो जावोगे। जैसे मेघ की प्रवृत्ति में और निवृत्ति में आकाश निर्मल ही होता है, तैसे ही तुम भी पदार्थ के भाव-अभाव में निर्मल हो। जो कुछ पदार्थ भासते हैं वे सब आकाशरूप हैं। जैसे चितेरे के मन में पुतलियाँ भासती हैं तैसे ही यह जगत् आकाशरूप है। जैसे एक क्षण में मन के फुरने से नाना प्रकार के पदार्थ भासि आते हैं और अफुर हुए लीन हो जाते हैं; तैसे ही प्रमाद से जगत् भासता है और आत्मा के जानने से लीन हो जाता है। आत्मा में जगत् निर्वाणरूप है पर आत्मा में एक निमेष के फुरने के द्वारा प्रमाद से वज्रसार की नाईं दृढ़ हो भासता है और चित्त के फुरने से सत् भासता है यह सब जगत् आकाशरूप है—द्वैत कुछ हुआ नहीं पर बड़ा आश्चर्य है कि आकाश पर लिखे हुए चित्र नानारूप रमणीय होकर भासते हैं और मन को मोहते हैं। हे अर्जुन ! यही आश्चर्य है कि कुछ है नहीं और नाना प्रकार के रङ्ग भासते हैं। आकाशरूपी नील ताल में चन्द्रमा और तारे आदिक फूल खिले हैं और उनमें मेघरूपी पत्र लगे हैं। हे अर्जुन ! और आश्चर्य देखो कि चित्र भी तब होता है जब उसका आधार भीत अथवा वस्त्र होता है और यहाँ चित्र प्रथम उत्पन्न होते हैं आधार अर्थात् दीवार पीछे बनती है। प्रथम ये मूर्तें और चित्र बने हैं और पीछे भीत हुई है; यही आश्चर्य है। हे अर्जुन ! यह माया की प्रधानता है कि वास्तव आकाशरूप चितेरे ने आकाश में आकाशरूप पुतलियाँ रची हैं। आकाश में आकाशरूप पुतलियाँ उपजी हैं और आकाश में ही लीन होती हैं; आकाश ही को भोजन करती हैं; आकाश ही को आकाश देखता है; आकाश ही यह सृष्टि है और आकाश ही रूप आकाश आत्मा में आकाशरूप स्थित है। हे अर्जुन ! वास्तव में आत्मा ऐसे है। ऐसे अद्वैतरूप आत्मा में जो उत्थान हुआ है उस उत्थान से उसको स्वरूप का प्रमाद हुआ है जिससे दृश्यभ्रम देखता है और अनेक वासनायें होती हैं। वासनारूपी रस्सी से बाँधा हुआ भटकता है और वासना से घेरा हुआ अहं त्वं आदिक शब्दों को जानने लगता है और नाना प्रकार के भ्रम देखता है तो भी स्वरूप ज्यों का त्यों है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है और दर्पण ज्यों का त्यों रहता है तैसे ही आत्मा में जगत् प्रतिबिम्बित होता है और आत्मा छेद भेद से रहित है। ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है—जब सर्व वही है तब छेद भेद किसका हो ? जैसे जल में तरङ्ग और बुद्बुदे जलरूप हैं तैसे ही यह सब ब्रह्म ही से पूर्ण है उसमें द्वैत कुछ नहीं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही आत्मा में आत्मा स्थित है। उसमें वास वासक कल्पना कोई नहीं परन्तु स्वरूप के प्रमाद से वास वासक भेद होता है। जब स्वरूप का ज्ञान होता है तब वासना नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन ! जो वासना से मुक्त है वही मुक्त है और वासना से बाँधा हुआ बाँध है। यदि सब शास्त्रों का वेत्ता भी हो। और सर्वधर्मों से पूर्ण हो तो भी यदि वासना से मुक्त नहीं हुआ तो

बन्ध ही है। जैसे पिंजरे में पक्षी बन्ध होता है तैसे ही वह वासना से बँधा हुआ है। हे अर्जुन! जिसके हृदय में वासना का बीज है यद्यपि बाह्य दृष्टि नहीं आता तौ भी बहुत फैल जावेगा। जैसे वट का बीज फैल जाता है तैसे ही वह वासना फैल जावेगी। जिस पुरुष ने आत्मा का अभ्यास किया है और उससे ज्ञानरूपी अग्नि उपजाकर वासनारूपी बीज जलाया है उसका फिर संसारभ्रम नहीं उदय होता और न वस्तु बुद्धि से पदार्थों को ग्रहण करता है न सुखदुःख आदिक में डूबता है—सदा निर्लेप रहता है। जैसे तूंबी जल के ऊपर ही रहती है तैसे ही वह सुख दुःख के ऊपर रहता है। हे अर्जुन! तुम शान्त आत्मा हो। तुम्हारा भ्रम अब दूर हुआ है और आत्मपद को तुम प्राप्त हुये हो। तुम्हारा मन और मोह निर्वाण हो गया है और सम्यक्ज्ञानी हुये हो। व्यवहार करना और तूष्णी रहना तुमको दोनों तुल्य हैं और शान्तरूप निःशङ्कपद को प्राप्त हुए हो। यह मैं जानता हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे श्रीकृष्णसंवादे अर्जुनविश्रान्तिवर्णनं नाम पञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५५ ॥

अर्जुन बोले, हे अच्युत! मेरा मोह अब नष्ट हुआ है और मैं आत्मस्मृति को प्राप्त हुआ हूँ। आपके प्रसाद से मैं अब निःसंदेह होकर स्थित हुआ हूँ; अब जो कुछ आप कहिये वह मैं करूँ। श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! मन की पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, अभाव और स्मृति। जब ये पाँचों हृदय से निवृत्त हों तब चित्त शान्त हो। उसके पीछे चैत्य से रहित चैतन्य जो शेष रहता है उसको प्रत्यक् चैतन्य कहते हैं। वह वस्तु रूप है। सब उपाधि से रहित पूर्ण है और सर्व रूप है। जो उस पद को प्राप्त हुआ है उसको आधि-व्याधि आदिक दुःख नहीं हो सकते। जैसे जाल से निकलकर पक्षी आकाशमार्ग को उड़ता है तैसे ही वह देहाभिमान से मुक्त होकर आत्मपद को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! प्रत्यक् जो चैतन्य सत्ता है सो परम प्रकाशरूप, शुद्ध और संकल्पविकल्प से रहित है और इन्द्रियों के विषय में नहीं आती इन्द्रियों से अतीत है। जो पुरुष सबसे अतीत पद को प्राप्त हुआ है उसको वासना नहीं स्पर्श कर सकती। उसके प्राप्त हुये ये घट पट आदिक पदार्थ सब शून्य हो जाते हैं और वहाँ तुच्छ वासना का कुछ बल नहीं चलता। जैसे अग्नि समूह के निकट बरफ़ गल जाती है और उसकी शीतलता नहीं रहती, तैसे ही शुद्धपद के साक्षात्कार हुये चित्तवृत्ति नष्ट हो जाती है और वासना का भी अभाव हो जाता है। हे अर्जुन! वासना तबतक फुरती है जबतक संसार को सत्य जानता है; जब आत्मपद की प्राप्ति होती है तब संसार और वासना का अभाव हो जाता है। इस कारण विरक्त पुरुष को सत्य जानने से कुछ वासना नहीं रहती नाना प्रकार के आकार विकार संयुक्त अविद्या तबतक फुरती है जबतक शुद्ध आत्मा को अपने आप से नहीं जाना। शुद्ध आत्मा को प्राप्त हुये जगत् भ्रम सब नष्ट हो जाता है; स्वच्छपद आत्मतत्त्व में स्थित होता है; आकाशवत् निर्मलभाव को प्राप्त होता है और अपने आपको सबमें पूर्ण देखता है वही आत्मसत्ता सब आकाररूप है और सब आकाररूपों से रहित भी है। हे अर्जुन! जो शब्द से अतीत परमवस्तु है उसको किसकी उपमा दीजे? जो वासनारूपी विसूचिका को त्यागकर अपने आत्मस्वभाव में स्थित हुआ पृथ्वी में विचरता है वह त्रिलोकी का नाथ है। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार त्रिलोकी के नाथ कहेंगे तब अर्जुन एक क्षण मौन में स्थित हो जावेंगे और उसके उपरान्त कहेंगे कि हे भगवन्! मेरे सब शोक नष्ट हो गये हैं और जैसे सूर्य के उदय हुये कमल खिल आते हैं तैसे ही आपके वचनों से मेरा बोध खिल आया है—अब जो कुछ आप की आज्ञा हो वह मैं करूँ। इस प्रकार कहकर अर्जुन गाण्डीव धनुष ग्रहण करेंगे और भगवान् को सारथी करके निःसंदेह और निश्शङ्क होकर रणलीला करेंगे जिसमें हाथी, घोड़े, मनुष्य मारकर लोहू के प्रवाह चलावेंगे तौ भी आत्मतत्त्व में स्थित रहेंगे और स्वरूप से चलायमान न होंगे। जैसे पवन मेघ का अभाव कर देता है। तैसे ही योधाओं का नाश करेंगे॥

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे श्रीकृष्णअर्जुनसंवादे भविष्यद्गीतानामोपाख्यानसमाप्तिर्नामषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ऐसी दृष्टि का आश्रय करो जो दृष्टि दुःख का नाश करती है निःसंग संन्यासी हो अपने सब कर्म और चेष्टाओं को ब्रह्म अर्पण करो। जिसमें यह सब है और जिससे यह सर्व है ऐसी सत्ता को तुम परमात्मा जानो। अनुभवरूप आत्मा है उसकी भावना से उसी को प्राप्त होता है—इसमें संशय नहीं। जो सत्ता संवेदन फुरने से रहित चैतन्य है उसी को तुम परमपद जानो। वह सबका परम द्रष्टारूप है और सबका प्रकाशक है और महाउत्तम परमगुरु का गुरु है। जिसको शून्यवादी शून्य, विज्ञानवादी विज्ञान और ब्रह्मवादी ब्रह्म कहते हैं वह परमसार शान्तरूप शिव अपने आप में स्थित है वही आत्मा इस जगतरूपी मन्दिर को प्रकाश करनेवाला दीपक है; जगत्‌रूपी वृक्ष का रस है; जगत्‌रूपी पशु का पालनेवाला गोपाल है; जीवरूपी मोतियों को एकत्र करनेवाला तागा है। हृदय और भूतरूपी मिर्चों में तीक्ष्णता है निदान सब पदार्थों में पदार्थरूप सत्ता वही है। सत्य में सत्यता और असत्य में असत्यता वही है। जगत्‌रूपी गृह में सब पदार्थों का प्रकाशनेवाला दीपक वही है और उसी से सब सिद्ध होते हैं। चन्द्रमा, सूर्य, तारे आदिक जो प्रकाशरूप दीखते हैं उनका भी वह प्रकाशक है। यह जड़ प्रकाश है और वह चैतन्य प्रकाश है उसमें ये सिद्ध होते हैं और उसीसे सब प्रकाश प्रकट हुये हैं। वह आत्मसंवित् अपने ही विचार से पाया जाता है। हे रामजी ! जो कुछ भाव अभाव पदार्थ भासते हैं वे असत् हैं; वास्तव में कुछ हुए नहीं प्रमाददोष से भासते हैं और जब विचार उपजता है तब नष्ट हो जाते हैं। हे रामजी ! जिसके हृदय में अहंभाव है उसे ऐसा जो जगत् जाल है सो मिथ्याभ्रम से भासता है उसको उपजा क्या कहिये और किसकी आस्था कीजिये ? यह जगत कुछ वस्तु नहीं। आदि, अन्त, मध्य की कल्पना से रहित जो देव है वह ब्रह्मसत्ता समान अपने आप में स्थित है और द्वैत कुछ बना नहीं। जब यह तुमको दृढ़ निश्चय होगा तो तुम व्यवहार करते भी हृदय से निःसंग और शान्तरूप होगे। हे रामजी ! जिस पुरुष की उस समानसत्ता में स्थिति हुई है वह इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में रागद्वेष से रहित हृदय से सदा शान्तरूप रहता है। वह न उदय होता है, न अस्त होता है; सदा समताभाव में स्थित रहता है। वह स्वस्थरूप अद्वैततत्त्व में स्थित होता है और जगत् की ओर से सुषुप्तवत् हो जाता है; व्यवहार भी करता है परन्तु दर्पण के सदृश क्षोभवान् नहीं होता। जैसे मणि सब प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है परन्तु उसका संग नहीं करती; तैसे ही ज्ञानवान् पुरुष कदाचित् कलना कलङ्क को नहीं प्राप्त होता; उसका चित्त व्यवहार में सदा निर्मल रहता है। ज्ञानवान् को जगत् आत्मा का चमत्कार भासता है; न एक है, न अनेक है; आत्मतत्त्व सदा अपने आप में स्थित है। चित्त में जो यह चेतनभाव भासता है उस चित्त के फुरने का नाम संसार है और फुरने से रहित अफुर का नाम परमपद है। हे रामजी ! महा चैतन्य में जो निज का अभाव है कि मैं आत्मा को नहीं जानता; इसी का नाम चित्तस्पन्द है और यही संसार का कारण है। जब यह भावना क्षय हो तब चित्त अफुर हो। हे रामजी ! जहाँ निजभाव होता है वहाँ पदार्थों का अभाव होता है। वह निज सब ठौर अपने अर्थ को सिद्ध करती है परन्तु आत्मा में नहीं प्रवर्त्त सकती। जब जीव कहता है कि मैं आत्मा को नहीं जानता तब भी आत्मा का अभाव नहीं होता क्योंकि अभाव को जाननेवाला भी आत्मा ही है। जो आत्मतत्त्व न हो तो अभाव कौन कहे सो आत्मा परमशून्य है परन्तु अजड़रूप परम चैतन्य है। हे रामजी ! तुम निज का अर्थ आत्मा में करो और आत्मा का अभाव न मानो। अनात्म में जो निज का भावत्व है उसका अभाव करो अर्थात् अनात्म को अभावरूप मानो। जब इस प्रकार दृढ़भावना करोगे तब संसार भ्रम निवृत्त हो जावेगा और केवल आत्मभाव शेष रहेगा। हे रामजी ! चित्त के फुरने का नाम संसार है चित्त के फुरने से ही संसारचक्र बर्तता है। जैसे सुवर्ण से भूषण प्रकट होते हैं तैसे ही चित्त से त्रिपुटी होती है पर चित्तस्पन्द भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं आत्मा का आभासरूप है। अज्ञान से चित्त स्पन्द होता है और ज्ञान से लीन हो जाता है। जैसे सुवर्ण के भूषण को गलाये से भूषण बुद्धि नहीं रहती तैसे ही चित्त अचल हुये चित्संज्ञा जाती रहती है और जैसे भूषण के

अभाव हुये सुवर्ण ही रहता है तैसे ही बोध से चित्त के लीन हुये शुद्ध चैतन्य सत्ता शेष रहती है। फिर भोगों की तृष्णा लीन हो जाती है और जब भोगभावना निवृत्त होती है तब ज्ञान का परम लक्षण सिद्ध होता है। हे रामजी ! जो ज्ञानवान् पुरुष है और जिसने सत्‌रूप को जाना है उसको भोग की इच्छा नहीं रहती। जैसे जो पुरुष अमृतपान से अघा जाता है उसको खली आदिक तुच्छ भोजन की इच्छा नहीं रहती तैसे ही आत्मज्ञान से जो संतुष्ट हुआ है उसको विषय की तृष्णा नहीं रहती। यह निश्चय करके जानो कि जब चित्त फुरता है तब जगत्भ्रम हो भासता है और सत्य जानकर भोग की इच्छा होती है पर जब बोध होता है तब जगत्भ्रम लीन हो जाता है तो फिर तृष्णा किसकी करे। यदि इन्द्रियों के विषय प्राप्त हों और हठकर उनको न भोगे वह मूर्ख है वह मानों अस्त्र से आकाश को छेदता है। हे रामजी ! गुरु और शास्त्रों की युक्ति से मन वश होता है; उनकी युक्ति विना शुद्धता नहीं होती। यदि कोई अपने अङ्ग ही को काटे और उससे चित्त को स्थित किया चाहे तौ भी चित्त स्थिर नहीं होता और न संसारभ्रम ही मिटता है। जबतक चित्त में स्थिति है तबतक जगत्भ्रम दीखता है और जब गुरु और शास्त्रों की युक्ति ग्रहण करके चित्त का अभाव होता है तब चित्त नष्ट और अचल हो जाता है। जैसे बालक को अन्धकार में पिशाच भासता है और दीपक जलाकर देखे से अन्धकार निवृत्त होकर पिशाचभ्रम नष्ट हो जाता है तब बालक निर्भय होता है; तैसे ही आत्मज्ञानरूप युक्ति से अज्ञान निवृत्त होता है; असम्यक्‌बुद्धि से जगत्भ्रम हुआ है और सम्यक्‌बोध से निवृत्त हो जाता है; फिर जाना नहीं जाता कि अज्ञान का जगत्भ्रम कहाँ गया। जैसे दीपक के निर्वाण हुए नहीं जानता कि प्रकाश कहाँ गया, तैसे ही अज्ञान नष्ट हुए नहीं जाना जाता कि जगत् कहाँ गया। चित्त के फुरने से बन्ध होता है और अफुरने से मोक्ष होता है परन्तु आत्मा से भिन्न कुछ नहीं आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है; उसमें न बन्ध है; न मोक्ष है। हे रामजी ! जब मोक्ष की इच्छा होती है तब भी उसकी पूर्णता का क्षय होता है और निःसंवेदन हुए कल्याण होता है। जो अनाभास

अजड़रूप परमपद है वह चैतन्योन्मुखत्व से रहित है। हे रामजी ! बन्ध मोक्ष आदिक भी कलना में होते हैं। जब कलना से रहित बोध होता है तब बन्ध मोक्ष दोनों नहीं रहते। जबतक विचार से नहीं देखा तबतक बन्ध और मोक्ष भासता है विचार किये से दोनों का अभाव हो जाता है। जब 'अहं' 'त्वं' 'इदं' आदिक भावना का अभाव हुआ तब किसको कौन बन्ध कहै और किसको कौन मोक्ष कहै सब कलना चित्त के फुरने से होती है जब चित्त का फुरना नष्ट होता है तब सब कलना का अभाव हो जाता है तब शान्तिमान् होता है अन्यथा नहीं होता। इससे चित्त को आत्मपद में लीन करो। जिसके आश्रय यह जगत् उपजता है और लीन होता है ऐसा जो ज्ञानरूप आत्मा है, उसी अनुपमरूप प्रत्यक् आत्मप्रकाश में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रत्यगात्मबोधवर्णनं
नाम सप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः॥ ५७॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! परमतत्त्व परमात्मपद हमको सदा प्रत्यक्ष है और वस्तुरूप वही है उससे कुछ भिन्न नहीं। यह प्रत्यक्‌आत्मा है और सर्वसत्ता का दर्पण है; सब सत्ता इसी से प्रकट होती है। जैसे बीज से वृक्ष की सत्ता प्रकट होती है तैसे ही आत्मा से जगत् सत्ता प्रकट होती है। हे रामजी ! मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार जड़ात्मक हैं और इनसे रहित परमपद है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक सब उसी में स्थित हैं जैसे चक्रवर्ती राजा निर्धन से ऊँचा शोभता है तैसे ही उस सत्ता को पाकर जीव सब लोगों से ऊँचे शोभता है। उस आत्मा को प्राप्त होकर फिर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता और न कदाचित् शोकवान् ही होता है न क्षीण होता है एक क्षणमात्र भी जो अप्रमादी होकर आत्मा को ज्यों का त्यों जानता है वह संसार कलना को त्यागकर मुक्त होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के अभाव हुए जो सत्तासामान्य शेष रहती है उसका भान कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो सब देहों में स्थित होकर भोजन और जल-पान करता और देखता, सुनता, बोलता इत्यादिक क्रिया करता दृष्टि आता है सो आदि-अन्त

से रहित संवित् सत्ता सर्वगत अपने आपमें स्थित है और सर्वविश्वरूप वही है। आकाश में आकाश; शब्द में शब्द; स्पर्श में स्पर्श; नासिका में गन्ध; शून्य में शून्य; नेत्रों में रूप; पृथ्वी में पृथ्वी; जल में जल; तेज में तेज; वृत्तों में रस; मन में मन; बुद्धि में बुद्धि; अहंकार में अहंकार; अग्नि में अग्नि; उष्णता में उष्णता; घट में घट; पट में पट; वट में वट; स्थावर में स्थावर; जङ्गम में जङ्गम; चेतन में चेतन; जड़ में जड़; काल में काल; नाश में नाश; बालक में बालक; यौवन में यौवन; वृद्ध में वृद्ध और मृत्यु में मृत्युरूप होकर वही परमेश्वर स्थित है। हे रामजी! इस प्रकार सब पदार्थों में वह अभिन्नरूप स्थित है, नानात्वदृष्टि भी आती है परन्तु अनाना है और भ्रम से भासती है। जैसे परछाहीं में भ्रम से वैताल भासता है तैसे ही आत्मा में नानात्व भासती है। सब में, सब ठौर, सब प्रकार, सर्व आत्मा ही स्थित है; ऐसा जो आत्मदेव सत्तासमान है उसमें स्थित हो। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब वशिष्ठजी ने कहा तब दिन अस्त होने से सब सभा परस्पर नमस्कार करके स्नान को गये और सूर्य के निकलते ही फिर अपने अपने आसन पर आन बैठे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विभूतियोगोपदेशोनामाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ ५८ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जैसे हमारे स्वप्न में पुर, नगर और मण्डल होते हैं तैसे ही ब्रह्मादिक ने इस देह को ग्रहण किया है उनको असत् प्रतीति है और हमको दृढ़ प्रतीति कैसे उपजी है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! प्रथम ब्रह्मा को सर्ग असत्वत् भासता है; वास्तव नहीं भासता। सर्वगत चैतन्य संवित् को संसार के दर्शन से जब सम्यक् दर्शन का अभाव हुआ और स्वप्नरूप में आपसे अहंप्रतीति उपजी तब दृढ़ होकर देखने लगा। जैसे अपने स्वप्न में जगत् दृढ़ भासता है और उसे स्वप्ना नहीं जानता; तैसे ही ब्रह्मा का जगत् भी दृढ़ भासता है; स्वप्ना नहीं भासता। जो स्वप्न पुरुष से उपजा है सो स्वप्नरूप है। हे रामजी! ऐसा जो सर्ग है सो जीव जीव प्रति उदय हुआ है। जैसे समुद्र में तरंग फुरते हैं तैसे ही चैतन्यतत्त्व का आभास जगत् फुरते हैं और जैसे स्वप्नपुर में असत् पदार्थ होते हैं तैसे ही यह पदार्थ भी अवास्तव हैं और मन के संकल्प से भ्रममात्र ही स्पष्ट भासते हैं। हे रामजी! ऐसा पदार्थ कोई नहीं कि इस जगत् में सिद्ध नहीं होता; और का और नहीं भासता और मर्यादा नहीं त्यागता, क्योंकि मन के संकल्प से उपजे हैं। तुम देखो कि जल में अग्नि स्थित है—जैसे समुद्र में बड़वाग्नि है सो विपर्यय है। इसी कारण से कहता हूँ कि मनोमात्र है। और देखो कि अकाश में नगर बसते हैं; विमान प्रत्यक्ष चलते हैं और चिन्तामणि आदिक से कमल उपजते हैं। जैसे हिमालय पर्वत में बरफ़ उपजती है और सब ऋतु के फूल एकही समय उपजते हैं। जैसे संकल्प के वृक्ष से पत्थर निकल आते हैं; शिला में जल निकलता है; चन्द्रकान्ति से अमृत द्रवता है और निमेष में घट पट हो जाते हैं और पट घट हो जाते हैं; निदान स्वरूप के विस्मरण हुए सत् को असत् देखता है जैसे स्वप्न में अपना मरना देखता है; जल ऊर्ध्व को चलता देखता है; मेघ होकर स्वर्ग में गंगा बहती देखता है और पत्थर उड़ते देखता है। जैसे पंखों सहित पहाड़ उड़ते हैं और चिन्तामणि शिलारूप से सब पदार्थ उपजते हैं इत्यादिक भ्रम से नानात्व विपर्ययरूप हो फुरते हैं। इससे तुम देखो कि सब मनोमात्र हैं और से और हो जाते हैं। हे रामजी! यह इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर और साम्बरी मायावत् है; असत् ही भ्रम करके सत् हो भासता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं कि सत् नहीं और असत् भी नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नविचारोनामैकोनषष्टितमस्सर्गः ॥ ५९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह संसार मिथ्या है। जो पुरुष इसको सत्य जानता है वह महामूर्ख है और भ्रम में भ्रम देखकर महामोह को प्राप्त होता है। जैसे कोई मृग गढ़े में गिर पड़ता है तो महादुःखी होता है और फिर उससे भी बड़े गढ़े में गिरता है तो अति दुःख पाता है; तैसे ही जो मूर्ख पुरुष है वह आत्मा के अज्ञान से संसाररूपी गढ़े में गिरता है और उससे अनेक भ्रम देखता है और स्वप्न से स्वप्नान्तर

देखता है। इसी से एक इतिहास कहता हूँ उसे मन लगाकर सुनो। एक मननशील संन्यासी योग के आठवें अङ्ग समाधि में स्थित था और उसका हृदय समाधि करते करते शुद्ध हुआ था। समाधि में दिन को व्यतीत करे और जब समाधि से उतरे तो फिर आसन लगाकर समाधि में लगे। इसी प्रकार जब बहुत काल बीता तो एक समय समाधि से उतर वह यह चिन्तना करने लगा कि जैसे प्राकृतिक पुरुष बिचरते और चेष्टा करते हैं तैसे ही मैं भी कुछ चेष्टा रचूँ। ऐसे विचार करके उसने मन के संकल्प से विश्व कल्पी और उसमें एक आप भी बना और उसका नाम झीवट हुआ निदान मद्यपान करे और ब्राह्मणों की सेवा भी करे। चेष्टा करते-करते सो गया और स्वप्न में उसको ब्राह्मण के शरीर का भान हुआ तो उस ब्राह्मणशरीर में वेद का अध्ययन और पाठ करने लगा। ऐसी चेष्टा से जब उसे चिरकाल बीता तो फिर स्वप्ना आया और आपको बड़ी सेनासंयुक्त राजा देखा और उस सेनासंयुक्त राजा होकर बिचरने लगा। कुछ काल जब इसी प्रकार व्यतीत हुआ तो फिर स्वप्ना आया और उस स्वप्न में आपको चक्रवर्ती राजा देखा और चक्रवर्ती होकर सारी पृथ्वी पर आज्ञा चलाने लगा। जब कुछ काल बीता तो फिर आपको देवाङ्गना देखा और देवता के साथ बाग में बिचरने लगी और जैसे बेलि वृक्ष के साथ शोभा पाती है तैसे ही देवता के साथ शोभा पाने लगी। इसी प्रकार जब कुछ काल देवता के साथ बीता तो फिर स्वप्ना आया और आपको हरिणी देखा और वन में चरने लगा। कोई काल ऐसे भी व्यतीत हुआ तो फिर स्वप्ना आया और आपको देवताओं के वन की बेलि देखा। जब ऐसे कुछ समय बीता तो फिर स्वप्न में आपको भँवरी देखा और सुगन्ध को ग्रहण करने लगा। उसके अनन्तर फिर स्वप्ना आया कि मैं कमलिनी हूँ और वहाँ एक दिन हाथी आकर बेलि को खा गया। जैसे कोई मूर्ख बालक भली वस्तु को भी तोड़ डालता है तैसे ही वह मूर्ख हाथी बेलि तोड़कर खा गया। उसके उपरान्त उस बेलि ने हाथी का शरीर पाकर बड़ा दुःख पाया और गढ़े में गिरा। थोड़े समय के उपरान्त हाथी को स्वप्ना आया और भँवरी होकर कमलों में बिचरने लगा। जब

कुछ काल बीता तो फिर वह बेलि हुआ और उस बेलि के निकट एक हाथी आया और उस हाथी के पाँवों से वह बेलि चूर्ण हो गई। तब उस बेलि को एक हंस ने खाया तब वह बेलि हंस हुआ और बड़े मानसरोवर में बिचरने लगा। फिर उस हंस के मन में आया कि मैं ब्रह्मा का हंस होऊँ। तब वह अपने संकल्प से ब्रह्मा का हंस बन गया जैसे जल का तरङ्ग बन जावे। तब ब्रह्मा के उपदेश से हंस को आत्मज्ञान प्राप्त हुआ। हे रामजी! अज्ञान से ऐसे भ्रम पाके ज्ञान से शान्त हुआ फिर विदेह-मुक्त होगा। वह हंस सुमेरुपर्वत में उड़ा जाता था तब उसके मन में आया कि मैं रुद्र होऊँ इसलिये सत् संकल्प से रुद्र हो गया। जैसे शुद्धदर्पण में शीघ्र ही प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ही शुद्ध अन्तःकरण के संकल्प से वह रुद्र हुआ। जिसको अनुत्तर ज्ञान हो उसको रुद्र कहते हैं और अनुत्तर ज्ञान वह है जिसके पाने से और कुछ पाना नहीं रहता। ध्यान से अपने को देख उस रुद्र के मन में विचार हुआ कि बड़ा आश्चर्य है कि मैं अज्ञान से इतने बड़े भ्रम को प्राप्त हुआ था। बड़ी आश्चर्य माया है! मैं तो एक ओर पड़ा हूँ और यह विश्व मेरा स्वरूप है। जो मेरे शरीर हैं उनको जाकर जगाऊँ। तब रुद्र उठ खड़ा हुआ और अपने स्थान को चला। प्रथम संन्यासी के शरीर को आकर देखा और चित्तशक्ति से उसे जगाया तो संन्यासी के शरीर में ज्ञान हुआ कि सबमें मैं ही स्थित हूँ, परन्तु संन्यासी ने जाना कि मुझको रुद्र ने जगाया है और इतने शरीर मेरे और भी हैं। फिर वहाँ से वह रुद्र और संन्यासी दोनों चले और झीवट के स्थान में आये तो देखा कि झीवट शव की नाईं पड़ा है; मदिरा के बासन पड़े हैं, चेतना भी वहाँ ही भ्रमती है और नाना प्रकार के स्थान देखती है—जैसे झरने के छिद्र में चींटी भ्रमती है। तब उन्होंने झीवट को चित्तशक्ति से जगाया और वह उठ खड़ा हुआ तो उसको ऐसा स्मरण हुआ कि मुझे तो इन्होंने जगाया। फिर झीवट के मन में विचार हुआ कि इतने शरीर मेरे और भी हैं। निदान रुद्र, संन्यासी और झीवट तीनों चले। इन्होंने विचार किया कि हमने इतने शरीर क्योंकर पाये कि आदि तो मैं एक परमात्मा में चैतन्योन्मुखत्व करके संन्यासी

हुआ, फिर संन्यासी से झीवट हुआ और मद्यपान करने लगा; फिर ब्राह्मण होकर वेद का पाठ करने लगा और उसके पाठ करने के पुण्य से राजा का शरीर धारण किया, उसके आगे जो बड़ा पुण्य प्राप्त हुआ उससे चक्रवर्ती राजा हुआ; चक्रवर्ती राजा के शरीर में काम बहुत हुआ उससे देवता की स्त्री हुआ और स्त्री के शरीर में नेत्रों में बहुत प्रीति थी उससे हरिणी हुआ; फिर भँवरी हुआ; उससे आगे बेलि हुआ और इससे लेकर जो शरीर धारे सो मिथ्या धारे और अज्ञान से बहुत काल भटकता रहा। अनेक वर्ष और सहस्रों युग व्यतीत होगये हैं संन्यासी से आदि रुद्र पर्यन्त वासना करके जन्म पाये हैं और इतने जन्म पाकर ब्रह्मा का हंस हुआ तब वहाँ ज्ञान की प्राप्ति हुई, क्योंकि पूर्व अभ्यास किया था उससे अकस्मात् से सत्संग प्राप्त हुआ। ऐसे विचार करते वे वहाँ से चले और चैतन्यआकाश में उड़कर वेदपाठ करनेवाले ब्राह्मण की सृष्टि में गये तो उसको देखा कि पड़ा है। चित्तशक्ति से उन्होंने उसको जगा रुद्र, संन्यासी, मद्यपान करनेवाला झीवट और ब्राह्मण चारों वहाँ से चले और चित्ताकाश में उड़े और राजा की सृष्टि में पहुँचे तो देखा कि राजा की सृष्टि चेष्टा करती है और राजा जिनकी देह सुवर्ण की नाईं शोभायमान है अपने मन्दिर में रानी समेत शय्या पर सोवे है और सहेलियाँ चमर करती हैं। तब उन्होंने राजा को चित्तशक्ति से जगाया और उसने देखा कि सर्वविश्व मेरा ही स्वरूप है और इतने शरीर मैंने अज्ञान से धरे हैं। निदान रुद्र, संन्यासी, मद्यपान करनेवाला झीवट, ब्राह्मण और राजा वहाँ से चले और हाथी से आदि लेकर जितने शरीर धरे थे उन सबको जगाया और उनमें यही निश्चय हुआ कि हम चिन्मात्ररूप हैं और आवरण से रहित हैं अर्थात् अज्ञान के फुरने से रहित हैं। हे रामजी! तब उनके शरीर अलग अलग दीखे परन्तु चेष्टा भिन्न भिन्न और निश्चय सबका एक हुआ। उनका नाम शतरुद्र हुआ। हे रामजी! सम्पूर्ण विश्व अज्ञान के फुरने से होता है और ज्ञान से देखिये तो कुछ नहीं। ऐसे ही उनका संवेदन और निश्चय एकसा हुआ। एक देखे तो जाने कि सर्व ही मेरा रूप है और जब दूसरा देखे तो विचारे कि मेरा ही रूप है। जैसे समुद्र से अनेक तरङ्ग होते हैं पर उनके आकार भिन्न भिन्न होते हैं और स्वरूप एक-सा ही होता है; तैसे ही ज्ञानवान् सर्वविश्व को अपना ही स्वरूप देखते हैं और अज्ञानी उनको भिन्न भिन्न जानते हैं और आपको भिन्न जानते हैं। एक को दूसरा नहीं जानता और दूसरे को प्रथम नहीं जानता। हे रामजी! यह विश्व अपना ही स्वरूप है पर अज्ञान से भिन्न भासता है। चिन्मात्र में फुरने को अज्ञान कहते हैं। चित्त फुरने से संसार है और न फुरने से आत्मस्वरूप ही है। इससे हे रामजी! फुरने का त्याग करो और कुछ नहीं, जिस प्रकार शत्रु मरे उस प्रकार मारिये—यही यत्न करो; और मैं तुमसे ऐसा उपाय कहता हूँ कि जिसमें कुछ यत्न नहीं और शत्रु भी मारा जावे। हे रामजी! यह चिन्तना ही दुःख है और चिन्तना से रहित होना ही सुख है—आगे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो। इस चित्त के फुरने से संसार है और निवृत्त होने में स्वरूप ही है। जैसे पत्थर में पुरुष पुतलियाँ कल्पता हैं तो पत्थर से भिन्न पुतलियों का अभाव है तैसेही चित्त ने विश्व कल्पा है। जब चित्त निवृत्त हो तब विश्व अपना ही स्वरूप है; कुछ भिन्न नहीं। चित्त से जहाँ जावे वहाँ पञ्चभूत ही दृष्टि आते हैं आत्मा नहीं दृष्टि आता और चित्त से रहित ज्ञानी जहाँ जावे वहाँ आत्मा ही दृष्टि आता है। जब चित्त की वृत्ति बहिर्मुख होती है तब संसार होता है और पञ्चभूत ही दृष्टि आते हैं और जब चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब ज्ञानरूप अपना आपही भासता है। जो कुछ पदार्थ हैं सो ज्ञानरूप आत्मा विना सिद्ध नहीं होते। प्रथम आपको जानता है तो और पदार्थ जाने जाते हैं। इसी से ज्ञानवान् सब अपना आप जानता है। हे रामजी! ये जो कुछ पदार्थ हैं सो फुरने से हैं और जितने जीव हैं उनकी संवेदन भिन्न भिन्न है। संवेदन में अपनी अपनी सृष्टि है। जैसे किसी सोये हुए पुरुष को अपने स्वप्न की सृष्टि भासती है और जो उसके पास बैठा होता है उसको नहीं भासती, क्योंकि उसकी विश्व स्वप्ने को नहीं जानती; तैसे ही जो ज्ञानी है उसको अपना आपही भासता है और इस सब जगत् को अपना रूप जानता है। अज्ञानी जिस ओर देखता है उसी ओर पञ्चभूत दृष्टि आते हैं। जैसे पृथ्वी के

खोदे से आकाश ही दृष्टि आता है तैसे ही ज्ञानी चित्तसहित जहाँ देखता है तहाँ पञ्चभूत ही दृष्टि आते हैं। इससे हे रामजी ! तुम फुरने से रहित हो। फुरने ही से बन्ध है और न फुरने से मोक्ष है; आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो तैसा करो। हे रामजी ! जो अफुरने से अस्त हो जावे उसके नाश में कृपणता करना क्या है और जो अफुरने से प्राप्त हो उसको प्राप्त रूप जानो। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यह भीवट और ब्राह्मण से आदि लेकर संन्यासी के रूप स्वप्न में हुए, उसके उपरान्त फिर क्या हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ब्राह्मण से आदि जितने शरीर थे वे रुद्र के जगाये हुए सुखी हुए और जब सब इकट्ठे हुए तब रुद्र ने उनसे कहा, हे साधो ! तुम अपने अपने स्थान को जाओ और कुछ काल अपने कलत्र में भोग भोगो तब तुम मेरे गण होकर मुझको प्राप्त होगे और महाकल्प में हम सबही विदेहमुक्त होंगे। हे रामजी ! जब रुद्र ने ऐसे कहा तब सब अपने अपने स्थानों को गये और रुद्रजी भी अन्तर्धान हो गये वे अब भी तारों का आकार धारे हुए कभी कभी मुझको आकाश में दृष्टि आते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि संन्यासी ने भीवट से आदि लेकर सब शरीर धारे सो सत् कैसे हुए और उनकी सृष्टि कैसे सत् हुई सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! आत्मा सबका अपना आप, शुद्ध, चैतन्य आकाश और अनुभवरूप है; उसमें जैसे देश, काल और वस्तु का निश्चय होता है तैसे ही बन जाता है। जैसे जैसे फुरता है तैसे ही तैसे आगे हो जाता है। जिसका मन शुद्ध होता है उसका सत् संकल्प होता है और जैसा संकल्प करता है तैसा ही होता है। जो तुम कहो कि संन्यासी का अन्तःकरण शुद्ध था उसने नीच और ऊँच जन्म कैसे पाये अर्थात् मद्यपान करनेवाला और भँवरी, बेलि से आदि लेकर नीच और ऊँच अर्थात् ब्राह्मण, राजा आदि लेकर शुद्ध अन्तःकरण में ऐसे जन्म न चाहिये; तो उसका उत्तर यह है कि संवेदन में जैसा फुरना होता है तैसा ही हो भासता है। जैसे एक पुरुष का अन्तःकरण शुद्ध हो और उसके मन में फुरे कि एक शरीर मेरा विद्याधर हो और एक शरीर भेड़ का हो तो उसके दोनों भले और बुरे भी हो जाते हैं। जो तुम कहो कि बुरा क्यों बना भला ही बनता तो उसका उत्तर सुनो कि जैसे भले पण्डित के घर पुत्र हो और संस्कार अर्थात् वासना से चोर हो जावे तो उसको दुःख होता है। इससे हे रामजी ! सब फुरने ही से ऊँच नीच होते हैं; जब अभ्यास और परमयोग होता है तब शुद्ध होता है। अभ्यास, मन्त्र, जाप और चित्त के स्थित करने को योग कहते हैं। इससे जैसी जैसी चिन्तना होती है तैसी ही सिद्धि होती है और अज्ञानी को नहीं होती। जैसे वस्तु निकट पड़ी है और भावना नहीं तो दूर है; तैसे ही अज्ञानी की भावना नहीं तो न दूरवाली वस्तु प्राप्त होती है और न निकटवाली प्राप्त होती है। वह सिद्ध इसलिये नहीं होती, क्योंकि उसकी भावना दृढ़ नहीं और हृदय भी शुद्ध नहीं, संकल्प भी तब सिद्ध होता है जब हृदय शुद्ध होता है। शुद्ध हृदयवाला जिसकी चिन्तना करता है वह चाहे दूर भी है तो भी सिद्ध होता है और जो निकट है सो भी सिद्ध होता है। जो तुम कहो कि संन्यासी तो एक था बहुत चैतन्य शरीर कैसे हुए तो उसका उत्तर सुनो। जो कोई योगीश्वर हैं और योगिनी देवियाँ हैं उनका संकल्प सत्य है; उन्हें जैसा संकल्प फुरता है तैसा ही होता है। ऐसे सत् संकल्पवाले मैंने अनेक आगे देखे हैं। एक सहस्रबाहु अर्जुन राजा था जो अपने घर में बैठा था और उसके शिरपर छत्र झुलता और चमर होते थे; उसके मन में संकल्प हुआ कि मैं मेघ होकर बरसूँ। उस संकल्प के करने से उसका एक शरीर तो राजा का रहा और एक शरीर से मेघ होकर बरसने लगा। विष्णु भगवान् एक शरीर से तो क्षीरसमुद्र में शयन करते हैं और प्रजा की रक्षा के निमित्त और शरीर भी धार लेते हैं। यज्ञदेवियाँ अपने अपने स्थानों में होती हैं और बड़े ऐश्वर्य में बिचरती हैं; इन्द्र एक शरीर से स्वर्ग में रहता है और दूसरे शरीर से जगत् में भी बैठा रहता है। योगीश्वरों का जैसा संकल्प होता है तैसा ही सिद्ध होता है और जो अज्ञानी मूर्ख हैं उनका मन बड़े भ्रम को प्राप्त होता है और वे बड़े मोह को प्राप्त होते हैं और मोह से नीच गति को प्राप्त होते हैं। जैसे बड़े पर्वत के ऊपर से बट्टा गिरता है सो नीचे को जाता है तैसे ही मूर्ख आत्मपद से गिरके संसार-

रूपी गढ़े में पड़ते हैं और बड़े दुःख पाते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने कहा कि संसार स्वप्नमात्र है सो मैंने जाना कि अनन्त मोहरूपी विषमता है और आत्मचैतन्यरूप आनन्द के प्रमाद से जीव आपको जड़ दुःखी जानता है। यह बड़ा आश्चर्य है। हे भगवन्! यह जो आपने संन्यासी कहा उसके समान कोई और भी है अथवा नहीं सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संसाररूपी मढ़ी में मैं रात्रि के समय समाधि करके देखूँगा और तुमसे प्रभात को जैसे होगा तैसे कहूँगा। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले; हे राजन्! वशिष्ठजी ने जब इतना कहा तो मध्याह्न का समय हुआ नौबत नगाड़े बजने लगे जिनका प्रलयकाल के मेघवत् शब्द होने लगा और वशिष्ठजी के चरणों पर राजा और देवताओं ने फूल चढ़ाये और सबने बड़ी पूजा की। जैसे बड़ा पवन चलता है और वेग करके बाग वृक्षों के फूल पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं तैसे ही सबने बहुत फूलों की वर्षा की। इस प्रकार प्रथम तो बहुत पूजा होती रही फिर वशिष्ठजी को नमस्कार करके सब उठके खड़े हुए और आपस में नमस्कार किया। फिर राजा दशरथ से आदि लेकर राजा और ऋषि सब उठे और जैसे मन्दराचल पर्वत में सूर्य उदय होता है तैसे ही वशिष्ठजी से आदि लेकर ऋषि और राजा दशरथ से आदि सब राजा उठे। तब पृथ्वी के राजा और प्रजा पृथ्वी को चले और आकाश के सिद्ध और देवता आकाश को चले और सब अपने-अपने कर्म में जा लगे और जैसे शास्त्रोक्त व्यवहार है उसमें स्थित हुए। जब रात्रि हुई तब विचार करते रहे कि वशिष्ठजी ने कैसे ज्ञान उपदेश किया है और उस विचार में उनकी रात्रि एक क्षण की नाईं बीती। इतने में सूर्य की किरणों के उदय होते ही राम-लक्ष्मण आदि सब आये और परस्पर नमस्कारकर अपने-अपने आसन पर शान्तरूप होकर बैठे—जैसे पवन से रहित कमल स्थित होते हैं। तब वशिष्ठजी ने अनुग्रह करके आपही कहा, हे रामजी! तुम्हारी प्रीति के निमित्त मैंने संसार का बहुत खोज किया और आकाश, पाताल और सप्तद्वीप सब खोजे हैं परन्तु ऐसा कोई संन्यासी न देखा और न अन्य का संकल्प उसकी नाईं भासता है। जब एक प्रहर रात्रि रही तो मैंने फिर ढूँढ़कर उत्तर दिशा में चिन्माचीन नगर में एक मढ़ी देखी तो उसके दरवाजे चढ़े हुए थे और उसमें पके बालवाला एक संन्यासी बैठा था और बाहर उसके चेले बैठे थे। वे दरवाजे नहीं खोलते थे कि ऐसा न हो हमारे गुरु की समाधि खुल जावे। वह उस स्थान में दूसरे ब्रह्मा की नाईं बैठा है। उसको बैठे अभी इक्कीस दिन हुए हैं पर उसको समाधि में सहस्र वर्षों का अनुभव हुआ है और उसने बहुत जन्म भी पाये हैं जो उसको प्रत्यक्ष भासित हुए हैं। उसने सृष्टि भी प्रत्यक्ष देखी है और उसमें बिचरा है। हे रामजी! इसका सा एक और भी पूर्व कल्प में था। इतना सुन राजा दशरथ ने कहा, हे महामुनीश्वर! जो आप आज्ञा दें तो मैं अपना अनुचर चिन्माचीन नगर में भेजूँ कि वह वहाँ जाकर उस संन्यासी को जगावे? वशिष्ठजी ने कहा, हे राजन्! वह संन्यासी अब ब्रह्मा का हंस होकर ब्रह्मा के उपदेश से जीवन्मुक्त हुआ है और यह शरीर उसका अब मृतक हुआ है। उसमें अब पुर्यष्टका अर्थात् जीव नहीं उसका क्या जगाना है? एक महीने पीछे शिष्य उसका दरवाजा खोलेंगे तो उस नगर के लोग देखेंगे कि वह मृतक पड़ा है। इससे हे रामजी! यह विश्व संकल्पमात्र ही है और जो तुम कहो कि एकसे क्योंकर हुए तो सुनो कि जैसे यह मुनीश्वर, ऋषि, राजा और जो लोग हैं वे कई बार एकसा शरीर धारते हैं और कई बार मध्य धारते हैं, कई कुछ थोड़ा धारते हैं और कई विलक्षण धारते हैं। इन नारदजी के समान और भी नारद होंगे उनकी चेष्टा भी ऐसी ही होगी और शरीर भी ऐसा ही होगा। व्यासजी, शुकदेव, भृगु, भृगु के पिता; जनक, करकर, अत्रि ऋषीश्वर और अत्रि की स्त्री भी जैसी कि अब हैं वैसी ही होंगी। जैसे समुद्र में तरङ्ग एक से भी और न्यून अधिक भी होते हैं तैसे ही यह संसार ब्रह्मा से आदि लेकर पाताल पर्यन्त सब मन का रचा हुआ है और सब मिथ्या है। जब यह चित्तकला बहिर्मुख होती है तब संसार और देशकाल होता है और जब अन्तर्मुख होती है तब आत्मपद प्राप्त होता है जबतक बहिर्मुख होती है तब तक दुःख पाता है। अपना स्वरूप आनन्दरूप है उसमें चित्तकला जानती है कि

मैं सदा दुःखी हूँ। देह और इन्द्रियों से मिलकर दुःखी होता है। इससे हे रामजी! इस अज्ञानरूप फुरने से तुम रहित हो रहो। फुरने से यह अवस्था प्राप्त होती है। जैसे चन्द्रमा अमृत से पूर्ण है और उसमें चर्मदृष्टि से कलङ्कता भासती है तैसे ही अमृतमय चन्द्रमारूप आत्मा में अज्ञानदृष्टि से जन्म, मरण, शोक, दुःख, भय, कलङ्क दीखता है। यह माया महाआश्चर्य रूप है जैसे चन्द्रमा एक है और नेत्रदोष से बहुत भासते हैं तैसे ही एक अद्वैत आत्मा में नानात्व विश्व का भान अज्ञान से होता है। यही माया है। हे रामजी ! तुम एकरूप आत्मा हो; उसमें फुरने से विश्वकल्पा है इससे फुरने से रहित हुए विना आत्मा का दर्शन नहीं होता। जैसे उदय हुआ सूर्य भी बादल के होते शुद्ध नहीं भासता तैसे ही फुरनरूपी बादल के दूर हुए आत्मरूपी सूर्य शुद्ध भासता है और दृश्य, दर्शन, द्रष्टा फुरने से कल्पे हैं। हे रामजी ! इस संसार का सार जो आत्मा है उसमें सुषुप्त की नाईं मौन हो रहो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मैं तीन मौन जानता हूँ—एक वाणी मौन अर्थात् चुप कर रहना; दूसरा इन्द्रियों का मौन और तीसरा कष्ट मौन अर्थात् हठ करके मन और इन्द्रियों को वश करना; सुषुप्त मौन नहीं जानता आप कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ये तीनों कष्ट मौन तपस्वियों के हैं और सुषुप्त मौन ज्ञानी और जीवन्मुक्त का है। वे तीनों मौन जो तुमने कहे सो अज्ञानी तपस्वियों के हैं; उनको फिर सुनो। एक वाणी का मौन कि बोलना नहीं, दूसरा मौन समाधि कि नेत्रों का मूँद लेना और कुछ न देखना और तीसरा हठकर स्थित होना और मन और इन्द्रियों को स्थित करना। एक मौन इन्द्रियों की चेष्टा से रहित होना और ज्ञानी का सुषुप्त मौन सुनो कि वाणी और इन्द्रियों से चेष्टा करना पर आत्मा से भिन्न और कुछ न भासित होना अथवा ऐसे होना कि न मैं हूँ, न जगत् है अथवा ऐसे होना कि सब मैं ही हूँ। ऐसे निश्चय में स्थित होना बड़ा उत्तम मौन है। हे रामजी ! विधि से भी आत्मा की सिद्धि होती है और निषेध से भी होती है। उस आत्मा में स्थित होना बड़ा मौन है। हे रामजी ! यह जो मैंने सुषुप्त मौन कहा है सो क्या है कि द्वैतरूप संसार के फुरने से सुषुप्त होना; आत्मा में जागना और ऐसे देखना कि न मुझमें जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। इस निश्चय में स्थित होना तुरीयातीत है। यह पञ्चम मौन है। ऐसा तुरीयातीत पद अनादि अनन्त जरा से रहित शुद्ध निर्दोष है। हे रामजी ! ज्ञानी इन्द्रियों के रोकने की इच्छा भी नहीं करता और न बिचरने की इच्छा करता है जैसे स्वाभाविक आन पड़े उसमें स्थित होता है। यह परम मौन है। ज्ञानी को सुख की इच्छा भी नहीं और दुःख का त्रास भी नहीं; वह हेयोपादेय से रहित है। हे रामजी ! तुम रघुवंशकुल में चन्द्रमा हो अपने स्वभाव में स्थित हो; संसारभ्रम मन के फुरने से होता है सो मिथ्या है वास्तव नहीं; और न शरीर सत्य है, न माया सत्य है। हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप ओंकार (चैतन्य ब्रह्म) है इस ओंकार को अङ्गीकार करके स्थित होना परम उत्तम मौन है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्। यह जो पीछे आपने सब रुद्र कहे वे रुद्र थे अथवा रुद्र के गण थे ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिसको रुद्र कहते हैं—उसी को गण कहते हैं ये सब ही रुद्र हैं। फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो आपने कहा कि सब रुद्र हुए ये तो एक चित्र थे सब क्योंकर हुए ? जैसे दीपक से दीपक होता है इसी भाँति हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! एक सावरण है दूसरा निरावरण है। जिसका शुद्ध अन्तःकरण है वह निरावरण है और जिसका मलिन अन्तःकरण है वह सावरण है। शुद्ध अन्तःकरण में जैसा निश्चय होता है तैसा ही तत्काल आगे सिद्ध होता है और मलिन अन्तःकरण का फुरना सिद्ध नहीं होता। इससे शुद्ध जो निरावरण रुद्र है सो आत्मा है और सर्वव्यापी है; जैसा उनका निश्चय होता है सो सत्य है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! सदाशिव की चेष्टा तो मलिन है कि रुण्डों की माला गले में धारते हैं और विभूति लगाकर श्मशान में विहार करते हैं और स्त्री बायें अङ्ग में रहती है। आप क्योंकर कहते हैं कि उनका शुद्ध अन्तःकरण है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! शुद्ध अशुद्ध अज्ञानी को कहते हैं। जो शुद्ध में बर्ते अशुद्ध में न बर्ते जो ज्ञानी है वह अपने में क्रिया नहीं देखता और उसको शुद्ध अशुद्ध में

राग-द्वेष नहीं होता है। ऐसे सदाशिवजी को ग्रहण त्याग नहीं है, जो स्वाभाविक चेष्टा होती है सो हो वह ऐसे होती है कि जैसे आदि परमात्मा में विष्णु भगवान् चार भुजा धारे संसार की रक्षा करने के लिए शुद्ध चेष्टा से अवतार धारकर धर्म की रक्षा करते हैं और पापियों को मारते हैं। यह आदि फुरना हुआ है। जो क्रिया स्वाभाविक ही आन प्राप्त हो, उस क्रिया का उनको रागद्वेष करके हेयोपादेय कुछ नहीं और उनको क्रिया का अभिमान भी नहीं होता इसी से क्रिया उनको बन्ध नहीं करती। इससे यह सिद्ध है कि संसार फुरनेमात्र है। जब तुम फुरने से रहित होगे तब तुमको त्रिपुटी न भासेगी अर्थात् आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासेगा इससे तुम अज्ञानरूप फुरने से रहित हो जब तुमको आत्मपद का साक्षात्कार होगा तब तुम जानोगे कि मुझमें फुरन, दृश्य, अदृश्य कुछ नहीं केवल आत्मपद है जिसमें एक कहना भी नहीं तो द्वैत कहाँ से हो? हे रामजी! दृश्य, अदृश्य, फुरना, न फुरना और विद्या, अविद्या ये सब उपदेश के निमित्त कहते हैं, आत्मा में कुछ कहा नहीं जाता। आत्मा एक है जिसमें द्वैत का अभाव है। जब चित्त परिणाम बहिर्मुख होता है तब विश्व का भान होता है और जब चित्त अन्तर्मुख परिणाम पाता है तब अहन्ता और ममता का नाश होता है और चैतन्य शेष रहता है। जब अतिशय अन्तर्मुख परिणाम होता है तब चैतन्य भी नहीं कहा जाता और जब इससे भी अतिशय परिणाम पाता है तब 'है' 'नहीं' भी नहीं कहा जाता। हे रामजी! ऐसा आत्मा तुम्हारा अपना आप स्वरूप और शान्तपद है उसमें वाणी की गम नहीं कि ऐसा कहिये और तैसा कहिये। ऐसा कहिये तो इन्द्रियों का विषय है और तैसा कहिये तो इन्द्रियों से पर है। जब तुम अपने में स्थित होगे तब जानोगे कि मुझमें अहंफुरना कुछ नहीं। आत्मरूपी सूर्य के साक्षात्कार हुए से दृश्यरूपी अन्धकार का अभाव हो जावेगा, क्योंकि आत्मा तुम्हारा अपना आप है जो केवल शान्तरूप और निर्मल है। जैसे गम्भीर समुद्र वायु से रहित होता है तैसे ही आत्मरूपी समुद्र संकल्परूपी वायु से रहित, गम्भीर और शुद्ध होता है। यह संसार चित्त का चमत्कार है जो

निरंश है और जिसमें अंशांशी भाव नहीं—अद्वैत है। हे रामजी! जब ऐसे बोध में स्थित होगे तब इस विश्व को भी आत्मरूप देखोगे और यदि बोध विना देखोगे तो विश्व का भान होगा। इससे हे रामजी! बोध में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकताप्रतिपादनं
नाम षष्टितमस्सर्गः॥ ६०॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सदाशिव का आदि फुरना हुआ है जो त्रिनेत्र हैं और विश्व का संहार करते और शिरों की माला धारण किये हैं। ब्रह्मा के चार मुख हैं और चारों वेद हाथ में हैं और संसार की उत्पत्ति करते हैं उनका ऐसे ही फुरना हुआ है। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये तीनों एकरूप हैं और इनकी चेष्टा स्वाभाविक यही बन पड़ी है। उन्होंने यह कर्म न राग से अङ्गीकार किया है और न द्वेष करके त्याग करते हैं और यह संज्ञा भी लोगों के देखने के लिये है वे अपने ज्ञान में कुछ नहीं करते क्योंकि बोध में ही उनका जाग्रत् है बोध में जाग्रत् क्या और कैसे होता है सो भी सुनो। एक सांख्यमार्ग से होता है और एक योगमार्ग से होता है। सांख्यमार्ग यह है कि तत्त्व और मिथ्या का विचारना। तत्त्व इसे कहते हैं कि मैं आत्मा सत् और चैतन्य हूँ और सर्वदृश्य मिथ्या, जड़ और असत् है मेरे में अज्ञान कल्पित है पर मैं अद्वैत आत्मा हूँ और मेरे में अज्ञान और दृश्य दोनों नहीं। ऐसे निश्चय में स्थित होना सांख्यविचार है। योग प्राणों के स्थित करने को कहते हैं, क्योंकि जब प्राण स्थित होते हैं तब मन भी स्थित हो जाता है और जब मन स्थित हो जाता है तब प्राण भी स्थित होते हैं—इनका परस्पर सम्बन्ध है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो प्राण ही स्थित हुए से मुक्त होता है तो मृतक पुरुषों के तो प्राण नहीं रहते—वे सब मुक्त होने चाहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! प्रथम तो प्राण श्रवण करो कि क्या है। यह जीव पुर्यष्टका में स्थित होकर जैसी वासना करता है तो शरीर को त्याग कर उसी के अनुसार आकाश में स्थित होता है इसका नाम प्राण है। उस वासनारूप प्राण से फिर उसको संसार का भान होता

है और जब प्राण की वासना क्षय होती है तब मुक्त होता है। ज्ञानी की वासना क्षय हो जाती है इससे वह जन्म मरण से रहित होता है। जैसे भुना बीज फिर नहीं उगता तैसे ही ज्ञानी को वासना के अभाव से जन्म-मरण नहीं होता। हे रामजी! जन्म-मरण दोनों मार्गों से निवृत्त होता है और दोनों का फल कहा है। हे रामजी! ज्ञान से चित्त सत्यपद को प्राप्त होता है और योग करके प्राणवायु स्थित होती है तब वासना क्षय हो जाती है। जब स्वरूप की प्राप्ति होती है तब संसार के पदार्थों का अभाव होजाता है जैसे रसायन से ताँबा सोना होके फिर ताँबे का भाव नहीं रहता; तैसे ही ज्ञान से विश्वरूपी ताँबे की संज्ञा नहीं रहती। जैसे ताँबा भाव जाता रहता है तैसे ही ज्ञान से जब चित्त सत्यरूप हुआ फिर संसारी नहीं होता। आत्मा में न बन्ध है और न मुक्त है परमात्मा एक अद्वैत है तब उसमें बन्ध कहाँ और मुक्त कहाँ? बन्ध और मुक्त चित्त के कल्पे हुए हैं और जो चित्त के शान्त करने का उपाय कहा है उससे शान्त होता है इसी को मुक्त कहते हैं और बन्ध मुक्त कोई नहीं। चित्त के उदय होने का नाम बन्ध है और चित्त का शान्त होना ही मुक्त है। हे रामजी! जब मन अपने वश होता है तब आत्मपद प्राप्त होता है; अथवा जब प्राण स्थित होते हैं, तब आत्मपद प्राप्त होता है। यह संसार मृगतृष्णा के जलवत् मिथ्या है; जब वासना निवृत्त होती है तब आत्मपद में स्थिति होती है। जैसे मेघ जब जल संयुक्त होते हैं तब गर्जते हैं और वर्षा करते हैं और जब वर्षा से रहित होते हैं तब शान्त हो जाते हैं तैसे ही जब वासना क्षय होती है तब चित्त शान्त हो जाता है। जैसे शरत् काल में बादल और कुहिरा निवृत्त होकर शुद्ध और निर्मल आकाश ही रहता है, तैसे ही वासना के निवृत्त हुए शुद्ध और केवल चैतन्य आत्मा हो भासता है। जो तुम एक मुहूर्त भी चित्त विना स्थित हो तो तुमको आत्मपद की प्राप्ति हो। जबतक चित्त की वासना क्षय नहीं होती तबतक बड़े भ्रम देखता है। हे रामजी! यह संसार मृगतृष्णा के जलवत् असत् है और आभासमात्र फुरता है। इस पर एक आख्यान जो आगे हुआ है सो कहता हूँ मन लगाकर सुनो। दक्षिण दिशा में मन्दराचल पर्वत है उसकी कन्दरा में एक वैताल महाभयानक आकार से रहता था और मनुष्यों को खाता था। उसके मन में विचार उपजा कि किसी नगर के जीवों का भोजन करूँ पर वह एक समय साधु का संग भी करता था, और एक साधु को भोजन भी करता था। उस साधु संग के प्रसाद से वैताल के मन में यह उपजा कि मेरी कौन गति होगी? मेरा आहार मनुष्य है और मनुष्यों का भोजन करना बड़ी हत्या है। इससे मैं एकवृत्ति करूँ कि जो मूर्ख और अज्ञानी मनुष्य हों उनको भोजन करूँ और जो उत्तमपुरुष हैं उनको न खाऊँ। हे रामजी! निदान वह वैताल यद्यपि क्षुधातुर भी हो तौ भी भले मनुष्यों को न खावे इसी प्रकार एक समय वह क्षुधा से बहुत व्याकुल हो रात्रि के समय घर से बाहर निकला तो संयोगवश उस नगर के राजा से जो वीर यात्रा को निकला था भेंट हुई। वैताल ने कहा, हे राजन्! तुम मुझे भोजन मिले हो अब मैं तुमको खाता हूँ; तुम कहाँ जावोगे? राजा ने कहा, हे रात्रि के विचरनेवाले वैताल! जो तू मेरे निकट अन्याय से आवेगा तो तेरा शीश हजार टुकड़े होगा और तू गिरेगा। वैताल ने कहा, हे राजन्! मैं तुझसे नहीं डरता। हे आत्महत्यारे! मैं तुझे भोजन करूँगा; चाहे तू जैसा बली हो मैं नहीं डरता परन्तु एक मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं अज्ञानी को भोजन करता हूँ और ज्ञानी को नहीं मारता। जो तू ज्ञानी है तो न मारूँगा और जो अज्ञानी है तो मारूँगा जैसे बाजपक्षी पक्षियों को मारता है। जो तू ज्ञानी है तो मेरे प्रश्नों का उत्तर दे। एक प्रश्न यह है कि जिसमें ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु है वह सूर्य कौन है? दूसरा प्रश्न यह है कि जिस पवन में आकाशरूपी अणु उड़ते हैं वह पवन कौन है। तीसरा प्रश्न यह है जिसमें केले के वृक्षवत् और कुछ नहीं निकलता वह कौन वृक्ष है और चौथा प्रश्न यह है कि वह पुरुष कौन है जो स्वप्न से स्वप्ना और फिर उसमें और स्वप्ना देखता है और एक रहता है, परिणाम को नहीं प्राप्त होता? इन प्रश्नों का उत्तर दो, जो तूने मेरे प्रश्नों का उत्तर न दिया तो तुझे खा जाऊँगा।

इति श्रीयो॰ निर्वाणप्रकरणे वैतालप्रश्नोक्तिनामैकषष्टितमस्सर्गः ॥ ६१ ॥

राजा बोला, हे वैताल ! इन प्रश्नों का उत्तर सुनो। ब्रह्माण्डरूपी एक मिरच बीज है और उसमें सत्पद आत्मा चैतन्यरूपी तीक्ष्णता है। एक डाल में ऐसी मिरचें कई सहस्र लगी हुई हैं और एक वृक्ष में कई सहस्र ऐसी डालें लगी हैं; ऐसे वृक्ष एक वन में कई सहस्र हैं और ऐसे कई सहस्र वन एक शिखर पर स्थित हैं; ऐसे कई सहस्र शिखर एक पर्वत पर हैं और ऐसे कई सहस्र पर्वत एक नगर में हैं; ऐसे कई सहस्र नगर एक द्वीप में हैं और ऐसे कई सहस्र द्वीप एक भव पृथ्वी में हैं; ऐसे कई सहस्र पृथ्वीभव एक अण्ड में हैं और ऐसे कई सहस्र अण्ड एक समुद्र में लहरें हैं; ऐसे कई सहस्र समुद्र एक समुद्र की लहरें हैं और ऐसे कई सहस्र समुद्र एक पुरुष के उदर में हैं; ऐसे कई पुरुषों की एक पुरुष के गले में माला पिरोई हुई हैं। ऐसे कई लाखकोटि सूर्य के अणु हैं जिस सूर्य से सर्व प्रकाशमान है। वह सूर्य आत्मा है जिसमें अनन्त सृष्टि स्थित है। हे वैताल ! जैसे यह सृष्टि भासती है तैसे ही सब सृष्टियाँ जान। जो यह सृष्टि सत्य है तो सब सृष्टि सत् हैं और जो यह सृष्टि स्वप्न है तो सब सृष्टियों को स्वप्नवत् जानो। आत्मा ऐसा सूर्य है जिससे भिन्न और अणु कोई नहीं और सदा अपने आपमें स्थित है। इससे और क्या पूछता है ? ऐसे आत्मा में स्थित हो जो आत्मसत्तामात्रपद है; जिस सत्तामात्रपद से कालसत्ता हुई है और उसी में आकाशसत्ता हुई है। उसी सत्पद से सब सत्ता संकल्प से उदय हुई हैं और संकल्प के लय हुए सब लय हो जाती हैं। तूने जो प्रश्न किया था कि वह कौन सूर्य है जिससे ब्रह्माण्डरूपी त्रसरेणु होते हैं ? वह ब्रह्मसूर्य है जिससे भिन्न और कुछ नहीं और केले का वृक्ष जो तूने पूछा था सो केले की नाईं विश्व के भीतर बाहर आत्मा स्थित है। जैसे केले के भीतर देखे से शून्य आकाश ही निकलता है तैसे ही विश्व के भीतर बाहर आत्मा से भिन्न और कुछ सार नहीं निकलता, जो अद्वैत है उससे भिन्न द्वैत कुछ नहीं। वह पवन ब्रह्म है जिस पवन में ब्रह्माण्ड के समूह उड़ते हैं और वह पुरुष स्वप्न से स्वप्ना आगे और स्वप्ना देखता है और एक अपने आपमें स्थित है। चित्तकला फुरने से अनन्त ब्रह्माण्डों का भान होता है इसी को स्वप्ना कहते हैं;

तो भी कुछ भिन्न नहीं एक ही रूप नटवत् रहता है और यह सब उसकी आज्ञा से बर्तते हैं। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। जिसमें मन्दराचल पर्वत भी अणु है ऐसा स्थूल है और जिसमें वाणी की गम नहीं, अपने आप ही में स्थित है और इन्द्रियों से अगोचर है इससे सूक्ष्म से सूक्ष्म है और पूर्णता से स्थूल से स्थूल है। हे मूर्ख वैताल ! तू किसको खाता है और क्षुधा से क्यों व्याकुल हुआ है ? तू तो अद्वैतरूप आत्मा है और आनन्दरूप है अपने आपमें स्थित हो। जब ऐसे प्रश्न का उत्तर देकर राजा ने उपदेश किया तब वैताल वहाँ से चला और एकान्त स्थान में स्थित हो विचार करने लगा कि ऐसे मृगतृष्णा के जलवत् झूठे संसार से मुझे क्या प्रयोजन है। फिर एकान्त स्थान में जाकर स्थित हुआ और ध्यान लगाकर आत्मा में एक धारा प्रवाहक प्रवाह स्थित हुआ। धारा प्रवाह प्रवाहक उसे कहते हैं कि आत्मा का अभ्यास दृढ़ हो, आत्मा से भिन्न कुछ न फुरे और एकरस स्थित हो। ऐसे ध्यान में स्थित होकर वैताल सत् आत्मपद को प्राप्त हुआ। हे रामजी ! यह राजा और वैताल का आख्यान तुमको सुनाया। उस आत्मा में ब्रह्माण्ड अणु की नाईं स्थित है, इससे निर्विकल्प आत्मा में स्थित हो और इन्द्रियों को बाहर से संकोचकर स्थित करो।

इति श्रीयो० नि० राजावै० वैतालब्रह्मपदप्राप्तिर्नाम द्विषष्टितमस्सर्गः ६२॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मैं एक और आख्यान कहता हूँ उसे सुनो, जिससे भगीरथ राजा की मूढ़ता गई; स्वस्थचित्त होकर आत्मपद में स्थित हुआ; अपने पतितप्रवाह में बिचरा और पुरुषार्थ से स्वर्गलोक से गङ्गा को मध्यलोक में ले आया है। तुम भी वैसे ही बिचरो उसके पास जो कोई अर्थी आता था उसका वह अर्थ पूर्ण करता था और जिस पदार्थ का कोई संकल्प करके आवे राजा उसको पूर्ण करे। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमणि अमृत स्रवती है तैसे ही मित्रभाव का वह राजा था। जो उस राजा से शत्रुभाव रखते थे उनको वह ऐसे नाश करता था—जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार का नाश हो जाता है; और जैसे अग्नि से अनेक चिनगारे उठते हैं तैसे ही शत्रुओं पर शस्त्रों की वर्षा करता था और

पतितप्रवाह में स्थित रहता और भले बुरे और सुख दुःख में एकसमान रहता था। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! राजा भगीरथ के मन में क्या आई जो गङ्गा को ले आया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक समय उसने अपने नगर को देखा कि लोग भले मार्ग को त्यागकर बुरे मार्ग और पापकर्म में लगे हैं और मूर्ख हुए हैं तब लोगों के उपकार के निमित्त उसने ब्रह्मा, रुद्र और यज्ञऋषि का तप करके आराधन किया और गङ्गा के लाने के निमित्त मन्त्र जपने लगा। गङ्गा का एकप्रवाह स्वर्ग में चलता है और एक पाताल में चलता है; राजा भगीरथ ने एक प्रवाह मर्त्यलोक में भी चलाया है और गङ्गा के लाने से समुद्र पर भी उपकार किया। जो समुद्र अगस्त्यमुनि ने सुखाया था, गङ्गा के आने से उस समुद्र का दरिद्र भी निवृत्त हुआ। उसके मन में विचार उपजा और संसार को देखकर कहने लगा कि एक ही काम बारम्बार करना बड़ी मूर्खता है; नित वही भोगना, वही खाना और फिर वही कर्म करने हैं। जिस कर्म किये से पीछे सुख निकले उसके करने का कुछ दूषण नहीं; ऐसा वैराग करके उसको विचार उपजा कि संसार क्या है? उस समय में राजा युवा था। जैसे मरुस्थल में कमल उपजना आश्चर्य है तैसे ही यौवन अवस्था में ऐसा विचार उपजना आश्चर्य है। हे रामजी! जब राजा को ऐसा विचार उपजा तब घर से निकलकर अपने गुरु त्रितल ऋषीश्वर के निकट जा प्रश्न किया। हे भगवन्! वह कौन सुख है जिसके पाये से जरा और मृत्यु के दुःख निवृत्त होते हैं? यह संसार के सुख तो भीतर से शून्य हैं; इनके परिणाम में दुःख है। त्रितलऋषि बोले, हे राजन्! एक ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य है जिसके जानने से शान्तपद प्राप्त होता है सो आत्मज्ञान है। वह आत्मा न उदय होता है; न अस्त होता है; ज्यों का त्यों अपने आपमें है। हे राजन्! यह जरा मृत्यु तबतक भासता है जबतक अज्ञान है; जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होगा तब अज्ञानरूपी अन्धकार निवृत्त हो जावेगा और केवल शान्तपद में स्थित होगा। आत्मानन्द सर्वज्ञ है, जिसके जानने से चिज्जड़ग्रन्थि टूट जाती है अर्थात् अनात्म देह इन्द्रियादिक में आत्म अभिमान करना निवृत्त हो जाता है और सब कर्म भी निवृत्त होकर सब संशय नष्ट हो जाते हैं। ऐसे शुद्ध स्वरूप को पाकर ज्ञानी स्थित होते हैं जो सत्ता सर्व है और सर्वगत, नित्य स्थित, उदय अस्त से रहित है। राजा बोले, हे भगवन्! ऐसे मैं जानता हूँ कि आत्मा चिन्मात्रसत्ता है और देहादिक मिथ्या है। आत्मा सर्वज्ञ शान्त और अच्युतरूप है; ऐसे जानता भी हूँ परन्तु मुझे शान्ति नहीं हुई और आत्मा चिन्मात्र मुझे नहीं भासता और स्थिति नहीं हुई, इसलिये कृपा करके कहिये कि मैं स्थित होऊँ। ऋषि बोले, हे राजन्! तुझसे मैं एक ज्ञान कहता हूँ जिसके जानने से फिर कोई दुःख न रहेगा और उससे ज्ञेय में तुमको निष्ठा होगी तब तुम सर्वात्मारूप होकर स्थित होगे और तुम्हारा जीवभाव नष्ट हो जावेगा॥ श्लोक॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ अर्थात् देह और इन्द्रियों में आत्म अभिमान न करके पुत्र, स्त्री और कुटुम्ब के दुःख से आपको दुःखी न जानना; नित्य समचित्त रहकर इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में एकरस रहना; चित्त को आत्मपद में लगाकर वृत्ति को और ओर न जाने देना, एकान्तदेश में स्थित होना और अज्ञानी का संग न करके ब्रह्मविद्या का सदा विचार करना; यह लक्षण तत्त्वज्ञान के दर्शन के निमित्त तुझसे कहे हैं—इससे विपरीत अज्ञानता है। हे राजन्! यह ज्ञेय जानने योग्य है; इसके जानने से केवल शान्तपद को प्राप्त होगे और देह का अहंकार भी निवृत्त होगा। हे राजन्! पहले अहं होता है और फिर मम होता है; इससे तू अहं मम का त्याग कर। जब अहं मम का त्याग करेगा तब आत्मपद अहं प्रत्यय से भासेगा वह आत्मा सर्वज्ञ है; सर्व भी आप है; स्वतः प्रकाश और आनन्दरूप है पर संसार के आनन्द से रहित है। जब ऐसे गुरुजी ने कहा तब राजा बोला, हे भगवन्! यह अहंकार तो चिरकाल का देह में रहता है और अभिमानी है उसका क्योंकर त्याग करूँ? ऋषि बोले, हे राजन्! अहंकार पुरुषप्रयत्न करके निवृत्त होता है। पहले भोगों में द्वेष दृष्टि करना; भोगों की वासना न करना; बारम्बार अपने स्वरूप की भावना करना और विचार करना; इससे तुम्हारा जीवत्व (अहंकार) निवृत्त हो जावेगा। हे

राजन् ! जब तुम्हारा अहंकार निवृत्त होगा तब तुमको सर्वात्मा ही भासेगा और दुःख से रहित शान्तरूप का प्रकाश होगा। हे राजन् ! यह लज्जारूप फाँसी जबतक निवृत्त नहीं होती तबतक आत्मपद की प्राप्ति नहीं होती। अहं, मम, तृष्णा, शोक, दुःख और भला कहाने की इच्छा इत्यादिक जो मोह के स्थान हैं उसे लज्जा कहते हैं। इससे तुम अहं मम से रहित हो तुम्हारे शत्रु जो राज्य लेने की इच्छा करते हैं उनको अपना राज्य दो और क्षोभ से रहित होकर पुत्र, स्त्री और बान्धवों के मोह से रहित हो। मेरे मोह से भी रहित हो और राज्य का त्याग करके एकान्त देश में स्थित हो और उन शत्रुओं के घर में भिक्षा माँग कि तुझे भला कहाने की इच्छा न रहे। अब उठ खड़ा हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपदेशो नाम
त्रिषष्टितमस्सर्गः ॥ ६३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार त्रितल ऋषीश्वर ने उपदेश किया तब राजा उठ खड़ा हुआ और घर को गया। गुरु का उपदेश हृदय में धारकर अपने राज्य में स्थित हो राज्य करने लगा और मन में विचार भी करता रहा। जब कुछ काल बीता तब राजा ने अग्निष्टोम यज्ञ का आरम्भ किया। धन के त्याग करने को अग्निष्टोम यज्ञ कहते हैं। तीन दिन में धन का त्यागकर हाथी, घोड़े, रथ, भूषण, वस्त्र इत्यादिक जो ऐश्वर्य थे सो लोगों को दे दिये। ब्राह्मण, अर्थी, पुत्र, स्त्री और शत्रुओं को जब पृथ्वी का राज्य दे दिया तो शत्रुओं ने जाना कि अब राजा भगीरथ में कुछ पराक्रम नहीं रहा तो उन्होंने आकर इसका देश घेर लिया, हवेली पर चढ़ आये और राजा के सब स्थान रोक लिये। राजा के पास केवल धोती अँगौछा रह गया तब राजा वहाँ से निकलकर वनों में बिचरने लगा और शान्तपद आत्मा में स्थित हुआ। जब कुछ काल बीता तो भगीरथ फिर अपने देश में आया और अपने शत्रुओं के घर में भिक्षा माँगने लगा तब शत्रुओं और दूसरे लोगों ने उसकी बहुत पूजा की और कहा हे भगवन् ! तुम अपना राज्य लो, पर उसने राज्य न लिया। जैसे पृथ्वी पर पड़े तृण को तुच्छबुद्धि करके नहीं ग्रहण करता तैसे ही उसने राज्य ग्रहण न किया। कुछ काल वहाँ रहकर त्रितलऋषि के पास जो उसका गुरु था अनिच्छित होकर गया। गुरु ने आत्मत्व से उसे ग्रहण किया और शिष्य ने भी गुरु को आत्मत्व से ग्रहण किया। गुरु और शिष्य भावना से रहित हो वे दोनों कुछ काल एक स्थान में रहे और फिर वन में इकट्ठे बिचरने लगे। वे शान्त और आत्मपद में स्थित रहकर रागद्वेष से रहित केवल एकरस स्थित रहे और उनको न देह त्यागने की इच्छा थी, न देह रखने की इच्छा थी; केवल अनिच्छित प्रारब्ध में स्थित रहते थे। इतने में स्वर्गलोक के सिद्धों ने आकर उनकी पूजा की और बड़े ऐश्वर्य पदार्थ चढ़ाये। बहुत अप्सरा आईं और जितने ऐश्वर्य भोग पदार्थ थे वे आये पर उनको उन्होंने तुच्छ जाना, क्योंकि वे आत्मसुख से तृप्त और केवल आकाशवत् निर्मल थे और प्रकाशरूप, समचित्त, कलङ्कतारूपी मल से रहित थे। हे रामजी ! जैसे राजा भगीरथ स्थित हुए हैं तैसे ही तुम भी स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनन्नाम
चतुःषष्टितमस्सर्गः ॥ ६४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब कुछ काल बीता तो भगीरथ वहाँ से चला और एक देश में पहुँचा जहाँ का राजा मृतक हुआ था और उसकी लक्ष्मी राजा की याचना करती थी। राजा भगीरथ भिक्षा माँगता फिरता था कि उस राजा के मन्त्री ने भगीरथ को देखा कि जो कुछ गुण राजा में होते हैं वे इसमें हैं; इसलिये वह राजा भगीरथ से बोला, हे भगवन् ! आप इस राज्य को अङ्गीकार कीजिये, क्योंकि आपको अनिच्छित प्राप्त हुआ है। निदान राजा ने उस राज्य को ग्रहण किया और उसे न कुछ भला जाना न बुरा। फिर राजा हाथी पर आरूढ़ हो सेना में सुशोभित हुआ देश और सब स्थान सेना से पूर्ण हुए। जैसे मेघ से ताल पूर्ण होते हैं तैसे ही देश और स्थान सेना से पूर्ण हो गये और नगारे और साज बजने लगे। तब राजा गृह में गया और महल की सब स्त्रियाँ आईं। जहाँ का राज्य भगीरथ ने पहले किया था उस देश से मन्त्री और प्रजा आये और उन्होंने भगीरथ से कहा, हे भगवन् ! जिन शत्रुओं

को तुमने राज्य दिया था उनको मृत्यु ने भोग कर लिया है। जैसे मछली मल मांस को खा लेती है तैसे उनको मृत्यु ने भोजन कर लिया है; इससे तुम राज्य करो। यद्यपि इच्छा तुमको नहीं है पर तो भी राज्य करो, क्योंकि जो वस्तु अनिच्छित प्राप्त हो उसका त्याग करना श्रेष्ठ नहीं। इतना सुन राजा ने उस राज्य को भी अङ्गीकार किया और राज्य करने लगा। फिर राजा ने पिछला वृत्तान्त स्मरण कर कि मेरे पितर कपिल मुनि के शाप से भस्म हो कूप में पड़े हैं; विचार किया कि मैं उनका उद्धार करूँ; इसलिये अपने मन्त्री को राज्य देकर अकेला वन को चला और इच्छा की कि तप करूँ। निदान एक स्थान में स्थित होकर तप करने लगा और गङ्गा के लाने के निमित्त ब्रह्मा, रुद्र और जगत् ऋषि का सहस्रवर्ष पर्यन्त आराधन किया। तब गङ्गा मध्य मण्डल में आई जो विष्णु भगवान् के चरणों से प्रकट हुई हैं। जब पितरों के उद्धार निमित्त गङ्गा के प्रवाह को राजा ले आया तब फिर समचित्त और शान्तपद में स्थित होकर विचरने लगा; जिसमें क्षोभ, भय और इच्छा न थी केवल शान्त आत्मपद में स्थित हुआ। जैसे पवन से रहित समुद्र अचल होता है तैसे ही संकल्प विकल्प से रहित होकर वह राजा स्थित हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भगीरथोपाख्यानसमाप्तिर्नाम
पञ्चषष्टितमस्सर्गः ॥ ६५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जो भगीरथ की दृष्टि तुमसे कही है उसका आश्रय करके विचरो यह दृष्टि सब दुःखों का नाश करती है। एक आख्यान ऐसा आगे भी व्यतीत हुआ है ऐसा ही शिखरध्वज राजा हुआ था। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह शिखरध्वज कौन था और किस प्रकार चेष्टा करता था सो कृपा करके कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सात मन्वन्तरों के बीतने के उपरान्त द्वापरयुग की चौथी चौकड़ी में राजा शिखरध्वज हुआ है और फिर भी होवेगा। वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का तिलक, महाशूरवीर और सम्पूर्ण ऐश्वर्य से संपन्न था परन्तु उसमें बन्धवान् न था। वह बड़े भोग भोगता और बड़े ओज से संपन्न, उदार, धैर्यवान् था। किसी पर अन्याय न करे और समचित्त, शान्तपद में स्थित और सम्पूर्ण दुःखों से रहित था और अर्थी का अर्थ पूर्ण करता था। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ऐसा ज्ञानवान् राजा फिर क्यों जन्म पावेगा, ज्ञानी तो फिर जन्म नहीं पाता? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे एक समुद्र में कई तरङ्ग समान उठते हैं, कई अर्द्धसम और कई विलक्षण भाव से फुरते हैं; तैसे ही आत्मसमुद्र में कई आकार एक से, कई अर्द्ध और कई विलक्षण भाव से फुरते हैं, जो समान फुरते हैं उनकी चेष्टा और आकार एक से दृष्टि आते हैं। इसी प्रकार शिखरध्वज की ऐसे ही प्रतिभा होगी। हे रामजी! जब इस सर्ग में सप्त मन्वन्तर और चार चौकड़ी द्वापरयुग की बीतेंगी तब जम्बूद्वीप के मालव देश में एक श्रीमान् शिखरध्वज राजा होगा परन्तु वह उस सा शिखरध्वज दूसरा होगा, वह न होगा। प्रथम शिखरध्वज जब षोड़श वर्ष का राजकुमार था तब एक समय शिकार को निकला। वसन्त ऋतु का समय था; राजा अपने बाग़ में जा ठहरा, जहाँ फूलों के विचित्र स्थान बने हुए थे और कमलिनियाँ मानों स्त्रियाँ और धूलि के कण के उनके भूषण थे और उनके समीप पुष्पवृक्ष लगे थे। इसी प्रकार भँवरी और भँवरों की सुन्दर लीला देख राजा को विचार उपजा कि मुझे स्त्री प्राप्त हो तो मैं भी चेष्टा करूँ। निदान उसे अधिक चिन्तना हुई कि कब मुझे स्त्री मिलेगी और कब उसके साथ फूल की शय्या पर शयन करूँगा। जब इस प्रकार भोग की राजा चिन्तना करने लगा तब मन्त्रियों ने, जो त्रिकाल ज्ञान रखते थे और राजा के शरीर की अवस्था जानते थे, जाना कि हमारे राजा का मन स्त्री पर है, इससे अब राजा का विवाह करना चाहिए। निदान एक राजा की कन्या जो बहुत सुन्दरी थी और वर चाहती थी उससे राजा शिखरध्वज का विवाह शास्त्र की विधिसहित किया गया और राजा बहुत प्रसन्न होकर अपने घर आया। उस स्त्री का नाम चुड़ाला था और वह बहुत सुन्दरी थी। उससे राजा की बहुत प्रीति हुई और उस स्त्री का भी राजा से बहुत स्नेह हुआ; जो कुछ राजा के मन में चिन्तना हो वह रानी पहिले ही सिद्ध कर दे। उनकी परस्पर ऐसी प्रीति बढ़ी जैसे भँवरे और भँवरी में होती है। एक समय राजा मन्त्रियों को राज्य देकर वन

को गया और वहाँ नाना प्रकार की चेष्टा कर दोनों ऐसे बिचरे कि जैसे सदाशिव और पार्वती व विष्णु और लक्ष्मी बिचरें। इसके पश्चात् राजा योगकला सीखने लगे पर रानी राजा को भोगकला सिखावे; इसी प्रकार वे दोनों सम्पूर्ण कलाओं में संपन्न हुए। चुड़ाला की बुद्धि राजा की बुद्धि से तीक्ष्ण थी वह शीघ्र ही सब बातें जान ले और राजा को सिखावे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजचुड़ालोपाख्यानं
नाम षट्षष्टितमस्सर्गः ॥ ६६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसी प्रकार जब राजा और रानी ने अनंत भोग भोगे तो जैसे कुम्भ में छिद्र होने से शनैः शनैः जल निकलता है तैसे ही शनैः शनैः उनके यौवन के दिन निकल गये और वृद्धा अवस्था आई तब राजा और रानी को वैराग्य उत्पन्न हुआ और वैराग्य से वे यह विचारने लगे कि यह संसार मिथ्या और विनाशी है, एकसा नहीं रहता और ये भोग भी मिथ्या हैं। इतने काल हम भोगते रहे पर तृष्णा पूर्ण न हुई—बढ़ती ही गई। हे रामजी! इस प्रकार राजा और रानी वैराग्य से विचारते रहे कि ये भोग मिथ्या हैं और हमारी यौवन अवस्था भी व्यतीत हो गई है। जैसे बिजली का चमत्कार क्षणमात्र होकर बीत जाता है तैसे ही यौवन अवस्था व्यतीत हो गई और मृत्यु निकट आई। जैसे नदी का वेग नीचे चला जाता है तैसे ही आयु व्यतीत हो जाती है और जैसे हाथ पर जल डालने से बह जाता है तैसे ही यौवन अवस्था निवृत्त हो गई है। जैसे जल में तरंग और बुद्बुदे उपजकर लीन हो जाते हैं तैसे ही शरीर क्षणभंगुर है। जहाँ चित्त जाता है वहाँ दुःख भी इसके साथ चले जाते हैं—निवृत्त नहीं होते। जैसे मांस के टुकड़े के पीछे चील पक्षी चला जाता है तैसे ही जहाँ अज्ञान है वहाँ दुःख भी पीछे जाते हैं। यह शरीर भी नष्ट हो जावेगा। जैसे पका हुआ आम का फल वृक्ष के साथ नहीं रहता; गिर पड़ता है तैसे ही शरीर भी नष्ट हो जाता है। जो शरीर कि अवश्य गिरता है उसका क्या आसरा करना है। जैसे सूखा पत्ता वृक्ष से गिर पड़ता है तैसे ही यह शरीर गिर पड़ता है। इससे हम ऐसा कुछ करें कि संसाररूपी विसूचिका निवृत्त हो। यह संसाररूपी

विसूचिका ब्रह्मविद्या के मन्त्र से निवृत्त होती है; ब्रह्मविद्या से ज्ञान उपजता है और आत्मज्ञान से सर्व दुःख निवृत्त हो जाते हैं इसके सिवा और कोई उपाय नहीं; इसलिये आत्मज्ञान के निमित्त हम सन्तों के पास जावें। ऐसे विचार करके राजा और चुड़ाला आत्मज्ञानियों के पास चले। वे आत्मज्ञान की वार्त्ता करें और आत्मज्ञान में ही चित्तभावनाकर आपस में उसी का विचार और चर्चा करें। निदान वे ऐसे सन्तों के पास पहुँचे जो संसारसमुद्र से तारनेवाले और आत्मवेत्ता थे। उनकी पूजा करके उन्होंने उनसे प्रश्न किया और राजा और रानी उनसे ब्रह्मविद्या सुनने लगे कि आत्मा शुद्ध, आनन्दरूप, चैतन्य और एक है जिसके पाये से दुःख निवृत्त हो जाते हैं। हे रामजी! तब रानी चुड़ाला विचार में लगी और राजा की कोई टहल भी करे तो भी उसके चित्त की वृत्ति विचार ही में रहे। वह यह विचारे कि मैं क्या हूँ? यह संसार क्या है और संसार की उत्पत्ति किससे है? ऐसे विचार कर वह जानने लगी कि यह शरीर पञ्चतत्त्व का है सो मैं नहीं, क्योंकि शरीर जड़ है और कर्म इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। जैसा शरीर है तैसे ही शरीर के अङ्ग भी हैं और ये चेष्टा ज्ञान इन्द्रियों से करते हैं सो ज्ञान इन्द्रियाँ भी मैं नहीं, क्योंकि ये भी जड़ हैं। मन से इन्द्रियों की चेष्टा होती है सो मन भी जड़ है; इसमें संकल्प विकल्प बुद्धि से है। बुद्धि भी जड़ है, क्योंकि उसमें निश्चय चेतना अहंकार से होती है और अहंकार भी जड़ है, क्योंकि उसमें अहं चेतना से होती है। वह चेतनता जीव से होती है वह जीव भी मैं नहीं, क्योंकि जीवत्व फुरनरूप है और मेरा स्वरूप अफुर, सदा उदयरूप और सन्मात्र है। बड़ा कल्याण है कि चिरकाल के उपरान्त मैंने अपना स्वरूप पाया है जो अविनाशी, अनन्त और आत्मा है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही मैं निर्मल और विगतज्वर; राग-द्वेषरूपी ताप से रहित चिन्मात्र हूँ और अहं त्वं से रहित हूँ। मुझमें फुरना कोई नहीं; इसी से शान्तरूप हूँ। जैसे क्षीरसमुद्र मन्दराचल पर्वत से रहित शान्तरूप है; तैसे ही मैं चित्त से रहित अचल और अद्वैत हूँ, कदाचित् स्वरूप से परिणाम को नहीं प्राप्त होती। ऐसा जो चिन्मात्रपद है उसको ब्रह्म-

वेत्ताओं ने ब्रह्म परमात्म चैतन्यसंज्ञा कही है। यह आत्मा ही मन, बुद्धि आदिक दृश्य और संसाररूप होकर फैला है और स्वरूप से अच्युत है और फुरने से आकार भासते हैं तो भी आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे बड़े पर्वत के पत्थर और बट्टे होते हैं सो पर्वत से भिन्न नहीं तैसे ही यह दृश्य आत्मा से भिन्न नहीं। ये आकार ऐसे हैं जैसे गन्धर्वनगर नाना आकार हो भासता है पर ज्ञानवान् को एकरस है और अज्ञानी को भेद-भावना है। जैसे बालक मृत्तिका के खिलौने हाथी, घोड़ा, राजा, प्रजा आदि बनाता है और जिसको मृत्तिका का ज्ञान है उसको मृत्तिका ही भासती है भिन्न कुछ नहीं भासता; तैसे ही अज्ञान से नानारूप भासते हैं। अब मैंने जाना है कि मैं एकरस हूँ। हे रामजी! इस प्रकार चुड़ाला आपको जानने लगी कि मैं सन्मात्र, अच्छेद्य, अदाह्य, स्वच्छ, अक्षर और निर्मल हूँ; मुझमें 'अहं' 'त्वं' 'एक' और द्वैत शब्द कोई नहीं और जन्म, मरण भी नहीं। यह संसार चित्त से भासता है और आत्मस्वरूप है। देवता, यक्ष, राक्षस, स्थावर, जङ्गम आदिक सब आत्मरूप हैं जैसे तरंग और बुद्बुदे समुद्र से भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा से कोई वस्तु भिन्न नहीं। दृश्य, द्रष्टा, दर्शन ये भी आत्मा की सत्ता से चेतन हैं; इनको आपसे सत्ता कुछ नहीं। मुझमें अहं का उत्थान कदाचित् नहीं—अपने आपमें स्थित हूँ। अब इसी पद का आश्रय करके चिरकाल इस संसार में बिचरूँगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चुड़ालाप्रबोधो नाम
सप्तषष्टितमस्सर्गः ॥ ६७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! फिर चुड़ाला जिसकी तृष्णा निवृत्त हुई थी और जो दुःख, भय और भोगवासना से निवृत्त होकर केवल शान्त-पद को पाकर शोभित हुई थी, पाने योग्य पद पाकर जानने लगी कि इतने काल तक मैं अपने स्वरूप से गिरी थी और अब मुझे शान्ति हुई है और दुःख सब मिट गये हैं। अब मुझे कुछ ग्रहण और त्याग नहीं और अब मैं अपने आत्मस्वभाव में स्थित हुई हूँ। निदान एकान्त बैठकर समाधि में ऐसी लगी जैसे वृद्ध गऊ पर्वत की कन्दरा पाकर तृण और घास से बहुत प्रसन्न होती है तैसे ही अपने आनन्दरूप को पाकर

चुड़ाला स्थित भई। हे रामजी! वह ऐसे आनन्द को प्राप्त हुई जिसको वाणी से नहीं कह सकते। तब राजा शिखरध्वज रानी को देखकर आश्चर्यवान् हुआ और बोला; हे अङ्गने! अब तुम फिर यौवन अवस्था को प्राप्त हुई हो और तुमको कोई बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ है। कदाचित् तुमने अमृत का सार पान किया है इससे अमर हुई हो वा किसी योगीश्वर ने तुझे इस कला को प्राप्त किया है; अथवा त्रिलोकी का ऐश्वर्य तुझे प्राप्त हुआ है। हे अङ्गने! तुझे कौन वस्तु मिली है? तुम्हारे चित्त की वृत्ति से ऐसा जान पड़ता है कि तुमने अमृत का सार पान किया है व त्रिलोकी के राज्य से भी कोई अधिक पदार्थ पाया है। तू तो किसी बड़े आनन्द को प्राप्त हुई है कि जिसका आदि अन्त कोई नहीं दीखता और तुझमें भोगवासना भी नहीं दीखती, शान्तरूप हो गई है। जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही तुझमें निर्मलता दीखती है और तेरे श्वेत बाल भी बड़े सुन्दर दृष्टि आते हैं इसलिये कह कि तुझे कौन-सी वस्तु प्राप्त हुई है? चुड़ाला बोली, हे राजन्! यह जो कुछ दीखता है सो किंचन है और इससे जो रहित निष्किंचनपद है उसको पाकर मैं श्रीमान् हुई हूँ। जिसका आकार निष्किञ्चन है और जिसमें दूसरे का अभाव है उसी को पाकर मैं श्रीमान् हुई हूँ और जो कुछ भोग हैं उनसे रहित होकर अभोग भोग भोगा है उस भोग से तृप्त हुई हूँ अर्थात् आत्मज्ञान मैंने पाया है और आत्मा में विश्राम पाया है जिससे सदा शान्तरूप और श्रीमान् हूँ। हे राजन्! जितने ये राजभोग सुख हैं उनको त्यागकर मैं परमसुख को भोगती हूँ और राग द्वेष से रहित होकर मैं कैसी हूँ कि 'नहीं हूँ' और मैं ही स्थित हूँ। जो कुछ नेत्रों से दिखता इन्द्रियों से जाना जाता है और मन से चिन्तन होता है वह सब मिथ्या स्वप्नवत् है और मैं वहाँ स्थित हुई हूँ जहाँ इन्द्रिय और मन की गम नहीं और अहंकार का उत्थान नहीं, उस पद को मैंने पाया है। जो सबका आधार और सबका आत्मा है और जो सर्व अमृत है उसका सार अमृत मैंने पान किया है इससे मेरा कदाचित् नाश नहीं और कदाचित् भय भी नहीं। हे रामजी! जब इस प्रकार

रानी ने कहा तो राजा शिखरध्वज उसके वचन न समझा और हँसकर बोला, हे मूर्ख स्त्री ! यह तू क्या कहती है जो प्रत्यक्ष वस्तु को झूठ बताती है और कहती है कि मैं नहीं देखती और असत् वस्तु जो नहीं दीखती उसको सत्य कहती है और कहती है कि मैं देखती हूँ। ये वचन तेरे कौन मानेगा ? इन वचनोंवाला शोभा नहीं पाता तू जो कहती है कि मैं ऐश्वर्य को त्यागकर श्रीमान् हुई हूँ सो निष्किञ्चन को पाकर इन वचनोंवाला शोभा नहीं पाता। तू कहती है कि इन भोगों को मैंने त्याग किया है और इनसे जो रहित अभोग हैं उनको मैं भोगती हूँ; कभी कहती है कि मैं कुछ नहीं; फिर कहती है मैं ईश्वर हूँ; इससे महामूर्खा दृष्टि आती है। जो इसी में तेरा चित्त प्रसन्न है तो ऐसे ही बिचर परन्तु यह बात सुनकर कोई सत् न मानेगा और तुझे यह शोभा भी नहीं देता। हे रामजी ! ऐसे कहकर राजा उठ खड़ा हुआ और मध्याह्न का समय हो जाने से स्नान के निमित्त गया। रानी मन में बहुत शोकवान् हुई और विचार किया कि बड़ा कष्ट है जो राजा ने आत्मपद में स्थिति न पाई और मेरे वचनों को न जाना। यही मन में धरकर वह अपने आचार में लगी और फिर अपना निश्चय राजा को न बताया और जैसे अज्ञानकाल में चेष्टा करती थी तैसे ही ज्ञान पाकर भी करने लगी। एक समय रानी के मन में आया कि प्राणों को ऊपर चढ़ाऊँ और ऊर्ध्व को लाकर उदान और अपान को वश करूँ जिससे आकाश और पाताल दोनों स्थानों में जाऊँ। ऐसे चिन्तनाकर रानी योग में स्थित हुई और प्राणायाम करने लगी। इतना सुनकर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह संसार संकल्प से उत्पन्न हुआ है। स्थावर-जङ्गमरूप संसार वृक्ष है और संकल्प इसका बीज है। वह कौन प्राणायाम पवन है जिससे आकाश को उड़ते हैं और फिर नीचे आते हैं ? अज्ञानी पुरुष भी जिसे यत्न करके कैसे सिद्ध करते हैं और ज्ञानवान् कैसे लीला करके बिचरते हैं। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! तीन प्रकार की सिद्धि होती हैं—एक तो उपादेय सिद्धि है कि यह वस्तु मुझे मिले। इसके निमित्त अज्ञानी यत्न करते हैं। दूसरी सिद्धि यह है कि यह दुःख मेरा निवृत्त हो और मैं सुखी हो जाऊँ। यह चिन्ता महा अज्ञानी को रहती है; और तीसरी सिद्धि यह है कि जो मैं कर्म करता हूँ उसका फल मुझे मिले। यह विचार करनेवाला भी अज्ञानी है; क्योंकि वह आपको कर्त्ता मानता है। ज्ञानवान् इनसे उल्लांघित बर्तता है वह कदाचित् इसमें बर्तता भी है तौ भी उसको यह निश्चय रहता है कि न मैं कर्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। योग करके इस प्रकार सिद्ध होते हैं कि देश, काल, वस्तु और क्रिया उनके अधीन हो जाती हैं। मुख में गुटका रखके जहाँ चाहे उसी ठौर में जा प्राप्त होना, नेत्रों में अञ्जन डालके जिसको देखा चाहे उसको देख लेना और खड्ग हाथ में धारण करके संपूर्ण पृथ्वी को वश कर लेना—यह तो क्रिया पदार्थ है और देश यह है कि जो सब पर्वत हैं उनमें कितनी पीठ हैं और बड़े उत्तम हैं। जिस प्रकार ये सिद्ध होते हैं सो भी सुनो नाभि के तले आधारचक्र में एक कुण्डलिनी शक्ति है, सर्पिणी की नाईं उसमें कुण्डल है और वह कुण्डल मार बैठी है और वासना ही उसमें विष है जितनी नाड़ी हैं उन सबकी समिष्टनी है। उस कुण्डलिनी में जब मनन होता है तब मन होकर प्रकट होता है; जब निश्चय होता है तब बुद्धि प्रकट होती है; जब अहंभाव होता है तब अहंकार प्रकट होता है; जब स्मरण होता है तब चित्त प्रकट होता है और जब उसमें स्पर्श की इच्छा होती है तब पवन प्रकट होता है। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्रा और चारों अन्तःकरण प्रकट होते हैं। जितनी नाड़ी हैं वे सब कुण्डलिनी से प्रकट होती हैं और आत्मा का प्रकट होना भी उससे जाना जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! उससे आत्मा का प्रकट होना कैसे जाना जाता है ? आत्मा तो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है और सब देश, सर्वकाल और सर्व वस्तु से पूर्ण है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में और धूप में सब ठौर दीखता है तैसे ही ब्रह्मसत्ता सर्वत्र समान है और प्रकट सात्त्विकगुण में दीखती है। जो कुछ नाड़ी और इन्द्रियाँ हैं वे कुण्डलिनी शक्ति से उदय होती हैं और जब यह जीव कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होकर पवन को स्थित करता है तब जो कुछ भीतर प्राणवायु हैं वे सब इसके वश होती हैं जैसे सर्वसेना राजा के वश होती है उसी

प्रकार सब इन्द्रियाँ प्राण के वश होती हैं और जो प्राणवायु वश नहीं होती तो आधि व्याधि रोग उपजते हैं । रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आधि व्याधि कैसे होती है सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मन की पीड़ा का नाम आधि है और देह के दुःख को व्याधि कहते हैं। आधि तब होती है जब संकल्प होता है कि यह सुख मुझे मिले पर यदि वह वस्तु नहीं प्राप्त होती तब चिन्ता करके दुःख पाता है और व्याधि तब होती है जब वात, पित्त, कफ का विकार शरीर में होता है और उससे दुःख पाता है । जब मन और शरीर का दुःख इकट्ठा होता है तब आधि, व्याधि, दुःख इकट्ठे होते हैं और जब भिन्न भिन्न होते हैं तब दुःख भी भिन्न भिन्न होते हैं। ज्ञानवान् को न आधि होती है न व्याधि है । यह योग की कला मैंने विस्तार से नहीं कही, क्योंकि पूर्व के ज्ञान क्रम का प्रसंग रह जाता है । जितनी कला हैं उन सबको मैं जानता हूँ परन्तु यह कला ज्ञान मार्ग को रोकनेवाली है । वामना चार प्रकार की हैं सो सुनो । एक वासना सुषुप्ति है; दूसरी स्वप्न, तीसरी जाग्रत् और चौथी क्षीण । स्थावर योनि को सुषुप्ति वासना है सो आगे फुरेगी; तिर्यक्योनि की स्वप्न वासना है कि उनको वासना का ज्ञान भी नहीं और जङ्गम अर्थात् मनुष्य, देवता आदिकों को जाग्रत् वासना है कि वे वासना ही में लगे हैं। ये तीन वासना तो अज्ञानी की हैं और क्षीण वासना ज्ञानी की है अर्थात् उसको वासना की सत्यता नष्ट हुई है । जब इस प्रकार वासना निवृत्त होती है तब आगे संसार भी नहीं रहता और जब कुण्डलिनी शक्ति से वासना फुरती है तब पञ्चतन्मात्रा के द्वारा संसार का भान होता है । संसाररूपी वृक्ष का बीज वासना ही है, दशों दिशा उस वृक्ष के पत्र हैं; शुभ अशुभ कर्म उसके फूल हैं और स्थावर जंगम फल हैं । जैसी-जैसी वासना पुर्यष्टका से मिलकर जीव करता है तैसा ही आगे फल होता है । हे रामजी ! इससे वासना का त्याग करो—वासना ही संसाररूपी वृक्ष का बीज है और निर्वासनिक होना ही पुरुषप्रयत्न है—तब विश्व कदाचित् न भासेगा । जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकाररूपी रात्रि नहीं रहती तैसे ही ज्ञानरूपी सूर्य के उदय हुए संसाररूपी अन्धकार

निवृत्त हो जाता है । हे रामजी ! आधि व्याधि बड़े रोग हैं सो मन से होते हैं । रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आधिरोग तो मन से होता है पर व्याधि तो शरीर का रोग है, मन से कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! व्याधि दो प्रकार की है एक लघु और दूसरी दीर्घ है । जो शरीर को कोई दुःख प्राप्त हो उसे लघु कहते हैं; वह स्नान और जप से निवृत्त हो जाती है और दीर्घव्याधि जन्म मरण के रोग को कहते हैं वे बड़े रोग हैं और मन के शान्त हुए विना निवृत्त नहीं होते । इसी से आधि व्याधि दोनों मन से होते हैं । फिर रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! व्याधि मन से कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब चित्त शान्त होता है तब कोई रोग नहीं रहता और जबतक चित्त शान्त नहीं होता तबतक आधि व्याधि होती है । जो कुछ अन्न बाहर अग्नि से परिपक्व होता है उसको जब मनुष्य भोजन करते हैं तब भीतर जो कुण्डलिनी पुर्यष्टका से मिली हुई है वह उदान पवन को ऊर्ध्वमुख हो फुराती है और अपान पवन उससे अधः को फुरता है; उदान और अपान का आपस में विरोध है—उनके क्षोभ से अग्नि उठती है और हृदयकमल में स्थित होती है तब बाहर अग्नि का पका भोजन हृदय की अग्नि से फिर पकता है और सर्व नाड़ी अपने-अपने भाग रस को ले जाती हैं । वीर्यवाली नाड़ी वीर्य को रखती है और रुधिरवाली नाड़ी रुधिर को रखती है। पर जब राग और द्वेष से चित्त कुण्डलिनी शक्ति में क्षोभित होता है तब नाड़ी अपने-अपने स्थानों को छोड़ देती हैं और अन्न भी भीतर पक्व नहीं होता तब उस कच्चे रस से रोग उठता है । जैसे राजा को क्षोभ होता है तो सेना को भी क्षोभ होता है और जब राजा को शान्ति होती है तब सेना को भी शान्ति होती है; तैसे ही जब मन में क्षोभ होता है तब रोग होता है और जब मन में शान्ति होती है तब नाड़ी अपने-अपने स्थानों में स्थित होती हैं—रोग कोई नहीं होता । इससे हे रामजी ! आधि व्याधि रोग तब होते हैं जब मनुष्य का चित्त निर्वासनिक नहीं होता पर जब चित्त शान्त होता है तब रोग कोई नहीं रहता । इससे निर्वासनिक पद में स्थित हो । रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! पीछे

आपने कहा है कि मन्त्रों से भी रोग निवृत्त होता है सो कैसे निवृत्त होता है ? वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी ! प्रथम मनुष्य को श्रद्धा होती है कि इस मन्त्र से रोग निवृत्त होगा तब पुण्यक्रिया, दान, सन्तजनों की संगति और य, र, ल, व आदिक जो अक्षर हैं इनका जाप करके (क्योंकि जितने कुछ जाप और मन्त्र हैं सो इन अक्षरों से सिद्ध होते हैं) व्याधिरोग निवृत्त हो जाता है। योगीश्वरों का क्रम अणु और स्थूल है सो भी सुनो। जब ये प्राण और अपान कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होते हैं तो इनको वश करके योगी गम्भीर होता है। जैसे मशक में पवन होता है इसी प्रकार पवन को स्थित करके कुण्डलिनी सुषुम्णा में प्रवेश करती है और ब्रह्मरन्ध्र में जा स्थित होती है। एक मुहूर्त पर्यन्त वहाँ स्थित हो तो आकाश में सिद्धियाँ देखता है। जिस प्रकार इसका क्रम है तैसे तुमसे कहता हूँ। हे रामजी ! सुषुम्णा के भीतर जो ब्रह्मरन्ध्र है उसमें जब पूरकद्वारा कुण्डलिनी शक्ति स्थित होती है अथवा रेचक प्राण वायु के प्रयोग से द्वादश अंगुल पर्यन्त मुख से बाहर अथवा भीतर वा ऊपर एक मुहूर्त तक एक ही बेर स्थित होती है तब आकाश में सिद्धों का दर्शन होता है। रामजी ने पूछा, हे ब्रह्मन् ! जब ब्रह्मरन्ध्र में जीवकला जा स्थित होती है तो कैसे दर्शन होता है ? दर्शन तो नेत्रों से होता है सो नेत्र आदिक इन्द्रियाँ वहाँ कोई नहीं होतीं; नेत्रों विना दर्शन कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहो रामजी ! पृथ्वी में बिचरनेवालों को आकाश में बिचरनेवालों का दर्शन नहीं होता परन्तु दिव्यदृष्टि से दृष्ट आता है—चर्मदृष्टि से नहीं दीखते। विज्ञान के निकट जो निर्मल बुद्धिनेत्र होते हैं उनसे दर्शन होता है। जैसे स्वप्न में चर्मनेत्रों के विना भी सब पदार्थ दृष्ट आते हैं तैसे ही सिद्धों का दर्शन होता है परन्तु इतनी विशेषता है कि स्वप्न के पदार्थ जाग्रत् में नहीं भासते और न उनसे कुछ अर्थ सिद्ध होता है पर सिद्धों के समागम की चेष्टा जाग्रत् में भी स्थिर प्रतीत होती है। मुख के बाहर जो द्वादश अंगुल पर्यन्त अपान का स्थान है उसमें रेचक प्राणायाम का अभ्यास होता है और जब चिरपर्यन्त वहाँ प्राण स्थिरीभूत होता है तब और पुरियों और दिशा के स्थानों में प्राप्त हो सकता है। रामजी ने पूछा, हे ब्रह्मन् ! जो पदार्थ चञ्चलरूप हैं वे क्योंकर स्थिर होते हैं ? वक्ता जो गुरु हैं वे कृपा करके कहते हैं, वे दुष्ट प्रश्न जो तर्करूप हैं उससे भी खेदवान् नहीं होते। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसी जैसी वस्तु है तैसी तैसी उसकी शक्ति स्वाभाविक होती है। आदि जगत् के फुरने से जैसी नीति हुई है तैसी ही अबतक आत्मा में स्वभाव शक्ति का फुरना होता है। यह जो अविद्या है सो अवस्तुरूप है और जो कहीं वस्तुरूप होकर भी भासती है सो ऐसे है जैसे वसन्त ऋतु में भी शरत्काल के फूल दृष्टि आते हैं और वसन्त ऋतु के शरत्काल में भासते हैं। यह भी एक नीति है कि इससे इस द्रव्य की शक्ति ऐसे हो जावे परन्तु स्वरूप से सब ब्रह्मरूप है; द्वैत नानात्व कुछ नहीं। केवल ब्रह्मतत्त्व अपने आपमें स्थित है, व्यवहार के निमित्त नानात्व की कल्पना हुई है; वास्तव में द्वैत कुछ नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! सूक्ष्मरन्ध्र से स्थूलरूप वायु कैसे निकल जाती है और अणु सूक्ष्मरूप होकर फिर स्थूलभाव को कैसे प्राप्त होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे आरे से कटे काष्ठ के दो टुकड़े को शीघ्र ही घिसिये तो उनसे स्वाभाविक अग्नि प्रकट होती है तैसे ही मांसमय जो कमल उदर में है उसके मध्य हृदयकमल है और उसमें सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति है। उस कमल के भीतर दो कमल हैं एक अधः और दूसरा ऊर्ध्व, अधः चन्द्रमा की स्थिति है और ऊर्ध्व सूर्य की स्थिति है और उनके मध्य में कुण्डलिनी लक्ष्मी स्थित है। जैसे पद्मराग मणि का डब्बा हो और मोतियों का भण्डार हो तैसे ही उसका महाउज्ज्वलरूप है। जैसे आवर्त फेन के मिलने से शलशल शब्द प्रकट होता है तैसे ही उससे शब्द निकलता है और जैसे डण्डे के साथ हिलाये से सर्पिणी शब्द करती है तैसे ही उस कुण्डलिनी से प्रणव शब्द उदय होता है। हे रामजी ! आकाश और पृथ्वी जो ऊर्ध्व और अधःरूप दो कमल हैं उनके मध्य में कुण्डलिनी शक्ति स्पन्दरूपिणी स्थित है। वह जीवकला पुर्यष्टका अनुभवरूप अतिप्रकाश सूर्य की नाईं हृदयरूप कमल की भ्रमरी है सो सबों की अधिष्ठान आदि शक्ति है और हृदयकमल में विराजमान है। उस हृदय आकाश में कुण्डलिनी शक्ति

है उसमें से स्वाभाविक वायु निकलती है सो कोमल मृदुरूप है। वही पवन निकलकर दो रूप होता है एक प्राण और दूसरा अपान, वही अन्योन्य मिलकर स्फुरणरूप होता है। जैसे वृक्ष के पत्तों के हिलने से उससे शीघ्र ही अग्नि प्रकट होती है और बाँसों के घिसने से अग्नि प्रकट होती है तैसे ही प्राण अपान से अग्नि प्रकट होकर जब आकाश में उदय होती है तब सर्व ओर से भीतर प्रकाश होता है। जैसे सूर्य के उदय हुए सब ओर से भुवन प्रकाशित होते हैं तैसे ही सब ओर से प्रकाशित होता है और सूर्यरूप तारा अग्निवत् तेज आकार हैं। हृदयकमल का भ्रमरा स्वर्णरूप है और उसके चिन्तन से योगी तद्वत् होते हैं। वह प्रकाश ज्ञानरूप है और उस तेज से योगी की वृत्ति तद्वत् होती है अर्थात् एकत्वभाव को प्राप्त होती है तब लक्षयोजन पर्यन्त जो पदार्थ हों उनका उसे ज्ञान हो आता है और सब प्रत्यक्ष दृष्टि पड़ते हैं। उस अग्नि का हृदयरूपी ताल स्थान है। जैसे बड़वाग्नि समुद्र में रहती है और उसको जल ही इन्धन है अर्थात् जल को दग्ध करती है; तैसे ही हृदयरूप ताल में उसका निवास है और रस शीतलतारूप जल को पचाती है। उस हृदयकमल से जो अपानरूप शीतल वायु उदय होता है उसका नाम चन्द्रमा है और प्राणरूप उष्ण पवन उदय होता है सो सूर्यरूप है। वही उष्ण और शीतल सूर्य चन्द्रमा नाम से देह में स्थित हैं। आदि प्राण वायुरूप सूर्य अपानरूप चन्द्रमा से सूर्यरूप होकर स्थित होता है। सूर्य उष्ण और चन्द्रमा शीनल है। इन दोनों से जगत् हुआ है। विद्या, अविद्या, सत्य, असत्यरूप जगत् इन दोनों से युक्त है सत्, चित्, प्रकाश, विद्या, उत्तरायण, सूर्य, अग्नि आदिक नाम बुद्धिमान् निर्मलभाव से कहते हैं और असत्, जड़, अविद्या, तम, दक्षिणायन आदिक चन्द्रमारूप से मलिनभाव कहते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! अग्नि, सूर्यरूप जो प्राणवायु है उससे शीतल जलरूप चन्द्रमा अपानरूप कैसे उत्पन्न होता है और अपान जल चन्द्रमारूप से सूर्य कैसे उत्पन्न होता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सूर्य चन्द्रमा जो अग्नि सोम हैं वे परस्पर कार्य कारणरूप हैं। जैसे बीज से अंकुर और अंकुर से बीज होता है; जैसे दिन से रात्रि और रात्रि से दिन होता है और जैसे छाया से धूप और धूप से छाया होती है; तैसे ही सूर्य चन्द्रमा परस्पर कार्य कारण होते हैं। कभी कभी इनकी इकट्ठी उपलब्धि भी होती है। जैसे सूर्य के उदय हुए धूप और छाया दोनों इकट्ठे हो जाते हैं। कार्य कारण भी दो प्रकार का है—एक कार्य सत्यरूप परिणाम से होता है एक विनाशरूप परिणाम से होता है। एक से जो दूसरा होता है सो जैसे बीज नष्ट हो गया तो उससे अंकुर होता है सो विनाशरूप परिणाम होता है और जैसे मृत्तिका से घट उपजता है सो सत्यरूप परिणाम कहाता है, जो कारण कार्य के भाव में भी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष पाइये उसका नाम सत्यरूप परिणाम है और जो कार्य में इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं पाया जाता जैसे दिन में रात्रि और रात्रि में दिन सो विनाशरूप परिणाम कहाता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है तैसे ही अभाव प्रमाण भी है। इससे विनाशभाव भी एक कारणरूप है जैसे युक्तिवादी कहते हैं कि अपने संवित् में कर्तव्य नहीं बनता इत्यादि सो इस अर्थ की अवज्ञा करते हैं और अपने अनुभव को नहीं जानते। अनुभव की युक्ति उनको नहीं आती। यह अभाव प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रकट है शीतलता का परिणाम यह है कि जैसे अग्नि के भाव से शीतलता के अभाव में उष्णता होती है; दिन के अभाव में रात्रि और छाया के अभाव में धूप इत्यादिक का नाम अभाव परिणाम कहाता है। अग्नि से धूम्रभाग निकलता है सो मेघ होता है इस कारण सत्त्वरूप परिणाम से चन्द्रमा का कारण अग्नि होता है और अग्नि नाश होकर शीतलभाव को प्राप्त होती है तब उसका नाम विनाश परिणाम से अग्नि चन्द्रमा का कारण होता है। सात समुद्रों का जल पान करके बड़वाग्नि धूम्र को उद्गीर्ण करता है सो धूम्र मेघ को प्राप्त होकर अत्यर्थ जल का कारण होता है। सूर्य जो विनाश के अर्थ चन्द्रमा को पान करता है सो अमावस्या पर्यन्त बारम्बार भक्षण करता है और फिर शुक्लपक्ष में उद्गीर्ण करता है। जैसे सारस पक्षी भीठ की जड़ को भक्षण करके उद्गीर्ण कर डालता है। हे रामजी! अमृत के समान शीतल जो अपान वायु चन्द्रमारूप है सो मुख के अग्र में रहता

है। वह कणकारूप जल जब शरीर में जाता है तब वह जल का अणु अपान और सूर्यरूपी प्राण फुरण को प्राप्त होता है। इस प्रकार सत्यरूप परिणाम से जल अग्नि का कणका होता है। जब जल का नाश हो जाता है तब वह उष्णभाव अग्नि को प्राप्त होता है—इनका नाम विनाश परिणाम है। इस प्रकार जल अग्नि का कारण कहाता है। अग्नि के नाश हुए चन्द्रमा उत्पन्न होता है इसका नाम विनाश परिणाम है और चन्द्रमा के अभाव हुए अग्नि उत्पन्न होता है इसका नाम भी विनाश परिणाम है जैसे तम के अभाव से प्रकाश उदय होता है और प्रकाश के अभाव से तम होता है; दिन के अभाव से रात्रि और रात्रि के अभाव से दिन होता है; इसके मध्य में जो विलक्षणरूप है सो बुद्धिमानों से भी नहीं पाया जाता। वह तम और प्रकाश दोनों रूपों से युक्त है; इनके मध्य में जो संधि है सो आत्मरूप है उसमें स्थित होके चेतन और जड़ दोनों रूपों से भूत फुरण होते हैं। जैसे दिन और रात्रि; तम और प्रकाश से पृथ्वी में चेष्टा करते हैं सो चेतन और जड़रूप सूर्य और चन्द्रमा दोनों रूपों से युक्त है। निर्मलरूप प्रकाश जो चिद्रूप है उसका नाम सूर्य है और जड़ात्मक तमरूप है सो चन्द्रमा का शरीर है। जब निर्मल चैतन्यरूप सूर्य आत्मा का दर्शन होता है तब संसार के दुःखरूप जो तम हैं सो नष्ट हो जाते हैं—जैसे आकाश में सूर्य उदय से श्यामरात्रि का तम नष्ट हो जाता है। जड़ चन्द्रमारूप जो देह है जब उसको देखता है तब चैतन्यरूप सूर्य नहीं भासता—असत्य की नाईं हो जाता है और चैतन्य की ओर देखता है तब देह नहीं भासता। केवल लक्ष में दूसरे की उपलब्धि नहीं होती। केवल चैतन्यपद को प्राप्त हुए से द्वैत से रहित निर्वाणभाव होता है और जड़भाव को प्राप्त हुए चैतन्य नहीं भासता इससे संसार के दर्शन का कारण दोनों हैं। सूर्य चेतन से चन्द्रमा जड़ की उपलब्धि होती है और जड़ चन्द्रमा से सूर्य चेतन की उपलब्धि होती है। जैसे अग्निरूप प्रकाश अन्धकार विना सिद्ध नहीं होता तैसे ही इन दोनों की संधि विना आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। प्रकाश विना केवल जड़ की उपलब्धि भी नहीं होती। जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब

जिस दीवार पर पड़ता है वह दीवार प्रकाश से भासती है और प्रकाश दीवार से भासता है; तैसे ही चित्त फुरता है तब जीव को जगत् भासता है और फुरना जगत् से होता है—फुरने से रहित अचैत्य चिन्मात्र निर्वाण होता है। इससे हे रामजी! जगत् को अग्नि और सोम जानो। चेतन को देह से सम्बन्ध है परन्तु जिसकी अतिशय हो उसकी जय होती है। प्राण—अग्नि उष्णरूप है और अपान शीतल—चन्द्रमारूप है। ये दोनों प्रकाश और छायारूप हैं—इनको जानना सुख का मार्ग है। हे रामजी! जब बाहर से शीतलरूप अपान भीतर को आता है तब उष्णरूप प्राण में जा स्थित होता है और जब हृदयस्थान से निकलकर उष्णरूप प्राण बाहर को द्वादश अंगुल पर्यन्त जाता है तब अपान जो चन्द्रमा का मण्डल है उसको प्राप्त होता है अपान प्राणरूप होकर उदय होता है और प्राण अपानरूप होकर उदय होता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ही इनका परस्पर आपस में प्रतिबिम्ब पड़ता है। जहाँ षोडशकला चन्द्रमा को सूर्य ग्रास लेता है उस मध्यभाव में स्थित हो। जब अपान प्राणों के स्थान में आन स्थित होता है और प्राणरूप होकर उदय नहीं हुआ सो शान्तिरूप भाव है—उसमें स्थित हो। प्राण निकलकर जब मुख से द्वादश अंगुल पर्यन्त बाहर स्थित होता है और जबतक अपानभाव को प्राप्त होकर उदय नहीं हुआ वह जो मध्यभाव है उसी में स्थित हो। मेष आदिक जो द्वादश राशि हैं उनमें एक को त्यागकर दूसरी राशि को जबतक संक्रान्ति नहीं प्राप्त होती उसका नाम संक्रान्ति है और उनके मध्य में जो सन्धि है उसका नाम पुण्यकाल है सो पुण्य भीतर और बाहर प्राण अपान की सन्धि के समय में तृणवत् है। उन संक्रान्तियों में जो वैशाख की बिषुवती संक्रान्ति है सो शिवरात्रि चैत्र की संक्रान्ति त्रयोदश दिन होते हैं और अस्त की संक्रान्ति त्रयोदश दिन है इनका नाम बिषुवती है। जहाँ दिन और रात्रि सम होते हैं और दक्षिणायन और उत्तरायण की जो सन्धि होती हैं इनके भीतर और बाहर भेद को जाने तब जन्म से रहित होकर परम बोध को प्राप्त हो। हे रामजी! उत्तरायण मार्ग योगीश्वरों का है उससे वे

क्रम से मुक्त होते हैं और दक्षिणायन मार्ग कर्म करनेवालों का है इससे वे फिर संसारभागी होते हैं । उनके मध्य में जो संधि है उसमें स्थित हुए से परम उत्तमपद प्राप्त होता है ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अग्निसोमविचारयोगो
नामाष्टषष्टितमस्सर्गः ॥ ६८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह योग की सर्वकला मैंने विस्तार से कही और इसमें उत्तम प्रभाव वर्णन हुआ है । प्रयोजन यही है कि तुम निर्वाण पद में स्थित हो और आत्मब्रह्म की एकता करो जिससे कि फिर जन्मादिकों का दुःख न हो । ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द स्वभावमात्र है। जो एक आत्मा में एकत्वभाव होते हैं वही भाव रहते हैं । धनी शक्ति का धनी होता है और अविद्या नाश हो जाती है । इस प्रकार जब वही चुड़ाला रानी योग और ज्ञान के अभ्यास से पूर्ण हुई तब सब शक्तियों से संयुक्त होकर धनी, अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त हुई । एक रात्रि में राजा सोया था तो वह अवकाश पाकर आकाश के बहुत स्थानों में बिचरी; फिर देवलोक में अति चञ्चल काली का रूप धारके फिरी; फिर मध्य दिशा, देवलोक, दैत्यों, राक्षसों, विद्याधरों और सिद्धों के लोक में होकर सूर्यलोक, चन्द्रलोक, मेघमण्डल और इन्द्रलोक में गई और वहाँ का कौतुक देखकर फिर अधोलोक में आई । समुद्र में प्रवेश करके फिर अग्नि में प्रवेश कर गई पवन में पवनरूप हुई और नागलोक की कन्याओं में क्रीड़ा की । फिर वनों, पर्वतों, भूतों, अप्सराओं और त्रिलोकी के मध्य बिचरी । इसी प्रकार लीला करके फिर एक क्षण में उसी स्थान में जहाँ राजा सोया था आई और राजा के समीप सो रही । जैसे भँवरी भँवरा कमलिनी के मध्य में शयन करते हैं पर राजा ने न जाना कि रानी कहीं गई थी वा न गई थी । जब रात्रि बीती और प्रातःकाल हुआ तो राजा ने स्नानशाला में जाकर स्नानकर वेदोक्त कर्म किये और रानी ने भी प्रवाह पतित कर्म किये । जैसे पिता पुत्र को मीठे वचनों से उपदेश करता है तैसे ही रानी ने राजा को शनैःशनैः तत्त्व का उपदेश किया और पण्डितों से भी कहा कि तुम भी राजा को उपदेश करो कि

यह जगत् स्वप्नवत् भ्रम, दीर्घ रोग और दुःखों का कारण है, आत्मज्ञान औषध से यह नाश होता है और इसकी कोई औषध नहीं । इसी प्रकार आप भी राजा को उपदेश करे और पण्डित लोग भी उपदेश करें परन्तु राजा ने वह ज्ञान न पाया और विक्षेपता में रहा । राजा ने उस उत्तमपद में विश्राम न पाया जो अपना आप केवल चिद्रूप, प्रत्यक् आत्मा है । रामजी ने पूछा, हे महामुनि ! रानी तो सर्वशक्तिसम्पन्न हुई थी कि योगकला में भी अति चतुर और ज्ञानकला में तद्रूप थी और राजा भी अति मूढ़ न था उसको उसका उपदेश क्यों न दृढ़ हुआ ? रानी भी उसको प्रीति से उपदेश करती थी तो क्या कारण था जो वह अपने पद में स्थित न हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे अछिद्रमोती में तागा प्रवेश नहीं करता तैसे ही चुड़ाला के उपदेश ने राजा को न बेधा । जबतक आप विचार न करे और उसमें दृढ़ अभ्यास न हो तबतक यदि ब्रह्मा भी उपदेश करें तो उसको न बेधे, क्योंकि आत्मा आपही से जाना जाता है और इन्द्रियों का विषय नहीं । अधिष्ठानरूप और स्वभावमात्र आपही आपको देखता है और किसी मन और इन्द्रियों का विषय नहीं, सबका अपना आप है । रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यदि अपने आपही से देखता है तो गुरु और शास्त्र किस निमित्त उपदेश करते हैं । वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! गुरु और शास्त्र जना देते हैं कि तेरा स्वरूप आत्मा है परन्तु 'इदं' करके नहीं दिखाते । विचारनेत्र से आपको आपही देखता है; विचार से रहित उसको नहीं देख सकता । जैसे किसी पुरुष को चन्द्रमा कोई सचक्षु दिखाता है पर जो वह सचक्षु होता है तो देखता है और मन्ददृष्टि होता है तो नहीं देखता; तैसे ही गुरु और शास्त्र आत्मा का रूप वर्णन करते हैं और लखाते हैं पर जब वह विचारनेत्र से देखता है तब कहता है कि मैंने देखा और अन्यों को दिखाने के योग्य होता है । हे रामजी ! आत्मा किसी इन्द्रिय का विषय नहीं; वह अपना आप मूलरूप है और इन्द्रियाँ कल्पित हैं । जो तुम कहो कि तुम भी तो इन्द्रिय से ही उपदेश करते हो तो सब इन्द्रियों का विस्मरण करो तो अपना मूल तुम्हें भासे । हे रामजी ! इस पर एक क्रान्त का इतिहास है सुनो । एक क्रान्त था

जिसके पास बहुत धन और अनाज था परन्तु वह ऐसा कृपण था कि किसी को कुछ न देता था और धन की तृष्णा करता था कि किसी प्रकार मुझे चिन्तामणि मिले। इसी इच्छा से एक समय घर से बाहर निकल पृथ्वी की ओर देखता जाता था कि एक स्थान में पहुँचा जहाँ घास और भुस पड़ा था तो उसे उसमें एक कौड़ी दृष्टि पड़ी और वह उस कौड़ी को उठाकर देखने लगा कि कुछ और भी निकले तो फिर दूसरी कौड़ी निकली; इसी प्रकार ढूँढ़ते ढूँढ़ते उसे तीन दिन व्यतीत हुए तब चार कौड़ी निकलीं और फिर आठ निकलीं। जब तीन दिन और ढूँढ़ते बीते तब चन्द्रमा की नाईं चिन्तामणि प्रकट देखी और उसे लेकर अपने घर आया और अति हर्षवान् हुआ। हे रामजी! तैसे ही गुरु और शास्त्रों से 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' का पाना कौड़ियों का खोजना है और आत्मा चिन्तामणि रूप है। परन्तु जैसे कौड़ियों के खोज में उसने चिन्तामणि विना खोजे न पाई तैसे ही गुरु और शास्त्रों से आत्मपद मिलता है—गुरु और शास्त्रों विना नहीं मिलता। धन, तप और कर्म से आत्मा नहीं मिलता, केवल अपने आपसे पाया जाता है। हे रामजी! जब शिखरध्वज चुड़ाला के पास से उठकर स्नान को गया तब राजा के मन में वैराग उपजा कि यह संसार मिथ्या है। हमने बहुत भोग भोगे तौ भी हृदय को शान्ति न हुई और इन भोगों का परिणाम दुःखदायक है। जब मन में ऐसा विचार उपजा तब राजा ने गऊ, पृथ्वी, सुवर्ण, मन्दिर और दूसरी सामग्री बहुत दान की और सब ऐश्वर्य के पदार्थ ब्राह्मणों, ग़रीबों और अतिथियों को अधिकार के अनुसार दिये। रानी ने भी ब्राह्मणों और मन्त्रियों से कहा कि राजा को तुम यही उपदेश दिया करो कि ये भोग मिथ्या हैं; इनमें कुछ सुख नहीं और आत्म-सुख बड़ा सुख है जिसके पाये से जन्म-मरण से मुक्त होता है इसी प्रकार राजा ब्राह्मणों से सुने और अपने मन में भी वैराग उपजाता था इस कारण विचारे कि मैं इस संसारदुःख से रहित हो जाऊँ; यह संसार बड़ा दुःखरूप है और इसमें सदा जन्म-मरण है। निदान राजा के मन में आया कि मैं तीर्थों को जाऊँ और स्नान करूँ, इसलिये तीर्थों को चला और स्नान, दान करता इसी प्रकार देवता, तीर्थों और सिद्धों के दर्शन करके गृह को आया। रात्रि के समय रानी के साथ शयन किया तो रानी से कहा कि हे अङ्गने! अब मैं वन को तप करने के लिये जाता हूँ, क्योंकि ये भोग मुझे दुःखदायक भासते हैं और राज्य भी वन की नाईं उजाड़ भासता है। ये भोग हम बहुत काल पर्यन्त भोगते रहे तो भी इनमें सुख दृष्टि न आया, इसलिये मैं वन को जाता हूँ—मुझे न अटकाइयो। तब रानी ने कहा, हे राजन्! अब तेरी कौन अवस्था है जो तू वन में जाता है? अब तो हमारे राज भोगने का समय है। जैसे वसन्त में फल शोभा पाते हैं और शरत्काल में नहीं शोभते तैसे ही हम भी जब वृद्ध होंगे तब वन को जावेंगे और वन ही में शोभा पावेंगे। जैसे वन के फूल श्वेत होते हैं तैसे ही जब हमारे केश श्वेत होंगे तब शोभा पावेंगे—अब तो राज करो। हे रामजी! इस प्रकार रानी ने कहा पर राजा का चित्त वैराग ही में रहा और रानी का कहना चित्त में न लाया। जैसे चन्द्रमा विना कमलिनी शान्ति नहीं पाती तैसे ही ज्ञान विना राजा को शान्ति न हुई परन्तु वैराग करके फिर कहने लगा हे रानी! अब मुझे न रोक अब राज्य मुझको फीका लगता है इसलिये मैं वन को जाता हूँ यहाँ नहीं ठहर सकता। जो तुम कहो कि हम यहाँ तेरी टहल करती थीं वन में कौन करेगा तो पृथ्वी ही हमारी टहल करेगी, वन की वीथियाँ स्त्रियाँ होंगी; मृगों के बालक पुत्र; आकाश हगारे वस्त्र और फूल के गुच्छे भूषण होंगे। जब दूसरी रात्रि हुई और राजा वहाँ से चला तो रानी और सेना भी पीछे चली और कोट के बीच सब स्थित हुए। राजा और रानी ने विश्राम किया—जैसे भँवरा भँवरी सोते हैं और सेना और सहेलियाँ भी सब सो गईं और पत्थर की शिलावत् निद्रा से जड़ हो गये। जब आधी रात्रि व्यतीत हुई तो राजा जगा और देखा कि सब सो गये हैं। निदान शय्या से उठ और रानी के वस्त्र एक ओर करके और हाथ में खड्ग लेकर निकला जैसे क्षीरसमुद्र से विष्णु भगवान् लक्ष्मी के पास से उठते हैं तैसे ही उठ सब लोगों को लाँघता कोट के दरवाजे पर आया तो देखा आधे मनुष्य जागते थे और आधे सो गये थे। उन्होंने जब राजा को

देखा तब राजा ने कहा, द्वारपालो! तुम यहाँ ही बैठे रहो; मैं अकेला ही वीरयात्रा को जाता हूँ। इतना कह राजा तीक्ष्ण वेग से चला गया और बाहर निकलकर कहा, हे राजलक्ष्मी! तुझको नमस्कार है; अब मैं वन को चला हूँ; फिर एक वन में पहुँचा जहाँ सिंह, सर्प तथा और और भयानक जीव थे; उनके शब्द सुनता आगे चला गया तो उसके आगे और वन मिला उसको भी लाँघ गया। आठ प्रहर चलकर राजा एक ठौर जा स्थित हुआ और जब सूर्य उदय हुआ तब स्नान करके संध्यादिक कर्म किये और वृक्षों के फल भोजनकर फिर वहाँ से आगे चला। इस डर से कि कोई कहीं पीछे से आकर मुझे न रोके बड़े तीक्ष्ण वेग से चला और बड़े पहाड़, नदियाँ और वन उल्लंघकर बारह दिन पश्चात् जब मन्दराचल पर्वत के निकट जा पहुँचा तब एक वन में जा स्थित हुआ और स्नान करके कुछ भोजन किया। मेघ और छाया से रक्षा के निमित्त उसने वहाँ एक झोपड़ी बनाई और बासन बनाकर उनमें फूल और फल रक्खे। जब प्रातःकाल हो तब स्नान करके प्रहर पर्यन्त जाप करे और फिर देवताओं की पूजा के निमित्त फूल चुने; दो प्रहर स्नान करके ऐसे व्यतीत करे, जब तीसरा प्रहर हो तब फल भोजन करे और चौथे प्रहर फिर संध्या और जाप करे। कुछ काल रात्रि को शयन करे और बाकी जाप में बितावै; इसी प्रकार काल को व्यतीत करे। हे रामजी! राजा की तो यह अवस्था हुई अब रानी की अवस्था सुनो। जब अर्धरात्रि के पीछे रानी जागी तो क्या देखा कि राजा यहाँ नहीं है और शय्या खाली पड़ी है रानी ने सहेलियों को जगाकर कहा बड़ा कष्ट है कि राजा वन को निकल गया है और बड़े भयानक वन में जावेगा। ऐसे कहकर मन में विचार किया कि राजा को देखा चाहिये इस निमित्त योग में स्थित होकर आकाश को उड़ी और आकाश की नाईं देह को अन्तर्धान किया। जैसे योगेश्वरी भवानी उड़ती हैं तैसे ही उड़ी और आकाश में स्थित होकर देखा कि राजा चला जाता है। रानी के मन में आया कि इसका मार्ग रोकूँ पर एक क्षणमात्र स्थित होकर भविष्यत् को विचारने लगी कि राजा का और मेरा संयोग नीति में कैसे रचा है। विचार करके देखा कि राजा का और मेरा मिलाप होने में अभी बहुत काल बाकी है; अवश्य मिलाप होगा और मेरे उपदेश से राजा जागेगा परन्तु यह सब बहुत काल उपरान्त होगा अभी इसके कषाय परिपक्व नहीं हुए इससे इसका मार्ग रोकना न चाहिये। निदान रानी फिर अपने घर आई और शय्या पर शयनकर बड़ी प्रसन्नता को प्राप्त हुई। जब रात्रि व्यतीत हुई तब मन्त्रियों से कहने लगी कि राजा एक तीर्थ करने गया है और दर्शन करके फिर आवेगा, तुम अपने कार्य करते रहो। यह सुन मन्त्री अपनी चेष्टा में बर्तने लगे इसी प्रकार रानी ने आठ वर्ष पर्यन्त राज्य किया और प्रजा को सुख दिया। जैसे बाग़वान कमलों और क्यारियों को पालता है तैसे ही रानी ने प्रजा को पालकर सुख दिया। उधर राजा को आठ वर्ष तप करते बीते और उसके अङ्ग दुर्बल हो गये और इधर रानी ने राज्य किया पर जैसे भँवरा और ठौर हो तैसे ही समय व्यतीत हुआ। तब रानी ने विचार किया कि राजा अब मेरे वचनों का अधिकारी हुआ होगा क्योंकि अब उसका अन्तःकरण तप करके शुद्ध हुआ है इससे अब राजा को देखिये। निदान रानी वहाँ से उड़के आकाश को गई और इन्द्र के नन्दनवन को देख वहाँ के दिव्यपवन का स्पर्श हुआ तो उसके चित्त में आया कि मुझे भर्ता कब मिलेगा। फिर कहने लगी कि बड़ा आश्चर्य है; मैं तो सत्पद को प्राप्त हुई थी तो भी मेरा मन चलायमान हुआ है तो और जीवों की क्या वार्ता है। वहाँ से भी चली तो आगे कमल फूल देखकर कहने लगी कि मुझे भर्ता कब मिलेगा मैं तो कामातुर हुई हूँ। फिर मन में कहने लगी कि हे दुष्ट मन! तू तो सत्पद को प्राप्त हुआ था तेरा भर्ता आत्मा है अब तू मिथ्या पदार्थों की अभिलाषा क्यों करता है? मालूम होता है कि जबतक देह है तबतक देह के स्वभाव भी साथ रहते हैं इससे यह अवस्था प्राप्त हुई है तभी मन चलायमान होता है इससे इतर जीवों की क्या वार्ता है। तब रानी मेघ, बिजली, पर्वत, नदियाँ, समुद्र और भयानक स्थानों को लाँघकर मन्दराचल पर्वत के पास वन में पहुँची और देखने लगी कि मेरा भर्ता कहाँ है। समाधि में स्थित होकर उसने देखा कि अमुक स्थान में बैठा है, तप करके महा दुर्बल अङ्ग हो

गये हैं और ऐसे स्थान में प्राप्त हुआ है जहाँ और जीव की गम नहीं; बड़ा आश्चर्य है कि महावैताल की नाईं यह रात्रि को चला आया है। अज्ञान महादुष्ट है कि ऐसा राजा तप में लगा है और स्वरूप के प्रमाद से जड़ है। अब ऐसा हो कि किसी प्रकार यह अपने स्वरूप को प्राप्त हो। परन्तु मेरे इस शरीर से इसको ज्ञान न उपजेगा, क्योंकि प्रथम तो उसको यह अभिमान होगा कि यह मेरी स्त्री है और फिर कहेगा कि मैंने इसी के निमित्त राज्य छोड़ा है और यह फिर मुझे दुःख देने आई है इससे मैं ब्रह्मचारी का शरीर धारूँ। ऐसा विचार करके उसने शीघ्र ही ब्रह्मचारी का शरीर धरा और हाथ में रुद्राक्ष की माला और कमण्डलु और गले में मृगछाला धारण किया। जैसे सदाशिव के मस्तक पर चन्द्रमा विराजता है तैसे ही सुन्दर विभूति लगा और श्वेत ही यज्ञोपवीत धारणकर पृथ्वी के मार्ग से राजा के निकट जा पहुँची। राजा उसे देखकर आगे से उठ खड़ा हुआ और नमस्कार कर चरणों पर फूल चढ़ाये। फिर अपने स्थान पर बैठाकर कहने लगा हे देवपुत्र! आज मेरे बड़े भाग हैं जो आपका दर्शन हुआ। कृपा करके कहिये कि आप किसलिये आये हैं? देवपुत्र बोले, हे राजन्! हम बड़े बड़े पर्वत देखते और तीर्थ करते आये हैं परन्तु जैसी भावना तुझमें देखी है तैसी किसी में नहीं देखी। तूने बड़ा तप किया है और तू इन्द्रियजित् दृष्टि आता है। मैं जानता हूँ कि तेरा तप खड्ग की धार सा तीक्ष्ण है इससे तू धन्य है और तुझे नमस्कार है। परन्तु हे राजन्! आत्मयोग के निमित्त भी कुछ तप किया है अथवा नहीं सो कह? तब राजा ने जो फूलों की माला देवपूजन के निमित्त रक्खी थी सो देवपुत्र के गले में डाली और पूजा करके कहा, हे देवपुत्र! तुम ऐसों का दर्शन दुर्लभ है और अतिथि का पूजन देवता से भी अधिक है। हे देवपुत्र! आपके अङ्ग बहुत सुन्दर दृष्ट आते हैं। ऐसे ही मेरी स्त्री के भी अङ्ग थे; नख से शिख पर्यन्त तुम्हारे वही अङ्ग दृष्ट आते हैं परन्तु आप तो तपस्वी हैं और आपकी मूर्ति शान्ति के लिये हुई है मैं कैसे कहूँ कि तुम वही हो। इससे हे देवपुत्र! आप किसके पुत्र हैं; यहाँ किस निमित्त आये हैं और आगे कहाँ जावेंगे यह संशय मेरा निवृत्त कीजिये? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! एक समय नारदमुनि सुमेरु पर्वत की कन्दरा में जहाँ आश्चर्य के देनेवाले वृक्ष और मञ्जरियाँ फूलों और फलों से पूर्ण थीं और ब्राह्मणों की कुटी बनी हुई थीं समाधि लगाके बैठे। वहाँ गङ्गा का प्रवाह चलता था और सिद्धों के सिवाय और जीवों की गम न थी इससे नारदमुनि वहाँ कुछ काल समाधि में स्थित रहे। जब समाधि से उतरे तब उन्होंने आभूषणों का शब्द सुना और मन में महाआश्चर्य माना कि यहाँ तो कोई नहीं आ सकता यह भूषणों का शब्द कहाँ से आया। तब उठकर देखने लगे कि गङ्गा का प्रवाह चला आता है और वहाँ उर्वशी आदिक महासुन्दर अप्सरा वस्त्रों को उतारे हुए स्नान करती हैं। जब उनको नारदजी ने देखा तो उनका विवेक जाता रहा और वीर्य निकलकर उनके पास एक सुन्दर बेल थी उसके पत्र पर स्थित हुआ। इतना सुनके शिखरध्वज ने कहा, हे देवपुत्र! ऐसे ब्रह्मवेत्ता और सर्वज्ञ मननशील संयुक्त नारदमुनि का वीर्य किस निमित्त गिरा? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! जबतक शरीर है तबतक अज्ञानी और ज्ञानी के शरीरों का स्वभाव निवृत्त नहीं होता; परन्तु एक भेद है कि ज्ञानवान् को यदि दुःख प्राप्त होता है तो वह दुःख नहीं मानता और यदि सुख प्राप्त होता है तो सुख नहीं मानता और उससे हर्षवान् नहीं होता; और अज्ञानी को यदि सुख दुःख प्राप्त होते हैं तो वह हर्ष शोक करता है। जैसे श्वेत वस्त्र पर केशर का रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है तैसे ही अज्ञानी को दुःख सुख का रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है और जैसे मोम के वस्त्रों को जल का स्पर्श नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् को दुःख सुख का स्पर्श नहीं होता। जिसके अन्तःकरणरूपी वस्त्र को ज्ञानरूपी मोम नहीं चढ़ा उसको दुःख सुखरूप जल स्पर्श कर जाता है। दुःख की और सुख की नाड़ी भिन्न-भिन्न हैं, जब सुख की नाड़ी में जीव स्थित होता है तब कोई दुःख नहीं देखता और जब दुःख की नाड़ी में स्थित होता है तब सुख नहीं देखता। अज्ञानी को कोई दुःख का स्थान है और कोई सुख का स्थान है और ज्ञानी को एक आभासमात्र दिखाई देता है—बन्धवान् नहीं होता। जबतक अज्ञान का

सम्बन्ध है तबतक दुःख निवृत्त नहीं होता। तब राजा ने कहा कि वीर्य जो गिरता है सो कैसे निवृत्त होता है? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! जब चित्त वासना से क्षोभवान् होता है तब नाड़ी भी क्षोभ करती हैं और अपने स्थानों को त्यागने लगती हैं; उसी अवस्था में वीर्यवाली नाड़ी से भी स्वाभाविक ही वीर्य नीचे को चला आता है। फिर राजा ने पूछा, हे देवपुत्र! स्वाभाविक किसे कहते हैं? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! आदि शुद्ध चैतन्य परमात्मा में जो फुरना हुआ है उस क्षणमात्र शक्ति के उत्थान से प्रपञ्च बन गया है इसमें आदि नीति हुई है कि यह घट है; यह पट है; यह अग्नि है; इसमें उष्णता है; यह जल है; इसमें शीतलता है; तैसे ही यह भी नीति है कि वीर्य ऊपर से नीचे को आता है। जैसे पर्वत से पत्थर गिरता है सो नीचे को चला आता है तैसे ही वीर्य भी नीचे को आता है। तब राजा ने प्रश्न किया कि हे देवपुत्र! जीव को दुःख सुख कैसे होता है और दुःख सुख का अभाव कैसे होता है? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! यह जीव कुण्डलिनी शक्ति में स्थित होकर दृश्य में जो चारों अन्तःकरण, इन्द्रियाँ और देह है उनमें अभिमान करके इनके दुःख से दुःखी और इनके सुख से सुखी होता है तो जैसा-जैसा आगे प्रतिबिम्ब होता है तैसा-तैसा दुःख सुख भासता है। जैसे शुद्धमणि में प्रतिबिम्ब पड़ता है। यह सब अज्ञान से होता है और ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है। जब ज्ञानरूप का आवरण करके आगे पटल होता है तब प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। देहादिक के अभिमान से रहित होने को ज्ञान कहते हैं कि न देहादिक है और न मैं इनसे कुछ करता हूँ। जब ऐसे निश्चय हो तब दुःख सुख का भान नहीं होता, क्योंकि संसार का दुःख सुख भावना में होता है; जब वासना से रहित हुआ तब दुःख सुख भी सब नष्ट हो जाते हैं। जैसे जब वृक्ष ही जल जाता है तब पत्र, फूल, फल कहाँ रहे; तैसे ही अज्ञानरूप वासना के दग्ध हुए दुःख सुख कहाँ रहे? फिर राजा ने कहा, हे भगवन्! तुम्हारे वचन सुनते मैं तृप्त नहीं होता। जैसे मेघ का शब्द सुनते मोर तृप्त नहीं होता; इससे कहिये कि तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई है? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! जो कोई प्रश्न

करता है उसका बड़े निरादर नहीं करते; इससे तुम जो पूछते हो सो मैं कहता हूँ। हे राजर्षे! वह वीर्य नारदमुनि ने एक मटकी में रक्खा और उस पर दूध डाला। वह मटकी स्वर्णवत् थी जिसका उज्ज्वल चमत्कार था। उस मटकी को पूर्णकर वीर्य को एक कोने की ओर किया और फिर मन्त्रों का उच्चार किया और आहुति देकर भले प्रकार पूजन किया। जब एक मास व्यतीत हुआ तब मटकी से बालक प्रकट हुआ—जैसे चन्द्रमा क्षीरसमुद्र से निकला है—उस बालक को लेकर नारद आकाश को उड़े और अपने पिता ब्रह्माजी के पास ले आये और नमस्कार किया। तब मुझको पितामह ने गोद में बैठा लिया और आशीर्वाद देकर कहा कि तू सर्वज्ञ होगा और शीघ्र ही अपने स्वरूप को प्राप्त होगा। कुम्भ से जो मैं उपजा था इसलिये उन्होंने मेरा नाम कुम्भज रक्खा। मैं नारदजी का पुत्र और ब्रह्माजी का पौत्र हूँ; सरस्वती मेरी माता है; गायत्री मेरी मौसी है और मुझे सर्वज्ञान है। तब राजा ने कहा, हे देवपुत्र! तुम सर्वज्ञ दृष्ट आते हो; तुम्हारे वचनों से मैं जानता हूँ। देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! जो तुमने पूछा सो मैंने कहा; अब कहो तुम कौन हो; क्या कर्म करते हो और यहाँ किस निमित्त आये हो? राजा ने कहा, हे देवपुत्र! आज मेरे बड़े भाग उदय हुए हैं जो तुम्हारा दर्शन हुआ। तुम्हारा दर्शन बड़े भागों से प्राप्त होता है। यज्ञ और तप से भी तुम्हारा दर्शन श्रेष्ठ है। देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! अपना वृत्तान्त कहो। राजा ने कहा, हे देवपुत्र! मैं राजा हूँ; शिखरध्वज मेरा नाम है। संसार दुःखदायक भासित हुआ और बारम्बार जन्म और मरण इसमें दृष्ट आता है इससे राज्य का त्यागकर यहाँ पर मैं तप करने लगा हूँ। तुम त्रिकालज्ञ हो और जानते हो तथापि तुम्हारे पूछने से कुछ कहना चाहिये। मैं त्रिकाल संध्या और जप करता हूँ तो भी मुझे शान्ति नहीं हुई; इसलिये जिससे मेरे दुःख निवृत्त हों वही उपाय कहिये। हे देवपुत्र! मैंने बहुत तीर्थ किये हैं और बहुत देश और स्थान फिरा हूँ पर अब इसी वन में आन बैठा हूँ तो भी मुझे शान्ति नहीं। तब देवपुत्र ने कहा, हे राजऋषि! तूने राज्य का तो त्याग किया पर तपरूपी गढ़े

में गिर पड़ा; यह तूने क्या किया ? जैसे पृथ्वी का क्रिमि फिर पृथ्वी में ही रहता है तैसे ही तू एक गढ़े को त्यागकर दूसरे गढ़े में आपड़ा है और जिस निमित्त राज्य का त्याग किया उसको न जाना। यहाँ आकर तूने एक लाठी मृगछाला और फूल रक्खे हैं इनसे तो शान्ति नहीं होती। इससे अपने स्वरूप में जाग; जब स्वरूप में जागेगा तब सब दुःख निवृत्त होंगे। इसी पर एक समय ब्रह्माजी से मैंने प्रश्न किया था कि हे पितामहजी ! कर्म श्रेष्ठ है अथवा ज्ञान श्रेष्ठ है—दोनों में कौन श्रेष्ठ है ? जो मुझको कर्तव्य हो सो कहो। तब पितामह ने कहा कि ज्ञान के पाये से कोई दुःख नहीं रहता और सब आनन्दों का आनन्द ज्ञान है। अज्ञानी को कर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि वे पापकर्म करेंगे तो नरक को प्राप्त होंगे, इससे तप और दान करने से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती तौ भी अज्ञानी को कर्म ही श्रेष्ठ है कि नरक न भोगकर स्वर्ग में रहे। जैसे कम्बल से रेशम का वस्त्र श्रेष्ठ है परन्तु यदि रेशम का न पाइये तो कम्बल ही भला है; तैसे ही ज्ञान रेशम की नाईं है और तप कर्म कम्बल के समान है—कर्म से शान्ति नहीं होती। इससे हे राजन् ! तुम क्यों इस गढ़े में पड़े हो ? आगे तू राज्यवासी था और अब वनवासी हुआ; यह क्या किया कि मूर्खता के वश अज्ञान में पड़ा रहा। जबतक तुझे क्रिया का भान होता है कि 'मैं यह करूँ' तबतक प्रमाद है इससे दुःख निवृत्त न होगा। निर्वासनिक होकर अपने स्वरूप में जाग। निर्वासनिक होना ही मुक्ति है और वासना-सहित ही बन्धन है। निर्वासनिक होना ही पुरुष प्रयत्न है। जब तक वासना सहित है तब तक अज्ञानी है जब निर्वासनिक हो तब ज्ञेयरूप हो। सदा ज्ञेय की भावना करनेवाले को निर्वासनिक कहते हैं और ज्ञेय आत्मस्वरूप को कहते हैं; उसको जानकर फिर कोई इच्छा नहीं रहती। केवल चिन्मात्रपद में स्थित होने का नाम ज्ञेय है। जो जानने योग्य है सो जाना तब और वासना नहीं रहती, केवल स्वच्छ आपही होता है। हे राजन् ! तुझे अपने स्वरूप को ही जानना था तो तू और जञ्जाल में किस निमित्त पड़ा है ? आत्मज्ञान विना और अनेक यत्न करो तौ भी शान्ति न प्राप्त होगी। जैसे पवन से रहित वृक्ष शान्तरूप होता है और जब पवन होता है तब क्षोभ को प्राप्त होता है तैसे ही जब वासना निवृत्त होगी तब शान्तपद प्राप्त होगा और कोई क्षोभ न रहेगा। जब ऐसे देवपुत्र ने कहा तब राजा ने कहा, हे भगवन् ! तुम मेरे पिता हो, तुमहीं गुरु हो और तुमहीं कृतार्थ करनेवाले हो। मैंने वासना करके बड़ा दुःख पाया है। जैसे किसी वृक्ष के पत्र, डाल, फूल, फल सूख जावें और अकेला ठूँठ रह जावे तैसे ही ज्ञान विना मैं भी ठूँठसा हो रहा हूँ इसलिये कृपा करके मुझे शान्ति को प्राप्त करो। देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! तुझे त्याग करके सन्तों का संग करना चाहिये था और यह प्रश्न करना चाहिये था कि बन्ध क्या है और मोक्ष क्या है ? मैं क्या हूँ और यह संसार क्या है ? संसार की उत्पत्ति किससे होती है और लीन कैसे होता है ? तूने यह क्या किया कि सन्तों विना ठूँठ वन को आकर सेवन किया। अब तू सन्त जनों को प्राप्त होकर निर्वासनिक हो। ऐसे ब्रह्मादिक ने भी कहा है कि जब निर्वासनिक होता है तब सुखी होता है। फिर राजा ने कहा, हे भगवन् ! तुमहीं सन्त हो और तुमहीं मेरे गुरु और पिता हो, जिस प्रकार मुझे शान्ति हो सो कहिये। तब कुम्भज ने कहा, हे राजन् ! मैं तुझे उपदेश करता हूँ तू उसे हृदय में धारण कर और जो तू उसे हृदय में न धारेगा तो मेरे कहने से क्या होता है ? जैसे डाल पर कौवा हो और शब्द भी सुने तो भी अपने कौवे के स्वभाव को नहीं छोड़ता; तैसे ही जो तू भी कौवे की नाईं हो तो मेरे कहने का क्या प्रयोजन है ? जैसे तोते को सिखाते हैं तो वह सीखता है; तैसे तुम भी हो जावो। शिखरध्वज ने कहा, हे भगवन् ! जो तुम आज्ञा करोगे सो मैं करूँगा जैसे शास्त्र और वेद के कहे कर्म करता हूँ तैसे ही तुम्हारा कहना करूँगा। यह मेरा नेम है जो तुम आज्ञा करोगे सो मैं करूँगा। तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन् ! प्रथम तो तू ऐसे निश्चय कर कि मेरा कल्याण इन वचनों से होवेगा और फिर ऐसे जान कि जो पिता पुत्र को कहता है तो शुभ ही कहता है। मैं जो तुझसे कहूँगा सो शुभ ही कहूँगा और तेरा कल्याण होगा। इससे निश्चय जान कि इन वचनों से मेरा कल्याण होगा। एक आख्यान

आगे व्यतीत हुआ है सो सुन। एक पण्डित धन और गुणों से संपन्न था। वह सर्वदा चिन्तामणि के पाने की इच्छा करता और इसके लिये जैसे शास्त्र में उपाय कहे हैं तैसे ही करता था। जब कुछ काल व्यतीत भया तब जैसे चन्द्रमा का प्रकाश होता है तैसे ही प्रकाशवान् चिन्तामणि उसे प्राप्त हुई और उसने उसे ऐसे निकट जाना कि हाथ से उठा लीजिये। जैसे उदयाचल पर्वत के निकट चन्द्रमा उदय होता है तैसे ही चिन्तामणि जब निकट आ प्राप्त हुई तब पण्डित के मन में विचार हुआ कि यह चिन्तामणि है अथवा कुछ और है, जो चिन्तामणि हो तो उठा लूँ और जो चिन्तामणि न हो तो किस निमित्त पकड़ूँ ? फिर कहे कि उठा लेता हूँ मणि ही होगी; फिर कहे कि यह मणि नहीं है, क्योंकि मणि तो बड़े यत्न से प्राप्त होती है; मुझे सुख से क्यों प्राप्त होगी ? इससे विदित होता है कि चिन्तामणि नहीं। जो सुख से प्राप्त होती तो सब लोग धनी हो जाते। जब ऐसे संकल्प विकल्प से पण्डित विचार करने लगा और इसी से उसका चित्त आवरण हुआ तब मणि छिप गई क्योंकि जो सिद्धि हैं उनका मान और आदर न करिये तो उलटा शाप देती हैं। जिस वस्तु का कोई आवाहन करता है और उसका पूजन न करे तो वह त्याग जाती है। तब वह बड़े दुःख को प्राप्त हुआ कि चिन्तामणि मेरे पास से चली गई। निदान वह फिर यत्न करने लगा तब काच की मणि हँसी करके उसके आगे आ पड़ी और उसको देखकर वह कहने लगा कि यह चिन्तामणि है अबोध के वश से उसको उठाकर अपने घर ले आया और अबोध के वश से उसको चिन्तामणि जानता भया। जैसे मोह से जीव असत् को सत् जानता है और रस्सी को सर्प जानता है और जैसे दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा देखता है और शत्रु को मित्र और विष को अमृतरूप जानता है; तैसे ही उसने काच को चिन्तामणि जान जो कुछ अपना धन था सो लुटा दिया और कुटुम्ब का त्यागकर कहने लगा कि मुझे चिन्तामणि प्राप्त हुई है, अब कुटुम्ब से क्या प्रयोजन है ? निदान घर से निकलकर वन में गया और वहाँ उसने बड़े दुःख पाये, क्योंकि काच की मणि से कुछ प्रयोजन सिद्ध न हुआ। तैसे ही

हे राजन्! जो विद्यमान वस्तु हो उसको मूर्ख त्यागते हैं और उसका माहात्म्य नहीं जानते और नहीं पाते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिन्तामणिवृत्तान्तवर्णनं
नाम नवषष्टितमस्सर्गः ॥ ६९ ॥

देवपुत्र बोले, हे राजन्! इसी प्रकार एक और आख्यान कहता हूँ सो भी सुनो मन्दराचल पर्वत के वन में सब हाथियों का राजा एक हाथी रहता था वह मानों स्वयम् मन्दराचल पर्वत था जिसको अगस्त्यमुनि ने रोका था। उसके बड़े दाँत इन्द्र के वज्र की नाईं तीक्ष्ण थे और प्रलयकाल की बड़वाग्नि के समान वह प्रकाशवान् था। वह ऐसा बलवान् था कि सुमेरु पर्वत को दाँतों से उठावे। निदान उस हस्ती को एक महावत ने जैसे बलि राजा को विष्णु भगवान् ने छल करके बाँधा था, लोहे की ज़ञ्जीर से बाँधा और आप पास के वृक्ष पर चढ़ बैठा कि कूदकर हाथी के ऊपर चढ़ बैठूँ। वह हाथी ज़ञ्जीर में महाकष्ट को प्राप्त हुआ और इतना दुःख पाया जिसका वर्णन नहीं हो सकता। तब हाथी के मन में विचार उपजा कि जो अब मैं बल से ज़ञ्जीर न तोड़ूँगा तो क्यों छूटूँगा; इसलिये उस ज़ञ्जीर को बल करके तोड़ दिया और वृक्ष पर जो महावत बैठा था सो गिरके हाथी के चरणों के आगे आ पड़ा और भय को प्राप्त हुआ। जैसे वृक्ष का फल पवन से गिर पड़ता है तैसे ही महावत भय से गिर पड़ा। जब इस प्रकार महावत गिरा तब हाथी ने विचार किया कि यह मृतक समान है इस मुये को क्या मारना है ? यद्यपि यह मेरा शत्रु है तो भी मैं इसे नहीं मारता; इसके मारने से मेरा क्या पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? इसलिये जैसे स्वर्ग के द्वारे तोड़कर दैत्य प्रवेश करते हैं तैसे ही ज़ञ्जीर तोड़कर वह हाथी वन में गया और महावत हाथी को गया देख उठ बैठा और अपने स्वभाव में स्थित हुआ। वह फिर हाथी के पीछे चला और हाथी को ढूँढ़ लिया। जैसे चन्द्रमा को राहु खोज लेता है तैसे ही वन में हाथी को खोज लिया तो क्या देखा कि वह वृक्ष के नीचे सोया पड़ा है। जैसे संग्राम को जीतकर शूरमा निश्चिन्त सोता है तैसे ही हाथी को निश्चिन्त सोया पड़ा देख महावत ने विचार किया कि इसको वश करना चाहिये। यह विचार

उसने यह उपाय किया कि वन के चारों ओर खाई बनाई और खाई के ऊपर कुछ तृण और घास डाला जैसे शरत्काल के आकाश में बादल देखनेमात्र होता है तैसे ही तृण और घास खाई के ऊपर देखनेमात्र दृष्ट आती थी। निदान जब किसी समय हाथी उठकर चला और खाई के बीच गिर पड़ा तब महावत ने हाथी के निकट आ उसे ज़ञ्जीरों में बाँधा और वह हाथी बड़े दुःख को प्राप्त हुआ। जो तप करके वन में दुःख पाता है उसने भविष्यत् का विचार नहीं किया। अज्ञानी को भविष्यत् का विचार नहीं होता इसी से वह दुःख पाता है। हे राजन्! यह जो मणि और हाथी के आख्यान तुझे मैंने सुनाये हैं उनको जब तू समझेगा तब आगे मैं उपदेश करूँगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हस्तिआख्यानवर्णनं
नाम सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७० ॥

इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब देवपुत्र ने ऐसे कहा तब राजा बोला, हे देवपुत्र! यह दो आख्यान जो तुमने कहे हैं सो तुम्हीं जानते हो, मैं तो कुछ नहीं समझा इससे तुम्हीं कहो। देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! तू शास्त्र के अर्थ में तो बहुत चतुर है और सर्व अर्थों का ज्ञाता है परन्तु स्वरूप में तुझे स्थिति नहीं है; इससे जो वचन मैं कहता हूँ उसे बुद्धि से ग्रहण कर। हस्ती क्या है और चिन्तामणि क्या है? प्रथम जो तूने सर्वत्याग किया था सो चिन्तामणि थी और उसके निकट प्राप्त होकर तू सुखी हुआ था। यदि उसको तू अपने पास रखता तो सब दुःख निवृत्त हो जाते; पर मणि का तो तूने निरादर किया जो उसको त्यागा और काच की मणि तपक्रिया को प्राप्त हुआ इसलिये दरिद्री ही रहा। हे राजन्! सर्वत्यागरूपी चिन्तामणि थी और इस क्रिया का आरम्भ काच की मणि है उसको तूने ग्रहण किया है इससे दरिद्र की निवृत्ति नहीं होती—दुःखी ही रहता है। हे राजन्! सर्वत्याग तूने नहीं किया और जो किया भी था परन्तु कुछ शेष रह गया और वह रहकर फिर फैल गया। जैसे बड़ा बादल वायु से क्षीण होता है और सूक्ष्म रह जाता है जो पवन के लगे से फिर विस्तार को पाता है और सूर्य को

छिपा लेता है। वह बादल क्या है; सूर्य क्या है और थोड़ा रहना क्या है सो भी सुन। स्त्रियों और कुटुम्ब आदि को त्यागकर इनमें अहंकार करना सोई बड़ा बादल है। वैराग्यरूपी पवन से तूने राज्य और कुटुम्ब का अहंकार त्याग किया पर देहादिक में अहंकार सूक्ष्म बादल रह गया था सो फिर वृद्ध हो गया जो अनात्म अभिमान करके क्रिया का आरम्भ किया इससे आत्मारूपी सूर्य जो अपना आप है सो अहंकाररूपी बादल से ढप गया और ज्ञानरूपी चिन्तामणि अज्ञानरूपी काच की मणि से छिप गई। जब ज्ञान से आत्मा को जानेगा तब आत्मा प्रकाशेगा, अन्यथा न भासेगा। जैसे कोई पुरुष घोड़े पर चढ़के दौड़ाता है तो उसकी वृत्ति घोड़े में होती है तैसे ही जिस पुरुष का आत्मा में दृढ़ निश्चय होता है उसको आत्मा से कुछ भिन्न नहीं भासता। हे राजन्! आत्मा का पाना सुगम है जो सुख से ही मिलता है और बड़े आनन्द की प्राप्ति होती है। तपादिक क्रिया कष्ट से सिद्ध होती हैं, स्वरूप सुख की प्राप्ति नहीं होती। हे राजन्! मैं जानता हूँ कि तू मूर्ख नहीं बल्कि शास्त्रों का ज्ञाता और बहुत चतुर है तथापि तुझे स्वरूप में स्थिति नहीं जैसे आकाश में पत्थर नहीं ठहरता। इससे मैं उपदेश करता हूँ उसको ग्रहण कर तो तेरे दुःख निवृत्त हो जावेंगे। हे राजन्! यह सबसे श्रेष्ठ ज्ञान कहा है और कहता हूँ। तूने जो तपक्रिया का आरम्भ किया है और उसका जो फल जाना है उस ज्ञान से यह श्रेष्ठ ज्ञान कहा है और कहता हूँ उससे तेरा भ्रम निवृत्त हो जावेगा। हे राजन्! चिन्तामणि का संपूर्ण तात्पर्य तुझसे कहा; अब हाथी का वृत्तान्त जो आश्चर्यरूप है सो भी सुन जिसके समझने से अज्ञान निवृत्त हो जावेगा। मन्दराचल का हाथी तो तू है और महावत तेरी अज्ञानता है। इस अज्ञानरूपी महावत ने तुझे बाँधा था और तू आशारूपी ज़ञ्जीरों से बँधा था। और ज़ञ्जीरें घिस जाती हैं पर आशारूपी फाँसी नहीं घटती यह दिन दिन बढ़ती ही जाती है। हे राजन्! आशारूपी फाँसी से तू महादुःखी था। हस्ती के जो बड़े दन्त थे जिनसे उसने संकलों को तोड़ा था सो विवेक और वैराग्य था जो तूने विचार किया कि मैं

बल करके छूटूँ। राज्य, कुटुम्ब और पृथ्वी का त्यागकर जब तूने उस फाँसी को काटा तब आशारूपी रस्से कटे तो अज्ञानरूपी महावत भय को प्राप्त हुआ और तेरे चरणों के तले आ पड़ा। जैसे वृक्ष के ऊपर वैताल रहता है और कोई वृक्ष को काटने आता है तब वैताल भय को प्राप्त होता है तैसे ही तूने वैराग्य और विवेकरूपी दाँतों से आशा के फाँस काटे तब अज्ञानरूपी महावत गिरा और तूने एक घाव लगाया परन्तु मार न डाला इससे महावत तुझसे भाग गया। जैसे वृक्ष पर वैताल रहता है और वृक्ष को कोई काटने लगता है तब वैताल भाग जाता है। हे राजन्! तैसे ही वृक्ष को तूने वैराग्यरूपी शस्त्र करके काटा तब अज्ञानरूपी वैताल भागा था मूर्खता से उसको तूने न मारा बल्कि उसको छोड़कर वन में गया। जब तू वन में आया तब अज्ञानरूपी महावत तेरे पीछे चला आया और तेरे चारों ओर खाईं खोदी और तपादिक क्रिया आरम्भकर तू उस खाईं में गिर पड़ा और महादुःख को प्राप्त हुआ। तब उसने तुझे जञ्जीरों से फिर बाँधा और बँधा हुआ तू अबतक दुःख पाता है। अनात्म अभिमान से तूने यहाँ तपादिक क्रिया का आरम्भ किया है। ऐमी खाईं में तू पड़ा है। हे राजन्! तू जानकर खाईं में नहीं पड़ा, खाईं के ऊपर घास और तृण पड़ा था उस छल से तू गिर पड़ा है सो छल और तृण क्या है सो भी तू सुन। प्रथम जो अज्ञानरूपी शत्रु को तूने न मारा और जञ्जीरों के भय से भागा कि वन मेरा कल्याण करेगा। सन्तों और शास्त्रों के वचनों को न जाना कि तेरे दुःख निवृत्त करेंगे और उन वचनरूपी खाईं पर तृणादिक था इस मूर्खता करके तू गिरा। जैसे बलि राजा पाताल में छल से बाँधा हुआ है तैसे ही तूने भविष्यत् का विचार न किया कि अज्ञानरूपी शत्रु जो रहा है वह मेरा नाश करेगा। उस विचार विना तू फिर दुःखी हुआ। सब त्याग तो किया परन्तु ऐसे न जाना कि मैं अक्रिय हूँ; इस क्रिया का आरम्भ काहे को करता हूँ। इसी से तू फिर फाँमी से बँधा है। हे राजन्! जो पुरुष इस फाँसी से मुक्त हुआ है वह मुक्त है और जिसका चित्त अनात्म अभिमान से बँधा है कि यह मुझे प्राप्त हो उससे वह दुःख पाता है। जिस पुरुष ने वैराग्य और

विवेकरूपी दाँतों से आशारूपी जञ्जीर को नहीं काटा वह कदाचित् सुख नहीं पाता। विवेक से वैराग्य उत्पन्न होता है और वैराग्य से विवेक होता है। विवेक सत्य के जानने और असत् देहादिक के असत्य जानने को कहते हैं। जब ऐसे जाना तब असत् की ओर भावना नहीं जाती सो वैराग्य हुआ। वैराग्य से विवेक उपजता है और विवेक से वैराग्य उपजता है इन विवेक और वैराग्यरूपी दाँतों से आशारूपी जञ्जीर को तोड़। हे राजन्! यह हस्ती का वृत्तान्त जो तुझसे कहा है इसके विचार किये से तेरा मोह निवृत्त हो जावेगा। हे राजन्! वह हाथी बड़ा बली था और महावत कम बली था। उस अज्ञानरूपी महावत को मूर्खता करके तूने न मारा उससे दुःख पाता है। अब तू वैराग्य और विवेकरूपी दाँतों से आशारूपी फाँसी को तोड़ तब दुःख सब मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हस्तीवृत्तान्तवर्णनं नामैकसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७१ ॥

देवपुत्र बोले, हे राजन्! ब्रह्मवेत्ता और सर्वज्ञानियों में श्रेष्ठ, साक्षात् ब्रह्मस्वरूपा और सत्यवादिनी तेरी स्त्री जो चुड़ाला थी उसने तुझे उपदेश किया था पर तूने उसके वचनों का किस निमित्त निरादर किया? मैं तो सब जानता हूँ, क्योंकि त्रिकालज्ञ हूँ; तो भी तू अपने मुख से कह। एक तो यह मूर्खता की कि उपदेश न अङ्गीकार किया और दूमरी यह मृर्खता की कि सर्वत्याग न करके फिर वन अङ्गीकार किया। जो सर्वत्याग करता तो सर्व दुःख मिट जाते। जब ऐसे देवपुत्र ने कहा, तब राजा ने कहा, हे देवपुत्र! मैंने तो स्त्री, पृथ्वी, मन्दिर, हाथी इत्यादिक ऐश्वर्य और कुटुम्ब को त्याग किया है; आप कैसे कहते हैं कि त्याग नहीं किया? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! तूने क्या त्यागा है? राज्य में तेरा क्या था? जैसे ऐश्वर्य आगे था तैसे ही अब भी है और स्त्रियाँ भी जैसे और मनुष्य थे तैसे ही थीं; पृथ्वी, मन्दिर और हस्ती जैसे आगे थे तैसे ही अब भी हैं। उनमें तेरा क्या था जो त्याग किया? हे राजन्! सर्वत्याग तैंने अब भी नहीं किया। जो तेरा हो उसको तू त्याग कर कि निर्दुःख पद को प्राप्त हो। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार

देवपुत्र ने कहा तब शूरवीर जो इन्द्रियजित् राजा था सो मन में विचारने लगा कि यह वन मेरा है और वृक्ष, फूल, फल मेरे हैं इनका त्याग करूँ। ऐसा विचारकर बोला, हे देवपुत्र! वन, वृक्ष, फूल और फल जो मेरे थे उनका भी मैंने त्याग किया अब तो सर्वत्याग हुआ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ, क्योंकि वन, वृक्ष, फूल और फल तुझसे आगे भी थे इनमें तेरा क्या है? जो तेरा हो उसको त्याग तब सुखी होगा। हे रामजी! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा तब राजा ने मन में विचारा कि मेरी जलपान की बावली और बगीचे हैं इनका त्याग करूँ तब सर्वत्याग सिद्ध हो और कहा, हे भगवन्! मेरी यह बावली और बगीचे हैं उनका भी मैंने त्याग किया; अब तो मेरा सर्वत्याग सिद्ध हुआ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! सर्वत्याग अब भी नहीं हुआ। जो तेरा है उसको जब त्यागेगा तब शान्तपद को प्राप्त होगा। हे रामजी! जब इस प्रकार देवपुत्र ने कहा तब राजा विचारने लगा कि अब मेरी मृगछाला और कुटी है उसका भी त्याग करूँ। ऐसे विचारकर बोला कि हे देवपुत्र! मेरे पास एक मृगछाला और एक कुटी है उसका भी मैंने त्याग किया अब तो सर्वत्यागी हुआ? तब देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! मृगछाला में तेरा क्या है यह तो मृग की त्वचा है और कुटी में तेरा क्या है यह तो मिट्टी और शिला की बनी है इससे तो सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता? जो कुछ तेरा है उसको त्यागेगा तब सर्वत्याग होगा और तभी तू सब दुःखों से छूट जावेगा। हे रामजी! जब ऐसे कुम्भज ने कहा तब राजा ने मन में विचार किया कि अब मेरा एक कमण्डलु, एक माला और एक लाठी है इसका भी त्याग करूँ। ऐसे विचारकर राजा शान्ति के लिये बोला, हे देवपुत्र! मेरी लाठी, कमण्डलु और एक माला है उसका भी मैंने त्याग किया; अब तो मैं सर्वत्यागी हुआ? देवपुत्र ने कहा, हे राजन्! कमण्डलु में तेरा क्या है? कमण्डलु तो वन का तुम्बा है उसमें तेरा कुछ नहीं; लाठी भी वन के बाँस की है और माला भी काष्ठ की है उनमें तेरा क्या है? जो कुछ तेरा है उसका त्याग कर। जब तू उसका त्याग करेगा तब दुःख से रहित हो

जावेगा। हे रामजी! जब इस प्रकार कुम्भज ने कहा तब राजा शिखरध्वज ने मन में विचारा कि अब मेरा क्या रह गया तब देखा कि एक आसन और बासन हैं जिसमें फूल और फल रखते हैं; अब इनका भी त्याग करूँ। तब राजा ने कहा, हे भगवन्! आसन और बासन मेरे पास रह गये हैं इनका भी मैं त्याग करता हूँ; अब तो सर्वत्यागी हुआ? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन्! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ। आसन तो भेड़ की ऊन का है और बासन मृत्तिका के हैं; इनमें तेरा कुछ नहीं। जो कुछ तेरा है उसका त्याग कर तब सर्वत्याग होवे और तू दुःख से निवृत्त हो। हे रामजी! जब इस प्रकार कुम्भज ने कहा तब राजा उठ खड़ा हुआ और वन की लकड़ी इकट्ठी करके उनमें आग लगाई। जब बड़ी अग्नि लगी तब लाठी को हाथ में लेकर कहने लगा, हे लाठी! मैं तेरे साथ बहुत देशों में फिरा हूँ परन्तु तूने मेरे साथ कुछ उपकार न किया; अब मैं कुम्भज मुनि की कृपा से तरूँगा, तुझे नमस्कार है। ऐसे कहकर लाठी को अग्नि में डाल दिया। फिर मृगछाला को हाथ में लेकर कहा, हे मृग की त्वचा! बहुत काल मैं तेरे ऊपर बैठा हूँ परन्तु तूने कुछ उपकार न किया; अब कुम्भज मुनि की कृपा से मैं तरूँगा; तुझे नमस्कार है। ऐसे कहकर मृगछाला को भी अग्नि में डाल दिया। फिर कमण्डलु को लेकर कहने लगा, हे कमण्डलु! तू धन्य है कि मैंने तुझे धारण किया और तूने मेरे जल को धारा। तूने मुझसे गुणगोप नहीं किया तो भी कमण्डलु की जैसी प्रवृत्ति त्यागनी है तैसे ही निवृत्ति की कल्पना भी त्यागनी है; इससे तुझे नमस्कार है; तुम जावो। ऐसे कहकर कमण्डलु भी अग्नि में जला दिया। फिर माला को हाथ में लेकर कहने लगा, हे माले! तेरे दाने जो मैंने घुमाये हैं सो मानों अपने जन्म गिने हैं। तेरे सम्बन्ध से जाप किया है और दिशा विदिशा गया हूँ, अब तुझको नमस्कार है ऐसे कहकर माला को भी अग्नि में डाल दिया। इसी प्रकार फल, फूल, कुटी और आसन सब जला दिये तब बड़ी अग्नि जगी और बड़ा प्रकाश हुआ। जैसे सुमेरु पर्वत के पास सूर्य चढ़ें और मणि का भी चमत्कार हो तो बड़ा प्रकाश होता है तैसे ही बड़ी अग्नि लगी

और राजा ने सम्पूर्ण सामग्री का त्याग किया। जैसे पके फल को वृक्ष त्यागता है और जैसे पवन चलने से ठहरता है तब धूलि से रहित होता है तैसे ही राजा सम्पूर्ण सामग्री को त्याग निर्विघ्न हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजसर्वत्यागवर्णनं नाम द्विसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! निदान सम्पूर्ण सामग्री जलकर भस्म हो गई। जैसे सदाशिव के गणों ने दक्ष प्रजापति के यज्ञ को स्वाहा कर दिया था तैसे ही जितनी कुछ सामग्री थी सो सब स्वाहा हो गई और वह वन बड़ा प्रज्वलित हुआ। जितने वृक्ष के रहनेवाले पक्षी थे सो भाग गये और मृग, पशु जो आहार करते व जुगाली करते थे सो सब भाग गये। जैसे पुर में आग लगे से पुरवासी भाग जावें तैसे ही सब भाग गये; तब राजा ने मन में विचारा कि अब कुम्भज की कृपा से मैं बड़े आनन्द को प्राप्त हुआ और अब सब मेरे दुःख मिट गये। जो कुछ वस्तु मन के संकल्प से रची थी सो सब जला दी अब उसका न मुझे हर्ष है न उसका शोक है। ये सब दुःख ममत्व से होते हैं सो मेरा ममत्व अब किसी से नहीं रहा इससे कोई दुःख भी नहीं। अब मैं ज्ञानवान् भया हूँ, अब मेरी जय है, क्योंकि अब निर्मल होकर सबका मैंने त्याग किया है। ऐसा विचार करके राजा उठ खड़ा हुआ और हाथ जोड़कर बोला, हे देवपुत्र! अब तो मैंने सबका त्याग किया, क्योंकि आकाश मेरे वस्त्र हैं और पृथ्वी मेरी शय्या है। जब राजा ने ऐसे कहा तब कुम्भज मुनि ने कहा, हे राजन्! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ। जो तेरा है उसका त्याग कर कि सब दुःख तेरे निवृत्त हो जावें। फिर राजा ने कहा, हे भगवन्! अब तो और मेरे पास कुछ नहीं रहा, नङ्गा होकर तुम्हारे आगे खड़ा हूँ; अब एक रक्त मांस की देह इन्द्रियों को धारनेवाली है जो कहो तो इसका भी त्याग करूँ पर्वत पर जाकर डाल दूँ? ऐसे कहकर राजा पर्वत को दौड़ा पर कुम्भज मुनि ने रोका और कहा, हे राजन्! ऐसे पुण्यवान् देह को क्यों त्यागता है? इसके त्यागे से सर्वत्याग नहीं होता। जिसके त्यागने से सर्वत्याग हो उसका त्याग कर। इस देह में क्या दूषण है? जैसे वृक्ष में फूल फल होते हैं और जब वायु चलती है तब गिरते हैं; सो फूल फल गिरने का कारण वायु है, वृक्ष में दूषण कुछ नहीं; तैसे ही देह में कुछ दूषण नहीं। देह को पालनेवाला जो अभिमान है उसका त्याग करो तो सर्वत्याग सिद्ध हो देह तो जड़ है जो कुछ इसको देता है वही लेता है आगे से बोलता नहीं, जड़ है इसके त्यागे क्या सिद्ध होता है? जैसे पवन से वृक्ष हिलता है और भूकम्प से पर्वत काँपते हैं; तैसे ही देह आप कुछ नहीं करती ; और की प्रेरी चेष्टा करती है। जैसे पवन से समुद्र के तरङ्ग तृणों को जहाँ ले जाते हैं तहाँ वे चले जाते हैं तैसे ही देह आपसे कुछ नहीं करती ,इसका जो प्रेरणेवाला है उसके बल से यह चेष्टा करती है इससे देह के प्रेरणेवाले का त्याग कर तो सुखी हो। हे राजन्! जिससे सर्व है; जिसमें सर्व शब्द हैं और जो सर्व ओर से त्यागने योग्य है उसका त्याग करो। राजा ने पूछा, हे भगवन्! वह कौन है जो सर्व है और जिसमें सर्व शब्द है और जो सर्व ओर से त्यागने योग्य है? हे तत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ! जिसके त्यागे से जरा मृत्यु नष्ट हो जावे सो कहिये। तब कुम्भज ने कहा, हे राजन्! जिसका नाम चित्त (आकार) है उसका त्याग करो और बाहर जो नाना प्रकार के आकार चित्त ही से दृष्टि आते हैं, इससे चित्त का ही त्याग करो। हे राजन्! जैसे सर्प बिल में बैठा हो तो बिल का कुछ दूषण नहीं विष सर्प में है जिससे वह डसता है इसलिये उसके नाश करने का उपाय करो और सर्व शब्द भी इस चित्त में ही हैं। आत्मा तो चिन्मात्र है उसमें न एक कहना है और न द्वैत कहना है सब ओर से इसी चित्त का त्याग करना योग्य है। जब इस चित्त का त्याग करोगे तब त्यागरूपी अमृत से अमर हो जावोगे और जरा मृत्यु से रहित होगे जो चित्त का त्याग न करोगे तो फिर देह धारणकर दुःख भोगोगे। जैसे एक क्षेत्र में अनेक दाने उत्पन्न होते हैं और जब क्षेत्र ही जल जाता है तब अन्न नहीं उपजता; तैसे ही यह जो देह और जरा मृत्यु दुःख संसार हैं इनका बीज चित्त ही है। जैसे अनेक दानों का कारण क्षेत्र है, तैसे ही असंख्य संसार के दुःख का कारण चित्त है; इससे हे राजन्! चित्त का त्याग कर

जब इसका त्याग करेगा तब सुखी होगा। हे राजन् ! जिसने सर्वत्याग किया है वह सुखी हुआ है। जैसे आकाश सब पदार्थों से रहित है, किसी का स्पर्श नहीं करता और सबसे बड़ा और सुखरूप है और सब पदार्थों के नष्ट होने पर भी ज्यों का त्यों रहता है; तैसे ही हे राजन् ! तुम भी सर्वत्यागी हो रहो। राज, देह और कुटुम्ब और गृहस्थ आदिक जो आश्रम हैं सो सब चित्त ने कल्पे हैं। जो एक का त्याग नहीं होता तो कुछ नहीं त्यागा। जब चित्त का त्याग करो तब सर्वत्याग हो। हे राजन् ! यह धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य तीनों चित्त के कल्पे हुए हैं। जब चित्त पुण्यक्रिया में लगता है तब पुण्य ही प्राप्त होता है और जब पापक्रिया में लगता है तब पाप ही प्राप्त होकर अधर्म और दरिद्र होता है जब पुण्य का फल उदय होता है तब सुख प्राप्त होता है और जब पाप का फल उदय होता है तब दुःख प्राप्त होता है इससे जन्ममरण के दुःख नहीं मिटते। जब चित्त का त्याग होता है तब सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। हे राजन् ! जो पुरुष किसी वस्तु को नहीं चाहता उसकी बहुत पूजा होती है और जो कहता है कि इस वस्तु को मुझको दे तो उसको कोई नहीं देता। इससे सर्वत्याग कर कि सुखी हो। सर्वत्याग किये से सर्व तू ही होगा और सर्वात्मा होकर संपूर्ण ब्रह्माण्ड अपने में देखेगा। जैसे माला के दानों में तागा होता है, और दाने भी तागे के आधार होते हैं, उनमें और कुछ नहीं होता; तैसे ही देखोगे कि मैं सर्वमय और एकरस हूँ; मेरे ही में ब्रह्माण्ड स्थित है और मैं ही हूँ मुझसे कुछ भिन्न नहीं। हे राजन् ! जिसने सबका त्याग किया है वह सुखी है और समुद्र की नाईं स्थित है उसको कोई दुःख नहीं। इससे तुम चित्त का त्याग करो कि रागद्वेष मिट जावे। इस चित्त के इतने नाम हैं—चित्त, मन, अहङ्कार, जीव और माया। हे राजन् ! अपने ऐश्वर्य के त्यागने, औरों की भिक्षा लेने से तो चित्त वश नहीं होता; चित्त तभी वश होता है जब पुरुष निर्वासनिक होता है। जब तक चित्त फुरता है तब तक सर्वत्याग नहीं होता। जब यही फुरना निवृत्त होता है तब चित्त का त्याग होता है। चित्त के त्याग से भी त्याग के अभिमान से रहित हो तब सर्वात्मा होगे। जब चित्त को

त्यागोगे तब उस पद को प्राप्त होगे जो जितने ऐश्वर्य और सुख हैं उनका आश्रय है और जितने दुःख हैं उनका नाश करनेवाला है और जिसके जाने से किसी पदार्थ की इच्छा न रहेगी, क्योंकि सर्व आनन्द का धारनेवाला तेरा स्वरूप है, फिर इच्छा किसकी रहे। जैसे आकाश के आश्रय देवलोक से आदि सर्वविश्व रहता है और आकाश को कुछ इच्छा नहीं और जो इच्छा नहीं करता तो भी सब आकाश ही में हैं और सबको धारनेहारा है। हे राजन् ! जब तुम भी किसी की इच्छा न करोगे, तब निर्वासनिक होकर अपने स्वरूप में स्थित होगे और जानोगे कि सर्वका आत्मा मैं ही हूँ, सबको धार रहा हूँ और भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों काल भी मेरे आश्रय हैं। जैसे समुद्र के आश्रय तरङ्ग हैं तैसे ही मेरे आश्रय काल है। चित्त का सम्बन्ध तुझे प्रमाद से है और प्रमाद यही है कि चिन्मात्रपद में चित्त होकर फुरता है। चित्त कैसा है कि जड़ भी है और चेतन भी है। इसी का नाम चिद्जड़ग्रन्थि है। जब यह ग्रन्थि खुल जावेगी तब अपने आपको वासुदेवरूप जानोगे। जब निर्वासनिक होगे तब संसाररूपी वृक्ष नष्ट हो जावेगा। जैसे बीज में वृक्ष होता है, तैसे ही चित्त में संसार है और जैसे बीज के जलने से वृक्ष भी जल जाता है तैसे ही वासना के दग्ध हुए से संसार भी दग्ध होता है। हे राजन् ! जैसे किसी डब्बे में रत्न होते हैं तो रत्नों के नाश हुए डब्बा नहीं नष्ट होता और डब्बे के नष्ट हुए रत्न नष्ट होते हैं। डब्बा क्या है और रत्न क्या है सो भी सुनो। डब्बा तो चित्त है और रत्न देह है। इससे चित्त के नष्ट होने का उपाय करो। जब चित्त नष्ट होगा तब देह से रहित होगे। देह के नष्ट हुए चित्त नष्ट नहीं होता और चित्त के नष्ट हुए देह नष्ट हो जाती है। जब चित्तरूपी धूलि से रहित होगा तब तू केवल शुद्ध आकाश रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तत्यागवर्णनं
नाम त्रिसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब इस प्रकार कुम्भज ने कहा कि चित्त का त्यागना ही सर्वत्याग है तब शिखरध्वज ने पूछा, हे भगवन् ! मैं चित्त को कैसे स्थित करूँ। संसाररूपी आकाश की चित्तरूपी धूलि है

और संसाररूपी वृक्ष का चित्तरूपी वानर है जो कभी स्थित नहीं होता; इससे ऐसे चित्त को मैं कैसे स्थित करूँ? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन्! चित्त का रोकना तो सुगम है। नेत्रों के खोलने और मूँदने में भी कुछ यत्न है परन्तु चित्त के रोकने में कुछ यत्न नहीं। दीर्घदर्शी को सुगम है और अज्ञानी को कठिन है। जैसे चाण्डाल को पृथ्वी का राजा होना और तृण को सुमेरु होना कठिन है तैसे ही अज्ञानी को चित्त का रोकना कठिन है। राजा ने पूछा, हे देवपुत्र! पर्वत तोड़ना कठिन है तो भी टूट जाता है परन्तु मन का रोकना अति कठिन है। जैसे बड़े मच्छ को बालक नहीं रोक सकता, तैसे ही मैं चित्त को नहीं रोक सकता। हे! देवपुत्र! तुम कहते हो कि मन का रोकना सुगम है और मुझको तो ऐसा कठिन भासता है जैसे अन्धे पुरुष को लिखी हुई मूर्ति नेत्रों से नहीं दृष्टि आती तो वह उसे हाथ में कैसे ले; तैसे ही मन को वश करना मुझे कठिन भासता है। प्रथम चित्त का रूप मुझसे कहिये। कुम्भज बोले, हे राजन्! इस चित्त का रूप वासना है। जब वासना नष्ट होगी तब चित्त भी नष्ट हो जावेगा। इससे वासनारूपी बीज को तू नष्ट कर तो चित्तरूपी वृक्ष भी नष्ट हो और न कोई डाल रहे, न कोई फूल फल हों। यदि डाल को काटेगा तो वृक्ष फिर होगा, क्योंकि डाल के काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता फिर कई डालें लग जाती हैं। जब बीज को नष्ट करे तब वृक्ष भी नष्ट हो जावे। राजा बोले, हे भगवन्! चित्तरूपी फूल की संसाररूपी सुगन्ध है; चित्तरूपी कमल का संसाररूपी ताल है; देहरूपी तृण के उठाने और उड़ानेवाला चित्तरूपी पवन है; चित्तरूपी तिल का जरा-मृत्यु और आध्यात्मिक, आधिभौतिक दुःख तेल है; चित्तरूपी आकाश की संसाररूपी अँधेरी है और हृदयरूपी कमल का चित्तरूपी भँवरा है। बीज क्या है? और डाल क्या है? डाल का काटना क्या है, वृक्ष क्या है और फूल, फल क्या है? सो कृपा कर कहो? कुम्भज बोले, हे राजन्! चैतन्यरूपी क्षेत्र स्वच्छ और निर्मल है; उसमें अहंभाव बीज है उसी को अहंकार, चित्त, मन, जड़ और मिथ्या कहते हैं। उस अहंकार में जो संवेदन है वही देह और इन्द्रियाँ हो फैली हैं और उसमें जो निश्चय है

वह बुद्धि है। उस बुद्धि में जो निश्चय है कि 'यह मैं हूँ' यही संसार है और वही जीव का अहंकार है। अहंकार इस वृक्ष का बीज है; चित्तरूपी वृक्ष की डालें और सुख दुःख इस चित्तरूपी वृक्ष के फल हैं। हे राजन्! एकान्त बैठकर और चिन्तना से रहित होकर एक आश्रय का त्याग करना और दूसरे का अङ्गीकार करना और इस प्रकार स्थित होना कि मैं ऐसा त्यागी हूँ इसकी चिन्तना ही उस डाल का काटना है। हे राजन्! इस डाल के काटे से वृक्ष नहीं नष्ट होता, क्योंकि यह तो ऐसा होकर स्थित होता है कि मैं हूँ। वासना त्याग करे और कुछ न फुरे। जब अहंरूपी बीज नष्ट हो जाता है तब जगत्‌रूपी वृक्ष भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि इसका बीज अहं ही है। जब अहंभाव बीज नष्ट हुआ तब वृक्ष भी नष्ट हो जाता है; इससे चित्तरूप बीज को तुम नष्ट करो। राजा बोले, हे देवपुत्र! तुम्हारा निश्चय मैंने यह जाना है कि जगत् के त्यागने से चित्त का नष्ट करना श्रेष्ठ है। हे भगवन्! इतने काल मैं डालें काटता रहा हूँ; इसी से मेरे दुःख नष्ट नहीं हुए और आपने कहा कि अहं ही दुःखदायी है इसलिये कृपा करके कहिये कि अहं कैसे उत्पन्न होता है? कुम्भज बोले, हे राजन्! शुद्ध चैतन्य में जो चैतन्योन्मुखत्व अहं का फुरना हुआ कि 'मैं हूँ' सोही दृश्यरूप हुआ है और मिथ्या संवेदन से हुआ है। जैसे शान्त समुद्र में पवन से लहरें होती हैं तैसे ही शुद्ध आत्मा में अहं फुरता है और उससे संसार हुआ है। इससे अहंभाव को नष्ट करो कि शान्तपद में स्थित हो। जो दुःखदायक वस्तु है उसको नष्ट करे तो शान्त हो। राजा ने पूछा, हे भगवन्! वह कौन वस्तु है जो जलाने योग्य है और वह कौन अग्नि है जिसमें वह जलती है? कुम्भज बोले, हे त्यागवानों में श्रेष्ठ राजा! तेरा जो अपना स्वरूप है उसका विचारकर कि 'मैं क्या हूँ' और 'यह संसार क्या है;' इसका दृढ़ विचार करना ही अग्नि है और मिथ्या अनात्मा अर्थात् देह, इन्द्रियादिक में अहंभाव है उसको अवास्तवरूप विचार अग्नि में जलावो। जब विचार अग्नि से अहंकार बीज को जलावोगे तब केवल चिन्मात्र रहेगा। हे राजन्! मेरे उपदेश से तू आपको क्या जानता है सो मुझसे कह? राजा ने कहा मैं राजा, पृथ्वी,

पर्वत, आकाश, दशोंदिशा, रुधिर, मांस, देह, कर्मइन्द्रियाँ, ज्ञानइन्द्रियाँ मन, बुद्धि और अहंकार नहीं; मैं इनसे रहित शुद्ध आत्मा हूँ; परन्तु हे भगवन् ! अहंरूपी कलङ्कता मुझे कहाँ से लगी है कि उस कलङ्क को मैं दूर नहीं कर सकता ? तब कुम्भज ने कहा हे राजन् ! इसी अहं का त्याग करो जो मैंने त्याग किया है; बल्कि यह फुरना भी न फुरे, नितान्त शून्य हो रहे। जब इसका त्याग करोगे तब चैतन्य आकाश ही रहेगा। हे राजन् ! तू अपने स्वरूप को जान कि कौन है। राजा ने कहा, हे भगवन्। मैं यह जानता हूँ कि मेरा स्वरूप वही आत्मा है जो सबका आत्मा है; मैं आनन्दरूप हूँ और सब मेरा प्रकाश है परन्तु मैं यह नहीं जानता कि अहंभाव कलना कहाँ से लगी है ? इसको मैं नाश नहीं कर सकता पर यह मैंने जाना है कि संसार का बीज चित्त ही है और चित्त का बीज अहंकार है। तुम्हारी कृपा से मैंने जाना है कि मेरा स्वरूप आत्मा है और 'अहं', 'त्वं' मेरे में कोई नहीं। तुम भी इस अहंरूप कलङ्कता को दूर कर रहे हो–पर मुझ से दूर नहीं होता फिर फिर आ फुरता है कि मैं शिखरध्वज हूँ। इस अहं से मैं संसारी हूँ। इसके नाश करने का उपाय आप कहिये। कुम्भज बोले, हे राजन् ! कारण विना कार्य नहीं होता। जो कारण विना कार्य भासे तो जानिये कि भ्रममात्र और मिथ्या है और जिसका कारण पाइये उसे जानिये कि सत्य है। इससे तुम कहो कि इस अहंकार का कारण क्या है तब मैं उत्तर दूँगा ? राजा बोले, हे भगवन्! अहंकार का कारण शुद्ध आत्मा है। शुद्ध आत्मा में जो जानना हुआ है कि मैं हूँ यही उत्थान है और दृश्य की ओर लगा है सो जानना संवेदन ही अहं का कारण है। कुम्भज बोले, हे राजन् ! इस जानने का कारण क्या है ? प्रथम तू यह कह पीछे दूर करने का उपाय मैं कहूँगा। हे राजन् ! जिसका कारण सत् होता है सो कार्य भी सत् होता है और जो कारण झूठ होता है तो कार्य भी झूठा होता है। जैसे भ्रम दृष्टि से जो दूसरा चन्द्रमा आकाश में दीखता है उसका कारण भ्रम है। इससे इस जानने रूप संवेदन का कारण कह सो जानना ही दृष्टा और दृश्य रूप होकर स्थित हुआ है राजा बोले, हे देवपुत्र ! जानने का कारण देहादिक दृश्य है, क्योंकि जानना तब होता है जब जानने योग्य वस्तु आगे होती है और जो आगे वस्तु नहीं होती है तो वह जाना भी नहीं जाता। इससे जानने का कारण देहादिक हुए। कुम्भज बोले, हे राजन् ! ये देहादिक मिथ्या भ्रम से हुए हैं; इनका कारण तो कोई नहीं। राजा बोले, हे देवपुत्र ! देह का कारण तो प्रत्यक्ष है क्योंकि पिता से इसकी उत्पत्ति हुई है और प्रत्यक्ष कार्य करता दृष्टि आता है; आप कैसे कहते हैं कि कारण विना है और मिथ्या है ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! पिता का कारण कौन है ? पिता भी मिथ्या है। जैसे स्वप्न में पिता और पुत्र देखिये सो दोनों मिथ्या हैं। इससे कह पिता का कारण क्या है ? राजा बोले, हे भगवन् ! पुत्र का कारण पिता और पिता का कारण पितामह है; इसी प्रकार परम्परा से सबका कारण ब्रह्मा प्रत्यक्ष है, क्योंकि सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी से हुई है। कुम्भज बोले, हे राजन् ! ब्रह्मा से आदि काष्ठ पर्यन्त सर्वसृष्टि संकल्प की रची है और देह भी भ्रम करके भासता है। जैसे मृगतृष्णा का जल और सीपी में रूपा भासता है तैसे ही आत्मा में देह भासता है। जैसे आकाश में दो चन्द्रमा भ्रम से दीखते हैं तैसे ही आत्मा में यह संसार भ्रम से भासता है। जो तू कहे कि क्रिया कैसे दृष्टि आती है तो सुन। जैसे कोई कहे कि वन्ध्या के पुत्र को भूषण पहराये हैं; तो जब वन्ध्या का पुत्र ही नहीं तो भूषण किसने पहिरे ? अथवा स्वप्न में सब क्रिया भ्रममात्र होती हैं; तैसे ही यह संसार तेरे भ्रम में है। जब भ्रम निवृत्त होगा तब केवल आत्मा ही भासेगा। हे राजन् ! जैसे तू अपना देह जानता है तैसे ही ब्रह्मा को भी जान। ब्रह्मा का कारण कौन है ? इससे इस भ्रम से जाग कि तेरा भ्रम नष्ट हो जावे। राजा बोले, हे भगवन् ! मैं अब जागा हूँ और मेरा भ्रम नष्ट भया है। मैंने यह संसार अब मिथ्या जाना है कि केवल संकल्पमात्र है। जो कुछ दृश्य है सो मिथ्या है और एक आत्मा ही मेरे निश्चय में सत् हुआ है। हे भगवन् ! ब्रह्मा का कारण भी ब्रह्म है और वह अद्वैत अविनाशी और सर्वात्मा है; ब्रह्मा का कारण यह हुआ। कुम्भज बोले, हे राजन् ! कारण और कार्य द्वैत में होते हैं सो असत् हैं

क्योंकि इस कारण का देश, वस्तु और काल से अन्त हो जाता है और परिणामी होता है जो वस्तु परिणामी हो सो मिथ्या है। हे राजन्! आत्मा अद्वैत है; जिसमें न एक कहना है; न द्वैत कहना है; न वह भोगता है; न भोग है; न कर्म है; न अद्वैत है। जो वह स्वरूप से परिणाम को नहीं प्राप्त होता और सर्वात्मा है; जो सर्व देश और सर्व काल भी है; जो सर्व वस्तु में पूर्ण और अद्वैत है और जो अद्वैत है तो कारण कार्य किसका हो? कारण कार्य का सम्बन्ध द्वैत में होता है और परिणामी होता है और जिसमें देशकाल का अन्त है सो अद्वैत आत्मा है। उसमें न कोई देश है, न काल है और न कोई वस्तु है; वह केवल चिन्मात्रपद है। हे राजन्! मैं जानता हूँ कि तू जाग्रत् होगा, क्योंकि भ्रम तेरा नष्ट होता जाता है। जैसे बरफ़ की पुतली सूर्य की किरणों से क्षीण हो जाती है तैसे ही तेरा अज्ञान नष्ट होता जाता है, अज्ञान के नष्ट हुए से तू आत्मा ही होगा। तू अपने प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप में स्थित हो और देख कि ब्रह्मा आदिक सर्व परमात्मा का किंचन हैं। परमात्मा ही ऐसे होकर स्थित हुआ है और जो दृष्टि पड़ता है उस सर्वका अपना आप आत्मा है। जब जागेगा तो जानेगा, जागे विना नहीं जान सकता। राजा बोला, हे भगवन्! तुम्हारी कृपा से अब मैं जागा हूँ और जानता हूँ कि मेरा स्वरूप आत्मा है और मैं निर्मल हूँ। अब मेरा मुझको नमस्कार है। एक मैं ही हूँ; मेरे से भिन्न कुछ नहीं और मैंने आपको जाना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राजविश्रान्तिवर्णनं
नाम चतुःसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७४ ॥

राजा ने पूछा, हे भगवन्! आप कैसे कहते हैं कि ब्रह्मा का कारण कोई नहीं? आत्मा ऐसा अनन्त, अच्युत, अव्यक्त और अद्वैत ईश्वर है वह षट् परिमाणों का विषय नहीं और परमब्रह्म तो ब्रह्मा का कारण है? कुम्भज बोले, हे राजन्! तूही कहता है कि आत्मा अनन्त है। जो अनन्त है उसको देश, काल और वस्तु का परिच्छेद नहीं होता जो सर्वदेश, सर्वकाल, और सर्ववस्तु में पूर्ण है सो कारण कार्य किसका हो? कारण तब हो जब प्रथम द्वैत हो सो आत्मा अद्वैत है और कारण उसको कहते हैं जो

कार्य से पूर्व हो और पीछे भी वही हो—जैसे घट के आदि मृत्तिका है और अन्त भी मृत्तिका होती है; वह कारण कहाता है पर आत्मा में न आदि है, न अन्त है। वह तो आत्मा अनन्त है। कारण तब होता है जब परिणाम होता है सो आत्मा अच्युत है, अपने स्वरूप से कदाचित् नहीं गिरा और भोक्ता भी द्वैत से होता है सो आत्मा अद्वैत है। भोग और भोक्ता दोनों नहीं और आत्मा में कर्म भी नहीं। आत्मा से आदि कौन है जिससे आत्मा सिद्ध हो? वह किसी का कार्य भी नहीं, क्योंकि कार्य इन्द्रियों का विषय होता है सो आत्मा अव्यक्त है और जो कार्य होता है तो उसका कारण भी होता है सो आत्मा सर्वका आदि है उसका कारण कौन हो? जो सर्वात्मा है और स्वच्छ आकाशवत् निर्मल है सो ही तेरा स्वरूप है। राजा ने पूछा, हे भगवन्! बड़ा आश्चर्य है! मैंने जाना है कि आत्मा अद्वैत है वह न किसी का कारण है, न कार्य है और अनुभवरूप है सो मैं हूँ। मैं निर्मल हूँ; विद्या-अविद्या के कार्य से रहित हूँ; निर्वाणपद हूँ और निर्विकल्प हूँ; मेरे में फुरना कोई नहीं और मैं नहीं और मैं ही हूँ। मेरा मुझको नमस्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पञ्चसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! राजा शिखरध्वज कुम्भज मुनि के उपदेश से प्रबोध हो और ऐसे वचन कहकर केवल निर्वाणपद में स्थित हुआ। जब निर्विकल्प और फुरने से रहित हो एक मुहूर्त पर्यन्त स्थित रहा—जैसे वायु से रहित दीपक स्थित होता है—तब कुम्भज ने उसे जगाकर कहा; हे राजन्! तेरा समाधि से क्या है और उत्थान से क्या है? तू तो केवल आत्मा है। मैं जानता हूँ कि तू परमज्ञान से शोभित हुआ है। जैसे डब्बे में रत्न होता है तो उसका प्रकाश बाहर नहीं दृष्टि आता और जब डब्बे से निकालकर देखिये तब बड़ा प्रकाश भासता है; तैसे ही अविद्यारूपी डब्बे से तू निकला है और परमज्ञान से शोभित हुआ है। हे राजन्! अब तेरे में न कोई क्षोभ है और न कोई उपाधि है। अब तू संसार के राग द्वेष से रहित, शान्तरूप, जीवन्मुक्त होकर विचारपूर्वक बिचर तो तुझे कोई उपाधि न लगेगी। वशिष्ठजी बोले, हे

रामजी ! जब इस प्रकार कुम्भज मुनि ने कहा तब राजा शान्तरूप हो गया और बोला, हे भगवन्! जो कुछ आपने आज्ञा की है उसे मैंने भली प्रकार जाना पर अभी एक प्रश्न है और उसका उत्तर कृपा करके कहो कि मैं दृढ़ स्थित होके रहूँ। हे भगवन् ! आत्मा तो एक है और शुद्ध और केवल आकाशरूप चैतन्यमात्र है उसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य त्रिपुटी कहाँ से उपजी ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! जो कुछ स्थावर-जङ्गम संसार है वह महाप्रलय पर्यन्त है। जब महाप्रलय होता है तब केवल आत्मा ही शेष रहता है जो स्वच्छ और निर्मल है; तहाँ न तेज होता है; न अन्धकार है; वह केवल अपने आप स्वभाव में स्थित होता है। जो कुछ आनन्द है उसका अधिष्ठान आत्मा है और सत् असत् से रहित है। जिसको बुद्धि 'इदं' करके कहती है उसे सत् कहिये और जिसको नहीं कहती उसे असत् कहिये। वह सत् असत् से रहित और सब शुभ लक्षणों से संयुक्त है और अपना स्वभावमात्र है। उसमें कोई उपाधि नहीं और सर्वदा प्रकाशवान् और उदयरूप है। यह संसार उस परमात्मा का चमत्कार है। जैसे रत्न का चमत्कार लाट होती है तैसे ही ब्रह्म का चमत्कार यह संसार है इससे ब्रह्मरूप है। जो ब्रह्म से भिन्न है उसे मिथ्याभ्रम ही जानना। जो कुछ आकार भासते हैं सो असत् हैं। हे राजन् ! जो सब आकार मिथ्या हैं तो तेरी संवेदन भी मिथ्या है। आत्मा में अहं त्वं का कोई उत्थान नहीं; वह केवल ज्ञानमात्र है, केवल सत् और आनन्दरूप है और अविद्यातम से रहित प्रकाशरूप है। वह प्रमाणों से जाना नहीं जाता क्योंकि इन्द्रियों का विषय नहीं और मन की चिन्तना से रहित है, क्योंकि सबका द्रष्टा है और सबका अपना आप अनुभवरूप है। हे राजन् ! तू उसी में स्थित हो। आत्मा, बड़े से बड़ा है; सूक्ष्म से सूक्ष्म है और स्थूल से स्थूल है जिसमें आकाश भी अणु सा है उसमें ब्रह्माण्ड भी तृण समान है; वह अपने आपसे पूर्ण है; उससे किंचित् भी उत्पन्न नहीं हुआ और नाना प्रकार करके स्थित हुआ है। फुरने से जगत् भासता है और फुरने के निवृत्त हुए केवल शुद्ध आत्मा है। राजा ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि संसार फुरने मात्र है और आत्मा शुद्ध शान्तिरूप और निर्विकल्प है तो उसमें संवेदन फुरना कहाँ से आया है ? कुम्भज बोले, हे राजन् ! फुरना भी आत्मा का चमत्कार है जैसे पवन में स्पन्द और निःस्पन्द दोनों शक्ति हैं; जब फुरता है तब चलना प्रकट होता है और जब ठहर जाता है तब प्रकट नहीं होता; तैसे ही संवेदन जब फुरता है तब नाना प्रकार होते हैं और जगत् भासता है; और जब फुरना मिट जाता है तब केवल शुद्ध आत्मा भासता है। हे राजन् ! आत्मा सत्तामात्र है और संसार भी सन्मात्र आत्मा ही है। जो सम्यक्दृष्टि से देखिये तो आत्मा ही भासता है और जो असम्यक्दृष्टि से देखिये तो दुःखदायक जगत् भासता है। जिसके मन में संसारभावना है उसको दुःखदायक भासता है और जिसके हृदय में आत्मभावना होती है उसको आत्मा ही भासता है और सुखरूप होता है, क्योंकि आत्मा अपने आपका नाम है। जिसने जगत् को अपना आप जाना है उसको दुःख कहाँ ? हे राजन् ! यह संसार भावनामात्र है; जैसी भावना होती है तैसा ही हो भासता है। जिसकी भावना विष में अमृत की होती है उसे विष भी अमृत हो जाता है और जिसकी भावना अमृत में विष की होती है तो उसे अमृत भी विष हो जाता है, क्योंकि संसार भावनामात्र है। जैसी भावना दृढ़ करता है यद्यपि आगे वह वस्तु न हो तौ भी हो जाती है; इससे संसार भावनामात्र मिथ्या है। ज्ञानवान् को दुःख कदाचित् नहीं होता और अज्ञानी को सुख कदाचित् नहीं होता। हे राजन् ! अहंता और संवेदन; चित्त और चैत्य ये भी आत्मा ही की संज्ञा हैं। जैसे आकाश, शून्य, नभ; ये सब संज्ञा आकाश ही की हैं तैसे ही वह सब संज्ञा आत्मा की हैं, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। 'अहं', 'त्वं' सब आत्मा के आश्रय हैं। जैसे भूषण सुवर्ण के आश्रय होते हैं परन्तु सुवर्ण से भूषण तब होता है जब कि अपने पूर्वरूप को त्यागता है; आत्मा तैसे भी नहीं वह केवल एकरस है और अपने आप में स्थित है, कदाचित् परिणाम को नहीं प्राप्त होता। यह संवेदन आत्मा का चमत्कार है और आत्मा सत् असत् से परे है। जो कुछ दृश्य है सो आत्मा में नहीं चित्त से रचा है; इससे परे है। हे राजन् ! वह कारण-कार्य किसका

हो ? कारण-कार्य तब होता है जब दृश्य होता है सो आत्मा किसी का विषय नहीं तो कारण-कार्य किसका हो। विश्व के आदि भी आत्मा है अन्त भी वही है और मध्य में भी आत्मा ही है। जो कुछ और भासता है सो भ्रममात्र है—जैसे आकाश में जो घर, मण्डल और पुर दृष्ट आते हैं उनकी आदि भी आकाश है; अन्त भी आकाश है और मध्य भी आकाश है और जो घर, मण्डल, पुर भासते हैं सो मिथ्या हैं जैसे अग्नि नाना प्रकार दृष्टि आती है सो सब मिथ्या आकार है एक अग्नि ही है तैसे ही सबके आदि, मध्य और अन्त एक आत्मा ही सार है। हे राजन्! जल में भी देश काल होता है क्योंकि दृश्य है और इन्द्रियों का विषय है जैसे यह तरङ्ग अमुक स्थान से उठा और अमुक स्थान में लीन हुआ यहाँ स्थान देश हुआ और उपजकर इतना काल रहा सो काल हुआ और जिसको इन्द्रियाँ विषय न कर सकें उसमें देश काल कैसे हो ? राजा बोले, हे भगवन्! अब मैंने भली प्रकार जाना है कि आत्मा चिन्मात्र है और ज्ञान इन्द्रियों और कर्म इन्द्रियों से परे है। देश, काल और इन्द्रियाँ मन से जानी जाती हैं कि अमुक देश है और अमुक काल है पर जहाँ इन्द्रियाँ और मन ही न हो वहाँ देश काल कहाँ है ? कुम्भज बोले, हे राजन्! जो तूने ऐसे जाना तो तू जागा है। आत्मा में देश, काल कोई नहीं। यह मन और इन्द्रियों से जानता है कि यह देश है और यह काल है। जो इनसे रहित होकर देखे तो आत्मा ही भासे और जो इन सहित देखे तो संसार ही दृष्टि आवेगा। हे राजन्! इनसे रहित होकर देख, तुझमें कुछ संसार न रहे कि अमुक प्रश्न किया और अब अमुक प्रश्न करूँ। संसार तबतक होता है जबतक इनका संयोग अपने साथ होता है। हे राजन्! ब्रह्म से ब्रह्म को देख और पूर्ण को देख कि तू भी पूर्ण हो। जब तू पूर्ण होगा तब सब ओर आपको ही जानेगा, सब संज्ञा तेरी ही होगी और उस निर्वाच्य पद को प्राप्त होगा जहाँ इन्द्रियों की गम नहीं, केवल आकाशरूप है। जैसे आकाश अपनी शून्यता से पूर्ण है तैसे ही तू भी अपने चैतन्य स्वभाव से आप पूर्ण होगा। जब तू मनसहित षट् इन्द्रियों से रहित होकर देखेगा तब अपने आपको, फिर यदि इन

सहित भी देखेगा तौ भी तुझे चैतन्य आत्मा ही भासेगा और संसार का शब्द और अर्थ तेरे हृदय से उठ जावेगा—शब्द यह कि संसार है और अर्थ यह कि उसको सत् जानना और केवल आकाशरूप आत्मा ही भासेगा। संसार संवेदन मात्र है और संवेदन चित्तशक्ति का चमत्कार है। यही चित्तशक्ति ब्रह्मा होकर स्थित हुई है और संसार देखने लगी है। जब यह शक्ति अन्तर्मुख होती है तब आत्मा ही दृष्टि आता है जो सदा एकरस है और जब बाहिर्मुख होती है तब संसार दृष्टि आता है। जैसी जीव भावना करता है तैसे ही आगे दृष्टि आता है; जब संसार की भावना होती है तब संसार ही भासता है और जब आत्मा की भावना होती है तब आत्मा ही भासता है। आत्मा सदा एकरस और असंसारी है, इससे हे राजन्! तू आत्मा की भावना कर कि तुझे आत्मा ही भासे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे षट्सप्ततितमस्सर्गः ॥ ७६ ॥

कुम्भज बोले, हे राजन्! यह संसार जो तुझे भासता है सो आत्मा में नहीं। केवल शुद्ध आत्मा में जो अहं उत्थान है वही संसार है पर अहं का वह चमत्कार न सत् है, न असत् है; न भीतर है, न बाहर है; न शून्य है, न अशून्य है; केवल अपने आपमें स्थित है। संसार का प्रध्वंसाभाव भी नहीं होता अर्थात् पहले हो और पीछे नाश हो जावे ऐसा नहीं होता। आत्मा में संसार उदय अस्त नहीं होता केवल अपने आपमें स्थित है उससे कुछ भिन्न नहीं। किन्तु आत्मा को यह भी नहीं कह सकते कि केवल अपने आपमें स्वाभाविक स्थित है; उसमें वाणी की गम नहीं। वाणी उसको कहते हैं जहाँ दूसरा होता है पर जहाँ दूसरा न हो वहाँ वाणी क्या कहे। यह कहना भी तेरे उपदेश के निमित्त कहा है आत्मा में किसी शब्द की प्रवृत्ति नहीं। हे राजन्! ऐसा आत्मा किसका कारण कार्य हो। आत्मा तो शुद्ध, निर्विकार और प्रमाणों से रहित है। जो किसी लक्षण से प्रमाण नहीं किया जाता सो आकार होकर स्थित हुआ है और शान्तरूप है। हे राजन्! ऐसा आत्मा किसका कारण कार्य हो ? कारण कार्य तब होता है जब प्रथम परिणाम और क्षोभ को प्राप्त होता है पर आत्मा तो शान्तरूप है और कारण तब हो जब क्रिया से कार्य

को उत्पन्न करे सो आत्मा अक्रिय है अर्थात् क्रिया से रहित है। कारण को कार्य से जाना जाता है पर आत्मा चिह्न से रहित है और प्रमाणों का विषय नहीं इससे आत्मा कारण कार्य किसी का नहीं और आत्मा को कारण कार्य मानने से मुझे आश्चर्य आता है। हे राजन्! जो वस्तु उपजती है सो नष्ट भी होती है और जो नष्ट होती है सो उपजती भी है पर आत्मा सबके आदि है और अजन्मा और निर्विकार है उसमें स्थित हो कि तेरा संसार निवृत्त हो जावे। यह संसार अज्ञान से भासता है। जब तू स्वरूप में स्थित होकर देखेगा तब न भासेगा; और ऐसे भी न भासेगा कि आगे था अब निवृत्त हुआ है तब तो एकरस आत्मा ही भासेगा और केवल शून्य आकाश हो जावेगा। संसार से रहित होने को शून्य कहते हैं। चैतन्यस्वरूप नाना होके भी वही है और एक भी वही है, शून्य है और शून्य से रहित भी वही है; द्वैतरूप भी वही है और अद्वैतरूप भी वही है; ऐसा भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजप्रथमबोधनं नाम
सप्तसप्ततितमस्सर्गः॥ ७७॥

कुम्भज बोले, हे राजन्! जो कुछ तू देखता है सो सब चैतन्य घन है उसमें 'अहं' 'त्वं' शब्द कोई नहीं। 'अहं' 'त्वं' शब्द प्रमाद से होते हैं; जब आत्मा में स्थित होकर देखोगे तब आत्मा से भिन्न कुछ न भासेगा तो 'अहं' 'त्वं' शब्द कहाँ भासे? हे राजन्! यह नाना प्रकार की संज्ञा चित्त ने कल्पी है जब चित्त से रहित होगे तब नाना और एक कोई संज्ञा न रहेगी। हे राजन्! 'सर्व ब्रह्म' है, यह वाक्य वेद का सार है। जब इस वाक्य में दृढ़ भावना बुद्धि होगे तब एकरस आत्मा ही दृष्ट आवेगा और चित्त नष्ट हो जावेगा। जब चित्त नष्ट हुआ तब केवल महाशुद्ध आकाश की नाईं स्थित होकर निर्दुःख पद को प्राप्त होगे जो पद का आदि है और सर्वदा मुक्तिरूप है। राजा बोले, हे भगवन्! आपने कहा कि चित्त के नष्ट हुए से कोई दुःख न रहेगा और चित्त के नष्ट होने का उपाय भी आपने कहा है परन्तु मैं भली भाँति नहीं समझा; मेरे दृढ़ होने के निमित्त कृपा करके फिर कहिये कि चित्त कैसे नष्ट होता है? कुम्भज बोले, हे राजन्! यह चित्त न किसी काल का है; न किसी को है और न यह देखता है; चित्त है ही नहीं तो मैं तुझे क्या कहूँ और जो चित्त तुझको दृष्ट आता है तो तू आत्मा ही जान; आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। हे राजन्! महासर्ग के आदि और अन्त कोई सृष्टि नहीं केवल आत्मा है और आत्मा में कुछ नहीं कह सकते मैंने तेरे जानने के निमित्त कहा है। मध्य जो कुछ दृष्टि आता है सो अज्ञानी की दृष्टि है आत्मा में सृष्टि कोई नहीं और आत्मा किसी का उपादानकारण और निमित्तकारण भी नहीं क्योंकि अच्युत है–परिणाम को नहीं प्राप्त होता। उपादान भी परिणाम से होता है आत्मा शुद्ध निराकार आकाशरूप है सो कारणकार्य किसका हो? चित्त भी वासनारूप है और वासना तब होती है जब वास होती है। जो आगे सृष्टि नहीं तो वासना किसकी फुरे और चित्त में संसार की स्थिति कैसे हो? इससे चित्त कुछ नहीं। यह विश्व आत्मा का चमत्कार है और सृष्टि आत्मा में कोई नहीं; वह निरालम्ब केवल अपने आप में स्थित है। हे राजन्! संसार भी नहीं हुआ और चित्त भी नहीं हुआ तो 'अहं' 'त्वं' आदिक शब्द भी आत्मा में कोई नहीं। ये शब्द तब होते हैं जब चित्त होता है और चित्त तबतक है जबतक वासना है। जब निर्वासनिक पद को प्राप्त हुआ तब कोई कल्पना नहीं रहती। हे राजन्! यह संसार महाप्रलय में नष्ट हो जावेगा और सत् असत् संसार कुछ न रहेगा; एक आत्मा ही शेष रहेगा जो निराकार और शुद्ध है। जबतक महाप्रलय नहीं होता तबतक संसार है। महाप्रलय क्या? सो भी सुनो। एक क्षण आत्मा के साक्षात्कार होने से सृष्टि का शेष भी न रहेगा। ज्ञान ही महाप्रलय (अत्यन्त प्रलय) है और अब जो दृष्टि आता है सो मिथ्या है। यह क्रिया भी मिथ्या है और इसका भान होना भी मिथ्या है। जैसे स्वप्न की क्रिया भी मिथ्या है और उसका भान होना भी मिथ्या है तैसे ही जाग्रत् संसार स्वप्नमात्र है और कारण विना ही भासता है। जो कारण विना है सो मिथ्या है इसका कारण अज्ञान ही है कि अपना न जानना, जब आपको जाना तब अपना आपही भासेगा। जैसे स्वप्न में

अपने न जानने से भिन्न आकार भासते हैं पर जब जगा तब अपना आपही जानता है कि मैं ही था। हे राजन्! मुझे तो एक आत्मा ही दृष्टि आता है; आत्मा से भिन्न संसार कोई नहीं भासता। इस संसार की स्थिति मानना मूर्खता है, यह सदा अचलरूप है। वेद शास्त्र और लोक भी कहता है कि संसार मिथ्या है और आप भी जानता है कि नष्ट होता दृष्टि आता है तो फिर उसमें आस्था करनी मूर्खता है। आत्मा में संसार नाना अनाना कोई नहीं; आत्मा सर्वदा अपने आपमें स्थित है और शुद्ध और अच्युत ज्यों का त्यों है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधनं
नामाष्टसप्ततितमस्सर्गः ॥ ७८ ॥

शिखरध्वज बोले, हे भगवन्! अब मेरा मोह नष्ट हुआ है और अपना आप मैंने जाना है। तुम्हारी कृपा से मेरा संसारभ्रम निवृत्त हुआ है और शोकसमुद्र को अब मैं तरकर शान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। 'अहं' 'त्वं' शब्द मेरे में कोई नहीं, अब मैं निर्वाणपद को प्राप्त हुआ हूँ और अच्युत चिन्मात्र केवल हूँ और शून्य हूँ। कुम्भज बोले, हे राजन्! आत्मा शुद्ध और आकाश की नाईं निर्मल है; बल्कि आकाश से भी अति निर्मल है पर उसमें अहं मल अहंमोह से उपजा है और मोह अविचार का नाम है। जब विचार होता है तब कोई अहं नहीं पाया जाता। यह विश्व संवेदन में है और संवेदन सबके आदि होकर स्थित हुआ है। जब संवेदन अन्तर्मुख होता है तब सब विश्व लीन हो जाता है; संवेदन ही में बन्ध और मुक्ति है; जब बहिर्मुख होता है तब बन्ध है और जब अन्तर्मुख होता है तब मोक्ष है। जिसने मन और इन्द्रियों से रहित होकर अपना आप देखा है उसको ज्यों का त्यों दृष्टि आता है—और जो मोहसंयुक्त देखता है उसको विपर्यय भासता है। जैसे सम्यक्दृष्टि से भूषण में सुवर्ण भासता है और जब भूषण के आकार मिट जाते हैं तब भी सुवर्ण ही है और मूर्ख को सोने में भूषण दृष्टि आते हैं। चिरकाल के अभ्यास से जो बुद्धि इनमें फुरती है तो भी प्रारब्धवेग पर्यन्त चेष्टा होती है तब चेष्टा में भी आत्मा ही दृष्टि आता है—इससे केवल आत्मा ही का किञ्चन होता है।

जैसे सोने में भूषण, आकाश में नीलता और वायु में स्पन्द है, तैसे ही आत्मा में सृष्टि है। जैसे आकाश में नीलता देखनेमात्र है वास्तव कुछ नहीं; तैसे ही आत्मा में सृष्टि वास्तव कुछ नहीं, भ्रान्तिमात्र ही है। जब भ्रान्ति निवृत्त होती है तब जगत् का शब्द अर्थ सब ओर से शान्त हो जाता है और शब्द अर्थ की भावना से जो चेष्टा होती है उससे जब अभिलाषा निवृत्त हो जाती है तब कोई दुःख नहीं होता। इसी को मुनीश्वर निर्वाण कहते हैं। जब निर्वाणपद का ऐसा निश्चय होता है तब शान्तरूप शून्यपद को पाकर स्थित होता है। हे राजन्! अहं का उत्थान होना ही बन्धन है और अहं के निर्वाण होने से ही मुक्ति है। अहं के होने से संसार का दुःख है; जबतक अहं का उत्थान है तबतक संसार है और जबतक संसार है तबतक अहं का उत्थान है। जब संसार की सत्ता जाती रहेगी तब अहं फुरना भी नष्ट हो जावेगा और जब फुरना नष्ट हुआ तब अहं भी नष्ट हो जावेगा। जब अहं नष्ट हुआ तब केवल शुद्ध आत्मा ही शेष रहेगा और उसी का भान होगा। तब अहंब्रह्म का उत्थान भी शान्त हो जावेगा और चैतन्यमात्र ही रहेगा। हे राजन्! जिसको सर्वब्रह्म की बुद्धि हुई है उसको संसार की बुद्धि नहीं रहती और जिसको संसारबुद्धि है उसको ब्रह्मबुद्धि नहीं होती। जैसी जैसी भावना दृढ़ होती है तैसा ही आगे भासता है; जिसको ब्रह्मभावना दृढ़ होती है वह ब्रह्मरूप हो जाता है और जिसको जगत् की भावना दृढ़ होती है उसको जगत् ही भासता है। हे राजन्! तू अब जागा है और ब्रह्मस्वरूप हुआ है; जो शुद्ध, निर्मल और प्रत्यक् है और जो शब्द और लक्षणों का विषय नहीं और इन्द्रियों का विषय भी नहीं। हे राजन्! ऐसा आत्मा जो केवल अद्वैत है और विश्व जिसका चमत्कार है वह कारण-कार्य किसका हो जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरङ्ग पवन से उपजते हैं तो भी समुद्र से भिन्न नहीं, तैसे ही आत्मा में नाना प्रकार की विश्व संवेदन फुरने से उपजती है तो भी आत्मा से कुछ भिन्न नहीं—फुरनेमात्र है। जैसे थम्भे में मनोराज से कोई पुरुष पुतलियाँ कल्पता है और नाना प्रकार की चेष्टा करता है पर उसकी चेष्टा तबतक है जबतक संकल्प है और जब संकल्प निवृत्त

हुआ तब शून्य थम्भा ही रह जाता है जैसा आगे था, क्योंकि शिल्पी की संवेदन में सृष्टि थी; तैसे ही यह संसार संकल्पमात्र है, जब संकल्प अन्तर्मुख होता है तब संसार की सत्ता जाती रहती है। हे राजन्! संसार-सत्ता इस कारण जाती रहती है कि आगे ही असत् है। जो वस्तु सत् होती है उसका कदाचित् नाश नहीं होता। इससे संसार केवल संवेदन ने कल्पा है। जैसे एक शिला में पुरुष पुतलियाँ कल्पतां है तो शिला में तो पुतली कोई नहीं; ज्यों की त्यों शिला ही है; तैसे ही फुरने से आकार दृष्ट आते हैं। जब चित्त फुरने से रहित होगा तब आत्मा को अपना आप जानोगे और अशब्दपद को प्राप्त होगे जो शान्तिपद शुद्ध आकाशरूप है। हे राजन्! सर्व शब्द और अर्थ की अभावना करना ही ब्रह्मज्ञान है; वहाँ कोई कल्पना नहीं। जब सम्यक्दृष्टि होती है तब शेष आत्मा ही भासता है और यह भावना भी उठ जाती है कि यह संसार है और यह ब्रह्म है; तब केवल ज्ञेयमात्र ही हो रहता है अर्थात् शिला की नाईं अचल निश्चय होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधवर्णनं
नाम एकोनाशीतितमस्सर्गः ॥ ७९ ॥

राजा बोले, हे भगवन्! जैसे आप कहते हैं सो सत्य है और मैं भी ऐसे ही जानता हूँ कि संसार आत्मा का कार्य है और आत्मा कारण है। जो आत्मा का कार्य हुआ तो आत्मस्वरूप हुआ आत्मा से भिन्न नहीं। कुम्भज बोले, हे राजन्! आत्मा चैतन्यमात्र है, कारण कार्य किसी का नहीं। आत्मा अप्रत्यक् और अक्रिय; अच्युत और निरस है और जो अशब्दपद है वह कारण कार्य किसका हो? कारण को कार्य द्वारा जाना जाता है पर आत्मा किसी प्रमाण का विषय नहीं, अप्रत्यक् और अरूप है। कारण तब होता है जब क्रिया होती है पर वह न किसी का कारण-कार्य है और न कर्म है केवल ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है और चैतन्यमात्र शिवरूप शुद्ध है। यह विश्व भी चैतन्यमात्र है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही आत्मा में विश्व आत्मरूप स्थित है। ऐसा विश्व चैतन्यमात्र है पर उसमें असम्यक्दर्शी अज्ञान से नाना प्रकार कल्पता है। वस्तु जो परमात्मा है तिसके प्रमाद से वासनारूप चित्त से विश्व को कल्पता है सो विश्व शब्दमात्र है अर्थात् कुछ नहीं। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा; समुद्र में तरङ्ग; मृगतृष्णा में जल और परछाहीं में वैताल भासता है तैसे असम्यक्दर्शी आत्मा में विश्व कल्पता है और सम्यक्दर्शी ऐसे जानता है कि आत्मा शुद्ध, अजन्मा, अविनाशी और परम निरञ्जन है। हे राजन्! जब तू सम्यक् दृष्टि से देखेगा तब संसार का प्रध्वंसाभाव भी न देखेगा, क्योंकि चित्त का कल्पा हुआ है और चित्त अज्ञान से उपजा है। स्वरूप में न चित्त है, न अज्ञान है और न संसार है; केवल अद्वैतमात्र है; वहाँ एक कहाँ और द्वैत कहाँ, वह तो केवल मात्रपद है। जब अज्ञान नष्ट होगा तब 'अहं' 'त्वं' चित्त फुरना सब नष्ट हो जावेगा और फिर भ्रम दृष्टि न आवेगा। हे राजन्! आत्मा से भिन्न जो कुछ भासता है सो अज्ञान से भासता है और विचार किये से नहीं रहता। राजा बोले, हे भगवन्! अज्ञान क्या है और कैसे नाश होता है सो कहिये? कुम्भज बोले, हे राजन्! एक ज्ञान है और दूसरा अज्ञान है। ज्ञान यह कि पदार्थ को प्रत्यक्ष जानना और अज्ञान यह कि पदार्थों को न जानना। एक ज्ञान भी अज्ञान है सो भी सुन। मृगतृष्णा का जल देखकर आस्था करनी और रस्सी में सर्प और सीपी में रूपा देखना और उसको सत्य जानना यह ज्ञान भी अज्ञान है, क्योंकि सम्यक्दर्शी होकर नहीं देखता यह अज्ञान है और एक अज्ञान यह भी है कि शुद्ध आत्मा निराकार और अच्युत है उसमें मैं हूँ और मेरा अमुक वर्णाश्रम है और नाना प्रकार का विश्व है। यह ज्ञान भी अज्ञान और मूर्खता है। हे राजन्! न कोई जन्मता है और न कोई मृतक होता है; ज्यों का त्यों आत्मा ही स्थित है; उसमें जन्म मरण आदिक विकार देखना ज्ञान भी अज्ञान है। हे राजन्! जैसे कोई ब्राह्मण हो और ऊँची बाँह करके कहे कि मैं शूद्र हूँ और मुझे वेद का अधिकार नहीं; और जैसे कोई पुरुष कहे कि मैं मुआ हूँ और उसको मैं जानता हूँ; तैसे ही आपको कुछ वर्णाश्रम का अभिमान लेकर कहना मूर्खता है, क्योंकि यह असम्यक्दर्शन है। जब ज्यों का त्यों जाने तब दुःखी न हो। हे राजन्! ऐसा ज्ञान जो सम्यक्-

दर्शन से नष्ट हो जावे सो अज्ञान ही है। जैसे सूर्य की किरणों में जल बुद्धि होती है और किरण के ज्ञान से जल का ज्ञान नष्ट हो जाता है तो वह जल का जानना अज्ञानता ही थी और जैसे जेवरी में सर्प जानना जेवरी के ज्ञान से नष्ट हो जाता है सर्प बुद्धि अज्ञान है और सम्यक्दर्शन से नष्ट होती है। जब ऐसे सम्यक्दर्शी होगे तब आध्यात्मिक तापों से निवृत्त होकर शुद्ध होगे। आत्मा जो अज, शान्तरूप, सत्-असत् से परे है उसमें भिन्न कुछ नहीं और वह प्रकाशरूप है। ऐसा तू है। हे राजन्! अज्ञान भी और कोई नहीं; इस चित्त के उदय होने का ही नाम अज्ञान है। अज्ञान का कारण चित्त है। जो पदार्थ चित्त से उदय हुआ है सो नष्ट भी चित्त से ही होता है; इससे तू शुद्ध चित्त से चित्त को नाश कर। जैसे अग्नि पवन से उपजती है और पवन ही से शान्त होती है तैसे ही शुद्ध चित्त से चित्त को नष्ट कर। हे राजन्! न तू है, न मैं हूँ, न इन्द्रिय हैं, न संसार है और न यह जगत् है केवल शुद्ध आत्मा है। हे राजन्! जो चित्त ही न हो तो चित्त का कार्य विश्व कहाँ हो? यह अज्ञानी को भासता है कि चित्त है और विश्व है; आत्मा केवल अपने आपमें स्थित है। हे राजन्! चित्त का उदय होना अज्ञान से है। जब अज्ञान नष्ट होता है तब चित्त और 'अहं' 'त्वं' सब नष्ट हो जाते हैं। हे राजन्! तू शुद्ध आत्मा; एक; प्रकाशरूप; अच्युत और निरन्तर है; देह इन्द्रियादिकरूप होकर भी तुही स्थित हुआ है और इच्छा अनिच्छा भी तू ही है। जैसे चन्द्रमा की किरणें चन्द्रमा से भिन्न नहीं, तैसे ही तू है। तू निर्विकल्प है और तुझमें कुछ स्फूर्ति नहीं; तू केवल ज्यों का त्यों स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थोपदेशोनामाशीतितमस्सर्गः ॥ ८० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब ऐसे कुम्भज मुनि ने कहा तब शिखरध्वज सुनके शान्ति को प्राप्त हुआ और नेत्र मूँदके सब अङ्गों की चेष्टा से रहित हुआ। जैसे शिला पर पुतली लिखी हो तैसे ही स्थित हो एक मुहूर्त पर्यन्त वह निर्विकल्प स्थित रहा और फिर उठा तब कुम्भज ने कहा; हे राजन्! आत्मा जो निर्विकल्प है उस निर्विकल्प शिला में तूने शयन

किया है और ज्ञेय जो जानने योग्य है उसे तूने जाना है। अब अज्ञान तेरा नष्ट हुआ अथवा नहीं और तू शान्ति को प्राप्त हुआ अथवा नहीं सो कह? राजा बोले, हे भगवन्! तुम्हारी कृपा ने मुझे उत्तमपद को प्राप्त किया है। हे भगवन्! तत्त्ववेत्ताओं के सङ्ग से जैसा अमृत मिलता है तैसा क्षीरसमुद्र से भी नहीं मिलता और जो देवताओं से भी नहीं मिलता। तुम्हारी कृपा से मैंने ऐसे अमृत को पाया है जिसका आदि अन्त कोई नहीं और जो अनन्त और अमृतसार है। अब मेरे सब दुःख नष्ट होगये हैं और मैं जगा हूँ। अब मैंने अपने आपको जाना है कि मैं आत्मा हूँ; मेरे साथ चित्त कोई नहीं और मैं केवल अपने आपमें स्थित हूँ। अब मुझे कोई इच्छा नहीं मैंने अपने स्वभाव को पाया है और सबके आदि पद को प्राप्त हुआ हूँ। जिसमें कोई क्षोभ नहीं ऐसे निर्विकल्पपद को मैं प्राप्त हुआ हूँ। हे भगवन्! ऐसा मेरा अपना आप है जिससे सब प्रकाशते हैं। उसके जाने विना मैंने कोटि जन्म पाये थे। अब मेरे दुःख नष्ट हुए हैं और तुम्हारी कृपा से एक क्षण में जाना है। आगे भी श्रवण किया था पर क्या कारण है जो आगे न जाना और अब जाना? कुम्भज बोले, हे राजन्! अब तेरे कषाय (पाप) परिपक्व हुए हैं। जैसे फल परिपक्व होता है तब यत्न विना ही वृक्ष से गिर पड़ता है तैसे ही अब तेरा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है और अज्ञान नष्ट हो गया है। जब अन्तःकरण मलिन होता है तब सन्तों के वचन नहीं लगते और जब अन्तःकरण शुद्ध होता है तब सन्तों के वचन लगते हैं। जैसे कोमल कमल की जड़ को बाण लगे तो शीघ्र ही बेध जाता है तैसे ही शुद्ध अन्तःकरण में उपदेश शीघ्र ही प्रवेश करता है। हे राजन्! अब तेरी भोग्य वासना नष्ट हुई है और स्वरूप जानने की तेरी इच्छा हुई है; इससे तू जगा है। हे राजन्! मैंने उपदेश तब किया है जब तेरा अन्तःकरण शुद्ध हुआ है। प्रतिबिम्ब भी वहाँ पड़ता है जहाँ निर्मल ठौर होता है। जैसे श्वेत वस्त्र पर केशर का रङ्ग शीघ्र ही चढ़ जाता है और रङ्ग भी चटक होता है, तैसे ही शुद्ध अन्तःकरण में सन्तों के वचन शीघ्र ही प्रवेश करते हैं और शोभा पाते हैं। हे राजन्! जबतक अन्तःकरण

मलिन होता है तबतक चाहे जितना उपदेश कीजिये स्थित नहीं होता। जब भोग से वैराग्य होता है तब वासना कोई नहीं रहती केवल आत्मपद की इच्छा होती है और तभी स्वरूप का साक्षात्कार होता है। हे राजन्! अब तेरा सर्वत्याग सिद्ध हुआ है और अज्ञान नष्ट हुआ है, क्योंकि और उपाधि कोई नहीं रही। चित्त ही बड़ी उपाधि है, जब चित्त नष्ट हुआ तब कोई दुःख नहीं रहता। अब तू सुख से बिचर; तुझको दुःख शोक और भय कोई नहीं अब तू शान्तिपद को प्राप्त हुआ है। राजा ने पूछा, हे भगवन्! अज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध है और ज्ञानवान् को चित्त का सम्बन्ध नहीं होता। जो स्वरूप में स्थित है वह चित्त विना जीवन्मुक्तक्रिया में कैसे बर्तता है? कुम्भज बोले, हे राजन्! तू सत् कहता है कि ज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध नहीं। जैसे पत्थर की शिला में अंकुर नहीं उपजता तैसे ही ज्ञानी को चित्त का सम्बन्ध नहीं होता। हे राजन्! चित्त वासनारूप है और वासना जन्ममरण का कारण है पर जीवन्मुक्त की वासना नहीं रहती। ज्ञानवान् का चित्त सत्य पद को प्राप्त है और अज्ञानी चित्त में बन्धायमान है; इससे वह जन्मता भी है और मरता भी है। ज्ञानी का चित्त जो शान्ति में स्थित है इससे उसको न बन्ध है; न मोक्ष है और वह प्रारब्ध अनुसार भोग भोगता है और सर्वात्मा ही देखता है। यद्यपि इन्द्रियों से वह चेष्टा भी करता तौ भी सर्व ब्रह्म ही देखता है और क्रिया करने में इस अभिमान से रहित होता है कि मैं कर्ता हूँ और भोक्ता हूँ। अज्ञानी आपको कर्ता मानता है। और उसको संसार सत्य भासता है इससे संकल्प विकल्प कर्ता है। ज्ञानवान् को संसार की सत्यता नहीं भासती; वह आपको अकर्ता, अभोक्ता देखता है और अभिलाष से रहित चेष्टा करता है। जबतक चित्त का सम्बन्ध है तबतक जीव संसार को सत्य जानकर अपने में क्रिया देखता है पर जब चित्त ही नष्ट हो गया तब संसार और फुरना कहाँ रहे? हे राजन्! अब तूने चित्त का त्याग किया है इससे सर्वत्यागी हुआ है और आगे सर्वत्याग न किया था इससे तेरा अज्ञान न नष्ट हुआ था। अब तेरा अहंभाव दूर हुआ है। जब अज्ञान नष्ट हुआ तब अहंभाव भी न रहा। अहं के त्याग करने से सर्वत्याग

सिद्ध हुआ। आगे तूने राज्य का त्याग किया था, पर राज्य में तेरा कुछ न था; फिर तम का त्याग किया; फिर वन से आदि सर्व सामग्री का त्याग किया, पर अब तूने उसका त्याग किया जो त्यागने योग्य अहंभाव है—इससे सर्वत्याग हुआ। जो कुछ जानने योग्य है सो अब तूने जाना है और शान्तपद को प्राप्त हुआ है। हे राजन्! तू आत्मा सब दुःखों से रहित है। जैसे मन्दराचल पर्वत से रहित क्षीरसमुद्र शान्तपद को प्राप्त हुआ है तैसे ही अज्ञान से रहित तू शान्तपद को प्राप्त हुआ है। अब तू जागा है और चित्त का त्याग किया है इससे अद्वैत सर्वात्मा हुआ है। हे राजन्! जब दो अक्षर होते हैं तब उनकी संज्ञा नाना प्रकार की होती है—जैसे अमृत-विष; सुख-दुःख और धर्म-अधर्म। पर जो एक ही अक्षर होता है वह सबका आत्मा है; तैसे ही तेरा दूसरा अज्ञान नष्ट हुआ है और तू सत्यपद को प्राप्त हुआ शुद्ध निर्मल है। हे राजन्! जो ज्ञानवान् है उसने सम्यक्दृष्टि से चित्त का त्याग किया है और उसको कोई दुःख नहीं होता। तू उस पद को प्राप्त हुआ है जिसमें कोई दुःख नहीं और जहाँ स्वर्गादिक सुख भी तुच्छ हैं, क्योंकि स्वर्ग में भी अतिशय और क्षय होती है। अतिशय इसे कहते हैं कि जो बड़े पुण्यवाले किसी को आपसे ऊँचा देखते हैं तो चाहते हैं कि हम भी इसी के से हो जावें और क्षय इसे कहते हैं कि ऐसा न हो कि इन सुखों से गिरूँ। निदान स्वर्ग में दोनों प्रकार दुःख होता है पर तूने पुण्य पाप दोनों का त्याग किया है इससे सर्वत्यागी है। अज्ञानी जो पापी जीव हैं उनको स्वर्ग ही भला है। जैसे सुवर्ण का पात्र न पाइये तो पीतल का भी भला है तैसे ही सुवर्ण का पात्र जो ज्ञान है जबतक प्राप्त न हो तबतक पीतल के पात्र जो स्वर्गादिक हैं सो नरक से भले हैं; पर तुम जैसे को कुछ नहीं। आत्मा में सर्वपदार्थ की पूर्णता है और सर्वकी उत्पत्ति आत्मा से ही है। हे राजन्! वर्णाश्रम में क्या आस्था करनी है? जहाँ से इनकी उत्पत्ति है, जहाँ लीन होते हैं और मध्य में जिसके अज्ञान से दृष्टि आते हैं उसमें स्थित हो। हे राजन्! संकल्प विकल्प जो उठते हैं उनमें मत स्थित हो पर जिसमें ये उत्पन्न और लीन होते हैं उसमें स्थित हो। तपादिक

क्रिया से क्या सिद्ध होता है? जिससे तप आदिक सिद्ध होते हैं उसमें स्थित हो। बूँद में क्या स्थित होना है? जिस मेघ से बूँद उत्पन्न होते हैं उसमें स्थित होइये। हे राजन्! जैसे स्त्री भर्ता से कोई पदार्थ चाहे और आप न कहे तैसे ही तपादिक क्रिया से क्या सिद्ध होता है? जो उनसे आत्मपद की इच्छा करे तो प्राप्त नहीं हो सकता अपने आपसे पाता है। हे राजन्! आत्मा तेरा अपना आप है उससे सर्वसिद्धि होती है। जो वस्तु पीछे त्याग करनी हो उसको ज्ञानवान् प्रथम ही अङ्गीकार नहीं करता। जो कुछ तपादिक हैं उनको चित्त से क्या रचता है अपने आपको देख कि अनुभवरूप है और सर्वदा निरन्तर अपने आपमें स्थित है। जब तू अपने आपसे आपको देखेगा तब तपादिक क्रिया को दूर करके शोभा पावेगा। जैसे बादल के दूर हुए प्रकाशवान् चन्द्रमा शोभा पाता है तैसे ही तू भी भोग की चपलता को त्यागकर शोभा पावेगा। जब इन्द्रियों को जीतकर किसी पदार्थ में आसक्त न होगा और सर्ववासना का त्याग करेगा तब ज्ञानवान् होगा। जिसने सर्ववासना का त्याग किया है उसको विष्णु जानना; वह सर्वराज्य का स्वामी है और जिसने मन जीता है सो चेष्टा में भी ज्यों का त्यों रहता है और समाधि में भी ज्यों का त्यों है। जैसे पवन चलने और ठहरने में तुल्य है तैसे ही ज्ञानवान् को कहीं खेद नहीं होता। राजा ने पूछा, हे सर्व संशयों के नाशकर्ता! स्पन्द और निस्पन्द में ज्ञानी ज्यों का त्यों कैसे रहता है सो कृपा करके कहिये? कुम्भज बोले, हे राजन्! चैतन्यआकाश आकाश से भी निर्मल है, जब उसका साक्षात्कार होता है, तब जहाँ देखे तहाँ चैतन्य ही भासता है। जैसे समुद्र के जाने से तरङ्ग और बुद्बुदे सब जल ही भासते हैं तैसे ही चित्त विना आत्मा के देखे से फुरने में भी आत्मा ही दृष्टि आता है और जिसने आत्मा को नहीं जाना उसको नाना प्रकार का जगत् ही भासता है। जैसे जल के जाने विना तरङ्ग बुद्बुदे भिन्न भिन्न दृष्टि आते हैं और जल के जानने से तरङ्ग भी जलमय भासते हैं हे राजन्! सम्यक्दर्शी को जगदात्मास्वरूप है और असम्यक्दर्शी को जगत् है। इससे तू सम्यक्दर्शी होकर देख कि जगत् भी आत्मरूप है

सम्यक्दर्शन जैसे प्राप्त होता है सो भी श्रवण कर। सम्यक्दर्शन सन्त के संग करने और सत्शास्त्र के विचार से प्राप्त होता है। भावना करिये तब कितने काल में स्वरूप का साक्षात्कार होता है। काल की अपेक्षा भी दृढ़ विचार के निमित्त कही है। जब दृढ़ विचार होता है तब साक्षात्कार होता है और जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब स्पन्द और निस्पन्द में एक समान होता है। हे राजन्! जिसके समीप शहद है वह शहद के निमित्त पर्वत क्यों खोजे और दौड़े तैसे ही तेरे घर में ब्रह्मवेत्ता चुड़ाला थी उसको त्यागकर तूने वन में आ तप का आरम्भ किया इससे बड़ा कष्ट पाया परन्तु अब तू जागा है और तेरा दुःख नष्ट हुआ है अब तू शान्तपद को प्राप्त हुआ है। जैसे रस्सी के न जानने से सर्प भासता है और भली प्रकार जानने से रस्सी ही भासती है तैसे ही जिसने भली प्रकार निस्पन्द होकर अपना आप देखा है उसको फुरने में भी आत्मा ही भासता है जब मनकी चपलता मिटती है तब तुरीयातीत पद को प्राप्त होता है; जिस पद को वाणी नहीं कह सकती। हे राजन्! तू भी अब उसी पद को प्राप्त हुआ है जो मन और वाणी से रहित तुरीयातीतपद है वहाँ कोई क्षोभ नहीं केवल शान्तिपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजबोधवर्णनन्नामैकाशीतितमस्सर्गः ॥ ८१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब राजा को कुम्भज मुनि ऐसे उपदेश कर चुके; उसके उपरान्त बोले, हे राजन्! अब हम जाते हैं, क्योंकि स्वर्ग में ब्रह्माजी के पास नारद मुनि आये हैं वे यदि मुझे देवताओं की सभा में न देखेंगे तो क्रोध करेंगे। हे राजन्! जो कल्याणकृत पुरुष हैं वे बड़ों की प्रसन्नता लेते हैं। जो उपदेश तुझे किया है उसको भली प्रकार विचारना। सब शास्त्रों का सार यही है कि सम्पूर्ण वासना का त्याग करना और किसी में चित्त को बन्धवान् न करना। मेरे आने तक स्वरूप में स्थित रहकर किसी चेष्टा में न लगना और स्वरूप को भली प्रकार जानकर चाहे तैसे विचरना। ऐसे कहकर जब कुम्भज मुनि उठ खड़े हुए तब राजा ने अर्घ्य और फूल चढ़ाने के निमित्त हाथ में लिये पर जल

और फूल हाथ ही में रहे और कुम्भज मुनि अन्तर्धान हो गये। जब राजा ने कुम्भज मुनि को अपने आगे न देखा तब विचार करने लगा कि देखो ईश्वर की नीति जानी नहीं जाती कि नारद मुनि कहाँ था; उसका पुत्र कुम्भज कहाँ और मैं राजा शिखरध्वज कहाँ ? मालूम होता है नीति ही ने कुम्भज मुनि का रूप धारणकर मुझको जगाया है। कुम्भज बड़ा मुनि दृष्टि आया जिसने मुझे उपदेश करके जगाया है। अब मैं अज्ञानरूपी गढ़े से निकलकर स्वरूप को प्राप्त हुआ हूँ; मेरे संपूर्ण संशय नष्ट हुए हैं और मैं निर्दुःख पद में स्थित होकर अज्ञाननिद्रा से जागा हूँ—बड़ा आश्चर्य है। हे रामजी ! ऐसे कहकर राजा शिखरध्वज सम्पूर्ण इन्द्रियों, प्राण और मन को स्थित करके चेष्टा से रहित हुआ और जैसे शिला के ऊपर पुतली लिखी होती है और पर्वत का शिखर स्थित होता है तैसे ही स्थित हुआ। इधर चुड़ाला कुम्भजरूप शरीर का त्यागकर और अपना सुन्दररूप धारणकर उड़ी और आकाश को लाँघकर अपने नगर में आई। अन्तःपुर में जहाँ स्त्रियाँ रहती थीं प्रवेश करके मन्त्रियों को आज्ञा दी कि तुम अपने-अपने स्थान में स्थित हो और आप राजा के स्थान में स्थित होके भली प्रकार प्रजा की खबर लेने लगी। निदान तीन दिन रहकर फिर वहाँ से उड़ी और जहाँ वन में राजा था वहाँ आ पहुँची और कुम्भज का रूप धारकर देखा कि राजा समाधि में स्थित है इससे बहुत प्रसन्न हुई। हे रामजी ! ऐसे प्रसन्न होकर चुड़ाला ने विचार किया कि बड़ा सुख कार्य हुआ कि राजा ने स्वरूप में स्थिति पाई और शान्ति को प्राप्त हुआ। फिर यह विचारकर कि इसको जगाऊँ सिंह की नाईं गरजी और ऐसा शब्द किया कि उससे वन के पशु पक्षी सब डर गये परन्तु राजा न जगा। फिर उसे हाथ से हिलाया तौ भी राजा न जगा। जैसे मेघ के शब्द से पर्वत का शिखर चलायमान नहीं होता तैसे ही राजा चलायमान न हुआ और काष्ठ और पाषाण की नाईं स्थित रहा। तब रानी ने विचार किया कि कहीं राजा शरीर को त्याग न दे, पर फिर विचारा कि जो राजा ने शरीर का त्याग किया हो तौ मैं भी त्यागूँगी। हे रामजी ! चुड़ाला ने शरीर न त्यागा परन्तु आरम्

करने लगी कि राजा और मुझको इकट्ठा शरीर त्यागना है। फिर विचार करने लगी कि इसकी भविष्यत् क्या होनी है। तब राजा के नेत्रों पर हाथ लगाया और देह से देह का स्पर्श कर देखा कि राजा के शरीर में प्राण हैं। फिर भविष्यत् का विचार किया कि इसकी सत्त्व शेष रहती है इससे जीवन्मुक्त होकर राज्य में बिचरेगा। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! तुमने कहा कि राजा काष्ठ और पाषाण की नाईं स्थित हुआ और फिर कहा कि कुम्भज ने हाथ लगाकर देखा कि इसमें प्राण हैं तो कुम्भज ने क्योंकर जाना ? यह मुझको संशय है सो दूर करो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस शरीर में पुर्यष्टका होती है उसमें कान्ति होती है। हे रामजी ! अज्ञानी का चित्त रहता है और ज्ञानी का सत्त्व रहता है जो प्रारब्ध वेग से फुरता है और ब्रह्माकार वृत्ति फुरने से फिर शरीर पाता है। ज्ञानी इष्ट-अनिष्ट में एक समान रहता है और अज्ञानी एक समान नहीं रहता; वह इष्ट में प्रसन्न और अनिष्ट की प्राप्ति में शोकवान् होता है। हे रामजी ! ज्ञानी जब शरीर को त्यागता है तब ब्रह्मसमुद्र में स्थित होता है और जबतक सत्त्व शेष है तब तक फुरता है। अज्ञानी जब शरीर को त्यागता तब उसमें सूक्ष्म संसार होता है—जैसे बीज में वृक्ष, फूल और फल सूक्ष्मता से स्थित होता है सो काल पाकर फिर निकलता है। उसी प्रकार राजा का सत्त्व शेष रहता था उस कारण फिर फुरेगा। तब कुम्भजरूप चुड़ाला ने विचार किया कि इसके भीतर प्रवेश करके जगाऊँ और जो मैं न जगाऊँगी तौ भी नीति से इसमें जागना है। ऐसे विचारकर उसने अपने शरीर को त्यागा और चेतनता में स्थित हो, फुरने को लेकर उसमें प्रवेश किया और उसकी चेतनता का जो सत्त्व शेष था उसको फोड़ा और बड़ा क्षोभ किया। जब राजा वहाँ से हिला तब आप निकल आई और अपने शरीर में प्रवेश किया। जैसे पखेरू आकाश में उड़ता है और फिर आलय में आ प्रवेश करता है तैसे ही वह अपने शरीर में आन स्थित हुई और सामवेद का गायन मधुर स्वर से करने लगी। राजा यह सुनकर कि कोई सामवेद गाता है जागा और देखा कि कुम्भज मुनि बैठे हैं। इन्हें देखकर वह बहुत प्रसन्न हुआ और फूल और जल चढ़ाकर बोला, हे

भगवन्! मेरे बड़े भाग्य हैं–मैं आपका दर्शन करके बहुत प्रसन्न हुआ। हे भगवन्! कुलरूपी कुलाचल पर्वत है उसमें जो देहरूपी वृक्ष है सो अब फूला है और तुमने हमको पावन किया है। हे भगवन्! किसी की सामर्थ्य नहीं कि तुम जैसों के चित्त में प्रवेश करे। जिसमें सर्वदा आत्मा का निवास है उस चित्त में मेरी स्मृति हुई है कि आपका दर्शन किया। इससे मेरे बड़े भाग्य हैं। हे भगवन्! अमृतरूपी वचनों से तुमने प्रथम मुझे पवित्र किया था और अब जो स्मरण किया है सो मुझे पावन किया है। कुम्भज बोले, हे राजन्! तेरा दर्शन करके मैं भी बहुत प्रसन्न हुआ हूँ और तुम्हारी जैसी प्रीति मैंने आगे किसी में नहीं देखी। हे राजन्! तेरे निमित्त मैं स्वर्ग से आया हूँ। स्वर्ग के सुख मुझे भले न लगे और तू बहुत प्रियतम है इसी निमित्त मैं आया हूँ। अब मैं स्वर्ग को भी न जाऊँगा; तेरे ही पास रहूँगा। राजा बोले, हे भगवन्! जिस पर तुम जैसों की कृपा होती है उसको स्वर्ग आदिक सुख भले नहीं लगते तो तुम्हारी क्या बात है? यह वन है और यह झोंपड़ी है इसमें विश्राम करो; मेरे बड़े भाग्य हैं जो तुम्हारा चित्त यहाँ चाहता है। कुम्भज बोले, हे राजन्! अब तुझे शान्ति प्राप्त हुई है और संकल्परूप बीज नष्ट हुआ है। जैसे नदी के किनारे पर की बेलि जल के प्रवाह से मूलसमेत गिरती है तैसे ही तेरे संकल्पबीज नष्ट हुए हैं। अब तू यथाप्राप्ति में सन्तुष्ट है कि नहीं और हेयोपादेय से रहित हुआ है कि नहीं और जो पाने योग्य पद है सो पाया है कि नहीं; अपना अनुभव कह? राजा बोले, हे भगवन्! तुम्हारी कृपा से अब मैंने सबसे श्रेष्ठपद पाया है जहाँ संसारसीमा का अन्त है। अब मुझे उपदेश का अधिकार नहीं रहा, क्योंकि मेरे सम्पूर्ण संशय नष्ट हुए हैं और हेयोपादेय से रहित हूँ इससे सुखी विचरता हूँ। जो कुछ जानना योग्य था सो भी मैंने जाना है। अब मुझको कोई संशय नहीं रहा और मैं सब ठौर तृप्त, नित, प्राप्तरूप आत्मा अपने निर्मल स्वभाव में स्थित, सर्वात्मा और निर्विकल्प हूँ। मुझमें फुरना कोई नहीं; मैं शान्तरूप हूँ और चिरपर्यन्त सुखी हूँ। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार राजा और कुम्भज का तीन मुहूर्त संवाद हुआ फिर उसके

उपरान्त दोनों उठ खड़े हुए और चले। निकट एक तालाब था जहाँ बहुत कमलिनी लगी थीं वहाँ पहुँच दोनों ने स्नान करके गायत्री और सन्ध्या की और पूजा करके फिर वहाँ से चले और वन कुञ्जों में आये। तब कुम्भज ने कहा चलिये। राजा ने कहा भली बात है चलिये। निदान दोनों चले और बहुत नगरों, देशों, ग्रामों और तीर्थों को देखते नाना प्रकार के वनों में जो फूल और फलसंयुक्त थे और मरुस्थल में बिचरे। हे रामजी! ऐसे वे दोनों तीर्थ आदिक सात्त्विकी स्थानों, सुन्दर वन आदिक राजसी स्थानों और मरुस्थलादिक तामसी स्थानों में बिचरे पर हर्ष शोक को न प्राप्त हुए और समता में रहे। हे रामजी! कुम्भज के फिरने का यह प्रयोजन था कि देखें राजा शुभ अशुभ स्थानों को देखकर हर्ष शोक करेगा अथवा न करेगा पर राजा हर्ष शोक को न प्राप्त हुआ। फिर उन्होंने बड़े पर्वतों की कन्दरा, वन कुञ्ज और बड़े कष्ट के स्थान देखे और एक वन में जा रहे। कुछ काल में राजा और कुम्भज एक ही से होगये दोनों इकट्ठे स्नान करें; एकही से जाप जपें; एकसी पूजा करें और एक से दोनों सुहृद् हुए। किसी ठौर वे शरीर में माटी लगावें; किसी ठौर चन्दन का लेप करें; किसी ठौर शरीर में भस्म लगावें; किसी ठौर दिव्य वस्त्र पहिरें; किसी ठौर केले के पत्रों पर सोवें; किसी ठौर फूल की शय्या हो और किसी ठौर क्रूर स्थानों में शयन करें। हे रामजी! ऐसे शुभ अशुभ ठौरों में भी वे ज्यों के त्यों रहे और हर्ष शोक को न प्राप्त हुए। केवल शुद्ध सत्त्व में वे दोनों स्थित रहे और आत्मा के सिवाय और कुछ न फुरा। एकबेर रानी के मन में विचार हुआ कि यह मेरा भर्त्ता है मैं इसको भोगूँ, क्योंकि हमारी अवस्था है। जो भले कुल की स्त्री हैं वे भर्त्ता को प्रसन्न रखती हैं और राजा का शरीर भी देवता कासा हुआ है और स्थान भी शुभ है जबतक शरीर है तबतक शरीर के स्वभाव भी साथ हैं। फिर बिचार किया कि राजा की परीक्षा भी करूँ कि क्या कहे। इतना विचारकर कुम्भज ने कहा हे राजन्! अब हम स्वर्ग में जाते हैं, क्योंकि चैत्रशुक्ल एकम को ब्रह्माजी ने सृष्टि उत्पन्न की है; इसी दिन वर्ष के वर्ष उत्सव होता है और वहाँ नारदमुनि भी आवेंगे। मेरे

आने तक तुम ध्यान में रहना और जब ध्यान से उतरो तो फूलों को देखना। ऐसे कहकर उसने फूलों की मञ्जरी राजा को दी और राजा ने भी कुम्भज को फूल की मञ्जरी दी। जैसे नन्दनवन में स्त्री भर्त्तार के हाथ दे और भर्त्तार स्त्री के हाथ दे तैसे ही परस्पर दोनों ने दी। फिर कुम्भज आकाश को उड़ा और जैसे मेघ को मोर देखता है तैसे ही राजा देखता रहा। जहाँ तक राजा की दृष्टि पड़ती थी वहाँ तक रानी ने कुम्भज का शरीर रक्खा और जब दृष्टि से अगोचर हुई तब फूलों की माला जो गले में थी तोड़कर राजा के ऊपर डाल दी और चुड़ाला का शरीर धारणकर आकाश को लाँघ अपने अन्तःपुर में पहुँची। निदान राजा के स्थान पर बैठकर सबको अपने अपने स्थानों में स्थित किया और प्रजा की खबरें सुनकर फिर उड़ी। सूर्य की किरणों के मार्ग से मेघमण्डल को लाँघती हुई जहाँ राजा का स्थान था वहाँ आकर देखा कि राजा वियोग से शोकवान् है इसलिये आप भी कुम्भजरूप में दिलगीर राजा के आगे आई। राजा ने कहा, हे भगवन्! तुमको शोक कैसे हुआ है? ऐसा कौन कष्ट तुमको मार्ग में हुआ है? सब दुःखों का नष्ट करनेवाला ज्ञान है; जो तुम ऐसे ज्ञानवानों को शोक हो तो और की क्या बात कहनी है। हे मुनि! तुमको दुःख का कारण कोई नहीं, तुम क्यों शोकवान् होते हो और तुमको कौन अनिष्ट प्राप्त हुआ है? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन्! मुझे एक दुःख है सो कहता हूँ जो मित्र पूछे तो सत् ही कहा चाहिये और दुःख भी नष्ट होता है जैसे मेघ जड़ और श्याम होता है और उसका सज्जन जो है क्षेत्र और पृथ्वी तिसके ऊपर वह वर्षा करता है तो उसकी जड़ता और श्यामता नष्ट होती है—इससे मैं तुझसे कहता हूँ। हे राजन्! जबतक स्वर्ग में सभा स्थित थी तबतक मैं नारद के पास रहा और जब सभा उठी तब नारदमुनि भी उठे और मुझसे कहा कि जहाँ तेरी इच्छा हो तहाँ जा और मैं भी जाता हूँ—क्योंकि नारद एक ही ठौर में नहीं ठहरते विश्व में घूमते फिरते हैं। तब मैं आकाश को चला तो एक ठौर सूर्य से मिलाप हुआ और मेघ के मार्ग से तीक्ष्ण वेग से चला। जैसे नदी पर्वत से तीक्ष्ण वेग से आती है तैसे ही मैं तीक्ष्ण वेग से चला

आता था तो देखा कि दुर्वासा ऋषीश्वर महामेघ की नाईं श्यामवस्त्र पहिरे हुए और भूषणसंयुक्त जैसे बिजली का चमत्कार होता है उड़े आते हैं। भूषणों का चमत्कार देखकर मैंने दण्डवत् करके कहा, हे मुनीश्वर! तुमने क्या रूप धारा है जो स्त्रियों की नाईं भासता है? दुर्वासा ने तब रुष्ट होकर मुझसे कहा, हे ब्रह्मा के पौत्र! तू कैसा वचन कहता है? ऐसा वचन मुनीश्वर प्रति कहना उचित नहीं। हम क्षेत्र हैं; जैसा बीज क्षेत्र में बोइये तैसा उगता है; तूने मुझे स्त्री कहा है इससे तू भी स्त्री होगा और रात्रि को तेरे सब अंग स्त्री के होवेंगे। हे मुनीश्वर! जो कल्याणकृत ज्ञानवान् पुरुष हैं उनमें नम्रता होती है जैसे फल संयुक्त वृक्ष नम्र होता है तैसे ही ज्ञानी भी नम्र होता है—ऐसा वचन तुझे कहना न चाहिये। हे राजन्! ऐसे सुनकर मैं तेरे पास चला आया हूँ और मुझे लज्जा आती है कि स्त्री का शरीर धारे देवताओं के साथ मैं कैसे बिचरूँगा—यही मुझको शोक है राजा ने कहा, क्या हुआ जो दुर्वासा ने कहा और स्त्री का शरीर हुआ? तुम तो शरीर नहीं, निर्लेप आत्मा हो? हे मुनीश्वर! तुम अपनी समता में स्थित रहते हो। ज्ञानवान् पुरुष को हेयोपादेय किसी का नहीं रहता वह तो अपनी समता में स्थित रहता है? तब कुम्भज ने कहा, हे राजन्! तू सत्य कहता है। मुझे क्या दुःख है? जो शरीर का प्रारब्ध है सो होता है। यह ईश्वर की नीति है कि जबतक शरीर होता है तबतक शरीर के स्वभाव भी रहते हैं। शरीर का स्वभाव त्याग करना भी मूर्खता है। जिस स्थान में ज्ञान की प्राप्ति हो उसी चेष्टा में बिचरिये और इन्द्रियों का रोकना और मन से विषय की चिन्तना करना भी मूर्खता है। इन्द्रियों और देह की चेष्टा ज्ञानवान् भी करते हैं परन्तु उसमें बन्धवान् नहीं होते। इन्द्रियाँ विषय में बर्तती हैं। ईश्वर की आदि नीति इसी प्रकार है। हे राजन्! नीति का त्याग किसी से नहीं किया जाता—इससे नीति का क्यों त्याग करिये। यह नीति है कि जबतक शरीर है तबतक शरीर के स्वभाव भी होते हैं। जैसे जबतक तिल है तबतक तेल भी होता है तैसे ही जबतक शरीर है तबतक शरीर के स्वभाव भी होते हैं। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे देह और इन्द्रियों से चेष्टा भी करते हैं परन्तु बन्धाय-

मान नहीं होते और अज्ञानी बन्धायमान होते हैं चेष्टा ज्ञानी भी करते हैं अज्ञानी भी करते हैं। जैसे ब्रह्मा, विष्णु; रुद्र आदि जो ज्ञानवान् हैं वे सर्वचेष्टा भी करते हैं परन्तु बन्धायमान किसी में नहीं होते। हे राजन्! तैसे जो अनिच्छित आ प्राप्त हो और जिसको शास्त्र प्रमाण करें उसको भोगने में दूषण कुछ नहीं। राजा बोले, हे भगवन्। ज्ञानवान् को दूषण कुछ नहीं। जो सत्ता समान में स्थित है उसे दूषण कुछ नहीं होता। अज्ञानी शरीर के दुःख अपने में देखता है उससे दुःखी होता है और ज्ञानवान् शरीर के दुःख अपने में नहीं देखता। हे रामजी! ऐसे कहते सूर्य अस्त हुआ तब राजा और कुम्भज दोनों ने सायंकाल में सन्ध्या करके जाप किया और जब रात्रि हुई, तारागण निकले और सूर्यमुखी कमलों के मुख मूँद गये तब कुम्भज ने कहा, हे राजन्! देख कि मेरे शिर के बाल बढ़ते जाते हैं, वस्त्र भी टखने तक होगये हैं और स्तन भी स्त्री की नाईं हैं। निदान चुड़ाला महासुन्दर स्त्री लक्ष्मी की नाईं होगई और उसको देखकर राजा को एक मुहूर्त शोक रहा उसके उपरान्त सावधान होकर बोला, हे मुनि! क्या हुआ जो तेरा शरीर स्त्री का हुआ? तुम तो शरीर नहीं आत्मा हो—इससे शोक क्यों करते हो? तुम अपनी सत्ता समान में स्थित रहो जब रात्रि हुई तो रानी ने महा सुन्दररूप धर के फूलों की शय्या बिछाई और उस पर दोनों इकट्ठे सोये। हे रामजी! समस्त रात्रि उनको कोई फुरना न फुरा और सत्ता समान में दोनों स्थित रहे और मुख से कुछ न बोले। जब प्रातःकाल हुआ तब फिर रानी ने कुम्भज का शरीर धार कर स्नान किया और गायत्री से आदि जो कर्म हैं सो किये। इसी प्रकार चुड़ाला रात्रि को स्त्री बन जावे और दिन को कुम्भज पुरुष का शरीर धारे। जब कुछ काल ऐसे बीता तब दोनों वहाँ से चलकर सुमेरु पर्वत के ऊपर गये और मन्दराचल और अस्ताचल पर्वत आदि सब सुख दुःख के स्थानों को देखा पर एक दृष्टि को लिये रहे न कोई हर्षवान् हुआ और न शोकवान् ज्यों के त्यों रहे। जैसे पवन से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता तैसे ही शुभ अशुभ स्थानों में वे समान रहे।

इति श्रीयो० निर्वाण० शिखरध्वजस्त्रीप्राप्तिर्नाम द्व्यशीतितमस्सर्गः ८२॥

इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार बिचरते बिचरते वे मन्दराचल की कन्दरा में पहुँचे तो वहाँ कुम्भजरूप चुड़ाला ने राजा से परीक्षा के निमित्त कहा, हे राजन्! जब मैं रात्रि को स्त्री होती हूँ तब मुझे भर्ता के भोगने की इच्छा होती है, क्योंकि ईश्वर की नीति ऐसी ही है कि स्त्री को अवश्यमेव पुरुष चाहिए। जो उत्तम कुल का पुरुष होता है उसको कन्या विवाह करके पिता देता है अथवा जिसको स्त्री चाहे उसको आप देख ले—इससे, हे राजन्! मुझे तुझसे अधिक कोई नहीं दृष्टि आता। तूही मेरा भर्ता है और मैं तेरी स्त्री हूँ। तू मुझे अपनी भार्या जानकर जो कुछ स्त्री पुरुष चेष्टा करते हैं सो किया कर। मेरी अवस्था भी यौवन है और तू भी सुन्दर है। ज्ञानवान् अनिच्छित प्राप्त हुए का त्याग नहीं करते। यद्यपि तुझको इच्छा न हो तौ भी ईश्वर की नीति इसी प्रकार है उसके उल्लंघन से क्या सिद्ध होगा? जो अपने स्वरूपसत्ता में स्थित है उसको ग्रहण त्याग की कुछ इच्छा नहीं, परन्तु जो नीति है वह करनी चाहिये। राजा बोला, हे साधु! जो तेरी इच्छा है सो कर मुझको तो तीनों जगत् आकाशरूप भासते हैं। मुझे प्राप्त होने से कुछ सुख नहीं और अप्राप्ति में दुःख नहीं और न कुछ हर्ष शोक है। जो तेरी इच्छा हो सो कर। कुम्भज बोले, हे राजन्! आज ही पूर्णमासी का भला दिन है और मैंने आगे से लग्न भी गिन रक्खा है इससे मन्दराचल पर्वत की कन्दरा में बैठकर विवाह करो। निदान राजा और कुम्भज दोनों उठे और जो कुछ सामग्री शास्त्र की रीति से थीं वे इकट्ठी कर दोनों ने गङ्गा में स्नान किया। वस्त्र, फूल, फल आदि जो विवाह की सामग्री हैं सो कल्पवृक्ष से लेकर दोनों ने फल भोजन किये और सूर्य अस्त हुआ तो दोनों ने सन्ध्योपासनकर कुम्भज ने राजा को दिव्य वस्त्र और भूषण पहिनाये और शिर पर मुकुट रक्खा। फिर कुम्भज ने अपना शरीर त्यागकर स्त्री का शरीर धारण किया और राजा से बोला, हे राजन्! अब तू मुझे भूषण पहिरा। तब राजा ने संपूर्ण भूषण फूल और वस्त्र उसे पहिराये और वह पार्वती की नाईं सुन्दर बनी। तब चुड़ाला ने कहा, हे राजन्! मैं अब तेरी स्त्री हूँ और मेरा नाम मदनिका है और

तू मेरा भर्त्ता है–मुझे तू कामदेव से भी सुन्दर भासता है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसी प्रकार चुड़ाला ने बहुत कुछ कहा तौ भी राजा का चित्त हर्ष को न प्राप्त हुआ और विराग से शोकवान् भी न हुआ–ज्यों का त्यों रहा। उसके उपरान्त जब विवाह का आरम्भ हुआ तो चन्दन आदि और पास सुवर्ण के कलश रखके देवताओं का पूजन किया और जो शास्त्र की विधि थी वह संपूर्ण करके मङ्गल किया। फिर रानी ने यह संकल्प किया कि संपूर्ण ज्ञाननिष्ठा तुझे दी और राजा ने संकल्प किया कि सम्पूर्ण ज्ञाननिष्ठा तुझे दी। जब रात्रि एक प्रहर रही तब राजा और रानी ने फूलों की शय्या बिछाके शयन की और आपस में चरचा ही करते रहे मैथुन कुछ न किया प्रातःकाल हुए कुम्भज ने स्त्री का शरीर त्यागकर कुम्भज का शरीर धारा और स्नान संध्यादिक कर्म किये। हे रामजी! इसी प्रकार एक मास पर्यन्त मन्दराचल पर्वत में वे रहे। रात्रि को रानी स्त्री का शरीर धरे और दिन को कुम्भज का शरीर धरे और जब तीसरा दिन हो तब राजा को शयन कराके राज्य की सुधि ले और फिर आकर राजा के पास शयन करे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विवाहलीलावर्णनं
नाम त्र्यशीतितमस्सर्गः ॥ ८३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब वहाँ से वे चले तो अस्ताचल पर्वत में जाय रहे और उदयाचल, सुमेरु, कैलास इत्यादिक पर्वतों और कन्दरों और वनों में रहे। कहीं एक मास, कहीं दश मास, कहीं पाँच दिन, कहीं सप्तदिन रहे। इसी तरह जब एक वन में आये तब रानी ने विचार किया कि इतने स्थान राजा को दिखाये तौ भी इसका चित्त किसी में बन्धवान् नहीं हुआ, इससे अब और परीक्षा लूँ। ऐसे विचारकर उसने अपनी ऐसी माया फैलाई कि तेंतीस कोटि देवता संयुक्त इन्द्र के आगे किन्नर, गन्धर्व, सिद्ध और अप्सरा नृत्य करती आईं। सर्वसामग्री संयुक्त इन्द्र को देखकर राजा उठा और बहुत प्रीति संयुक्त उसकी पूजा करके बोला, हे त्रैलोक्य के पति! तुम किसलिये वन में आये हो सो कहो? इन्द्र ने कहा, हे राजन्! जैसे पक्षी ऊर्ध्व में उड़ता है और उसकी पेटी में तागा होता है उससे उड़ता हुआ भी नीचे आता है, तैसे ही हम ऊर्ध्व के वासी तेरे तप और शुभ लक्षणों के तागेरूपी गुणों को श्रवण करके स्वर्ग से खैंचे चले आते हैं–इस प्रकार हमारा आना हुआ है। इससे हे राजन्! तू स्वर्ग को चल और स्वर्ग में स्थित होकर दिव्य भोगों को भोग। ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हो अथवा उच्चैःश्रवा घोड़ा जो क्षीरसमुद्र के मथन से निकला है उसपर आरूढ़ होकर चल। अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ सिद्धियाँ भी विद्यमान हैं जो इच्छा हो सो लो और स्वर्ग में चलो। हे राजन्! तुम तत्त्ववेत्ता हो, तुमको ग्रहण त्याग करना कुछ नहीं रहा परन्तु जो अनिच्छित प्राप्त हो उसका त्याग करना योग्य नहीं–इससे स्वर्ग में चलो। राजा बोले, हे देवराज! जाना तहाँ होता है जहाँ आगे न हुआ हो और जहाँ आगे ही हो वहाँ कैसे जावे? हे देवराज! हमको सब स्वर्ग ही दृष्टि आता है। जो वहाँ स्वर्ग हो और यहाँ न हो तो जाना भी उचित है परन्तु जहाँ हम बैठे हैं वहाँ ही स्वर्ग भासता है; इससे हम कहाँ जावें? हमको तीनों लोक स्वर्ग दृष्टि आते हैं और सदा स्वर्गरूप जो आत्मा है हम उसी में स्थित हैं। हमको सर्वथा स्वर्ग भासता है और हम सदा तृप्त और आनन्दरूप हैं। इन्द्र बोले, हे राजन्! जो विदित वेद पूर्णबोध हैं वे भी यथाप्राप्त भोगों को सेवते हैं तो तुम क्यों नहीं सेवते? ऐसे जब इन्द्र ने कहा तब राजा त्यों ही कहकर चुप हो गया। फिर इन्द्र ने कहा भला जो तुम नहीं आते तो हमहीं जाते हैं। तुम्हारा और कुम्भज का कल्याण हो। हे रामजी! ऐसे कहकर इन्द्र उठ खड़ा हुआ और चला पर जबतक दृष्टि आता था तब तक देवता भी साथ दीखते थे फिर जब दृष्टि से अगोचर हुए तब अन्तर्धान हो गये। जैसे समुद्र से तरङ्ग उठकर फिर लीन हो जाते हैं और जाना नहीं जाता कि कहाँ गये; तैसे ही इन्द्र अन्तर्धान हो गया। वह इन्द्र कुम्भजरूप चुड़ाला के संकल्प से उठा था जब संकल्प लीन हुआ तब अन्तर्धान हो गया और चुड़ाला ने देखा कि ऐसे ऐश्वर्य, सिद्धि और अप्सराओं के प्राप्त भये भी राजा का चित्त समता में रहा और किसी पदार्थ में बन्धवान् न हुआ।

तिश्रीयो० नि० मायाशक्रागमनवर्णनं नाम चतुरशीतितमस्सर्गः ८४॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब चुड़ाला इन्द्र का छल कर चुकी तब विचारने लगी कि ऐसा चरित्र मैंने राजा के मोहने के निमित्त किया तौ भी राजा किसी में बन्धायमान न हुआ और ज्यों का त्यों ही रहा। बड़ा कल्याण हुआ कि राजा सत्तासमान में स्थित रहा—इससे बड़ा आनन्द हुआ। अब और चरित्र करूँ जिसमें इसको क्रोध और खेद दोनों हों। ऐसे विचारकर राजा की परीक्षा के निमित्त उसने यह चरित्र किया कि जब सायंकाल का समय हुआ तब गङ्गा के किनारे राजा संध्या करने लगा और कुम्भज वन में रहा और उसमें संकल्प का मन्दिर रचा। जैसे देवताओं की रचना होती है तैसे ही मन्दिर के पास फूलों की एक बाड़ी लगाई और उसमें कल्पवृक्ष आदि नाना प्रकार के फूल फल संयुक्त वृक्ष रचे। एवम् संकल्प की शय्या रचकर एक संकल्प का महासुन्दर पुरुष रचा और उसके साथ अङ्ग से अङ्ग लगा और गले में फूलों की माला डाल कामचेष्टा करने लगी। जब राजा सन्ध्या कर चुका तौ रानी को देखने लगा पर वह दृष्टि न आई; निदान ढूँढ़ते ढूँढ़ते उस मन्दिर के निकट आया तो क्या देखा कि एक कामी पुरुष के साथ मदनिका सोई हुई है और दोनों कामचेष्टा करते हैं। तब राजा ने विचारा कि भले आराम से दोनों सो रहे हैं इनके आनन्द में विघ्न क्यों कीजिये। हे रामजी! इस प्रकार राजा ने अपनी स्त्री को देखा तौ भी शोकवान् न हुआ और क्रोध भी न किया ज्यों का त्यों शान्तपद में स्थित रहा। मन्दिर के बाहर निकलके वहाँ एक सुवर्ण की शिला पड़ी थी उस पर आन बैठा और आधे नेत्र मूँद कर समाधि में स्थित हुआ। दो घड़ी के उपरान्त मदनिका कामी पुरुष को त्यागकर बाहर आई और राजा के निकट आकार अङ्गों को नग्न किया और फिर वस्त्रों से ढाँपा जैसे और स्त्रियाँ काम से व्याकुल होती हैं तैसे ही चुड़ाला को देखकर राजा ने कहा, हे मदनिका! तू ऐसे सुख को त्यागकर क्यों आई है? तू तो बड़े आनन्द में मग्न थी अब वहीं फिर जा। मुझे तो हर्ष शोक कुछ नहीं मैं ज्यों का त्यों हूँ परन्तु तेरी और कामी पुरुष की प्रीति परस्पर देखी है जगत् में परस्पर ऐसी प्रीति नहीं होती है इससे तू उसको सुख दे वह तुझे सुख दे। तब मदनिका लज्जा से शिर को नीचे करके बोली, हे भगवन्! क्षमा करो; मुझ पर क्रोध मत करो, मुझसे बड़ी अवज्ञा हुई है परन्तु मैंने जानके नहीं की जैसे वृत्तान्त है सो सुनो। जब तुम सन्ध्या करने लगे तब मैं वन में आई तो वहाँ एक कामी पुरुष का मिलाप हुआ, मैं निर्बल थी और वह बली था उसने पकड़कर मुझे गोद में बैठाया और जो कुछ भावना थी सो किया। मैंने जो पतिव्रता स्त्री की मर्यादा थी उसके अनुसार उस पर क्रोध किया और उसका निरादर किया और पुकार भी की—ये तीनों पतिव्रता की मर्यादा हैं सो मैंने कीं—परन्तु तुम दूर थे और वह बली था मुझे पकड़ और गोद में बैठाकर जो कुछ भावना थी वह किया। हे भगवन्! मुझमें कुछ दूषण नहीं, इससे तुम क्षमा करके क्रोध न करो। राजा बोले, हे मदनिका! मुझे कदाचित् क्रोध नहीं होता। आत्मा ही दृष्ट आता है तो क्रोध किस पर करूँ? मुझे न कुछ ग्रहण है और न त्याग है तथापि यह कर्म साधुओं से निन्दित है, इससे मैंने अब तेरा त्याग किया है सुख से बिचरूँगा। हमारा गुरु जो कुम्भज है वह हमारे पास ही है; वह और हम सदा निरागरूप हैं और तू तो दुर्वासा के शाप से उपजी है तुझसे हमारा क्या प्रयोजन है, तू अब उसी के पास जा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मायापिञ्जरवर्णनं नाम
पञ्चाशीतितमस्सर्गः ॥ ८५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तब मदनिका नाम चुड़ाला ने विचार किया कि बड़ा कार्य हुआ जो राजा आत्मपद को प्राप्त हुआ। ऐसी सिद्धि और ऐश्वर्य देखे और क्रूर स्थान भी दिखाये तौ भी राजा शुभ अशुभ में ज्यों का त्यों रहा। इससे बड़ा कल्याण हुआ कि राजा को शान्ति प्राप्त हुई और रागद्वेष से रहित हुआ। अब मैं इसे अपना पूर्वरूप चुड़ाला का दिखाऊँ और सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा को जताऊँ। ऐसे विचार कर जब मदनिका शरीर से चुड़ालारूप भूषण और वस्त्रसहित प्रकट हुई तब राजा उसे देखकर महाआश्चर्य को प्राप्त हुआ और ध्यान में स्थित होकर देखा कि यह चुड़ाला कहाँ से आई है। फिर पूछा, हे देवि! तू कहाँ से आई है? तुझे देखकर तो मैं आश्चर्य को प्राप्त हुआ हूँ क्योंकि

ऐसी मेरी स्त्री चुड़ाला थी। तू यहाँ किस निमित्त आई है और कबकी आई है? चुड़ाला बोली, हे भगवन्! मैं तेरी स्त्री चुड़ाला हूँ और तू मेरा स्वामी है। हे राजन्! कुम्भज से आदि इस चुड़ाला शरीरपर्यन्त सब चरित्र मैंने तेरे जगाने के निमित्त किये हैं। तू ध्यान में स्थित होकर देख कि ये चरित्र किसने किये हैं? मैंने अब पूर्व का चुड़ाला का शरीर धारा है। हे रामजी! जब ऐसे चुड़ाला ने कहा तब राजा ध्यान में स्थित होकर देखने लगा और एक मुहूर्तपर्यन्त स्थित रहकर सब वृत्तान्त देख लिया। उसके उपरान्त राजा ने आश्चर्य को प्राप्त होकर नेत्र खोले और रानी को कण्ठ से लगाकर मिला। निदान दोनों ऐसे हर्ष को प्राप्त हुए जो सहस्र वर्षपर्यन्त शेषनाग उस सुख को वर्णन करें तौ भी न कह सकेंगे। वे ऐसे सत्तासमान में स्थित होकर शान्ति को प्राप्त हुए जिसमें क्षोभ कदाचित् नहीं। राजा और रानी दोनों कण्ठ लगके मिले थे इससे अङ्गों में उष्णता उपजी थी इस कारण शनैः शनैः करके उन्होंने अंग खोले और हर्षवान् होकर राजा की रोमावलि खड़ी हो आई और नेत्रों से जल चलने लगा। ऐसी अवस्था से राजा बोला, हे देवि! मुझपर तूने बड़ा अनुग्रह किया है। तेरी स्तुति मैं नहीं कर सकता। जो कुछ संसार के पदार्थ हैं वे सब मायामय और मिथ्या हैं। तूने मुझे सत्पद को प्राप्त किया है इससे मैं तेरी क्या प्रशंसा करूँ। हे देवि! मैंने अब जाना है कि मैंने राज्य का त्याग किया है और इस चुड़ाला के शरीरपर्यन्त सब तेरे ही चरित्र हैं। तूने मेरे वास्ते बड़े कष्ट सहे और बड़े यत्न किये। आना और जाना, शरीर का स्वांग धारना और उड़ना इत्यादिक तूने बड़ा कष्ट पाया है और बड़े यत्न से मुझे संसारसमुद्र से पारकरके बड़ा उपकार किया। तू धन्य है और जितनी देवियाँ अरुन्धती, ब्रह्माणी, इन्द्राणी, पार्वती, सरस्वती और श्रेष्ठकुल की कन्या और पतिव्रता हैं उन सबसे तू श्रेष्ठ है। जिस पुरुष को पतिव्रता प्राप्त होती है उसके सब कार्य सिद्ध होकर बुद्धि, शान्ति, दया, शक्ति, कोमलता और मैत्री प्राप्त होती है। हे देवि! मैं तेरे प्रसाद से शान्तपद को प्राप्त भया हूँ। अब मुझे कोई क्षोभ नहीं और ऐसा पद शास्त्रों और तप से भी नहीं मिलता। चुड़ाला बोली, हे राजन्! तू काहे को मेरी स्तुति करता है मैंने तो अपना कार्य किया है। हे राजन्! तू राज्य का त्यागकर वन में मोह अर्थात् अज्ञान को साथ ही लिये आया था इससे नीच स्थान में पड़ा। जैसे कोई गङ्गाजल त्यागकर कीचड़ के जल का अङ्गीकार करे तैसे ही तूने आत्मज्ञान और अक्रियपद का त्यागकर तप को अङ्गीकार किया था। जब मैंने देखा कि तू कीचड़ में गिरा है तो मैंने तेरे निकालने के लिये इतने यत्न किये हैं। हे राजन्! मैंने अपना कार्य किया है। राजा बोले, हे देवि! मेरा यही आशीर्वाद है कि जो कोई पतिव्रता स्त्री हों वे सब ऐसे कार्य करें जैसे तूने किये हैं। जो पतिव्रता स्त्री से कार्य होता है वह और से नहीं होता। हे देवि! अरुन्धती आदि जितनी पतिव्रता स्त्रियाँ हैं उनमें तू प्रथम गिनी जायगी। मैं जानता हूँ कि ब्रह्माजी ने क्रोधकर तुझे इस निमित्त उपजाया है कि अरुन्धती आदि देवियों ने जो गर्व किया होगा उस गर्व को मिटावें। इससे, हे देवि! तू धन्य है। तूने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है। हे देवि! तू फिर मेरे अङ्ग से लग। तूने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है। हे रामजी! ऐसे कहकर राजा ने रानी को फिर कण्ठ लगाया। जैसे नेवला और नेवली मिलें और मूर्ति की नाईं लिखे हों। चुड़ाला बोली, हे भगवन्! एक तो मुझसे यह कह कि ज्ञानरूप आत्मा के एक अंश में जगत् लीन हो जाते हैं; ऐसा तू है सो आपको अब क्या जानता है? अब तू कहाँ स्थित है? राज्य तुझे कुछ दिखाई देता है वा नहीं और अब तुझे क्या इच्छा है? शिखरध्वज बोले, हे देवि! जो स्वरूप तूने ज्ञान से निश्चय किया है वही मैं आपको जानता हूँ और शान्तरूप हूँ। इच्छा अनिच्छा मुझको कोई नहीं रही—केवल शान्तरूप हूँ। हे देवि! जिस पद की अपेक्षा करके ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की मूर्तियाँ भी शोकसंयुक्त भासती हैं उस पद को मैं प्राप्त भया हूँ; जहाँ कोई उत्थान नहीं; जो निष्किंचन है और जिसमें किंचिन्मात्र भी जगत् नहीं। मैं जो था वही हुआ हूँ, इससे और क्या कहूँ। हे देवि! तूने संसारसमुद्र से मुझे पार किया है इससे तू मेरी गुरु है। ऐमे कहकर राजा

चुड़ाला के चरणों पर गिर पड़ा और बोला मुझे अज्ञान कदाचित् स्पर्श न करेगा। जैसे ताँबा पारस के संग से सुवर्ण होकर फिर ताँबा नहीं होता, तैसे ही मैं तेरे प्रसाद से मोहरूपी कीचड़ से निकला हूँ और फिर कदाचित् न गिरूँगा। अब मैं इस जगत् के सुख दुःख से तुष्ट हुआ ज्यों का त्यों स्थित हूँ और राग द्वेष के उठानेवाला चित्त मेरा नष्ट हो गया है। अब मैं प्रकाशरूप अपने आपमें स्थित हूँ। जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और जल के नष्ट हुए प्रतिबिम्ब भी सूर्यरूप होता है, तैसे ही मेरा चित्त भी आत्मरूप हुआ है। अब मैं निर्वाणपद को प्राप्त हो सबसे अतीत हुआ हूँ और सबमें स्थित हूँ। जैसे आकाश सब पदार्थों में स्थित है और सब पदार्थों से अतीत है, तैसे ही मैं भी हूँ। 'अहं' 'त्वं' आदिक शब्द मेरे नष्ट हुए हैं और मैं शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। अब मुझमें ऐसा तैसा शब्द कोई नहीं। मैं अद्वैत और चिन्मात्र हूँ और न सूक्ष्म हूँ; न स्थूल हूँ। चुड़ाला बोली, हे राजन्! जो तू ऐसे स्थित हुआ है तो तू अब क्या करेगा और अब तुझे क्या इच्छा है? राजा बोले हे देवि! न मुझे कुछ अङ्गीकार करने की इच्छा है और न त्याग करने की इच्छा है, जो कुछ तू कहेगी सो करूँगा। तेरे कहने को अङ्गीकार करूँगा और जैसे मणि प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है तैसे ही मैं तेरे वचनों को ग्रहण करूँगा। चुड़ाला बोली, हे प्राणपति, हृदय के प्रियतम राजा! अब तू विष्णु हुआ है। यह बड़ा उत्तम कार्य हुआ है कि तेरी इच्छा नष्ट हुई है। हे राजन्! अब उचित है कि तू और हम मोह से रहित होकर अपने प्राकृत आचार में बिचरें। अखेद जीवन्मुक्त होकर अपने प्राकृत आचार को क्यों त्यागें। हे राजन्! जो अपने आचार को त्यागेंगे तो और किसी को ग्रहण करेंगे। इससे हम अपने ही आचार में बिचरते हैं और भोग मोक्ष दोनों को भोगते हैं। हे रामजी! ऐसे परस्पर विचार करते दिन व्यतीत हुआ और सायंकाल की सन्ध्या राजा ने की। फिर शय्या का आरम्भ किया उस पर दोनों सोये और रात्रिभर परस्पर चर्चा ही करते एकक्षण की नाईं रात्रि बिताई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे षडशीतितमस्सर्गः॥ ८६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब ऐसे रात्रि व्यतीत होकर सूर्य की किरणें फैलीं और सूर्यमुखी कमल खिल आये तब राजा ने स्नान का आरम्भ किया और चुड़ाला ने मन के संकल्प से रत्नों की मटकी रच हाथ में ली और उसमें गङ्गादिक सम्पूर्ण तीर्थों का जल डाला और राजा को स्नान कराके शुद्ध किया तब राजा ने संध्यादिक सब कर्म किये। तब चुड़ाला ने कहा, हे राजन्! मोह को नाश करके सुख से ही अपने राज्य कार्य करने चाहिये कि जिससे सुख भोगें। राजा बोले, हे देवि! जो तुझे सुख भोगने की इच्छा हो तो स्वर्ग में भी हमारा राज्य है और सिद्धलोक में भी हमारा राज्य है इससे स्वर्ग में बिचरें? चुड़ाला बोली, हे राजन्! हमको न सुख भोगने की इच्छा है, न त्यागने की इच्छा है; हम तो ज्यों के त्यों हैं। इच्छा और अनिच्छा तब होती है जब आगे कुछ पदार्थ भासता है पर हमको तो केवल आत्मा दृष्टि आता है; स्वर्ग कहाँ और नरक कहाँ—हम सर्वदा एकरस स्थित हैं। हे राजन्! यद्यपि हमको कुछ भेद नहीं तो भी जबतक शरीर का प्रारब्ध है तब तक शरीर रहता है इससे चेष्टा भी होनी चाहिये और की चेष्टा करने से अपने प्राकृत आचार को क्यों न कीजिये कि रागद्वेष से रहित होकर अपने राज्य को भोगें? इससे अब उठो और अष्टवसु के तेज को धारकर राज्य करने को सावधान हो। राजा ने कहा बहुत अच्छा और अष्टवसु के तेजसंयुक्त हो बोला, हे देवि! तू मेरी पटरानी है और मैं तेरा भर्ता हूँ तौ भी तू और मैं एक ही हूँ। राज्य तब होता है जब सेना भी हो इससे सेना भी रच। इतना सुन चुड़ाला ने सम्पूर्ण सेना और हाथी, घोड़े, रथ, नौबत, नगारे, निशान इत्यादिक राज्य की सामग्री रची और सब प्रत्यक्ष आगे आन स्थित हुईं। नौबत, नगारे, तुरियाँ और सहनाई बजने लगीं और जो कुछ राज्य की सामग्री है वे अपने अपने स्थान में स्थित हुईं। राजा के शिर पर छत्र फिरने लगा और राजा और रानी हाथी पर आरूढ़ होकर मन्दराचल पर्वत के ऊपर चले और आगे पीछे सब सेना हुई। राजा ने जिस जिस ठौर पर तप किया था सो रानी को दिखाता गया कि इस स्थान में मैं इतने काल रहा हूँ; इसमें इतना रहा हूँ। ऐसे

दिखाते दिखाते तीक्ष्ण वेग से चले। मन्त्री, पुरवासी और नगरवासी राजा को लेने आये और बड़े आदर संयुक्त पूजन किया। इस प्रकार दोनों अपने मन्दिर पहुँचे और आठ दिन तक राजा से लोकपाल और मण्डलेश्वर मिलने को आते रहे। इसके उपरान्त राजसिंहासन पर बैठकर दोनों राज्य करने लगे और समदृष्टि को लिये दशसहस्र वर्ष तक राज्य किया। फिर चुड़ाला संयुक्त जीवन्मुक्त होकर बिचरे और दोनों विदेहमुक्त हुए। हे रामजी! दशसहस्र वर्षपर्यन्त राजा और चुड़ाला ने राज्य किया और दोनों सत्तासमान में स्थित रहे। किसी पदार्थ में वे रागवान् न हुए और किसी से द्वेष भी न किया ज्यों के त्यों शान्तपद में स्थित रहे। जितनी राज्य की चेष्टा हैं सो करते रहे परन्तु अन्तर से किसी में बन्धवान् न हुए—केवल आत्मपद में अचल रहे। फिर राजा और चुड़ाला विदेहमुक्त हुए—जैसे आपको जानते थे उसी के बल परमाकाश अक्षोभपद में जाय स्थित हुए और जैसे तेल विना दीपक निर्वाण होता है तैसे ही प्रारब्धवेग के क्षय हुए निर्वाणपद में प्राप्त हुए। हे रामजी! जैसे शिखरध्वज और चुड़ाला जीवन्मुक्त होकर भोगों को भोगते बिचरे हैं तैसे ही तुम भी रागद्वेष से रहित होकर बिचरो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिखरध्वजचुड़ालाख्यान-
समाप्तिर्नाम सप्ताशीतितमस्सर्गः ॥ ८७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शिखरध्वज का सम्पूर्ण वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा; ऐसी दृष्टि का आश्रय करो जो पाप को नाश करती है और उस दृष्टि के आश्रय से जिस मार्ग के द्वारा शिखरध्वज तत्पद को प्राप्त हुआ और जीवन्मुक्त होकर राज्य व्यवहार करता रहा तैसे ही तुम भी तत्पद का आश्रय करो और उसी के परायण हो आत्मपद को पाकर भोग और मोक्ष दोनों भोगो। इसी प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच भी बोधवान् हुआ है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जिस प्रकार बृहस्पति का पुत्र कच बोधवान् हुआ है सो भी संक्षेप से कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! कच बालक जब अज्ञात अवस्था को त्यागकर पद पदार्थ को जानने लगा तब उसने अपने पिता बृहस्पति से प्रश्न किया कि हे पितः! इस संसारपिंजरे

मैं कैसे निकलूँ? जितना संसार है वह जीवत्व से बाँधा हुआ है—जीवत्व अनात्मदेहादिकों में मिथ्या अभिमान करने को कहते हैं जिसमें 'अहं' 'त्वं' माना जाता है उस संसार से कैसे मुक्त होऊँ? बृहस्पति बोले, हे तात! इस अनर्थरूप संसार से जीव तब मुक्त होता है जब सबका त्याग करता है। सर्वत्याग किये विना मुक्ति नहीं होती; इससे तू सर्व त्याग कर कि मुक्त हो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार बृहस्पति ने कहा तब कच ऐसे पावन वचनों को सुन ऐश्वर्य का त्यागकर वन को गया और एक कन्दरा में स्थित होकर तप करने लगा। हे रामजी! बृहस्पति को कच के जाने से कुछ खेद न हुआ, क्योंकि ज्ञानवान् पुरुष संयोग वियोग में समभाव रहते हैं और हर्ष शोक को कदाचित् प्राप्त नहीं होते। जब आठ वर्ष पर्यन्त उसने तप किया तब बृहस्पति ने जाकर देखा कि कच एक कन्दरा में बैठा है तब वह कच के पास आन स्थित हुआ और कच ने पिता का पूजन गुरु की नाईं किया। बृहस्पति ने कच को कण्ठ लगाया और कच ने गद्गदवाणी सहित प्रश्न किया; हे पितः! आठ वर्ष बीते हैं कि मैंने सर्वत्याग किया है तौ भी शान्ति को नहीं प्राप्त हुआ? जिससे मुझे शान्ति हो सो कहो। बृहस्पति ने कहा, हे तात! सर्वत्यागकर कि तुझे शान्ति हो। ऐसे कहकर बृहस्पति उठ खड़ा हुआ और आकाश को चला गया। हे रामजी! जब ऐसे बृहस्पति कहकर चला गया तब कच आसन और मृगछाला को त्यागकर और वन को चला और एक कन्दरा में जाकर स्थित हुआ। तीन वर्ष वहाँ व्यतीत हुए तो फिर बृहस्पति आये और देखा कि कच स्थित है। तब कच ने भली प्रकार गुरु की नाईं उनका पूजन किया और बृहस्पति ने कच को कण्ठ लगाया। तब कच ने कहा, हे पितः! अब तक मुझे शान्ति नहीं हुई और मैंने सर्वत्याग भी किया, क्योंकि अपने पास कुछ नहीं रक्खा। इससे जिस करके मेरा कल्याण हो वही कहो। बृहस्पति ने कहा, हे तात! अब भी सर्वत्याग नहीं हुआ; सबके कारणप्रद चित्त का जब त्याग करेगा तब सर्वत्याग होगा; इससे चित्त का त्याग कर। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ऐसे कहकर जब बृहस्पति आकाश

को चले गये तब कच विचारने लगा कि पिता ने सर्वपद चित्त को कहा है सो चित्त क्या है। प्रथम वन के पदार्थों को देखकर विचारने लगा कि यह चित्त है; फिर देखा कि यह भिन्न-भिन्न है इससे यह चित्त नहीं और नेत्र भी चित्त नहीं, क्योंकि नेत्र श्रवण नहीं और श्रवण नेत्रों से भिन्न हैं और श्रवण भी चित्त नहीं। इसी प्रकार सर्व इन्द्रियाँ चित्त नहीं, क्योंकि एक में दूसरे का अभाव है इससे चित्त क्या है जिसको जानकर त्याग करूँ। फिर विचार किया कि पिता के पास स्वर्ग में जाऊँ। हे रामजी! ऐसे विचारकर उठ खड़ा हुआ और दिगम्बर आकार से आकाश को चला। जब पिता के पास पहुँचा तब पिता का पूजन करके बोला, हे तेंतीसकोटि देवताओं के गुरु! चित्त का रूप क्या है? उसका रूप कहिये कि मैं उसका त्याग करूँ। बृहस्पति बोले, हे पुत्र! चित्त अहंकार का नाम है। वह अज्ञान से उपजा है और आत्मज्ञान से इसका नाश होता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है और रस्सी के जानने से सर्पभ्रम नष्ट हो जाता है। इससे अहंभाव का त्यागकर और स्वरूप में स्थित हो। कच बोले, हे पितः! अहंभाव का त्याग कैसे करूँ? 'अहं' तो मैं ही हूँ फिर अपना त्याग करके स्थित कैसे होऊँ। इसका त्याग करना तो महाकठिन है। बृहस्पति बोले, हे तात! अहंकार का त्याग करना तो महासुगम है। फूल के मलने में और नेत्रों के खोलने और मूँदने में भी कुछ यत्न है परन्तु अहंकार के त्यागने में कुछ यत्न नहीं! हे पुत्र! अहंकार कुछ वस्तु नहीं; भ्रम से उठा है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पता है; रस्सी में सर्प भासता है; मरुस्थल में जल की कल्पना होती है और आकाश में भ्रम से दो चन्द्रमा भासते हैं; तैसे ही परिच्छिन्न अहंकार अपने प्रमाद से उपजा है। आत्मा शुद्ध आकाश से भी निर्मल है और देशकाल वस्तु के परिच्छेद से रहित सत्ता सामान्य चिन्मात्र है उसमें स्थित हो जो तेरा स्वरूप है; तू आत्मा है, तुझमें अहंकार कदाचित् नहीं है। हे साधो! आत्मा सर्वदा, सर्वप्रकार, सर्वमें स्थित है उसमें अहंभाव किंचित् नहीं। जैसे समुद्र में धूलि कदाचित् नहीं तैसे ही उसमें अहंकार कदाचित् नहीं। आत्मा में न एक है और न दो केवल अपने आपमें स्थित है और जो आकार दृष्ट आते हैं वे चित्त के फुरने से हैं। चित्त के नष्ट हुए आत्मा ही शेष रहता है; इससे अपने स्वरूप में स्थित हो जिससे तेरा दुःख नष्ट हो जावे। जो कुछ यह दृष्टि आता है उसमें भी आत्मा है। जैसे पत्र, फूल, फल सब बीज से उत्पन्न होते हैं तैसे ही सब आत्मा का चमत्कार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बृहस्पतिबोधनन्नामाष्टाशीतितमस्सर्गः ॥ ८८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार बृहस्पति ने उत्तम उपदेश किया तब कच उसे सुनके स्वरूप में स्थित हुआ और जीवन्मुक्त होकर बिचरा। हे रामजी! जैसे कच जीवन्मुक्त होकर बिचरा और निरहंकार हुआ है तैसे ही तुम भी निराश होकर बिचरो और केवल अद्वैतपद को प्राप्त हो जो निर्मल और शुद्ध है और जिसमें एक और दो कहना नहीं बनता। तुम उसी पद में स्थित हो। तुममें दुःख कोई नहीं तुम आत्मा हो और तुममें अहंकार नहीं; तुम ग्रहण त्याग किसका करो। जो पदार्थ हो ही नहीं तो ग्रहण त्याग क्या कहिये? हे रामजी! जैसे आकाश के वन में फूल नहीं है तो उसका ग्रहण क्या और त्याग क्या; तैसे ही आत्मा में अहंकार नहीं। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे अहंकार का ग्रहण और त्याग नहीं करते। मूर्ख को एक आत्मा में नाना आकार भासते हैं इससे किसी का शोक करता है और कहीं हर्ष करता है। तुम कैसे दुःख का नाश चाहते हो? दुःख तो तुममें है ही नहीं तो तुम कैसे नाश करने को समर्थ हुए हो? जो कुछ आकार भासते हैं वे मिथ्या हैं पर उनमें जो अधिष्ठान है वह सत् है, मूर्ख मिथ्या करके सत् की रच्छा करते हैं कि मेरे दुःख नाश हों। रामजी बोले, हे भगवन्! तुम्हारे प्रसाद से मैं तृप्त हुआ हूँ और तुम्हारे वचनरूपी अमृत से अघाया हूँ। जैसे पपीहा एक बूँद को चाहता है और मेघ कृपा करके उस पर वर्षा करके उसको तृप्त करता है तैसे ही मैं तुम्हारी शरण को प्राप्त हुआ था और तुम्हारे दर्शन की इच्छा बूँद की नाईं करता था पर तुमने कृपा करके ज्ञानरूपी अमृत की वर्षा की; उस वर्षा से मैं अघाया हूँ। अब मैं शान्तपद को प्राप्त

हुआ हूँ; मेरे तीनों ताप मिट गये हैं और कोई फुरना मुझ में नहीं रहा। तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को सुनता मैं तृप्त नहीं होता। जैसे चकोर चन्द्रमा को देखकर किरणों से तृप्त नहीं होता; तैसे ही तुम्हारे अमृतरूपी वचनों से मैं तृप्त नहीं होता; इससे एक प्रश्न करता हूँ उसका उत्तर कृपा करके दीजिये। हे भगवन्! मिथ्या क्या है और सत् क्या है जिसकी रक्षा करते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस पर एक आख्यान है सो कहता हूँ जिसके सुनने से हँसी आवेगी। आकाश में एक शून्य वन है और उसमें एक मूर्ख बालक है जो आप मिथ्या है और सत्य के रखने की इच्छा करता है कि मैं इसकी रक्षा करूँगा। अधिष्ठान जो सत्य है उसको वह नहीं जानता। मूर्खता करके दुःख पाता है और जानता है कि यह आकाश है; मैं भी आकाश हूँ; मेरा आकाश है; और मैं आकाश की रक्षा करूँगा। ऐसे विचारकर उसने एक दृढ़ गृह इस अभिप्राय से बनाया कि इसके द्वारा आकाश की रक्षा करूँगा। हे रामजी! ऐसे विचार करके उसने गृह की बहुत बनावट की और वह जो किसी ठौर से टूटे तो फिर बना ले। जब कुछ काल इस प्रकार बीता तो वह गृह गिर पड़ा तब वह रुदन करने लगा कि हाय मेरा आकाश नष्ट हो गया! जैसे एक ऋतु व्यतीत हो और दूसरी आवे तैसे ही काल पाकर जब वह गृह गिर गया तो उसके उपरान्त उसने एक कुआँ बनाया और कहने लगा कि यह न गिरेगा, क्योंकि इसकी भली प्रकार रक्षा करूँगा। हे रामजी! इस प्रकार कुयें को बनाकर उसने सुख माना। जब कुछ काल बीता तो जैसे सूखा पात वृक्ष से गिरता है तैसे ही वह कुआँ भी गिर पड़ा और वह बड़े शोक को प्राप्त हुआ कि मेरा आकाश गिर पड़ा और नष्ट हो गया अब मैं क्या करूँगा ऐसे शोकसंयुक्त जब कुछ काल बीता तब उसने एक खाँहीं बनाई—जैसे अनाज रखने के निमित्त बनाते हैं—और कहने लगा कि अब मेरा आकाश कहाँ जावेगा? मैं अब इसकी भली प्रकार रक्षा करूँगा। ऐसी खाँहीं बनाकर उसने बहुत सुख माना और अतिप्रसन्न हुआ पर जब कुछ काल पाकर वह खाँहीं भी टूट पड़ी, क्योंकि उपजी वस्तु का विनाश होना अवश्य है—तो फिर वह रुदन करने लगा

कि मेरा आकाश नष्ट हो गया। जब कुछ काल शोकसंयुक्त बीता तो उसने एक घट बनाया और घटाकाश की रक्षा करने लगा। कुछ काल में वह घट भी जब नष्ट हो गया तब उसने एक कुण्ड बनाया और कुंडाकाश की रक्षा करने लगा। कुछ काल के उपरान्त कुण्ड भी नष्ट हो गया तब शोकवान् हो उसने एक हवेली बनाई और कहने लगा कि अब मेरा आकाश कहाँ जावेगा। मैं अब इसकी भली प्रकार रक्षा करूँगा। ऐसा विचारकर, वह बड़े हर्ष को प्राप्त हुआ पर जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब वह हवेली भी गिर पड़ी तो वह दुःख को प्राप्त हो कहने लगा कि हाय! हाय! मेरा आकाश नष्ट हो गया और मुझे बड़ा कष्ट हुआ है। हे रामजी! आत्मज्ञान और आकाश के जाने विना वह मूर्ख बालक इसी प्रकार दुःख पाता रहा। जो आपको भी यथार्थ जानता और आकाश को भी ज्यों का त्यों जानता तो यह कष्ट काहे को पाता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मिथ्यापुरुषाकाशरक्षाकरणं
नामैकोननवतितमस्सर्गः ॥ ८९ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह मिथ्यापुरुष कौन था; जिसकी रक्षा करता था वह आकाश क्या था और जो गृह, कूप आदिक बनाता था सो क्या थे यह प्रकट करके कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मिथ्यापुरुष तो अहंकार है जो संवेदन फुरने से उपजा है; आकाश चिदाकाश है उसे वह उपजा जानता है कि मैं आकाश की रक्षा करूँ और गृह, घटादिक जो कहा सो देह हैं। उनमें आत्मा अधिष्ठान है उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा वह मूर्खता से करता है और आपको नहीं जानता कि मेरा स्वरूप क्या है। उस अपने स्वरूप को न जानने से वह दुःख पाता है। आप मिथ्या है और मिथ्या होकर आकाश को कल्पकर रखने की इच्छा करता है अर्थात् देह से देही के रखने की इच्छा करता है कि मैं जीता रहूँ पर देह तो काल से उपजा है—फिर देह के नष्ट होने से शोकवान् होता है और अपने वास्तव स्वरूप को नहीं जानता जिसका नाश कदाचित् नहीं होता ऐसे विचार से रहित क्लेश पाता है। हे रामजी! जिसमें भ्रम उपजा है वह अधिष्ठान असत् नहीं

होता। सर्व का अपना आप आत्मा है सो कदाचित् नाश नहीं होता उसमें मूर्खता से अहंकारादि संसार को जीव कल्पता है। अहंकार, मन जीव, बुद्धि, चित्त, माया, प्रकृति और दृश्य ये सब इसके नाम हैं पर मिथ्या हैं और इसका अत्यन्त अभाव है; अनहोता ही उदय हुआ है और क्षत्रिय, ब्राह्मण इत्यादि वर्ण और गृहस्थादि आश्रम, मनुष्य, देवता, दैत्य इत्यादि की कल्पना करता है। हे रामजी! यह कदाचित् हुआ नहीं, न होगा और न किसी काल किसी को है केवल अविचारसिद्ध है और विचार किये से कुछ नहीं रहता। जैसे रस्सी के अज्ञान से जीव सर्प कल्पता है और जानने से नष्ट हो जाता है; तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से अहंकार उदय हुआ है तुम्हारा स्वरूप आत्मा है जो प्रकाशरूप, निर्मल, विद्या अविद्या के कार्य से रहित; चैतन्यमात्र और निर्विकल्प है। वह ज्यों का त्यों स्थित है; अद्वैत है और परिणाम को कदाचित् नहीं प्राप्त होता आत्मतत्त्वमात्र है उसमें संसार और अहंकार कैसे हो? सम्यक्दर्शी को आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता और असम्यक्दर्शी को संसार भासता है, वह पदार्थों को सत् जानता है संसार को वास्तव जानता है और अपने वास्तव स्वरूप को नहीं जानता है कि मैं कौन हूँ। जिसके जानने से अहंकार नष्ट हो जाता है। जितनी कुछ आपदा हैं उनकी खानि अहंकार है और सर्वताप अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं इसके नष्ट हुए अपने स्वरूप में स्थित होता है। और विश्व भी आत्मा का चमत्कार है—भिन्न नहीं, जैसे समुद्र में पवन से नाना प्रकार के तरङ्ग और सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषण भासते हैं सो वही रूप हैं—भिन्न कुछ नहीं तैसे ही आत्मा से विश्व भिन्न नहीं। सुवर्ण परिणाम से भूषण और समुद्र परिणाम से तरङ्ग होता है पर आत्मा अच्युत है और परिणाम को नहीं प्राप्त होता; इससे समुद्र और सुवर्ण से भी विलक्षण है। आत्मा में संवेदन से चमत्कारमात्र विश्व है सो आत्मस्वरूप है, न कदाचित् जन्मता है, न मृत्यु को प्राप्त होता है; न किसी काल में और न किसी से मृतक होता है ज्यों का त्यों स्थित है। जन्ममृत्यु तो तब हो जब दूसरा हो पर आत्मा तो अद्वैत है। जिसको एक नहीं कह सकते तो दूसरा कहाँ हो इससे प्रत्यक् आत्मा अपना अनुभवरूप है उसमें स्थित

हो कि दुःख और ताप सब नष्ट हो जावें। वह आत्मा शुद्ध और निराकार है। हे रामजी! जो निराकार और शुद्ध है उसे किससे ग्रहण कीजिये, कैसे रक्षा करिये और किसकी सामर्थ्य है कि उसकी रक्षा करे। जैसे घट के नष्ट हुए घटाकाश नष्ट नहीं होता तैसे ही देह के नष्ट हुए देही आत्मा का नाश नहीं होता। आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और जन्ममरण पुर्यष्टका से भासते हैं। जब पुर्यष्टका देह से निकल जाती है तब मृतक भासता है और जब पुर्यष्टका संयुक्त है तब जीवत् भासता है आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म है और स्थूल से स्थूल है उसका ग्रहण कैसे हो और रक्षा कैसे करिये। स्थूल भी उपदेश के जताने के निमित्त कहते हैं आत्मा तो निर्वाच्य और भावअभावरूप संसार से रहित है। वह सबका अनुभवरूप है उसमें स्थित होकर अहंकार का त्याग करो और अपने स्वरूप प्रत्यक् आत्मा में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मिथ्यापुरुषोपाख्यान-
समाप्तिर्नाम नवतितमस्सर्गः ॥ ९० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह संसार आत्मरूप है और जैसे इसकी उत्पत्ति हुई है सो सुनो। निर्विकल्प शुद्ध आत्मा में चेतन लक्षण मनरूप स्थित हुआ है और आगे उसने जगत् कल्पना की है। जैसे समुद्र में तरङ्ग; सुवर्ण में भूषण; रस्सी में सर्प और सूर्य की किरणों में जलाभास है तैसे ही आत्मा का विवर्त मन है पर आत्मा से भिन्न नहीं। जिसको तरङ्ग का ज्ञान है उसको समुद्रबुद्धि नहीं होती, वह तरङ्ग को और जानता है; जिसको भूषण का ज्ञान है वह सुवर्ण नहीं जानता; सर्प के ज्ञान से रस्सी को नहीं जानता तैसे ही नाना प्रकार के विश्व के ज्ञान से जीव परमात्मा को नहीं जानता। जैसे जिस पुरुष ने समुद्र को जाना है कि जल है उसको तरङ्ग और बुद्बुदे भी जल ही भासते हैं जल से भिन्न कुछ नहीं भासता और जिसको रस्सी का ज्ञान हुआ है उसको सर्पबुद्धि नहीं होती; जिसको सुवर्ण का ज्ञान हुआ है उसको भूषणबुद्धि नहीं होती और जिसको किरणों का ज्ञान हुआ है उसको जलबुद्धि नहीं होती ऐसा पुरुष निर्विकल्प है तैसे ही जिस पुरुष को निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान हुआ है उसको संसारभावना नहीं होती—

ब्रह्म ही भासता है। ऐसा जो मुनीश्वर है वह ज्ञानवान् है। हे रामजी! मन भी आत्मा से भिन्न नहीं। आदि परमात्मा से 'अहं' 'त्वं' आदिक मन फुरकर उसमें जो अहंभाव हुआ सो उत्थान है। बहिर्मुख होने से अपने निर्विकल्प चिन्मात्र आत्मस्वरूप का प्रमाद हुआ है और उस प्रमाद होने से आगे विश्व हुआ है। मन भी कदाचित् उदय नहीं हुआ; आत्मस्वरूप है इससे उदय हुए की नाईं भासता है। मन और संसार सत् भी नहीं और असत् भी नहीं; जो दूसरी वस्तु हो तो सत् अथवा असत् कहिये पर आत्मा तो अद्वैत ज्यों का त्यों स्थित है और उसका विवर्त मन होकर फुरा है। वही मन कीट है और वही ब्रह्मा है। फिर ब्रह्मा ने मनोराज करके स्थावर जङ्गम सृष्टि कल्पी है सो न सत्य है और न असत्य है। हे रामजी! सर्वप्रपञ्च मन ने कल्पा है और उसी ने नाना प्रकार के विकार रचे हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीव सब मन के नाम हैं। जब मन नष्ट हो जावे तब न संसार है और न कोई विकार है। यदि मन दृश्य से मिलकर कहे कि मैं संसार का अन्त लूँ तो कदाचित् अन्त न पावेगा, क्योंकि संसरना ही संसार है तो फिर संसरने संयुक्त संसार का अन्त कहाँ? अन्त लेनेवाला वाणी से आगे फुरकर देखता है—जैसे कोई पुरुष दौड़ता जावे और कहे कि मैं अपनी परछाहीं का अन्त लूँ कि कहाँ तक जाती है तो हे रामजी! जबतक वह पुरुष चला जावेगा तबतक परछाहीं का अन्त नहीं होता और जब ठहर जाता है तब परछाहीं का अन्त हो जाता है; तैसे ही जबतक फुरना है तबतक संसार का अन्त नहीं होता और जब फुरना नष्ट हो जाता है तब संसार का भी अन्त होता है और आत्मा ही दृष्टि आता है और संसार का अत्यन्त अभाव हो जाता है पर जो स्फूर्त्ति संयुक्त देखेगा तो संसार ही भासेगा। हे रामजी! जिस पदार्थ को मन देखता है वह पदार्थ पूर्व कोई नहीं, चित्त के फुरने से उदय होता है। जब चित्त फुरा कि यह पदार्थ है तब आगे पदार्थ हुआ और फुरने से रहित होकर देखे तो पदार्थ कोई नहीं भासता, केवल शान्तपद है। हे रामजी! अहंकार का त्याग करके यह जो नाना प्रकार की कल्पना है उससे रहित निर्विकल्प ब्रह्मपद में स्थित हो। अहंकार नाम-

रूप है और देह और वर्णाश्रम में माया से कल्पित है। जब उससे रहित होकर देखोगे तब केवल सत्चिदानन्द आत्मपद शेष रहेगा जौर जब उस पद को अपना आप जानोगे तब तुमहीं सर्वात्मा होकर बिचरोगे और तुमको कोई दुःख न रहेगा। हे रामजी! मन ही संसार है और मन ही ब्रह्मा से कीट पर्यन्त है; मन ही सुमेरु है और मन ही तृण है और विश्वरूप होकर स्थित हुआ है और वह भी आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे फल ही में सम्पूर्ण वृक्ष हैं तैसे ही मन आत्मस्वरूप है; आत्मा से भिन्न मन कुछ वस्तु नहीं। ऐसे जानकर आत्मस्वरूप होगे यह जो बन्ध और मोक्ष संज्ञा है इनका त्याग कर, न बन्ध की वाञ्छा करो और न मोक्ष की इच्छा करो। इस कल्पना से रहित हो; ऐसे नहीं कि मुक्त हो और यह बन्ध है; केवल सत्तासमान आत्मपद में स्थित हो। यही भावना करो जिससे तुम्हारा सर्वदुःख नष्ट हो जावे। ऐसा जो पुरुष है उसका चित्तभाव नहीं रहता उसको सर्वआत्मा भासता है। जैसे जिस पुरुष ने सूर्य को जाना है उसको किरणें भी सूर्य ही दृष्टि आती हैं तैसे ही जिसको आत्मा का साक्षात्कार हुआ है उसको जगत् भी आत्मस्वरूप भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशोनामैकनवतितमस्सर्गः ॥ ९१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो रहो और सब शङ्काओं को त्यागकर निरन्तर धैर्य धारकर स्थित हो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी किसे कहते हैं सो कृपा करके कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हारे प्रश्न पर एक आख्यान है सो सुनिये। एक समय सुमेरु पर्वत की उत्तर दिशा के शिखर से सदाशिवजी आये, जो चन्द्रमा को मस्तक में धारे थे और गणों संयुक्त गौरी बायें अङ्ग में जिनके साथ थीं। तब भृङ्गीगण ने जो महातेजवान् था और जिसे आत्मजिज्ञासा उपजी थी हाथ जोड़कर प्रश्न किया कि हे भगवन्! देवों के देव! यह संसार मिथ्या भ्रम है; इसमें मैं सत्य पदार्थ कोई नहीं देखता यह सदा चलरूप भासता है और जो सत् पदार्थ है उसको मैं नहीं जानता; मेरे ताप नष्ट नहीं हुए और मैं शान्त

नहीं हुआ इससे आपको दुःखी देखता हूँ। जिससे शान्ति हो सो कृपा करके कहो जिसमें खेद से रहित होकर मैं चेष्टा में बिचरूँ। पर खेद से रहित तब होता है जब कोई आसरा होती है। संसार तो मिथ्या है मैं किसका आसरा करूँ? इससे मुझसे वह कहिये कि किसका आश्रय किये मेरे दुःख नष्ट हों? ईश्वर बोले, हे भृङ्गिन्! तुम महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो रहो और सर्व शङ्काओं को त्यागकर निरन्तर धैर्य का आश्रय करो; इससे तुम्हारे दुःख नष्ट होंगे। हे रामजी! ऐसे भृङ्गीगण ने जिसको शिवजी ने पुत्र करके रक्खा है श्रवण करके प्रश्न किया है कि हे परमेश्वर! महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी किसे कहते हैं सो कृपा करके ज्यों का त्यों मुझसे कहिये? ईश्वर बोले, हे पुत्र! सर्वात्मा जो अनुभवरूप है उसका आश्रय करके बिचरो कि दुःख से रहित हो। इन तीनों वृत्तियों से तुम्हारे दुःख नष्ट हो जावेंगे। जो कुछ शुभ किया आ प्राप्त हो उसको शङ्का त्याग के करे वह पुरुष महाकर्ता है; धर्म अधर्म क्रिया जो अनिच्छित प्राप्त हो उसको रागद्वेष से रहित होकर जो करे वह पुरुष महाकर्ता है; जो पुरुष मौनी, निरहंकार, निर्मल और मत्सर से रहित है वह पुरुष महाकर्ता है; जो अनिच्छित प्राप्त हुए का त्याग न करे और जो नहीं प्राप्त हुआ उसकी वाञ्छा न करे वह पुरुष महाकर्ता है; जो पुण्य पाप क्रिया अनिच्छित प्राप्त हों उनको अहंकार से रहित होकर करे, पुण्यक्रिया करने से आपको पुण्यवान् न माने और पाप किये से पापी न माने सदा आपको अकर्ता जाने वह पुरुष महाकर्ता है; जो सर्वत्र में विगतस्नेह है, सत्यवत् स्थित है और निरिच्छित वर्तता है वह महाकर्ता है। जो दुःख के प्राप्त हुए शोक नहीं करता और सुख के प्राप्त हुए से हर्षवान् नहीं होता, स्वाभाविक चित्त समता को देखता है वह कदाचित् विषमता को नहीं प्राप्त होता। सुख की जो भिन्न-भिन्न विषमता हैं इससे जो रहित है वह पुरुष महाकर्ता है और जिस पुरुष ने सुख दुःख का त्याग किया है वह पुरुष महाकर्ता है। हे भृङ्गिन्! जो पुरुष प्राप्त हुई वस्तु को रागद्वेष से रहित होकर भोगता है सो महाभोक्ता है और जो बड़ा कष्ट प्राप्त हो उसमें भी द्वेष नहीं करता और बड़े

सुख की प्राप्ति में हर्षवान् नहीं होता वह पुरुष महाभोक्ता है। जो बड़े राज्य के सुख भोगने में आपको सुखी नहीं मानता और राज्य के अभाव होने और भिक्षा माँगने में आपको दुःखी नहीं मानता सदा स्वरूप में स्थित है वह महाभोक्ता है। जो मान, अहंकार और चिन्तना से रहित केवल समता में स्थित है वह महाभोक्ता है और जो कोई कुछ दे तो आपको लेनेवाला नहीं मानता और शुभक्रिया में भोक्ता हुआ आपको कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं मानता वह पुरुष महाभोक्ता है। जो मीठा, खट्टा, तीक्ष्ण, सलोना, कटु, छहों रसों के भोगने में समचित्त रहता है और सम जानता है वह महाभोक्ता है। जो रसवान् पदार्थ प्राप्त हुए से हर्षवान् नहीं होता और विरस के प्राप्त हुए से द्वेषवान् नहीं होता ज्यों का त्यों रहता है और जैसा बुरा भला प्राप्त हो उसको दुःख से रहित होकर भोगता है वह पुरुष महाभोक्ता है। जो कुछ शुभ, अशुभ, भाव, अभाव क्रिया है उसके सुख दुःख से चलायमान नहीं होता सो पुरुष महाभोक्ता है और जिसको मृत्यु का भय नहीं और जीने की आस्था नहीं और उदय अस्त में समान है वह महाभोक्ता है। जो बड़े सुख प्राप्त में हर्षवान् नहीं होता और दुःख की प्राप्ति में शोकवान् नहीं ज्यों का त्यों रहता है वह महाभोक्ता है। जो कुछ अनिच्छित प्राप्त हो उसको करता हुआ अहंकार से जो रहित है वह पुरुष महाभोक्ता है। जो पुरुष शत्रु, मित्र और सुहृद् में समबुद्धि रखता है और विषमता को कदाचित् नहीं प्राप्त होता वह पुरुष महाभोक्ता है। जो कुछ शुभ, अशुभ, दुःख, सुख प्राप्त हो उसको जो धार लेता है कदाचित् विषमता को नहीं प्राप्त होता जैसे समुद्र में नदियाँ प्राप्त होती हैं उनको धारकर वह सम रहता है; तैसे ही ज्ञानवान् शुभ अशुभ को धारकर सम रहता है। जो संसार, देह इन्द्रियाँ और अहंकार की सत्ता को त्यागकर स्थित हुआ है और जानता है कि न मैं देह हूँ'; 'न मेरी देह है' मैं इनका साक्षी हूँ ऐसी वृत्ति का धारनेवाला महात्यागी है और जो सर्वचेष्टा करता है और रागद्वेष से रहित है वह महात्यागी है। जो शुभ अशुभ प्राप्त हुए को अहंकार से रहित होकर करता है वह महात्यागी है और जो मन, इन्द्रियाँ और देह की भी

इच्छा से रहित हुआ है वह सर्वचेष्टा भी करता है पर महात्यागी है। जो पुरुष समचित्त, इन्द्रियजित् और क्षमावान् है वह महात्यागी है। हे रामजी ! जिस पुरुष ने धर्म अधर्म की देह और संसार के मद, मान, मनन इत्यादिक कल्पना का त्याग किया है वह महात्यागी है। हे रामजी ! इस प्रकार सदाशिवजी ने जो हाथ में खप्पर लिये, बाघम्बर ओढ़े और चन्द्रमा मस्तक में धारे हुए परम प्रकाशरूप हैं भृङ्गीगण को उपदेश किया और जैसे भृङ्गीगण विचरा तैसे ही तुम भी विचरो तो तुम्हारे सब दुःख नष्ट होंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाकर्त्राद्युपदेशो नाम
द्विनवतितमस्सर्गः ॥ ९२ ॥

रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो आपने उपदेश किया वह मैं समझ गया। आपने आगे उपशम प्रकरण में उपदेश किया था कि आत्मा अनन्त और शुद्ध है तब मैंने प्रश्न किया था कि जो आत्मा अनन्त और शुद्ध है तो यह कलना कैसे उपजी है—जैसे समुद्र निर्मल है उसमें धूलि कैसे हो—तो आपने प्रतिज्ञा की थी कि इस प्रश्न का उत्तर सिद्धान्तकाल में कहेंगे सो मैं अब सिद्धान्त का पात्र हूँ मुझसे कहिये। जैसे स्त्री भर्त्ता से प्रश्न करती है और भर्त्ता कृपा करके उपदेश करता है तैसे ही मैं आपकी शरण हूँ कृपा करके मुझे उत्तर दीजिये; क्योंकि आशा और तृष्णा के फाँस मेरे टूटे हैं और आशारूपी जाल से मैं निकला हूँ। मेरे हृदय से संशयरूपी धूलि उठ गई है उसको वचनरूपी वर्षा से शान्त करो और मेरे हृदय में अन्धकार है उसे वचनरूपी क्रीड़ा से निवृत्त करो। आपके वचनरूपी अमृत से मैं तृप्त नहीं होता। हे भगवन् ! गुरु के उपदेश किये विना अपने विचार ज्ञान से नहीं शोभता। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो पुरुष शान्तिमान, क्षमावान् और इन्द्रियजित् है और जिसने मन के संकल्प विकल्प को जीता है वह सिद्धान्त का पात्र है। हे रामजी ! तुम अब सिद्धान्त के पात्र हो इससे उपदेश करता हूँ। जो पुरुष राग द्वेष सहित क्रिया में स्थित है और इन्द्रियों के सुख से जिसको आराम है वह सिद्धान्त के वाक्य "अहं ब्रह्मास्मि" और "सर्वब्रह्म" को सुनकर भोगों में स्थित होता

है और अधोगति पाता है, क्योंकि उसको निश्चय नहीं होता और उसका हृदय मलिन है इससे इन्द्रियों के सुख करके आपको सुखी मानता है और नीच स्थानों को प्राप्त होता है। जो पुरुष क्षमा आदिक साधनों से पवित्र हुआ है उसको "अहं ब्रह्मास्मि" और "सर्वब्रह्म" के सुनने से शीघ्र ही भावना से आत्मपद की प्राप्ति होती है। तुम जैसे पुरुष क्षमा आदिक साधनों से पवित्र हुए हैं उनको स्वरूप की प्राप्ति सुगम होती है और जिनका अन्तःकरण मलिन है उनको प्राप्त होना कठिन है। जैसे भूने बीज को पृथ्वी में बोइये तो उसका अंकुर नहीं होता तैसे ही इन्द्रियारामी पुरुष को आत्मा की प्राप्ति नहीं होती और तुम सरीखे जिनका हृदय शुद्ध है उनको ज्ञान की प्राप्ति होती है और वे ही इन वचनों को पाकर शोभते हैं। जैसे वर्षाकाल में धान पृथ्वी में वर्षा से शोभा पाते हैं तैसे ही सिद्धान्त के वचनों को पाकर वे ज्ञानरूपी दीपक से प्रकाशते हैं। जो ज्ञानवान् पुरुष ऊँची बाँह करके कहते हैं और सब शास्त्र भी कहते हैं उन सर्वशास्त्रों के सिद्धान्तों को और उनके दृष्टान्तों को मैं जानता हूँ; इससे सर्वसिद्धान्तों का सार कहता हूँ तुम सुनो तो जो तुम्हारा स्वरूप है उसको जानोगे। हे रामजी ! जिसको अभ्यास करके एक क्षण भी साक्षात्कार हुआ है वह फिर गर्भ में नहीं आता और उसको सत् असत् में कुछ भेद नहीं होता, संवेदन में भेद है। जैसे जाग्रत् और स्वप्न के सूर्य के प्रकाश दोनों समान हैं; जाग्रत् में जाग्रत् सूर्य का प्रकाश अर्थाकार होता है और स्वप्न में स्वप्न का सूर्य अर्थाकार होता है पर प्रकाश दोनों का सम है और संवित् भिन्न है। स्वप्न को मिथ्या जानता है और जाग्रत् को सत् जानता है तो संवेदन में भेद हुआ स्वरूप से भेद कुछ न हुआ। जैसे मन से एक बड़ा पर्वत रचिये तो संकल्प से दीखता है और एक पर्वत बाहर प्रत्यक्ष दीखता है तो संवित् का भेद हुआ स्वरूप दोनों का तुल्य है। जैसे समुद्र में तरङ्ग हैं तो स्वरूप से जल और तरङ्गों का भेद कुछ नहीं पर जिसको जल का ज्ञान नहीं सो तरङ्ग ही जानता है, इससे संवित् में भेद है, तैसे ही स्वरूप में सत् असत् तुल्य हैं। वास्तव में कुछ भेद नहीं, केवल शान्तरूप आत्मा है और शब्द अर्थ संवेदन में

है। शब्द अर्थात् नाम और अर्थ याने नामी संवेदन (फुरने) से हैं; जब फुरना नष्ट हो जावेगा तब सर्व अर्थ भी आत्मा ही भासेगा। जगत् की सत्ता तबतक है जबतक आत्मा का प्रमाद है और प्रमाद तबतक है जबतक अहंभाव है। जब अहंभाव नष्ट हो तब केवल आत्मा शेष रहेगा जो शुद्ध, विद्या-अविद्या के कार्य से रहित और कदाचित् स्पर्श नहीं करता। हे रामजी! अविद्या की दो शक्ति हैं; एक आवरण और दूसरी विक्षेप। आत्मा के न जानने का नाम आवरण है और कुछ जानने को विक्षेप कहते हैं। वह आत्मा सदा ज्ञानरूप है, उसको आवरण कदाचित् नहीं होता और अद्वैत है, उससे कुछ भिन्न नहीं बना—इसी से वह शुद्ध, केवल और ज्ञानमात्र है। हे रामजी! जो आत्ममात्र और चिन्मात्र है और जिसमें अहं का उत्थान नहीं केवल निर्वाणपद है और जहाँ एक और द्वैत कहना भी नहीं केवल अपने आपमें स्थित है उसमें कलनारूपी धूलि कहाँ हो? रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो सर्वब्रह्म है तो मन, बुद्धि आदिक क्या हैं जिनसे तुम यह शास्त्र उपदेश करते हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! व्यवहार के अर्थ शब्द हैं परमार्थ में कोई कल्पना नहीं। यह मन बुद्धि आदिक कुछ वस्तु नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे तरङ्ग जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। तैसे मनादिक हैं। आत्मतत्त्व नित्य, शुद्ध और सन्मात्र है; नाह की नाईं स्थित है। हे रामजी! ऐसे आत्मा में संसार अविद्या आदिक नाम कैसे हों? आत्मा ब्रह्म है उससे भिन्न कुछ नहीं। वह सर्व का अधिष्ठान, अविनाशी और देश काल वस्तु के परिच्छेद से रहित है। इसी से ब्रह्म है। हे रामजी! ऐसा जो अपना आप आत्मा है उसी में स्थित हो। यह जगत् जो दृष्टि आता है सो सर्व चिदाकाश है भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न में विश्व देखता है सो अनुभवमात्र है तैसे ही जाग्रत् विश्व भी आत्मरूप है। ऐसा जो तुम्हारा शुद्ध, नित्य उदित और अविनाशीरूप है उसमें जब स्थित होगे तब कलना जो तुमको भासती है सो नष्ट हो जावेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कलनानिषेधो नाम
त्रिनवतितमस्सर्गः ॥ ९३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संसार का बीज अहंकार है। जब अहंभाव होता है तब संसार होता है पर अहंकार कुछ वस्तु नहीं भ्रम से सिद्ध हुआ है। जैसे मूर्ख बालक परछाहीं में पिशाच कल्पता है सो पिशाच कुछ वस्तु नहीं उसके भ्रम से होता है तैसे ही अहंकार कुछ वस्तु नहीं स्वरूप के भ्रम से होता है। हे रामजी! जो वास्तव कुछ वस्तु नहीं तो उसके त्यागने में क्या यत्न है? तुम में अहंकार वास्तव नहीं है, तुम केवल शान्तरूप चैतन्यमात्र हो और उसमें अहंभाव होना उपाधि है उससे सुमेरु पर्वत आदिक जगत् बन जाता है सो संवेदनरूप है। चित्तरूपी पुरुष चैतन्य के आश्रय फुरता है और विश्व कल्पता है। जैसे रस्सी के आश्रय सर्प फुरता है तैसे ही चैतन्य के आश्रय विश्व और चित्त फुरते हैं सो आत्मा से भिन्न नहीं। अहंकार हुए की नाईं हुआ है कि 'मैं हूँ' ऐसा जो अहंभाव है सो दुःख की खानि है। सर्व आपदा अहंकार से होती हैं। जब अहंकार नष्ट होगा तब सब दुःख भी नष्ट होंगे। हे रामजी! जैसे सूर्य के आगे बादल होते हैं तो प्रकाश नहीं होता और जब बादल दूर होते हैं तब प्रकाशवान् भासता है और कमल प्रफुल्लित होते हैं; तैसे ही आत्मरूपी सूर्य को अहंकाररूपी बादल का आवरण हुआ है माया के किसी गुण से मिलकर कुछ आपको मानने को अहंकार कहते हैं। जब अहंकाररूपी बादल नष्ट होगा तब आत्मरूपी सूर्य का प्रकाश होगा और ज्ञानवान्रूपी कमल उस प्रकाश को पाकर बड़े आनन्द को प्राप्त होंगे। हे रामजी! इससे अहंकार के नाश का उपाय करो जो तुम्हारे दुःख नष्ट हो जावें। वह कौन पदार्थ है जो उपाय किये सिद्ध नहीं होता? अहंकार के नाश का उपाय करिये तो वह भी नष्ट हो जाता है। अहंकार के नष्ट करने का यह उपाय है कि सत् शास्त्रों अर्थात् ब्रह्मविद्या के बारम्बार अभ्यास और सन्त के संग द्वारा कथा की परस्पर चर्चा करने से अहंकार नष्ट हो जाता है। जैसे पानी भरने की रस्सी से पत्थर की शिला घिस जाती है तैसे ही ब्रह्मविद्या के अभ्यास से अहंकार नष्ट होता है, बल्कि शिला के घिसने में तो कुछ यत्न भी है पर अहंकार के त्यागने में कुछ यत्न नहीं। हे

रामजी ! सदा अनुभवरूप जो आत्मा है उसका विचार करो कि मैं कौन हूँ ? इन्द्रियाँ क्या हैं ? गुण क्या है और संसार क्या है ? ऐसे विचार से इनका साक्षीभूत हो कि मुझमें 'अहं त्वं' कोई नहीं । इससे तुम अहंकार का नाश करो और शुद्ध हो । मेरा भी आशीर्वाद है कि तुम सुखी हो जाओ । जब अहंकार नष्ट होगा तब कलना कोई न फुरेगी केवल सुषुप्ति की नाईं स्थित होगे । रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो आपका अहंकार नष्ट हुआ है तो प्रत्यक्ष उपदेश करते कैसे दिखते हो और जो अहंकार नहीं है तो सर्वशास्त्र और ब्रह्मविद्या कहाँ से उपजे हैं और उपदेश कैसे होता है ? उपदेश में तो अन्तःकरण चारों सिद्ध होते हैं । प्रथम जब उपदेश करने की इच्छा होती है तब अहंकार सिद्ध होता है; जब स्मरण होता है कि उपदेश करूँ तब चित्त भी चैत्य से सिद्ध होता है; फिर यह उपदेश करिये यह न करिये, ऐसे संकल्प किये से मन की सिद्धि होती है । फिर जब निश्चय किया कि यह उपदेश करिये तब बुद्धि की सिद्धि होती है । इससे चारों अन्तःकरण सिद्ध होते हैं आप कैसे कहते हैं कि अहंकार नष्ट हो जाता है और सर्व चेष्टा होती हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! आत्मस्वरूप में अहंकार आदिक अन्तःकरण और इन्द्रियाँ कल्पित हैं वास्तव में कुछ नहीं । शास्त्र उपदेश भी कल्पना है, आत्मा केवल आत्मत्वमात्र है उससे संवेदन करके अहंकारादिक दृश्य फुरे हैं उनके निवृत्त करने को प्रवर्त्तते हैं । जैसे रस्सी में भ्रम से सर्प भासता है तो उसके भय से आदमी दुःख पाता है पर जब कोई कहे कि यह सर्प नहीं रस्सी है तू भय मत कर, इसको भली प्रकार देख; तो उसके उपदेश से वह भली प्रकार देखता है तब उसका भय और शोक निवृत्त हो जाता है, क्योंकि उसको भ्रम से सर्प भान हुआ था सो भी मिथ्या है और उसको रस्सी का उपदेश करना भी मिथ्या है, क्योंकि रस्सी तो आगे से सिद्ध है उपदेश से सिद्ध नहीं होती; तैसे ही रस्सी की नाईं आत्मा है उसका विवर्त जो चेतनरूप फुरना है उसको अहंभाव कहते हैं और उस अहंकार के निवृत्त करने को शास्त्र हुए हैं । आत्मरूपी रस्सी के प्रमाद से अहंकाररूपी सर्प फुरा है और उसके निवृत्त करने को शास्त्र के उपदेश हुए हैं और आत्मा को जता देते हैं । जब भली प्रकार रस्सी की नाईं आत्मा को जाना तब सर्प की नाईं जो परिच्छिन्न अहंकार है सो नष्ट हो जाता है । जैसे नेत्र का मैल जब अञ्जन के लगाने से नष्ट हो जाता है तब ज्यों के त्यों निर्मल नेत्र होते हैं; तैसे ही अज्ञानरूपी मैल गुरु और शास्त्र के उपदेशरूपी सुरमे से नष्ट हो जाता है । वास्तव में न कोई अहंकार है और न शास्त्र है, क्योंकि आत्मा सर्वदा काल उदयरूप है परन्तु तौ भी गुरु और शास्त्र से जाना जाता है । हे रामजी ! ज्ञानवान् के साथ चारों अन्तःकरण और इन्द्रियाँ भी दृष्टि आती हैं पर उनमें सत्यता नहीं होती—जैसे भूना बीज दृष्टि आता है परन्तु उगने की सत्यता नहीं रखता और जैसे जला वस्त्र देखनेमात्र है पर उसमें सत्यता कुछ नहीं होती तैसे ही ज्ञानवान् को अभिलाषरूप अहंकार नहीं होता और उससे वह कष्ट नहीं पाता जैसे सूर्य की किरणों से मरुस्थल में जलाभास होता है और उसको देखकर पान करने के निमित्त मृग दौड़ता है और दुःखी होता है तैसे ही दृश्यरूपी मरुस्थल में पदार्थरूपी जलाभास को देखकर अज्ञानरूपी मृग दौड़ते हैं और दुःख पाते हैं । जब ज्ञानरूपी वर्षा से आत्मरूपी जल चढ़ा तब चित्तरूपी मृग कहाँ दौड़े । जब ज्ञानरूपी वर्षा होती है और अनुभवरूपी जल चढ़ता है तब चित्तरूपी मृग में यत्नरूपी जो फुरना था सो नष्ट हो जाता है । हे रामजी ! अहंकार अविचार से सिद्ध है और विचार से क्षीण हो जाता है । जैसे बरफ़ की पुतली सूर्य की किरणों से क्षीण होती है और जब अधिक तेज होता है तब जलरूप हो जाती है, बरफ़ की संज्ञा नहीं रहती; तैसे ही अहंकाररूपी बरफ़ विचाररूपी किरणों से क्षीण हो जाती है । जब दृढ़ विचार होता है तब अहंकार संज्ञा नष्ट हो जाती है और केवल आत्मा ही रहता है । रामजी ने पूछा, हे सर्वतत्त्वज्ञ भगवन् ! जिसका अहंकार नष्ट होता है उसका लक्षण क्या है सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अज्ञानरूपी, गढ़ा संसार है उसमें पदार्थ की सत् भावना से वह नहीं गिरता और जैसे समुद्र में नदियाँ स्वाभाविक आय प्राप्त होती हैं तैसे ही उसको क्षमा शान्ति आदिक शुभगुण स्वाभाविक प्राप्त होते हैं उसका

क्रोध भी नष्ट हो जाता है और देखनेमात्र यदि भासता भी है तौ भी अर्थाकार नहीं होता; विषमता करके भिन्नभावना हृदय में नहीं फ़ुरती और केवल सत्तासमान में स्थित होता है। जैसे शरत्काल का मेघ गर्जता है पर वर्षा से रहित होता है तैसे ही इन्द्रियों की चेष्टा वह अभिमान से रहित होकर करता है। जैसे वर्षाऋतु के जाने से कुहिरा नहीं रहता तैसे ही उसकी अभिमानचेष्टा नष्ट हो जाती है और लोभ भी मन से जाता रहता है। जैसे वन में अग्नि लगती है तो मृग और पक्षी उस वन को त्याग जाते हैं तैसे ही लोभरूपी मृग उसको त्याग जाते हैं और उसके मन में कोई कामना नहीं रहती। जैसे दिन में उलूक और पिशाच नहीं बिचरते तैसे ही जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य उदय होता है वहाँ सम्पूर्ण कामनारूपी तम नष्ट हो जाता है और शान्तरूप आत्मा में स्थित रहता है। जैसे मज़दूर दो पोटों को ज्येष्ठ आषाढ़ की धूप में उठाता है और गर्मी में थकता है तो उसको डारकर वृक्ष के नीचे सुख से स्थित होता है तैसे ही वासनारूपी पोट है और अज्ञानरूपी धूप है उससे दुःखी होता है पर ज्ञानरूपी बलकर वासनारूपी पोट को डार के सुख से स्थित होता है। हे रामजी! उस पुरुष की भोगभावना नष्ट हो जाती है और फिर उसे दुःख नहीं देती। जैसे गरुड़ को देखकर सर्प भागता है और फिर निकट नहीं आता, तैसे ही ज्ञानरूपी गरुड़ को देखकर भोगरूपी सर्प भागते हैं और फिर निकट नहीं आते। आत्मपद को पाकर ज्ञानी शान्तिरूपी दीपकवत् प्रकाशवान् होता है और भाव-अभाव पदार्थ उसको स्पर्श नहीं करते और संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है। ज्ञान समझनेमात्र है कुछ यत्न नहीं। सन्तों के पास जाकर प्रश्न करना कि मैं कौन हूँ? जगत् क्या है? परमात्मा क्या है? भोग क्या है? और इससे तरकर कैसे परमपद को प्राप्त हूँ। फिर जो ज्ञानवान् उपदेश करे उसके अभ्यास से आत्मपद को प्राप्त होगा अन्यथा न होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सन्तलक्षणमाहात्म्यवर्णनं
नाम चतुर्णवतितमस्सर्गः ॥ ९४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस प्रकार तुम्हारे पुरुषा इक्ष्वाकुनामक बड़े राजा जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं तैसे ही तुम भी बिचरो, क्योंकि तुम भी उसी कुल में उपजे हो। हे रामजी! वह सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजा मनु का पुत्र और सूर्य का पौत्र सब राजाओं से श्रेष्ठ हुआ है—जैसे पितरों का राजा धर्म है—और बरफ़ की नाईं उसका शीतल स्वभाव था। जैसे सूर्य को देखकर मणि से तेज प्रकट होता है तैसे ही उसको देखकर शत्रु तपायमान होते थे और साधु, मित्र और प्रजा को रमणीय भासता था और वे सब उसको देखकर शान्तिमान् होते थे। जैसे चन्द्रमा को देखकर चन्द्रमुखी कमल प्रसन्न होते हैं तैसे ही उसको देखकर सब प्रसन्न हों। वह पापरूपी वृक्षों का काटनेवाला कुल्हाड़ा और मित्र का सुखदायक था—जैसे मोरों को मेघ सुखदायक है। सुन्दर वह ऐसा कि जिसको देखकर लक्ष्मी स्थित हो रही थी और उसके यश से सम्पूर्ण पृथ्वी पूर रही थी। ऐसा राजा भली प्रकार प्रजा की पालना करता था कि एक काल उसके मन में विचार उपजा कि संसार में जरा, मरण आदिक बड़े क्षोभ हैं इस संसार दुःख के तरने का क्या उपाय है। ऐसे वह विचारता था कि शम्भु मुनि ब्रह्मलोक से आये और उसने उनका भली प्रकार पूजन करके पूछा, हे भगवन्! आपकी कृपा का पराक्रम मेरे हृदय में बैठकर प्रश्न करने को प्रेरता है इससे मैं प्रश्न करता हूँ। हे भगवन्! मेरे हृदय में संसार फ़ुरता है और जैसे समुद्र को बड़वाग्नि जलाती है तैसे ही मुझको जलाता है। इससे आप वही उपाय कहिये जिससे मुझको शान्ति हो। हे भगवन्! यह संसार कहाँ से उपजा है; दृश्य का स्वरूप क्या है और कैसे निवृत्त होता है? जैसे जाल से पक्षी निकल जाता है; तैसे ही जन्म, मरण महाजाल संसार से मैं निकलना चाहता हूँ और जैसे वरुण समुद्र के सब स्थान जानता है तैसे ही तुम जगत् के सब व्यवहारों को जानते और संशय के निवृत्त करनेवाले हो। अज्ञानरूपी तम के नाशकर्ता तुम सूर्य हो और तुम्हारे अमृतरूपी वचनों से मैं शान्ति को प्राप्त हूँगा। मुनि बोले, हे साधो! मैं चिरकाल पर्यन्त जगत् में बिचरता रहा हूँ परन्तु ऐसा प्रश्न मुझसे किसी ने नहीं किया—तुमने परमसार प्रश्न किया है?

यह प्रश्न अनर्थ का नाश करनेवाला है और तेरी बुद्धि विवेक से विकाशमान हुई दृष्टि आती है। हे राजन्! जो कुछ जगत् तुझको भासता है सो सब असत् है। जैसे रस्सी में सर्प, स्वप्न में गन्धर्वनगर; मरुस्थल में जल; सीपी में रूपा; आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासते हैं; तैसे ही यह जगत असत्‌रूप है और जैसे जल में चक्र और तरङ्ग असत्‌रूप हैं तैसे ही जगत् असत्‌रूप है। जो मन सहित षट् इन्द्रियों से अतीत है और शून्य भी नहीं सो सत् और अविनाशी आत्मा कहाता है। वह निर्मल परब्रह्म सर्व ओर से पूर्ण और अनन्त है, उसी में जगत् कल्पित है। हे राजन्! जैसे सर्ववृक्षों में एक ही रस व्यापक है तैसे ही सर्वपदार्थों में एक चिन्मात्रसत्ता व्यापक है और जैसे अचल समुद्र में द्रवता से तरंग फुरते हैं तैसे ही परमात्मा में जगत् फुरते हैं। उस महादर्पण में सर्ववस्तु प्रतिबिम्बित होती हैं जैसे समुद्र में कोई तरंग और कोई बुद्बुदे, चक्रादिक होते हैं तैसे ही आत्मा में जीवादिक आभास होते हैं। प्रथम फुरने रूप होते हैं और पीछे कारणकार्यरूप होते हैं सो चित्तशक्ति अपने संकल्प से भूतादिक देह रचकर उसमें स्वरूप के प्रमाद से आत्मा अभिमान करता है। जैसे कुसवारी की क्रिया अपने बन्धन के निमित्त होती है तैसे ही जीव को अपना संकल्प बन्धन का कारण होता है। हे राजन्! जीवकला को स्वरूप का अज्ञान हुआ है। इससे जैसे बालक को अपनी परछाहीं यक्षरूप होकर भय देती है तैसे ही यह नाना प्रकार के आरम्भ को प्राप्त हुआ है और अकारण ही ब्रह्मशक्ति फुरने से कारणभाव को प्राप्त हुआ है। उसमें बन्ध और मोक्ष भासते हैं तैसे ही वास्तव में न बन्ध है और न मोक्ष है; निरामय ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है और उसमें एक और अनेक कुछ नहीं कह सकते। इससे बन्ध मोक्ष की कल्पना को त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इक्ष्वाकुप्रत्यक्षोपदेशोनाम पञ्चनवतितमस्सर्गः ॥ ९५ ॥

मुनि बोले, हे राजन्! जैसे द्रवता से जल ही तरङ्गभाव को प्राप्त होता है तैसे ही चिन्मात्र ही संकल्प के फुरने से जीव होता है और

वह जीव संसार में कर्मों के वश से भ्रमता हुआ आपको कर्ता देखता है पर सर्वात्मा परब्रह्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जैसे सूर्य के प्रकाश से सब चेष्टा होती हैं और सूर्य अकर्ता है तैसे ही आत्मा की शक्ति से जगत् चेष्टा करता है और जैसे चुम्बक पत्थर के निकट लोहा चेष्टा करता है तैसे ही आत्मा की चेतनता से सब देहादिक चेष्टा करते हैं और आत्मा सदा अकर्ता है। जैसे जल में तरङ्ग फुरते हैं तैसे ही आत्मा में देहादिक फुरते हैं। जैसे सुवर्ण में भूषणकल्पना होती है तैसे ही आत्मा में मोह से सुख दुःख कल्पते हैं पर आत्मा में कुछ कल्पना नहीं। शुद्ध आत्मा में मूढ़ों ने सुख दुःख की कल्पना की है पर जो ज्ञानवान् हैं उनको मन, चित्त, सुख, दुःख सब आकाशरूप हैं। वे देह से रहित केवल चिदाकाशभाव को प्राप्त होते हैं। जरा, मरण को नहीं प्राप्त होते और सब कार्य को करते दृष्टि आते हैं पर हृदय से सदा अकर्तारूप हैं। जैसे जल और दर्पण में पर्वत का प्रतिबिम्ब पड़ता है परन्तु स्पर्श नहीं करता तैसे ही ज्ञानवान् को क्रिया स्पर्श नहीं करती। शरीर के व्यवहार में भी वह सदा निर्मलभाव है। हे राजन्! आत्मा सदा स्थितरूप है परन्तु भ्रम से चञ्चल भासता है। जैसे जल की चञ्चलता से पर्वत का प्रतिबिम्ब भी चञ्चल होता है, तैसे ही देहादिक से आत्मा चलता भासता है पर आत्मा नित्य शुद्ध और अपने आपमें स्थित है। जैसे घट के नाश हुए से घट नाश नहीं होता तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता और जैसे शुद्ध मणि में नाना प्रकार के प्रतिबिम्ब होते हैं पर उनसे वह रञ्जित नहीं होती तैसे ही आत्मा में मन, इन्द्रियाँ और देह दृष्टि आते हैं पर स्पर्श नहीं करते। जैसे सब मिष्ट पदार्थों में एक ही मिठाई व्यापी है तैसे ही सब पदार्थों में एक आत्मसत्ता व्यापी है। हे राजन्! आत्मा सदा अचलरूप है परन्तु अज्ञान से चलरूप भासता है। जैसे दौड़ते बालक को सूर्य दौड़ता भासता है तैसे ही आत्मा देह के संग से अज्ञानवश विकारवान् भासता है और जैसे प्रतिबिम्ब का विकार आदर्श को नहीं स्पर्श करता तैसे ही देह का विकार आत्मा को स्पर्श नहीं करता। जैसे अग्नि में सुवर्ण डालिये तो मैल

दग्ध हो जाता है पर सुवर्ण का नाश नहीं होता; तैसे ही देह के नाश हुए आत्मा का नाश नहीं होता जो नित्यशुद्ध, अवाच्य और अचिन्त्यरूप है। हे राजन्! वह चितवने में नहीं आता परन्तु चेतनवृत्ति से सब दीखता है। जैसे राहु अदृष्ट है परन्तु चन्द्रमा के संयोग से दृष्टि आता है, तैसे ही आत्मा अदृष्ट है परन्तु चेतनवृत्ति से जाना जाता है। जैसे शुद्धदर्पण में प्रतिबिम्ब होता है तैसे ही निर्मलबुद्धि से आत्मा साक्षात् होता है। और संकल्प से रहित अपने आपमें स्थित है। जब बुद्धि निर्मल होती है तब अपने आपमें उसको पाती है। हे राजन्! जबतक अपनी बुद्धि निर्मल न हो तबतक शास्त्र और गुरु से ईश्वर नहीं मिलता और जब अपनी बुद्धि निर्मल हो तब अपने आपसे दीखता है। जब संसार की सत्यता हृदय से दूर हो और आत्मा का अभ्यास हो तब बुद्धि निर्मल होती है। हे राजन्! सर्व भाव-अभावरूप जो देहादिक पदार्थ हैं सो असत् और केवल भ्रममात्र हैं उनकी आस्था का त्याग करो। जैसे कोई मार्ग में चलता है तो अनेक पदार्थ मिलते हैं परन्तु उनमें वह कुछ राग, द्वेष नहीं करता तैसे ही देह और इन्द्रियों के स्नेह से रहित आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है और उसमें देहादिक इन्द्रजाल की नाईं मिथ्या हैं उनकी भावना दूर से त्यागकर नित्य आत्मा में स्थित हो। हे राजन्! जीव आपही अपना मित्र है और आपही अपना शत्रु भी है क्योंकि आत्मा में और का सद्भाव नहीं—आत्मा में आत्मा का ही भाव है—द्वैत नहीं। जो दृश्य पदार्थ की ओर से और अनात्मधर्म विषय से खैंचकर चित्त को अपने आपमें स्थित करता है वह अपना आपही मित्र है और जो अनात्मधर्म में पदार्थों की ओर चित्त लगाता है वह अपना आपही शत्रु है। वास्तव में जो कुछ दृश्यजाल है वह भी आत्मरूप है, आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जैसे समुद्र में जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं जल ही जल है; तैसे ही आत्मा से भिन्न जगत् कुछ वस्तु नहीं—सब अनुस्यूत एक आत्मसत्ता ही स्थित है। जैसे अनेक घटों के जल में एक ही सूर्य का प्रकाश प्रतिबिम्बित होता है, तैसे ही अनेक देहों में एक ही आत्मा व्याप रहा है। वह न अस्त होता

है और न उदय होता है; सदा एकरस अविनाशी पुरुष ज्यों का त्यों स्थित है और उसमें अहंभावना करके संसार भासता है। जैसे सीपी में रूपा की बुद्धि होती है तैसे ही आत्मा में अहंबुद्धि संसार का कारण है और इसी बुद्धि से सर्व दुःख का भागी होता है। जैसे वर्षाकाल में सब नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं तैसे ही अनात्म अभिमान से सब आपदा प्राप्त होती हैं। वास्तव में चिन्मात्र और जीव में रञ्चक भी भेद नहीं एक ही रूप है। ऐसी जो बुद्धि है सो बन्धन से मुक्ति का कारण है। आत्मा सबमें अनुस्यूत व्यापा है। जैसे सूर्य का प्रकाश सब ठौर में होता है परन्तु जहाँ शुद्ध जल है वहाँ भासता है तैसे ही आत्मा सब ठौर पूर्ण है परन्तु शुद्धबुद्धि में भासता है। जैसे तरङ्ग और बुद्बुदों में जल ही व्याप रहा है तैसे ही अविनाशी आत्मा सर्वत्र व्यापा है पर जैसे सुवर्ण में भूषण नहीं तैसे ही आत्मा में जगत् का अभाव है। हे राजन्! यह संसार आत्मा में नहीं है; केवल आत्मा ही है। जो एक वस्तु पात्र की नाईं होती है उसमें दूसरी वस्तु होती है पर आत्मा तो अद्वैत है दूसरी वस्तु संसार कहाँ हो? जैसे सुवर्ण में भूषण कल्पित हैं—वास्तव में कुछ नहीं; तैसे ही आत्मा में संसार अज्ञान से कल्पित है और वास्तव कुछ नहीं केवल चिदाकाश है। जैसे नदियाँ और समुद्र नाममात्र भिन्न हैं; वास्तव में जल ही है, तैसे ही केवल चिदाकाश में विश्व नाममात्र है। जितने आकार भासते हैं उनको काल भक्षण करता है जैसे नदियों को समुद्र भक्षण करके नहीं अघाता तैसे ही पदार्थ समूहों को काल भक्षण करके नहीं अघाता। हे राजन्! ऐसे पदार्थों में क्या अभिलाषा करनी है? कई कोटि सृष्टि उत्पन्न होती हैं और उनको काल भक्षण करता है—कोई पदार्थ काल से मुक्त नहीं होता जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुद्बुदे उपजते हैं और नष्ट हो जाते हैं। इससे तू काल से अतीतपद की भावना कर कि काल को भी भक्षण करे। कैसे भावना करिये और कैसे भक्षण करिये सो भी सुन। जैसे मन्दराचल ने अगस्त्यमुनि के आने की भावना करी है तैसे ही तुम भी अपने स्वरूप की भावना करो तब काल को भक्षण करोगे। जैसे अगस्त्यमुनि ने समुद्र को पान किया था

तैसे ही आत्मारूपी अगस्त्य कालरूपी समुद्र को भक्षण करेगा। हे राजन्! जन्म मरणादिक जो विकार हैं सो भ्रम करके हैं और आत्मा के प्रमाद से भासते हैं जब आत्मा को निश्चय करके जानोगे तब कोई विकार न भासेगा, क्योंकि ये अज्ञान से रचे हैं—आकाश में कोई नहीं। जैसे भ्रम से रस्सी में सर्प भासता है सो तबतक है जबतक रस्सी को नहीं जाना और जब रस्सी को जाना तब सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है तैसे ही जन्म मरणादिक विकार आत्मा में तबतक भासते हैं जबतक आत्मा को नहीं जाना; जब आत्मा को जानोगे तब सब विकार नष्ट हो जावेंगे। हे राजन्! विकार से रहित आत्मा तेरा स्वरूप है उसकी भावना कर कि तेरे दुःख नष्ट हो जावें। आत्मपद को कहीं खोजने नहीं जाना है; न किसी वस्तु को जानकर ग्रहण करना है कि यह आत्मा है और न किसी काल की अपेक्षा ही है, आत्मा तेरा अपना स्वरूप है और सर्वदा अनुभवरूप है। तुझसे भिन्न कुछ वस्तु नहीं तू आपको ज्यों का त्यों जान। आत्मा के न जानने से आपको दुःखी जानता है। मैं मरूँगा, मैं दरिद्री हूँ, मैं दास हूँ इत्यादिक दुःख तबतक होते हैं जबतक आत्मा को नहीं जाना; जब आत्मा को जानोगे तब आनन्दरूप हो जावोगे। जैसे किसी स्त्री की गोद में पुत्र हो और वह स्वप्न में देखे कि बालक मेरे पास नहीं है तो बड़े दुःख को प्राप्त हो और रुदन करने लगे पर जब स्वप्न से जागे और देखे कि बालक मेरी गोद में है तो बड़े आनन्द को प्राप्त होती है और दुःख शोक नष्ट हो जाते हैं। हे राजन्! उसी प्रकार तेरा आत्मा अपना आप है और सदा अनुभवरूप है; उसके प्रमाद से तू आपको दुःखी जानता है; जब अज्ञानरूपी निद्रा से तू जागेगा तब आपको जानेगा और तेरे दुःख और शोक नष्ट हो जावेंगे। देह और इन्द्रियादिक जो दृश्य हैं उनसे मिलकर आपको यह जानना कि 'मैं हूँ' यही अज्ञाननिद्रा है। इससे रहित होकर देख कि आनन्द को प्राप्त हो। यह जो पदार्थ भासते हैं सो सब मिथ्या हैं जैसे बालक मृत्तिका में राजा, सेना, हाथी और घोड़ा कल्पता है सो न कोई राजा है, न सेना है; न कोई हाथी घोड़ा है एक मृत्तिका ही है; तैसे ही चित्तरूपी बालक ने आत्मरूपी मृत्तिका में जो राजा और सेना आदिक सम्पूर्ण विश्व कल्पा है सो सब मिथ्या है। हे राजन्! एक उपाय तुझसे कहता हूँ उसे कर कि तेरे दुःख नष्ट हो जावें एक वस्तु जो 'अहं' अभिलाषा सहित फुरना है, उसका त्याग करो; फिर जहाँ इच्छा हो वहाँ विचरो तुझे दुःख का स्पर्श न होगा। संकल्प ही उपाधि है और उपाधि कोई नहीं। जैसे मणि तृण से आच्छादित होती है तब दृष्टि नहीं आती और जब तृण दूर करिये तब मणि प्रकट हो आती है; तैसे ही आत्मारूपी मणि वासनारूपी तृण से ढँपी है; जब वासनारूपी तृण दूर कीजिये तब आत्मारूपी मणि प्रकट हो। हे राजन्! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से रहित जो आत्मपद है जब उसको प्राप्त होगे तब जानोगे कि मैं मुक्त हूँ। तेरा स्वरूप जो केवल आत्मरूप है उस पद में स्थित हो। वह अजन्मा और नित्य है और चैतन्यमात्र सबका अपना आप है उसके प्रमाद से दुःख होता है जैसे बालक मृत्तिका के खिलौने बनाते हैं और हाथी, घोड़ा आदि उनके नाम कल्पकर अभिमान करते हैं कि मेरे हैं और उनके नाश होने से दुःखी होते हैं; तैसे ही बालकरूप अज्ञानी स्वरूप के प्रमाद से अभिमान करता है कि यह मेरे हैं; मैं इनका हूँ और उनके नाश होने से दुःखी होता है—ऐसे नहीं जानता कि सत् का नाश नहीं होता। असत् के नाश होने से सत् का नाश मानता है। जैसे घट के नाश होने से घटाकाश नाश मानिये तैसे ही मूर्खता से दुःख पाता है। हे राजन्! तू आपको आत्मा जान। आत्मादिक संज्ञा भी शास्त्रों ने जताने के निमित्त कल्पी हैं नहीं तो आत्मा निर्वाच्यपद है; उसमें वाणी की गम नहीं और इनहीं से जाना जाता है, क्योंकि मन और वाणी में भी आत्मसत्ता है उसी से आत्मादिक संज्ञा सिद्ध होती हैं। जैसे जितने स्वप्न के पदार्थ हैं उनमें अनुभवसत्ता है उससे वे पदार्थ सिद्ध होते हैं; तैसे ही जितनी कुछ अर्थ संज्ञा हैं सो सब आत्मा से सिद्ध होती हैं। ऐसा जो तेरा स्वरूप है उसमें स्थित हो कि जरा मृत्यु आदिक दुःख नष्ट हो जावें। हे राजन्! निस्पन्द होकर देखेगा तब स्पन्द में भी वही भासेगा और स्पन्द-निस्पन्द तुल्य होकर

भासेंगे जो समाधि में होवेगा अथवा चेष्टा करेगा तौ भी तुल्य होवेगी और न समाधि में शान्ति भासेगी और न चेष्टा में दुःख भासेगा दोनों में एकरस रहेगा। हे राजन्! देना अथवा लेना, यज्ञ, दान आदिक क्रिया जो कुछ प्रकृत आचार प्राप्त हो उनको मर्यादा और शास्त्र की विधिसंयुक्त कर, पर निश्चय आत्मस्वरूप में ही रख। जैसे नट स्वाँगों को धारकर सम्पूर्ण चेष्टा करता है पर उसमें निश्चय नटत्व ही का रहता है, तैसे ही तुम भी सर्वचेष्टा करो पर उसके अभिमान और संकल्प से रहित हो। ग्रहण अथवा त्याग जो कुछ स्वाभाविक आ प्राप्त हो उसमें ज्यों के त्यों रहो। जब निर्विकल्प होकर अपने स्वरूप को देखोगे तब उत्थानकाल में भी तुम्हें आत्मा ही भासेगा जैसे जल के जाने से तरङ्ग फेन बुद्बुदा सर्व जल ही भासते हैं तैसे ही जब तुम आत्मा को जानोगे तब संसार भी आत्मरूप भासेगा। जो आत्मा को नहीं जानता उसको जगत् ही दृष्टि आता है और उससे दुःख पाता है; इससे तू अन्तर्मुख हो और संकल्प को त्यागकर परम निर्वाण अच्युतपद में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे राजाइक्ष्वाकुप्रत्यक्षोपदेशो नाम षरणवतितमस्सर्गः॥ ९६॥

मुनि बोले, हे राजन्! यह जो पुरुष है सो संकल्प से ही बँधता है और आपही मुक्त होता है। जब संकल्प से दृश्य की भावना करता है तब जन्म मरण को प्राप्त होकर दुःखी होता है। आपही संकल्प करता है और आपही बन्धन को प्राप्त होता है जैसे कुसवारी आपही गुफा बनाकर और आपही उसको मूँदकर फँसती है तैसे ही जीव अपने संकल्प से आपही दुःख पाता है और जब संकल्प को अन्तर्मुख करता है तब मुक्त होता है और मुक्त ही मानता है। इससे हे राजन्! संकल्प को त्यागकर आत्मा जो सबका अपना आप है उसकी भावना कर कि तू सुखी हो। हे राजन्! आत्मा के प्रमाद से देह आस्था की भावना हुई है उससे दुःख पाता है; इससे आत्मस्वरूप की भावना करो। तुम आत्मा चिद्रूप हो। महा आश्चर्य माया है जिसने संसार को मोह लिया है। आत्मा सर्वदा अनुभवरूप सर्वत्र व्यापक है उसको जीव नहीं जानते यही आश्चर्य

है। हे राजन्! आत्मा सदा अनुभवरूप है उसमें स्थित हो। संसार आत्माके प्रमाद और फुरने से हुआ है सो सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। जो आत्मा से भिन्न देखिये तो मिथ्या है—इससे सत् नहीं और जो आत्मा के सिवा दूसरा है नहीं, इससे असत् भी नहीं। तू आत्मा की भावना कर। जो कुछ पदार्थ भासते हैं उन्हें आत्मा से भिन्न न जान—सर्वात्मा ही है। आत्मा के सिवा जो और भावना है उसका त्याग कर। हे राजन्! जैसे जल में तरङ्ग और बुद्बुदे होते हैं सो जल से भिन्न नहीं—जल ही ऐसा हो भासता है; तैसे ही जगत् जो दृष्टि आता है सो आत्मा ही ऐसे हो भासता है जैसे सूर्य और किरणों में कुछ भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। आत्मा ही जगत्रूप है और भिन्न भिन्न आकार चित्त शक्ति से हैं सो भिन्न नहीं आत्मसत्ता ही है। जैसे तप्त हुआ लोहा वस्त्रादिक को जलाता है, सो लोहे को अपनी सत्ता नहीं अग्नि की सत्ता है; तैसे ही चैतन्य की सत्ता जगत्रूप होकर स्थित हुई है। आत्मा सदा केवलरूप है जिसमें प्रकाश और तम दोनों नहीं और न सत् है, न असत् है, न कोई देश है, न काल है, न कोई पदार्थ है केवल चैतन्यमात्र गुणातीत है उसमें न कोई गुण है न माया है केवल शान्तरूप आत्मा है। हे राजन्! वह शास्त्रों और गुरु के वचनों से पाया जाता है और तप से नहीं मिलता। केवल अपने आपसे जाना जाता है और शास्त्रादिक लखा देते हैं परन्तु "यह है" ऐसा कहकर नहीं जनाते। द्रष्टा पुरुष अपने आपसे जानता है। जैसे सूर्य की ज्योति जो नेत्रों में है वही सूर्य को देखती है, तैसे ही आत्मा ही आत्मा को देखता है और अन्तर्मुख होकर संकल्प से रहित हुआ अपने आपको देखता है। जब संकल्प बहिर्मुख होता है तब वही दृढ़ होकर स्थित होता है और फिर उसकी भावना होती है। जब संकल्परूप जगत् दृढ़ता से स्थित होता है तब दुःखदायी होता है। हे राजन्! जीव को दुःखदायी और कोई नहीं; अपने ही संकल्प करके असम्यक्दर्शी दुःखी होता है और सम्यक्दर्शी को जगत् दृष्टि भी आता है तौ भी दुःखदायी नहीं होता। जैसे रस्सी में सर्प की भावना होती है तो भय प्राप्त होता है फिर जब रस्सी के जानने

से सर्पभावना दूर होती है तब भय भी जाता रहता है; तैसे ही जिस पुरुष को संसार की भावना होती है वह दुःखदायी है। इससे आत्मा की भावना कर कि तेरे सब दुःख नष्ट हो जावें। हे राजन्! तू सर्वदा आनन्दरूप और अद्वैत है; तेरे में कोई कल्पना नहीं और तू आत्मस्वरूप है। आत्मा षट्विकारों से रहित है; विकार मिथ्या देह के हैं आत्मा शुद्ध है और आत्मा के प्रमाद से विकार भासते हैं। जब तू आत्मा को जानेगा तब कोई विकार न दृष्टि आवेगा, क्योंकि आत्मा अद्वैत है। राजा ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि आत्मा अद्वैत है। जो इस प्रकार है तो पर्वत आदिक विश्व का कैसे भान होता है और पत्थररूप बड़े आकार बन के कहाँ से उपजे हैं? इसका रूप क्या है कृपा करके कहो! मुनि बोले, हे राजन्! आत्मा में संसार कोई नहीं वह सदा शान्तरूप और निराकार है और उसमें स्पन्द-निस्पन्द दोनों शक्ति हैं जब निस्पन्द शक्ति होती है तब केवल अद्वैत भासता है और जब स्पन्दशक्ति फुरती है तब नाना प्रकार के जगत् आकार भासते हैं पर वास्तव में आत्मा ही है—कुछ भिन्न नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग कुछ और नहीं वही रूप हैं पर पवन के संयोग से तरङ्ग फुरते हैं तो भिन्न-भिन्न दृष्टि आते हैं; तैसे ही फुरनशक्ति से अहंकार भिन्न भिन्न भासते हैं—वास्तव में आत्मस्वरूप है—इतर कुछ नहीं। जैसे वट के बीज में पत्र, डाल, फूल और फल अनेक दृष्टि आते हैं तैसे ही आत्मसत्ता ने जो नाना प्रकार के आकार धारे हैं यद्यपि वे दृष्टि आते हैं तौ भी कुछ बना नहीं, केवल अद्वैत आत्मा ज्यों का त्यों स्थित है और सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है और पर्वत आदिक जो विश्व भासता है सो आत्मा का चमत्कार है जैसे स्वप्न में पर्वत और वृक्षादिक नाना प्रकार के जो आकार भान होते हैं वे अनुभवरूप हैं—उनसे इतर कुछ नहीं; तैसे ही जाग्रत् विश्व भी आत्मा का अनुभवरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इक्ष्वाकु ने पूछा, हे भगवन्! जो आत्मा सूक्ष्म है तो पर्वतादिक स्थूल असत्रूप सत् होकर कैसे भासते हैं सो कृपा करके कहो? मुनि बोले, हे राजन्! आत्मा में अनन्त शक्ति है सो आत्मा से भिन्न नहीं वही रूप है। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से भिन्न नहीं, तैसे ही आत्मा

की शक्ति आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे पवन में दो शक्ति हैं—स्पन्द और निस्पन्द, सो वही रूप है—स्पन्दशक्ति से प्रकट भासता है और निस्पन्द से प्रकट नहीं भासता; तैसे ही आत्मा में भी स्पन्द-निस्पन्द दो शक्ति हैं। जब स्पन्दशक्ति फुरती है तब अहंभाव प्रकट होता है और जब अहंभाव हुआ तब चित्त उदय होता है। अहं ही चित्त है; जब चित्त हुआ तब आकाश की भावना से आकाश बन जाता है; जब स्पर्श की भावना हुई तब पवन उत्पन्न होता है; रूप की भावना से अग्नि बनती है और जब रस की भावना हुई तब जल उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार चित्त की कल्पना से तत्त्व उपजे हैं। जब चारों तत्त्व इकट्ठे हुए तब एक अण्ड हुआ और जब दृढ़ संकल्प किया तब स्वायंभू मनु हुआ। जब अण्ड फूटा तब स्वर्ग मध्य और पाताल तीन लोक हुए वे तीनों लोक राजस सात्त्विक और तामस तीनों गुण हुए। फिर पर्वत आदिक दृश्य पदार्थ हुए। हे राजन्! केवल संकल्पमात्र ही सब हुए हैं। जब स्पन्दशक्ति फुरती है तब इस प्रकार आत्मा में भासते हैं परन्तु कुछ बना नहीं। जैसे समुद्र में फेन और बुद्बुदे फुरते हैं सो जलरूप हैं—जल से कुछ भिन्न नहीं; तैसे ही आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। आदि मनु जो स्वायंभू हैं उनके संकल्प ने आगे मन कल्पे हैं। इसी प्रकार त्रिगुणमय सृष्टि उत्पन्न होती है सो केवल संकल्पमात्र है। जबतक चित्त है तबतक विश्व है; जब चित्त फुरने से रहित हुआ तब निस्पन्दशक्ति होती है और जब निस्पन्द हुई तब फिर जगत् नहीं दिखाई देता। हे राजन्! यह विश्व मन के फुरने से है और सत्य की नाईं स्थित हुआ है। सत् जो है सर्वदश, सर्वकाल, सर्ववस्तु सो नहीं भासता और असत् सत् की नाईं भासता है। वह सत् कैसे असत् की नाईं हुआ है और असत् कैसे सत् की नाईं हुआ है सो सुन। सत् जो है सर्वदेश, सर्वकाल, सर्ववस्तु नहीं भासती और असत् जो परिच्छिन्नरूप देश, काल, वस्तु परिच्छेद संयुक्त है वह सत् की नाईं हुई है। जहाँ देखिये वहाँ दृश्य ही गुणमय संसार भान होता है। महा आश्चर्यरूप माया है जिसने सत्य को असत्य की नाईं किया है और असत्य को सत्य की नाईं स्थित किया है सो चित्त के सम्बन्ध से ही

संसार भासता है आत्मा में संसार कोई नहीं। जब चित्त को स्थित करके देखोगे तब तुम्हें संसार न भासेगा। जैसे गम्भीर जल होता है तो चलता नहीं भासता तैसे ही गम्भीर आत्मा में संसार नहीं जाना जाता कि कहाँ फुरता है। संसार भी आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं आत्मस्वरूप ही है। जैसे अग्नि के चिनगारे और जल के तरङ्ग जल से भिन्न नहीं और मणि का प्रकाश मणि से भिन्न नहीं; तैसे ही आत्मा से संसार भिन्न नहीं केवल आत्मस्वरूप है। ऐसे आत्मा को जानकर शान्तिमान् हो कि तेरे दुःख नष्ट हो जावें। केवल शान्तपद आत्मा तेरा अपना आप है। अपने स्वरूप को भूल के तू दुःखी हुआ है। जब आत्मा को जानोगे तब संसार भी आत्मरूप भासेगा, क्योंकि आत्मस्वरूप है, आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं। ऐसा आत्मा तेरा स्वरूप है उसमें स्थित हो। हे राजन्! यह सर्वजगत् चिदाकाशरूप है: यही भावना दृढ़ करो जिसको ऐसी भावना दृढ़ है और जिसकी सब इच्छा शान्त हो गई उस पुरुष को कोई दुःख नहीं लगता। उसने निरिच्छारूपी कवच पहिना है। हे राजन्! जो अहं के अर्थ से रहित है, जिसका सर्व शून्य हो गया है और जिसने निरालम्ब का आसरा किया है वह पुरुष मुक्तिरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मनुइक्ष्वाकुआख्याने सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम सप्तनवतितमस्सर्गः ॥ ९७ ॥

मनु बोले, हे राजन्! यह संसार आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु नहीं। जैसे जल और तरङ्ग; सूर्य और किरणें; अग्नि और चिनगारे भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा और संसार भिन्न नहीं—आत्मस्वरूप ही है। जैसे इन्द्रियों के विषय इन्द्रियों में रहते हैं तैसे ही आत्मा में संसार है। जैसे पवन में स्पन्द-निस्पन्दशक्ति है सो पवन से भिन्न नहीं; तैसे ही संसार आत्मा से भिन्न नहीं—आत्मस्वरूप है। हे राजन्! विषय की सत्यता को त्यागकर केवल आत्मा की भावना कर कि तेरे संशय मिट जावें। तुम आत्मस्वरूप और निर्गुण हो; तुमको गुणों का स्पर्श नहीं होता और तुम सबसे परे हो। जैसे आकाश में धूल, धुवाँ, मेघ और बादल विकार भासते हैं। पर आकाश को कुछ लेप नहीं करते—आकाश अद्वैतरूप है; तैसे ही ज्ञानवान् पुरुष जिनको आत्मज्ञान हुआ है उनको सुख, दुःख, राजस, तामस, सात्त्विक गुण लेप नहीं करते। यद्यपि उनमें लोकदृष्टि से ये गुण दीखते हैं पर वे अपने में नहीं दीखते। जैसे समुद्र में अनेक तरङ्ग जलरूप होते हैं और शुद्धमणि में नील, पीत आदिक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं सो देखनेमात्र हैं, मणि को स्पर्श नहीं करते; तैसे ही जिस पुरुष के हृदय से वासना का मल दूर हुआ है उसके शरीर को सम्बन्ध करके राजस, सात्त्विक और तामस गुणों के कार्य सुख दुःख देखनेमात्र होते हैं परन्तु स्पर्श नहीं करते। उसमें केवल सत्ता समान पद का निश्चय होता है और उसको कोई रङ्ग स्पर्श नहीं करता। जैसे आकाश को धूल का लेप नहीं होता तैसे ही आत्मा को गुणों का सम्बन्ध नहीं होता। जो पुरुष ऐसे जानता है उसको ज्ञानी कहते हैं। जब जीव निस्पन्द होता है तब आत्मा होता है और जब स्पन्द होता है तब संसारी होता है। जब चित्त फुरता है तब अनेक सृष्टि भासती हैं और जब चित्त फुरने से रहित होता है तब संसार का अत्यन्ताभाव होता है और प्रध्वंसाभाव भी नहीं भासता। तब संसार भी केवल आत्मरूप हो जाता है। इससे हे राजन्! वासना को त्यागकर चित्त को स्थित करो। यह वासना ही मल है। जब वासना का त्याग होगा तब केवल आकाश की नाईं आपको स्वच्छ जानोगे। आत्मा वाणी का विषय नहीं; वह केवल आत्मत्वमात्र है; अपने आपमें स्थित है और सर्वदा उदयरूप है। विश्व भी आत्मा का चमत्कार है कुछ भिन्न वस्तु नहीं। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य जो त्रिपुटी है सो अज्ञान से भासती है; आत्मा सर्वदा एकरूप और त्रिपुटी से रहित है। फुरने से आत्मा ही त्रिपुटीरूप होकर स्थित हुआ है इससे चित्त को स्थिर कर देख कि आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। फुरने में संसार है, जब फुरना मिटता है तब संसार भी मिट जाता है। उस फुरने की निवृत्ति के लिये सप्तभूमिका कहता हूँ। जब प्रथम जिज्ञासु होता है तब चाहता है कि सन्तजनों का संग करूँ और ब्रह्मविद्या शास्त्र को देखूँ और सुनूँ—यह प्रथम भूमिका है। भूमिका चित्त के ठहराने के ठौर को कहते हैं। फिर जब सन्तों के संग और शास्त्रों से बुद्धि बढ़ी तब सन्तों और

शास्त्रों के कहने को विचारना कि मैं कौन हूँ और संसार क्या है—यह दूसरी भूमिका है। उसके उपरान्त यह विचारना कि मैं आत्मा हूँ; संसार मिथ्या है और मुझमें कोई संसार नहीं; ऐसी भावना बारम्बार करना तीसरी भूमिका है। जब आत्मभावना की दृढ़ता से आत्मा का साक्षात्कार होता है तब सम्पूर्ण वासना मिट जाती हैं और जब स्वरूप से उतरकर देखता है तब संसार भासता है परन्तु स्वप्ने की नाईं जानता है—इससे वासना नहीं फुरती। ऐसा जो अवलोकन है सो चौथी भूमिका है। जब अवलोकन होता है तब आनन्द प्रकट होता है। ऐसे महाआनन्द का प्रकट होना पञ्चम भूमिका है। जब आनन्द प्रकट होता है और उसमें बल से स्थित हुआ तो इसका नाम पञ्चम भूमिका है। तुरीयापद छठी भूमिका है। चित्त की दृढ़ता का नाम तुरीया है। जब तुरीयातीतपद को प्राप्त होता है तब परम निर्वाण होता है—उसको सप्तम भूमिका कहते हैं। उस परमनिर्वाणपद की जीवन्मुक्त को गम नहीं क्योंकि तुरीयातीतपद है उसको वाणी से नहीं कह सकते। प्रथम तीन भूमिका जो कही हैं सो जाग्रत् अवस्था हैं, उनमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है और संसार की सत्ता भी दूर नहीं होती। चतुर्थ भूमिका स्वप्नवत् है उसमें संसार की सत्ता नहीं होती और पञ्चम भूमिका सुषुप्ति अवस्था है क्योंकि आनन्दघन में स्थित होता है। छठी भूमिका तुरीयापद है जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का साक्षी है; उसमें केवल ब्रह्म ही प्रकाशता है और निर्वाणपद में चित्त लय हो जाता है। तुरीयापद में जीवन्मुक्त बिचरते हैं। सप्तम भूमिका तुरीयातीतपद है सो परमनिर्वाणपद है। तुरीया में ब्रह्माकारवृत्ति रहती है जब ब्रह्माकारवृत्ति भी लीन हो जाती है जहाँ वाणी की गम नहीं वहाँ चित्त नष्ट हो जाता है; वह केवल आत्मत्वमात्र है और अहंभाव नहीं होता। शान्त और परमनिर्वाण तेरा स्वरूप है और सर्व विश्व भी वही रूप है कुछ भिन्न नहीं। जैसे सुवर्ण ही भूषण हैं और सुवर्ण में भूषण कल्पित है। भूषण भी परिणाम से होता है पर आत्मा सदा अच्युतरूप है और कदाचित् परिणाम को नहीं प्राप्त होता। वह केवल एकरस है उसने चित्त के फुरने से विश्व कल्पी है इससे विकारसंयुक्त भासता है।

हे राजन्! ऐसा आत्मा तेरा स्वरूप है उसमें स्थित होकर अपने प्रकृत आचार में निरहंकार होकर बिचरो बल्कि अहंकार के त्याग का अभिमान भी त्यागकर केवल आत्मरूप हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमनिर्वाणवर्णनं नामाष्टनवतितमस्सर्गः ॥ ९८ ॥

मनु बोले, हे राजन्! सर्वचिदाकाश सत्ता आदि-मध्य-अन्त से रहित अनाभास ज्यों का त्यों स्थित है और आगे भी वही स्थित रहेगा। उसमें न ऊर्ध्व है, न अधः है, न तम है, न प्रकाश है और न कुछ उससे भिन्न है। सर्व की सत्ता है जो चिन्मात्र परम सार है उसने आप ही संकल्प से चिन्तना की तब जगत् हुआ। हे राजन्! यह विश्व आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। जैसे जल में तरङ्ग, मिरच में तीक्ष्णता, शक्कर में मधुरता; अग्नि में उष्णता; बरफ में शीतलता; सूर्य में प्रकाश; आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्द है; तैसे ही आत्मा में विश्व है सो आत्मस्वरूप ही है कुछ भिन्न नहीं। हे राजन्! जो सब आत्मस्वरूप ही है तो शोक और मोह किसका करता है? जैसे काष्ठ की पुतली यन्त्र के तागे से अनिच्छित चेष्टा करती है तैसे ही नीतिरूप तागे से अभिमान से रहित होकर तू भी बिचर और यह निश्चय रख कि न मैं कुछ करता हूँ; न कराता हूँ और किसी में रागद्वेष न कर। जैसे शिला पर जो मूर्ति लिखी होती है उसको न किसी का राग है और न द्वेष है; तैसे ही तू भी बिचर कि आत्मा से भिन्न कुछ न फुरे ऐसा निरहंकार हो। चाहे व्यवहारी गृहस्थ हो, चाहे संन्यासी हो; चाहे देहधारी हो; चाहे देहत्यागी हो; चाहे विक्षेपी हो; चाहे ध्यानी हो तुझे कोई दुःख न होगा ज्यों का त्यों ही रहेगा। फुरना ही संसार है और फुरने से रहित असंसार है। जब फुरता है तब संसारी होता है और जब फुरना मिट जाता है तब केवल आकाशरूप भासता है। हे राजन्! यह जगत् सब आत्मरूप है और आत्मा ही अपने आपमें स्थित है। जो सर्वात्मा ही है तो शोक और मोह किसका कीजिये? हे राजन्! आत्मा सर्वदा एकरस है और विश्व आत्मा का चमत्कार है। जन्म मरण आदि नानाविकार आत्मा

के अज्ञान से भासते हैं; जब आत्मा का ज्ञान होगा तब आत्मरूप ही एकरस भासेगा और विषमता कुछ न भासेगी। संवेदन से आकार भासते हैं। संवेदन अहंकार और वासना के सम्बन्ध को कहते हैं। अहंकार और चित्त दोनों पर्याय हैं। हे राजन्! इसका अहंकार के साथ होना ही दुःखदायी है। केवल चिन्मात्र में अहंभाव मिथ्या है। जब तक संवेदन दृश्य की ओर फुरता है तबतक दृश्य का अन्त नहीं आता और नाना प्रकार के विकार भासते हैं पर जब संवेदन आत्मा अधिष्ठान की ओर आता है तब आत्मा शुद्ध अपना आप होकर भासता है। संवेदन भी आत्मा का आभास कल्पित है; आभास के आश्रय विश्व कल्पा है और फुरने में भी और अफुरने में भी आत्मा ज्यों का त्यों है परन्तु फुरने में विषमता भासती है और अफुरने में ज्यों का त्यों भासता है। जैसे रस्सी के अज्ञान से सर्प भासता है और जब रस्सी का ज्ञान होता है तब सर्प की सत्यता जाती रहती है और ज्यों की त्यों रस्सी भासती है पर सर्प भासने के काल में भी रस्सी ज्यों की त्यों ही थी; उसमें कुछ नहीं हुआ था—जानने न जानने में एक समान ही थी; तैसे ही आत्मा फुरने काल में जगत्रूप हो भासता है और फुरने के निवृत्त हुए आत्मा ही भासता है पर आत्मा दोनों कालों में एक समान है। जैसे सूर्य की किरणें सूर्य से भिन्न नहीं और अग्नि से ऊष्णता भिन्न नहीं, तैसे ही आत्मा से विश्व भिन्न नहीं—आत्मस्वरूप ही है। हे राजन्! अहंकारको त्याग करके अपने सत्ता समान स्वरूप में स्थित हो तब तेरे सब दुःख निवृत्त हो जावेंगे। एक कवच तुझसे कहता हूँ उसको धारण करके विचर तो यद्यपि अनेक शस्त्रों की वर्षा हो तौ भी तुझे दुःख न होगा। “जो कुछ देखता सुनता है” उसे सर्वब्रह्म जान और बारम्बार यही भावना कर कि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जब ऐसी भावना दृढ़ करेगा तब कोई शस्त्र छेद न सकेगा। यह ब्रह्मभावना ही कवच है। जब इसको तू धारेगा तब सुखी होगा। इतना कह बाल्मीकिजी बोले कि जब वशिष्ठजी ने रामजी को मनु और इक्ष्वाकु का संवाद सुनाया तब सायंकाल होकर सूर्य अस्त हुआ और सम्पूर्ण सभा और वशिष्ठजी भी स्नान

को उठे। फिर सूर्य की किरणों के निकलते ही सब आ पहुँचे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मोक्षरूपवर्णनं नाम-
नवनवतितमस्सर्गः ॥ ९९ ॥

मनु बोले, हे राजन्! जिसका कारण ही मिथ्या है उसका कार्य कैसे सत् हो। यह आभास जो संवेदन है सो ही विश्व का कारण है। जो आभास ही मिथ्या है तो विश्व कैसे सत्य हो और जो विश्व ही असत् है तो भय और शोक किसका करता है। हे राजन्! न कोई जन्मता है, न मरता है, न सुख है, न दुःख है ज्यों का त्यों आत्मा स्थित है उसी से संवेदन ने विश्व कल्पा है; इससे संवेदन का त्यागकर कि न ‘मैं हूँ’, न यह है। जब तुझे ऐसा दृढ़ निश्चय होगा तब आत्मा ही शेष रहेगा और अहंकार निवृत्त हो जावेगा, क्योंकि आत्मा के अज्ञान से हुआ है और आत्मज्ञान से नष्ट हो जाता है। हे राजन्! जो वस्तु भ्रम सिद्ध हो और सत् दृष्टि आवे उसको प्रथम विचारिये; जो विचार किये से रहे तो सत्य जानिये और आत्मा जानिये और जो विचार किये से नष्ट हो जावे उसको मिथ्या जानिये। जैसे हीरा भी श्वेत होता है और बरफ का कणका भी श्वेत होता है और एक समान दोनों भासते हैं पर उनकी परीक्षा के लिये सूर्य के सम्मुख दोनों को रखिये तो जो धूप से गल जावे सो झूठा जानिये और जो ज्यों का त्यों रहे उसको सत् जानिये; तैसे ही विचाररूपी सूर्य के सम्मुख करिये तो अहंकार बरफ की नाईं नष्ट हो जाता है, क्योंकि जो अहंकार अनात्म अभिमान में होता है सो तुच्छ है—सर्वव्यापी नहीं। जीव इन्द्रियों की क्रिया जो अपने में मानता है और परधर्म अपने में कल्पता है सो भी तुच्छ है; एवम् आपको भिन्न जानता है और पदार्थ आप से भिन्न जानता है इससे विचार किये से बरफ के हीरे की नाईं मिथ्या हो जाता है अतः अविचार सिद्ध है विचार किये से नष्ट हो जाता है पर आत्मा सर्व का साक्षी ज्यों का त्यों रहता है। वह अहंकार और इन्द्रियों का भी साक्षी है और सर्वव्यापी है। हे राजन्! जो सत् वस्तु है उसकी भावनाकर और सम्यक्दर्शी हो। सम्यक्दर्शी को कोई दुःख नहीं होता। जैसे मार्ग में रस्सी पड़ी हो उसको

रस्सी जानिये तो कोई दुःख नहीं और सर्प जानिये तो भय होता है। इससे सम्यक्‌दर्शी हो—असम्यक्‌दर्शी मत हो। हे राजन्! जो कुछ दृश्य पदार्थ हैं वे सुखदायी नहीं हैं दुःखदायी ही हैं जबतक इनका संयोग है तबतक सुख भासता है पर जब वियोग होता है तब दुःख को प्राप्त करते हैं। इससे तू उदासीन हो; किसी दृश्य पदार्थ को सुखदायी न जान और दुःखदायी भी न जान। सुख और दुःख दोनों मिथ्या हैं इनमें आस्था मत कर और अहंकार से रहित जो तेरा स्वरूप है उसमें स्थित हो। जब अहंकार नष्ट होगा तब आपको जन्म मरण विकारों से रहित आत्मा जानोगे कि मैं निरहंकार ब्रह्म चिन्मात्र हूँ। ऐसे अहंभाव से रहित होने पर अपना होना भी न रहेगा केवल चिन्मात्र; आनन्द और रागद्वेष के क्षोभ से रहित शान्तरूप होगा। जब ऐसा आपको जाना तब शोच किसका करेगा? हे राजन्! इस दृश्य को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो और इस मेरे उपदेश को विचारो कि मैं सत्य कहता हूँ अथवा असत्य कहता हूँ। जो विचार से संसार सत्य हो तो संसार की भावना करो और जो आत्मा सत्य हो तो आत्मा की भावना करो। हे राजन्! तू सम्यक्‌दर्शी हो सत् को सत् जान और असत् को असत् जान कि जो असम्यक्‌दर्शी हैं वे सत्य को असत्य मानते हैं और असत्य को सत्य मानते हैं। यथार्थ न जानने से असत् वस्तु स्थिर नहीं रहती परन्तु अज्ञानी दुःख पाता है। जैसे कोई पुरुष एक कुटी रचकर चिन्तने लगा कि मैंने आकाश की रक्षा की है तो जब कुटी नष्ट हो तब शोक करता है कि आकाश नष्ट हो गया, क्योंकि आकाश को वह कुटी के आश्रय जानता था; तैसे ही अज्ञानी पुरुष आत्मा को देह के आश्रय जानकर देह के नष्ट हुए आत्मा का नाश मानता है और दुःखी होता है। जैसे सुवर्ण में भूषण कल्पित हैं; भूषणों के नष्ट हुए मूर्ख सुवर्ण को नष्ट मानता है तैसे ही देह के नष्ट हुए अज्ञानी आपको नष्ट जानता है पर जिसको सुवर्ण का ज्ञान है वह भूषणों के होते भी सुवर्ण को देखता है और भूषणसंज्ञा कल्पित जानता है अतः ज्ञानवान् आत्मा को अविनाशी जानता है और देह और इन्द्रियों को असत् जानता है। हे राजन्! तू देह और इन्द्रियों के

अभिमान से रहित हो। जब अभिमान से रहित इन्द्रियों की चेष्टा करेगा तब शुभ अशुभ क्रिया तुझे बाँध न सकेंगी और जो अभिमान सहित करेगा तो शुभ अशुभ फल को भोगेगा। हे राजन्! जो मूर्ख अज्ञानी हैं वे ऐसी क्रिया का आरम्भ करते हैं जिसका कल्पपर्यन्त नाश न हो और देह-इन्द्रियों के अभिमान का प्रतिबिम्ब आपमें मानते हैं कि मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ; इससे अनेक जन्म पाते हैं, क्योंकि उनके कर्मों का नाश कभी नहीं होता और जो तत्त्ववेत्ता ज्ञानवान् पुरुष हैं वे आपको देह और इन्द्रियों के गुणों से रहित जानते हैं और उनके संचित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। संचित कर्म वृक्ष की नाईं हैं और क्रियमाण फूल फल की नाईं हैं। जैसे रुई को लपेट कर अग्नि लगाने से वृक्ष फूल, फल सूखे तृणवत् दग्ध होते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से संचित और क्रियमाण कर्म दग्ध हो जाते हैं। इससे हे राजन्! जो कुछ चेष्टा तू वासना से रहित होकर करेगा उसमें कोई बन्धन नहीं जैसे बालक के अङ्ग स्वाभाविक ही भली बुरी प्रकार हिलते हैं, उसके हृदय में अभिमान नहीं फुरता इससे उसको बन्धन नहीं; तैसे ही तू भी इच्छा से रहित होकर चेष्टा कर तो तुझे कोई बन्धन न होगा। यद्यपि सब चेष्टा तुझमें तब भी भासेंगी तौ भी वासना से रहित होगा फिर जन्म न पावेगा। जैसे भूना बीज देखने मात्र होता है और उगता नहीं तैसे ही तुझमें सर्वक्रिया दृष्टि आवेंगी परन्तु जन्म का कारण न होंगी अर्थात् पुण्यक्रिया का फल सुख न भोगेगा और पापक्रिया से दुःख न भोगेगा किन्तु पाप पुण्य का स्पर्श न होगा। जैसे जल में कमल स्थित होता है और उसको जल स्पर्श नहीं करता तैसे ही पाप पुण्य का स्पर्श तुझे न होगा। इससे अहं अभिलाषा से रहित होकर जो कुछ अपना प्राकृतिक आचार है सो कर। हे राजन्! जैसे आकाश में जल से पूर्ण मेघ भासते हैं परन्तु आकाश को लेप नहीं करते तैसे ही तुझको कोई क्रिया बन्धन न करेगी। जैसे विष के खानेवाले को विष नहीं मार सकता तैसे ही ज्ञानी को क्रिया नहीं बाँध सकती। ज्ञानवान् क्रिया करने में भी आपको अकर्ता जानता है पर अज्ञानी न करने में भी अभिमान से कर्ता होता है जो देह इन्द्रियों

से कर्ता है और उसके अभिमान से रहित है वह अकर्ता है और जो पुरुष इन्द्रियों का संयम करता है पर मन में विषय के भोग की तृष्णा रखता है और जिसका अन्तःकरण राग द्वेष से मूढ़ है और बड़ी क्रिया को उठाता और दुःखी होता है वह मिथ्याचारी है। जो पुरुष हृदय में रागद्वेष से रहित है—पर कर्म इन्द्रियों से चेष्टा करता है वह विशेष है अपने जाने में कुछ नहीं करता। वह मोक्ष पाता है। हे राजन्! अज्ञानरूप वासना से रहित होकर बिचरो। जो ऐसे होकर बिचरोगे तो आपको ज्यों का त्यों आत्मा जानोगे और सदा उदयरूप सबका प्रकाशक आपको जानोगे और जन्म मरण बन्धमुक्ति विकार से रहित ज्यों का त्यों आत्मा भासेगा। हे राजन्! उस पद को पाकर तू शांतिमान् होगा। अन्य सर्वकला अभ्यास विशेष विना नष्ट होती है। जैसे रस विना वृक्ष होता है तो यद्यपि फैलाववाला होता तौ भी उगता नहीं। ज्ञानकला अभ्यास विना नहीं उपजती और उपजकर नष्ट नहीं होती। जैसे धान बोते हैं तो दिन प्रतिदिन बढ़ने लगते हैं, तैसे ही ज्ञानकला दिन प्रतिदिन बढ़ती है। हे राजन्! ज्ञान उपजने से ऐसे जानता है कि मैं न मरता हूँ, न जन्मता हूँ, निरहंकार, निष्किंचनरूप हूँ, सर्वका प्रकाशक हूँ, अजर हूँ और अमर हूँ। हे राजन्! ऐसी ज्ञानकला पाकर जीव मोह को नहीं प्राप्त होता। जैसे दूध से दही हुआ फिर दूध नहीं होता और जैसे दूध को मथकर घृत निकाला तो फिर नहीं मिलता तैसे ही जिसको ज्ञानकला उदय हुई है वह फिर मोह का स्पर्श नहीं करता। हे राजन्! अपने स्वरूप में स्थित होकर और के त्याग करने का नाम पुरुषप्रयत्न है। जिस पुरुष को आत्मा की भावना हुई है वह संसार समुद्र से पार हुआ है और जिसको संसार की भावना है वह संसारी जरामृत्यु दुःख को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थोपदेशो नाम
शततमस्सर्गः ॥ १०० ॥

मनु बोले, हे राजन्! बड़ा आश्चर्य है कि शुद्ध चिन्मात्र आत्मा में माया से नाना प्रकार के देह, इन्द्रियाँ और दृश्य भासि आये हैं। हे राजन्! दृश्य का कारण अज्ञान है। जिस आत्मा के अज्ञान से दृश्यरूप भासता है उसी के ज्ञान से लीन हो जाता है इससे इस संवेदन को त्यागकर आत्मा की भावना कर। यह मैं हूँ, ये मेरे हैं ये संकल्प मिथ्या ही फुरते हैं। हे राजन्! प्रथम कारणरूप से एक जीव उपजा और उस आदि जीव से अनेक जीवगण हुए। जैसे अग्नि से चिनगारे निकलते हैं तैसे ही उसने अनेक रूप धारे हैं और कोई गन्धर्व, कोई विद्याधर, कोई मनुष्य, कोई राक्षस इत्यादिक हुए हैं। फिर जैसे संकल्प होते गये हैं तैसे ही रूप होते गये, वास्तव में जैसे जल में तरङ्ग स्वरूप के प्रमाद से अनेकभाव को प्राप्त होते हैं तैसे ही अपने संकल्प आपही को बन्धनरूप होते गये हैं। इससे संकल्प नानात्व कलना मिथ्या है। हे राजन्! इस भावना को त्यागकर आत्मपद को प्राप्त हो आत्मा अनन्त है। यह विश्व और प्रकार का भान होता है। जैसे समुद्र सम है पर उसमें कई आवर्त्ततरङ्ग और बुद्बुदे उठते हैं सो जल से भिन्न नहीं तैसे ही आत्मा में अनेक प्रकार का विश्व फुरता है सो आत्मा से भिन्न नहीं, आत्मस्वरूप ही है इससे आत्मा की भावना कर। कहीं ब्रह्म सत् संकल्प होकर फुरता है तो जानता है कि मैं ब्रह्म, शुद्धरूप और सदा मुक्तरूप हूँ और इस संसारसमुद्र से पार हो गया हूँ। जहाँ चेतना शक्ति है वहाँ आपको जीवता मानता है और दुःखी भी जानता है। अन्तःकरण से मिलकर भोग की भावना करना और सदा विषय की तृष्णा करना जीवात्मा कहाता है और जहाँ वासना क्षय हुई है और शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष है वहाँ जीवसंज्ञा नष्ट हो जाती है और केवल शुद्धआत्मा प्रकाशता है। हे राजन्! चेतन जब अन्तःकरण से मिलकर बहिर्मुख फुरता है तब संसारी हुआ जरा मरण से दुःखी होता है और जहाँ चेतनशक्ति अन्तर्मुख होती है तब जन्ममरण की भावना को त्यागकर स्वरूप की भावना करता है और सर्वदुःख की निवृत्ति होती है। जब इसकी भावना स्वरूप की ओर लगती है तब कोई दुःख नहीं रहता और जब स्वरूप का प्रमाद होता है तब दुःख पाता है। स्वरूप के ज्ञान से आनन्दरूप मुक्त होता है। हे राजन्! तू संसाररूपी कूप की गगरी न हो। जब गगरी रस्सी से बँधती है तो कभी ऊर्ध्व को जाती है और कभी अधः को जाती है पर जब रस्सी टूट पड़ती

है तब न ऊर्ध्व को जाती है और न अधः को जाती है। कूप क्या है? अधः क्या है और ऊर्ध्व क्या है? सो भी सुन। हे राजन्! संसाररूपी कूप है, स्वर्गलोक ऊर्ध्व है और नरक अधः है। पुण्यकर्म से स्वर्ग को जाता है और पापकर्म से नरक में जाता है। इसी प्रकार आशारूपी रस्सी से बँधा हुआ जीव जन्ममरणरूपी चक्र में फिरता है। स्वर्ग और नरक में फिरने का कारण आशा है। जब आशा निवृत्त होती है तब न कोई नरक है न स्वर्ग है। जबतक देह में अभिमान है तबतक नीच से नीच गति को प्राप्त होता है। जैसे पत्थर की शिला समुद्र में डारिये तो नीचे से नीचे चली जाती है तैसे ही नीच स्थानों को देखकर देहाभिमानी नीचे को चला जाता है। जब इन्द्रियादिक का अभिमान त्याग करता है तब जैसे क्षीरसमुद्र से निकलकर चन्द्रमा अधः से ऊर्ध्व को चला जाता है तैसे ही ऊर्ध्व को जाता है। हे राजन्! यदि आत्मा की भावना करोगे तो आत्मा ही होगा; इससे आशारूपी फाँसी को तोड़कर शान्तपद को प्राप्त हो। आत्मा चिन्तामणि की नाईं है। जैसी भावना कीजिये तैसे ही सिद्धि होती है, यदि तू आत्मभावना करेगा तो सम्पूर्ण विश्व अपने में देखेगा। जैसे पर्वत शिला और पत्थर को अपने में देखता है तैसे ही तू भी सर्वआत्मा जानेगा। हे राजन्! जो कुछ दृश्य है सो सर्वात्मा के आश्रय है; शास्त्र और शास्त्रदृष्टि सब आत्मा के आश्रय हैं और राजा भी आत्मा के आश्रय है वह सर्वसत्य आत्मा चिन्तामणि कल्पवृक्ष है, जैसी कोई भावना करता है तैसी सिद्धि होती है। हे राजन्! फुरने में यह सर्वदृश्य सत्य है और जब फुरना नष्ट होता है तब न कोई शास्त्र है और न कोई दृष्टि है। केवल अद्वैत आत्मा है तो निषेध किसका कीजिये और अङ्गीकार किसका करिये। जो पुरुष अहंकार से रहित हुआ है वह सर्वशास्त्र दृष्टि पर विराजता है और सर्व आत्मा होता है। जैन उसी को जिन कहते हैं और कालवादी उसी को काल कहते हैं। सबका आसरा आत्मा है। जो पुरुष देहाभिमानी है वह मूर्ख है और स्वरूप के अज्ञान से अधःऊर्ध्वलोक को गमन-आगमन करता है; पशु, क्षी, स्थावर-जङ्गम योनि पाता है और आशारूपी फाँसी से बँधा हुआ

दुःख को प्राप्त होता है। जो पुरुष सम्यक्दर्शी है और जिसकी शुद्ध चेष्टा है उसको कोई विकार दृष्टि नहीं आता आकाश की नाईं सदा निर्मल भासता है। उसको सम्पूर्ण विश्व आत्मस्वरूप भासता है और जो चेष्टा ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्रादिक करते हैं उसका कर्ता भी आपको जानता है। उसको सर्व दुःख का अन्त होता है, वह आत्मपद को प्राप्त होता है और उसको सर्व सुख की सीमा प्राप्त होती है। हे राजन्! जैसे नदी तबतक चलती है जबतक समुद्र को नहीं प्राप्त हुई पर जब समुद्र को प्राप्त होती है तब नहीं चलती तैसे ही जब तू आत्मपद को प्राप्त होगा तब कोई इच्छा तुझे न रहेगी। हे राजन्! तू अहंकार का त्याग कर अथवा ऐसा जान कि सब मैं ही हूँ। जरा मरण आदिक दुःख तब तक हैं जबतक आत्मबोध नहीं प्राप्त हुआ; जब आत्मबोध होता है तब कोई दुःख नहीं रहता। दोनों ही दुःख भारी हैं पर ज्ञानी को इन्द्र के वज्रसमान दुःख भी स्पर्श नहीं करता। हे राजन्! जैसे पेड़ से सूखकर फल गिरता है उसी प्रकार जब ज्ञानरूपी फल प्राप्त होता है तब मन, बुद्धि, अहंकार पेड़ की नाईं गिर पड़ते हैं। जब तक मन की चपलता है तबतक दुःख पाता है और जब मन की चपलता निवृत्त होती है तब कोई क्षोभ नहीं रहता और शान्तपद को प्राप्त होता है। शान्ति तब होती है जब प्रकृति का वियोग होता है। प्रकृति के संयोग से संसारी होता है और दुःख पाता है इससे प्रकृति को त्याग दे अर्थात् अहंकार से रहित होकर चेष्टा कर। जब तू अहंकार से रहित होगा तब उस पद को प्राप्त होगा जो न जड़ है, न चेतन है, न शून्य है, न अशून्य है, न केवल है, न अकेवल है, उसे न आत्मा कह सकते हैं न अनात्मा; न पृथक् होता है न दो। जो कुछ नाम हैं सो प्रतियोगी से मिले हुए हैं। प्रतियोगी हुआ द्वैत होता है और आत्मा अद्वैत है जिसमें वाणी की गम नहीं और जो अवाच्यपद है उसको कैसे कहिये? जितनी नाम संज्ञा हैं सो उपदेशमात्र हैं, आत्मा अनिर्वाच्यपद है। इससे संकल्प का त्याग कर और आत्मा की भावना कर। जब तू आत्मभावना करेगा तब केवल आत्मा ही प्रकाशेगा। जैसे फूल का कोई अङ्ग सुगन्ध से

रहित नहीं होता तैसे ही आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। हे राजन्! जब अहंकार का त्याग करोगे तब अपने आपसे शोभायमान होगे और आकाश की नाईं निर्मल आत्मा में स्थित होगे। अहंकार को त्यागकर उस पद को प्राप्त होगे जहाँ शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ प्राप्त नहीं होते; जहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियों के रस लीन होजाते हैं और सब दुःख नष्ट हो जाते हैं तब केवल मोक्षपद को प्राप्त होगे। हे राजन्! मोक्ष किसी देश में नहीं कि वहाँ जाकर पावे, न किसी काल में ही है कि अमुककाल आवेगा तब मुक्त होगा और न कोई पदार्थ ही है कि उसको ग्रहण करेगा; केवल अहंकार के त्याग से मोक्ष होता है जब तू अहंकार का त्याग करेगा तभी मोक्ष है। जब तू इस अनात्म अभिमान को त्यागेगा तब अपने आपसे शोभायमान होगा और जैसे धुवाँ विना अग्नि प्रकाशमान होती है तैसे ही अहंकार विना प्रकाशेगा। जैसे बड़े पर्वत पर निर्मल और गम्भीर तालाब शोभता है तैसे ही तू शोभेगा। हे राजन्! तू अपने स्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे समाधानवर्णनं
नामैकाधिकशततमस्सर्गः ॥ १०१ ॥

मनु बोले, हे राजन्! तू शुद्ध और रागद्वेष से रहित आत्मारामी नित अन्तर्मुख हो रह। जब तू आत्मारामी होगा तब तेरी व्याकुलता नष्ट हो जावेगी और शीतल चन्द्रमा सा पूर्णवत् हो जावेगा। ऐसा होकर अपने प्रकृत आचार में विचर और किसी फल की वाञ्छा न कर। जो पुरुष वाञ्छा से रहित होकर कर्म करता है वह सदा अकर्ता है और महा शोभा पाता है। ऐसी अवस्था में स्थित होकर जो भोजन आवे उसको भक्षण कर और जो अनिच्छित वस्त्र आवे उसको पहिर; जहाँ नींद आवे वहाँ सो रह और रागद्वेष से रहित हो। जब तू ऐसा होगा तब शास्त्र और शास्त्रों के अर्थ से उल्लंघित बर्तेगा जो ऐसा पुरुष है वह परम रस को पाकर मतवाला होता है और उसको संसार की कुछ इच्छा नहीं रहती। हे राजन्! ज्ञानवान् चाहे काशी में देह त्यागे अथवा चाण्डाल के गृह में त्यागे वह सदा मुक्त है और वह

सदा आत्मस्वरूप में स्थित है। वर्तमानकाल में वह देह को नहीं त्यागता, क्योंकि जिस काल में उसको ज्ञान हुआ उसी काल में देह का अभाव हुआ—ज्ञान से देह बाध हो जाती है। हे राजन्! ज्ञानवान् सदा मुक्तरूप है; वह न किसी की स्तुति करता है और न निन्दा करता है, क्योंकि उसके चित्त की कलना मिट गई है। यद्यपि रागद्वेष ज्ञानवान् में भी दृष्टि आते हैं और वह हँसता रोता भी देख पड़ता है परन्तु उसके अन्तर न राग है और न द्वेष है; और वास्तव से न हँसता है, न रोता है—ज्यों का त्यों है। जैसे आकाश शून्यरूप है और उसमें बादल भी दृष्टि आते हैं परन्तु आकाश को कुछ लेप नहीं करते; तैसे ही ज्ञानवान् को कोई क्रिया बन्धन नहीं करती पर अज्ञानी जानते हैं कि ज्ञानवान् को क्रिया बन्धन करती है। हे राजन्! ज्ञानवान् सर्वदा नमस्कार करने और पूजने योग्य हैं। जिस स्थान में ज्ञानवान् बैठता है उस स्थान को भी नमस्कार है; जिससे बोलता है उस जिह्वा को भी नमस्कार है और जिस पर ज्ञानवान् दृष्टि करता है उसको भी नमस्कार है; वह सबका आश्रय है। हे राजन्! जैसा ज्ञानवान् की दृष्टि से आनन्द मिलता है वैसा आनन्द तप, दान और यज्ञ आदि कर्मों से नहीं मिलता और ऐसी दृष्टि और किसी की नहीं होती जैसी सन्त की दृष्टि है वह ऐसे आनन्द को पाता है जिसमें वाणी की गम नहीं। जो पुरुष सन्त की दृष्टि को पाकर सुखी होता है उससे लोग दुःख नहीं पाते और लोगों से वह दुःखी नहीं होता और न किसी का भय करता है; न किसी का हर्ष करता है। हे राजन्! सिद्धि पाने का सुख अल्प है, क्योंकि उड़ने की सिद्धि पाई तो अनेक पक्षी उड़ते फिरते हैं; इससे आत्मज्ञान तो नहीं मिलता और आत्मज्ञान विना शान्ति नहीं होती। जब आत्मज्ञान प्राप्त होता है तब जरा, मृत्यु आदिक दुःख से मुक्त होता है और कोई दुःख नहीं रहता। जैसे पिंजरे से छूटा सिंह फिर पिंजरे के बन्धन में नहीं पड़ता, तैसे ही वह पुरुष अज्ञानरूपी पिंजरे में नहीं फँसता। हे राजन्! इससे तू आत्मा की भावना कर कि तेरे दुःख नष्ट हो जावें। अज्ञान से तुझे दुःख भासते हैं—अज्ञान से रहित सदा आनन्द रूप है इससे अनुभव-

रूप आत्मा में स्थित हो। जब तू आत्मा में स्थित होगा तब जैसे शुद्ध मणि के निकट श्वेत, रक्त, पीत, श्याम आदि रङ्ग रखिये तो वह उनके प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है पर कोई रङ्ग स्पर्श नहीं करता कल्पित से भासते हैं, तैसे ही तू प्रकृत आचार को अङ्गीकार करता रहेगा पर तुझे पाप पुण्य का स्पर्श न होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मनुइक्ष्वाकुसंवादसमाप्तिर्नाम
द्व्यधिकशततमस्सर्गः ॥ १०२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार उपदेश करके जब मनुजी तूष्णी हो गये तब राजा ने भली प्रकार उनका पूजन किया। फिर मनुजी आकाश को उड़के ब्रह्मलोक में जा पहुँचे और राजा इक्ष्वाकु राज्य करने लगा। हे रामजी! जैसे राजा इक्ष्वाकु ने जीवन्मुक्त होकर राज्य किया है तैसे ही तुम भी इस दृष्टि का आश्रय करके बिचरो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने जो कहा कि जैसे राजा इक्ष्वाकु ज्ञान पाकर राज्य चेष्टा करता रहा तैसे ही तू भी कर उसमें मेरा यह प्रश्न है कि जो अतिशय अपूर्व हो उसका पाना विशेष है और जो पूर्व में किसी ने पाया है उसका पाना अपूर्व और अतिशय नहीं; इसलिये मुझसे कहिये कि सर्व से विशेष अपूर्व अतिशय क्या है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञानवान् सदा शान्तरूप और रागद्वेष से रहित है और वह अपूर्व अतिशय को पाता है। जो कुछ और अतिशय है वह पूर्व अतिशय है, पर ज्ञानवान् अपूर्व अतिशय को पाता है ज्ञानी से अन्य कोई नहीं पाता आत्मज्ञान को ज्ञानी ही पाता है और वह ज्ञान एकही है। हे रामजी! जो दूसरा नहीं पाता तो अपूर्व अतिशय हुआ। हे रामजी! अपूर्व अतिशय को पाकर ज्ञानवान् प्रकृत आचार और सर्वचेष्टा भी करता है तौ भी निश्चय सर्वदा आत्मा में रखता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ऐसा ज्ञानवान् जो अज्ञानी की नाईं सर्व चेष्टा करता है उसको किन लक्षणों से तत्त्ववेत्ता जानिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक स्वसंवेद लक्षण है और दूसरा परसंवेद लक्षण है। आपही अपने को जाने और न जाने इसे स्वसंवेद कहते हैं और जिसको और भी जानते उसे परसंवेद कहते हैं। हे रामजी! परसंवेद के लक्षण कहता हूँ सो सुनो। तप, दान, यज्ञ, व्रत इत्यादिक करना परसंवेद है और दुःख-सुख की प्राप्ति में धैर्य से रहना समान साधु के लक्षण हैं। महाकर्त्ता और महाभोक्ता और महात्यागी होना, क्षमा, दया इत्यादिक लक्षण साधु के हैं ज्ञानवान् के नहीं और उड़ना, छिप जाना, जो अणिमादिक सिद्धि हैं वे भी समान लक्षण हैं परन्तु ये स्वाभाविक आन फुरते हैं सो और से भी जाने जाते हैं पर जो ज्ञानी के लक्षण हैं वे स्वसंवेद हैं। इससे भिन्न उसके शिर में सींग नहीं होते कि उससे जानिये। जैसे और व्यवहार हैं तैसे ही ज्ञानी को सिद्धिसमान है। यह भी ज्ञानवान् का लक्षण नहीं और पुण्य पापादिक क्रिया परसंवेद हैं सो माया के कल्पे हैं ज्ञानी के नहीं। जितने लक्षण देखने में आवेंगे वे मिथ्या हैं और माया के कल्पे हैं। ज्ञानी का लक्षण स्वसंवेद है। वह सर्वदा आत्मा में स्थित है और अपने आपसे सन्तुष्ट है। उसे न किसी का हर्ष है, न शोक है; जन्म मरण में समान है और काम, क्रोध, लोभ, मोह सबको जानता है। उसका लक्षण इन्द्रियों का विषय नहीं, क्योंकि वह निर्वाच्यपद को प्राप्त हुआ है। हे रामजी! जिसको ज्ञान प्राप्त होता है उसका चित्त स्वाभाविक ही विषयों से विरस होता है और वह इन्द्रियजित होता है— उसको भोगों की इच्छा निवृत्त हो जाती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ज्ञानिलक्षणविचारो नाम
त्र्यधिकशततमस्सर्गः ॥ १०३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मायाजाल का काटना महाकठिन है। यह आदि कलना जीव को हुई है। जो कोई इसमें सत्बुद्धि करता है वह पखेरू की नाईं जाल में फँसा हुआ निकल नहीं सकता है—तैसे ही अनात्म अभिमान से निकल नहीं सकता है। हे रामजी! फिर मेरे वचन सुनो, क्योंकि जैसे मेघ का शब्द मोर को प्रियतम लगता है, तैसे ही मेरे वचन प्रिय लगते हैं। मैं भी तेरे हित के निमित्त कहता और उपदेश करता हूँ। रघुकुल का ऐसा गुरु कोई नहीं हुआ जो शिष्य का संशय निवृत्त न करे। हे रामजी! मेरा शिष्य भी ऐसा कोई नहीं हुआ जो मेरे

उपदेश से न जगा हो। इस निमित्त मैं तप, ध्यान आदिक को भी त्यागकर तुझे जगाऊँगा—इससे मैं तुझको उपदेश करता हूँ। हे रामजी! शुद्ध आत्मा में जो अहंभाव हुआ है और जो कुछ अहंकार से भासता है सो मिथ्या है—इसमें कुछ सत् नहीं—और जो इसका साक्षीभूत ज्ञानरूप है वह सत्य है—उसका कदाचित् नाश नहीं होता। जो जो वस्तु फुरने से उपजी हैं वे सब नाशवन्त हैं—यह बात बालक भी जानते हैं। जो सत्य है वह असत्य नहीं होता और जो वस्तु असत् है वह सत् नहीं होती। जैसे रेत से घृत निकलना असत् है अर्थात् कदाचित् नहीं निकलता। जैसे एक मेंढक के लाख कणका करिये अथवा शिला पर घिसिये पर जब उस पर वर्षा होती है तब सब कणके दर्दुर हो जाते हैं। हे रामजी! तो वे दर्दुरे तब उत्पन्न हुए जब उनमें सत्यता थी। इससे सत्य का कदाचित् नाश नहीं होता और असत्य का सद्भाव कदाचित् नहीं होता। हे रामजी! सत्ब्रह्म की भावना करो। जो ब्रह्म की भावना करता है वह ब्रह्म ही होता है। जैसे घृत में घृत; दूध में दूध और जल में जल मिल जाता है तैसे ही यह जीव भावना करके चिद्घन ब्रह्म के साथ एक हो जाता है और जीवसंज्ञा निवृत्त हो जाती है। जैसे अमृत के पान किये से अमर होता है तैसे ही ब्रह्म की भावना करने से ब्रह्म होता है। जो अनात्मा की भावना करता है तो पराधीन होकर दुःख पाता है। जैसे विष के पान किये से अवश्य मरता है तैसे ही अनात्मा की भावना से अवश्य दुःख पाता है और उसका नाश होता है। इससे आत्मभावना करो। हे रामजी! जो वस्तु संकल्प से उदय होती है वह थोड़े काल रहती है और जो चल वस्तु है वह भी अवश्य नाश होती है। यह दृश्य आत्मा में भ्रम से सिद्ध है। जैसे मृगतृष्णा का जल; सीपी में रूपा और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से सिद्ध है—वास्तव नहीं; तैसे ही अहंकार देह इन्द्रियों से सुख भासता है सो सब मिथ्या है। इससे दृश्य की भावना त्याग करके अपने अनुभवस्वरूप में स्थित हो। जब आत्मा में स्थित होगे तब मोह को न प्राप्त होगे। जैसे पारस के स्पर्श से सुवर्ण हुआ ताँबा फिर ताँबा नहीं होता, तैसे ही तू भी जब

आत्मपद को जानेगा तब फिर इस मोह को न प्राप्त होगा कि मैं हूँ, यह मेरा है 'अहं' त्वंभाव तेरा निवृत्त हो जावेगा और यह भावना न रहेगी। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मच्छर और जूँ आदिक जो प्रस्वेद से उत्पन्न होते हैं सो सब कर्म करके उत्पन्न होते हैं और देवता, मनुष्यादिक सब कर्मों से उत्पन्न होते हैं अथवा कर्मों विना भी कुछ होते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आदि परमात्मा से जो सब जीव उत्पन्न हुए हैं सो चार प्रकार के हैं। एक तो कर्मों से उत्पन्न हुए हैं और एक कर्मों विना हुए हैं; एक आगे होंगे और एक अब भी उत्पन्न होते हैं। रामजी बोले, हे संशयरूपी हृदय अन्धकार के निवृत्त करनेवाले सूर्य और संदेहरूपी बादलों के निवृत्त करनेवाले पवन! कृपा करके कहिये कि कर्मों विना कैसे उत्पन्न होते हैं और कर्मों से कैसे उत्पन्न होते हैं? कैसे कैसे हुए हैं; कैसे होते हैं और कैसे आगे होंगे? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मा चिदाकाश अपने आपमें स्थित है। जैसे अग्नि अपनी उष्णता में स्थित है तैसे ही आत्मा अपने स्वभाव में स्थित है। वह अनन्त और अविनाशी है—उसमें फुरनशक्ति स्वाभाविक स्थित है जैसे पवन में स्पन्दशक्ति स्वाभाविक होती है और जैसे फूलों में सुगन्ध स्वाभाविक रहती है, तैसे ही आत्मा में फुरनशक्ति है। हे रामजी! फुरनशक्ति जैसे ही आद्यफुरी है तो उस शब्द की अपेक्षा से आकाश हुआ और जब स्पर्श की अपेक्षा की तब पवन प्रकट हुआ। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्रा हो आईं शुद्धसंवित् में जो आदि फुरना हुआ उससे प्रथम अन्तवाहक शरीर हुये; उनका निश्चय आत्मा में रहा कि हम आत्मा हैं और सम्पूर्ण विश्व हमारा संकल्प है। हे रामजी! कई इस प्रकार उत्पन्न होकर अन्तवाहक से फिर विदेह मुक्ति को प्राप्त हुये। जैसे जल से बरफ़ होकर सूर्य के तेज से शीघ्र ही फिर जल हो जाती है तैसे ही फिर वे शीघ्र ही विदेहमुक्त हुये। कई अन्तवाहक से आधिभौतिक इस प्रकार हो गये कि जबतक अन्तवाहक में स्मरण रहा तबतक अन्तवाहक रहे और जब स्वरूप का प्रमाद हुआ और संकल्प से जो भूत रचे थे उनमें दृढ़ निश्चय हुआ और जाना कि हम ये हैं तब आधिभौतिक हो गये जैसे ब्राह्मण शूद्रों के कर्म करने

लगे और उसके निश्चय में हो जावे कि मेरा यही कर्म है और जैसे शीत करके जल से बरफ़ हो जाती है तैसे ही संवित् में जब दृढ़ संकल्प हुआ तब उन्होंने आपको आधिभौतिक जाना। हे रामजी ! आदि परमात्मा से जो कर्म विना उत्पन्न हुए हैं उनका कोई कर्म नहीं, क्योंकि जो अन्तवाहक में रहे उनकी ईश्वरसंज्ञा हुई। उनके संकल्प से जीव उपजे, उनका कारण ईश्वर हुआ और आगे जीवकलना से उनका फुरना कर्म हुआ। आगे जैसेजैसे कर्म संकल्प से करते हैं तैसे तैसे शरीर धारते हैं। हे रामजी ! आत्मा से जो जीव उपजे हैं सो आदि–अकारण होते हैं; जो आज उपजे हैं तौ भी और जो चिरकाल से उपजे हैं तौ भी। वे पीछे कारण भाव को कर्म के वश से प्राप्त हुए हैं। हे रामजी ! जिनका आदि फुरना हुआ है और स्वरूप में दृढ़ निश्चय रहा है उनकी संज्ञा पुण्य है और जो स्वरूप को विस्मरण करके आधिभौतिक में निश्चय करते रहे उनकी धनसंज्ञा है। हे रामजी ! पुण्य से धन होना सुगम है और धन से पुण्य होना कठिन है–कोई भाग्यवान् पुरुष ही यत्न करके धन से पुण्यवान् होता है। जैसे पर्वत से पत्थर गिरना सुगम है तैसे ही पुण्य से धन होना सुगम है और जैसे पत्थर को पर्वत पर चढ़ाना कठिन है तैसे ही धन से पुण्य होना कठिन है। कितने चिरकाल धन में बहते हैं और कितने यत्न करके शीघ्र ही पुण्यवान् होते हैं। हे रामजी ! जो सदा अन्तवाहक रहते हैं उनकी संज्ञा ईश्वर है और जो अन्तवाहक को त्यागकर आधिभौतिक होते हैं वे जीव कहाते हैं और परतन्त्र हैं–जैसे कर्म करते हैं तैसे ही शरीर धारते हैं। जो धन से पुण्य होते हैं वे ज्ञानवान् हैं और उनका फिर जन्म नहीं होता। अब भी जो प्रथम उत्पन्न होते हैं वे कर्म विना होते हैं और जब अपने स्वरूप से गिरते हैं तब जैसा संकल्प करते हैं तैसे ही शरीर धारते हैं। हे रामजी ! यह विश्व संकल्पमात्र है; इससे संकल्प का त्याग करो। इस दृश्य की आस्था न करो। हे रामजी ! खाना, पीना इत्यादिक चेष्टा करो परन्तु उसमें अहंभाव न करो। अहंकार अज्ञान से सिद्ध हुआ है सो दृश्य मिथ्या है। अहंभाव के होने से दुःखी होता है इससे अहंकार से रहित चेष्टा करो। हे रामजी ! बन्धन और मोक्ष का लक्षण सुनो। विषय और इन्द्रियों के संयोग से इष्ट में राग करना और अनिष्ट में द्वेष करना ही बन्धन है। जैसे जाल में पक्षी बन्धायमान होता है। ग्राह्य ग्राहक इन्द्रियाँ और विषय के सम्बन्ध से इष्ट अनिष्ट होता है। जिसमें इन्द्रियों का संयोग होता है उसमें समबुद्धि रहे, उनके धर्म अपने में न देखे और उनका जाननेवाला जो अनुभवरूप आत्मा है उसमें साक्षीरूप होकर स्थित रहे; इस प्रकार जो इनका ग्रहण करता है वह सदा मुक्तिरूप है और जो इससे भिन्न है वह मूर्ख जीव बन्धवान् है। तुम इस ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध से सावधान रहो। इनका सम्बन्ध ही बन्धन है और इनसे रहित होना मुक्ति है। राग-द्वेष करनेवाला मन है; इस मन का त्याग करो; मन ही दुःखदायी है। जैसे कुम्हार का चक्र फिरता है और उससे बासन उत्पन्न होते हैं तैसे ही मनरूप चक्र से पदार्थरूपी बासन उत्पन्न होते हैं। मन के फुरने से संसार सत्य होता है और जब फुरना निवृत्त होगा तब कोई दुःख न रहेगा। हे रामजी ! जब फुरने और अफुरने में समान होगे तब राग-द्वेष से रहित होकर विचरोगे। यह हो और यह न हो; इससे रहित होकर चेष्टा करो। अभिलाषपूर्वक संसार में न फुरो। हे रामजी! पूर्व जो ज्ञानवान् हुए हैं उनको भूत की चिन्तना न थी और आगे होने की आशा भी न थी। वर्तमानकाल में शास्त्र के अनुसार रागद्वेष से रहित वे चेष्टा करते थे; इससे तू भी संकल्प का त्यागकर स्वरूप में स्थित हो। हे रामजी ! ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त किसी पदार्थ में राग हुआ तो बन्धन है। मेरा यही आशीर्वाद है कि ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त किसी पदार्थ में तुम्हें रुचि न हो, अपने आपही में रुचि हो। हे रामजी ! यह संसार मिथ्या है और इसमें कोई पदार्थ सत् नहीं है–सब मन के रचे हुए हैं; इससे मन को स्थित करो। जैसे धोबी साबुन से वस्त्र का मैल दूर करता है तैसे ही मन से मन को स्थिर करो। जब मन को स्वरूप में स्थिर करोगे तब मन अपने संकल्प को आप ही नाश करेगा। जैसे दुष्ट पुरुष की जब धन से वृद्धि होती है तब वह अपने भाई आदिक के नाश करने का उपाय करता है, तैसे ही मन जब आत्मपद में स्थित होता है तब अपने

संकल्प को नष्ट करता है जब तुम्हारा मन स्वरूप में स्थित होगा तब तुम अमन होगे और तुम्हारे सब दुःख नष्ट हो जावेंगे। मन के नाश विना सुख नहीं। हे रामजी! यह मन ऐसा दुष्ट है कि जिससे उपजता है उसी के नाश का निमित्त होता है। जैसे बाँस से अग्नि उपजकर उसी को जलाती है, तैसे ही आत्मा से उपजकर यह मन आत्मा ही को तुच्छ करता है। जैसे राजा का नौकर राजा की सत्ता पाकर राजा को ही मारकर आप राजा होता है, तैसे ही मन आत्मा की सत्ता पाकर और उसको ढाँपकर आपही कर्ता भोक्ता हो बैठा है। इससे मन को मन ही से नाश करो। जैसे लोहा तपाकर लोहे को काटता है तैसे ही मन से मन ही को शुद्ध करो। हे रामजी! वृक्ष, बेलि, फल, फूल, पशु, पक्षी, देवता, यक्ष, नाग जो कुछ स्थावर-जंगम पदार्थ हैं वे प्रथम कर्मों के विना उत्पन्न हुए हैं और पीछे जब स्वरूप से गिरते हैं और घन पद को प्राप्त होते हैं तब कर्मों से शरीर होते हैं। कर्मों का बीज अहंकार है और अहंकार में शरीर है। जैसे बीज से वृक्ष होता है और समय पाकर फूल, फल प्रकट होते हैं; तैसे ही अहंकार से शरीर प्रकट होते हैं और जब अहंकार नष्ट हुआ तब कोई शरीर नहीं—केवल आत्मपद है। अहंकार है नहीं और प्रत्यक्ष दिखाई देता है और आत्मा अच्युत है पर गिरे की नाईं भासता है; निरवलम्ब है और अवलम्ब की नाईं दृष्टि आता है; निराकार है पर आकार सहित भासता है; निराभास है और आभाससहित दिखाई देता है। इससे केवल चिन्मात्र आत्मा में स्थित हो। यह सब चिन्मात्र ही रूप है। हे रामजी! जब ऐसी भावना होती है तब चित् अचित् हो जाता है और जब चित् अचित् हुआ तब जगत्कलना मिट जाती है केवल आत्मतत्त्व ही भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्माकर्मविचारो नाम
चतुरधिकशततमस्सर्गः ॥ १०४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस जीव के तीन स्वरूप हैं—एक स्वरूप तो शुद्धात्मा चिदानन्द ब्रह्म है जिससे सब प्रकाशते हैं; दूसरा अन्तवाहक पुण्यनाम है जो आत्मा के प्रमाद से हुआ है। जो मात्रपद से उत्थान हुआ है तो भी प्रमादी नहीं, क्योंकि आत्मा का स्मरण रहा है

चित्, आनन्द (पर)

और जब आत्मपद को भूला तब तीसरा आधिभौतिक हुआ और पञ्चतत्त्वों को अपना आप जानने लगा है। हे रामजी! ये तीन स्वरूप जीव के हैं। आत्मा के प्रमाद से जीवसंज्ञा पाता है और दुःखी और परतन्त्र होता है। इससे पञ्चभौतिक और अन्तवाहक को त्यागकर वास्तवस्वरूप में स्थित हो। हे रामजी! ये जो स्थूल और सूक्ष्म शरीर हैं सो विचार से नष्ट हो जाते हैं पर तीसरा जो स्वरूप है वह सत्य है। तू उसी में स्थित हो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ये तीन रूप जो तुमने जीव के कहे उनके मध्य में नाशरूप कौन है और सत्रूप कौन है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! हाथ पाँव संयुक्त जो देह है और भोग से मिली हुई है यह स्थूलरूप है और यह जीव अपने ही संकल्प से सदा फैलाव रचता है। चित्तरूपी देह इस फुरनेरूप से अन्तवाहक है वह सदा प्राणवायु के रथ पर स्थित रहता है—देह हो चाहे न हो। हे रामजी! ये दोनों शरीर उपजते और नष्ट भी होते हैं और आदि अन्त से रहित चिन्मात्र जो निर्विकल्प है उसे जीव का परमरूप जानो। जो तुरीयापद है उसी से जाग्रदादिक उपजे हैं और उसी में लीन होते हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मैं तीन को जानता हूँ—एक जाग्रत् है जो निद्रा से रहित है और जिसमें इन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं; दूसरा स्वप्न है वहाँ भी इन्द्रियाँ विषय को जाग्रत् की नाईं संकल्प से ग्रहण करती हैं और तीसरे में इन्द्रियाँ अपने विषय से रहित होती हैं और जड़ता आती है, तब कुछ नहीं भासता शिला की नाईं जड़ता तमोगुण आत्मक है—सो सुषुप्ति है। इन तीनों को तो मैं जानता हूँ पर तुरीया और तुरीयातीत को कृपा करके कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अपना होना और न होना दोनों को त्यागकर पीछे केवल तुरीयापद रहता है सो शान्त और निर्मलपद है। हे रामजी! तुरीया जाग्रत् नहीं, क्योंकि जाग्रत् संकल्प जाल है और उससे मनरूप इन्द्रियों में रागद्वेष होता है। तुरीया स्वप्न अवस्था भी नहीं क्योंकि स्वप्न भ्रमरूप होता है—जैसे रस्सी में सर्प भासता है सो और का और होता है और तुरीया सुषुप्ति भी नहीं, क्योंकि उसमें अत्यन्त जड़ता है तुरीया चेतनरूप, उदा-

पर

सीन और शुद्ध है और जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से रहित है । जीवन्मुक्त तुरीयापद में स्थित रहता है । हे रामजी ! जो तुरीयापद में स्थित है वह जगत् में स्थित हुआ भी शान्त है और अज्ञानी को जगत् वज्रसारवत् दृढ़ है । ज्ञानी सदा शान्तरूप है, क्योंकि वह तीनों अवस्थाओं का साक्षी है, उसको न उनमें राग है न द्वेष है उदासीन की नाईं है तुरीयातीतपद को वाणी की गम नहीं । जीवन्मुक्त पुरुष जब विदेहमुक्त होता है तब इसी पद को प्राप्त होता है जहाँ वाणी की भी गम नहीं । जबतक जीवन्मुक्त है तबतक तुरीयापद में स्थित रह राग द्वेष से रहित होता है और इन्द्रियाँ भी अपने विषय में राग द्वेष से रहित होकर स्वाभाविक बर्तती हैं । जिस पुरुष को राग द्वेष उत्पन्न होता है वह तुरीयापद को नहीं प्राप्त हुआ और चित्त सहित है और जिस पुरुष को राग द्वेष नहीं उत्पन्न होता उसका चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है । जिसका चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है उसको संसार की सत्यता नहीं भासती; वह स्वप्नवत् जगत् को देखता है । इससे तू भी सत्पद में स्थित होकर साक्षीरूप हो रह ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे तुरीयापदविचारो नाम
पञ्चाधिकशततमस्सर्गः ॥ १०५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! कर्ता, कारण और कर्म ये तीनों हों पर तू इनका साक्षी हो । इनका कर्तृत्व अभिमान तुझे न हो कि मैं यह कर्ता हूँ अथवा मैंने इसका त्याग किया है, उदासीन की नाईं हो रह । इसी पर एक आख्यान कहता हूँ उसे सुनो । तुम प्रबुद्ध हो तौ भी दृढ़ बोध के निमित्त सुनो । हे रामजी ! एक वन में काष्ठमौन-नामक एक मुनि रहता था एक दिन एक वधिक किसी मृग पर बाण चलाता हुआ उसके पीछे दौड़ता जाता था जब वह आगे गया तो मृग वधिक की दृष्टि से अगोचर हो गया । वधिक ने देखा कि एक तपस्वी बैठा है; उससे पूछा, हे मुनीश्वर ! यहाँ एक मृग आया था सो किस ओर को गया तुमने देखा हो तो मुझसे कहो ? काष्ठमौन बोले, हे वधिक ! हमको कुछ सुधि नहीं, क्योंकि हम निरहंकार हैं, हमारे साथ चित्त और अहंकार दोनों नहीं । जो तुम कहो कि इन्द्रियों की चेष्टा कैसे होती है; तो जैसे सूर्य के आश्रय लोगों की चेष्टा होती है और दीपक के आश्रय चेष्टा होती है और सूर्य दीपक साक्षी हैं तैसे ही हम इन्द्रियों के साक्षी हैं और इनकी चेष्टा स्वाभाविक होती है । हमको इनसे कुछ प्रयोजन नहीं । हे वधिक ! अहंभाव करनेवाला अहंकार है । जैसे माला के भिन्न भिन्न दाने तागे के आश्रय होते हैं और सबमें एक तागा होता है तब माला होती है पर जब तागा टूट पड़ता है तब दाने भिन्न भिन्न हो जाते हैं; तैसे ही इन्द्रियाँरूपी दाने हैं और अहंकाररूपी तागा है; उस अहंकाररूपी तागे के टूटने से इन्द्रियाँ भिन्न भिन्न हो जाती हैं । जैसे राजा के नाश हुए सेना और गोपाल के नष्ट हुए गौवें भिन्न भिन्न हो जाती हैं और पिता के नष्ट हुए बालक व्याकुल होते हैं तैसे ही अहंकार बिना इन्द्रियाँ व्याकुल होती हैं । इनका अभिमान मुझमें कुछ नहीं । इनका अभिमानी अहंकार था सो मेरा नष्ट हो गया है । इन्द्रियाँ अपने अपने विषय में बिचरती हैं मुझको इनका न राग है और न द्वेष है । हे साधो । मुझे न जाग्रत् है और न स्वप्न, न सुषुप्ति भासती है; इन तीनों से रहित हम तुरीयापद में स्थित हैं और हमारा अहं त्वं मिट गया है । हम नहीं जानते कि मृग बायें गया या दाहिने, क्योंकि नेत्र इन्द्रियाँ देखनेवाली हैं उनको बोलने की शक्ति नहीं । ये अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं, एक इन्द्रिय को दूसरे की शक्ति नहीं फिर तुझसे कौन कहे ? इन सबका धारनेवाला अहंकार था जो सबको अपना आप जानता था । जैसे शरत्काल में मेघ नष्ट होते हैं तैसे ही अहंकार के नष्ट होने से हम स्वच्छ, निर्मल शान्त तुरीयापद में स्थित हैं । इन्द्रियों का बीज अहंकार मृतक हो गया है और इन्द्रियाँ भी मृतक हो गई हैं देखनेमात्र दृष्टि आती हैं । जैसे भीत पर पुतलियाँ लिखी हों पर उनसे कार्य कुछ न हो तैसे ही हमारी इन्द्रियों से कुछ कार्य नहीं होता तो तुझसे कौन कहे । वशिष्ठजी बोले, हे रामचन्द्र ! जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तब वधिक समझकर उठ गया । हे रामजी ! तुरीयापद शान्तरूप है जहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों का अभाव है वह केवल अद्वैतपद है । ये जो ब्रह्म, आत्मा, चिदानन्द आदि संज्ञा हैं सो तुरीयापद में हैं और तुरीयातीतपद में शब्द की गम

नहीं वह अशब्दपद है। विदेहमुक्त पुरुष उसी पद को प्राप्त होते हैं और जीवन्मुक्त साक्षात् करके तुरीयावस्था में विचरते हैं; जहाँ जाग्रत जो दीर्घ दुःख सुख का भान है सो नहीं और स्वप्न जो राग द्वेष के लिये अल्पकाल है सो भी नहीं और जड़ता तामस अवस्था भी नहीं। इन तीनों से रहित तुरीयापद है और शान्त है उसमें कोई क्षोभ नहीं। यह जगत् उसका आभास है। जैसे समुद्र में तरङ्ग वास्तव में कुछ नहीं—जल ही है, तैसे ही केवल तुरीयास्वरूप सत्तासमान तेरा स्वरूप है उसमें स्थित हो। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सिद्ध, ज्ञानी इत्यादिक स्थित हैं और काष्ठमौन वधिक का उपदेश करनेवाला भी तुरीयापद में स्थित है। उसकी विशेषकलना जो भिन्न भिन्न नामरूप को देखनेवाली थी निवृत्त हुई थी, केवल सत्तासमान में स्थित था। इससे कलना को त्यागकर तुम भी तुरीयापद में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे काष्ठमौनवृत्तान्तवर्णनं नाम षडधिकशततमस्सर्गः ॥ १०६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह विश्व केवल आकाशरूप है पर आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, आत्मा का ही चमत्कार है। जैसे मेघ में बिजली का चमत्कार होता है तैसे ही यह विश्वरूप चित्तकला आत्मा का चमत्कार है। हे रामजी! वास्तव में ब्रह्म ही है कुछ भिन्न नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह विश्व आपने ब्रह्मरूप कहा कि मेघ में बिजली की नाईं क्षण में उपजता और क्षण में लीन होता है; पर मेघ में बिजली दृष्टि आती है। जहाँ मेघ होता है वहाँ बिजली भी होती है इससे मेघ से बिजली उत्पन्न हुई तो उसका कारण मेघ है। हे मुनीश्वर! इस चित्तस्पन्द कला के कारण की उत्पत्ति ब्रह्म से कैसे हुई है सो कृपा करके मुझसे समझाकर कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जो वितण्डक होकर तुम तर्क करते हो सो कुछ नहीं—इस नाशबुद्धि को त्यागो। यह तो बालक भी जानते हैं कि बिजली क्षणभंगुररूप है सत्य नहीं। तुम्हारा और क्या प्रयोजन है सो कहो। यह तर्क कारण कार्यरूप का कैसा करते हो? रामजी बोले, हे भगवन्! यह स्पन्दकला सत्य है

वा असत्य है? इसका कारण कौन है जिससे यह फुरती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सर्व प्रकार से सर्वात्मा ही स्थित है। चित्त और चित्तस्पन्द यह भेदकल्पना वास्तव में कुछ नहीं; ब्रह्म ही अपने स्वरूप में आप स्थित है और सब भ्रम से भासते हैं। जैसे भ्रमदृष्टि से आकाश में मोती भासते हैं और नेत्र मूँदकर खोलो तो तरुवरे भासते हैं, तैसे ही यह जगत् भ्रम से भासता है। हे रामजी! हम इस संसारसमुद्र के पार हुए हैं। हम सरीखे ज्ञानवानों के यथार्थ वचन सुनकर हृदय में धारो तो शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति हो और जो मूर्खता करके मेरे वचनों को न धारोगे तो तुम्हारे दुःख नष्ट न होंगे और वृक्ष, तृण, बेल आदिक योनि पावोगे। हे रामजी! आकाश और काल आदिक पदार्थ सर्वकलना से सिद्ध हुए हैं—आत्मा में कोई नहीं। हे रामजी! वायु से रहित जो समुद्र का चमत्कार है उसका कारण कौन है? दीपक में जो प्रकाश और अग्नि में उष्णता है तो उस प्रकाश और उष्णता का कारण कौन है? वायु के निस्पन्द और स्पन्द का कारण कौन है? जैसे इनका कारण कोई नहीं, वायु का रूप स्पन्द निस्पन्द है, अग्नि का रूप उष्णता है और दीपक का रूप प्रकाश है तैसे ही कलना भी आत्मस्वरूप है—कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी! यह कलना जो तुझको भासती है उसको त्याग करो। जब अपने आप को देखोगे तब संशय मिट जावेंगे। जैसे जब प्रलयकाल का जल चढ़ता है तब सर्व जलमय हो जाता है—कुछ भिन्न नहीं होता, तैसे ही अपने स्वरूप को जब तुम देखोगे तब तुमको सब आत्मा ही भासेगा—आत्मा से भिन्न कुछ न दृष्ट आवेगा। हे रामजी! आत्मा एक रस है; सम्यक्दर्शन से ज्यों का त्यों भासेगा और असम्यक्दर्शन से और का और भासेगा। जैसे रस्सी को यथार्थ न देखिये तो सर्पभ्रम होता है और भयवान् होता है और जब ज्यों की त्यों रस्सी जानी तब सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है तैसे ही आत्मा के न जाने से जीव संसारी होता है, भयभीत होता है, आपको जन्मता मरता मानता है और सर्वविकार देह के आत्मा में जानता है पर जब आत्मा को जानता है तब सब भ्रम निवृत्त हो जाते हैं। जैसे नेत्रों से तारे दीखते हैं और जब

शिव औ
शक्ति

गुरु आज

सत्य है
गुरु वच
सत्य है

नेत्र मूँद लो तो उनका आकार अन्तःकरण में भासता है, क्योंकि उनकी सत्यता हृदय में होती है–पर जब हृदय से उनकी सत्यता उठ जाती है तब फिर नहीं भासते, तैसेही चित्त के भ्रम से संसार हुआ है उसको मिथ्या जानो। हे रामजी ! फुरने में जो दृढ़भावना हुई है सो ही सत्य होकर मिथ्या संसार हुआ है; जब चित्त का त्याग करोगे तब संसार की सत्यता जाती रहेगी। रामजी बोले, हे भगवन् ! आपने जो कहा कि यह विश्व कल्पनामात्र है सो मैंने जाना कि इसी प्रकार है–कुछ सत्य नहीं। जैसे राजा लवण, इन्द्र ब्राह्मण के पुत्र और शुक्र की कलना जब फुरने से दृढ़ हुई तब उन्हें फुरनरूप विश्व सत्य होकर स्थित हुआ और भासने लगा। हे भगवन् ! यह मैं जानता हूँ कि विश्व फुरनेमात्र है पर जब फुरना मिट जाता है तो उसके पीछे जो शान्तिरूप शेष रहता है सो कहो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अब तुम सम्यक् बोधवान् हुए हो और जो जानने योग्य है वह तुमने जाना है। हे रामजी ! अध्यात्म शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि और सब दृश्य असंभव है एक चिद्घन ब्रह्म अपने आपमें स्थित है। हे रामजी ! आत्मा शुद्ध, निर्मल और विद्या-अविद्या से रहित है और संसार का उसमें अत्यन्त अभाव है। जो कुछ शब्द आदिक संज्ञा हैं वे भी फुरने में हैं आत्मा तो निर्वाच्यपद है। उसकी संज्ञा इतनी शास्त्रकारों ने कही हैं। शून्यवादी तो उसी को शून्य कहते हैं; विज्ञानवादी विज्ञानरूप कहते हैं; उपासनावाले उसी को ईश्वर कहते हैं; कोई कहते हैं आत्मा सर्व का कारण है वही शेष रहता है; कोई आत्मा को सर्वशक्त कहते हैं कोई कहते हैं कि आत्मा निःशक्त है और कोई साक्षी आत्मा और शक्ति को भिन्न मानते हैं। हे रामजी ! जितने वाद हैं सो सर्व ही कलना से हुए हैं और कलना को मानकर सब वाद उठाते हैं, वास्तव में कोई वाद नहीं आत्मा निर्वाच्यपद है। मेरा जो सिद्धान्त है वह भी सुनो। आत्मा सर्वकलना से अतीत है। जैसे पवन स्पन्दशक्ति से फुरता है और निस्पन्द से ठहर जाता है, क्योंकि स्पन्द भी पवन है और निस्पन्द भी पवन है इतर कुछ नहीं, तैसे ही आत्मा शुद्ध अद्वैतरूप है और कलना भी आत्मा के

शुद्ध विद्या
और माया।

आश्रय फुरती है आत्मा से भिन्न नहीं। और जो भिन्न प्रतीत होती है उसको मिथ्या जानकर त्यागो और अपने निर्विकार स्वरूप में स्थित रहो। जब तुम आत्मस्वरूप में स्थित होगे तब जितने शास्त्रों के भिन्न भिन्न मतवाद हैं सो कोई न रहेंगे केवल अपना आप स्वच्छ आत्मा ही भासेगा। हे रामजी ! उस निर्विकल्पपद को पाकर तुम शान्तिमान् हुए हो और असत् की नाईं स्थित हुए हो, क्योंकि द्वैतकलना नहीं फुरती। हे रामजी ! आत्मा, ब्रह्मआदिक शब्द भी उपदेश निमित्त कहे हैं पर आत्मा शब्द से अतीत है और सर्वजगत् आत्मस्वरूप है और संसाररूप विकार आत्मा में असम्यक् दर्शन से भासते हैं जैसे शून्य आकाश में तरुवरे मोतीवत् भासते हैं सो अविदित हैं तैसे ही आत्मा में जगत् द्वैत अविदित भासता है। इससे जगत् द्वैत की भावना त्यागकर निर्विकल्प आत्मस्वरूप में स्थित रहो।

प्रसंह

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अविद्यानाशरूपवर्णनं नाम सप्ताधिकशततमस्सर्गः ॥ १०७ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! देह, इन्द्रियाँ और कलना में सार वस्तु क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो कुछ यह अहं त्वं आदि जगत् दृश्य है सो सब चिन्मात्र है। जैसे समुद्र जल ही मात्र है तैसे ही जगत् चिन्मात्र है। मनसहित षट् इन्द्रियों से जो कुछ दृश्य भासता है सो भ्रममात्र है। हे रामजी ! देह, इन्द्रियाँ आदि सब मिथ्या हैं; आत्मा में कोई नहीं चित्त के कल्पे हुए हैं और चित्त ही इनको देखता है। जैसे मरुस्थल में मृग को जलबुद्धि होती है तो जल के निमित्त दौड़कर दुःख पाता है, तैसे ही चित्तरूपी मृग आत्मरूपी मरुस्थल में देह इन्द्रियाँ विषयरूपी जल कल्पकर दौड़ता है और दुःख पाता है सो देह इन्द्रियाँ भ्रम करके भासते हैं। जैसे मूर्ख बालक परछाहीं में वैताल कल्पता है तैसे ही मूर्ख चित्त ने देह इन्द्रियादिक कल्पना की हैं। हे रामजी ! आत्मा शुद्ध निर्विकार है उसमें चित्त ने भ्रम से विकार आरोपण किये हैं। जैसे भ्रान्ति दृष्टि से आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं, तैसे ही चित्त ने देह इन्द्रियाँ कल्पी हैं पर चित्त भी कुछ सत्य नहीं, आत्मा की सत्ता लेकर

चेष्टा करता है। जैसे चुम्बक की सत्ता लेकर लोहा चेष्टा करता है तैसे ही निर्विकार आत्मा की सत्ता लेकर चित्त नाना प्रकार के विकार कल्पता है। इससे चित्त का त्याग करो जिससे तुम्हारा विकारजाल मिट जावे। हे रामजी ! देह इन्द्रियों में सार क्या है सो सुनो। जो कुछ संसार है उसका सार देह है, क्योंकि सब देह के सम्बन्धी हैं। जब देह मिट जाता है तब सम्बन्धी भी नहीं रहते। देह का सार इन्द्रियाँ हैं; इन्द्रियों का सार प्राण हैं; प्राणों का सार मन है और मन का सार बुद्धि है। बुद्धि का सार अहंकार है, अहंकार का सार जीव है, जीव का सार चिदावली है—चिदावली वासना संयुक्त चेतना को कहते हैं—और चिदावली का सार चित्त से रहित शुद्ध चैतन्य है जिसमें सर्व विकल्प की लय है और जो शुद्ध निर्मल और चिन्मात्र ब्रह्म आत्मा है उसमें कोई इनका उत्थान नहीं। हे रामजी ! चिदावली पर्यन्त सबको त्यागकर इनका जो सार चैतन्य आत्मा है उसमें स्थित हो। विश्व कलना-मात्र है, आत्मा में कुछ नहीं, संकल्प की दृढ़ता से सत् की नाईं भासता है। पहिले भी शुक्र और लवण राजा और इन्द्र के पुत्रों का वृत्तान्त कहा है कि संकल्प से उन्हें जगत् दृढ़ होकर भासि आया था सो वास्तव में कुछ नहीं था; तैसे ही यह विश्व भी चित्त के फुरने में स्थित है। असम्यक्दृष्टि से अद्वैत आत्मा में दृश्य भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है तैसे ही आत्मा में अहंकार आदिक अज्ञान से दृश्य भासते हैं। इससे इनको त्यागकर अपने वास्तव स्वरूप में स्थित हो। हे रामजी ! एक गढ़ तुमसे कहता हूँ जिसमें किसी शत्रु की गम नहीं उसमें स्थित हो। हम भी उसी गढ़ में स्थित हैं और जितने ज्ञानवान् हैं वे भी उसी में स्थित होते हैं। हे रामजी ! काम, क्रोध, लोभ, अभिमानादिक विकार आत्मा में नहीं पाये जाते। जैसे रात्रि में दिन नहीं होता, तैसे ही विकाररूपी दिन गढ़रूपी रात्रि में नहीं पाया जाता इससे अचिन्त्यरूप गढ़ में जहाँ कोई फुरना नहीं और जो केवल शान्तरूप है उसमें अहंभाव त्यागकर स्थित हो तो अहंत्वं भाव निवृत्त हो जावे। जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब ज्ञानी फुरने अफुरने में स्वरूप को

Wonderful Completely

=स

ओर शुद्ध अहं रहे जो

तुल्य देखता है और सम्पूर्ण जगत् उसको आत्मरूप भासता है। इससे चिदावली से आदि देह-पर्यन्त जो अनात्म है उसको क्रम करके त्यागो। प्रथम देह को त्यागो, फिर इन्द्रियों के अभिमान को त्यागो; इसी क्रम से सबको त्याग के अपने वास्तवस्वरूप में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवत्वाभावप्रतिपादनं
नामाष्टाधिकशततमस्सर्गः ॥ १०८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह संसार चेतनमात्र है। आत्मा से कुछ भिन्न नहीं, आत्मा ही विश्वरूप होकर स्थित हुआ है। जैसे सूर्य की किरणें ही जलाभास होती हैं तैसे ही आत्मा का चमत्कार दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है। जैसे संकल्प और संकल्प-कर्त्ता भिन्न नहीं और आकाश ही भ्रम से मोती की माला होकर भासता है, तैसे ही आत्मा ही दृश्यरूप होकर भासता है। जैसे बीज ही वृक्ष, फूल और फल होता है तैसे ही विश्व आत्मा ही है और दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है। जैसे जल के तरङ्ग जल ही हैं तैसे ही विश्व आत्मा ही है। हे रामजी ! चिदावली भी जीव, अहंकार, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियाँ, देह, विश्व, आकाश, काल, दिशा, पदार्थ, सब आत्मा ही है—आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। इससे विश्व को अपना स्वरूप जानो। जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य ही है तैसे ही तुम जानो कि सर्व मैं ही हूँ। जो ऐसे न जान सको तो ऐसे जानो कि देह भी जड़ है और इन्द्रियों से पालित है; सो मैं नहीं। इन्द्रियाँ भी मैं नहीं, क्योंकि प्राण इन्द्रियों का सार है जो प्राण न हो तो इन्द्रियाँ किसी काम की नहीं। प्राण भी मैं नहीं, क्योंकि प्राण का सार मन है जो मन मूर्च्छित होता है और प्राण आते जाते भी हैं तो भी किसी काम के नहीं। मन भी मैं नहीं, क्योंकि मन के प्रेरनेवाली बुद्धि है, जो निश्चय बुद्धि करती है मन भी वहीं जाता है। बुद्धि भी मैं नहीं; क्योंकि बुद्धि का प्रेरक अहंकार है और अहंकार भी मैं नहीं, क्योंकि अहंकार का सार जीव है, जीव विना अहंकार किसी काम का नहीं। जीव भी मैं नहीं, क्योंकि जीव का सार चिदावली है। चिदावली शुद्ध चिद् में चैतन्योन्मुखत्व होने को कहते हैं। जीवसंज्ञा से प्रथम ईश्वर

संवित

भाव चिदावली भी मैं नहीं, क्योंकि चिदावली का सार चिन्मात्र है सो अद्वितीय निर्विकल्पस्वरूप है। ये सब अनात्मभ्रम से सिद्ध हुए हैं, मैं केवल शान्तरूप आत्मा हूँ। हे रामजी! जो तुम्हारा वास्तवस्वरूप है वही हो रहो उससे भिन्न अनात्म में अहं प्रतीत को त्याग दो तुम देह से रहित निर्विकार हो, तुममें जन्म मरणादिक कोई विकार नहीं और शान्तरूप ज्यों के त्यों स्थित हो। तुम कदाचित् स्वरूप से और नहीं हुए—उसी स्वरूप में स्थित रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सारप्रबोधनं नाम नवाधिकशततमस्सर्गः ॥ १०९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मा चिन्मात्र से बढ़के और सार कुछ नहीं। उसी में स्थित रहो जिससे सब ताप मिटि जावें। हे रामजी! सर्व आत्मा ही स्थित है। जैसे बीज ही फलफूल होकर स्थित होता है तैसे ही सर्व आत्मा ही स्थित है तो निषेध और त्याग किसका करिये। इतना कह बाल्मीकिजी बोले, हे शिष्य! ऐसे वशिष्ठजी के वचन सुनके रामजी प्रसन्न हुए और जैसे कमल सूर्य को देखकर खिल आता है तैसे ही रामजी की बुद्धि वशिष्ठजी के वचनरूपी सूर्य से खिल आई। तब बोले, हे भगवन् सर्वधर्मज्ञ! आपकी कृपा से अब मैं जगा। बड़ा आश्चर्य है कि आत्मा सर्वदा अनुभवरूप और अपना आप है पर उसके प्रमाद से मैंने इतने काल दुःख पाया। अहंता और ममतारूपी बड़ा बोझा जो शिर पर था उससे मैं दुःखी था। जैसे किसी के शिर पर पत्थर की शिला हो और ज्येष्ठ आषाढ़ की धूप में वह पैदल चले तो दुःख पाता है और जो उसके शिर से कोई उस शिला को उतार ले और छाया में बैठावे तो बड़े सुख को प्राप्त होता है; तैसे ही अज्ञानरूपी धूप में अहंताममतारूपी शिला से मैं दुःखी था और आपने वचनरूपी बल से उस शिला को उतार लिया और आत्मरूपी वृक्ष की छाया में विश्राम कराया। हे भगवन्! अब मुझे शान्तिपद प्राप्त हुआ है और मेरे तीनों ताप मिट गये हैं। अब जो सुमेरु पर्वत का भार भी आन प्राप्त हो तौ भी मुझे कोई कष्ट नहीं। अब मेरे सर्व संशय निवृत्त हुये हैं। जैसे शरत्काल का

(1) आणव

आकाश निर्मल और स्वच्छरूप होता है, तैसे रागद्वेषरूपी द्वन्द्व मेरा नष्ट हुआ है। अब मैं अपने स्वभाव में स्थित हुआ हूँ परन्तु एक प्रश्न है कृपा करके उसका उत्तर कहिये। महापुरुष बारम्बार प्रश्न करने से खेद नहीं मानते। हे भगवन्! आप कहते हैं कि सर्व ब्रह्म ही है तो शास्त्र का विधि निषेध और उपदेश किसके लिये कहते हैं कि यह कर्म कर्तव्य है और यह कर्म कर्तव्य नहीं। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। विश्व भी उसका चमत्कार है। जैसे समुद्र में पवन से नाना प्रकार के तरङ्ग फुरते हैं पर जल से कुछ भिन्न नहीं, तैसे ही चैतन्य आत्मा में चैतन्योन्मुखत्व अहंभाव को लेकर फुरा है उससे देश, काल, वस्तु बन गये हैं और शास्त्र फुरे हैं। फिर फुरने से दो रूप हुए हैं—एक विद्या और दूसरा अविद्या। उसमें विद्यारूप जो जीव हुए हैं वे ईश्वर कहाते हैं, और अविद्यारूप जीव हैं। जिनको अपने स्वरूप में अहं प्रत्यय वास्तव की रही है सो ईश्वर हैं और जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ और संकल्प विकल्प में बहते हैं वे जीव दुःखी हैं। हे रामजी! इतनी संज्ञा फुरने में हुई है तौ भी आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। जैसे एक ही रस फूल, फल और वृक्ष हुआ है रस से कुछ भिन्न नहीं। आत्मा रस की नाईं भी परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ; फुरने से ईश्वर जीव विद्या अविद्या हुए हैं—आत्मा में कुछ नहीं। हे रामजी! जिनका संकल्प आधिभौतिक में दृढ़ नहीं हुआ वे जीव शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होते हैं और उनको आत्मा का साक्षात्कार शीघ्र ही होता है। जिनका संस्कार आधिभौतिक में दृढ़ हुआ है वे चिरकाल में आत्मपद को प्राप्त होते हैं। आत्मपद की प्राप्ति विना वे दुःख पाते हैं और जिनको आत्मपद की प्राप्ति होती है वे सुखी होते हैं। हे रामजी! ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूप में और कुछ भेद नहीं केवल सम्यक् और असम्यक् दर्शन का भेद है। हे रामजी! विद्या भी दो प्रकार की है—एक ईश्वरवाद और दूसरा अनीश्वरवाद है। जो ईश्वरवादी हैं वे तुरीयापद को प्राप्त होते हैं और जो अनीश्वरवादी हैं उनको जब ईश्वर की भावना होती है तब वे शास्त्र और गुरुद्वारा ईश्वर को प्राप्त होते हैं। ईश्वरवादी भी दो प्रकार के हैं—एक वे जो और वासना

आणव

ममत्व

त्यागकर ईश्वरपरायण होते हैं वे शीघ्र ही ईश्वर को प्राप्त होते हैं। आत्मा ही ईश्वर है जो सबका अपना आप है। दूसरे ईश्वर को मानते हैं पर उनकी वासना संसार की ओर होती है वे चिरकाल में आत्मपद को प्राप्त होते हैं। अनीश्वरवादी भी दो प्रकार के हैं—एक कहते हैं कि कुछ होगा। उनको होते होते की भावना से शास्त्र और गुरु के द्वारा आत्मपद की प्राप्ति होगी। दूसरे कहते हैं कि कुछ नहीं; उनको चिरकाल में जब आस्तिकभावना होगी तब आत्मपद को प्राप्त होंगे। हे रामजी! उनके निमित्त विधि और निषेध कहे हैं कि शुभकर्म को अङ्गीकार करो और अशुभकर्म त्यागो तो उससे जब अन्तःकरण शुद्ध होगा तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। जो विधि निषेध शास्त्र न कहें तो बड़ा छोटे को भोजन कर लेवे। इस निमित्त शास्त्र का दण्ड है। हे रामजी! स्वरूप से किसी को उपदेश नहीं, भ्रम में उपदेश है। जिस पुरुष का भ्रम निवृत्त हुआ है वह फिर मोह में नहीं डूबता—जैसे जल में डूबा नहीं डूबता। और जिसका चित्त वासना से घेरा हुआ संसरता है उसको इस संसार से निकलना कठिन है। जैसे उजाड़ के कुयें में गिर के निकलना कठिन होता है तैसे ही चित्त से मिलकर संसार से निकलना कठिन होता है। हे रामजी! इस चित्त को स्थिर करो कि तुम्हारे दुःख मिट जावें और सत्तासमान पद को प्राप्त हो। हे रामजी! जिसको आत्मा का साक्षात्कार हुआ है और अनात्म में अहं प्रत्यय निवृत्त हुआ है वह पुरुष जो कुछ करता है उसमें बन्धायमान नहीं होता है वह सदा अकर्ता आपको देखता है और जिसको अहंप्रत्यय अनात्म में है वह पुरुष करे तौ भी कर्ता है और जो न करे तौ भी कर्ता है। हे रामजी जो अज्ञानी शुभकर्म करता है तो शुभकर्म करता हुआ स्वर्ग को प्राप्त होता है और अशुभ कर्म करने से नरक को प्राप्त होता है। जो शुभकर्म को त्यागता है तौ भी नरक को प्राप्त होता है, क्योंकि अनात्म में आत्म अभिमान है। इससे बुद्धि को निग्रह करो और इन्द्रियों से चेष्टा करो देखने, सुनने, सूँघने को मैं तुम्हें नहीं बर्जता; यही कहता हूँ कि अनात्म में अभिमान को त्यागो। जब अनात्म अभिमान को त्यागोगे तब शान्

पद को प्राप्त होगे और जहाँ तुम्हारा चित्त फुरेगा वहाँ आत्मा ही भासेगा—आत्मा से भिन्न कुछ न भासेगा। इससे चित्त को त्यागो--चित्त अहंभाव का नाम है—और आत्मपद में स्थित हो। जैसे विश्व की उत्पत्ति हुई है सो भी सुनो। शुद्धचैतन्यमात्र में चिदावलीरूप अहंतरङ्ग फुरा है। उस चिदावलीरूपी समुद्र में जीवरूपी तरङ्ग उपजता है और जीवरूपी समुद्र में अहंकाररूपी तरङ्ग भासित हुआ है। अहंकाररूपी समुद्र में बुद्धिरूपी तरङ्ग उपजा है, बुद्धिरूपी समुद्र में चित्तरूपी तरङ्ग भासा है और चित्तरूपी समुद्र में संकल्परूपी तरङ्ग उपजा है। उस संकल्परूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग उपजा है और जगत्रूपी समुद्र में देहरूपी तरङ्ग भासित हुआ है और उसके संयोग से दृश्य का ज्ञान हुआ है कि यह पदार्थ है, यह नहीं है, ये ऐसे हैं, उसी से देश, काल, दिशा सब हुए हैं। हे रामजी! निदान वे सब संकल्प से हो गये हैं सो आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। केवल शान्तरूप एकरस आत्मा है उसमें नाना प्रकार के आचार रचे हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि नाना प्रकार हो भासती है सो अपना ही अनुभव होता है तैसे ही इस जगत् को भी जानो; आत्मा सर्वदा एकरस, अद्वैत, शुद्ध, परम निर्वाण, अपने आपमें स्थित है और फुरने से नाना प्रकार की कल्पना उदय हुई है। हे रामजी! शुद्ध आत्मा में चिदेव संज्ञा भी संकल्प से हुई है—"चिदेव पञ्चभूतानि; चिदेव भुवनत्रयम्" आत्मा निर्वाच्यपद है उसमें वाणी की गम नहीं और शुद्ध शान्तरूप है। चिदेव जो फुरी है उस फुरने से संसार हुए की नाईं स्थित है। जैसे एक ही बीज ने वृक्ष, फूल, फल आदिक संज्ञा पाई है सो बीज से भिन्न कुछ नहीं और आत्मा बीज की नाईं भी नहीं, संकल्प से ही नानासंज्ञा हुई हैं और जगत् स्थित हुआ है तौ भी आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। जैसे वायु चलती है तौ भी वायु है और ठहरती है तौ भी वायु है; तैसे ही आत्मा में नानात्व कुछ नहीं केवल शुद्ध अद्वैत है। आत्मरूपी समुद्र में नाना प्रकार विश्वरूपी तरङ्ग स्थित हैं। हे रामजी! आकार भी आत्मा से कुछ भिन्न नहीं; जो आत्मा से भिन्न भासे उसे मिथ्या जानो और मृगतृष्णा के जल की नाईं जानकर उसकी भावना त्यागो और स्वरूप की भावना करो।

इति श्रीयो० निर्वाण० ब्रह्मैकत्वप्रति० नाम दशाधिकशततमस्सर्गः ११०॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! मेरे वचनों को धारो और हृदय में आस्तिकभावना करो। जब सर्वत्याग करोगे तब चित्त क्षीण हो जावेगा और जब चित्त क्षीण हुआ तब शान्ति होगी। हे रामजी! काष्ठवत् मौन होकर हृदय में सबका त्याग करो। बाहर से कर्मों को करो पर अभिमान से रहित होकर अन्तर्मुखी हो रहो। अन्तर्मुखी आत्मा में स्थित होने को कहते हैं। जब आत्मा में स्थित होगे तब विद्यमान दृश्य भी तुम्हें न भासेगा, क्योंकि तब सर्व आत्मा ही भासेगा। जो तुम्हारे पास भेरी के शब्द होंगे तौ भी न सुन पड़ेंगे और जो सुगन्धि लोगे तौ भी नहीं ली; निदान जो कुछ क्रिया करोगे सो तुम्हें स्पर्श न करेगी— आकाश की नाईं सबसे असंग रहोगे। हे रामजी! स्वरूप से भिन्न न देखना और आत्मा से भिन्न न फुरना, अन्धे गूँगे की नाईं और पत्थर की शिलावत् मौन हो रहो तब तुम्हारी चेष्टा यन्त्र की पुतलीवत् होगी। जैसे यन्त्र की पुतली तागे की सत्ता से चेष्टा करती है तैसे ही तुम्हारी नीति शक्ति से प्राणों की चेष्टा होगी। स्वाभाविक क्रिया में अभिमान से रहित होकर स्थित होना, जो अभिमान सहित चेष्टा करता है वह मूर्ख और असम्यक्‌दर्शी है और जो सम्यक्‌दर्शी है उसको अनात्म में अभिमान नहीं होता। हे रामजी! जिसको अनात्म अभिमान नहीं और जिसका चित्त दृश्य में लेपायमान नहीं होता वह सारी सृष्टि को संहार करे अथवा उत्पन्न करे उसको कुछ बन्धन नहीं होता; क्योंकि वह सब कर्म अभिलाषा से रहित होकर करता है। हे रामजी! समाधि में स्थित हो और जाग्रत् की नाईं सब कर्म करो। तुममें सब कर्म दृष्टि भी आवें तौ भी उनमें सुषुप्त की नाईं कोई फुरना न फुरे। अपने स्वरूप की समाधि रहे। समाधि भी तब कहिये कि कोई दूसरा हो जो इसमें स्थित हो व इसका त्याग करे। हे रामजी! जहाँ एक शब्द और दो शब्द भी नहीं कह सकते वह अद्वितीयात्मा परमार्थसत्ता है; उसमें चित्त ने नाना प्रकार के विकार कल्पे हैं—ज्ञानी को एकरस भासता है। ज्ञानी को ज्ञानी जानता है। जैसे सर्प के खोज को सर्प ही जानता है; तैसे ही ज्ञानी को एकरस आत्मा ही भासता है सो ज्ञानी ही जानता है।

[illegible] 2- [illegible]

मूर्ख को संकल्प से नाना प्रकार का जगत् भासता है इससे संकल्प को त्यागकर अपने प्रकृत आचार में बिचरो। जैसे उन्मत्त और बालक की चेष्टा स्वाभाविक होती है कि अङ्ग हिलते हैं; तैसे ही अभिमान से रहित होकर चेष्टा करो। जैसे पत्थर की शिला जड़ होती है तैसे ही दृश्य की भावना से ऐसे रहित हो कि जड़ की नाईं कुछ न फुरे। जब ऐसे होगे तब शान्तपद को प्राप्त होगे। हे रामजी! चित्त के संबंध से क्षोभ उत्पन्न होता है। जैसे वसन्तऋतु में फूल उत्पन्न होते हैं तैसे ही चित्तरूपी वसन्तऋतु में दुःखरूपी फूल उत्पन्न होते हैं। जब तुम चित्त को शान्त करोगे तब परमपद को प्राप्त होगे जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल है। इससे तुम असंग हो रहो। जब तुम स्थूल से स्थूल होगे तब भी असंग रहोगे। ऐसे पद को पाकर काष्ठ पत्थर की नाईं मौन हो रहो। हे रामजी! दृश्य पदार्थ को त्यागकर जो द्रष्टा जाननेवाला है उसमें स्थित हो। हे रामजी! इन्द्रियाँ तो अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं उनकी ओर तुम भावना मत करो कि यह सुन्दर रूप है और इसकी प्राप्ति हो। भले के प्राप्त होने की भावना मत करो; इनके जाननेवाला जो आत्मा है उसी में स्थित रहो जो पुरुष द्रष्टा में स्थित होता है वह गोपद की नाईं संसारसमुद्र को लाँघ जाता है। हे रामजी! जो पदार्थ दृष्टि आते हैं उनमें अपनी अपनी सृष्टि है सो संकल्पमात्र ही है और अपने अपने संकल्प में स्थित है पर सर्वसंकल्प आत्मा के आश्रय हैं जैसे सब पदार्थ आकाश में स्थित हैं तैसे ही सब संकल्प की सृष्टि आत्मा के आश्रय है। एक के संकल्प को दूसरा नहीं जानता— सृष्टि अपनी अपनी है। जैसे समुद्र में जितने बुद्‌बुदे हैं उनको जल से एकता है और आकार से एकता नहीं, तैसे ही स्वरूप से सबकी एकता है; और संकल्पसृष्टि अपनी-अपनी है। जो पुरुष ऐसे चिन्तता है कि मैं उसकी सृष्टि को जानूँ तब जानना है। हे रामजी! आत्मा कल्पवृक्ष है; इसमें जैसी कोई भावना करता है तैसी ही सिद्धि होती है। जब तैसी ही भावना करके जीव स्वरूप में लगता है कि सब सृष्टि मुझे भासे तो भावना से भासि आती हैं। ज्ञानी ऐसी भावना नहीं करता,

क्योंकि आत्मा से भिन्न वह कोई पदार्थ नहीं जानता और जानता है कि स्वरूप से सबकी एकता है पर संकल्परूप से एकता नहीं होती। जैसे तरङ्गों की एकता नहीं पर जल की एकता है और जो एक तरङ्ग दूसरे के साथ मिल जाता है तो उससे एकता होती है, तैसे ही एक का संकल्प भावना से दूसरे के साथ मिलता है; इससे ज्ञानी जानता है कि संकल्प रूप आकार नहीं मिलते और स्वरूप से सबकी एकता है। जिसकी भावना होती है कि मैं इसकी सृष्टि को देखूँ तो वह उसके संकल्प से अपना संकल्प मिलाकर देखता है तब उसकी सृष्टि जानता है। जैसे दो मणियों का प्रकाश भिन्न भिन्न होता है और जब दोनों इकट्ठी एक ही ठौर में रखिये तो दोनों का प्रकाश इकट्ठा हो जाता है; तैसे ही संकल्प की एकता भावना से होती है। ज्ञानी को प्रथम संकल्प हो कि मैं उसकी सृष्टि देखूँ तो संकल्प से देखता है और ज्ञान के उपजे से वाञ्छा नहीं रहती। हे रामजी! इच्छा चित्त का धर्म है। जब चित्त ही नष्ट हो गया तब इच्छा किसको रहे। जब स्वरूप का प्रमाद होता है तब चित्तरूपी दैत्य प्रसन्न होता है कि यह मेरा आहार हुआ और मैं इसको भोजन करूँगा। हे रामजी! जो पुरुष चित्त की ओर हुआ है और जिसको स्वरूप की भावना नहीं हुई सो चित्तरूपी दैत्य उसे जन्मरूपी वन में लिये फिरता है; उसको भोजन करता रहता है; उसका पुरुषार्थ नष्ट करता है और आत्मभावनावाली बुद्धि उत्पन्न नहीं होने देता। जैसे वृक्ष को अग्नि लगे तो फिर उसमें फल नहीं लगते, तैसे ही पुरुषार्थरूपी वृक्ष को भोगरूपी अग्नि लगी तो शुद्ध बुद्धिरूपी फल उत्पन्न नहीं होते। हे रामजी! अपना चित्त आत्मा में लगावो और विषय की ओर जाने न दो। यह चित्त दुष्ट है; जब इसको स्थित करोगे तब परम अमृत से शोभायमान होगे और जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से शोभता है तैसे ही ब्रह्मलक्ष्मी से शोभोगे और परम निर्वाणपद को प्राप्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनं नामै-
कादशाधिकशततमस्सर्गः ॥ १११ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञान की सप्तभूमिका हैं इनसे ज्ञान की उत्पत्ति होती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जिस भूमिका में जिज्ञासु प्राप्त होता है उसका लक्षण क्या है और ये सप्तभूमिका क्या हैं और कैसे प्राप्त होती हैं सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ये सप्तभूमिका जिस प्रकार प्राप्त होती हैं और जिस प्रकार इनसे ज्ञान प्राप्त होता है सो सुनो। हे रामजी! जब बालक माता के गर्भ में होता है तब उसको दृढ़ सुषुप्ति जड़ अवस्था होती है—जैसे ज्ञानी को होती है—परन्तु बालक में संस्कार रहता है उससे संस्कार की सत्यता आगे होती है। जैसे बीज में अंकुर होता है उससे आगे वृक्ष होता है तैसे ही बालक की भावी होती है और ज्ञानी की भावी नहीं होती। जैसे दग्धबीज में अंकुर नहीं होता तैसे ही ज्ञानी की भावी नहीं होती, क्योंकि वह संसार से सुषुप्ति है और स्वरूप में नहीं। जब बालक को बाहर निकल के कुछ काल व्यतीत होता है तब दृढ़ जड़ता निवृत्त हो जाती है और सुषुप्ति रहती है। कुछ काल के उपरान्त सुषुप्ति भी लय हो जाती है और चेतनता होती है। तब वह जानता है कि 'यह मैं हूँ;' "ये मेरे पिता-माता हैं।" तब कुलवाले उसको सिखाते हैं कि यह मीठा है; यह कड़ुआ है; यह तेरी माता है; यह तेरा पिता है; यह तेरा कुल है; इससे पाप होता है; इससे पुण्य होता है; इससे स्वर्ग मिलता है; इससे नरक पाता है; इस प्रकार यज्ञ होता है; इस प्रकार तप होता है और इस प्रकार दान करते हैं। हे रामजी! इस प्रकार कुल के उपदेश और शास्त्र के भय से वह धर्म में विचरता है और पाप का त्याग करता है। ऐसा शास्त्र अनुसार विचरनेवाला पुरुष धर्मात्मा कहाता है। वे धर्मात्मा पुरुष भी दो प्रकार के हैं—एक प्रवृत्ति की ओर है और दूसरा निवृत्ति की ओर है। जो प्रवृत्ति की ओर है वह पुण्यकर्मों से स्वर्ग के फल भोगता है और मोक्ष को उत्तम नहीं जानता, इससे संसार में जल के तृणवत् भ्रमता है और कभी चिरकाल से इस क्रम से मुक्त होता है। जो निवृत्ति की ओर होता है उसको विषय भोग से वैराग्य उपजता है और वह कहता है कि यह संसार मिथ्या है; मैं इससे तरूँ और उस पद को प्राप्त होऊँ जहाँ

क्षय और अतिशय न हो—यह संसार सर्वदा चलरूप और दुःखदायी है। हे रामजी ! उस पुरुष को इस क्रम से ज्ञान और विज्ञान उत्पन्न होता है और जो पशुधर्मा मनुष्य है उसको ज्ञान प्राप्त होना कठिन है—शास्त्र के अर्थ के न जाननेवालों को पशुधर्मी कहते हैं। वे अपनी इच्छा से बिचरकर अशुभ को ग्रहण करते और विचार से रहित होते हैं। मनुष्य भी दो प्रकार के हैं—एक प्रवृत्ति के धारनेवाले और दूसरे निवृत्ति के धारनेवाले। प्रवृत्तिमार्ग इसे कहते हैं कि जिसको शास्त्र शुभ कहे उसको ग्रहण करना और जिसे अशुभ कहे उसका त्याग करना और कामना करके फल के निमित्त यज्ञादिक शुभकर्म करने कि स्वर्ग, धन, पुत्रादिक मुझे प्राप्त हों। ऐसी कामना धारकर जो शुभकर्म करके इस प्रकार संसारसमुद्र में बहते हैं वे चिरकाल में निवृत्ति की ओर भी आते हैं तब स्वरूप पाते हैं। निवृत्ति यह है कि जो निष्काम होकर और शुभकर्म करके अन्तःकरण शुद्ध करता है उसको वैराग्य उपजता है और वह कहता है कि मुझे कर्मों से क्या है और फलों से क्या है; मैं किसी प्रकार आत्मपद को प्राप्त होऊँ। वह यही विचारता है कि मैं संसार से कब मुक्त हूँगा ? यह संसार मिथ्या है और मुझे भोग से क्या है ? यह भोग तो सर्प है। हे रामजी ! इस प्रकार वह भोगों की निन्दा करता है; संसार से उपरत होता है; शम, दम आदिक जो ज्ञान के साधन हैं उनमें बिचरता है; देश, काल और पदार्थ को शुभ अशुभ विचारता है; मर्यादा से बोलता है; सन्तजनों का संग करता है और सत् शास्त्र और ब्रह्मविद्या को बारम्बार विचारता है। इस प्रकार सन्तजनों के संग से उसकी बुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला दिन प्रति दिन बढ़ती है तैसे ही उसकी बुद्धि बढ़ती है और विषयों से उपरत होती है तब वह तीर्थ, ठाकुरद्वारों आदि शुभ स्थानों को पूजता है; देह और इन्द्रियों से सन्तों की टहल करता है और सबसे मित्रता रखके दया, सत्य और कोमलतापूर्वक बिचरता है। वह ऐसे वचन बोलता है कि जिससे सब कोई प्रसन्न हो और जो यथाशास्त्र हों; इससे भिन्न किसी को नहीं कहता। वह अज्ञानी का संग त्यागता है; स्वर्ग आदिक सुख की भावना नहीं

करता—केवल आत्मपरायण होता है; सन्त और शास्त्रों की दृढ़ भावना करता है और उनके अर्थों में सुरत लगाकर और किसी ओर चित्त नहीं लगाता है। जैसे कदर्य दरिद्री सर्वदा धन की चिन्तना करता है तैसे ही वह सदा आत्मा की चिन्तना करता है। जो पुरुष इतने गुणों से युक्त है उसको प्रथम भूमिका प्राप्त हुई है। वह पापरूपी सर्प को मोर के समान नष्ट करता है; सन्तजन, सत्‌शास्त्र और धर्मरूपी मेघ को गर्दन ऊँची करके देखता है और प्रसन्न होता है। इसका नाम शुभेच्छा है। उसको फिर दूसरी भूमिका प्राप्त होती है तब जैसे शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की कला बढ़ती जाती है तैसे ही उसकी बुद्धि बढ़ती जाती है। उसके ये लक्षण हैं; सत्‌शास्त्रों और ब्रह्मविद्या को विचार के दृढ़ भावना करनी। उस विचार का कवच जो गले में डालता है उससे शस्त्रों का कोई घाव नहीं लगता। इन्द्रियरूपी चोर के हाथ में इच्छारूपी बरछी है सो विचाररूपी कवच पहिरनेवाले को नहीं लगती। हे रामजी ! इन्द्रियरूपी सर्प में तृष्णारूपी विष है उससे मूर्ख को मारता है। विचारवान् पुरुष इन्द्रियों के विषयों को नाश कर डालता है और सब ओर से उदासीन रहता है और दुर्जनों की संगति का बल करके त्याग करता है। जैसे गधा तृण को त्यागता है तैसे ही मूर्ख की संगति वह त्यागता है। उसमें सर्व इच्छा का भी त्याग होता है परन्तु एक इच्छा रहती है कि दया सब पर करता है और सन्तोषवान् रहता है। उसके निषेधगुण स्वाभाविक जाते रहते हैं और दम्भ, गर्व, मोह, लोभ आदिक स्वाभाविक नष्ट होजाते हैं। जैसे सर्प कञ्चुकी को त्यागकर शोभायमान होता है तैसे ही विचारवान् इन्द्रियों के विषयों को त्याग करके शोभता है। जो उसमें क्रोध भी दृष्टि आता है तो क्षणमात्र होता है हृदय में स्थित नहीं हो सकता है। वह खाना, पीना, लेना, देना आदि क्रिया विचारपूर्वक करता है और सर्वदा शुद्धमार्ग में बिचरता है; सन्तजनों का संग और सत्‌शास्त्रों के अर्थ विचारने से बोध को बढ़ाता और तीर्थों के स्नान से काल व्यतीत करता है। हे रामजी ! यह दूसरी भूमिका है। जब तीसरी भूमिका आती है तब श्रुति जो वेद और स्मृति जो धर्मशास्त्र उनके अर्थ हृदय में स्थित

होते हैं और जैसे कमलपर भँवरे आन स्थित होते हैं तैसे ही उस पुरुष के हृदय में शुभगुण स्थित होते हैं; तब उसे फूलों की शय्या सुखदायी नहीं भासती, वन और कन्दरा सुखदायक भासते हैं। निदान उसका वैराग्य दिन दिन बढ़ता जाता है और वह तालाब, बावलियों और नदियों में स्नान करके शुभस्थानों में रहता है; पत्थर की शिला पर शयन करता है; देह को तप से क्षीण करता है, धारणा से चित्त को किसी ठौर में नहीं लगाता; आत्मभावना और ध्यान करके भोगों से सर्वदा उपराम होता है। भोगों को अन्तवन्त विचार के कि यह स्थिर नहीं रहते और देहके अहंकार को उपाधि जानकर वह त्यागता है; देह को रक्त, मांस, पुरीषादिक से पूर्ण जानकर उसमें अहंकार को त्यागता है और निन्दा करता है और सूखे तृण की नाईं तुच्छ जानकर त्यागता है। जैसे विष्ठासंयुक्त तृण को पशु त्यागता है तैसे ही देह के अहंकार को वह त्यागता है और कन्दराओं में बिचरके फल फूलों का आहार करता है, सन्तजनों की टहल करके आयु बिताता है और सदा असंग रहता है। यह तीसरी भूमिका है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रथमद्वितीयतृतीयभूमिकालक्षणविचारो नाम द्वादशाधिकशततमस्सर्गः ॥ ११२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञान का यह साधन है कि ब्रह्मविद्या को विचार के उसके अर्थ की बारम्बार भावना करना और पुण्यक्रिया में बिचरना; इससे भिन्न ज्ञान का कोई साधन नहीं—इसी से ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिस पुरुष को ऐसी भावना होती है उसको यदि नाना प्रकार की सुगन्ध—अगर, चन्दन, चोये आदि और अप्सरा अनिच्छित प्राप्त हों तो उनका निरादर करता है और जो स्त्री को देखता है तो माता समान जानता है; पराये धन को पत्थर के बट्टे समान देखकर वाञ्छा नहीं करता और सब भूतों को देखकर दया ही करता है। जैसे आपको सुख से प्रसन्न और दुःख से अनिष्ट जानता है तैसे ही वह और को भी आप जानकर सुख देता है और दुःख किसी को नहीं देता। इस प्रकार वह पुण्यक्रिया में बिचरता है। सत्शास्त्रों के अर्थ का अभ्यास करता है और सर्वदा असंग रहता है। असंगति भी दो प्रकार की है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! संग असंग का लक्षण क्या है—इनका भेद समझाकर कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! असंग दो प्रकार का है—एक समान और दूसरा विशेष; उनका लक्षण सुनो। समान असंग यह है कि मैं कुछ नहीं करता। न मैं किसी को देता हूँ और न मुझे कोई देता है। सब ईश्वर की आज्ञा है, जिसको धन देने की इच्छा होती है उसको धन देता है और जिससे लेना होता है उससे लेता है, अपने अधीन कुछ नहीं। समान असंगवाला जो कुछ दान, तप, यज्ञादि करता है वह ईश्वरार्पण करता है और अपना अभिमान कुछ नहीं करता और कहता है कि सब ईश्वर की शक्ति से होता है। इस प्रकार निरभिमान होकर वह धर्म चेष्टा में स्वाभाविक घिचरता है और जो कुछ इन्द्रियों के भोग की सम्पदा है उसको आपदा जानता है, और भोगों को महाआपदारूप मानता है। संपदा आपदारूप हैं; संयोग वियोगरूप है और जितने पदार्थ हैं वे सब सन्निपातरूप हैं—विचार से नष्ट हो जाते हैं इससे सबको वह नाशरूप जानता है। यह संयोग वियोग को दुःखदायी जानता है; परस्त्री को विष की बेलि समान रससे रहित जानता है और सब पदार्थों को परिणामी जानकर किसी की इच्छा नहीं करता सम्पूर्ण विश्व का जो ईश्वर है उसे जिसको सुख देना है उसको सुख देता है और जिसको दुःख देना है उसको दुःख देता है; अपने हाथ कुछ नहीं, करने करानेवाला ईश्वर है। न मैं करता हूँ; न मैं भोक्ता हूँ; और न मैं वक्ता हूँ—सब ईश्वर की सत्ता से होता है। ऐसे निरभिमान होकर वह पुण्यक्रिया करता है। यह समान असंग है। उसके वचन सुनने से श्रवण को अमृत की प्राप्ति होती है। इस प्रकार सन्तों के मिलने और तीसरी भूमिका की प्राप्ति से जिसकी बुद्धि बढ़ी है और जो निरभिमान है उसके उपदेश में अनुभव से तबतक अभ्यास करे जबतक हाथ पर आँवले की नाईं आत्मा का अनुभव साक्षात्कार प्रत्यक्ष हो विशेष असंगवाला कहता है कि न मैं कुछ करता हूँ, न कराता हूँ; केवल आकाशरूप आत्मा हूँ न मुझ में करना है, न कराना है; न कोई और है, न मेरा है; मैं केवल आकाशरूप अद्वैत आत्मा हूँ। हे रामजी! वह पुरुष न भीतर,

न बाहर, न पदार्थ, न अपदार्थ, न जड़, न चेतन, न आकाश, न पाताल, न देश, न पृथ्वी, न मैं, न मेरे को देखता है, वह निर्वास, अज, अविनाशी, सर्व शब्द अर्थों से रहित, केवल शून्य आकाश में स्थित है। चित्त से रहित चेतन में जो प्रस्थित है उसको श्रेष्ठ असंग कहते हैं और उसकी चेष्टा दृष्टि भी आती है तौ भी उसमें हृदय से पदार्थों की भावना का अभाव है। जैसे जल में कमल दृष्टि भी आता है परन्तु ऊँचा ही रहता है, तैसे ही वह क्रिया में बिचरता दृष्टि भी आता है परन्तु असंग रहता है। उसको कोई कामना नहीं रहती कि यह हो और यह न हो, क्योंकि उसको संसार का अभाव निश्चय हुआ है और सर्वकलना से रहित है। उसको आत्मा से भिन्न किसी पदार्थ की सत्ता नहीं फुरती। यह श्रेष्ठ असंग कहाता है। कार्य करने से उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और न करने में कुछ हानि नहीं होती; वह सर्वदा असंग है और संसार में कदाचित् नहीं डूबता, क्योंकि वह तो संसारसमुद्र के पार हुआ है और उसने अनात्म में आत्मभावना त्यागी है; अहंभाव का त्याग किया है; इष्ट अनिष्टरूप जितने पदार्थ हैं उनके सुख-दुःख की वेदना उसे नहीं फुरती और वह सदा मौनरूप है। उसे पैसा पत्थर के समान है। यह श्रेष्ठ असंग कहाता है। हे रामजी! एक कमल है जो अज्ञानरूपी कीचड़ से निकलकर आत्मरूपी जल में विराजता है उसका बीज संसार की अभावना है। उस जल में तृष्णारूपी मछलियाँ हैं जो उस कमल के चहुँ ओर फिरती हैं और उसके साथ कुकर्म दुःखरूपी काँटे हैं। अज्ञानरूपी रात्रि से उस कमल का मुख मूँदा रहता है और विचाररूपी सूर्य के उदय हुए से खिलता और शोभता है। उसमें सुगन्ध सन्तोष है। और वह हृदय के बीच लगता है। उसका फल असंग है। यह तीसरी भूमिका में उगता है। हे रामजी! सन्त की संगति और सत्शास्त्रों का विचारना सार को प्राप्त करता है और अमृत मोक्ष को प्राप्त होता है। बड़ा कष्ट है कि ऐसे स्वरूप को विस्मरण करके जीव दुःखी होते हैं। इसका स्वरूप जो दुःखों का नाश करता है और जिसमें कोई दुःख नहीं, आनन्दरूप है सो इन भूमिकाओं के द्वारा प्राप्त होता है। हे

रामजी! यह तीसरी भूमिका ज्ञान के निकटवर्ती है और विचारवान् इन भूमिकाओं में स्थित होकर बुद्धि को बढ़ाते हैं। जब इस प्रकार वह बोध को बढ़ाता है तो शास्त्र की युक्ति से रक्षा करता है और क्रम करके इस तीसरी भूमिका को प्राप्त होता है जहाँ असंगता प्राप्त होती है। जैसे किसान खेती की रक्षा करके बढ़ाता है तैसे ही वह विचाररूपी जल से बुद्धि को बढ़ाता है तब बुद्धिरूपी बेल बढ़ती है। फिर चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है और अहंकार, मोहादिक शत्रुओं से रक्षा करता है। हे रामजी! इस भूमिका को प्राप्त होकर ज्ञानवान् होता है सो यह भूमिका क्रम करके प्राप्त होती है अथवा बड़े पुण्य कर्म किये हो उनसे आन फुरती है वा अकस्मात् भी आन फुरती है। जैसे नदी के तटपर कोई आ बैठा हो और नदी के वेग से बीच में जा पड़े तैसे ही जब पहली भूमिका प्राप्त होती है तब बुद्धि को बढ़ाती है और जब बुद्धिरूपी बेलि बढ़ती है तब ज्ञानरूपी फल लगता है। जब ज्ञान उपजता है तब उसमें प्रत्यक्ष क्रिया दृष्टि भी आवे तौ भी उसका वह अभिमान नहीं करता जैसे शुद्धमणि प्रतिबिम्ब को ग्रहण भी करती है परन्तु उसमें कोई रङ्ग नहीं चढ़ता।

ज्ञाति

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे तृतीयभूमिकाविचारो
नाम त्रयोदशाधिकशततमस्सर्गः ॥ ११३ ॥

रामजी बोले, हे भगवन्! आपने भूमिका का वर्णन किया पर उसमें मुझे यह संशय है कि जो भूमिका से रहित और प्रकृत के सम्मुख हैं उनको भी कदाचित् ज्ञान उपजेगा अथवा न उपजेगा? और जो एक, दो वा तीन भूमिका पाकर शरीर छूटे और आत्मा का साक्षात्कार न हुआ हो और उसको स्वर्ग की भी कामना नहीं तो वह कौन गति पाता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो पुरुष विषयी हैं उनको ज्ञान प्राप्त होना कठिन है; वे वासना करके घटीयन्त्र की नाईं कभी स्वर्ग और कभी पाताल को जाते हैं और दुःख पाते हैं; कदाचित् अकस्मात् काकतालीय न्याय की नाईं उनको सन्त के संग और सत्शास्त्रों को सुनने की वासना फुरती है। जैसे मरुस्थल में बेलि लगना कठिन है तैसे ही जिस पुरुष को आत्मा का प्रमाद है और भोग की भावना है

उसको ज्ञान प्राप्त होना कठिन है। परन्तु जब अकस्मात् उसे सन्तों के संग से वैराग्य उपजता है और उसकी बुद्धि निवृत्ति की ओर आती है तब भूमिका के द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त होता है और तभी मुक्त होता है। हे रामजी! अकस्मात् यही भावना उपजे विना योनियों में भ्रमता है। जिसको एक अथवा दो भूमिका प्राप्त हुई है और शरीर छूट गया तो वह और जन्म पाकर ज्ञान को प्राप्त होता है और पिछला संस्कार जाग आता है और दिन दिन बढ़ता जाता है। जैसे बीज से प्रथम वृक्ष का अंकुर होता है, फिर डाल, फूल और फल से बढ़ता जाता है तैसे ही उसका अभ्यास बढ़ता जाता है और ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे पहलवान खेलकर रात्रि को सो जाता है और फिर दिन हुए उठता है तब पहलवान ही का अभ्यास आय फुरता है और जैसे कोई मार्ग चलता चलता सो जावे और जागकर चलने लगे तैसे ही वह फिर पूर्व के अभ्यास में लगता है। हे रामजी! जिसको यह भावना होती है कि मुझे विशेषता प्राप्त हो वह जन्म पाता है और ब्रह्मा से चींटीपर्यन्त जिसको विशेष होने की कामना है सो जन्म पाता है। ज्ञानी को भोगों की और विशेष प्राप्त होने की इच्छा नहीं होती। जिसको भोग की इच्छा होती है वह भोग से आपको विशेष जानता है और अनिष्ट की निवृत्ति की इच्छा करता है ज्ञानी को कोई वासना नहीं होती कि यह विशेषता मुझे प्राप्त हो इसी से वह फिर जन्म नहीं पाता जैसे भूना बीज नहीं उगता—तैसे ही वासना से रहित ज्ञानी जन्म नहीं पाता। हे रामजी! जन्म का कारण वासना है। जैसी जैसी वासना होती है तैसी तैसी अवस्था को जीव प्राप्त होता है। नाना प्रकार की वासना हैं; जब शरीर छूटने का समय आता है तब जो वासना दृढ़ होती है और जिसका सर्वदा अभ्यास होता है वही अन्तकाल में दिखाई देती है चाहे वह पाठ की, तप की, कर्म की, देवता इत्यादिक की हो सबको मर्दन करके वही उस समय भासती है। हे रामजी! उस समय अग्रगत पदार्थ होते हैं सो भी नहीं भासते और पाँचों इन्द्रियों के विषय विद्यमान हों तो भी नहीं भासते पर वही पदार्थ भासता है जिसका दृढ़ अभ्यास किया होता है। वासनाएँ तो अनेक होती हैं परन्तु जैसी वासना दृढ़ होती है उसी के अनुसार शरीर धारता है। जब देह छूटता है तब मुहूर्तपर्यन्त सुषुप्ति की नाईं जड़ता रहती है उसके उपरान्त चेतनता होती है तब वासना के अनुसार शरीर देखता है और जानता है कि यह मेरा शरीर है; मैं उत्पन्न हुआ हूँ। कोई ऐसे होते हैं कि उसी क्षण में युग का अनुभव करते हैं; कोई ऐसे होते हैं कि चिरकाल पर्यन्त जड़ रहते हैं तब उनको चेतनता फुरती है और उसके अनुसार संसार भ्रम देखते हैं और कोई जो संस्कारवान् होते हैं उनको शीघ्र ही एक क्षण में चेतनता होती है और वे जानते हैं कि हम उस ठौर मुये थे और इस ठौर जन्मे हैं; यह हमारी माता है, यह पिता है और यह कुल है। इस प्रकार एक मुहूर्त में जागकर वे देखते हैं और बड़े कुल को देखते हैं। इसी प्रकार वे परलोक और यमराज के दूतों को देखते हैं और जानते हैं कि यह हमें लिये जाते हैं और हमारे पुत्रों ने पिण्ड किये हैं उनसे हमारा शरीर हुआ है और दूत ले चले हैं। तब आगे ये धर्मराज को देखते हैं और उसके निकट जाके खड़े होते हैं और पुण्य पाप दोनों मूर्ति धारकर उनके आगे स्थित होते हैं। तब धर्मराज अन्तर्यामी से एक-एक का हाल पूछता है कि इसने क्या कर्म किये हैं? यदि पुण्यवान् होता है तो स्वर्गभोग भोगाकर फिर योनि में डाला जाता है और जो पापी होता है तो नरक में डाल देते हैं। निदान सब प्रकार जन्मों को धारता है। सर्प की योनि में कहता है कि मैं सर्प हूँ और बैल, वानर, तीतर, मच्छ, बगला, गर्दभ, बेलि, वृक्ष इत्यादिक योनि पाता है, तो जानता है कि, मैं यही हूँ। अकस्मात् काकताली योग की नाईं कदाचित् मनुष्य शरीर पाता है तो माता के गर्भ में जानता है कि यहाँ मैंने जन्म लिया है; यह मेरी माता है, मैं पिता से उत्पन्न हुआ हूँ और यह मेरा कुल है। फिर बाहर निकलता है और बालक होता है तब जानता है कि मैं बालक हूँ; यौवन अवस्था होती है तब जानता है कि मैं जवान हूँ और फिर वृद्ध होता है तब जानता है कि मैं वृद्ध हूँ। इस प्रकार काल बिताकर जब मरता है तो सर्प, तोता, तीतर, वानर,

मच्छ, कच्छ, वृक्ष, पशु, पक्षी, देवता इत्यादिक का जन्म धारण करता है। हे रामजी! संसार में वह घटीयन्त्र की नाईं फिरता है और कभी ऊर्ध्व और कभी अधः को जाता है और इसी प्रकार स्वरूप के प्रमाद से दुःख पाता है। हे रामजी! इतना विस्तार जो तुमसे कहा है सो बना कुछ नहीं केवल अद्वैत आत्मा है पर चित्त के संयोग से इतना भ्रम देखता है और वासनाद्वारा विमानों को देखता है और आकाश में जाता है। जैसे पवन गन्ध को ले जाता है तैसे ही पुर्यष्टका को ले जाता है और शरीर देखता है। हे रामजी! आत्मा से भिन्न कुछ नहीं परन्तु चित्त के संयोग से इतने भ्रम देखता है। इससे चित्त को स्थित करो तो भ्रम मिट जावेगा और आत्मतत्त्वमात्र ही शेष रहेगा। जो शुद्ध और आनन्दरूप है उसी में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्ववासनारूपवर्णनं नाम
चतुर्दशाधिकशततमस्सर्गः ॥ ११४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह तो प्रवृत्तिवाले का क्रम कहा अब निवृत्ति का क्रम सुनो। जिसको भूमिका प्राप्त हुई है और आत्मपद नहीं प्राप्त हुआ उसके पाप सब दग्ध हो जाते हैं। जब उसका शरीर छूटता है तब वह वासना के अनुसार शून्याकार हुआ फिर अपने साथ शरीर देखता है और फिर बड़े परलोक को देखता है जहाँ स्वर्ग के सुख भोगता है। फिर विमान पर चढ़ के लोकपालों के पुरों में बिचरता है जहाँ मन्द मन्द पवन चलता है, सुन्दर वृक्षों की सुगन्ध है और पाँचों इन्द्रियों के रमणीय विषय हैं। देवताओं में क्रीड़ा करता है और भोगों को भोगकर संसार में उपजता है और फिर भूमिका क्रम को प्राप्त होता है। जैसे मार्ग चलता कोई सो जावे तो जागकर फिर चलता है तैसे ही शरीर पाकर वह फिर भूमिका के क्रम को प्राप्त होता है और जैसी जैसी भावना दृढ़ होती है तैसे ही भासता है। यह सब जगत् संकल्पमात्र है, संकल्प के अनुसार ही भासता है और वासना के अनुसार परलोक भ्रम सुख दुःख देखता है, वहाँ से भोगकर फिर संसार में आन पड़ता है। इसी प्रकार संकल्प से भटकता है और जब आत्मा की ओर आता है

तब संसारभ्रम मिट जाता है। जबतक आत्मा की ओर नहीं आता तबतक अपने संकल्प से संसार को देखता है। जीव जीव प्रति अपनी अपनी सृष्टि भासती है देवता, दैत्य, भूमिलोक, स्वर्ग सब संकल्प के रचे हुए हैं। जो कुछ संसार भासता है, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से आदि लेकर वह सब मनोमात्र है, मन के संकल्प से उदय हुआ है और असत्‌रूप है। जैसे मनोराज, गन्धर्वनगर और स्वप्नसृष्टि भ्रमरूप हैं तैसे ही यह जगत भ्रमरूप है सब सृष्टि परस्पर अदृष्ट है; कहीं उदय होती भासती है और कहीं लय हो जाती है। जैसे मूर्ख और देश को जाता है तैसे ही देह को त्यागकर जीव परलोक को जाता है पर स्वरूप में आना, जाना, अहं, त्वं कल्पना कोई नहीं; केवल सत्तामात्र अपने आप में स्थित है और जगत् भी वही है। हे रामजी! यह विश्व आत्मस्वरूप है। जैसे मणि का चमत्कार होता है तैसे ही विश्व आत्मा का चमत्कार है और जो कुछ तुमको भासता है सो आत्मा ही है आत्मा विना आभास नहीं होता जैसे ईख में मधुरता और मिरचों में तीक्ष्णता होती है तैसे ही आत्मा में विश्व है। जो कुछ भी देखो सुनो स्पर्श करो और सुगन्ध लो उसे सब आत्मा ही जानो अथवा जो इनके जाननेवाला अनुभवरूप है उसमें स्थित हो और इन्द्रियाँ और विषय को त्यागकर अनुभवरूप में स्थित हो। हे रामजी! यह विश्व संवित्‌रूप है और संवित् ही विश्वरूप है। जब संवित् बहिर्मुख होकर रस लेती है तब जाग्रत् को देखती है; जब अन्तर्मुख होकर रस लेती है तब स्वप्न होता है और जब शान्त हो जाती है तब सुषुप्ति होती है संसार को सत्य जानकर जब रस लेती है तब जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था होती है और जब संवित् से रस की सत्यता जाती रहती है तब तुरीयापद होता है। यह पदार्थ है, यह नहीं; जब यह नष्ट हो तब तुरीयापद है। हे रामजी! यह विश्व फुरनेमात्र है; जब फुरना नष्ट हो तब विश्व देखने में नहीं आता। जैसे स्वप्न के देश, काल, पदार्थ जागे से मिथ्या होते हैं तैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी मिथ्या है। जीव जीव प्रति जो अपनी अपनी सृष्टि होती है उसमें आप भी कुछ बन जाता है इससे दुःखी होता है। जब इस अहंकार को

त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो तब विश्व कहीं नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सृष्टिनिर्वाणैकताप्रतिपादनं नाम पञ्चदशाधिकशततमस्सर्गः ॥ ११५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस सृष्टि का स्वरूप संकल्पमात्र है और संकल्प भी आकाशरूप है। आकाश और स्वर्ग में कुछ भेद नहीं; जैसे पवन और स्पन्द में भेद नहीं। सृष्टि में अनेक पदार्थ हैं परन्तु परस्पर नहीं रोकते और वास्तव में विश्व भी आत्मा का चमत्कार है और आत्मरूप है। जो आत्मरूप है तो राग और द्वेष किसमें कीजिये? चेतन धातु में कोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं और यह आश्चर्य है कि आत्मा में कुछ नहीं हुआ। भिन्न भिन्न संवेदन दृष्टि आती है, और नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं। हे रामजी! जीव जीव प्रति अपनी अपनी सृष्टि है। एक सृष्टि ऐसी है कि उसका रूप एक सा दृष्टि आता है परन्तु सृष्टि अपनी अपनी है और कई ऐसी हैं कि भिन्न भिन्न हैं परन्तु समानता करके एकही दृष्टि आती हैं। जैसे जल की बूँदें इकट्ठी होती हैं और धूलि के कण भिन्न भिन्न होते हैं परन्तु एकही धूलि भासती है। जैसे नदी में नदी पड़ती है तो एकही जल हो जाता है तैसे ही समान अधिकरण करके सब संकल्प एक ही भासते हैं; एक एक के साथ मिलते हैं और नहीं भी मिलते। जैसे क्षीर समुद्र में घृत डालिये तो नहीं मिलता तैसे ही एक संकल्प ऐसे हैं कि और से नहीं मिलते—जैसे सूर्य, दीपक और मणि का प्रकाश भिन्न भिन्न दृष्टि आता है पर एक से होते हैं तैसे ही कई सृष्टि एकसी भासती हैं और भिन्न भिन्न भी होती हैं। हे रामजी! इतनी सृष्टि जो मैंने तुमसे कही हैं सो सब अधिष्ठान में फुरने से कई कोटि उत्पन्न होती हैं और कई कोटि लीन हो जाती हैं। जैसे जल तरङ्ग और बुद्बुदे उपजकर लीन होजाते हैं तैसे ही सृष्टि उत्पन्न और लीन होती है पर अधिष्ठान ज्यों का त्यों है, क्योंकि उससे कुछ भिन्न नहीं। ब्रह्म, आत्मा आदिक जो सर्व हैं सो भी फुरने में हुए हैं। जबतक शब्द अर्थ की भावना है तबतक भासते हैं और जब भावना निवृत्त हुई तब शब्द अर्थ कोई न भासेगा केवल शुद्ध चैतन्यमात्र ही शेष रहेगा

और संसार का भाव किसी ठौर न होगा। जैसे पवन जबतक चलता है तबतक जाना जाता है कि पवन है और गन्ध भी पवन करके जानी जाती है कि सुगन्ध आई अथवा दुर्गन्ध आई और जब पवन नहीं चलता तब उसका वेग नहीं भासता और गन्ध भी नहीं भासती; तैसे ही जब फुरना निवृत्त हुआ तब संसार और संसार का अर्थ दोनों नहीं भासते। फुरने में जीव जीव प्रति सृष्टि है उस सृष्टि में सत्तासमान ब्रह्म स्थित है और सबका अपना आप है—द्वैतभाव को कदाचित् नहीं प्राप्त हुआ। हे रामजी! इससे ऐसे जानो कि आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि आदि सब पदार्थ आत्मा ही हैं अथवा ऐसे जानो कि सब मिथ्या हैं और इनका साक्षी ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है उससे कुछ भिन्न नहीं और उसी ब्रह्म के अंश में अनेक सुमेरु और मन्दराचल आदिक स्थित हैं। अंशांशीभाव भी आत्मा में स्थूलता के निमित्त कहे हैं वास्तव नहीं—जनावने निमित्त कहे हैं। आत्मा एकरस है। हे रामजी! ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो आत्मसत्ता विना हो। जिसको सत्य जानते हो सो भी आत्मा है और जिसको असत्य जानते हो वह भी आत्मा है; आत्मा में जैसे सत्य का फुरना है तैसे ही असत्य का फुरना है—फुरना दोनों का तुल्य है। जैसे स्वप्न में एक को सत्य जानता है और दूसरे को असत्य जानता है तैसे ही जो इन्द्रियों के विषय होते हैं उनको सत्य जानता है और आकाश के फूल और शश के शृङ्ग को असत्य कहता है सो सब अनुभव से फुरे हैं इससे अनुभवरूप हैं। ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो आत्मा में असत् नहीं; जो कुछ भासते हैं सो सब फुरने से हुए हैं सत्य क्या और असत्य क्या; सब मिथ्या और स्वप्न के सत् और असत् की नाईं हैं। जो अनुभव करके सिद्ध है सो सब सत्य है और अनुभव से भिन्न असत्य है। हे रामजी! गुणातीत परमात्मस्वरूप में स्थित हो। हे रामजी! भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में ज्ञानवान् एकरस सम रहता है और दशोंदिशा, आकाश, जल, अग्नि आदिक पदार्थ उसको सब आत्मा ही दृष्टि आता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता। सूर्य, चन्द्रमा, तारे सब आत्मा हैं यह विश्व आकाशरूप है

और शुद्ध निर्मल है; आकाश में आकाश स्थित है, कुछ भिन्न नहीं। जो तुम्हें भिन्न भासे उन्हें मिथ्या जानो वे भ्रम करके सिद्ध हुए हैं; कोई सत् नहीं। पर परमार्थ से देखो तो सर्व आत्मा है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्वाकाशैकताप्रतिपादनं
नाम षोडशाधिकशततमस्सर्गः ॥ ११६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह विश्व स्वप्न के समान है। जैसे स्वप्न की सेना नाना प्रकार की दीखती है और शस्त्र चलते भासते हैं पर आत्मा में इनका रूप देखना और मानना और शब्द अर्थ कोई नहीं; वह जगत् से रहित है और जगत्रूप भान होता है। अहं, त्वं जो कुछ भासता है सो सब स्वप्नवत् है और भ्रम से सिद्ध हुआ है। जो सबका अधिष्ठान है वह सत्य है और सब उसी में कल्पित हैं। जो अनुभव से देखिये तो सब आत्मस्वरूप हैं और भिन्न देखिये तो कुछ नहीं। जैसे स्वप्न के देश, काल, पदार्थ सब अर्थाकार भी भासते तो भी मिथ्या हैं तैसे ही यह विश्व भ्रम करके फुरता है। उनकी अपेक्षा से वह और तू है और उसकी अपेक्षा से वह अहं है वास्तव में दोनों नहीं—जो है सो आत्मा ही है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि त्वं आदिक अहं पर्यन्त और अहं आदिक त्वं पर्यन्त सब स्वप्न सेना की नाईं मिथ्या हैं और अनुभव से देखिये तो आत्मरूप हैं तो हम स्वप्नसेना में हैं अथवा हमारा अहं आत्मा है सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अनात्म देहादिक में यह अहंभावना करनी कि मैं हूँ तो स्वप्न सेना के तुल्य है और अधिष्ठान चिन्मात्र दृश्य और अहंकार से रहित अहंभावना करनी आत्मरूप है। हे रामजी ! तुम आत्मरूप हो। यह विश्व सत् भी नहीं और असत् भी नहीं; जो अधिष्ठानरूप से देखिये तो आत्मरूप है और जो अधिष्ठान से रहित देखिये तो मिथ्या है। वह अधिष्ठान शुद्ध, आनन्दरूप, चित्त से रहित चिन्मात्र परब्रह्म है उसमें अज्ञान से दृश्य दीखता है। जैसे असम्यक् दृष्टि से सीपी में रूपा भासता है तैसे ही आत्मा में अज्ञानी दृश्य कल्पते हैं। हे रामजी ! दृश्य अविचार से सिद्ध है और विचार किये से कुछ वस्तु नहीं होती पर जिसके आश्रय कल्पित है सो

अधिष्ठान सत्य है। जैसे सीपी के जाने से रूपे की बुद्धि जाती रहती है तैसे ही आत्मविचार से विश्वबुद्धि जाती रहती है। जैसे समुद्र में पवन से चक्र-तरङ्ग फुरते और प्रत्यक्ष भासते हैं पर विचार किये से चक्र में भी जलबुद्धि होती है तैसे ही आत्मरूपी समुद्र में मन के फुरने से विश्वरूपी चक्र उठते हैं और विचार किये से तुमको मन के फुरने में भी आत्मरूप भासेगा, विश्वरूपी चक्र न भासेंगे और भ्रम निवृत्त हो जावेगा। जो वस्तु फुरने में उपजी है सो अफुर हुए निवृत्त हो जाती है। यह विश्व अज्ञान से उपजा है और ज्ञान से लीन हो जायगा। इससे विश्व को भ्रममात्र जानो। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि ब्रह्मा, रुद्र आदि और उत्पत्ति, संहार करने पर्यन्त सब विश्व भ्रममात्र है; इस जानने से क्या सिद्ध होता है, यह तो प्रत्यक्ष दुःखदायक भासता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो कुछ तुम देखते हो सो सम्यक् दृष्टि से सब आत्मरूप है—कुछ भिन्न नहीं—और असम्यक् दृष्टि करके विश्व है तो दृष्टि का भेद है—सम्यक् असम्यक् देखने में भी अधिष्ठान ज्यों का त्यों है। जैसे अन्धकार में रस्सी सर्प हो भासती है और भयदायक होती है और जो प्रकाश से देखिये तो रस्सी ही भासती है; तैसे ही जिसने आत्मा को जाना है उसको दृश्य भी आत्मरूप है। अज्ञानी को विश्व भासता है और दुःखदायी होता है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पकर भयवान् होता है और अपने न जानने से दुःख पाता है जो जाने तो भय किस निमित्त पावे ? हे रामजी ! जीव अपने ही संकल्प से आप बन्धायमान होता है। जैसे कुसवारी कीट अपने बैठने का स्थान बनाकर आपही फँस मरती है, तैसे ही अनात्मा में अहं प्रतीति करके जीव आपही दुःख पाता है। हे रामजी ! जीव आपही संसारी होता है और आपही ब्रह्म होता है जब दृश्य की ओर फुरता है तब संसारी होता और जब स्वरूप की ओर आता है तब ब्रह्म आत्मा होता है। इससे जो तुम्हारी इच्छा हो सो करो; जो संसारी होने की इच्छा हो तो संसारी हो और जो ब्रह्म होने की इच्छा हो तो ब्रह्म हो जावो। मुझसे पूछो, तो दृश्य अहंकार को त्याग कर आत्मा में स्थित हो रहो—विश्व भ्रम-

मात्र है, कुछ वास्तव नहीं। यही पुरुषार्थ है कि संकल्प से संकल्प को काटो। जब बाहर से अन्तर्मुख होगे तब ब्रह्म ही भासेगा और दृश्य की कल्पना मिट जावेगी, क्योंकि आगे भी नहीं था। हे रामजी! जो सत वस्तु आत्मा है उसका अनेक यत्नों से नाश नहीं होता और जो असत्य अनात्मा है उसके निमित्त यत्न कीजिये तो सत् नहीं होता। जो सत्य वस्तु है उसका कदाचित् अभाव नहीं और जो असत् है उसका भाव नहीं होता असत् वस्तु तबतक भासती है जबतक उसको भले प्रकार नहीं जाना और जब विचार से देखिये तब नाश हो जाती है। अविद्या के पदार्थ विद्या से नष्ट हो जाते हैं—जैसे स्वप्न का सुमेरु पर्वत सत्य हो तो जाग्रत् में भी भासे—इससे है नहीं। यह संसार जो तुमको भासता है सो स्वरूप के ज्ञान से नष्ट हो जावेगा। हमसे पूछो तो हमको आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता, सब आत्मा ही है; यह भी नहीं कि यह जीव अज्ञानी है किसी प्रकार मोक्ष होवे। न हमको ज्ञान से प्रयोजन है, न मोक्ष होने से प्रयोजन है, क्योंकि हमको सब आत्मा ही भासता है। हे रामजी! जबतक चेतन है तबतक मरता और जन्म भी पाता है; जब जड़ होता है तब शान्ति को प्राप्त होकर मुक्त होता है। चेतन दृश्य की ओर फुरने को कहते हैं, इसी से जन्म मरण के बन्धन में आता है। जब दृश्य के फुरने से जड़ हो जावे तब मुक्त हो। इसका होना ही दुःख है और न होना ही मुक्ति है। अहंकार का होना बन्धन है और अहंकार का न होना मुक्ति है। इससे पुरुष प्रयत्न यही है कि अहंकार का त्याग करो और चैतन्य ब्रह्म घन अपने आप में स्थित हो। जिसको संसार की सत् भावना है उसको संसार ही है, ब्रह्म नहीं और जिसको ब्रह्मभावना हुई है उसको ब्रह्म ही भासता है। हे रामजी! जो पाताल में जावे अथवा सम्पूर्ण पृथ्वी, दशों दिशा, आकाश, देवताओं के स्थान में फिरे तौ भी सुख न पावेगा और आत्मा का दर्शन न होगा, क्योंकि अनात्मा में अहंकार किये से मुक्त नहीं। जब आत्मदर्शी होकर देखोगे तो सब आत्मा ही भासेगा॥

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्वविजयो नाम
सप्तदशाधिकशततमस्सर्गः॥ ११७॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह संसार संकल्पमात्र है और तुच्छ है। पर्वत, नदियाँ, देश और काल सब भ्रम से सिद्ध हैं। जैसे स्वप्न में पर्वत, नदियाँ, देश, काल, निद्रादोष से भासते हैं; तैसे ही अज्ञाननिद्रा से यह संसार भासता है। हे रामजी! जागकर देखो तो संसार है नहीं, इसका तरना महासुगम है और सुमेरु पर्वतादिक जो भासते हैं सो कमल की नाईं कोमल हैं। जैसे कमल के मुँदने में कुछ यत्न नहीं तैसे ही यह निवृत्त होते हैं। अज्ञानियों की स्थूलदृष्टि है और आकार को सब देख रहे हैं। जैसे पवन का चलना जाना जाता है और जब चलने से रहित होता है तब मूर्ख नहीं जानता तैसे ही भूत प्राणी आकार को जानते हैं; और इसमें जो निराकार स्थित है उसको नहीं जानते। जैसे पवन चलता है तौ भी पवन है और ठहरता है तौ भी पवन है तैसे ही विश्व फुरता है सो भी आत्मा है और अफुरने में भी वही है। इससे विश्व भी आत्मरूप है, कुछ भिन्न नहीं; जो सम्यक्दर्शी हैं उनको फुरने न फुरने में आत्मा ही भासता है। जैसे स्पन्द निस्पन्दरूप पवन ही है तैसे ही ज्ञानी को सर्वदा एकरस है और अज्ञानी को द्वैत भासता है। जैसे ठूँठ में बालक पिशाचबुद्धि करता है तैसे ही आत्मा में जगद्बुद्धि अज्ञानी करता है और जैसे नेत्रदोष से आकाश में तरुवरे भासते हैं तैसे ही मन के फुरने से जगत् भासता है। हे रामजी! जैसे वायु का रूप कदाचित् नहीं तैसे ही जगत् का अत्यन्त अभाव है और जैसे मरुस्थल में जल का अभाव है तैसे ही आत्मा में जगत् का अभाव है। हे रामजी! सुमेरु पर्वत, आकाश, पाताल, देवता, यक्ष, राक्षस इत्यादिक ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड इकट्ठे करके विचाररूपी काँटे में रक्खे और पीछे आधीरत्ती डालें तौ भी पूरे नहीं होते क्योंकि हैं नहीं; अविचारसिद्ध हैं। स्वप्न के पर्वत जागे पर चावल प्रमाण भी नहीं रहते, क्योंकि हैं नहीं; भ्रममात्र हैं। हे रामजी! इस संसार की भावना मूर्ख करते हैं। ऐसे जो अनात्मदर्शी पुरुष हैं उनको ऐसे जानो कि जैसे लुहार की फूँकनी से पवन निकलता है तैसे ही उन पुरुषों के श्वास वृथा आते जाते हैं। जैसे आकाश में अँधेरी व्यर्थ उठती है तैसे ही उन पुरुषों का जीना और

सब चेष्टा व्यर्थ है और वे आत्मघाती हैं अर्थात् अपना आप नाश करते हैं और उनकी चेष्टा दुःख के निमित्त है। हे रामजी! यह अपने अधीन है। जो दृश्य की ओर होता है तो संसार होता है और जो अन्तर्मुख होता है तो सब आत्मा ही होता है। यह संसार मिथ्या है, न सत् कहिये; न असत् कहिये; भ्रम से हुआ है ये जीव भूत, भविष्य और वर्तमानकाल में विपरीत देखते हैं जैसे अग्नि शीतल होती है, आकाश पाताल में, पाताल आकाश में, तारे पृथ्वी पर, पृथ्वी आकाश के ऊपर भी होती है; बादल बिना मेघ वर्षा करता है और आकाश में हल फिरते हैं ऐसे कौतुक मैं देखता हूँ। हे रामजी! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं; मन करके सब कुछ होता है। जैसे मनोराज किया तैसा ही आगे स्थित होता है और सिद्धि होती है। पर्वत पुर में भिक्षुक के समान भिक्षा माँगते फिरते हैं; ब्रह्माण्ड उड़ते फिरते हैं; बालू से तेल निकलता है और मृतक युद्ध करते हैं; मृग गाते हैं और वन नृत्य करते हैं। हे रामजी! मनोराज करके सब कुछ बनता है। चन्द्रमा की किरणों से पर्वत भस्म होते हैं, इसमें क्या आश्चर्य है? ऐसे ही यह संसार भी मनोराज है और शीघ्र संवेग है इससे इसको जीव सत् मानता है और आगे जो बालू से तेलादिक कहे हैं उनको सत् नहीं जानता, क्योंकि उसमें मृदु संवेग है पर दोनों तुल्य हैं। हे रामजी! जिनको सत् और असत् कहते हो सो आत्मा में दोनों नहीं। ये जो तुमको सत् पदार्थ भासते हैं तो अग्नि आदिक शीतल भी सत् हैं और जो ये मिथ्या भासते हैं तो वे भी मिथ्या हैं, केवल तीव्र और मृदु संवेग का भेद है। जब तीव्र संवेग दूर होता है तब सब मिथ्या मानते हैं। जैसे स्वप्न से जागा हुआ स्वप्न को मिथ्या कहता है और जाग्रत् को सत्य कहता है पर दोनों मनोराज हैं। हे रामजी! जितने आकार दृष्टि आते हैं उन सबको मिथ्या जानो; न तुम हो, न मैं हूँ और न यह जगत् है। परमार्थ सत्ता ज्यों की त्यों है, उसमें अहं त्वं का उत्थान कोई नहीं; वह केवल शान्तरूप; आकाशरूप और निराकाररूप है जिसमें कुछ द्वैत नहीं—केवल अपने आपमें स्थित है जैसे बालक मृत्तिका के हाथी, घोड़े और मनुष्य बनाकर उनके नाम कल्पते

हैं कि यह राजा है; यह हाथी है; यह घोड़ा है सो मृत्तिका से भिन्न नहीं पर बालक के मन में उनके नाम भिन्न-भिन्न दृढ़ होते हैं; तैसे ही मनरूपी बालक नाना प्रकार की संज्ञा कल्पता है पर आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। इससे हे रामजी! तुम किसका भय करते हो? निर्भय हो रहो। तुम्हारा स्वरूप शुद्ध, निर्भय और अविद्या के कारण कार्य से रहित है उसमें स्थित रहो। यह संसार तुम्हारे फुरने में हुआ है; आत्मा न सत्य है, न असत्य है, न जड़ है, न चेतन है, न प्रकाश है, न तम है, न शून्य है, न अशून्य है। शास्त्र ने जो विभाग कहे हैं कि यह जड़ है, यह चेतन है सो इस जीव के जगाने के निमित्त कहे हैं। आत्मा में कोई वास्तव संज्ञा नहीं—केवल आत्मत्वमात्र है। इससे दृश्य की कलना त्यागकर आत्मा में स्थित हो। ब्रह्मा से आदि स्थावर पर्यन्त सब कलनामात्र हैं; इसमें क्या आस्था करनी है? संसार के भाव दोनों तुल्य हैं। फुरना जैसा भाव का है, तैसा ही अभाव का है—स्वरूप में दोनों की तुल्यता है और व्यवहारकाल में जैसा है तैसा ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्वप्रमाणवर्णनं
नामाष्टदशाधिकशततमस्सर्गः ॥ ११८ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! भूमिका प्रसंग यहाँ चला था; उसमें जो सार आपने कहा वह मैं समझ गया; अब भूमिकाओं का विस्तार कहिये। योगी का शरीर जब छूटता है और स्वर्ग के भोगों को भोगकर गिरता है तो फिर उसकी क्या अवस्था होती है सो भी कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस योगी को भोग की वाञ्छा होती है वह स्वर्ग में जाकर भोग भोगता है पर यदि उसको और भी भोगने की इच्छा होती है तो वह मध्यमण्डल मनुष्यलोक में पवित्रस्थान और धनवानों के गृह में जन्म लेता है और जो उसको भोग की वाञ्छा और नहीं होती तो ज्ञानवानों के गृह में जन्म लेता है। थोड़े काल के उपरान्त उसका पिछला संस्कार आ फुरता है वह स्मरण करके आत्मा की ओर होता जाता है। जैसे कोई पुरुष लिखता हुआ सो जाता है पर जब जागता है तब उस लिखे को देखकर फिर आगे लिखता है तैसे ही वह योगी पूर्व के अभ्यास

को दिन दिन बढ़ाता जाता है। वह अज्ञानी का संग नहीं करता, क्योंकि वह भोगों के सम्मुख है और आत्ममार्ग से बहिर्मुख है; जो चुगुली करनेवाले हैं उनका संग नहीं करता; उसके सब अवगुण नाश हो जाते हैं और दम्भ, गर्व, राग, द्वेष, भोग की तृष्णा आदि स्वाभाविक छूट जाते हैं। वह शान्ति को प्राप्त होता है और उसको कोमलता, दया आदि शुभगुण स्वाभाविक प्राप्त होते हैं। हे रामजी ! इस निश्चय को पाकर वह वर्णआश्रम के धर्म यथाशास्त्र करता हुआ संसारसमुद्र के पार के निकट प्राप्त होता है पर पार नहीं होता यह भेद है सो तीसरी भूमिका है—फिर मोह को नहीं प्राप्त होता। जैसे चन्द्रमा की किरणें कदाचित् ताप को नहीं प्राप्त होतीं तैसे ही तीसरी भूमिकावाला संसाररूपी गढ़े में नहीं गिरता। हे रामजी ! यह सप्तभूमिका ब्रह्मरूप हैं पर इतना ही भेद है कि तीन भूमिका जाग्रत् रूप हैं, चतुर्थ स्वप्न है, पंचम सुषुप्ति है, षष्ठ तुरीय है और सप्तम तुरीयातीत है। हे रामजी ! प्रथम तीन भूमिकाओं में संसार की सत्यता भासती है इससे जाग्रत् कही है और पिछली चारों में संसार का अभाव है इससे जाग्रत् से विलक्षण है। जाग्रत् में घट, पट आदिक सत् भासते हैं कि घट घट ही है और पट पट ही है अन्यथा नहीं, अपना ही अपना कार्य सिद्ध करते हैं, इससे अपने काल में ज्यों के त्यों हैं। इसी प्रकार सब पदार्थ हैं। तीसरी भूमिकावाला स्थावर-जङ्गम को जानता है और नाम और रूप से ग्रहण करता है पर हृदय में राग द्वेष नहीं धारता, क्योंकि विचार करके तुच्छ जाने है पर संसार का अत्यन्त अभाव नहीं जाना और ब्रह्मस्वरूप को भी नहीं जानता, क्योंकि उसको स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ। जब स्वरूप को जाने तब संसार का अत्यन्त अभाव हो जावे। इन तीनों भूमिकाओं से संसार की तुच्छता होती है नष्टता नहीं होती। इनको पाकर जब शरीर छूटता है तब और जन्म में उसको ज्ञान प्राप्त होता है और दिन-दिन में ज्ञानपरायण होता है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तब ज्ञान उपजता है। जैसे बीज से प्रथम अंकुर होता है और फिर डाल, फूल, फल निकलते हैं तैसे ही प्रथम भूमिका ज्ञान का

बीज है, दूसरी अंकुर है, तीसरी डाल है और चतुर्थ से ज्ञान की प्राप्ति होती है सो ही फल है। प्रथम तीन भूमिकाओंवाला धर्मात्मा होता है और पुरुषों में श्रेष्ठ है। उसका लक्षण यह है कि वह निरहंकार, असंगी और धीर होता है। उसकी बुद्धि से विषयों की तृष्णा निवृत्त हो जाती है और वह आत्मपद की इच्छा रखता है। यह पुरुष श्रेष्ठ कहाता है, प्रकृत आचार में यथाशास्त्र बिचरता है और शास्त्रमार्ग को कदाचित् नहीं छोड़ता जो शास्त्रमार्ग को मर्यादा के साथ अपने प्रकृत आचार में बिचरता है सो पुरुष श्रेष्ठ है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! पीछे आपने कहा है कि जब मनुष्य शरीर छोड़ता है तब एक मुहूर्त में उसको युग व्यतीत होता है और जन्म से आदि मरणपर्यन्त जैसी किसी को भावना होती है तैसा आगे भासता है सो एक मुहूर्त में युग कैसे भासता है ? यह कहिये। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! यह जगत् जो तीनों कालोंसाहित भासता है वह ब्रह्मस्वरूप ही है, भिन्न कुछ नहीं—समान ही है। जैसे ईख में मधुरता है तैसे ही ब्रह्म में जगत् है और जैसे तिलों में तेल है और मिरचों में तीक्ष्णता है तैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे तिलों में तेल होता है तैसे ही ब्रह्म में जगत् है। कहीं सत्, कहीं असत्; कहीं जड़, कहीं चेतन; कहीं शुभ, कहीं अशुभ; कहीं नरक, कहीं मृतक, कहीं जीवित, ब्रह्मा से काष्ठपर्यन्त भाव अभावरूप होता है। वह सत् असत् से विलक्षण है। आत्मसत्ता से सर्व सत्य है और भिन्न देखिये तो असत्य है। हे रामजी ! जिनको सत्य असत्य जानते हो कि पृथ्वी आदिक पदार्थ सत्य और आकाश के फूलादिक असत्य हैं सो दोनों तुल्य हैं। जो विद्यमान पदार्थ सत्य मानिये तो आकाश के फूल भी सत् मानिये। जैसे स्वप्न में कई पदार्थ सत् और असत् भासते हैं तैसे ही जाग्रत् में भासते हैं पर फुरना दोनों का समान है। जैसे सत्य पदार्थों का फुरना हुआ है तैसा ही असत् का भी हुआ है; फुरने से रहित सत् असत् दोनों का अभाव हो जाता है। इससे यह विश्व भ्रम से सिद्ध हुआ है। जैसे जल में पवन से चक्र उठते हैं तैसे ही आत्मा में फुरने से संसार भासता है; इसकी भावना त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो। तुमने जो प्रश्न किया कि एक मुहूर्त में युग कैसे

भासता है ? उसका उत्तर सुनो। जैसे किसी पुरुष को स्वप्न आता है तो एक क्षण में बड़ा काल बीता भासता है तथा और का और भासता है सो आश्चर्य तो कुछ नहीं; मोह से सब कुछ उत्पन्न होता है और भ्रम से दृष्टि आता है। हे रामजी ! जैसे पुरुष सोया है तो एक आपही होता है पर उसमें नाना प्रकार का जगत् भ्रम से भासता है तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीव कई भ्रम देखता है। स्वरूप के जाने विना भ्रम का अन्त नहीं होता इससे तुम और प्रश्न किस निमित्त करते हो? एक चित्त को स्थिर करके देखो तो न कोई संसार भासेगा; न कोई जन्म-मरण होंगे; न कोई बन्ध है; न मोक्ष है केवल आत्मा ही भासेगा। जब संकल्प फुरता है तब अविद्या से आपको बन्ध जानता है और संकल्प से रहित मुक्त जानता है और विद्या से मुक्त जानता है पर आत्मस्वरूप ज्यों का त्यों है उसे न बन्ध है, न मुक्त है, न विद्या और न अविद्या है—केवल शान्तरूप है। इससे सर्वदा सर्वप्रकार, सर्व ओर से ब्रह्म ही है दूसरा कुछ नहीं। हे रामजी ! जब स्वरूप की भावना होती है तब संसार की भावना जाती रहती है—ये सर्वशब्द कलना में हैं यह पदार्थ है, यह नहीं है आत्मा में यह कोई नहीं। जैसे पवन चलने और ठहरने में एकही है तैसे ही विश्व चित्त का चमत्कार है। ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और आत्मा ही के आश्रय सर्व शब्द फुरते हैं पर आत्मा फुरने और न फुरने में सम है, क्योंकि दूसरा कोई नहीं। हे रामजी ! जो ब्रह्मसत्ता ही है तो आकाश क्या है; पृथ्वी क्या है; मैं क्या हूँ; यह जगत् क्या है; ये प्रश्न बनते ही नहीं। एक मन को स्थिर करके देखो कि ब्रह्मा से चींटी पर्यन्त कुछ भी पदार्थ भासता है, जो सत् भासे तो प्रश्न कीजिये। इससे जैसे भ्रम से दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे ही जगत् भी भ्रम से भासता है। रूप अर्थात् दृश्य; अवलोक अर्थात् इन्द्रियाँ; मनस्कार अर्थात् मन की स्फूर्ति, ये शब्द कलना में फुरे हैं सो सब मिथ्या हैं—आत्मा में ये कोई नहीं। हे रामजी ! आकाश आदिक जो पदार्थ हैं सो भावना में स्थित हुए हैं। जैसी भावना करता है तैसे ही पदार्थ सिद्ध होते हैं और भासते हैं। जब संसार की भावना उठ जावे तब

कोई पदार्थ न भासे। हे रामजी ! सुषुप्ति में ही जब इसका अभाव हो जाता है तो तुरीया में कैसे भान हो। जब जीव स्वरूप से गिरता है तब उसको संसार भासता है और संसार में वासना और प्रमाद से घटीयन्त्र की नाईं फिरता है। स्वरूप से उतरकर अनात्म में अभिमान करने को प्रमाद कहते हैं कि मैं हूँ। यही अज्ञान है जिससे दुःख पाता है; जब अज्ञान नष्ट हो तब संसार के शब्द अर्थ का अभाव हो जावे। अहंकार से संसार होता है; संसार का बीज अहंकार ही है। अहंकार अनात्मा में आत्मअभिमान करने को कहते हैं। हे रामजी ! शुद्ध आत्मा अहंकार के उत्थान से रहित केवल शान्तरूप है और विश्व भी वही रूप है। इसकी भावना में दुःख है। यह संवित् शक्ति आत्मा के आश्रय फुरती है। जैसे तेल की बूँद जल में डालिये तो चक्र की नाईं फिरती है तैसे ही संवेदन शक्ति आत्मा के आश्रित फुरती है और ब्रह्म एक स्वरूप है उसका स्वभाव ऐसे है। जैसे मोर का अण्डा और उसका वीर्य एकरूप है अपने स्वभाव से वीर्य ही नाना प्रकार के रङ्ग धारता है तौ भी मोर से कुछ भिन्न नहीं; तैसे ही आत्मा के संवेदन स्वभाव से नाना प्रकार का विश्व भासता है परन्तु आत्मा से कुछ भिन्न नहीं—आत्मरूप ही है। सम्यक्दर्शी को नाना प्रकार में एक आत्मा ही भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् भासता है। हे रामजी ! ब्रह्मरूपी एक शिला है उसमें त्रिलोकीरूपी अनेक पुतलियाँ कल्पित हैं। जैसे एक शिला में शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है कि इसमें इतनी पुतलियाँ होंगी सो वे पुतलियाँ उसके चित्त में हैं और शिला में कुछ नहीं हुआ तैसे ही आत्मरूपी शिला में चित्तरूपी शिल्पी नाना प्रकार के पदार्थरूपी पुतलियाँ कल्पता है सो सर्व आत्मारूप है। इससे पदार्थों की भावना त्यागकर आत्मा में स्थित हो। यह संसार भी निर्वाच्य है, क्योंकि ब्रह्म ही है ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। न कोई उपजता है, न कोई विनशता है ज्यों का त्यों आत्मा ही स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदभावप्रतिपादनं नाम
शताधिकैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ ११६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तो इस संसार का बीज अहंकार हुआ इसका पिता अहंकार है तो मिथ्या संसार जो अविद्यमान ही विद्यमान भासता है सो भ्रमरूप हुआ? और जो भ्रमरूप है तो लोग और शास्त्र; श्रुति और स्मृति क्यों कहते हैं कि इसका शरीर पिण्ड से होता है? और जो पिण्ड से होता है तो आप कैसे भ्रम कहते हैं? जो भ्रम है तो लोग, शास्त्र, श्रुति और स्मृति क्यों पिण्ड से कहते हैं? इससे मेरे संशय को निवृत्त कीजिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मेरा कहना सत्य है। ऐसे ही है। ब्रह्म में ब्रह्मत्व स्वभाव है और जगत् का स्वरूप भी वही है। हे रामजी! आदि जो किंचन हुआ है और चित्तशक्ति फुरी है वही ब्रह्मारूप हुआ है और उसको पदार्थों का मनोराज हुआ है। यह आकाश है; यह पवन है; यह कर्तव्य है; यह अकर्तव्य है; यह सत्य है; यह झूठ है इत्यादि जबतक मनोराज है तबतक सर्व मर्यादा ऐसे ही है। फिर ब्रह्मा में यह चिन्तना हुई कि जगत् की मर्यादा के निमित्त वेद को कहूँ कि यह पदार्थ शुभ है और यह अशुभ है। हे रामजी! आत्मा में कुछ द्वैत नहीं; मायारूप जगत् में मर्यादा है; तो अधः, ऊर्ध्व, नीच, ऊँच कौन कहे? यह मर्यादा भी वेद में नीति निश्चय हुई है कि ये शुभ कर्म हैं; इनके किये से स्वर्ग सुख ही भोगते हैं और ये अशुभकर्म हैं इनके किये से नरकदुःख भोगते हैं। हे रामजी! जैसे वेद में निश्चय किया है तैसे ही जीव अपनी वासना के अनुसार भोगता है। हे रामजी। यह रचित शक्ति नीति होकर ब्रह्मादिक में फुरी है परन्तु उनको सदा स्वरूप में निश्चय है इससे वे बन्धायमान नहीं होते और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ने यह वेदमाला धारी है कि जैसा कोई कर्म करे तैसा ही फल देते हैं, यह वेद सब की नीति है। हे रामजी! जिन पुरुषों को संसार की सत्यता दृढ़ हुई है वे जैसे कर्म शुभ अथवा अशुभ करते हैं तैसे ही शरीर को धारते हैं। इसमें संशय नहीं कि जो शास्त्रमर्यादा को अपनी इच्छा से उल्लंघित बर्तते हैं सो शरीर त्यागकर कुछ काल मूर्च्छित हो जाते हैं और आत्मज्ञान विना एक मुहूर्त में जागकर बड़े नरकों को चले जाते हैं। जिनको शून्यभावना हुई है कि आगे नरक स्वर्ग कोई नहीं और जो लोक-

परलोक के भय को त्यागकर शास्त्र से बाह्य बर्तते हैं सो मरकर पत्थर वृक्षादिक जड़योनि पाते हैं और चिरकाल से उनकी वासना प्रणमती है फिर दुःख के भागी होते हैं और जिनको आत्मभावना हुई है और संसार की भावना निवृत्त हुई है वे शास्त्रविहित करें अथवा अविहित करें उनको कोई बन्धन नहीं। हे रामजी! चित्तरूपी भूमि में निश्चयरूपी जैसा बीज बोता है तैसा ही काल पाकर उगता है—यह निःसंशय है। इससे तुम आत्मभावनारूप बीज बोओ कि सर्व आत्मा है। ऐसी भावना करो तब शुद्ध आत्मा ही भासेगा और जिनको संसार का निश्चय हुआ है उनको संसार है। हे रामजी! जो पुरुष धर्मात्मा हैं उनको उसी वासना के अनुसार भासता है। धर्मात्मा भी दो प्रकार के हैं—एक सकामी और दूसरे निष्कामी। जो धर्म करते हैं और पापरूपी कामना सहित हैं तो वे स्वर्गभोग भोगकर फिर गिरते हैं और जो निष्काम ईश्वरार्पण कर्म करते हैं उनका अन्तःकरण शुद्ध होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है। यह भी संसार में मर्यादा है कि जैसा किसी को निश्चय होता है तैसा ही संसार को देखता है। पिण्ड करके भी शरीर होता है क्योंकि यह भी आदि नीति में निश्चय हुआ है जैसे आदि नीति में निश्चय हुआ है तैसे ही होता है। जो पवन है सो पवन ही है और जो अग्नि है सो अग्नि ही है। इसी प्रकार कल्पपर्यन्त जैसे मनोराज हुआ है तैसे ही स्थित है। जैसे जल नीचे ही को जाता है—ऊँचे नहीं जाता; तैसे ही जो आदि में निश्चय हुआ है वही कल्पपर्यन्त रहता है। हे रामजी! जगत् व्यवहार में तो ऐसे है और परमार्थ से दूसरा कुछ हुआ नहीं, इस जीव ने आकाश में मिथ्या देह रची है। परमार्थ से केवल निराकार अद्वैत आत्मा है शरीर इसके साथ नहीं है इससे जगत् कैसे हो?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पिण्डनिर्णयो नाम
शताधिकविंशतितमस्सर्गः ॥ १२० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हारे प्रश्न पर एक इतिहास बृहस्पति और बलिराजा का है सो सुनो। जब छः कल्प व्यतीत हुए तो दूसरे परार्द्ध में राजा बलि हुआ। वह अति महापराक्रमी था। उस राजा बलि

ने सम्पूर्ण दैत्यों और राक्षसों को जीतकर अपने वश किया और उन पर अपनी आज्ञा चलाई। इन्द्र को भी जीतकर अपने वश किया और उसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य ले लिया। देवता और किन्नरों पर उसकी आज्ञा चली और भूलोक भी उसने ले लिया। अब वह सबको ले चुका तब उसने धर्म आचार को ग्रहण किया। एक समय सब सभा बैठी थी और यह कथा चली कि जन्म कैसे होता है और मरण कैसे होता है? तब राजा बलि ने देवगुरु बृहस्पति से प्रश्न किया कि हे ब्राह्मण! यह पुरुष जब मृतक होता है तब शरीर तो भस्म हो जाता है फिर कर्मों के फल कैसे भोगता है और शरीर विना कैसे आता जाता है सो कहिये? बृहस्पति बोले, हे राजन्! जीव के देह नहीं है। जैसे मरुस्थल में जल भासता है पर है नहीं; तैसे ही जीव के साथ शरीर भासता है और है नहीं। जीव न जन्मता है; न मरता है; न भस्म होता है; न दुःखी होता है। यह सदा अच्युतरूप है पर स्वरूप के प्रमाद से आपको दुःखी जानता है कि मैं इनको भोगता हूँ और जन्मा हूँ; इतना काल हुआ है; यह मेरी माता है; यह पिता है; मैं इनसे उपजा हूँ और फिर आपको मृतक हुआ जानता है। हे राजन्! भ्रम से ऐसे देखता है जैसे निद्राभ्रम से स्वप्न में देखता है तैसे ही अज्ञान से जीव आपको मानता है। जब मृतक होता है तब जानता है कि मेरा शरीर पिण्ड से हुआ है और अब मैं दुःख सुख भोगूँगा। जैसे स्वप्न में आकाश होता है और वहाँ वासना से अपने साथ शरीर देखता है और सुख दुःख भोगता है; तैसे ही मरकर जीव अपने साथ शरीर देखता है और दुःख सुख का भागी होता है। परमार्थ से इसके साथ शरीर ही नहीं तो जन्म मरण कैसे हों? स्वरूप से प्रमाद करके देहधारी की नाईं स्थित हुआ है और उस देह से मिलकर जैसी-जैसी भावना करता है तैसा ही फल भोगता है और वासना के अनुसार जैसी भावना होती है तैसे ही आगे शरीर देखता है और पञ्चभौतिक संसार को देखता है, इस प्रकार भ्रमता है और जन्मता मरता आपको देखता है। जैसे समुद्र से तरङ्ग उठता और मिट जाता है तैसे ही शरीर उपजता और नष्ट होता है। शरीर के सम्बन्ध से ही उपजता

और विनशता भासता है। यह आश्चर्य है कि आत्मा ज्यों का त्यों स्वाभाविक स्थित है उसमें वासना के अनुसार विश्व देखता है। हे राजन्! विश्व इसके हृदय में स्थित है और भावना के अनुसार आगे देखता है। इस जीव में विश्व है और विश्व में जीव नहीं। जैसे तिल में तेल है और तेल में तिल नहीं और सुवर्ण में भूषण कल्पित है भूषण में सुवर्ण कल्पित नहीं वैसे ही विश्व सत् भी नहीं और असत् भी नहीं। सत् इस कारण नहीं कि चलरूप है स्थित नहीं और असत् इससे नहीं कि विद्यमान भासता है। इससे इसकी भावना त्यागो; यह दृश्य मिथ्या है और इसका अनुभव मिथ्या है और इसका जाननेवाला अहंकार जीव भी मिथ्या है। जैसे मरुस्थल में जल मिथ्या है तैसे ही आत्मा में अहंकार और जीव मिथ्या है। हे राजन्! जबतक शास्त्रों के अर्थ में चपलता है और स्थिति से रहित है तबतक संसार की निवृत्ति नहीं होती और जब दृश्य के फुरने और अहंकार से जड़ हो तब इसको आत्मपद की प्राप्ति हो। जबतक दृश्य की ओर फुरता है और चेतन सावधान है तबतक संसार में भ्रमता है। हे राजन्! आत्मा न कहीं जाता है; न आता है; न जन्मता है; न मरता है। जब चैत्य और चित्त का सम्बन्ध मिट जावे तब आनन्दरूप ही है। चैत्य दृश्य को कहते हैं और चित्त अहंकारसंवित् का नाम है। जब दोनों का सम्बन्ध आपस में मिट जावेगा तब शेष आत्मा ही रहेगा। वह ब्रह्म आत्मा और शिवपद है जिसमें वाणी की गम नहीं और अनुभव निर्वाच्य पद है उसी में स्थित हो। हे रामजी! जिस युक्ति से इसकी इच्छा अनिच्छा निवृत्त हो सो युक्ति श्रेष्ठ है जबतक फुरना उठता है कि, यह भाव है यह अभाव है: तबतक इसको जीव कहते हैं और जब भाव अभाव का फुरना मिट जाता है तब जीवसंज्ञा भी जाती रहती है। शिवपद आत्मा को प्राप्त होता है जहाँ वाणी की गम नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बृहस्पतिबलिसंवादवर्णनं नाम शताधिकैकविंशतितमस्सर्गः ॥ १२१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार बृहस्पति ने बलि राजा से कहा था वह तेरे प्रश्न के उत्तर निमित्त मैंने कहा है। जबतक हृदय में संसार की सत्यता है तबतक जैसे कर्म करेगा तैसा ही शरीर धरेगा। हे रामजी! जिस वस्तु को चित्त देखता है उसकी ओर अवश्य जाता है; उसका संस्कार उसके हृदय में होता है और जिस पदार्थ को सत् जानता है उस पदार्थ का संस्कार स्थित हो जाता है। जैसे मोर के अण्डे में शक्ति होती है और जब समय आता है तब नाना प्रकार के रङ्ग उसमें प्रकट भासते हैं; तैसे ही चित्त का संस्कार भी समय पाकर जागता है। हे रामजी! चित्त अज्ञान से उपजता है। फिर बृहस्पति ने कहा, हे राजन्! बीज पृथ्वी पर उगता है आकाश में नहीं उगता; जैसा बीज पृथ्वी में बोया जाता है तैसा ही फल होता है। यहाँ अहंरूप अपना होना यही पृथ्वी है; जैसी जैसी भावना से कर्म करता है तैसा तैसा चित्तरूपी पृथ्वी पर उत्पन्न होता है और फिर उसमें फल होता है। उन कर्मों के अनुसार देह धार के सुख दुःख को भोगता है। ज्ञानवान् आकाशरूप है आकाश में बीज कैसे उपजे? बीज भावना से अज्ञानरूपी पृथ्वी में उगता है। बलि ने पूछा, हे देवगुरो! आपने कहा कि जीव जीता हो अथवा मृतक हो इसे अपनी भावना ही से अनुभव होता है तो जब यह मृतक हुआ और इसकी पिण्डादिक में भावना न हुई तो फिर इसका शरीर कैसे होता है? बृहस्पति बोले, हे राजन्! पिण्डदान आदिक क्रिया न हों पर उसके हृदय में भावना हो और उसी समय किसी ने किया तौ भी वह जो हृदय में भावना है वही कर्मरूप है और उसी से भासि आता है और जो उसके हृदय में भावना नहीं और किसी बान्धव ने इसके निमित्त पिण्डदान किया तौ भी इसको भासि आता है, क्योंकि वह भी इसकी वासना में स्पन्द है। हे राजन्! जो अज्ञानी जीव हैं और जिनको अनात्म में आत्मबुद्धि है उनके कर्म कहाँ गये हैं, वे जो कर्म करते हैं वही उनके चित्तरूपी भूमि में उगते हैं। उनके शरीरों की क्या संख्या है? वे वासनारूपी अनेक शरीर ज्ञान विना स्वप्नवत् धारते हैं। बलि बोले, हे देवगुरो! यह निश्चय करके मैंने जाना है कि जिसको निष्किंचन की भावना होती है वह निष्किंचन पद को प्राप्त होता है और संसार की ओर से शिला की नाईं हो जाता है। जिसकी जैसी भावना होती है तैसा ही स्वरूप हो जाता है जब संसार से पत्थरवत् हो तब मुक्त हो। बृहस्पति बोले, हे राजन्! निष्किंचन को जब जानता है तब संसार की ओर से जड़ हो जाता है। संसार के न फुरने ही का नाम जड़ है और केवल सारपद में स्थित होता है। जिसे गुण चला न सकें उसे जानिये कि निष्किंचन पद को प्राप्त हुआ है। वही निःसंदेह मुक्त है। हे राजन्! जबतक संसार की सत्यता चित्त में स्थित है तबतक वासना है और जबतक वासना है तबतक संसार है। संसार के अभाव विना शान्ति नहीं होती। स्वरूप के प्रमाद से चित्त हुआ है; चित्त से वासना हुई है और वासना से संसार हुआ है; इससे इस वासना को त्याग करो। कोई फुरना फुरे तो निष्किंचनभाव हो और शान्तभागी हो। हे राजन्! जिस युक्ति और क्रम से यह निष्किंचनरूप हो वही करे। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार से सुरपुर में असुरनायक को सुरगुरु ने जो पिण्डदानादि क्रिया कही वह मैंने तुमको सुनाई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बृहस्पतिबलिसंवादो नाम
शताधिकद्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ १२२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! चाहे जीता हो चाहे मृतक हो जो कुछ इसके चित्त के साथ स्पर्श होगा उसका अनुभव अवश्य करेगा। जैसे मोर के अण्डे में रस होता है तो वह समय पाकर विस्तार पाता है तैसे ही इसके भीतर जो वासना का बीज है वह यदि प्रकट नहीं भासता तौ भी समय पाकर विस्तारवान् होता है। जबतक चित्त है—तबतक संसार है और जब चित्त नष्ट हो तब सब भ्रम मिट जावे। हे रामजी! चित्त भी असत् है तो विश्व भी असत्य है। जैसे आकाश में नीलता भ्रम से भासती है तैसे ही आत्मा में विश्व का भ्रम है। हे रामजी! हमको न चित्त भासता है न विश्व भासता है; मैं भी आकाश हूँ और तुम भी आकाशरूप हो। यह चित्तस्वरूप के प्रमाद करके उपजता है। जैसे जहाँ काजल होता है वहाँ श्यामता भी होती है तैसे ही जहाँ चित्त होता है वहाँ वासना होती है।

जब ज्ञानरूपी अग्नि से वासना दग्ध हो तब चित्त सत्पद को प्राप्त होता है और जीवितसंज्ञा निवृत्त होती है। हे रामजी! चित्त के उपशम का उपाय मुझसे सुनो तो उससे चित्त निर्वाण हो जावेगा। जो सात भूमिका ज्ञान की हैं उनसे चित्त नष्ट हो जावेगा। उनमें से तीन भूमिका तो तुमसे क्रम से कही हैं और चार कहने को रही हैं। हे रामजी! प्रथम तीन भूमिकाओं में से जिसको एक भी प्राप्त होती है; उसको महापुरुष जानो। उसके मान और मोह निवृत्त होजाते हैं और उसे संगदोष नहीं लगता। उसमें विचार स्थिति से कामना नष्ट हो जाती है और राग द्वेष न रहकर सुख दुःख में सम रहता है। ऐसा अमूढ़ पुरुष अव्ययपद को प्राप्त होता है। इतने गुण तीसरी भूमिका में प्राप्त होते हैं और चित्त नष्ट हो जाता है तब संसार नहीं दृष्टि आता है जैसे दीपक से देखिये तो अन्धकार नहीं मिलता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्ताभावप्रतिपादनं नाम
शताधिकत्रयोविंशतितमस्सर्गः ॥ १२३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब तृतीय भूमिका दृढ़ पूर्ण होके दृढ़ अभ्यास से चौथी भूमिका उदय होती है तो अज्ञान नष्ट हो जाता है और सम्यक्ज्ञान चित्त में उदय होता है। तब वह पूर्णमासी के चन्द्रमावत् शोभा पाता है और आदि अन्त से रहित निर्विभाग चैतन्य तत्त्व में उस योगी का चित्त स्थित होता है और वह सबको सम देखता है। जिस योगी को चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है उसके नाना प्रकार के भेदभाव निवृत्त हो जाते हैं और अभेद सर्व आत्मभाव उदय होता है। उसको जगत् स्वप्न की नाईं भासता है और इन्द्रियों का व्यवहार स्वप्नवत् हो जाता है। जैसे जिसको सुषुप्ति होती है उसे उस काल में खाना पीना रससे रहित हो जाता है तैसे ही चतुर्थ भूमिकावाले का व्यवहार रस से रहित होता है। जैसे सूर्य अपने प्रकाश से प्रकाशता है तैसे ही उसको आत्मा का प्रकाश उदय होता है और उसकी सब कल्पना नष्ट हो जाती है; न किसी पदार्थ में राग रहता है, न किसी में द्वेष रहता है। संसारसमुद्र में डुबानेवाले राग और द्वेष हैं। इष्ट पदार्थ में न राग होता है और न अनिष्ट में द्वेष होता है। इससे वह संसारसमुद्र में गोते नहीं खाता और उसके चित्त को कोई मोहित नहीं कर सकता। हे रामजी! जबतक तृतीयभूमिका होती है तबतक उसको जाग्रत् अवस्था होती है और जब चतुर्थभूमिका प्राप्त होती है तब जगत् स्वप्न हो जाता है। तब वह सर्वजगत् को क्षणभंगुर और नाशवन्त देखता है और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भावना का अभाव हो जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति का लक्षण कहिये और तुरीया और तुरीयातीत मुझसे कहिये। गुरु शिष्य को उपदेश करते खेदवान् नहीं होते। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तत्त्व का विस्मरण, पदार्थों की भावना और नाशवन्त पदार्थों को सत् की नाईं जानना ही जाग्रत् है। पदार्थों में भाव-अभाव की सत्यता और जगत् को मिथ्या भावनामात्र जानना स्वप्न कहाता है और जाग्रत् और स्वप्न जिसमें लय हो जावें सो सुषुप्ति है यदि ज्ञान से भेद की शान्ति हो जावे और जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों का अभाव हो ऐसी जो निर्मल स्थिति है सो तुरीया है। हे रामजी! अज्ञानी जीव संसार को वर्षाकाल के मेघ की नाईं देखते हैं, क्योंकि उनको दृढ़ होकर भासता है पर जिसको चतुर्थभूमिका प्राप्त हुई है वह शरत्काल के मेघ की नाईं संसार को देखता है और जिसको पञ्चम भूमिका प्राप्त हुई है वह शरत्काल में मेघ नष्ट हुए की नाईं देखता है। जैसे निर्मल आकाश होता है तैसे ही उसको निर्मल भासता है। इन तीनों का वृत्तान्त सुनो। अज्ञानी जगत् को जाग्रत् की नाईं देखता है और उसको जगत् की दृढ़ सत्यता भासती है इससे उसे राग द्वेष उपजता है। चतुर्थ भूमिकावाला जगत् को ऐसे देखता है जैसे शरत्काल का मेघ वर्षा से रहित होता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि होती है तैसे ही उसको जगत् की सत्यता नहीं भासती, क्योंकि उसकी स्मृति स्वप्न की होती है और वह जगत् को स्वप्नवत् देखता है इससे उसको राग द्वेष नहीं उपजता। पञ्चम भूमिका की प्राप्तिवाला जगत् को सुषुप्ति की नाईं देखता है। जैसे शरत्काल का मेघ नष्ट होके फिर नहीं दीखता तैसे ही उसको संसार का भान नहीं होता और उसकी चेष्टा स्वाभाविक होती है। जैसे कमल स्वाभाविक ही खुलता और मूँद जाता

है तैसे ही उसको कुछ यत्न नहीं—चेष्टा में जैसा प्रतियोगी स्वाभाविक प्राप्त होता है सो करता है। जैसे कमल के खुलने का प्रतियोगी जब सूर्य उदय हुआ तब खुल गया और जब मूँदने का प्रतियोगी रात्रि हुई तब मूँद जाता है—उसको कुछ खेद नहीं; तैसे ही उस पुरुष की अहंममता से रहित स्वाभाविक चेष्टा होती है। हे रामजी! अहंता ममतारूपी जाग्रत् से वह पुरुष सुषुप्त हो जाता है और सम्पूर्ण भावरूप जो शब्द और अर्थ हैं उनका उसको अभाव हो जाता है; उसको अशेषशेष का मनन नष्ट हो जाता है और उसको पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, भला, बुरा इत्यादिक भिन्न-भिन्न पदार्थों की भावना नहीं रहती; उसकी द्वैतकलना नष्ट हो जाती है और एक ब्रह्मसत्ता ही भासती है—संसार नहीं भासता। हे रामजी! अहंतारूपी तिल से संसाररूपी तेल उपजता है और अहंतारूपी फूल से संसाररूपी गन्ध उपजती है। संसार का कारण अहंता ही है। जिस पुरुष की अहंता नष्ट हो जाती है वह इन्द्रियों के इष्ट को पाकर हर्षवान् नहीं होता और अनिष्ट के प्राप्त हुए द्वेष नहीं करता। वह ऐसे आपको नहीं जानता कि मैं खड़ा हूँ वा बैठा हूँ अथवा चलता हूँ; वह आपको सर्वदा आकाशरूप जानता है और न भीतर देखता है, न बाहर देखता है; न आकाश को देखता है और न पृथ्वी को देखता है, सर्व ब्रह्म ही देखता है। उसको भिन्न कुछ नहीं भासता और वह द्रष्टा, दर्शन, दृश्य तीनों का साक्षी रहता है। वह अहंकार का भी साक्षी; इन्द्रियों का भी साक्षी और विश्व का भी साक्षी है और इनके साथ स्पर्श कदाचित् नहीं करता, जैसे ब्राह्मण चाण्डाल से स्पर्श नहीं करता। जैसे बीज से अंकुर होता है और फिर अंकुर से डाल होते हैं; इसी प्रकार सब पदार्थों का परिणाम है पर उनमें आकाश ज्यों का त्यों रहता है, क्योंकि उनके साथ स्पर्श नहीं करता; तैसे ही वह पुरुष द्रष्टा, दर्शन, दृश्य से अतीत रहता है। जैसे मरुस्थल में जल असत् है तैसे ही उस पुरुष को त्रिपुटी असत्य है। त्रिपुटी और अहंता उस पुरुष की नष्ट हो जाती है इससे भेदबुद्धि भी नहीं रहती और इसी से वह शान्त; निर्मल, संसार से सुषुप्त; चैतन्य घनता से पूर्ण और सर्वदा शान्तरूप है। जिन नेत्रों

से लोग संसार देखते हैं उनसे वह अन्धा हुआ है—अर्थ यह कि जिस मन से फुरना होता है उसको उसने नाश किया है और यदि भय, क्रोध, अहंकार, मोह इत्यादि उस पुरुष में दीखते भी हैं पर उसके हृदय में कुछ स्पर्श नहीं करते। जैसे पक्षी आकाश में उड़ता है परन्तु आकाश को स्पर्श नहीं कर सकता तैसे ही उस पुरुष को कोई विकार स्पर्श नहीं करता। हे रामजी! उस पुरुष के सम्पूर्ण संशय नष्ट हो गये हैं और वह सर्वदा स्वरूप में स्थित और शान्तरूप है; आत्मा से भिन्न वह किसी सुख की वाञ्छा नहीं करता और उसके सर्व संकल्प नष्ट हुए हैं। उस आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता; जाग्रत् की नाईं दृष्टि आता है पर सर्वदा जाग्रत् से सुषुप्त है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पञ्चमभूमिकावर्णनं नाम चतुर्विंशतिशताधिकतमस्सर्गः ॥ १२४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तीसरी भूमिका पर्यन्त जाग्रत् है और चतुर्थ भूमिका में जाग्रत् अवस्था को स्वप्नवत् देखता है। पञ्चम भूमिकावाला संसार से सुषुप्त होता है और छठी भूमिकावाला तुरीयापद में स्थित होता है और सर्वदा अक्रिय है अर्थात् किसी क्रिया में बन्धवान् नहीं होता। वह सर्वकाल आनन्दरूप है; भिन्न होकर आनन्द को नहीं भोगता आपही आनन्द है; केवल अपने आप स्वतः स्थित है और सर्वदा निर्वाण है। हे रामजी! सर्वक्रिया में वह यथाशास्त्र बिचरता दृष्टि आता है परन्तु हृदय में शून्य है—उसको किसी से स्पर्श नहीं। जैसे आकाश में सर्व पदार्थ भासते हैं और आकाश का स्पर्श किसी से नहीं; तैसे ही सर्वक्रिया उसमें विद्यमान दृष्टि भी आती हैं तौ भी वह हृदय से किसी से स्पर्श नहीं करता, क्योंकि उसको क्रिया में बन्धवान् करनेवाला जो अहंकार था सो उसका नष्ट हो गया है—केवल शान्तरूप है। चिन्मात्र में अहंभाव का उत्थान ही अज्ञान है और वही दुःखदायी है। जब अहंभाव निवृत्त होता है तब कोई कर्म स्पर्श नहीं करता। यद्यपि उसको विश्व दृष्टि भी आता है तौ भी वास्तव से नहीं देखता, क्योंकि उसको सर्व ब्रह्म ही भासता है; खाता है और नहीं खाता; देता भी है और

कदाचित् नहीं देता; लेता है तौ भी कदाचित् किसी से कुछ नहीं लेता और चलता है परन्तु कदाचित् नहीं चला। हे रामजी! जो देश काल-वस्तु पदार्थ हैं उन सब में वह आत्मभाव रखता है यद्यपि उसमें प्रत्यक्ष चेष्टा दीखती है तौ भी उसके हृदय में कुछ नहीं। जैसे स्वप्ने में खाता, पीता, लेता, देता आपको भासता है और जागे से सबका अभाव हो जाता है तैसे ही जो पुरुष परमार्थसत्ता में जगा है उसको गुण व क्रिया अपने में नहीं भासती और जो करता है उसमें अभिलाषा नहीं रखता, उसकी सब चेष्टा स्वाभाविक होती है। अपने निमित्त उसे कुछ कर्तव्य नहीं। ऐसे भगवान् ने भी कहा है कि वह सर्व आत्मा ही देखता है। आकाश, पृथ्वी, सूर्य, ब्राह्मण, हाथी, श्वान, चाण्डाल आदिक सबमें वह आत्मभाव देखता है सब आकारों को मृगतृष्णा के जलवत् देखता है कि इनका अत्यन्त अभाव है। द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भी उसको आकाशवत् भासते हैं और वह निर्मल आकाशवत् शान्तरूप है। अहंभाव से रहित वह केवल चिन्मात्र में स्थित है और ग्रहण-त्याग से अतीत; सर्वकलना से रहित; निर्वाण, स्वच्छ, निर्मल आकाशरूप स्थित है। अहं मम आदिक चिद्ग्रन्थि उसकी भेदी हैं और अनात्म में अहं अभिमान उसका नष्ट होता है—केवल शान्तरूप हो रहता है। जैसे क्षीरसमुद्र से मन्दराचल पर्वत निकलकर शान्तरूप हुआ तैसे ही वह रागद्वेषरूपी क्षोभ करनेवाले अन्तःकरणरूपी समुद्र से निकल गया तब शान्तरूप अक्षोभ हुआ परम शोभा से शोभता है। जैसे विश्वकर्मा ने सूर्य का मण्डल रचा है और वह प्रकाश से शोभा पाता है तैसे ही ज्ञानरूपी प्रकाश से वह प्रकाशता है। जैसे चक्र फिरता फिरता रह जाता है और शान्त होता है तैसे ही अज्ञान से फिरता फिरता ठहरकर वह सदा शान्ति को प्राप्त हुआ है और अपने आपसे प्रकाशता है। जैसे पवन से रहित दीपक प्रकाशता है तैसे ही कलनारूपी पवन से रहित पुरुष अपने आपसे प्रकाशता है और सर्वदा निर्मल और एकरस है। जैसे घट के भीतर और बाहर शून्य है तैसे ही देह के भीतर बाहर आत्मा है। जैसे जल में घट रखिये तो उसके भीतर बाहर जल होता है तैसे ही वह पुरुष अपने आपसे

भीतर बाहर पूर्ण हो रहा है और एकरस है—द्वैतकलना को नहीं प्राप्त होता और उस पद को पाकर आनन्दवान् है। जैसे कोई मारे जाने के निमित्त पकड़ा गया हो और उसकी रक्षा हो तो वह बड़े आनन्द को प्राप्त होता है तैसे ही वह पुरुष आनन्द को प्राप्त होता है। जैसे कोई आधि व्याधि से छूटा आनन्द को प्राप्त होता है तैसे ही वह ज्ञानवान् आनन्द को प्राप्त होता है। जैसे कोई मंज़िल चलने से थका हुआ शय्या पर विश्राम करे और आनन्द को प्राप्त होता है तैसे ही ज्ञानवान् को आनन्द है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अमृत से आनन्दवान् होता है तैसे ही वह पुरुष अपने आनन्द से घूर्म है। जैसे काष्ठ के जले से रहित अग्नि धुएँ से रहित प्रज्वलित होती है; तैसे ही ज्ञानवान् अज्ञानरूपी धुएँ से रहित शोभता है। हे रामजी! जब वह संसार की ओर देखता है तो उसे अग्नि से जलता हुआ आपसे जुदा देखता है और ज्ञानरूपी पर्वत के ऊपर स्थित होकर संसार को जलता देखता है। हे रामजी! यह जो कहा है कि संसार को जलता देखता है सो ऐसे भी नहीं फुरता कि मैं ज्ञानी हूँ और यह संसार है। स्वरूप की अपेक्षा से यह कहा है कि संसार उसको दुःखदायी भासता है। वह आनन्द से रहित परमानन्द को प्राप्त हुआ है और सत् असत् से रहित जो अपना आप है उसमें स्थित है। जैसे पर्वत भीतर बाहर अपने आप में स्थित और एकरस है तैसे ही वह पुरुष एकरस है। संसार में जाग्रत् होकर चेष्टा करता है पर हृदय में संसार की भावना से रहित है। उस पद में वाणी की गम नहीं परन्तु कुछ कहता हूँ सुनो; कोई उसे ब्रह्म कहते हैं; कोई चैतन्य कहते हैं; कोई आत्मा कहते हैं; कोई साक्षी कहते हैं; कालवाले उसी को काल कहते हैं; ईश्वरवादी ईश्वर कहते हैं; सांख्यवाले प्रकृति इत्यादिक संज्ञाओं से कहते हैं। ये सब उसी के नाम हैं—उससे भिन्न नहीं। उस पद को सन्तजन जानते हैं। हे रामजी! ऐसे पद को पाय के वह अपने आपसे शोभता है। जैसे मणि के भीतर बाहर प्रकाश होता है तैसे ही वह पुरुष भीतर बाहर से शोभता है और अपने स्वरूप से सदा घूर्म रहता है। जो पुरुष छठी भूमिका में स्थित है उसके ये लक्षण होते हैं कि संसार से सुषुप्त होकर

स्वरूप में सावधान रहता है और उसका जीवत्वभाव जाता रहता है। जैसे घट की उपाधि से घटाकाश परिच्छिन्न भासता है और जब घट भग्न हुआ तब घटाकाश महाकाश एक हो जाता है तैसे ही अहंकाररूपी घट के भग्न हुए आत्मा ही भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे षष्ठभूमिकोपदेशो नाम शताधिकपञ्चविंशतितमस्सर्गः ॥ १२५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इसके अनन्तर जब सप्तम भूमिका उस पुरुष को प्राप्त होती है तब आपको आत्मा हो जानता है और भूतों का ज्ञान जाता रहता है। तब केवल आत्मत्वमात्र होता है और दृश्य का ज्ञान नहीं रहता; बल्कि यह भी ज्ञान नहीं रहता कि विश्व मेरे आश्रय फुरता है। देहसहित हो अथवा विदेह हो उसको आत्मा से उत्थान कदाचित् नहीं होता। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है तैसे ही वह आत्मस्वरूप में स्थित होता है और उसकी चेष्टा भी स्वाभाविक होती है। जैसे बालक पालने में अपने अङ्ग स्वाभाविक हिलाता है तैसे ही उसकी खान, पान आदिक चेष्टा स्वाभाविक ही है और जैसे काष्ठ की पुतली तागे से चेष्टा करती है तैसे ही प्रारब्ध वेग के तागे से उसकी चेष्टा होती है—उसको अपनी कुछ इच्छा नहीं रहती। हे रामजी ! सप्तम भूमिकावाला जैसी अवस्था को प्राप्त होता है सो आपही जानता है और कोई नहीं जान सकता जिसका चित्त सत्पद को प्राप्त हुआ है वह भी उस अवस्था को नहीं जान सकता; जिसको वह पद प्राप्त हुआ है वही जानता है। हे रामजी ! जीवन्मुक्त का चित्त सत्पद को प्राप्त होता है और यह तुरीयापद में स्थित होता है। उसका चित्त निर्वाण हो जाता है और तुरीयातीत पद को प्राप्त होकर विदेहमुक्त होता है। उसको अहंभाव का उत्थान कदाचित् नहीं होता और सत्‌रूप है पर असत् की नाईं स्थित है। हे रामजी ! वह पुरुष उस पद को प्राप्त होता है जिसमें वाणी की गम नहीं परन्तु कुछ कहता हूँ। वह पद, शुद्ध, निर्मल, अद्वैत, चैतन्य ब्रह्म और काल का भी काल केवल चिन्मात्र है और ज्यों का त्यों अच्युत पद है। उस पद को पाकर ऐसे होता है जैसे वस्त्र के ऊपर मूर्ति लिखी हो तैसे ही

यह उत्थान से रहित है और उसको अहंब्रह्म का उत्थान भी नहीं रहता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सप्तभूमिकालक्षणविचारो नाम षड्विंशाधिकशततमस्सर्गः ॥ १२६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! ये सप्तभूमिका जो तुमसे कही हैं, ज्ञान की प्राप्ति इन्हीं से होती है और अन्य साधन से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। हे रामजी ! जब पुरुष ज्ञानवान् हो तब जानिये कि उसकी वृत्ति प्रथम भूमिका में स्थित हुई है। इससे तुम भूमिका की ओर चित्तरूप चरण रक्खो तब तुमको स्वरूप की प्राप्ति होगी। हे रामजी ! तीसरी भूमिका पर्यन्त सर्वकामना निवृत्त होती हैं केवल एक आत्मपद की कामना रहती है। यदि उस अवस्था में शरीर छूट जावे तो और जन्म पाकर ज्ञान को प्राप्त होता है और यदि चतुर्थ भूमिका में प्राप्त होकर शरीर छूटे तो फिर जन्म नहीं पाता, क्योंकि आत्मपद की प्राप्ति हुए से फिर कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती। जन्म का कारण इच्छा है; जब कुछ इच्छा न रही तब जन्म भी न रहा। जिसको चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है उसको स्वरूप की प्राप्ति होती है तो फिर इच्छा कैसे हो? जैसे भुना बीज नहीं उगता तैसे ही उसका चित्त ज्ञान अग्नि से दग्ध होता है, क्योंकि वह सत्पद को प्राप्त होता है; इसी से वह जन्म नहीं लेता और मरता भी नहीं—संसार को स्वप्नवत् देखता है। पञ्चम भूमिकावाला सुषुप्ति की नाईं होता है और छठी भूमिका साक्षीरूप तुरीयापद है; सप्तम तुरीयातीत निर्वाच्य पद है। हे रामजी ! मुझे इतने कहने का प्रयोजन यही है कि वासना का त्याग करो और अचित् पद को प्राप्त हो। इसका अभिमान होना ही वासना है; जब इसका अभिमान निवृत्त हो तब शान्ति होगी, परिच्छिन्न अहंकार न रहेगा। आत्मा के अज्ञान से हुआ है और आत्मज्ञान से लीन हो जाता है। हे रामजी ! संसाररूपी एक नदी में आधिव्याधि उपाधि रोग तरङ्गें हैं; रागद्वेषरूपी छोटे मच्छ हैं और तृष्णारूपी बड़े मच्छ हैं उसमें जीव दुःख पाते हैं। जैसे जल नीचे को चला जाता है तैसे ही मृत्यु के मुख में संसार चला जाता है और अज्ञानरूपी जल है। हे रामजी ! तृष्णा से पुरुष बाँधे हैं; इससे तुम हाथी की नाईं वैराग्य

और अभ्यासरूपी दाँतों से तृष्णारूपी जंजीर काटो। हे रामजी ! तृष्णारूपी सर्पिणी विषयरूपी फूत्कारे से विचाररूपी बेलि को जलाती है इससे जीवरूपी किसान दुःख पाता है। इससे तुम वैराग्यरूपी अग्नि से उस सर्पिणी को जलाओ। हे रामजी ! तृष्णा दुःखदायी है। जब तक तृष्णा है तब तक सन्तों के वचन [illegible] नहीं होते। जैसे दर्पण पर मोती नहीं ठहरता तैसे ही तृष्णावान् के हृदय में सन्तों के वचन नहीं ठहरते। तृष्णा के इतने नाम हैं—तृष्णा, अभिलाषा, इच्छा, फुरना, संसरना इत्यादिक सब इसी के नाम हैं। इच्छारूपी मेघ ने ज्ञानरूपी सूर्य को ढाँका है इससे वह नहीं भासता जब विचाररूपी पवन चले तब इच्छारूपी मेघ नष्ट होजावे और आत्मरूपी सूर्य का साक्षात्कार हो। हे रामजी ! यह जीव आकाश का पक्षी है पर कर्म में इच्छारूपी तागे से बँधा है इससे नहीं उड़ सकता और परमात्मपद को भी प्राप्त नहीं होता—इच्छा ही से दीन है जब इच्छा नष्ट हो तब आत्मस्वरूप है। इससे तुम इच्छा को नाशकर आत्मपरायण हो अर्थात् विषय संसार से वैराग्य और आत्माभ्यास करो। हे रामजी ! यह जो मैंने तुमसे भूमिका का क्रम कहा है जब इसमें आवे तब ज्ञान की प्राप्ति हो पर इनको तब प्राप्त होता है जब कि एक हथिनी को जीते जो एक वन में रहती और महामत्तरूप उसके दो पुत्र हैं जो अनेक जीवों को मारकर अनर्थ प्राप्त करते हैं। उसके जीते से सर्व जगत् जीता जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! ऐसी मत्तरूप हथिनी कौन है और कहाँ रहती है ? उसके दाँत और पुत्र कौन हैं ? कैसे वह मरती है, कैसे उत्पन्न हुई है और कौन वन है ? यह सब मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इच्छारूपी हथिनी और शरीररूपी वन है और मनरूपी गुफा में रहती है; इन्द्रियाँरूपी उसके बालक हैं और संकल्प विकल्परूपी दाँत हैं उनसे छेदती है। हे रामजी ! एक नदी है जिसका प्रवाह सदा चला जाता है और जिसमें दो मच्छ रहते हैं जो कभी नाश नहीं होते संसरना ही नदी है जिसमें रागद्वेष मच्छ रहते हैं सो नाश नहीं होते। हे रामजी ! वे मच्छ तब नाश हों जब संसरणरूपी जल नष्ट हो जिसके सुकृत दुष्कृतरूपी किनारे हैं; चिन्तारूपी ग्राह हैं

और कर्मरूपी लहरें हैं उनमें जीवरूपी तृण आकर भटकता है। इस तृष्णारूपी विषबेलि को नाश करो। हे रामजी ! तृष्णारूपी अंकुर का बढ़ाना घटाना अपने ही अधीन है; जो अंकुर को जल दीजिये तो बढ़ता जाता है और जो न दीजिये तो जल जाता है। फुरनरूपी जल देने से तृष्णारूपी अंकुर बढ़ता जाता है और न देने से स्वरूप के अभ्यास द्वारा जल जाता है। हे रामजी ! तृष्णारूपी बड़ा मच्छ है जो धैर्य आदिक मांस को भक्षण करनेवाला है; उसे वैराग्यरूपी कण्डी और अभ्यासरूपी दाँतों से नाश करो। हे रामजी ! इच्छा का नाम बन्धन है और निरिच्छा का नाम मुक्ति है। हे रामजी ! एक सुगम उपाय कहता हूँ जिससे तृष्णा नष्ट हो जावेगी निज अर्थ की भावना करो तो उस भावना से शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी, एवम् तुम्हारी जय होगी और सबसे उत्तम पद को प्राप्त होगे; फिर तुम्हें वासना न रहेगी और शरीर की चेष्टा स्वाभाविक होगी और सर्वसंकल्प नष्ट हो जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संसरणभावप्रतिपादनं
नाम शताधिकसप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ १२७ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आप कहते हैं कि निज अर्थ की भावना से वासना नष्ट हो जावेगी और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी सो वासना तो चिरकाल की चित्त में स्थित है एक ही बार कैसे नष्ट होगी ? तथा आप कहते हैं कि वासना के नष्ट हुए जीवन्मुक्त होता है पर जिसकी वासना नष्ट होगी उसका शरीर कैसे रहेगा; वासना विना चेष्टा क्योंकर होगी और जीवन्मुक्त पद कैसे होगा ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मेरे वचनों को जो कानों के भूषण हैं सुने से दरिद्र न रहेगा। निज अर्थ के धारने से संशय नष्ट हो जावेंगे और आत्मपद की प्राप्ति होगी। उस निज अक्षर के तीन अर्थ हैं—एक तो अन्य के अर्थ हैं कि पञ्चभौतिक शरीर से तेरा स्वरूप विलक्षण है और दूसरा अर्थ विरुद्ध है अर्थात् शरीर जड़ और तमरूप है और तेरा स्वरूप आदित्यवर्ण और तम से परे है। हे रामजी ! जब तूने ऐसे धारणा की कि मैं आत्मा हूँ और यह देहादिक अनात्मा है तब देह से मिलकर अभिलाषा कैसे रहेगी ? अर्थ यह

कि अभिलाषा न करेगा, क्योंकि जब तक जाना नहीं तब तक अभिलाषा है। तीसरा अर्थ यह है कि सबका अभाव है अर्थात् न मैं हूँ और न कोई जगत् है। जब ऐसे जाना तब किसकी इच्छा रहेगी? अर्थात् किसी की न रहेगी। अथवा जो तुम आपको देह से विलक्षण आत्मा जानोगे तौ भी अविद्यक तमरूप शरीर [illegible]लाषा न रहेगी। देह तमरूप है और तुम आदित्यवर्ण हो अर्थात् प्रकाशरूप हो; तुम्हारा और इसका क्या संयोग जैसे सूर्य के मण्डल में रात्रि नहीं दिखती तैसे ही जब तुम आपको प्रकाशरूप जानोगे तब तमरूप संसार न दीखेगा। तब शरीर की चेष्टा स्वाभाविक होगी और तुममें कुछ चेष्टा न होगी। जैसे अर्ध निद्रावाले की चेष्टा होती है तैसे ही चेष्टा होगी और तुमको बालक की नाईं अभिमान न होगा। जैसे बालक की उन्मत्त चेष्टा होती है तैसे ही तुम्हारी चेष्टा भी स्वाभाविक होगी। हे रामजी। यदि तुम यह इच्छा करो कि यह सुख हो और यह दुःख न हो तो कदाचित् न होवेगा। जो कुछ शरीर की प्रारब्ध है सो अवश्य होती है परन्तु ज्ञानवान् के हृदय से संसार की सत्यता जाती रहती है और स्वाभाविक चेष्टा होती है; इच्छा नहीं रहती। हे रामजी ! जैसे कोई पुरुष किसी देश को जाता है और पहुँचने का समय थोड़ा हो तो वह मार्ग के स्थान देखता भी जाता है परन्तु बन्धवान् किसी में नहीं होता; तैसे ही चित्त को आत्मपद में लगावो। ऐसा शरीर पाकर यदि आत्मपद न पाया तो कब पावेगा? जो आत्मपद से विमुख है वह वृक्षादिक जन्मों को पावेगा; इससे हे रामजी ! चित्त आत्मपद में रक्खो और स्वाभाविक इच्छा विना चेष्टा करो इच्छा ही दुःखदायक है। जब इच्छा नष्ट होती है तब उसी को ज्ञानवान् तुरीयापद कहते हैं जहाँ जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति का अभाव हो सो तुरीयापद है। हे रामजी ! यह जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था जहाँ न पाइये सो तुरीयापद है। जब संवेदन फुरना अहंकार का अभाव हो जावे तब तुरीयापद प्राप्त होता है। हे रामजी ! अहंकार का होना दुःखदायक है। जब इसका नाश हो तबहीं आनन्द है। आत्मपद से भिन्न जो माया की रचना है उससे मिलकर आपको जानता है 'कि

मैं हूँ' यही अनर्थ है। इससे अहंकार का त्याग करो। जिसको देखकर यह फुरता है उसको निज अर्थ की भावना से नाश करो। और जो आत्मपद से भिन्न भासता है उसे मिथ्या जानो। यही निज अक्षर का अर्थ है जो कुछ संसार भासता है उसको स्वप्नमात्र जानो इसको सत्य जानकर इसकी इच्छा [illegible] अनर्थ है और मिथ्या जानकर इच्छा न करना कल्याण है। हे रामजी ! मैं ऊँची बाहु करके पुकारता हूँ पर मेरे वचन कोई नहीं सुनता कि इच्छा ही संसार का कारण है और इच्छा से रहित होना ही परमकल्याण है। जब जीव इच्छा से रहित होता है तब शान्तपद को प्राप्त होता है और निरिच्छित हुए आत्मा ही भासता है जो आनन्दरूप, सम और अद्वैत है और उसमें जगत् का अभाव है। हे रामजी! मोह का बड़ा माहात्म्य है हृदय में जो आत्मरूपी चिन्तामणि स्थित है उसको विस्मरण करके मूर्ख अहंकाररूपी काच को ग्रहण करते हैं। हे रामजी ! तुम निरभिमान होकर चेष्टा करो। जैसे यन्त्र की पुतली में अभिमान कुछ नहीं होता और उसकी चेष्टा होती है; तैसे ही प्रारब्धवेग से तुम्हारी चेष्टा होगी। यह अभिमान तुम न करो कि ऐसे हो और ऐसे न हो। जब ऐसे होगे तब शान्तपद को प्राप्त होगे; जहाँ वाणी की गम नहीं ऐसे आनन्द को प्राप्त होगे। जब तक इन्द्रियों के अर्थ की तृष्णा है तब तक जन्म मृत्यु के बन्धन में है इससे पुरुषप्रयत्न यही है कि तृष्णा का नाश करो; कर्म के फल की तृष्णा न हो और कर्म के करने की भी इच्छा न हो। इन दोनों को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो बल्कि ऐसा भी निश्चय न हो कि मैंने त्याग किया है। हे रामजी ! जिस पुरुष ने कर्म को त्याग किया है और अहंकारसहित है उसने पुण्य और पाप सब कुछ किया है और जिसमें अहंभाव नहीं है वह चाहे जैसे कर्म करे तो भी कुछ नहीं करता और वह बन्धन को नहीं प्राप्त होता। जो न करने में अभिमानसहित है उसको कर्ता देखते हैं वह बन्धवान् है। हे रामजी ! ऐसे आत्मा को जानकर अहंमम का त्याग करो। ऐसे संवेदन के त्यागने में कुछ यत्न नहीं है। स्मृति उसकी होती है जिसका अनुभव होता है, पर जिसका अनुभव नहीं उसका त्याग

करना सुगम है। अनुभव प्रत्यक्ष देखने को कहते हैं। तुम्हारे स्वरूप में विश्व नहीं है तो अनुभव क्या हो। ये पदार्थ जो तुमको भासते हैं उनके कारण को जानो। इनका कारण अनुभव है; जो अनुभव ही इनका मिथ्या है तो स्मृति कैसे सत् हो ? रस्सी में सर्प का अनुभव हुआ और फिर स्मरण किया कि वहाँ सर्प देखा था; जो सर्प का अनुभव ही मिथ्या है फिर उसका स्मरण कैसे सत् हो इससे जो वस्तु मिथ्या है उसके त्यागने में क्या यत्न है ? जब प्रपञ्च को मिथ्या जाना तब तुझको कोई क्रिया बन्धन न करेगी; चेष्टा स्वाभाविक होगी और रागद्वेष जाता रहेगा। जैसे शरत्काल की बेलि सूख जाती है और उसका आकार दृष्टि आता है; तैसे ही तुम्हारा चित्त देखने में आवेगा और चित्त का धर्म जो रागद्वेष है वह जाता रहेगा—वह चित्त सत्पद को प्राप्त होगा। जब सबका विस्मरण (बाध) होता है उसको शिवपद कहते हैं। वह परमपद ब्रह्म शब्द-अर्थ से रहित केवल चिन्मात्र अद्वैत पद है; उसमें अहंमम का त्याग करके स्थित रहो। संसार इसी का नाम है कि मैं हूँ और यह मेरा है। इसको त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। हे रामजी ! जबतक अहंमम का संवेदन है तबतक दुःख नहीं मिटते और जब यह संवेदन मिटा तब आनन्द है। आगे जो इच्छा हो सो करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इच्छाचिकित्सोपदेशन्नाम
शताधिकाष्टविंशातितमस्सर्गः ॥ १२८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अद्वैत आत्मा जिसको एक दो नहीं कह सकते अपने आप स्वभाव में स्थित है और अन्तःकरण चतुष्टय बाह्यपदार्थ सब चेतनमात्र हैं कुछ भिन्न नहीं। रूप, इन्द्रियाँ और मन का फुरना देश, काल सर्व आत्मरूप ही है। जैसे बालक मिट्टी की सेना बनाकर हाथी, घोड़े, राजा, प्रजा नाम कल्पता है सो सब मिट्टी है—भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही अहंमम आदिक भी सब आत्मरूप है—कुछ पृथक् नहीं। जैसे मिट्टी में हाथी, घोड़ा आदि नाम कल्पित हैं; तैसे आत्मा में ही जगत् कल्पित है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इस अहंकार को त्याग करो कि आत्मपद से भिन्न कुछ न फुरे। हे रामजी ! रूप, अवलोक और मनस्कार

यह सब शिवरूपी मृत्तिका के नाम हैं और माता, मान, मेय आदिक यह सब वही रूप हुए तो किससे किसको संचित् कहिये ? यह अहं मम आदिक भी चिदाकाश से कुछ भिन्न वस्तु नहीं। इनको ऐसे जानकर अफुर शिलावत् निःसंग हो [illegible] रहो। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने कहा कि अहं मम फुरने का त्याग [illegible] यह मिथ्या है और अहं मम असत् है। ज्ञानी ऐसी भावना करते हैं कि इनकी सत्ता कुछ नहीं और तुम असंग हो रहो पर असंग निष्कर्म से होता है अथवा कर्म से होता है यह कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह तुम्हीं कहो कि कर्म क्या है और निष्कर्म क्या है; इनका कारण कौन है और इनका नाश कैसे हो और नाश होने से क्या सिद्धि होगी; जो तुम जानते हो तो कहो। रामजी बोले, हे भगवन् ! जैसे आपसे सुना है और समझा है सो मैं कहता हूँ। जो वस्तु नाश करनी हो उसको निश्चय करके मूल से नाश कीजिये तभी उसका नाश होता है, शाखा और पत्र काटे से उसका नाश नहीं होता—इससे इनका क्रम सुनो। इस संसाररूपी वन में देहरूपी वृक्ष है जिसका बीज कर्म है; पाणि, पाद आदिक पत्र हैं; रुधिर, श्वास और वासना रस हैं और सुखदुःख फूल हैं। जाग्रत् कर्म वासनारूपी वसन्तऋतु है उससे वह प्रफुल्लित होता है और सुषुप्ति पापकर्मरूपी शरत्काल है उससे सूख जाता है। ऐसा शरीररूपी वृक्ष है। तरुणपनरूपी उसकी कली है सो क्षण का क्षण सुन्दर है; जरारूपी फूल इसको हँसते हैं और रागद्वेषरूपी वानर क्षण क्षण में क्षोभते हैं। जाग्रत्रूपी वसन्तऋतु है जो सुषुप्तिरूपी हिम करती है और वासनारूपी रस से बढ़ता है। पुत्र कलत्र आदिक तृण और घास हैं और इन्द्रियों के छिद्ररूपी मुख हैं जिनसे शरीर की चेष्टा होती है। ज्ञान इन्द्रियाँ पञ्चथम्भ हैं जिनसे वृक्ष सधा है और इच्छारूपी बेलि है जो अपने अपने को चाहती हैं। बड़ा थम्भ इसका मन है जो सबको धारता है और पञ्चप्राण इसके रस हैं उनसे प्रत्यक्ष सबको ग्रहण करता है। इनका बीज जीव है—जीव चैत्योन्मुखत्व चेतन को कहते हैं; जीवत्व का बीज संवित् है जो मात्रपद से उत्थान हुआ है और उस संवित् का बीज ब्रह्म है—उसका बीज कोई

नहीं। हे भगवन्! सबका मूल संवित का फुरना है; जब इसका अभाव होता है तब आत्मा ही शेष रहता है। हे भगवन्! यह तो मैं जानता हूँ आगे आप भी कुछ कृपा करके कहिये। हे भगवन्! जबतक चित्त से सम्बन्ध है तबतक संसार में जन्ममरण होता है और [illegible] जब चित्त से रहित होता है तब परब्रह्म है—वह शिवपद [illegible] शान्त और अनन्तरूप है। चिन्मात्र में जो अहं का उत्थान [illegible] वही क[illegible] का कारण है। जबतक अनात्मा से मिलकर कहता है कि 'मैं हूँ' वही संसार का कारण है। यह आपके वचनों से मैंने समझा है सो प्रार्थना की है आगे कुछ कृपा करके आप भी कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसी प्रकार कर्म का बीज सूक्ष्म संवित् है। जबतक संवित् है तबतक कर्मों का बीज नाश नहीं होता और ये सब संज्ञा इसी की हैं। कर्मों का बीज इच्छा, तृष्णा, अज्ञान, चित्त और ग्रहणत्याग की बुद्धि इत्यादिक बहुत संज्ञा हैं; क्या किसी में हेयोपादेय बुद्धि करे? हे रामजी! जबतक अज्ञान है तबतक इच्छा नष्ट नहीं होती और कर्म भी नाश नहीं होते। नाश दोनों का नहीं होता परन्तु भेद इतना ही है कि अज्ञानी को भासता है कि यह इच्छा है, यह कर्म है। ज्ञानवान् को सब ब्रह्म ही भासता है इससे वह सुखी रहता है और अज्ञानी को कर्म में कर्म भासता है इसलिये बन्धवान् होता है। कर्म से कर्मबुद्धि जाने को त्याग कहते हैं, क्रिया का त्याग करने को त्याग नहीं कहते। हे रामजी! बड़ी उपाधि अहंकार है। जिसका अहंकार नष्ट हुआ है वह पुरुष कर्म करता है तो भी उसने कभी कुछ नहीं किया और जो अहंकारसहित है वह पुरुष जो तूष्णी हो बैठा है तो भी सब कर्म करता है। इस अहं के त्याग का नाम सर्वत्याग है क्रिया के त्याग का नाम सर्वत्याग नहीं। सब कर्मों के बीज अहंकार का त्यागना और परम शान्ति को प्राप्त होना ही पुरुषप्रयत्न है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्मबीजदाहोपदेशं नाम शताधिकनवविंशस्सर्गः॥ १२९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस संवेदन का होना ही अनर्थ है आपको कुछ जानता है। जब यह निवृत्त हो तबही इसको आनन्द

हे रामजी! ज्ञानी की चेष्टा अहंकार से रहित स्वाभाविक होती है। जैसे अर्धनिद्रित पुरुष होता है तैसे ही ज्ञानी अपने स्वरूप में घूर्म है। जैसे हाथी मद से उन्मत्त होता है तैसे ही ज्ञानवान् स्वयम्ब्रह्म लक्ष्मी से घूर्म है। जैसे कामी को काम [illegible] होता है तैसे ही सुखरूपी स्त्री को पाकर ज्ञानी घूर्म रहता है, क्योंकि निरहं[illegible] सब दुःखों का बीज अहंकार है, जब अहंकार न[illegible] तब आनन्द हो। हे रामजी! संसाररूपी विष की बेलि का बीज अहंकार है; जब अहंकार का अभाव हो तब संसार का भी अभाव होता है। हे रामजी! अहंकार ही दुःख का मूल है। इस संवेदन का विस्मरण करना बड़ा कल्याण है और अनात्मा से मिलकर आपको मानना ही अनर्थ है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो वस्तु असत्य है वह नहीं होती और जो सत्य है उसका अभाव नहीं होता। फिर आप कैसे कहते हैं कि अहं संवेदन का नाश करो? ये तो सत् भासती है नाश कैसे हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम सत्य कहते हो कि जो वस्तु असत्य है वह नहीं होती और जो सत्य है उसका नाश नहीं होता। हे रामजी! यह जो अहंकार दृश्य तुमको भासता सो कदाचित् नहीं हुआ—मिथ्या कल्पित है। जैसे रस्सी में सर्प होता है तैसे ही आत्मा में अहंकार है और जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है तैसे ही आत्मा में अहंकार शब्द अर्थ फुरता है। यह शब्द और अर्थ मिथ्या है। इसका लक्षण यह है कि मैं हूँ सो कल्पित है; आत्मा केवल शुद्धस्वरूप है उसमें अहं त्वं का शब्द अर्थ कोई नहीं। यह अबोध से भासते हैं और बोध से लीन हो जाते हैं। वेदना का बोध अनर्थ का कारण है और अबोध तम है। जब यह निर्वाण हो तब कर्म का बीज मूल से कटे। हे रामजी! जो कर्मों का त्यागकर एकान्त जाकर बैठता है और ऐसे मानता है कि मैं कर्म नहीं करता सो कहता ही है पर वास्तव में अहंकार से है इससे फल को भोगता ही है, क्योंकि अहंकार सहित फिर कर्म करेगा। वह आत्मज्ञान विना अनात्म से मिलकर आपको मानता है। जो पुरुष कर्म-इन्द्रियों से चेष्टा करता है और आत्मा को लेप नहीं जानता वह अकर्ता ही है—उसके करने से कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होते

और न करने से भी नहीं होंते। ऐसा पुरुष परम निर्वाणपद को प्राप्त होता है जिसमें वाणी की गम नहीं। हे रामजी ! उसमें फुरना कोई नहीं—केवल चमत्कार है अर्थात् हुआ कुछ नहीं और भासता है। जैसे बेल की मज्जा बेल से भिन्न नहीं तैसे ही जग[illegible] का[illegible]त् है। जैसे सोने से भूषण भिन्न नहीं तैसे ही निज शब्द [illegible] पर ये भिन्न भिन्न शब्द अर्थ तबतक भासते हैं जबतक अहं वेदना है। हे रामजी ! [illegible] सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे पत्थर अपनी जड़ता में स्थित है तैसे ही आत्मा चैतन्य घनता में स्थित है। उसको मुनीश्वर चैतन्य सार कहते हैं और उस अपने स्वरूप के प्रमाद से दुःख पाता है। हे रामजी! जो पुरुष गृहस्थी में स्थित है पर अहंकार से रहित है उसको वनवासी जानो और सदा एकान्त है और जो वनवासी अहंकार सहित है वह सदा जनों में स्थित है। प्रथम तो वह एक गढ़े में था फिर उसको त्याग-कर दूसरे गढ़े में पड़ा है कि वेषधारी है और वनवास लिया है। ईश्वर चाहे तो निकसे नहीं तो बड़े कूप में पड़ा है। हे रामजी ! जो पुरुष अर्ध त्याग करता है वा एक अङ्ग का त्याग करता है और दूसरे का अङ्गीकार करता है ऐसा पुरुष आपको निष्कामी मानता है पर उसको यह त्यागरूपी पिशाचिनी भोगती है। हे रामजी ! यह जीव निष्कर्म तब ही होता है जब इसकी अहंवेदना नष्ट होती है—अन्यथा नहीं होता। इससे कर्म को मूल से उखाड़ो। जैसे सुरदण्ड, बेलि और वृक्ष को मूल से काटता है, तैसे ही काटो। अहंवेदना ही मूल है उसको काटना चाहिये। हे रामजी ! पुरुषप्रयत्न इसी का नाम है कि अपने आपका नाश करना और आपही रहना। देह से मिला हुआ आपको जानता है उसका नाश करना और शिवपद को प्राप्त होना जो सर्वदा सत्स्वरूप अद्वैत है—यह विश्व भी उसका चमत्कार है। जैसे नारियल में खोपरा होता है और उसके बहुत नाम रखते हैं सो नारियल से कुछ भिन्न नहीं, तैसे ही संसार आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे थम्भे में काष्ठ से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही यह संसार है। यह नानात्व भी चैतन्य घन आत्मा ही है निज अक्षर का अर्थ जो कहा है सो भी वही है तो विधि निषेध

किसका कीजिये ? सब परमात्मतत्त्व है दूसरा किंचित् भी नहीं। हे रामजी ! ऐसे आत्मा को जानकर सुख से बिचरो। जैसे अर्द्धनिद्रित की चेष्टा होती है और जैसे बालक पालने में सोकर स्वाभाविक अङ्ग हिलाता है तैसे ही तुम्हारी चेष्टा होगी। अपना अभिमान तुम न करो। हे रामजी ! जो कुछ भाव-अभाव पदा[illegible] भिन्न भासते हैं वे असत्य हैं; आत्मा के [illegible] हुए से परमात्मतत्त्व ही भासेगा, तब अहंकार उत्थान निवृत्त होगा। हे रामजी ! एक और युक्ति सुनो जिससे आत्मज्ञान हो। यह जो अहं अहं क्षण क्षण में फुरता है सो जब फुरे तब ही उस क्षण में जानो कि मैं नहीं। जब ऐसे दृढ़ हुआ तब अहंकाररूपी पिशाच नाश हो जावेगा और आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होगा। इससे अहंकार के नाश का यत्न करो कि 'न मैं हूँ' 'न जगत् है'। हे रामजी ! ज्ञान इसी का नाम है कि 'अहं' 'मम' न रहे। उसको मुनीश्वर परब्रह्म और सम्यक्पद कहते हैं। और जहाँ (अहं मम) है वहाँ अविद्यारूपी तम है। हे रामजी ! अज्ञानी के हृदय में सब पदार्थों का भाव स्थित है इससे उसको देश, काल, घर, नगर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक त्रिगुण संसार भासता है। जब इनका अभाव हो जावे तब शान्तिपद की प्राप्ति हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अहंकारनाशविचारो नाम
शताधिकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिसके मन से 'मैं' और 'मेरे' का अभिमान गया है उसको शान्ति हुई है और जिसके हृदय में 'मैं' 'देह' 'मेरे सम्बन्धी' 'गृह' आदिक का अभिमान है उसको कदाचित् शान्ति नहीं और शान्ति विना सुख नहीं। हे रामजी ! प्रथम आप बनता है तब जगत् है। जो आप न बने तो जगत् कहाँ हो ? इसका होना ही अनर्थ का कारण है। जिस पुरुष ने अहंकार का त्याग किया है वह सर्वत्यागी है और जिसने अहंकार का त्याग नहीं किया उसने कुछ नहीं त्यागा। जिसने क्रिया का त्याग किया और आपको सर्वत्यागी मानता है सो मिथ्या है। जैसे वृक्ष की डालें काटिये तो फिर उगता है नाश नहीं होता; तैसे ही क्रिया के त्याग किये त्याग नहीं होता। जो त्यागने योग्य अहं-

कार नष्ट नहीं होता तो क्रिया फिर उपजती है इससे अहंकार का त्याग करो तब सर्वत्यागी होगे। इसका नाम महात्याग है और स्वप्न में भी संसार न भासेगा, जाग्रत् का क्या कहना है—उसको संसार का ज्ञान कदाचित् नहीं होता। हे रामजी ! संसार का बीज [illegible] अहंभाव है; उसी से स्थावर जङ्गम जगत् भासता है; जब [illegible]श हुआ तब जगत्भ्रम मिटजाता है—इससे इसके अभाव की भावना करो। जब तुम्ह अ[illegible] भावना फुरे तो जानो कि मैं नहीं। जब इस प्रकार अहं का अभाव हुआ तब पीछे जो शेष रहेगा सो ही आत्मपद है। हे रामजी ! सब अनर्थों का कारण अहंभाव है उसका त्याग करो। हे रामजी ! शस्त्र के प्रहार और व्याधि को यह जीव सह सकता है तो इस अहं के त्यागने में क्या कदर्थना है ? हे रामजी ! संसार का बीज अहं का सद्भाव है, उसका नाश करना मानो संसार का मूलसंयुक्त नाश करना है—इसी के नाश का उपाय करो। जिसका अहंभाव नष्ट हुआ है उसको सब ठौर आकाशरूप है और उसके हृदय में संसार की सत्ता कुछ नहीं फुरती। यद्यपि वह गृहस्थ में हो तौ भी उसको यह प्रपञ्च शून्य वन भासता है। जो अहंकार सहित है और वन में जा बैठे तौ भी वह जनों के समूह में बैठा है, क्योंकि उसका अज्ञान नष्ट नहीं हुआ। जिसने मन सहित षट् इन्द्रियों को वश नहीं किया उसको मेरी कथा के सुनने का अधिकार नहीं—वह पशु है। जिस पुरुष ने मन को जीता है अथवा दिन प्रतिदिन जीतने की इच्छा करता है वह पुरुष है और जो इन्द्रियों का विश्रामी अर्थात् क्रोध, लोभ, मोह से संपन्न है वह पशु है और महाअन्धतम को प्राप्त होता है। हे रामजी ! जो पुरुष ज्ञानवान् है उसमें यदि इच्छा दृष्ट आती है तौ भी वह उसकी इच्छा अनिच्छा ही है और उसके कर्म अकर्म ही हैं। जैसे भूना दाना फिर नहीं उगता पर उसका आकार भासता है तैसे ही ज्ञानवान् की चेष्टा दृष्ट आती है सो देखनेमात्र है उसके हृदय में कुछ नहीं। हे रामजी ! जो पुरुष कर्मेन्द्रियों से चेष्टा करता है और हृदय में जगत् की सत्यता नहीं मानता उसे कोई बन्धन नहीं होता और जो जगत् को सत्य मानकर थोड़ा भी कर्म करता है तौ भी

वह फैल जाता है—जैसे थोड़ी अग्नि जागकर बहुत होजाती है—ज्ञानी को बन्धन नहीं होता। उसकी प्रारब्ध शेष है सो भी हृदय में नहीं मानता और जानता है कि ये कर्म शरीर के हैं आत्मा के नहीं। जैसे कुम्हार के चक्र का वेग उतरता जाता है तैसे ही प्रारब्धवेग उसका उतरता जाता है और फिर जन्म नहीं होता, [illegible]पको अहंकाररूपी चरण नहीं लगता। [illegible]र का नाश करो; जब अहंकार नष्ट होगा तब सबके आदिपद की प्राप्ति होगी जो परम निर्वाणपद है और जिसमें निर्वाण भी निर्वाण होजाता है। हे रामजी ! जब वर्षाकाल होता है तब बादल होते हैं जब शरतकाल आता है तब बादल जाते रहते हैं। हे रामजी ! जबतक अज्ञानरूपी वर्षाकाल है तबतक अहंकाररूपी वर्षा है और जब विचाररूपी शरत्काल आवेगा तब अहंकाररूपी मेघ जाते रहेंगे और आत्मरूपी आकाश निर्मल भासेगा।। हे रामजी ! जैसे मलिन आदर्श में मुख का प्रतिबिम्ब उज्ज्वल नहीं भासता और जब मैल निवृत्त होता है तब मुख का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष भासता है तैसे ही अहंकाररूपी मैल से जीव ढाँपा हुआ है इससे आत्मा नहीं भासता; जब अहंकाररूपी मैल निवृत्त हो तब आत्मा ज्यों का त्यों भासे। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरङ्ग उठते हैं तो सम्यक्दर्शी को सब जलमय दृष्ट आते हैं और भूषण में सुवर्ण ही भासता है तैसे ही नाना प्रकार के प्रपञ्च उस समदर्शी को चैतन्यघन आत्मा ही दृष्ट आते हैं—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं देखता। वह सबसे पत्थर की शिलावत् हो जाता है क्योंकि उसका अहंकार नष्ट हो गया है और जो अहंकार संयुक्त है और क्रिया का त्यागकर आपको सुखी मानता है वह मूर्ख है। जैसे कोई लकड़ी लेकर आकाश को नाश किया चाहे तो वह नष्ट नहीं होता तैसे ही क्रिया के त्याग से दुःख नष्ट नहीं होते—जब सम्पूर्ण संसार क्रिया के बीज अहंकार का नाश हो तब अक्रिय आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। जैसे ताँबा अपने ताम्रभाव को त्यागकर सुवर्ण होता है तैसे ही जब जीव अपना जीवत्वभाव त्यागे तब आत्मा होता है और जैसे तेल की बूँद जल में फैल जाती है और नाना प्रकार के रङ्ग जल में भासते हैं तैसे ही ब्रह्म में अनेक प्रकार की कलना दिखाई देती हैं—आत्मा ब्रह्म, निरा-

कार, निरञ्जन इत्यादिक नाम भी अहंकार से शुद्ध में कल्पे हैं; वह अफुर केवल सत्तामात्र है और सत्य और असत्य की नाईं स्थित है। हे रामजी! संसाररूपी मिरच का पेड़ है अथवा संसाररूपी फूल है उसमें अहंतारूपी सुगन्ध है; जब अहंता उदय होती है तब संसार [illegible] क्षण में उदय होता और अहंता के नाश हुए संसार क्षण में [illegible] हो जाता है क्षण में उदय, होता है और क्षण में नाश होता है सो अहंता का होना ही उ[illegible] होने का क्षण है और अहंता का लीन होना नाश का क्षण है। हे रामजी! जैसे मृत्तिका में जल के संयोग से घट बनता है तब मृत्तिका घटसंज्ञा पाती है; तैसे ही पुरुष को जब अहंकार का संग होता है तब संसारी होता है और जीवसंज्ञा पाता है और देश, काल, पृथ्वी, पर्वत आदिक दृश्य को प्रत्यक्ष देखता है; और जब अहंता नाश होती है तब सुखी होता है; निदान जो कुछ नाम और उसका अर्थ है सो अहंता से भासता है और जब अहंता को त्यागे तब शान्तरूप आत्मा ही शेष रहता है। जैसे पवन से रहित दीपक प्रकाशता है तैसे ही अहंकाररूपी पवन से रहित जीव अपने स्वभाव में स्थित होकर आनन्दपद को प्राप्त होता है; अनादि पद पाता है; सबका अपना आप होता है और देश, काल, वस्तु अपने में देखता है। हे रामजी! जबतक अहंता का नाश नहीं होता तबतक मेरे वचन हृदय में स्थित न होंगे। जैसे रेत से तेल निकलना कठिन है तैसे ही जिस पुरुष ने अपना स्वभाव नहीं जाना उसको ब्रह्म का पाना कठिन है। अपना स्वभाव जानना अतिसुगम है। जब अहंता का त्याग करे कि न मैं हूँ और न जगत् है तब कल्याण होता है और तभी अहंता का नाश होता है और कोई भ्रम नहीं रहता। जैसे रस्सी के जाने से सर्पभ्रम निवृत्त हो जाता है। जबतक अहंता फुरती है तब तक उसको उपदेश नहीं लगता। जैसे आरसी पर मोती नहीं ठहरता तैसे ही जिसको अहंता फुरती है उसके हृदय में मेरे वचन नहीं ठहरते और जिसका हृदय शुद्ध है उसको मेरे वचन लगते हैं। जैसे तेल की बूँद जल में फैल जाती है तैसे ही उसको थोड़े वचन भी बहुत हो लगते हैं। हे रामजी! इसी पर एक पुरातन इतिहास कहता हूँ सो तुम सुनो।

वह मेरा और काकभुशुण्ड का संवाद है। एक समय मैं सुमेरु पर्वत के शिखरपर गया तो वहाँ भुशुण्ड बैठा था, उससे मैंने प्रश्न किया कि हे अङ्ग! ऐसा भी कोई पुरुष देखा है जिसकी आयु बड़ी हो और ज्ञान से शून्य रहा हो? जो उसको देखा हो तो कहो। भुशुण्ड बोले, हे भगवन्! एक विद्याधर हुआ [illegible] की बड़ी आयु थी और जिसने बहुत [illegible] किया था। वह सत्क[illegible] में बहुत बिचरता था; उसने बहुत भोग भोगे थे और चार युग पर्यन्त जप, तप, नियम आदिक सकाम कर्म किये थे। जब चतुर्थ युग का अन्त हुआ तब उसको विचार उपजा और जितने भोग सुखरूप जानकर भोगता था उनमें उसको वैराग्य हुआ; तब उनको त्यागकर लोकालोक पर्वत पर जा बिचरा और बिचारा कि यह संसार असाररूप है किसी प्रकार इससे छूटूँ। इसमें बारम्बार जन्म और मरण है और कोई पदार्थ सत्य नहीं, किसका आश्रय करूँ? ऐसे विचार करके वह विकृत आत्मा पुरुष सुमेरु पर्वत पर मेरे पास आया और शिर नीचा करके मुझे दण्डवत् की। मैंने भी उसका बहुत आदर किया तब हाथ जोड़कर उसने कहा, हे भगवन्! इतने कालपर्यन्त मैं विषयों को भोगता रहा परन्तु मुझे शान्ति न हुई इससे मैं दुःखी हूँ तुम कृपा करके शान्ति का उपाय कहो। हे भगवन्! चित्ररथ के बाग में जिसमें सदाशिवजी रहते हैं और जहाँ बहुत कल्पवृक्ष हैं उसमें मैं चिरकाल रहा; फिर विद्याधरों के स्वर्ग में रहा; फिर इन्द्र के नन्दनवन और सुवर्ण की कन्दरा में रहकर सुन्दर अप्सराओं के साथ स्पर्श किया और विमान पर बहुत आरूढ़ रहा हूँ। हे भगवन्! बहुत स्थान मैंने देखे हैं और तप, दान, यज्ञ, व्रत भी बहुत किये हैं। सहस्र वर्ष तक ऐसे सुन्दर रूप देखता रहा हूँ जिनकी सुन्दरता नहीं कह सकता तो भी नेत्रों को तृप्ति न हुई; बहुत सुगन्ध सूँघी पर नासिका को तृप्ति न हुई; रसना से भोजन बहुत प्रकार के खाये पर शान्ति न हुई बल्कि तृष्णा बढ़ती गई; कानों से बहुत प्रकार शब्द और राग सुने और त्वचा से बहुत स्पर्श किये हैं तो भी शान्ति न हुई। हे भगवन्! मैं जिस ओर सुख जानकर प्रवेश करूँ उसी ओर दुःख प्राप्त होवे—जैसे मृग क्षुधा निवारने के लिये घास खाने जाता

है और राग सुनकर मूर्च्छित हो जाता है तब उसको बाधिक पकड़ लेता है तो मृग दुःख पाता है तैसे ही मैं सुख जानकर विषयों को ग्रहण करता था और बड़े दुःखों को प्राप्त होता था। हे भगवन्! मैंने चिरकाल तक पाँचों इन्द्रियों और छठे मन सहित दिव्यभोग भोगे हैं जो कुछ कहे नहीं जाते परन्तु मुझे शान्ति न हुई और [illegible] इन्द्रियाँ तृप्त हुईं। जैसे घृत से अग्नि तृप्त नहीं होती तैसे ही दिन दिन प्रति तृष्णा वृद्ध होती जाती हैं और हृदय जलाती है। जो पुरुष इन भोगों के निमित्त यत्न करते हैं कि मैं इनसे सुखी हूँगा वह मूर्ख है और उसको धिक्कार है—वह समुद्र में तरङ्ग का आश्रय करता है। ये तबतक सुखरूप भासते हैं जबतक इन्द्रियों और विषयों का संयोग है; जब इन्द्रियों से विषयों का वियोग होता है तब महादुःख को प्राप्त होता है; क्योंकि तृष्णा हृदय में रहती है और भोग जाते रहते हैं तब जो जो विषय भोगे होते हैं वे दुःखदायक हो जाते हैं। हे भगवन्! मैंने इसी से बहुत दुःख पाया है। यद्यपि इन्द्रियाँ कोमल हैं तौ भी सुमेरु की नाईं कठिन हैं। कोमल भासती हैं परन्तु ऐसी हैं जैसे सर्पिणी और खड्ग की धार कोमल होती है पर स्पर्श किये से मर जाता है। जैसे जल में नाव पवन से भ्रमती है; तैसे ही अज्ञानरूपी नदी में पवनरूपी इन्द्रियों ने मुझे दुःख दिया है। हे भगवन्! ऐसे भी मैंने देखे कि सारा दिन माँगते रहे और भोजन के निमित्त इकट्ठा नहीं हुआ और ऐसे भी देखे हैं कि उन्होंने ब्रह्मा से आदि काष्ठ पर्यन्त सब भोग भोगे हैं। पर जिसको दिन में भोजनमात्र भी प्राप्त नहीं होता और जो सब इन्द्रियों के इष्टरूप भोगों को भोगता है उन दोनों को भस्म होते देखा है और भस्म दोनों की तुल्य हो जाती है—विशेषता कुछ नहीं। इन्द्रियों के बन्धन में बारम्बार जन्मते मरते अज्ञानी शान्ति नहीं पाते। जो तुम कहो कि तू तो सुखी दृष्टि आता है तुझे क्या दुःख है तो हे भगवन्! वह दुःख देखने में नहीं आता परन्तु मेरा हृदय जलता है। हे भगवन्! ब्रह्मा के लोक में मैंने बड़े सुख देखे हैं परन्तु वहाँ भी दुःखी ही रहा हूँ, क्योंकि क्षय और अतिशय वहाँ भी रहता है इसस वे भी जलते हैं। इन्द्रियों का शस्त्र से भी कठिन घाव है जो नाना प्रकार की संसार की विषमता दिखाती हैं और उनमें सर्वदा राग-द्वेष रहता है जिससे मैं बहुत जलता रहा हूँ। इससे मुझसे वही उपाय कहिये जिससे मैं शान्ति पाऊँ। वह कौन सुख है जिससे फिर दुःखी न होऊँ और जिसका कदाचित् नाश नहीं और जो आदि अन्त से रहित है। जो उसके पाने [illegible] है तौ भी मैं यत्न करता हूँ कि किसी प्रकार प्राप्त हो। हे मुनीश्वर! इन्द्रियों ने मुझे बड़ा कष्ट दिया है। ये इन्द्रियाँ गुणरूपी वृक्ष को अग्नि हैं; शुभ गुणों को जलाती हैं और विचार, धैर्य, संतोष और शान्ति आदिक गुणरूपी वृक्ष के नाश करनेवाली हैं। हे भगवन्! इन्होंने मुझे दुःख दिया है। जैसे मृग का बच्चा सिंह के वश पड़े तो वह उसको मर्दन करता है; तैसे ही इन्द्रियों ने मुझे मर्दन किया है। हे भगवन्! जिस पुरुष ने इन्द्रियों को वश किया है उसका पूजन सब देवता करते हैं और उसके दर्शन की इच्छा करते हैं और जिसने मन को नहीं वश किया उसको दीन जानते हैं। जिस पुरुष ने इन्द्रियों को वश किया है वह सुमेरु पर्वत की नाईं अपनी गम्भीरता में स्थित है और जिसने इन्द्रियाँ वश नहीं कीं वह तृण की नाईं तुच्छ है। जिसको इन्द्रियों के अर्थ में सदा तृष्णा रहती है वह पशु है; उसको मेरा धिक्कार है। हे मुनीश्वर! जो बड़ा महन्त भी हो, यदि उसके इन्द्रियाँ वश नहीं तो वह महानीच है। हे मुनीश्वर! इन्द्रियों ने मुझे बड़ा दुःख दिया है। जैसे महाशून्य उजाड़ में चोर लूट लेते हैं तैसे ही इन्द्रियों ने मुझे लूट लिया है। इन्द्रियाँरूपी सर्पिणी में तृष्णारूपी विष है इससे इनमें सारा विश्व मोहित देख पड़ता है और कोई बिरला इनसे बचा होगा। ये इन्द्रियाँ दुष्ट हैं जो अपने-अपने विषय को लेती हैं और को नहीं देतीं और तुच्छ और जड़ हैं। जैसे बिजली का चमत्कार होता है और फिर छिप जाता है तैसे ही इन्द्रियों के सुख क्षणमात्र दिखाई देते हैं और फिर छिप जाते हैं। जबतक इन्द्रियों और विषयों का संयोग है तबतक सुख भासता है और जब इनका वियोग होता है तब दुःख उत्पन्न होता है, क्योंकि तृष्णा रहती है। एक सेना है उसमें इन्द्रियों के भोग उन्मत्त हाथी हैं; तृष्णारूपी ज़ंजीर है; इन्द्रियाँरूपी रथ हैं; नाना

प्रकार के विषय घोड़े हैं और संकल्प विकल्परूपी खड्गों का धारनेवाला अहंकार है और यह जो क्रिया अहंकारसहित होती है सो शस्त्रों के समूह हैं। हे मुनीश्वर! जिस पुरुष ने इस सेना को नहीं जीता वह मोहरूपी अन्धे कुयें में गिरके कष्ट पाता है और जिसने जीता है वह परमसुख को प्राप्त होता है। हे मुनीश्वर [illegible] इन्द्रियाँ भोग की इच्छारूपी खाईं में अहंकाररूपी राजा को डाल [illegible]ती हैं और उसमें से निकलना कठिन होता है। जिस पुरुष ने इनको जीता है उसकी त्रिलोकी में जय होती है और जिसने नहीं जीता वह महादीनता को प्राप्त होता है और जन्म जन्मान्तर पाता है। इन इन्द्रियों में रजोगुण और तमोगुण रहता है। ये तबतक दाह देती हैं जबतक रज तम वृत्ति है। यह भी मन की वृत्ति है। जब इनका अभाव होता है तब शान्ति प्राप्त होती है। यह शोध करके देखा है कि इन्द्रियाँ तप, यज्ञ, व्रत, तीर्थ और किसी औषध से वश नहीं होतीं और न इनके वश करने का कोई उपाय है; केवल सन्त के संग से निरवासी हो तब वश होती हैं। इससे मैं तुम्हारी शरण हूँ; कृपा करके मुझे आपदा के समुद्र से निकालो, क्योंकि मैं डूबता हूँ। मैं इस संसारसमुद्र में दीन हूँ, तुम पार करो और तुम्हारी महिमा सन्तों से भी सुनी है। हे भगवन्! जो कोई सब आयु पर्यन्त विषयों के दिव्यभोग भोगता रहे और इनसे शान्ति चाहे तो न प्राप्त होगी। बड़े सुख दुःख समान हैं। आकाश में उड़नेवाले भी इन्द्रियों को वश नहीं कर सकते इससे दीन और दुःखी रहते हैं। कोई पुरुष वीर्यवान् हो और फूल की नाईं महामत्त हाथी के दाँत को चूर्ण कर सकता हो परन्तु इन्द्रियों को अन्तर्मुख करना महा कठिन है। हे मुनीश्वर! इतने काल तक मैं महाअध्यात्म तप से दुःखी रहा हूँ। तुम कृपा करके निकालो, मैं तुम्हारी शरण हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधरवैराग्यवर्णनं नाम
शताधिकैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३१ ॥

भुशुण्डजी बोले, हे वशिष्ठजी! जब इस प्रकार विद्याधर ने मेरे आगे प्रार्थना की तो मैंने कहा, हे अङ्ग! तू धन्य है। अब तू जागा है। जैसे कोई पुरुष अन्धे कुयें में पड़ा हो और उसकी इच्छा हो कि निकले तो

जानिये कि निकलेगा। हे विद्याधर! मैं उपदेश करता हूँ सो तू अङ्गीकार करियो और सत्य जानके मेरे वचनों में संशय न करना। जो सबके सार वचन हैं सो तुझसे कहता हूँ। जैसे उज्ज्वल आरसी प्रतिबिम्ब को यत्न विना ग्रहण करती है तैसे ही मेरे वचन शीघ्र ही तेरे हृदय में प्रवेश करेंगे। जिसका [illegible]करण शुद्ध होता है उसको सन्त उपदेश करें अथवा न करें उसका सहज [illegible] वचन ही उपदेश हो लगते हैं। जैसे शुद्ध आदर्श प्रतिबिम्ब को यत्न विना ग्रहण करता है तैसे ही मेरे वचनों को तू धार लेगा तो तेरे दुःख नाश हो जावेंगे और परमानन्द को जो अविनाशी सुख और आदि अन्त से रहित है सो प्राप्त होगा। इन्द्रियों के सुख आगमापायी हैं सो दुःख के तुल्य हैं—इनसे रहित परमसुख है। हे विद्याधरों में श्रेष्ठ! जो कुछ तुझे सुखरूप दृष्ट आवे उसका त्याग कर तब तुझे परमसुख प्राप्त होगा। सब दुःखों का मूल अहंभाव है; जब अहंकार नाश हो तब शान्ति होगी। संसार का बीज भी अहकार है और संसार मृगतृष्णा के जलवत् है। तबतक संसार नष्ट नहीं होता जबतक अहंतारूपी संसार का बीज है; जब अहंतारूपी बीज नष्ट हो जावे तब संसार भी निवृत्त हो जावे। संसाररूपी वृक्ष के सुमेरु आदिक पर्वत पत्र हैं; तारागण कली और फूल हैं; सातों समुद्र रस हैं; जन्म मरण बेल है; सुख दुःख फल हैं और वह आकाश, दिशा, पाताल को धार के स्थित हुआ है। अहंकाररूपी वृक्ष पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ है; अहंकार ही उसका बीज है और वृक्ष मिथ्या भ्रममात्र असत्य और सत्य की नाईं स्थित हुआ है। इससे अहंकाररूप बीज का नाश करो और निरहंकाररूपी अग्नि से इसको जलाओ तब अत्यन्त अभाव हो जावेगा। यह भ्रम करके भय देता है। जैसे रस्सी में सर्पभ्रम और भय देता है इससे निरहंकाररूपी अग्नि से इसका नाश करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शताधिकद्वात्रिंशत्तमस्सर्गः १३२ ॥

भुशुण्डजी बोले, हे विद्याधार! यह ज्ञान जैसे उत्पन्न होता है सो सुनो। ब्रह्मविद्या शास्त्र के सुनने और आत्मविचार से यह उपजता है। उस आत्मज्ञानरूपी अग्नि से संसाररूपी वृक्ष को जलाओ। यह आगे भी नहीं था, अनहोता ही उदय हुआ है और मन के संकल्प से हुए

की नाईं स्थित है। जैसे पत्थर में शिल्पी कल्पता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी सो हुईं कुछ नहीं; तैसे ही मनरूपी शिल्पी यह विश्वरूपी पुतलियाँ कल्पता है। जब मन का नाश करोगे तब संसारभ्रम मिट जावेगा; आत्मविचार करके परमपद को प्राप्त होगे और अपना आप परमात्मरूप प्रत्यक्ष भासेगा। इससे अहंता को त्याग करके अपने स्वरूप में स्थित हो रहो। हे विद्याधर! यह जो संसाररूपी वृक्ष है सो अहंतारूपी बीज से उपजा है; उसको जब ज्ञानरूपी अग्नि से जलाइये तब फिर यह जगत् न उपजेगा। यदि इसको विचार करके देखिये तब अहं त्वं नहीं रहता। हे विद्याधर! यह अहं त्वं मिथ्या है—इनके अभाव की भावना करो, यही उत्तम ज्ञान है। हे साधो! जब गुरु के वचन सुनकर उनके अनुसार पुरुषार्थ करे तब परमपद को प्राप्त होता है और जय होती है। हे विद्यारूपी कन्दरा के धारनेवाले, पर्वत और विद्यारूपी पृथ्वी के धारनेवाले शेषनाग! यह संसाररूपी एक आडम्बर है और उसके सुमेरु जैसे कई थम्भे हैं जो रत्नों की पंक्ति से जड़े हुए हैं और वन, दिशा, पहाड़, वृक्ष, कन्दरा, वैताल, देवता, पाताल, आकाश इत्यादिक ब्रह्माण्ड उसके ऊपर स्थित हैं। रात्रि, दिन, भूत, प्राणी और इनके जो घर हैं सो चौपड़ के खाने हैं; जो जैसा कर्म करता है वह उसके अनुसार दुःख सुख भोगता है। ऐसे ही सम्पूर्ण प्रपञ्च जो क्रियासंयुक्त दिखाई देता है सो भ्रम से सिद्ध है—इससे मिथ्या है। जैसे स्वप्न की सृष्टि संकल्प से भासती है तैसे ही यह सृष्टि भी भ्रम से भासती है और अज्ञान की रची हुई है; आत्मा के अज्ञान से भासती है और आत्मा के ज्ञान से लीन हो जाती है। जब सृष्टि है तब भी परमात्मतत्त्व ही है और जब सृष्टि न होगी तब भी परमात्मतत्त्व ही होगा; आगे भी वही था और जो कुछ प्रपञ्च तुझे दृष्ट आता है सो शून्य आकाश ही है। त्रिगुणमय प्रपञ्च गुणों का रचा हुआ अपने स्वरूप के प्रमाद से स्थित हुआ है और आत्मज्ञान से शून्य हो जावेगा। जब प्रपञ्च ही शून्य हुआ तब आत्मा और अनात्मा का कहना भी न रहेगा और पीछे जो शेष रहेगा सो केवल शुद्ध परमतत्त्व है और तेरा अपना आप है, उसमें स्थित हो रह और दृश्य का त्याग कर कि न मैं हूँ

और न जगत् है। जब तू ऐसा होगा तब तेरी जय होगी। आत्मपद सबसे उत्तम है जब तू आत्मपद में स्थित होगा तब सबसे उत्तम होगा और तेरी जय होगी—इससे आत्मपद में ही स्थित हो रह।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संसाराडम्बरोत्पत्ति-
र्नामशताधिकत्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे विद्याधर! यह प्रपञ्च भी आत्मा का चमत्कार है आत्मा शुद्ध चैतन्य है जिसमें जड़ और चेतन स्थित हैं और वह सबका अधिष्ठान है सो सत्तामात्र तेरा अपना आप है और अहं त्वं शब्दअर्थ से रहित आत्मत्वमात्र है पर सत्यस्वरूप होके असत्य की नाईं स्थित है। हे विद्याधर! तू इस जड़ और चेतन से अबोधमान हो रह। जब तू अबोध होगा तब शान्त और चिद्घन होगा। ये जो जड़ और चेतन हैं इन दोनों का परमार्थ चैतन्य के आगे अन्तर है; यद्यपि वह अदृश्य है तौ भी इनके भीतर ही रहता है। जैसे समुद्र के भीतर बड़वाग्नि रहती है इन जड़ चेतनरूप का कारणरूप वही है, उत्पत्ति भी उसी से होती है और नाश भी वही करता है। हे विद्याधर! जब ऐसे जाना कि मैं चेतनरूप भी नहीं और जड़ (अभाव) भी नहीं तो पीछे जो रहेगा वह तेरा स्वरूप है। शून्य जब तेरे भीतर इन जड़ और चेतन दोनों का स्पर्श नहीं हुआ तब सबके भीतर जो चैतन्य है वही ब्रह्म तुझे भासेगा और विश्व आत्मा में कुछ नहीं हुआ। जैसे सूर्य की किरणों का चमत्कार जलाभास होता है तैसे ही शुद्ध चैतन्य का चमत्कार विश्व हो भासता है। हे अङ्ग! जैसे भीति पर पुतलियाँ लिखी होती हैं सो भीति से कुछ भिन्न नहीं, चितेरे ने लिखी हैं; तैसे ही शून्य आकाश में चित्तरूपी चितेरे ने विश्वरूपी पुतलियाँ कल्पी हैं सो आत्मरूपी भीति से भिन्न नहीं। जैसे सुवर्ण में भूषण कल्पित है सो सुवर्ण से भिन्न नहीं, तैसे ही आत्मा में अज्ञान से विश्व देखते हैं वह आत्मा से भिन्न नहीं। जगत्, ब्रह्म, आत्मा, आकाश, देश, काल सब उसी तत्त्व की संज्ञा हैं। वही शुद्ध चैतन्य आकाश है जिसका चमत्कार ऐसे स्थित है। उसी तत्त्व में तू भी स्थित हो रह। यह जगत् ऐसे है जैसे दूर दृष्टि से आकाश में बादल हाथी की सूँड़ से भासते हैं। यह जो अहं त्वं रूप

जगत् है सो अबोध से भासता है और बोध करके लीन हो जाता है—जैसे मरुस्थल में सूर्य की किरणों से जल भासता है और गन्धर्वगनर है तैसे ही यह जगत् है—इससे इसका त्याग करो ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चित्तचमत्कारोनाम
शताधिकचतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३४ ॥

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! यह स्थावर जङ्गम जगत् सब आत्मा से उत्पन्न हुआ है और आत्मा ही में स्थित है और आत्मा ही विश्व में स्थित है। जैसे स्वप्न का विश्व स्वप्नवाले में स्थित है। आत्मा किसी का कारण नहीं, क्योंकि अद्वैत है। हे अङ्ग ! जो तू उस पद के पाने की इच्छा करता है तो तू ऐसे निश्चयकर कि न मैं हूँ और न यह जगत् है। जब तू ऐसा होगा तब आत्मपद की प्राप्ति होगी जो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है और सब वही परमात्मतत्त्व स्थित है। जगत् का कर्ता संकल्प ही है, क्योंकि संकल्प से जगत् उत्पन्न होता है। जैसे पवन से अग्नि उत्पन्न होता है और पवन ही से दीपक निर्वाण होता है, तैसे ही जब संकल्प बहिर्मुख फुरता है तब संसार उदय हो भासता है और जब संकल्प अंतर्मुख होता है तब आत्मपद प्राप्त होता है और सर्वप्रपञ्च लय हो जाता है। इससे संसार की नाना प्रकार की संज्ञा फुरने से ही होती हैं स्वरूप में कुछ नहीं, न सत्य है; न असत्य है; न स्वतः है; न अन्य है। यह सब कलनामात्र है सत्, असत् और स्वतः; अन्य का अभाव हुआ तो वहाँ अहं त्वं कहाँ पाइये ? वह है नहीं और बालक के यक्षवत् भ्रममात्र है। हे साधो ! जहाँ अहं त्वं नष्ट हो गये तहाँ जो सत्ता है सो परमपद है और जहाँ जगत् है वहाँ विचार से लीन हो जाता है। वास्तव में पूछो तो ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं—नाममात्र दो हैं—जैसे घट और कुम्भ हैं—परन्तु भ्रम से नानात्व भासते हैं। जैसे समुद्र में आवर्त और तरङ्ग उठते हैं सो जल से कुछ भिन्न नहीं और पवन के संयोग से आकार भासते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् कुछ भिन्न नहीं; संकल्प के फुरने से नाना प्रकार का जगत् भासता है। हे अङ्ग ! संकल्प के साथ मिलकर चित्त जैसी भावना करता है तैसा

ही रूप अपना देखता है स्वरूप से कुछ भिन्न नहीं, परन्तु भावना से और का और देखता है। जैसे शुद्ध मणि के निकट कोई रङ्ग रखिये तो तैसा ही रूप भासता है और मणि में कुछ रङ्ग नहीं तैसे ही चित्त शक्ति में कुछ हुआ नहीं और हु[illegible] स्थित है। इससे अपने स्वरूप की भावना करो और जड़ चैतन्य को छोड़कर शुद्ध चैतन्य में स्थित हो रहो। जब ऐसे जानकर अपने स्वरूप में स्थित होगे तब तुम्हें उत्थान में भी अपना स्वरूप भासेगा जैसे स्थिर समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं सो कारणरूप जल विना तो नहीं होते, तैसे ही ब्रह्म कारणरूप विना जगत् नहीं परन्तु ब्रह्मसत्ता अकर्तारूप, अद्वैत और अच्युत है इसी से कहा है कि अकर्ता है और जगत् अकारणरूप है। जो जगत् अकारणरूप है तो न उपजता है और न नाश होता है—मरुस्थल के जलवत् है। इसी से कहा है कि जगत् कुछ वस्तु नहीं केवल अज, अच्युत और शान्तरूप आत्मतत्त्व ही अखण्डित स्थित है और शिला कोशवत् अचैत्य चिन्मात्र है। जिसके हृदय में चिन्मात्र की भावना नहीं उस मूर्ख से हमारा क्या है ? हे साधो ! परमार्थ से कुछ नहीं बना पर जहाँ-जहाँ मन है तहाँ-तहाँ अनेक जगत् हैं और तृण सुमेरु आदिक सबमें जगत् है। जो विचारकर देखिये तो वही रूप है और कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण के जानने से भूषण भी सुवर्ण भासता है तैसे ही केवल सत्ता समानपद एक अद्वैत है भिन्न कुछ नहीं और भिन्न-भिन्न संज्ञा भी वही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शताधिकपञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः॥१३५॥

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर ! जब आत्मपद प्राप्त होता है तब ऐसी अवस्था होती है कि जो नग्नशरीर हो और उस पर बहुत शस्त्रों की वर्षा हो तो उससे दुःखी नहीं होता और सुन्दर अप्सरा कण्ठ से मिले तो हर्षवान् नहीं होता अर्थात् दोनों ही में तुल्य रहता है। हे विद्याधर ! तब तक आत्मपद का अभ्यास करे जबतक संसार से सुषुप्त की नाईं न हो। अभ्यास ही से आत्मपद को प्राप्त होगा। जब आत्मपद की प्राप्ति होगी तब पाञ्चभौतिक शरीर को ज्वर स्पर्श न करेंगे और यद्यपि शरीर में प्राप्त भी हों तो भी उसके भीतर प्रवेश नहीं करते। वह केवल शान्तपद में

स्थित रहता है—जैसे जल में कमल को स्पर्श नहीं होता। हे देवपुत्र! जबतक देहादिकों में अध्यास है तबतक आत्मा के प्रमाद से सुख दुःख स्पर्श करते हैं और जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब सब प्रपञ्च भी आत्मरूप हो जाते हैं। हे विद्याधर! जैसे कोई पुरुष विष पान करता है तो उसको जलन और खाँसी होती है—सो अवस्था विष की है—विष से भिन्न और कुछ नहीं परन्तु नामसंज्ञा हुई है। विष न जन्मता, न मरता है और जलन खाँसी उसमें दृष्टि आती है तैसे ही आत्मा न जन्मता है और न मरता है और गुणों के साथ मिलकर अवस्था को प्राप्त हुआ दृष्टि आता है। आत्मा जन्ममरण से रहित है पर गुणों के साथ मिलने से जन्मता मरता भासता है और अन्तःकरण, देह, इन्द्रियादिक भिन्न-भिन्न भासते हैं। हे साधो! यह जगत् भ्रम से भासता है; जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे इस जगत् को गोपद की नाईं अपने पुरुषार्थ से लाँघ जाते हैं और जो अज्ञानी हैं उनको अल्प भी समुद्र समान हो जाता है। इससे आत्मपद पाने का यत्न करो जिसके जानने से संसारसमुद्र तुच्छ हो जावे। वह आत्मतत्त्व सबमें अनुस्यूत और सबसे अतीत है, उसके जानने से अन्तःकरण शीतल हो जाता है और सब ताप नष्ट हो जाते हैं। हे साधो! फिर उसका त्याग करना अविद्या है और बड़ी मूर्खता है। हे साधो! ये सब पदार्थ ब्रह्मस्वरूप ही हैं और जो ब्रह्मस्वरूप हुए तो मन, अहंकार, कलङ्क आदिक भी वही है—किसी से किसी को कुछ दुःख सुख नहीं। हे विद्याधर! जब आत्मपद को जाना तब अन्तःकरण आदि भी ब्रह्मस्वरूप भासेंगे। जो संकल्प से भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं वे संकल्प के होते भी ब्रह्मस्वरूप भासेंगे। इससे निःसंकल्प होकर स्थित हो कि न मैं हूँ; न यह जगत् है और न इदम् है। इन शब्दों और अर्थों से रहित होकर स्थित होरह कि सब संशय मिट जावें। हे विद्याधर! जब तू ऐसा निरहंकार और निःसंकल्प होगा तब उत्थानकाल में भी बुद्धि, बोध, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, यश, कीर्ति इत्यादिक जो शुभाशुभ अवस्था हैं सब आत्मस्वरूप भासेंगी और सब आत्मबुद्धि रहेगी। इनके प्राप्त हुये भी केवल परमार्थ सत्ता से भिन्न न भासेगा—जैसे अन्धकार में सर्प के पैर का खोज नहीं

भासता क्योंकि; है नहीं; तैसे ही तुमको सर्व अवस्था न भासेंगी—सब आत्मा ही भासेगा—और जितने कुछ भावरूप पदार्थ स्थित हैं सो अभाव हो जावेंगे। हे अङ्ग! जिस पुरुष ने विचारकर आत्मपद पाने का यत्न किया है वह पावेगा और जिसने कहा कि मैं मुक्त हो रहूँगा और ईश्वर मुझपर दया करेंगे वह पुरुष कदाचित् मुक्त न होगा। पुरुष के प्रयत्न विना कदाचित् मुक्ति न होगी। आत्मस्वरूप में न कोई दुःख है और न किसी गुण से मिला हुआ सुख है वह केवल शान्तरूप है। किसी से किसी को कुछ सुख दुःख नहीं; न सुख है और न दुःख है, न कोई कर्ता है और न भोक्ता है केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शताधिकषट्त्रिंशत्तमस्सर्गः॥१३६॥

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर! जैसे कोई कलना करे कि आकाश में और आकाश स्थित है तो मिथ्या प्रतीति है; तैसे ही आत्मा में जो अहंकार फुरता है सो मिथ्या है। जैसे आकाश में और आकाश कुछ वस्तु नहीं। परमार्थ तत्त्व ऐसा सूक्ष्म है कि उसमें आकाश भी स्थूल है और ऐसा स्थूल है कि जिसमें सुमेरु आदिक भी सूक्ष्म अणुरूप हैं और राग द्वेष से रहित चैतन्य केवल शान्तरूप है—गुण और तत्त्व के क्षोभ से रहित है। हे देवपुत्र! अपना अनुभवरूपी चन्द्रमा अमृत का वर्षानेवाला है। हे अङ्ग! जितने दृश्य पदार्थ भासते हैं सो हुए कुछ नहीं। हे अङ्ग! आत्मरूप अमृत की भावना कर कि तू जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो। जैसे आकाश में दूसरे आकाश की कल्पना मिथ्या है तैसे ही निराकार चिदात्मा में अहं मिथ्या है; और जैसे आकाश अपने आपमें स्थित है तैसे ही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और अहं त्वं आदिक से रहित है। जब उसमें अहं का उत्थान होता है तब जगत् फैल जाता है—जैसे वायु फुरने से रहित हुई आकाशरूप हो जाती है तैसे ही संवित् उत्थान अहं से रहित हुई आत्मरूप हो जाती है और जगत् भ्रम मिट जाता है। फुरने से जगत् फुर आया है; वास्तव में कुछ नहीं। ज्ञानवान् को आत्मा ही भासता है और देश, काल, बुद्धि, लज्जा, लक्ष्मी, स्मृति, कीर्ति सब आकाशरूप हैं—ब्रह्मरूपी चन्द्रमा के प्रकाश से प्रकाशते हैं। जैसे बादलों के संयोग

से आकाश धूम्रभाव को प्राप्त होता है; तैसे ही प्रमाद से संवित् दृश्य-भाव को प्राप्त होती है परन्तु और कुछ नहीं होती। जैसे तरङ्ग उठने से जल और कुछ नहीं होता और जैसे काष्ठ छेदे से और कुछ नहीं होता; तैसे ही द्रष्टा से दृश्य भिन्न नहीं होता। जैसे केले के थम्भ में पत्र बिना और कुछ नहीं निकलता और पत्र शून्यरूप है तैसे ही क्रूररूप जगत् भासता है परन्तु आत्मा से भिन्न नहीं शून्यरूप है। शीश, भुजा, नेत्र, चरण आदिक नाना प्रकार भिन्न भिन्न भासते हैं परन्तु सब शून्यरूप केले के पत्रों की नाईं भासते हैं और सब असाररूप हैं। हे विद्याधर! चित्त में रागरूपी मलिनता है; जब वैराग्यरूपी झाड़ू से झाड़िये तब चित्त निर्मल हो। जैसे दीवार पर चित्र लिखे होते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और देवता, मनुष्य, नाग, दैत्य आदिक सब जगत् संकल्परूपी चितेरे ने चित्र लिखे हैं; स्वरूप के विचार से निवृत्त हो जाते हैं। जब स्नेहरूप संकल्प फुरता है तब भाव अभावरूप जगत् फैल जाता है। जैसे जल में तेल के बूँद फैल जाते हैं और जैसे बाँस से अग्नि निकलकर बाँस को दग्ध करती है तैसे ही संकल्प इससे उपजकर इसी को खाते हैं। आत्मा में जो देश काल पदार्थ भासते हैं यही अविद्या है—पुरुषार्थ से इसका अभाव करो। दो भाग साधु के संग और कथा सुनने में व्यतीत करो; तृतीय भाग शास्त्र का विचार करो और चतुर्थभाग में आत्मज्ञान का आपही अभ्यास करो। इस उपाय से अविद्या नष्ट हो जावेगी और अशब्द और अरूपपद की प्राप्ति होगी। विद्याधर ने पूछा, हे मुनीश्वर! चार भागों के उपाय से जो अशब्दपद प्राप्त होता है सो काल का क्रम क्या है? और नाम अर्थ के अभाव हुए शेष क्या रहता है? भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर! संसार-समुद्र के तरने को ज्ञानवानों का संग करना और जो विकृत निर्वैर पुरुष हैं उनकी भली प्रकार टहल करना; इससे अविद्या का अर्धभाग नष्ट होगा; तीसरा भाग मनन करके और चतुर्थ भाग अभ्यास करके नष्ट होगा। जो यह उपाय न कर सको तो यह युक्ति करो कि जिसमें चित्त अभिलाषा करके आसक्त हो उसी का त्याग करो। एकभाग अविद्या इस प्रकार नष्ट होगी। तीनभाग शास्त्र

विचार और अपने यत्न से शनैः शनैः नष्ट होवेगी। साधुसंग; सत्शास्त्र विचार और अपना यत्न होवे तो एक ही बार अविद्या नष्ट हो जावेगी। यह समकाल कहे हैं। एक एक के सेवने से एक एक भाग निवृत्त होता है। पीछे जो शेष रहता है उसमें नाम अर्थ सब असत्‌रूप हैं और वे अज, अनन्त, एकरूप हैं। संकल्प के उपजे से पदार्थ भासते हैं और संकल्प के लीन हुए लीन हो जाते हैं। हे विद्याधर! यह जगत् संकल्प से रचा है—जैसे आकाश में सूर्य निराधार स्थित होता है तैसे ही देश काल की अपेक्षा से रहित यह मननमात्र स्थित है! तीनों जगत् मन के फुरने से फुर आते हैं और मन के लय हुए लय हो जाते हैं—जैसे स्वप्न के पदार्थ जागे से अभाव हो जाते हैं। हे विद्याधर! ब्रह्मरूपी वन में एक कल्पवृक्ष है जिसकी अनेक शाखा हैं। उसकी एक शाखा से जगत्‌रूपी पुरैन (गूलर) का फल है जिसमें देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु आदिक मच्छर हैं। वासनारूपी रस से पूर्ण मज्जा पहाड़ है, पञ्चभूत मुख द्वारा उसका निकलने का खुला मार्ग इत्यादिक सुन्दर रचना बनी है। उसमें त्रिलोकी का ईश्वर इन्द्र एक हुआ और गुरु के उपदेश से उसका आवरण नष्ट हो गया। फिर इन्द्र और दैत्यों का युद्ध होने लगा और इन्द्र अपनी सेना को ले चला पर उसकी हीनता हुई इसलिये वह भागा और दशों दिशाओं में भ्रमता रहा पर जहाँ जावे वहाँ दैत्य उसके पीछे चले आवें। जैसे पापी परलोक में शोभा नहीं पाता तैसे ही इन्द्र ने जब शान्ति न पाई तब अन्तवाहकरूप करके सूर्य की त्रसरेणु में प्रवेश कर गया। जैसे कमल में भँवरा प्रवेश करे तैसे ही उसने प्रवेश किया तो वहाँ उसको युद्ध का वृत्तान्त विस्मरण हो गया तब एक मन्दिर में बैठा आपको देखता हुआ। जैसे निद्रा से स्वप्नसृष्टि भास आवे तैसे ही उसने वहाँ रत्न और मणियों संयुक्त नगर देखा—वह उसमें गया और पृथ्वी, पहाड़, नदियाँ, चन्द्र, सूर्य, त्रिलोकी इसको भासने लगी और उस जगत् का इन्द्र आपको देखा कि दिव्य भोग और ऐश्वर्य से सम्पन्न मैं इन्द्र स्थित हूँ। वह इन्द्र कुछ काल के उपरान्त शरीर को त्याग के निर्वाण हुआ—जैसे तेल से रहित दीपक निर्वाण होता है—तब कुन्दनाम उसका

पुत्र इन्द्र हुआ और राज्य करने लगा। फिर उसके एक पुत्र हुआ तब कुन्द भी इन्द्र शरीर को त्यागकर परमपद को प्राप्त हुआ और उसका पुत्र राज्य करने लगा। फिर उसके भी एक पुत्र हुआ; इसी प्रकार सहस्र पुत्र होकर राज्य करते रहे उन्हीं के कुल में यह हमारा इन्द्र राज्य करता है। इससे यह जगत् संकल्पमात्र है और उस त्रसरेणु में यह सृष्टि है। इसलिये इस जगत् को संकल्पमात्र जानकर इसकी आस्था त्यागो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इन्द्रोपाख्याने त्रसरेणुजगत्-
वर्णनन्नाम शताधिकसप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३७ ॥

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर! फिर उनके कुल में एक बड़ा श्रीमान् इन्द्र हुआ जो त्रिलोकी का राज्य करता रहा और फिर निर्वाण हुआ। उसके एक पुत्र था जिसको बृहस्पतिजी के वचनों से ज्ञानरूप प्रतिभा उदय हुई तब वह विदितवेद होकर स्थित हुआ; यथाप्राप्ति में इन्द्र होकर राज्य करने लगा और दैत्यों को जीता। एक काल में वह किसी कार्य के निमित्त कमल की तन्तु में घुस गया तो वहाँ उसको नाना प्रकार का जगत् भासने लगा और अपनी इन्द्र की प्रतिभा हुई इससे उसे इच्छा उपजी कि मैं ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त हो जाऊँ और दृश्य पदार्थ की नाईं उसे प्रत्यक्ष देखूँ। इसलिये वह एकान्त बैठकर समाधि में स्थित हुआ तो उसको भीतर बाहर ब्रह्म साक्षात्कार हुआ और उस प्रतिभा के उदय होने से यह निश्चय हुआ कि सर्व ब्रह्म ही है और सब ओर पूजने योग्य है। सब उसी को पूजते भी हैं और सर्व हैं। सर्व शब्द, रूप, अवलोक और मनस्कार से रहित केवल शुद्ध आत्मपद है और सर्व ओर उसी के पाणिपाद हैं। सब शीस और मुख उसी के हैं; सब ओर उसी के श्रवण हैं; सब ओर उसी के नेत्र हैं और सबमें आत्मत्व से वही स्थित हो रहा है। सब इन्द्रियों और विषयों को वही प्रकाशता है और सब इन्द्रियों से रहित है और असक्त हुआ भी सबको धार रहा है। वह निर्गुण है और इन्द्रियों के साथ मिलकर गुणों का भोक्ता है और सब भूतों के भीतर बाहर व्याप रहा है। सूक्ष्म है इससे दुर्विज्ञेय है और इन्द्रियों का विषय नहीं। अज्ञानी को अज्ञान से दूर है और आत्मत्व द्वारा ज्ञानी को ज्ञान से निकट है और अनन्त; सर्वव्यापी केवल शान्तरूप है जिसमें दूसरा कोई नहीं। घट, पट, दीवार, गाय, आवा, बरा, नरा, सबमें वही तत्त्व भासता है और पर्वत, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, देश, काल, वस्तु सब ब्रह्म ही है— ब्रह्म से भिन्न नहीं। हे विद्याधर! इस प्रकार इन्द्र को ज्ञान हुआ और जीवन्मुक्त हुआ। तब वह सब चेष्टा करे परन्तु अन्तर से बन्धवान् न हो। जब कुछ काल बीता तब इन्द्र उस निर्वाणपद को प्राप्त हुआ जिसमें आकाश भी स्थूल है। फिर उस इन्द्र का एक बड़ा शूरवीर पुत्र सब दैत्यों को जीतकर देवता और त्रिलोकी का राज्य करने लगा और उसको भी ज्ञान उत्पन्न हुआ। सत्शास्त्र और गुरु के वचनों से कुछ काल में वह भी निर्वाण हुआ तब उसका जो पुत्र रहा वह राज्य करने लगा। इसी प्रकार कई इन्द्र हुए और राज्य करते रहे और नाना प्रकार के व्यवहारों को देखते रहे। फिर उसके कुल में कोई पुत्र था उसको यह हमारी सृष्टि भासि आई तो वह भी ब्रह्मध्यानी हुआ और इस त्रिलोकी का राज्य करने लगा और अबतक विश्व का इन्द्र वही है। हे विद्याधर! इस प्रकार जो विश्व की उत्पत्ति है सो संकल्पमात्र है और सब मैंने तुझसे कही हैं। पहले उसको त्रसरेणु में सृष्टि भासी; फिर उस सृष्टि के एक कमल की तन्तु में भासी और फिर उसमें कई वृत्तान्त जो संकल्पमात्र थे उसने देखे और उस अणु में अनेक अवस्था देखीं। हे विद्याधर! पर वास्तव में वह कुछ हुई नहीं। जैसे आकाश में नीलता भासती है और है नहीं तैसे ही यह विश्व है। आत्मा में विश्व का अत्यन्त अभाव है। यह विश्व अहंभाव से उपजा है। जब अहंभाव फुरता है तब आगे सृष्टि बनती है और जब अहं का अभाव होता है तब विश्व कोई नहीं। इस विश्व का बीज अहं है, इससे तू ऐसी भावना कर कि न मैं हूँ और न जगत् है। जब ऐसी भावना की तब आत्मा ही शेष रहैगा जो प्रत्यक्ष ज्ञानरूप अपना आप है। हे विद्याधर! इस मेरे उपदेश को अङ्गीकार कर।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे संकल्पासंकल्पैकताप्रतिपाद-
नन्नाम शताधिकअष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३८ ॥

भुशुण्डिजी बोले, हे विद्याधर! जब अहं का उत्थान होता है तब आगे सृष्टि बनकर भासता है और जब अहं का अभाव होता है तब विश्व कुछ नहीं भासता केवल शुद्ध आत्मा ही भासता है। हे विद्याधर! इन्द्र ने कहा कि मैं हूँ, उसको सूर्य की किरणों के अणु में ऐसे अहं हुआ तो उसमें नाना विस्तार देखा और कष्ट पाया। जो उसको अहं न होता तो दुःख न पाता। दुःखरूपी वृक्ष का अहंरूपी बीज है और आत्मविचार से इसका नाश होता है। जब अहं का नाश होता है तब आत्मपद का साक्षात्कार होता है और आत्मपद के साक्षात्कार हुए से प्रच्छन्न अहं का नाश होता है। हे विद्याधर! आत्मरूपी एक पर्वत है जिस पर आकाशरूपी वन है और उसमें संसाररूपी वृक्ष लगा है। उसमें वासनारूपी रस है; अज्ञानरूपी भूमि से उत्पन्न हुआ है; नदियाँ-समुद्र उसकी नाड़ी हैं; चन्द्रमा और तारे फूल हैं; वासनारूपी जल से बढ़ता है और अहंकाररूपी वृक्ष का बीज है। सुख-दुःखरूपी इसके फल हैं; आकाश इसकी डालें हैं और जड़ पाताल है। तुम इस वृक्ष को ज्ञानरूपी अग्नि से जलावो और अहंरूपी वृक्ष के बीज का नाश करो। हे विद्याधर। एक खाई है जिसके जन्ममरणरूपी दो किनारे हैं; अनात्मरूपी उसमें जल है; वासनारूपी तरङ्ग हैं और विश्वरूपी बुद्‌बुदे होते भी हैं और मिट भी जाते हैं। शरीररूपी झाग है और अहंकाररूपी वायु है, जब वायु हुई तब तरङ्ग और बुद्‌बुदे सब होते हैं और जब वायु मिट गई तब केवल स्वच्छ निर्मल ही भासता है। हे विद्याधर! जो वायु हुई तौ जल से भिन्न कुछ न हुआ और जो न हुई तौ भी जल से भिन्न कुछ नहीं—जल ही है; तैसे ही अज्ञान के होते और निवृत्त हुए भी आत्मपद ज्यों का त्यों है परन्तु सम्यक्दर्शन से आत्मपद भासता है और अज्ञान से जगत् भासता है। अहं का होना ही अज्ञान है जब अहं हुआ तब मम भी होता है। सो 'अहं' 'मम' नाम संसार का है, जब अहं मम मिटता है तब जगत् का अभाव होता है। अहं के होते दृश्य भासता है और दृश्य में अहं होता है; इससे संवेदन को त्यागकर निर्वाण पद में प्राप्त हो। इतना कह भुशुण्डिजी ने मुझसे कहा कि हे वशिष्ठजी! इस प्रकार जब मैंने विद्याधर को उपदेश किया तो वह समाधि में स्थित

हुआ और परम निर्वाणपद को प्राप्त हुआ। जैसे दीपक निर्वाण हो जाता है तैसे ही उसका चित्त क्षोभ से रहित शान्ति को प्राप्त हुआ। हे ब्राह्मण! उसका हृदय शुद्ध था इस कारण मेरे वचन शीघ्र ही उसके हृदय में प्रवेश कर गये। जब वह समाधि में स्थित हुआ तो मैंने उसको बारम्बार जगाया परन्तु वह न जागा—जैसे कोई जलता जलता शीतल समुद्र में जाय बैठे और उससे कहिये कि तू निकल तो वह नहीं निकलता, तैसे ही संसारताप से जलता हुआ जब आत्मसमुद्र को प्राप्त होता है तब वह अज्ञानरूपी संसार के प्रवाह को नहीं देखता। हे वशिष्ठजी! जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है उसको थोड़े वचन भी बहुत हो लगते हैं। जैसे तेल की एक बूँद जल में बहुत फैल जाती है तैसे ही जिसका अन्तःकरण शुद्ध होता है उसको थोड़ा वचन भी बहुत होकर लगता है। और जिसका अन्तःकरण मलिन होता है उसको वचन नहीं लगते। जैसे आरसी पर मोती नहीं ठहरता तैसे ही गुरुशास्त्र के वचन उसको नहीं लगते। जब विषयों से वैराग उपजै तब जानिये कि हृदय शुद्ध हुआ है। हे वशिष्ठजी! जब मैंने विद्याधर को उपदेश किया तब वह शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त हुआ, क्योंकि उसका चित्त निर्मल था। हे मुनीश्वर! जो तुमने मुझसे पूछा था सो कहा कि उस विद्याधर को मैंने ज्ञान से रहित चिरकाल जीता देखा। इतना कह वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ऐसे कहकर काकभुशुण्डि चुप हो रहा और मैं नमस्कार करके आकाशमार्ग से अपने घर आया। हे रामजी! मेरे और काकभुशुण्डि के इस संवाद को एकादश चौकड़ी युग बीते हैं। हे रामजी! यह नियम नहीं है कि थोड़े काल में ज्ञान उपजै वा बहुत काल में, यह हृदय की शुद्धता की बात है; जिसका हृदय शुद्ध होता है उसको गुरु और शास्त्रों का वचन शीघ्र ही लगता है—जैसे जल नीचे को स्वाभाविक जाता है। हे रामजी! इतना उपदेश जो तुमको मैंने क्रम से किया है उसका तात्पर्य यही है कि फुरने को त्याग करो कि न मैं हूँ और न कोई जगत् है—तब पीछे निर्विकल्प केवल आत्मपद रहेगा जो सबका अपना आप है और उसका साक्षात्कार तुमको होगा। जैसे मलिन दर्पण में मुख

नहीं दीखता तैसे ही आत्मरूपी दर्पण अहंरूपी मल से ढपा है; जब इसका त्याग करो तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और जगत् भी अपना आप भासेगा। आत्मा से कुछ भिन्न नहीं, क्योंकि केवल आत्मत्वमात्र है और जो कुछ भासता है उसे मृगतृष्णा के जलवत् और बन्ध्या के पुत्रवत् जानो, यह जगत् आत्मा के प्रमाद से भासता है—जैसे आकाश में नीलता भासती है पर है नहीं; तैसे ही जगत् प्रत्यक्ष भासता है और है नहीं। जैसे रस्सी में सर्प मिथ्या है तैसे ही आत्मा में जगत् मिथ्या है। जब आत्मा का ज्ञान होगा तब जगत् का अत्यन्त अभाव होगा और केवल आत्मत्वमात्र अपना आप भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भुशुण्डिविद्याधरोपाख्यान-समाप्तिर्नाम शताधिकनवत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ १३९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम अहंवेदना से रहित हो रहो। संसाररूपी वृक्ष का बीज अहं ही है। वासना से शुभ अशुभरूप कर्म का सुख-दुःख फल है और वासना ही से प्रफुल्लित होता है; इससे अहंभाव को निवृत्त करो। जब अहं फुरता है तब आगे जगत् भासता है; जब अहंता से रहित होगे तब जगत्भ्रम मिट जावेगा। अहंता आत्मबोध से नष्ट होता है। आत्मबोधरूपी खंभारी से उड़ाया अहंतारूपी पाषाण न जानोगे कि कहाँ गया और सुवर्ण पाषाणतुल्य तुमको हो जावेगा। शरीररूपी पत्र पर अहंतारूपी अणु स्थित है; जब बोधरूपी वायु चलेगी तब न जानोगे कि कहाँ गया। शरीररूपी पत्र पर अहंतारूपी बरफ़ का कणका स्थित है; बोधरूपी सूर्य के उदय हुए न जानोगे कि वह कहाँ गया बोध विना अहंता नष्ट नहीं होती चाहे कीचड़ में रहे और चाहे पहाड़ में जावे; चाहे घर में रहे और चाहे स्थल में रहे; चाहे स्थूल हो और चाहे सूक्ष्म हो, चाहे निराकार हो और चाहे रूपान्तर को प्राप्त हो; चाहे भस्म हो और चाहे मृतक हो; चाहे दूर हो अथवा निकट हो जहाँ रहेगा वहीं अहंता इसके साथ है। हे रामजी! संसाररूपी वट का बीज अहंता है उसीसे सब शाखा फैली हैं। सब अर्थों का कारण अहंता है; जबतक अहंता है तबतक दुःख नहीं मिटता और जब अहंभाव नष्ट हो तब परमसिद्धि की प्राप्ति हो। हे रामजी! जो कुछ मैंने उपदेश किया है उसको भली प्रकार विचारकर उसका अभ्यास करो तब संसाररूपी वृक्ष का बीज जल जावेगा और आत्मपद की प्राप्ति होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अहंकारअस्तयोगोपदेशो नाम शताधिकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! संसार संकल्पमात्र सिद्ध है और भ्रम से उदय हुआ है। आत्मस्वरूप में अनेक सृष्टि बसती हैं; कोई लीन होती हैं; कोई उत्पन्न होती हैं और कोई उड़ती हैं; कहीं इकट्ठी होती हैं और कहीं भिन्न भिन्न उड़ती हैं सो सब मुझको प्रत्यक्ष भासती हैं। देखो वे उड़ती जाती हैं सो ये सब आकाशरूप हैं और आकाश ही से मिलती हैं। जैसे केले का वृक्ष देखनेमात्र सुन्दर होता है पर उसमें कुछ सार नहीं होता तैसे ही विश्व देखनेमात्र सुन्दर है पर आकाशरूप है। जैसे जल में पहाड़ का प्रतिबिम्ब पड़ता है और हिलता भासता है तैसे ही यह जगत् है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आप कहते हैं कि सृष्टि मुझे प्रत्यक्ष उड़ती भासती हैं—तुम भी देखो; यह तो मैंने कुछ नहीं समझा कि आप क्या कहते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अनेक सृष्टि उड़ती हैं सो सुनो। पञ्चभौतिक शरीर में प्राण स्थित हैं; प्राण में चित्त स्थित है और उस चित्त में अपनी-अपनी सृष्टि है। जब यह पुरुष शरीर का त्याग करता है तब लिङ्गशरीर जो वासना और प्राण हैं वे उड़ते हैं। उस लिङ्गशरीर में जो विश्व है सो सूक्ष्मदृष्टि से मुझको भासता है। हे रामजी! आकाश में जो वायु है जिसका रूपरङ्ग कुछ नहीं वही वायु प्राणों से मिलकर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देती है—इसी का नाम जीव है। स्वरूप से न कोई आता है न जाता है परन्तु लिङ्गशरीर के संयोग से आता-जाता और जन्मता-मरता दीखता है और अपनी वासना के अनुसार आत्मा में विश्व देखता है और कुछ नहीं बना। यह वासनामात्र सृष्टि है; जैसी वासना होती है तैसा ही विश्व भासता है। हे रामजी! यह पुरुष आत्मस्वरूप है परन्तु लिङ्गशरीर के मिलने से इसका नाम जीव हुआ है और आपको प्रच्छन्न जानता है; वास्तव में ब्रह्मस्वरूप है। देश, काल और

वस्तु के परिच्छेद से रहित ब्रह्म है पर उसके प्रमाद से आपको कुछ मानता है इसी का नाम लिङ्गशरीर है। जैसे घटाकाश भी महाकाश है परन्तु घट के खप्पर से परिच्छिन्न हुआ है तैसे ही यह पुरुष भी आत्मस्वरूप है और अहंकार के संयोग से प्रच्छन्न हुआ है। जैसे घट को एकदेश से उठाकर देशान्तर में ले जा रक्खो तो आकाश तो न कहीं गया और न आया परन्तु आता-जाता भासता है, तैसे ही आत्मा अखण्डरूप है परन्तु प्राण चित्त से चलता भासता है। जब अहंकाररूप चित्त नष्ट हो तब अखण्डरूप हो; जबतक अहंकार नहीं जाता तबतक जगत्भ्रम दीखता है और वासना करके भटकता फिरता है। वासनामय सृष्टि अपने-अपने चित्त में स्थित है। जब शरीर का त्याग करता है तब आकाश में उड़ता है और प्राणवायु उड़कर जो आकाश में शून्यरूप वायु है उससे जा मिलती है। वहाँ सबको अपनी-अपनी वासना के अनुसार सृष्टि भासि आती है और अपनी सृष्टि लेकर इस प्रकार उड़ते हैं जैसे वायु गन्ध को ले जाती है सो ही मुझको सूक्ष्मदृष्टि से उड़ते भासते हैं। हे रामजी! स्थूलदृष्टि से लिङ्गशरीर नहीं भासता; सूक्ष्मदृष्टि से दीखता है। जिस पुरुष को सूक्ष्मदृष्टि से लिङ्गशरीर देखने की शक्ति है और ज्ञान से रहित है वह भी मेरे मत में मूर्ख और पशु है। हे रामजी! जब मनुष्य वासना का त्याग करता है—अर्थात् इस अहंकार को कि, मैं हूँ त्याग करता है तो आगे विश्व नहीं दिखाई देता केवल निर्विकल्प ब्रह्म भासता है और उसके प्राण नहीं उड़ते वहीं लीन हो जाते हैं, क्योंकि उसका चित्त अचित्त हो जाता है। जबतक अहंकार का संयोग है तबतक विश्व भी चित्त में स्थित है। जैसे बीज में वृक्ष और तिलों में तेल स्थित होता है तैसे ही उसके हृदय में विश्व स्थित है। जैसे मृत्तिका में बड़े छोटे बासन; लोहे में सुई और खड्ग और बीज में वृक्ष-भाव स्थित है चैतन्य अथवा जड़ हो तैसे ही यह संकल्पकलना में भेद है, स्वरूप से कुछ नहीं और वैसे ही यह जगत् भी है। हे रामजी! विश्व संकल्पमात्र है, क्योंकि दूसरी अवस्था में नाश हो जाता है। यह जाग्रत् जो तुमको भासती है सो मिथ्या है। जब स्वप्न आता है तब जाग्रत् नहीं रहती और जब जाग्रत् आती है तब स्वप्न नष्ट हो जाता है; जब मृत्यु आती है तब सृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाता है और देश, काल, पदार्थ सहित वासना के अनुसार और सृष्टि भासती है। हे रामजी! यह विश्व ऐसा है जैसे स्वप्ननगर। जैसे संकल्पपुर होते हैं तैसे ही ये सब संकल्प उड़ते फिरते हैं। कई सृष्टि परस्पर मिलती हैं; कई नहीं मिलतीं परन्तु सब संकल्परूप हैं और भ्रम से और का और भासता है। जैसे कोई पुरुष बड़ा होता है और कोई छोटा भासता है तो छोटे को बड़ा भासता है और जैसे हाथी के निकट और पशु तुच्छ भासते हैं और चींटी के निकट और बड़े भासते हैं तैसे ही जो ज्ञानवान् पुरुष है उसको बड़े पदार्थ देश, काल संयुक्त विश्व तुच्छ भासता है और वह उन्हें असत्य जानता और जो अज्ञानी है उसको संकल्पसृष्टि बड़ी होकर भासती है। जैसे पहाड़ बड़ा भी होता है परन्तु जिसकी दृष्टि से दूर है उसको महालघु और तुच्छसा भासता है और चींटी के निकट तुच्छ मृत्तिका का ढेला भी पहाड़ के समान है तैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में जगत् नहीं, इससे बड़ा जगत् भी उसको तुच्छरूप भासता है और अज्ञानी को तुच्छरूप भी बड़ा भासता है। हे रामजी! यह विश्व भ्रम से सिद्ध हुआ है। जैसे भ्रम से सीपी में रूपा और रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही आत्मा के प्रमाद से यह विश्व भासता है पर आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे निद्रादोष से जीव अपने अङ्ग भूल जाते हैं और जागे हुए सब अङ्ग भासते हैं तैसे ही अविद्यारूपी निद्रा में सोया हुआ जब जागता है तब उसे सब विश्व अपना आप दिखाई देता है। जैसे स्वप्न से जगा हुआ स्वप्न के विश्व को अपना आपही देखता है तैसे ही यह विश्व अपना आपही भासेगा। हे रामजी! जब मनुष्य निद्रा में होता है तब उसे शुभ अशुभ विश्व में राग कुछ नहीं होता और जब जागता है तब इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष होता है इसी प्रकार जबतक विश्व में हेयोपादेय बुद्धि है तबतक जो सर्वज्ञ भी हो तौ भी मूर्ख है। हे रामजी! जब जड़ हो जावे तब कल्याण हो। जड़ होना यही है कि दृश्य से रहित आत्मा में स्थित हो वह आत्मा चिन्मात्र है। जबतक आत्मा से भिन्न जो

कुछ सत्य अथवा असत्य जानता है तबतक स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती और जब संवित् फुरने से रहित हो तब स्वरूप का साक्षात्कार हो। इससे फुरने का त्याग करो। यह स्थावर-जङ्गम जगत् जो तुमको भासता है सो सर्व ब्रह्मस्वरूप है। जब तुम ऐसे निश्चय करोगे तब सर्व विवर्त्त का अभाव हो जावेगा और आत्मपद ही शेष रहेगा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह जीव जो आपने कहा सो जीव का स्वरूप क्या है; वह आकार को कैसे ग्रहण करता है; उसका अधिष्ठान परमात्मा कैसे है और उसके रहने का स्थान कौन है सो कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जीव शुद्ध परमात्मतत्त्व निर्विकल्प चिन्मात्र पद है; उसमें चैत्योन्मुखत्व हुआ कि 'मैं हूँ' ऐसे जो चित्कला अज्ञानरूप फुरी है और उसको देह का सम्बन्ध हुआ है उसी का नाम जीव है। वह जीव न सूक्ष्म है; न स्थूल है; न शून्य है; न अशून्य है; न थोड़ा है; न बहुत है; केवल शुद्ध आत्मत्वमात्र है। वह न अणु है, न स्थूल है; अनन्त चैतन्य आकाशरूप है उसी को जीव कहते हैं। स्थूल से स्थूल वही है और सूक्ष्म से सूक्ष्म वही है। अनुभव चैतन्य सर्वगत जीव है; उसमें वास्तव शब्द कोई नहीं और जो कोई शब्द है सो प्रतियोगी से मिलकर हुआ है। जीव अद्वैत है उसका प्रतियोगी कैसे हो। यही जीव का स्वरूप है। चैत्य के संयोग से जीव हुआ है और उसका अधिष्ठान चैतन्य आकाश, निर्विकल्प, चैत्य से रहित, शुद्ध, चैतन्य परमात्मतत्त्व है; उसमें जो संवित् फुरी है उसी का नाम जीव है वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल और सबका बीज है। उसी को विराट् कहते हैं और उसका शरीर मनोमय है। आदि परमात्मतत्त्व से फुरा है और अन्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् प्रच्छन्नता को नहीं प्राप्त हुआ—आपको सर्व आत्मा जानता है। इसका नाम विराट् है उसका प्रथम शरीर मनोमात्र और शुद्ध प्रकाशरूप राग-द्वेषरूपी मल से रहित अनन्त आत्मा है और सर्व मन, कर्मों और देहों का बीज है; सबमें व्याप रहा है और सब जीवों का अधिष्ठाता है। उसी के संकल्प से ये जीव रचे हैं और पञ्चज्ञान इन्द्रियाँ, अहंकार; मन और संकल्प यह आठों आकार ग्रहण किये हैं। परमार्थरूप को

त्याग फुरने से जो आकार उत्पन्न हुए हैं उनको ग्रहण करना इसी का नाम पुर्यष्टका है। फिर इन इन्द्रियों के छिद्र रचे और स्थूल रूप रचकर उनमें आत्मा प्रतीत किया। जैसे जीव शयनकाल में जाग्रत् शरीर को त्यागकर स्वप्न शरीर का अङ्गीकार करता है तैसे ही शुद्ध, चिन्मात्र, निर्विकार, अद्वैतस्वरूप को त्यागकर उसने वासनामय शरीर का अङ्गीकार किया है पर वास्तवस्वरूप का कुछ त्याग नहीं किया और स्वरूप से नहीं गिरा शुद्ध निर्विकल्प भाव को त्यागकर विराट्भाव हुआ है। इसी प्रकार आगे उस पुरुष ने ज्ञान से चारों वेद रचे और नीति को निश्चय किया। नीति इसे कहते हैं कि यह पदार्थ ऐसे हो और इतने कालतक रहे—निदान यह रचना रची और जो जो संकल्प करता गया सो सो देश, काल, पदार्थ, दिशा, ब्रह्माण्ड सब होते गये। ईश्वर, विराट्, आत्मा, परमेश्वर इत्यादिक जीव के नाम हैं पर जीव का वासनामय स्वरूप झूठ नहीं। वासना के शरीर ग्रहण करने से वासनारूप कहा है पर वास्तवरूप शुद्ध, निर्विकार और अद्वैत है और कदाचित् स्वरूप से अन्य अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ; सदा ज्ञानरूप, अद्वैत और परमशुद्ध है। उसको अपने चैतन्यस्वभाव से चैत्य का संयोग हुआ है इससे कहा है कि उसका वपु वासनारूप है। उसी आदि जीव से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि देवता, दैत्य, आकाश, मध्य, पाताल और त्रिलोकी उत्पन्न हुई हैं। जैसे दीपक से दीपक होता है और जल से जल होता है तैसे ही सब विराट्स्वरूप है। महाआकाश उस विराट् का उदर है; समुद्र रुधिर है; नदियाँ नाड़ी हैं और दिशा वपु हैं। उसके उदर में कई ब्रह्माण्ड सुमेरु पर्वत सहित समाये रहते हैं पवन उसका मूँड़ है उच्छ्वास पवन प्राणवायु हैं; पृथ्वी मांस है; सुमेरु आदिक पर्वत हाथ हैं; तारे रोमावली हैं; सहस्र शीश नेत्र हैं और अनन्त और अनादि है। चन्द्रमा उसका कफ है जिससे अमृत स्रवता है और भूत उपजते हैं और सूर्य पित्त है जो सबका उत्पन्नकर्ता है और सब मन; सब कर्मों और सब शरीरों का आदि बीज विराट् है। हे रामजी! इस चित्त के सम्बन्ध से तुच्छ हुआ है पर वास्तव में परमात्मस्वरूप है। जैसे महाकाश घट के संयोग से घटाकाश

होता है तैसे ही विराट् परमात्मा ने फुरने से सृष्टि रची है और उसमें अहं प्रत्यय की है इससे तुच्छ हुआ है; सो इसको मिथ्या भ्रम हुआ है। जैसे स्वप्न में कोई अपना मरना देखता है तैसे ही आपको दृश्य देखता है। लघुता भी आत्मा की अपेक्षा से है; दृश्य में विराट् है और आत्मा में इसका अनुभव है। हे रामजी ! इसी प्रकार उसने उपजकर सृष्टि रची है। जैसे एक विराट् पुरुष ने आदि निश्चय किया है तैसे ही अबतक है। यह आपही उपजा है और आपही लीन हो जाता है। हे रामजी ! जिस प्रकार विराट् की आत्मा से उत्पत्ति हुई है तैसे ही सब जीवों की है। यह सब विराट्रूप है परन्तु जो स्वरूप से उपजकर दृश्य से तद्रूप हुए हैं और जिनको वास्तवस्वरूप भूल गया है सो तुच्छरूप जीव हुए और जो स्वरूप से फुरकर स्वरूप से न गिरे और जिसे आगे अपना ही संकल्परूप विश्व देखकर प्रमाद न हुआ उसका नाम विराट् आत्मा है। हे रामजी ! जीव चैतन्य और निराकाररूप है इसको शरीर का संयोग कलना से हुआ है। जब आपको दृश्य संयुक्त देखता है तब महाआपदा को प्राप्त होता है और जब द्वैत से रहित निर्विकल्प होकर देखे तब शुद्ध चैतन्य आत्मपद को प्राप्त होता है। हे रामजी ! यह विराट् सबको उत्पन्न करता है। ऐसे कई विराट् आत्मपद से उदय हुए हैं; कई मिट गये हैं और कई आगे होंगे। जैसे समुद्र से कई तरङ्ग बुद्बुदे उठते हैं और लीन होते हैं तैसे ही आत्मारूपी समुद्र से कई विराट् उठते हैं; कई लीन होते हैं और कई उपजेंगे। ऐसा परमात्मा सबका अधिष्ठान है और सबके भीतर बाहर पूर्ण ज्ञानस्वरूप है। ऐसा तेरा अपना आप अनुभवरूप है। हे रामजी ! इस संवेदन को त्यागकर देखो वही परमात्मस्वरूप है यह जो कुछ तुमको भासता है उसको विचारकर त्यागो। जब तुम इसका त्याग करोगे तब चिन्मात्र जो परम शुद्ध तुम्हारा स्वरूप है सो तुमको भासेगा—उसके आगे चैतन्यता ही आवरणरूप है। जैसे सूर्य के आगे बादलों का आवरण होता है और जबतक बादल होते हैं तबतक सूर्य का प्रकाश ज्यों का त्यों नहीं भासता पर जब बादल दूर होते हैं, तब प्रकाश स्वच्छ भासता है, तैसे ही जब फुरना निवृत्त होवेगा तब शुद्ध आत्मा ही प्रक

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विराडात्मवर्णनं नाम
शताधिकैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह परमात्मा पुरुष फुरने से जीवसंज्ञा को प्राप्त हुआ है। फुरने में भी वही है पर अपने स्वरूप का नहीं जानता इसी से दुःख पाता है। जैसे पवन चलता है तौ भी वही रूप है और जब ठहरता है तौ भी वही रूप है—दोनों में तुल्य है—तैसे ही आत्मा सर्वदा एकरस है कदाचित् परिणाम को नहीं प्राप्त हुआ। जीव प्रमाद से दृश्य को कल्पता है और दृश्य को आप जानता है इसी से दुःख पाता है पर जो इसको अपना स्वरूप स्मरण रहे तो दृश्य में भी अपना रूप भासे और जो निःसंकल्प हो तौ भी विश्व अपना रूप भासे। विश्व भी इसी का रूप है परन्तु अविचार से भिन्न भिन्न भासता है। जैसे स्वप्न का विश्व स्वप्नवाले का रूप है परन्तु निद्रादोष से नहीं जानता और जब जागता है तब जानता है कि मैं ही था; तैसे ही यह प्रपञ्च सब तुम्हारा स्वरूप है। तुम अपने स्वरूप में निरहंकार स्थित होकर देखो तो कुछ नहीं बना। जो आत्मा से भिन्न तुम कुछ बनोगे तो प्रपञ्च विश्व भासेगा और जो आत्मस्वरूप में स्थित हो तो अपना आप भासेगा और प्रपञ्च का अभाव हो जावेगा। हे रामजी ! शून्याशून्य; जड़; चैतन्य; किंचन-निष्किंचन; सत्य-असत्य सब आत्मा ही पूर्ण है तो निषेध किसका करिये ? हे रामजी ! वह ऐसा अनुभवरूप है जिससे सब पदार्थ सिद्ध होते हैं पर ऐसे आत्मा को मूर्ख नहीं जानते। जैसे जन्म का अन्धा मार्ग को नहीं जानता तैसे ही अज्ञानी महाअन्ध जागती ज्योति आत्मा को भी नहीं जानते और जैसे उलूकादिक सूर्य उदय हुए को नहीं जानते तैसे ही वासना से घेरे हुए आपको नहीं जान सकते। जैसे जाल में पक्षी फँसा होता है तैसे ही जीव फँसे हुए हैं। इसी का नाम बन्धन है। जब वासना का वियोग हो तो इसी का नाम मुक्ति है। हे रामजी ! विषमता से जीव संज्ञा हुई है; जब सम हुआ तब ब्रह्म है सो ब्रह्म अहंकार को त्यागकर होता है जैसे खप्पर के संयोग से घटाकाश कहाता है और जब खप्पर

टूट जाता है तब महाकाश हो जाता है; तैसे ही जब अहंकार नष्ट होता है तब आत्मस्वरूप है। हे रामजी ! अज्ञान से एक देशी जीव हुआ है; जब प्रच्छिन्नता का वियोग हो तब आत्मस्वरूप ही है। हे रामजी ! अपने वास्तव निर्गुणस्वरूप में गुणों का संयोग उपाधि से भासता है सो अनर्थरूप है। जब निर्गुण और सगुण की गाँठ टूटे तब केवल अद्वैततत्त्व अपना आप भासेगा जो अनामय और दुःख से रहित है और सत् असत् से परे ज्ञानरूप और आदि-अन्त से रहित है जिसके पाये से फिर कुछ पाना नहीं रहता और जिसके जानने से और कुछ जानना नहीं रहता। ऐसा जो उत्तम पद है उसको आत्मतत्त्व से प्राप्त होगे। हे रामजी ! यह जो ज्ञान तुमसे कहा है उसका आश्रय करके तुम ज्ञानवान् होना; ज्ञानबन्ध न होना। ज्ञानबन्ध से तो अज्ञानी भला है, क्योंकि अज्ञानी भी साधुओं के संग और सत्शास्त्रों के सुनने से ज्ञानवान् होता है पर ज्ञानबन्ध मुक्त नहीं होता। जैसे रोगी कहै कि मुझको कोई रोग नहीं है, मैं अरोग हूँ; तो वह वैद्य की औषध भी नहीं खाता क्योंकि वह आपको अरोग जानता है तैसे ही जो ज्ञानबन्ध है उसको सन्तों का संग और सत्शास्त्रों का श्रवण भी नहीं होता इससे वह अन्धतम को प्राप्त होता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! ज्ञान और ज्ञानबन्ध का लक्षण क्या है और ज्ञानबन्ध का फल क्या है सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस पुरुष ने आत्मा के विशेषण शास्त्रों से श्रवण किये हैं कि आत्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और तीनों शरीरों से भिन्न है और ऐसे सुनकर आपको मानता है पर विषयों के भोगने की सदा तृष्णा करता है कि किसी प्रकार इन्द्रियों के विषय मेरे लिये प्राप्त हों ऐसा पुरुष ज्ञानबन्ध है। वह बोधशिल्पी है जो कर्मफल के विचार से रहित है अर्थात् भला बुरा विचार नहीं करता और उसमें विचरता है और जो मुख से शुभ अशुभ निरूपण करता है वह शास्त्रशिल्पी है और फल के अर्थ कर्म करता है। कोई ऐसा है कि शास्त्रोक्त आपको उत्तम मानता है; शास्त्रों के अर्थ बहुत प्रकार भी कहता है, पढ़ता और पढ़ाता भी है पर विषयों से बन्धायमान है और सदा विषयों की चिन्तना करता है—ऐसा पुरुष ज्ञानबन्ध है

और इसी निमित्त अर्थशिल्पी भी कहाता है अर्थात् चितेरा करने को समर्थ है और धारने को समर्थ नहीं। हे रामजी ! एक प्रवृत्तिमार्ग है और एक निवृत्तिमार्ग है। प्रवृत्ति संसारमार्ग है और निवृत्ति आत्मज्ञानमार्ग है। जिस पुरुष ने निवृत्तिमार्ग धारण किया है पर प्रवृत्तिमार्ग में अर्थात् बहिर्मुख विषय की ओर बर्तता है; इन्द्रियों के विषयों की वाञ्छा करता और विषयों से उपराम नहीं होता एवम् उनसे तुष्टिमान होकर स्वरूप का अभ्यास नहीं करता वह ज्ञानबन्ध कहाता है। हे रामजी ! जो पुरुष श्रुतिउक्त शुभकर्मफल की हृदय में कामना धारता है वह पुरुष ज्ञान के निकटवर्ती है तौ भी ज्ञानबन्ध है। जिसको आत्मा में प्रीति भी है पर विषय को चिन्तता है और आपको उत्तम मानता है वह ज्ञानबन्ध कहाता है और जो आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण करता है और स्थित नहीं वह ज्ञान आभास है और ज्ञान का फल उसको साक्षात्कार नहीं। जिस पुरुष ने सिद्धि और ऐश्वर्य पाया है और उससे आपको बड़ा जानता है पर आत्मज्ञान से रहित है वह ज्ञानबन्ध कहाता है। हे रामजी ! निदिध्यास से ज्ञान की प्राप्ति होती है और उससे शान्ति का प्रकाश होता है जबतक शान्ति प्राप्त नहीं होती तबतक आपको बड़ा ज्ञानी न माने। हे रामजी ! ज्ञान से बड़ा होता है; जबतक ज्ञान नहीं उपजा तबतक आत्मपरायण हो; अभ्यास और यत्न करो; शुभ व्यवहार से प्राणों की रक्षा के निमित्त उपजीविका उत्पन्न करो और ब्रह्मजिज्ञासा के अर्थ प्राणों की धारणा करो। ब्रह्मजिज्ञासा इस निमित्त है कि दुःखरूप संसार समुद्र से मुक्त हो; फिर संसारी न हो और आत्मपरायण हो। जब आत्मपरायण होगे तब सब दुःख मिट जावेंगे। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नष्ट हो जाता है तैसे ही आत्मपद के प्राप्त हुए सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। उस पद के प्राप्त होने का उपाय यह है कि सत्शास्त्रों से जो विशेषण सुने हों उनको समझकर बारम्बार अभ्यास करना; दृश्य से उपराम होना और उनको मिथ्या जानकर वैराग्य करना। इसी से आत्मपद की प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ज्ञानबन्धयोगोनामशताधिकद्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिज्ञासु होकर ज्ञाननिष्ठ होना और जो कुछ गुरुशास्त्रों से आत्मविशेषण सुने हैं उनमें अहं प्रत्यय करके स्थित होना इसी का नाम ज्ञाननिष्ठा है। इस ज्ञाननिष्ठा से परम उच्चपद को प्राप्त होता है जो सबका अधिष्ठान है। जब उसमें स्थित हुआ तब कर्मों के फल का ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि शुभकर्मों में फल का राग नहीं रहता और अशुभ कर्मों के फल में द्वेष नहीं रहता। ऐसा पुरुष ज्ञानी कहाता है और वह शीतल चित्त रहता है, अकृत्रिम शान्ति को प्राप्त होता है; किसी विषय के सम्बन्ध से नहीं फँसता और उसकी वासना की गाँठ टूट जाती है। हे रामजी ! बोध वही है जिसको पाये से फिर जन्म न हो और जो जन्ममरण से रहित हो उसी को ज्ञानी कहते हैं। जब संसार से विमुख हो और संसार की सत्यता न भासे तब जानिये कि फिर जन्म न पावेगा, क्योंकि उसकी संसार की वासना नष्ट होगई है। हे रामजी ! जिससे ज्ञानी की वासना नष्ट होती है वह भी सुनो। वह इस संसार का कारण नहीं देखता। जो पदार्थ कारण से उत्पन्न नहीं हुआ वह सत्य नहीं होता; इससे संसार मिथ्या है। जैसे रस्सी में सर्प भासता है तो उसका कारण कोई नहीं भ्रम से सिद्ध हुआ है, तैसे ही यह विश्व कारण बिना दृष्टि आता है इससे मिथ्या है। जो मिथ्या है तो उसकी वासना कैसे हो ? हे रामजी ! जो प्रवाहपतित कार्य प्राप्त हो उसमें ज्ञानी बिचरता है और संकल्प से रहित होकर अपना अभिमान कुछ नहीं करता कि इस प्रकार हो और इस प्रकार न हो। वह हृदय से आकाश की नाईं संसार से न्यारा रहता है और फुरने से शून्य है। ऐसा पुरुष पण्डित कहाता है। हे रामजी ! यह जीव परमात्मरूप है। जब अचेतन अर्थात् संसार के फुरने से रहित हो तब आत्मपद को प्राप्त हो। जैसे आम का वृक्ष फल से रहित है तौ भी उसका नाम आम है परन्तु निष्फल है तैसे ही यह जीव आत्म स्वरूप है परन्तु चित्त के सम्बन्ध से इसका नाम जीव है। जब चित्त को त्याग करे तब आत्मा हो। जैसे आम के पेड़ में फल लगने से शोभता है और सफल कहाता है तैसे ही जब जीव आत्मपद को प्राप्त होता है तब

महाशोभा से विराजता है। हे रामजी ! ज्ञानवान् पुरुष कर्म के फल की स्तुति नहीं करता अर्थात् इन्द्रियों के इष्ट विषय की वाञ्छा नहीं करता। जैसे जिस पुरुष ने अमृतपान किया हो वह मद्यपान करने की इच्छा नहीं करता तैसे ही जिसको आत्मसुख प्राप्त होता है वह विषयों के सुख की इच्छा नहीं करता। जो किसी पदार्थ को पाकर सुख मानते हैं वे मूढ़ हैं। जैसे कोई पुरुष कहे कि बन्ध्या के पुत्र के काँधे पर आरूढ़ होकर नदी के पार उतरते हैं तो वह पुरुष महामूढ़ है, क्योंकि जो बन्ध्या के पुत्र है ही नहीं तो उसके काँधे पर कैसे आरूढ़ होगा; तैसे ही जो कोई कहे कि मैं संसार के किसी पदार्थ को लेकर मुक्त हूँगा तो वह महामूढ़ है। हे रामजी ! ऐसा पुरुष ज्ञान से शून्य है उसकी इन्द्रियाँ स्थिर नहीं होतीं और वह शास्त्रों के अर्थ प्रकट भी करता है परमात्मा के ज्ञान से रहित है उसको इन्द्रियाँ बल से विषयों में गिरा देती हैं जैसे चील पक्षी आकाश में उड़ता उड़ता मांस को देखकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है तैसे ही अज्ञानी विषय को देखकर गिर पड़ता है। इससे इन इन्द्रियों को मन संयुक्त वश करो और युक्ति से तत्परायण और अंतर्मुख हो रहो। यह जो संवेदन फुरती है उसका त्याग करो। जब फुरना निवृत्त होगा तब परमात्मा का साक्षात्कार होगा और जब परमात्मा का साक्षात्कार होगा तब रूप अवलोक और मनस्कार, जो त्रिपुटी है उसके सब अर्थ की भावना जाती रहेगी; केवल आत्मतत्त्व ही प्रत्यक्ष भासेगा और संसार का अत्यन्त अभाव हो जावेगा। हे रामजी ! संसार का आदि परमात्मतत्त्व है और अन्त भी वही है जैसे स्वर्ण गलाइये तौ भी स्वर्ण है और जो न गलाइये तौ भी स्वर्ण है; तैसे ही जब सृष्टि का अभाव होता है तौ भी आत्मा ही शेष रहता है; जब उपजी न थी तब भी आत्मा ही था और मध्य भी वही है परन्तु सम्यक्दर्शी को भासता है और असम्यक्दर्शी को आत्मसत्ता नहीं भासती। हे रामजी ! विश्व आत्मा का परिणाम नहीं, चमत्कार है। जैसे सुवर्ण गलता है तो उसकी रेणीसंज्ञा होती है अथवा शलाका कहाती है। यद्यपि उसमें भूषण नहीं हुए तौ भी उसका चमत्कार ऐसा ही होता है कि उससे भूषण उपजकर लीन हो जाता है और जैसे सूर्य

की किरणें जलाभास हो भासती हैं, तैसे ही विश्व आत्मा का चमत्कार है और बना कुछ नहीं आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और उसका चमत्कार विश्व होकर स्थित हुआ है। हे रामजी! जब तुमने ऐसे जाना कि केवल आत्मसत्ता है तब वासना क्षय हो जावेगी और चेष्टा स्वाभाविक होगी। जैसे वृक्ष के पत्र पवन से हिलते हैं तैसे ही शरीर की चेष्टा प्रारब्धवेग से होगी। हे रामजी! देखनेमात्र तुम्हारे में क्रिया होगी और हृदय में शून्य भासेगा। जैसे यन्त्र की पुतली संवेदन विना तागे से चेष्टा करती है तैसे ही शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से स्वाभाविक होवेगी और तुमको अभिमान न होगा। जैसे कोई पुरुष दूध के निमित्त अहीर के पास बासन लेजाय और उसको दूध दुहने में कुछ विलम्ब हो तो कहे कि वासन यहाँ रक्खा है मैं गृह से कोई कार्य शीघ्र ही कर आऊँ तो यद्यपि वह गृह का कार्य करने लगता है पर उसका मन दूध की ओर ही रहता है कि शीघ्र ही जाऊँ, ऐसा न हो कि वह दुहता हो, तैसे ही तुम्हारी क्रिया प्रारब्धवेग से होगी पर मन आत्मतत्त्व में रहेगा और अहंकार से रहित होगे। जबतक अहंकार फुरता है तबतक परिच्छिन्न अर्थात् तुच्छ जीव है और उसको शरीर मात्र का ज्ञान होता है और अन्तःकरण में जो प्रतिबिम्बित जीव है उसको नखशिखपर्यन्त शरीर का ज्ञान होता है। इसी में आत्मअभिमान होता है और ज्ञान नहीं होता इससे जीव है और विराट् जो आगे तुमसे कहा है सो ईश्वर है; सर्व शरीर और अन्तःकरण का ज्ञाता है; सर्वलिङ्गशरीर का अभिमानी है और सबको अपना आप जानता है। हे रामजी! यद्यपि विश्व रूप है तौ भी अहंकार से तुच्छसा हुआ है। जैसे मेघ से भिन्न हुआ एक बादल कहाता है और घट से घटाकाश कहाता है पर वह बादल भी मेघ है और घटाकाश भी महाकाश है तैसे ही अहं फुरने से परिच्छिन्न हुआ है सो फुरना दृश्य में हुआ है और दृश्य फुरने में हुई है। जैसे फूलों में गन्ध और तिलों में तेल है तैसे ही फुरने में दृश्य है। हे रामजी! आत्मा में बुद्धि आदिक फुरना है कि 'मैं हूँ' जब ऐसे फुरता है तब आगे दृश्य होती है और जब अहंकार होता है तब आगे देह इन्द्रियादिक विश्व रचता है; इससे फुरने में दृश्य हुई और फुरना दृश्य में हुआ। देह, इन्द्रियाँ, मन आदिक जो दृश्य हैं उसमें

अहंप्रत्यय से फुरना हुआ है इसी कारण से इसकी जीवसंज्ञा हुई है; जब फुरना नष्ट हो जावे तब आत्मा का साक्षात्कार हो। यह जन्म, मरण, आना, जाना आदिक विकारसंयुक्त प्रपञ्च भासता है तौ भी मिथ्या है, क्योंकि विचार किये से कुछ नहीं रहता। जैसे केले के थंभे में कुछ सार नहीं तैसे ही विचार किये से प्रपञ्च नहीं रहता और जैसे स्वप्न में जन्म, मरण, आना, जाना देखता है परन्तु मिथ्या है तैसे ही जाग्रत् क्रिया भी सर्व मिथ्या हैं। हे रामजी! जो परावरदर्शी है वह इतनी अवस्थाओं में निर्विकल्प है और जन्मता भी है परन्तु नहीं जन्मता और सब क्रिया करता भी है परन्तु नहीं करता—वह सबको स्वप्नवत् समझता है और स्वरूप से कदाचित् कुछ नहीं हुआ। हे रामजी! ज्ञानी जाग्रत् में भी ऐसे ही देखता है। जब यह आत्मपद में जागता है तब सब विकार का अभाव हो जाता है और कोई विकार नहीं भासता। हे रामजी! जो पुरुष इन्द्रियों के विषय की चिन्तना करता रहता है सो बन्ध है, क्योंकि अभिलाष ही दुःखदायक है। यद्यपि वह राजा हो पर उसके हृदय में अभिलाष है इससे उसे दरिद्री जानो और जिस पुरुष का छादन, भोजन, शयन कष्ट से देखते हो कि भोजन तो भिक्षा से होता है अथवा किसी और यत्न से होता है और छादन भी निर्गुणसा पहिरता है और शयन करने का स्थान भी जैसा तैसा हो पर ज्ञान से सम्पन्न है तो उसको चक्रवर्ती जानो। यथा—

दो०—सात गाँठ कोपीन की, साधु न मानै शङ्क।
राम अमल माता फिरै, गिनै इन्द्र को रङ्क॥

हे रामजी! उसको चक्रवर्ती से भी अधिक जानो। यद्यपि वह आरम्भ क्रिया करता भी दृष्ट आता है पर संकल्प से रहित है तो कुछ नहीं करता; उसका करना, न करना दोनों तुल्य हैं, क्योंकि वह निरभिमान है और शुभकर्मों के करने से स्वर्ग नहीं भोगता और अशुभकर्म से नरक नहीं भोगता—उसको दोनों एक समान हैं। हे रामजी! ज्ञानी अज्ञानी की चेष्टा समान है परन्तु अज्ञानी अहंकारसहित करता है इससे दुःख पाता है। इससे तुम अहंकार का त्याग करो और अपना

की किरणें जलाभास हो भासती हैं, तैसे ही विश्व आत्मा का चमत्कार है और बना कुछ नहीं आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और उसका चमत्कार विश्व होकर स्थित हुआ है। हे रामजी ! जब तुमने ऐसे जाना कि केवल आत्मसत्ता है तब वासना क्षय हो जावेगी और चेष्टा स्वाभाविक होगी। जैसे वृक्ष के पत्र पवन से हिलते हैं तैसे ही शरीर की चेष्टा प्रारब्धवेग से होगी। हे रामजी ! देखनेमात्र तुम्हारे में क्रिया होगी और हृदय में शून्य भासेगा। जैसे यन्त्र की पुतली संवेदन विना तागे से चेष्टा करती है तैसे ही शरीर की चेष्टा प्रारब्ध से स्वाभाविक होवेगी और तुमको अभिमान न होगा। जैसे कोई पुरुष दूध के निमित्त अहीर के पास बासन लेजाय और उसको दूध दुहने में कुछ विलम्ब हो तो कहे कि वासन यहाँ रक्खा है मैं गृह से कोई कार्य शीघ्र ही कर आऊँ तो यद्यपि वह गृह का कार्य करने लगता है पर उसका मन दूध की ओर ही रहता है कि शीघ्र ही जाऊँ, ऐसा न हो कि वह दुहता हो, तैसे ही तुम्हारी क्रिया प्रारब्धवेग से होगी पर मन आत्मतत्त्व में रहेगा और अहंकार से रहित होगे। जबतक अहंकार फुरता है तबतक परिच्छिन्न अर्थात् तुच्छ जीव है और उसको शरीर मात्र का ज्ञान होता है और अन्तःकरण में जो प्रतिबिम्बित जीव है उसको नखशिखपर्यन्त शरीर का ज्ञान होता है। इसी में आत्मअभिमान होता है और ज्ञान नहीं होता इससे जीव है और विराट् जो आगे तुमसे कहा है सो ईश्वर है; सर्व शरीर और अन्तःकरण का ज्ञाता है; सर्वलिङ्गशरीर का अभिमानी है और सबको अपना आप जानता है। हे रामजी ! यद्यपि विश्वरूप है तौ भी अहंकार से तुच्छसा हुआ है। जैसे मेघ से भिन्न हुआ एक बादल कहाता है और घट से घटाकाश कहाता है पर वह बादल भी मेघ है और घटाकाश भी महाकाश है तैसे ही अहं फुरने से परिच्छिन्न हुआ है सो फुरना दृश्य में हुआ है और दृश्य फुरने में हुई है। जैसे फूलों में गन्ध और तिलों में तेल है तैसे ही फुरने में दृश्य है। हे रामजी ! आत्मा में बुद्धि आदिक फुरना है कि 'मैं हूँ' जब ऐसे फुरता है तब आगे दृश्य होती है और जब अहंकार होता है तब आगे देह इन्द्रियादिक विश्व रचता है; इससे फुरने में दृश्य हुई और फुरना दृश्य में हुआ। देह, इन्द्रियाँ, मन आदिक जो दृश्य हैं उसमें

अहंप्रत्यय से फुरना हुआ है इसी कारण से इसकी जीवसंज्ञा हुई है; जब फुरना नष्ट हो जावे तब आत्मा का साक्षात्कार हो। यह जन्म, मरण, आना, जाना आदिक विकारसंयुक्त प्रपञ्च भासता है तौ भी मिथ्या है, क्योंकि विचार किये से कुछ नहीं रहता। जैसे केले के थंभे में कुछ सार नहीं तैसे ही विचार किये से प्रपञ्च नहीं रहता और जैसे स्वप्न में जन्म, मरण, आना, जाना देखता है परन्तु मिथ्या है तैसे ही जाग्रत क्रिया भी सर्व मिथ्या हैं। हे रामजी ! जो परावरदर्शी है वह इतनी अवस्थाओं में निर्विकल्प है और जन्मता भी है परन्तु नहीं जन्मता और सब क्रिया करता भी है परन्तु नहीं करता—वह सबको स्वप्नवत समझता है और स्वरूप से कदाचित् कुछ नहीं हुआ। हे रामजी ! ज्ञानी जाग्रत् में भी ऐसे ही देखता है। जब यह आत्मपद में जागता है तब सब विकार का अभाव हो जाता है और कोई विकार नहीं भासता। हे रामजी ! जो पुरुष इन्द्रियों के विषय की चिन्तना करता रहता है सो बन्ध है, क्योंकि अभिलाष ही दुःखदायक है। यद्यपि वह राजा हो पर उसके हृदय में अभिलाष है इससे उसे दरिद्री जानो और जिस पुरुष का छादन, भोजन, शयन कष्ट से देखते हो कि भोजन तो भिक्षा से होता है अथवा किसी और यत्न से होता है और छादन भी निर्गुणसा पहिरता है और शयन करने का स्थान भी जैसा तैसा हो पर ज्ञान से सम्पन्न है तो उसको चक्रवर्ती जानो। यथा—

दो०—सात गाँठ कोपीन की, साधु न मानै शङ्क।
राम अमल माता फिरै, गिनै इन्द्र को रङ्क॥

हे रामजी ! उसको चक्रवर्ती से भी अधिक जानो। यद्यपि वह आरम्भ क्रिया करता भी दृष्ट आता है पर संकल्प से रहित है तो कुछ नहीं करता; उसका करना, न करना दोनों तुल्य हैं, क्योंकि वह निरभिमान है और शुभकर्मों के करने से स्वर्ग नहीं भोगता और अशुभकर्म से नरक नहीं भोगता—उसको दोनों एक समान हैं। हे रामजी ! ज्ञानी अज्ञानी की चेष्टा समान है परन्तु अज्ञानी अहंकारसहित करता है इससे दुःख पाता है। इससे तुम अहंकार का त्याग करो और अपना

स्वरूप जो चैत्य से रहित चैतन्य है उसमें स्थित हो रहो कि सब संशय मिट जावें। जितने जीव तुमको भासते हैं सो सब संवित् अर्थात् ज्ञानरूप हैं परन्तु बहिर्मुख जो फुरते हैं उससे भ्रम को प्राप्त हुए हैं और जब अन्तर्मुख हो तब केवल शान्तरूप हो जहाँ गुणों और तत्त्वों का क्षोभ नहीं। वह शान्तपद कहाता है। हे रामजी ! जैसे विराट् का मन चन्द्रमा है तैसे ही सब जीवों का है अर्थात् सब विराट्‌रूप हैं परन्तु प्रमाद से वास्तव स्वरूप नहीं भासता। हे रामजी ! जैसे गुलाब की सुगन्ध संपूर्ण वृक्ष में व्यापक है परन्तु फूल ही में भासती है तैसे ही चैतन्य सत्ता सब शरीर में व्यापक है परन्तु हृदय में भासती है जो त्रिकोणरूप निर्मल चक्र है वहीं अहंब्रह्म का उत्थान होता है; वहाँ से वृत्ति फैलकर पञ्च-इन्द्रियों के छिद्र से निकलकर विषय को ग्रहण करती है और उन इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति में राग द्वेष मानता है। इससे हे रामजी! इतना कष्ट प्रमाद से है; जब बोध होता है तब संसारभ्रम मिट जाता है। हे रामजी ! वासनारूप जो संसार है उसका बीज अहंभाव है और वह प्रत्यक्ष संसार में फुरता है। जब इसकी अचिन्तना हो और स्वरूप में अहंप्रत्यय हो तब संसारभ्रम मिट जावे। अहंभाव के शान्त हुए ज्ञानवान् यन्त्र की पुतलीवत् चेष्टा करता है। हे रामजी ! जो पदार्थ सत्य है उसका कदाचित् अभाव नहीं होता और जो असत्य है वह सत्य नहीं होता और यद्यपि होने की भावना कीजिये तौ भी नहीं होता। जैसे अग्नि को जानकर स्पर्श कीजिये तौ भी जलाती है और बिना जाने स्पर्श करिये तौ भी जलाती है, क्योंकि सत्य है और जैसे जल की भावना से मृग मरुस्थल में धावता है परन्तु जल नहीं पाता, क्योंकि असत्य है; तैसे ही हे रामजी ! अहंकार जो फुरता है सो असत्य है; भ्रम से सिद्ध है और विचार से नष्ट हो जावेगा। हे रामजी ! यह अहंकाररूपी कलङ्क उठा है। यदि निरहंकार होकर देखो तो मुक्तरूप हो और यदि अहंकार संयुक्त हो तो बन्ध है। इससे निरहंकार होकर परमनिर्वाण को प्राप्त हो रहो यही हमारा सिद्धान्त है और परमभूमिका भी यही है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शोभता है तैसे ही तुम ब्राह्मी

लक्ष्मी से शोभा पावोगे। हे रामजी ! ज्ञानवान् का चित्त सत्पद को प्राप्त होता है इससे अहंकार नहीं रहता और उसके चित्त की चेष्टा फलदायक नहीं होती। जैसे भूना बीज नहीं उगता तैसे ही उसका जन्म नहीं होता और अज्ञानी का चित्त जन्ममरण का कारण होता है। जैसे कच्चा बीज उगता है तैसे ही अज्ञानी की चेष्टा जन्म देती है। हे रामजी ! जितने पदार्थ हैं उन सबसे निराश हो रहो कि हृदय में किसी की अभिलाषा न फुरे और न किसी का सद्भाव फुरे और पाषाण की नाईं तुम्हारा हृदय हो। हे रामजी ! जिसका हृदय कोमल स्नेहसंयुक्त है वह अज्ञानी है और जिसका हृदय पाषाण समान और स्नेह से रहित है वह ज्ञानी है; इससे निर्मम और निरहंकाररूप होकर स्थित हो रहो। ये भोग मिथ्या हैं—इनकी इच्छा में सुख नहीं। हे रामजी ! जब संसार से उपराम और अन्तर्मुख आत्मपरायण होगे तब अहंकार निवृत्त हो जावेगा और आत्मा ही भासेगा। जैसे वसन्तऋतु आता है तो वृक्ष प्रफुल्लित होते हैं और पुरातन पत्र त्यागकर नूतन हो आते हैं तैसे ही जब तुम अन्तर्मुख होगे तब अहंकार निवृत्त हो जावेगा, विभुता को प्राप्त होगे; अहंप्रत्यय जाती रहेगी और परमनिर्वाण पद पावोगे। इससे एक अहंकार संवेदन का त्याग करो और कोई यत्न न करो। तुमको यही हमारा उपदेश है

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुखेनयोगोपदेशो नाम
शताधिकत्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जो वासनारूपी संसार है उससे तुम भृङ्गीऋषि के सदृश तर जाओ। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! भृङ्गीऋषि किस प्रकार तरे हैं सो कृपा करके कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! भृङ्गीऋषि का वृत्तान्त सुनो, उसने महातीक्ष्ण तप किया था। एक समय मैं आकाश में अपने गृह में था और तुम्हारे पितामह राजा अज ने मेरा आवाहन किया तब मैं राजा अज के निमित्त आकाश से उतरा तो मार्ग में एक वन देखा जिसमें अनेक वन के समूह थे जो भयानक और शून्य थे। वहाँ न कोई मनुष्य दृष्टि आता था और न कोई पशु, केवल महाशून्य वन था—मानो एकान्त ब्रह्मस्थान है—और कई योजनपर्यन्त

मरुस्थल ही दृष्टि आता था। मध्याह्न का समय था और अतितीक्ष्ण धूप पड़ती थी, ऊरुपर्यन्त तपी हुई रेत में मैंने प्रवेश किया और कई वृक्ष वहाँ दग्ध हुए दृष्टि आये। हे रामजी! उस शून्यस्थल में एक अतिदुःखित विदेशी मुझको आता दृष्टि आया और उसने यह वाक्य मुख से निकाला कि हाय हाय! मैंने महाकष्ट पाया है। जैसे किसी को दुष्टजन दुःख देते हैं और दया नहीं करते तैसे ही मुझको धूप और मंज़िल ने जलाया है और मैं अतिदुःख को प्राप्त हुआ हूँ। हे रामजी! ऐसे वचन कहता हुआ वह मेरे साथ चला जाता था। जब कुछ मार्ग आगे गया तो एक धीवरों का गाँव दृष्टि पड़ा जहाँ पाँच अथवा सात गृह थे; उसको देखकर वह शीघ्र चलने लगा कि वहाँ मुझको शान्ति होगी और मैं जलपान करके छाया के नीचे बैठूँगा। हे रामजी! उसको देखकर मुझे दया उपजी तो मैंने कहा कि हे मार्ग के मीत! तू कहाँ जाता है? जिनको सुखदायी जानकर तू धावता है सो दुःखदायक हैं जैसे मरुस्थल को नदी जानकर मृग जलपान के निमित्त धावता है कि शान्ति पाऊँ सो अतिदुःख पाता है तैसे ही जिस स्थान को तू सुखरूप जानता है सो दुःखरूप है। हे अङ्ग! ये जो इस गाँव के वासी हैं उनका संग कदापि न करना। इनका संग दुःखरूप है जो पुरुष विचारपूर्वक चेष्टा करता है उसको दुःख नहीं होता और जो विचारे विना चेष्टा करता है सो दुःख पाता है। ये जो नगरवासी हैं वे आप जलते हैं तो तुझको सुख कैसे देंगे। जैसे कोई पुरुष अग्निकुण्ड में जलता हो और उससे कहिये कि तू मेरी तपन शान्त कर तो कहनेवाला मूढ़ होता है, क्योंकि वह तो आपही जलता है और की तपन कैसे शान्त करेगा; तैसे ही वे तो आप इन्द्रियों के विषय की तृष्णारूपी अग्नि में जलते हैं तुझको कैसे शान्त करेंगे? हे मार्ग के मीत! पृथ्वी के छिद्र में सर्प होना; मरुस्थल का मृग होना और पाषाण की शिला में कीट होकर रहना अङ्गीकार कीजिये; परंतु अज्ञानी का सङ्ग न कीजिये, जिनको इन्द्रियों के सुख की तृष्णा रहती है। इन्द्रियों के सुख कैसे हैं कि आपातरमणीय हैं अर्थात् यह कि जबतक इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग है तबतक सुख है और जब वियोग होता है तब दुःख

होता है। विषयी जनों की प्रीति भी विषवत् है और विचारवती बुद्धिरूपी कमलिनी के नाश करनेवाली बरफ़ है। इनकी संगति में वचनरूपी पवन से राख उड़ती है और पास बैठनेवाले को अन्धकार में डालती है। इससे इन ग्रामवासी अज्ञानियों का संग न करना। ये अज्ञानी विचारवती बुद्धिरूपी सूर्य के आवरण करनेवाले बादल हैं। जैसे बेलि पर अग्नि डालिये तो जलाती है तैसे ही वैराग्य को ग्रहण करनेवाली बुद्धि के नाश करनेवाली इनकी संगति है—इससे इनका संग न करना। हे साधो! संग उसका कर जिसके संग से तेरा ताप मिटे। इनके संग से शान्ति न पावेगा। हे रामजी! इस प्रकार जब मैंने कहा तब वह मेरे निकट आकर बोला; हे भगवन्! तुम कौन हो और तुम्हारा नाम क्या है? तुम्हारे वचन सुनकर मैं शान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। तुम शून्य दृष्टि आते हो; पर सब गुणों से पूर्ण हो और तुम्हारा दिव्य प्रकाश मुझको भासता है। तुम आदिपुरुष विराट् हो और तुम सुन्दर दृष्टि आते हो। हे भगवन्! जो सुन्दर होता है उसको देखकर राग उपजता है और चित्त क्षोभ को भी प्राप्त होता है। तुम ऐसे सुन्दर हो कि तुम्हारे दर्शन से मुझको शान्ति आती जाती है। तुम दिव्य तेज को धारे हुए दृष्टि आते हो और ऐसे तेजवान् हो कि देखने नहीं देते—अर्थ यह है कि तुम्हारे समान किसी की सुन्दरता नहीं और तुम्हारा तेज हृदय में शान्ति उपजाता है और शीतल प्रकाश है। हे भगवन्! तुम धर्म से उन्मत्तवत् दृष्टि आते हो सो तुम कैसी शान्ति को लेकर एकान्त में स्थित हो? अपने स्वरूप प्रकाश को तुम दया करते दृष्टि आते हो और पृथ्वी पर स्थित भी दृष्टि आते हो परन्तु त्रिलोकी के ऊपर विराजमान भासते हो। एकही दृष्टि आते हो, परन्तु सर्वात्मा हो और किंचन-अकिंचन और सब भावपदार्थों से शून्य दृष्टि आते हो पर सब पदार्थ तुम्हारी सत्ता से प्रकाशते हैं। तुम सब पदार्थों के अधिष्ठान हो और तुम्हारे नेत्रों के खोलने से उत्पत्ति होती है और मूँदने से लय हो जाती है; इससे ईश्वर हो। तुम सकलङ्क दृष्टि आते हो परन्तु निष्कलङ्क हो अर्थात् तुम्हारे में फुरना दृष्टि आता है परन्तु हृदय से शून्य हो। तुम किसी अमृत को पान करके

आये हो और बड़े ऐश्वर्य से सम्पन्न दृष्टि आते हो। इससे हे भगवन्! तुम कौन हो? यदि मुझसे पूछो कि तू कौन है तो मैं माण्डव्य ऋषि के कुल में हूँ और मेरा नाम मङ्की है। मैं ब्राह्मण हूँ और तीर्थयात्रा के निमित्त निकला था। मैं सब दिशाओं में भ्रमा और अति भयानक स्थानों में जो तीर्थ हैं वहाँ भी गया परन्तु मुझको शान्ति न हुई। ऐसी शान्ति कहीं न पाई कि इन्द्रियों की जलन से रहित हो रहूँ—अब मैं अपने गृह को चला हूँ। हे भगवन्! अब गृह से भी मेरा चित्त विरक्त हुआ है कि यह संसार ही मिथ्या है तो गृह किसका है? संसार में सुख कहीं नहीं। यह प्राण ऐसे हैं जैसा दामिनी का चमत्कार होता है और तैसे ही यह संसार भी नष्ट होता दृष्टि आता है। शरीर उपजते भी हैं और मिट भी जाते हैं—दृष्टिमात्र हैं। जैसे रात्रि आती है और फिर नहीं जान पड़ती कि कहाँ गई। हे भगवन्! इस संसार को असार जानकर मैं उदासीन हुआ हूँ क्योंकि अनेक जन्म पाये हैं सो नष्ट हो गये हैं और इसी प्रकार भ्रमता फिरता हूँ। अब तुम्हारी शरणागत हूँ और जानता हूँ कि तुमसे मेरा कल्याण होगा। तुम कल्याणरूप दृष्टि आते हो इससे कृपा करके कहो कि कौन हो? हे रामजी! इतना सुन मैंने कहा; हे मङ्कीऋषि! मैं वशिष्ठ ब्राह्मण हूँ और मेरा गृह आकाश में है। मुझको राजा अज ने स्मरण किया है इसलिये मैं इस मार्ग से जाता हूँ। अब तुम संशय मत करो ज्ञानमार्ग को पावोगे। हे रामजी! जब मैंने ऐसे कहा तब वह मेरे चरणों पर गिर पड़ा और उसके नेत्रों से जल चलने लगा; और महा-आनन्द को प्राप्त हुआ। तब मैंने कहा कि हे ऋषे! तू संशय मत कर। मैं तुझको अकृत्रिम शान्ति को प्राप्त करके जाऊँगा। जो कुछ तू पूछा चाहता है सो पूछ; मैं तुझको उपदेश करूँगा और मैं जानता हूँ कि तू कल्याणकृत है इसलिये जो कुछ मैं कहूँगा सो तू धारेगा। तू कुछ प्रश्न कर, क्योंकि तेरे कषाय परिपक्क हुए हैं। और तू मेरे वचनों का अधिकारी है तुझको मैं उपदेश करूँगा। अब तू संसार के तट को प्राप्त हुआ है और अब तुझको निकालने का विलम्ब है अर्थात् तू वैराग्य से पूर्ण है और संसार का तट वैराग्य ही है; इससे संशय मत कर।

इति श्रीयोग॰ निर्वाण॰ शताधिकचतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥१४४॥

मङ्की बोले, हे भगवन्! अब मैं जानता हूँ कि मेरा कार्य सिद्ध हुआ है। मुझको अज्ञान से मोह था उसके नाश करने को तुम समर्थ दृष्टि आते हो और मेरे हृदय के तम नाश करने को तुम सूर्य उदय हुए हो। हे भगवन्! यह संसार असार है पर लोगों की बुद्धि विषयों की ओर ही धावती है जहाँ दुःख ही होते हैं। जैसे जल नीचे स्थान को चला जाता है तैसे ही हमारी बुद्धि नीचे स्थानों में धावती है और वही चाहती है। हे भगवन्! जितने भोग हैं उनको मैंने भोगा है परन्तु शान्ति न पाई, बल्कि उलटी तृष्णा बढ़ती गई। जैसे तृषा लगे और खारा जलपान करिये तो तृषा नहीं मिटती, बल्कि बढ़ती ही जाती है; तैसे ही विषयों के भोगने से शान्ति नहीं प्राप्त होती—तृष्णा बढ़ती जाती है। हे मुनिराय! देह जर्जरीभाव हो जाती है दाँत गिर पड़ते हैं और अतिक्षोभ होता है तौ भी तृष्णा नहीं मिटती; इससे अब मैं दुःख चाहता हूँ, सुख नहीं चाहता, क्योंकि संसार के जितने सुख हैं उनका परिणाम दुःख है। जो प्रथम दुःख हैं उनका परिणाम सुख है इसी से दुःख चाहता हूँ और संसार के सुख नहीं चाहता। हे भगवन्! अपनी वासना ही दुःखदायक है। जैसे कुसवारी घर बनाकर उसमें आपही फँस मरती है तैसे ही अपनी वासना से जीव आपही बन्धायमान होता है। हे मुने! वह कौन काल था जब अज्ञानरूपी हाथी ने मुझको वश किया था और उसका नाश करनेवाला ज्ञानरूपी सिंह कब प्रकट होगा? कर्मरूपी तृणों का नाशकर्ता विवेकरूपी वसन्त कब प्रकटेगा और वासनारूपी अँधेरी रात्रि का नाशकर्ता ज्ञानरूपी सूर्य कब उदय होगा? हे भगवन्! वैताल तबतक भासता है जबतक निशा है और जब सूर्य उदय होता है तब निशा जाती रहती है और वैताल नहीं भासता तैसे ही अहंकाररूपी वैताल तबतक है जबतक अज्ञानरूपी रात्रि दूर नहीं हुई। हे भगवन्! जब सन्तजनों के उपदेश से आत्मज्ञानरूपी सूर्य प्रकट होता है तब अहंकाररूपी वैताल वहाँ नहीं बिचरता। सन्तजनों का संग और सत्शास्त्रों का देखना चाँदनी रात्रिवत् है; उनसे जब स्वरूप का साक्षात्कार हो तब दिन हुआ जानिये और जब तक सन्तजनों का

संग न करे और सत्शास्त्रों को न देखे तबतक अँधेरी रात्रि है। हे भगवन् ! जो सत्शास्त्रों को भी सुने और फिर विषयों की ओर भी गिरे उसे बड़ा अभागी जानिये सो मैं हूँ; परन्तु अब मैं तुम्हारी शरण आया हूँ मेरे हृदयरूपी आकाश में जो अज्ञानरूपी कुहिरा है सो तुम्हारे वचनरूपी शरत्काल से नष्ट हो जावेगा और हृदयाकाश निर्मल होगा। हे भगवन् ! मैंने त्रिदण्ड साधे हैं अर्थात् मन, शरीर और वाणी से तीन तप दीर्घ कालपर्यन्त किये हैं परन्तु आत्मप्रकाश नहीं हुआ। अब मैं तुम्हारी शरणागत होके तरूँगा इसलिये कृपा करके उपदेश करो कि मेरे हृदय का तम दूर हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मङ्किवैराग्ययोगो नाम
शताधिकपञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४५ ॥

वशिष्ठजी ने कहा, हे तात ! संवेदन, भावना, वासना और कलना ये अनर्थ के कारण हैं। जब इनका अभाव हो तब कल्याण हो। शुद्ध चिन्मात्रपद प्रत्यक्ष चैतन्य अपने आप में स्थित है। जो अहंकार का उत्थान है सोही संवेदन है। भाव यह है कि पहले आप कुछ बना फिर चेता और अपना आप चित्त स्मरण हुआ तब भ्रम मिट जाता है और जो कुछ बना उसकी भावना होती है कि मैं यह हूँ तो इससे संसार दृढ़ होता है फिर तैसे ही वासना दृढ़ होती है और अपने शरीर के अनुसार नाना प्रकार की कलना होती हैं और फिर संसार के संकल्प विकल्प उठते हैं। हे ब्राह्मण ! ये अनर्थ के कारण हैं। जब इनका अभाव हो तब कल्याण हो। जितने शब्द अर्थ हैं उनका अधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्य है; सर्व शब्द उसी के आश्रित हैं और सर्व वही है, जब तू ऐसे जानेगा तब वासना क्षय हो जावेगी। जब अहंसंवेदन फुरती है तब आगे संसार भासता है। जैसे जब वसन्त ऋतु आती है तब बेलें प्रफुल्लित होती हैं तैसे ही जब संवेदन फुरती है तब आगे संसार सिद्ध होता है और जब संसार हुआ तब नाना प्रकार की वासना फुरती हैं और संसार नहीं मिटता। हे अङ्ग ! संसार इसी का नाम है कि संसरता है। जब संसरना मिटे तब आत्मपद ही शेष रहेगा

सो तेरा अपना आप है इससे इस फुरने को त्यागकर अपने आप में स्थित हो रह—सब तेरा ही रूप है। जबतक वासना फुरती है तबतक संसार दृढ़ रहता है। जैसे वृक्ष को जल दीजिये तो बढ़ता जाता है तैसे ही वासनारूपी जल देने से संसाररूपी वृक्ष वृद्ध हो जाता है। इससे वासना का नाश करो कि यह संवेदन न फुरे। जब जल से रहित होता है तब आपही सूख जाता है। हे पुत्र ! आत्मा में जगत् कुछ हुआ नहीं केवल परमार्थसत्ता है। जैसे रस्सी में सर्प कुछ वस्तु नहीं रस्सी के अज्ञान से ही भासता है तैसे ही आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है। जब तू आत्मपद को जानेगा तब परमार्थसत्ता ही भासेगी। जैसे बालक अपनी परछाहीं में भूत कल्प कर भय पाता है और जब विचारकर देखता है तब भूत कोई नहीं सब भय दूर हो जाता है; तैसे ही आत्मा के अज्ञान से संसार के रागद्वेष जलाते हैं। ज्ञानवान् को वासनासंयुक्त संसार का अभाव हो जाता है और केवल अद्वैत आत्मसत्ता ही भासती है जैसे स्वप्न से जागकर स्वप्न के प्रपञ्च का वासना संयुक्त अभाव होजाता है; तैसे ही जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब वासना संयुक्त संसार का अभाव हो जाता है, क्योंकि है नहीं। जैसे घटादिक में मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही सब प्रपञ्च चिन्मात्रस्वरूप है कुछ भिन्न नहीं। जितने शब्द अर्थ हैं सब आत्मा ही हैं। हे मित्र ! जो कुछ आत्मा से इतर भासता है उसको भ्रममात्र जानो। जैसे आकाश में नीलता भासती है सो भ्रममात्र है तैसे ही विश्व असम्यक्दृष्टि से भासता है और सम्यक्दृष्टि से सब प्रपञ्च आत्मस्वरूप हैं और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—त्रिपुटी भी बोधस्वरूप हैं। बोध ही त्रिपुटीरूप होकर स्थित होता है। जैसे स्वप्न में एक ही अनुभव त्रिपुटीरूप हो भासता है तैसे ही यह जाग्रत् की त्रिपुटी भी आत्मस्वरूप है। हे अङ्ग ! जितने स्थावर-जंगम पदार्थ हैं सो सर्व आत्मस्वरूप हैं—जो परमात्मस्वरूप न हों तो भासें नहीं। द्रष्टारूप जो अनुभव करता है सो एक अद्वैतरूप है—उसी स्वरूप के प्रमाद से भिन्न भिन्न त्रिपुटी भासती है तो भी कुछ भिन्न नहीं। जैसे स्वप्न में त्रिपुटी अपने अनुभव से भासती है; जो अनु-

भव न हो तो क्यों भासे ? तैसे ही यह त्रिपुटी भी अनुभव आत्मा से भासती है। इससे सर्व परमात्मस्वरूप है कुछ भिन्न नहीं और जो भिन्न नहीं तो है ही नहीं क्योंकि सबकी एकता परमार्थस्वरूप में होती है। हे ऋषीश्वर ! सजातीय वस्तु मिल जाती है। जैसे जल में जल की बुन्द डालिये तो मिल जाती है, क्योंकि एक रूप है; तैसे ही बोध से सब पदार्थों की एकता भासती है, क्योंकि द्वैतसत्ता नहीं है। जैसे स्पन्द और निस्पन्द दोनों पवन ही हैं और जल और तरङ्ग अभेदरूप हैं तैसे ही विश्व परमार्थस्वरूप है। इससे ऐसे निश्चय करो कि सब ब्रह्मस्वरूप है अथवा आपको उठा दो कि मैं नहीं—जब तू न होगा तब विश्व कहाँ से होगा। हे मङ्कीऋषि ! प्रथम जो अहं होता है तो पीछे ममत्व भी होता है; इसलिये जो अहं ही न रहेगा तो ममत्व कहाँ रहेगा ? इस अहं का होना ही बन्धन है और इसके अभाव का नाम मुक्ति है। हे मित्र ! इस युक्ति में क्या यत्न है ? यह तो अपने आधीन है कि मैं नहीं जब अहंकार को निवृत्त किया तब शेष वही रहेगा जो सब का परमार्थरूप है और उसी को ब्रह्म कहते हैं। हे मुनीश्वर ! जब अहंकार फुरता है तब नाना प्रकार की वासना होती है और उन वासनाओं के अनुसार अनेक जन्म पाता है जो वर्णन नहीं किये जाते। जैसे पवन से तृण भटकते फिरते हैं तैसे ही वासना करके जीव भटकते फिरते हैं। जब पर्वत से कंकड़ गिरता है तब चोटें खाता नीचे को चला जाता है तैसे ही स्वरूप के प्रमाद से जीव जन्म जन्मान्तर पाते चले जाते हैं और वासनानुसार घटीयन्त्र की नाईं कभी ऊर्ध्व और कभी अधः को जाते हैं। जैसे हाथ से ताड़ना किया गेंद कभी ऊर्ध्व और कभी अधः को जाता है। हे अङ्ग ! इस संसार का बीज वासना है। जब वासना निवृत्त हो तब सबकी एकता हो जाती है और जबतक संसार की वासना दृढ़ है तब तक एकता नहीं होती। जैसे दूध और जल मिलता है तो उनका संयोग हो जाता है तैसे ही आत्मा और विश्व का संयोग नहीं—आत्मा केवल अद्वैत और सबका अपना आप है। जैसे मृत्तिका ही घटादिकरूप हो भासती है तैसे ही आत्मसत्ता ही जगत्‌रूप

हो भासती है—इससे आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। हे साधो ! आत्मा और दृश्य का काष्ठ और लाखवत् अथवा घट और आकाशवत् कुछ संयोग नहीं क्योंकि आत्मा अद्वैत है और सर्वदृश्य बोधमात्र है। हे साधो ! जो जड़ है सो चैतन्य नहीं होता और चैतन्य जड़ नहीं होता इससे न कोई जड़ है, न चैतन्य है; चैतन्य आत्मा ही भावना से जड़ दृश्य हो भासता है और उसके बोध से एक अद्वैतरूप हो जाता है तो जानता है कि सब वही है भिन्न कुछ नहीं। हे मित्र ! अज्ञान से नाना प्रकार का विश्व भासता है। जैसे मेघ की वर्षा से नाना प्रकार के बीज प्रफुल्लित हो आते हैं तैसे ही अहंरूपी बीज से संसाररूपी वृक्ष वासना द्वारा प्रफुल्लित होता है। जब अहंकाररूपी बीज नष्ट हो तब संसाररूपी वृक्ष भी नष्ट हो जावेगा। हे अङ्ग ! जैसे वानर चपलता करता है तैसे ही आत्मतत्त्व से विमुख अहंकाररूपी वानर वासना से चपलता करता है। जैसे गेंद हाथ के प्रहार से अधः और ऊर्ध्व को उछलता है तैसे ही जीव वासना से जन्मान्तरों में भटकता फिरता है और कभी स्वर्ग, कभी पाताल और कभी भूलोक में आता है स्थिर कदाचित् नहीं होता। इससे वासना को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो रहो। हे तात ! यह संसार रात्रि की मंजिल है देखते देखते नष्ट हो जाती है इसको देखकर इसमें प्रीति करनी और सत्य जानना ही अनर्थ है। इससे संसार को त्याग करके आत्मपद में स्थित हो रहो। चित्त की वृत्ति जो संसरती है इसी का नाम संसार है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मङ्किऋषिप्रबोधो नाम
शताधिकषट्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे तात ! यह संसार का मार्ग गहन है और इसमें जीव भटकते हैं। यह चैतन्यवृत्ति जो संसरती है यही संसार है। जब यह संसरना मिटे तब स्वच्छ अपना आप ही (स्वरूप) भासे। चेतनावृत्ति जो बहिर्मुख फुरती है इसी का नाम बन्धन है; और कोई बन्धन नहीं। हे साधो ! यह जगत् वासना से बँधा है। जैसे वसन्त ऋतु में रस फैलता है तैसे ही वासना से जगत् फैलता है। बड़ा आश्चर्य है कि मिथ्या वासना से जीव भटकते फिरते हैं; दुःख भोगते हैं और बारम्बार जन्म-

मृत्यु पाते हैं। बड़ा आश्चर्य है कि विषमरूप वासना के वश हुए जीव अविद्यमान जगत् को भ्रम से सत्य जानते हैं। हे साधो! जो इस वासनारूप संसार से तर गये हैं वे धन्य हैं और वे प्रत्यक्ष चन्द्रमा की नाईं हैं। जैसे चन्द्रमा अमृतरूप, शीतल और प्रकाशवान् है और सबको प्रसन्न करता है; तैसे ही ज्ञानी पुरुष है। इससे तू धन्य है जो आत्मपद की इच्छा हुई है। हे अङ्ग! यह संसार तृष्णा से जलता है। जिनकी चेष्टा तृष्णासंयुक्त है उनको तू बिलाव जान। जैसे बिलाव तृष्णा से चूहे को ग्रहण करता है तैसे ही वे भी तृष्णासंयुक्त चेष्टा करते हैं। मनुष्यशरीर में यही विशेषता है कि किसी प्रकार आत्मपद को प्राप्त हो। जो नरदेह पाकर भी आत्मपद पाने की इच्छा न करे तो वह पशुसमान है। हे मित्र! मूढ़ जीव ऐसी चेष्टा करते हैं कि प्राणों के अन्तपर्यन्त भी तृष्णा करते रहते हैं। हे अङ्ग! ब्रह्मलोक से काष्ठपर्यन्त जितने इन्द्रियों के विषय हैं उनके भोगने से शान्ति नहीं होती, क्योंकि आपातरमणीय हैं—इनमें सुख कदाचित् नहीं—जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनकी शान्ति ऐसी है जैसे चन्द्रमा में, और वे सूर्य की नाईं प्रकाशते हैं विषयों की तृष्णा कदाचित् नहीं करते। जैसे कोई पुरुष अमृतपान करके तृप्त हुआ हो तो वह खली खाने की इच्छा नहीं करता, तैसे ही जिस पुरुष को आत्मानन्द प्राप्त होता है वह विषयों के भोगने की इच्छा नहीं करता। इससे इसी वासना का त्याग करो। वासना का बीज अहंकार है उसको निवृत्त करो कि 'मैं नहीं' क्योंकि मेरा होना ही अनर्थ है। हे साधो! शुद्ध चिन्मात्र निरहंकारपद में जो कुछ तू आपको परिच्छिन्न जानता है कि 'मैं ब्राह्मण हूँ' अथवा किसी प्रकृति से मिलकर आपको मानता है कि 'मैं यह हूँ' यही अनर्थ है। हे ऋषे! नेत्रों के खोलने से संसार उत्पन्न होता है और नेत्रों के मूँदने से नष्ट हो जाता है; सो नेत्र अहंकार का फुरना है; इसी से आगे विश्व सिद्ध होता है। इससे तेरा होना ही अनर्थ है। हे अङ्ग! जैसे रस्सी में सर्प भ्रममात्र उदय होता है तैसे ही आत्मा में अहंकार उदय हुआ है। इसी के अभाव से शान्ति होती है जब अहंकार होता है तब आगे स्त्री, कुटुम्ब और धन होते हैं सो ही बन्धन हैं। इनके चमत्कार ऐसे हैं जैसे दामिनी का चमत्कार क्षण में उदय होकर नष्ट हो जाता है; इससे इनमें बन्धवान् न होना चाहिये। हे अङ्ग! जब तू कुछ बना तब सब आपदा तुझे प्राप्त होंगी और यदि तू अपना अभाव जानेगा तो पीछे आत्मपद ही शेष रहेगा जो परमशान्तरूप है और जिसकी अपेक्षा से चन्द्रमा भी अग्निवत् जान पड़ता है। यह परमशून्य और सब पदार्थों की सत्ता और आकाशरूप है। हे मित्र! मेरे इन वचनों को धारण कर कि तेरा मोह नष्ट हो जाय। यह विश्व कुछ हुआ नहीं। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है पर है नहीं तैसे ही विश्व नहीं, आत्मा के प्रमाद से भासता है। हे ऋषे! तू उसी को जान जिसके अज्ञान से विश्व भासता है और जिसके ज्ञान से लय हो जाता है। हे मङ्की! जैसे आकाश शून्यमात्र है; पवन स्पन्दमात्र है और जल तरङ्गमात्र है तैसे ही जगत् संवित्मात्र है उस संवित् आकाश से जो भिन्न भासता है उसे भ्रममात्र जानो। जैसे असम्यक्दृष्टि से जल पहाड़रूप भासता है तैसे ही असम्यक्दृष्टि से जगत् भासता है और सम्यक् अवलोकन से परमार्थसत्ता ही भासती है। जिसके अज्ञान से विश्व भासता है उसको ही ज्ञानवान् ब्रह्म कहते हैं। उस ब्रह्म में अहंकार ही व्यवधान है सो ज्ञानवान् का नष्ट भया है इससे वह सबका अधिष्ठान एक परमार्थस्वरूप देखता है उसी में तू भी एक हो रह। जैसे आकाश अनेक घट के संयोग से भिन्न भिन्न भासता है और घट को फोड़िये तो सब एक ही हो जाता है तैसे ही अहंकाररूपी घट फोड़िये तो सब पदार्थ एक हो जाते हैं। हे अङ्ग! सबकी परमार्थसत्ता एक ब्रह्मपद है जो अजन्मा, अच्युत, आनन्द, शान्तरूप, निर्विकल्प, अद्वैत, सब का अधिष्ठान है; उस शिलावत् आत्मसत्ता से भिन्न कुछ न फुरे; इससे निर्बोध बोध हो जावो। हे मङ्की ऋषि! ये जो पदार्थ दुःख के देनेवाले हैं और ऐसे जो शब्द अर्थ हैं सो आकाश के फूल हैं; इससे शोक मत कर; क्योंकि सब परमार्थसत्ता ही है। जैसे पुरुष निराकार है पर उसकी भावना से अङ्गों का संयोग होता है तैसे ही विश्व भी इसकी भावना से होता है। जैसी संसार की भावना दृढ़ होती है तैसा ही रूप आगे

दृष्टि आता है। जो विश्व उपादान से नहीं हुआ तो आरम्भ परिणाम से भी कुछ नहीं बना। हे मित्र! शुद्ध परमात्मा का पाना साध्य है, क्योंकि विश्व निरुपादान है सो शब्दमात्र है। आत्मा अद्वैत है सो इसका हेतु नहीं है और अचिन्त्य है इसी से विश्व निरुपादान स्वप्नवत् हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि निरुपादान होती है तैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी है। जैसे मृत्तिका से घटकार्य बनता है आत्मा विश्व का उपादान ऐसे भी नहीं, क्योंकि मृत्तिका परिणाम से घटाकार होती है और आत्मा अच्युत है। जैसे भीत विना चित्र हो सो है ही नहीं—इससे यह विश्व आकाश में चित्र है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार का विश्व आधार भीत विना चित्र होते हैं तैसे ही यह विश्व भी आकाश में चित्र हुआ है। इसी से आत्मा अकर्ता है और विश्व जो दृष्टि आता है सो निरुपादान है इसका शोक और हर्ष क्यों करें? यह प्रपञ्च सब आत्मरूप है प्रमाद से नहीं जाना जाता। हे साधो! संवेदन से जो अहंकार फुरता है तब विश्व भासता है। जैसे स्वप्न में जो कुछ बनता है सो अपने स्वरूप से भिन्न देखता है और उसी में रागद्वेष भासते हैं पर जागे हुए और कुछ नहीं सब कल्पना ही थी, तैसे ही जब संवेदन उठ गया तब सब विश्व अपना आप हो जाता है। अहंकार होना ही विश्व है; जब अहंकार नष्ट हो तब सब शब्द अर्थ कि मैं दुःखी हूँ; मैं सुखी हूँ; यह नरक है; यह स्वर्ग है इत्यादिक परमार्थसत्ता ही में फुरते हैं। सबका अधिष्ठान आत्मा है इससे सब आत्मस्वरूप है जो दृश्य से रहित द्रष्टा है, ज्ञेय से रहित ज्ञाता है और निर्बोध बोध है; इच्छा से रहित इच्छा है; अद्वैत है और नानात्व भी वही है; निराकार है और आकार भी वही है; अकिञ्चन और किञ्चन भी वही है और अक्रिय है और सब क्रिया भी वही करता है। ऐसे आत्मज्ञान को पाकर आत्मवेत्ता बिचरते हैं और जगत् का भान उनको किंचित् भी नहीं होता। जैसे सुवर्ण के भूषण जल के तरङ्ग होते हैं तैसे ही सब विश्व उसको आत्मस्वरूप भासता है। ऐसे जानकर वे सब चेष्टा करते हैं। जैसे यन्त्र की पुतली में संवेदना नहीं फुरती तैसे ही उनको जगत् में सत्यता नहीं फुरती, क्योंकि वे निरहंकार हुए हैं। हे मंकी ऋषि! जैसे सुवर्ण में भूषण बन आये हैं तैसे ही आत्मा में विश्व फुर आया है सो अहंकार फुरा है; इससे इसके अभाव की भावना करो और निरहंकार होकर चेष्टा करो। जैसे पालने में बालक के अङ्ग स्वाभाविक हिलते हैं तैसे ही ज्ञानी की निर्वेदन चेष्टा होती है। हे ऋषे! जब तू इस मेरे उपदेश को धारेगा तब सुख से ही आत्मपद की प्राप्ति होगी और यह विश्व भी आत्मस्वरूप ही भासेगा। जो कुछ विश्व भासता है सो सब आत्मरूप ही है। हे रामजी! जब मैंने इस प्रकार कहा तब मङ्की ऋषि परमनिर्वाणपद को प्राप्त हुआ और परमसमाधि में एक वर्ष स्थित रहा—शिलावत् कुछ न फुरा। हे रामजी! जैसे मङ्की ऋषि स्वरूप को प्राप्त हुआ है तैसे ही तुम भी स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मङ्किऋषिनिर्वाणप्राप्तिर्नाम
शताधिकसप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः॥ १४७॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह विश्व आत्मा का चमत्कार है और सब वही चिन्मात्रस्वरूप है। हे रामजी! मेरा आशीर्वाद है कि तुम चिन्मात्रस्वरूप को प्राप्त हो रहो और जो तुम्हारा अपना आप है उसको अपना आप जानो कि तुम्हारे दुःख नष्ट हो जावें। हे रामजी! तुम निर्वाण शान्त आत्मा हो रहो; यथालाभ में सन्तुष्ट रहो, सत्य हुए भी असत्य की नाईं स्थित हो रहो और रागद्वेष का रङ्ग तुमको स्पर्श न करे। हे रामजी! यह सब जगत् एक ही स्थित है और वास्तव में एक में कुछ स्थित नहीं—आदि अन्त से रहित एक चिदाकाश अपने आपमें स्थित है और शरीरादिक के नाश में भी अखण्डरूप है उसी का यह जगत् चमत्कार है जो उपज उपजकर लय हो जाता है। हे रामजी! ध्याता, ध्यान, ध्येय त्रिपुटी भ्रान्तिमात्र है और वास्तव में द्रष्टा, दर्शन, दृश्य सब आत्मस्वरूप हैं; उससे भिन्न कुछ नहीं और सदा एकरस है कदाचित् क्षोभ को नहीं प्राप्त होता। यद्यपि यह दशा हो कि अमावस का चन्द्रमा दृष्टि आवे और प्रलयकाल विना प्रलयकाल की वायु चले तौ भी आत्मा को क्षोभ नहीं होता—आत्मपद सदा ज्यों का त्यों है। हे

रामजी! ऐसे आत्मा के प्रमाद से जीव दुःख पाते हैं। जब आत्मा का प्रमाद होता है तब देह और इन्द्रियाँ अपने आपमें प्रत्यक्ष भासती हैं पर जैसे बालू से तेल नहीं निकलता; आकाश में वन नहीं होता और चन्द्रमा के मण्डल में ताप नहीं होता तैसे ही आत्मा में देह इन्द्रियाँ कदाचित् नहीं। हे रामजी! ये सब जीव आत्मरूप हैं, इससे इनको देह इन्द्रियों का सम्बन्ध कुछ नहीं; परन्तु इनको जो क्रिया में अभिमान होता है इसी से बन्धवान् होते हैं। हे रामजी! जैसे नाव पर बैठे हुए पुरुष को भ्रान्ति से नदीतट के वृक्ष चलते भासते हैं तैसे ही मन के भ्रम से आत्मा में चित्त और देह इन्द्रियाँ भासती हैं। वास्तव में चित्त, देह और इन्द्रियाँ कुछ भिन्न वस्तु नहीं। ये भी आत्मस्वरूप ही हैं तो निषेध किसका कीजिये? हे रामजी! मन और इन्द्रियादिक को अपनी सत्ता कुछ नहीं भ्रान्ति से भासती हैं। जैसे पर्वत पर उज्ज्वल मेघ होता है और उसमें वस्त्रबुद्धि निष्फल होती है तैसे ही देहादिक हैं; इनमें अहंबुद्धि निष्फल है। इससे हे रामजी! एक अखण्ड आत्मतत्त्व है और द्वैत कुछ नहीं जब तुम ऐसे धारो तो निरञ्जन स्वरूप हो। हे रामजी! ये सब शरीर चित्त के फुरने से स्थित हैं जैसे चित्त के फुरने से शरीर है तैसे ही जीव में चित्त है और परमात्मा में जीव है। हे रामजी! इस प्रकार फुरनेमात्र दृश्य हुआ तो द्वैत तो कुछ न हुआ? इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यभ्रम को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो। हे रामजी! ऐसी धारणा करके सुख से बिचरो और जो कुछ चेष्टा नीति से प्राप्त हो उसको करो परन्तु अपना अभिमान न हो। जब अपना अहंभाव दूर होगा तब स्पन्द हो अथवा निस्पन्द हो, समाधि में स्थित हो अथवा राज्य करो तुमको दोनों तुल्य हो जावेंगे। जब अपनी अभिलाषा दूर होती है तब जैसी चेष्टा प्राप्त हो तैसा ही हो वह फुरना भी अफुर है और एक अद्वैत सत्ता ही भान होगी। जैसे सम्यक्दर्शी को तरङ्ग और सोमजल एक भासता है तैसे ही तुमको भी एक ही भासेगा। चाहे जीवन्मुक्त हो रहो अथवा विदेहमुक्त हो; समाधि हो अथवा राज्य हो तुमको दोनों तुल्य हैं। रघुकुल आकाश के चन्द्रमा रामचन्द्रजी! जीव को अपनी अभिलाषा

ही बन्धन करती है जब अभिलाषा मिटती है तब कर्म करो अथवा न करो कुछ बन्धन नहीं, क्योंकि करने में भी आत्मा को अक्रिय देखता है और न करने में भी वैसे ही देखता है और उसकी द्वैतभावना निवृत्त हो जाती है इससे उसको चित्त, देह, इन्द्रियादिक सब पदार्थ आत्मरूप ही भासते हैं। हे रामजी! मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदय का मोह निवृत्त हुआ है अब तुम जागे हो। यदि कुछ तुमको संशय रहा हो तो फिर प्रश्न करो कि मैं उत्तर दूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुखेन योगोपदेशो नाम
शताधिकाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४८ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! एक संशय मुझको और है उसको भी आप निवृत्त कीजिये। कोई कहते हैं कि बीज से अंकुर होता है और कोई कहते हैं कि अंकुर से बीज होता है; कोई कहते हैं कि जो कुछ करता है सो दैव ही करता है और कोई कहते हैं कि कर्म करते हैं तब जन्म पाते हैं और कर्म ही से सब कुछ होता है किसी के अधीन नहीं, कोई कहते हैं कि जब देह होती है तब कर्म करते हैं और कोई कहते हैं कि कर्मों से देह होती है; बाजे कहते हैं कि देह से कर्म होते हैं और कोई पुरुषप्रयत्न मानते हैं सो यह जैसे है तैसे तुम कहो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक एक मैं तुमको क्या कहूँ; कर्म से दैव और घट से आकाश पर्यन्त जितने क्रिया, कर्म और द्रव्य हैं, ये सब विकल्पजाल भ्रान्तिमात्र हैं केवल आत्मस्वरूप अपने आपमें स्थित है—द्वैत कुछ नहीं हुआ। हे रामजी! जब संवेदन फुरता है तब सब कुछ भासता है और निःसंवेदन हुए कुछ नहीं। जैसे शीत, श्वेत आदिक बरफ़ के पर्याय हैं तैसे ही कर्म, पुरुषप्रयत्न आदि सब आत्मा के पर्याय हैं। दैव पुरुष है और पुरुष दैव है; कर्म देह है और देह कर्म है; बीज अंकुर है और अंकुर बीज है; दैव कर्म है और कर्म दैव है और वही पुरुषप्रयत्न है; जो इनमें भेद मानते हैं वे पण्डितों में पशु हैं क्योंकि उनका बीज अहंकार है—जब अहंकार हुआ तब सब कुछ सिद्ध हुआ। जैसे बीज से वृक्ष, फल, फूल और डाल होते हैं पर जो बीज ही न हो तो वृक्ष कैसे उपजे। हे रामजी! इनका बीज

संवेदन है। अहंकार, संकल्प और संवेदन तीनों पर्याय हैं। जब फुरना हुआ तब कर्म, देह, दैव सब सिद्ध होते हैं और जब फुरना मिट गया तब कुछ नहीं भासता। इसी को ज्ञान अग्नि से जलाओ कि फूल, फल, टहनी सब जल जावें। यह जो संवेदन फुरता है कि 'मैं हूँ' यही संसार बीज है, इसे ज्ञानरूपी अग्नि से जलाओ। जब अहंकार नष्ट होगा तब द्वैत कुछ न भासेगा। हे रामजी! यह जो प्रपञ्च भासता है उसका बीज संवेदन है और संवेदन का बीज शुद्ध संवित्तत्त्व है पर उसका बीज और कोई नहीं। हे रामजी! आदि जो स्पन्द संवेदन फुरना हुआ है उसी का नाम दैव है, क्योंकि वह कर्म से आदि ही फुरता है; फिर जो आगे क्रिया होती है सो कर्म है और इसी का नाम पुरुषप्रयत्न है। वह जो कर्म से आदि दैवरूप फुरा है सो क्या रूप है? इसी का जो पहिला कर्म है उसी को दैव कहते हैं। इन सबका बीज संवेदन है। हे रामजी! वह स्वतःपुरुष चिन्मात्रपद एक ही था; जब उससे विकारसंयुक्त उत्थान हुआ तब प्रपञ्च भासने लगा और फिर जब उत्थान का अभाव हो तब प्रपञ्च का भी अभाव हो जावे। हे रामजी! जब जीव कुछ बनता है तब सर्व आपदा उसको प्राप्त होती हैं। जैसे सुई वस्त्र में प्रवेश करती है तो उसके पीछे तागा भी चला जाता है और जो सुई प्रवेश न करे तो तागा कहाँ से जावे; तैसे ही जब अहंकार प्रवेश करता है तब सब आपदा भी आती हैं और जब अहंकार निवृत्त हो तब सब विश्व आनन्दरूप और अपना आप भासता है। इससे अहंकार का अभाव करो, क्योंकि विश्व भ्रान्ति से सिद्ध है, आगे कुछ हुआ नहीं; सर्व आत्मस्वरूप है। हे रामजी! विश्व वासनामात्र है; जब वासना नष्ट हो तब परमकल्याण है। जिस प्रकार वासना क्षय हो वही युक्ति श्रेष्ठ है। जब युक्ति से वासना क्षय होगी तब चेष्टा भी होगी परन्तु फिर जन्म न देगी। हे रामजी! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तुल्य दृष्टि आती है परन्तु ज्ञानी का संकल्प दग्धबीजवत् है—फिर जन्म नहीं देता और अज्ञानी का संकल्प कच्चे बीजवत् है—फिर जन्म देता है पर वास्तव में देखिये तो न कोई जन्म ही पाता है और न कोई मृतक होता है केवल अपने आपमें स्थित है और

भ्रान्ति करके भिन्न भिन्न भासते हैं। स्वरूप से सब अपना ही आप है—द्वैत कुछ नहीं हुआ और जो भासता है सो मिथ्या है। जैसे केले के थम्भ में सार कुछ नहीं होता तैसे ही सर्वप्रपञ्च मिथ्या है इसमें सार कुछ नहीं—इससे इसकी वासना त्यागकर अपने आपमें स्थित हो। हे रामजी! जिस प्रकार तुम्हारी वासना निर्मूल हो उसी यत्न से निर्मूल करो तब परम शिवपद ही शेष रहेगा। हे रामजी! पुरुषप्रयत्न से जब निरहंकार होगे तब वासना आपही क्षय हो जावेगी। वासनाक्षय का उपाय अपने पुरुषप्रयत्न के सिवा और कोई नहीं। इससे हे रामजी! पुरुषार्थ करके इसी एक देव के परायण हो रहो। कर्म, दैव आदिक वही पुरुष होकर भासता है और कुछ हुआ नहीं—जैसे एक ही पुरुष देवन का स्वाँग धारे। हे रामजी! इस प्रकार विचारपूर्वक सब एषणा को त्यागकर स्वरूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निराशयोगोपदेशो नाम
शताधिकनवचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ १४९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञानवान् की बुद्धि निर्मल हो जाती है। उसके हृदय में शीतलता होती है और उसकी बुद्धि चैतन्य से पूर्ण होती है और दूसरा भान उठ जाता है। इससे तुम भी नित अन्तमुख और वीतराग निर्वासी हो रहो और चिन्मात्र, निर्मल और शान्तरूप सर्वब्रह्म की भावना करो। उस ब्रह्मपद को पाकर नीति के अनुसार अज्ञानी के समान चेष्टा करो, जो हर्ष का स्थान हो उसमें हर्ष करो और शोक के स्थान में शोक करो पर हृदय में आकाश की नाईं रहो। हे रामजी! जब इष्ट की प्राप्ति हो तो उससे स्पर्श करो परन्तु हृदय में तृष्णा न करो; जब युद्ध प्राप्त हो तब शूरमा होकर युद्ध करो; जो दीन हो उस पर दया करो; जो राज्य प्राप्त हो तो उसको भोगो और जो कोइ कष्ट प्राप्त हो तो उसको भी भोगो ये सब चेष्टा अज्ञानी की नाईं करो पर हृदय में समता रक्खो; आत्मा से भिन्न कुछ न फुरने दो और रागद्वेष से रहित सदा निर्मल हो रहो। जब तुम ऐसे निश्चय को धारोगे तब तुमको कुछ खेद न होगा। यद्यपि बड़ा दुःख और इन्द्र का वज्र पड़े तौ भी तुमको स्पर्श न

करेगा। हे रामजी! तुम्हारा रूप न शस्त्र से कटता है, न अग्नि से जलता है, न जल से गलता है और न पवन से सूखता है–केवल निराकार, अजर, अमर और सबका अपना आप है। हे रामजी! कष्ट तब होता है जब विलक्षण वस्तु होती है और अग्नि तब जलती है जब काष्ठ आदिक भिन्न वस्तु होती हैं; अग्नि को अग्नि तो नहीं जलाती और जल को जल तो नहीं गलाता? इससे तुम अपने आपमें स्थित हो रहो। हे रामजी! संवित्‌रूप आलयवत् स्थिर स्थान है उसी में स्थित हो रहो–जैसे पक्षी सब ओर से संकल्प को त्यागकर आलय में स्थित होता है तब सुख पाता है तैसे ही जब तुम सर्वकलना को त्यागकर अन्तर्मुख संवित् में स्थित होगे तब रागद्वेषरूपी द्वन्द्व कोई न रहेगा। हे रामजी! संसाररूपी समुद्र का बड़ा प्रवाह है, आश्रय विना उससे नहीं निकल सकता; सो आश्रय मैं तुमसे कहता हूँ कि अनुभवरूप आत्मा को आश्रय करके संसारसमुद्र के पार हो रहो; विलम्ब न करो और अपने आपमें स्थित हो रहो। हे रामजी! यदि कोई संसाररूपी वृक्ष का अन्त लिया चाहे तो नहीं ले सकता। संसाररूपी एक वृक्ष है उसमें चैतन्यमात्र सुगन्ध है सो तेरा अपना आप है उसको ग्रहण कर। जो सबका अधिष्ठान है जब उसको ग्रहण किया तब सबको ग्रहण किया। हे रामजी! जो कुछ प्रपञ्च तुमको भासता है सो सब आत्मरूप है–उसी की भावना करो जाग्रत् में सुषुप्त हो रहो और सुषुप्ति में जाग्रत हो रहो। संसार की सत्ता जो जाग्रत् है उसकी ओर से सुषुप्त हो रहो अर्थात् फुरने से रहित होकर तुरीयापद में स्थित हो रहो जहाँ गुणों का क्षोभ नहीं और निर्मल शान्तरूप है और जहाँ एक और दो की कलना कोई नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ऐसे जो शान्तरूप तुरीयापद में स्थित होना तुमने कहा सो तुम्हारे में यह नहीं फुरता कि मैं वशिष्ठ हूँ; उसका रूप क्या है कि अहंप्रतीति तुमको नहीं होती है? इतना कह वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज! जब इस प्रकार रामजी ने प्रश्न किया तब वशिष्ठजी चुप हो गये और सब सभा संशय के समुद्र में मग्न हुई। तब रामजी बोले, हे भगवन्! चुप होना तुम्हारा अयोग्य

है। तुम साक्षात् विश्वगुरु और ब्रह्मवेत्ता हो। ऐसी कौन बात है जो तुमको न आवे? क्या मुझको समर्थ नहीं देखते? जब ऐसे रामजी ने कहा तब वशिष्ठजी एक घड़ी के उपरान्त बोले, हे रामजी! असामर्थ्य से मैं चुप नहीं हुआ परन्तु जैसा तेरे प्रश्न का उत्तर है वही दिखाया कि तेरे प्रश्न का चुप ही उत्तर है। जो प्रश्न करनेवाला अज्ञानी हो तो उसको अज्ञान लेकर उत्तर देते हैं और जो ज्ञानवान् हो उसको ज्ञान से उत्तर देते हैं। आगे तुम अज्ञानी थे तब मैं सविकल्प उत्तर देता था और अब तुम ज्ञानवान् हो तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तूष्णीं ही है। हे रामजी! जो कुछ कहना है सो प्रतियोगी से मिला हुआ है; प्रतियोगी विना शब्द में कैसे कहूँ? आगे तुम सविकल्प शब्द के अधिकारी थे और अब तुमको निर्विकल्प का उपदेश किया है। हे रामजी! शब्द चार प्रकार के हैं–एक सूक्ष्म अर्थ का, दूसरा परमार्थ का, तीसरा अल्प और चौथा दीर्घ। तीन कलङ्क इनमें रहते हैं–एक संशय, दूसरा प्रतियोगी और तीसरा भेद। जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु रहते हैं तैसे ही शब्द में कलङ्क रहते हैं पर जो पद मन और वाणी से अतीत है उसको कलङ्कित शब्द कैसे ग्रहण करे? हे रामजी! काष्ठमौन उसको कहते हैं जहाँ इन्द्रियाँ न फुरें; न मन फुरे और कोई फुरना न फुरे–ऐसे पद को मैं वाणी से कैसे कहूँ? जो कुछ बोला जाता है सो सविकल्प होता है–तुम्हारे उस प्रश्न का उत्तर तूष्णीं है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि बोलना सविकल्प और प्रतियोगी सहित होता है तो जो कुछ ब्रह्म में दूषण है उसका निषेध करके कहो मैं प्रतियोगी को न विचारूँगा। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं चिदाकाशस्वरूप, चैत्य से रहित चिन्मात्र शान्तरूप, सम और सर्वकलना से रहित केवल आत्मत्वमात्र हूँ; और तुम और जगत् भी चिदाकाश है अहं त्वं कोई नहीं, क्योंकि दूसरी सत्ता कोई नहीं सब अहंसंवेदन से रहित शुद्ध चिदाकाश है। जो सापेक्षक अहं-अहं फुरती है और मोक्ष की भी इच्छा होती है तो सिद्ध नहीं होती, क्योंकि आपको कुछ मानकर फुरती है इससे एक अहंकार के कई अहंकार हो जाते हैं। यही अहं गले में फाँसी पड़ती है; जब अहन्ता

से रहित हो तब आत्मपद को प्राप्त हो। हे रामजी! जब शव की नाईं हो जावे और कुछ अभिमान न फुरे तब संसारसमुद्र से पार हो और जबतक द्वैत है तबतक बन्धन है कदाचित् मुक्त नहीं होता। जैसे जन्म का अन्धा चित्र की पुतली को नहीं देख सकता तैसे ही अहन्तासंयुक्त मुक्ति नहीं पाता। जब अहन्ता का अभाव हो तब कल्याण हो—स्वरूप के आगे अहन्ता ही आवरण है। हे रामजी! जब जीव चेतन होकर फुरा तब उसको बन्धन पड़ा और जब जड़—अफुर हो तब कल्याण हो। जब चैतन्योन्मुखत्व होता है तब जीव होता है और मनुष्य का शरीर पाकर जब चैत्य से रहित शुद्ध चैतन्य प्रत्यक् आत्मा में स्थित होता है तब मनुष्यजन्म सफल होता है। मनुष्यजन्म पाकर पाने योग्य पद पा सकता है। हे रामजी! यदि मनुष्यजन्म को पाकर न जानेगा तो और किस जन्म में जानेगा? यह संसार चित्त के फुरने से उत्पन्न हुआ है; जब चित्त संसरने से रहित हो तब केवल केवलीभाव स्वरूप भासे। ज्ञानवान् की दृष्टि में अब भी कुछ नहीं हुआ केवल आत्मस्वरूप ही भासता है और फुरना न फुरना दोनों तुल्य दिखाई देते हैं। अन्तःकरणचतुष्टय आत्मस्वरूप है और अज्ञानी को भिन्न-भिन्न भासते हैं इसी से चित्त आदिक जड़ और मिथ्या हैं और आत्मस्वरूप से सब आत्मस्वरूप हैं आत्मा देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है—ज्ञानी को सब आत्मा ही भासता है चाहे वह कैसी ही चेष्टा करे वह लोक, धन, पुत्र आदि सर्व एषणा से रहित है; केवल आत्म अनुभवरूप में स्थित है और सबको अपना आप जानता है। हे रामजी! जिस पद को वह प्राप्त होता है उस पद को वाणी नहीं कह सकती वह अनिर्वाच्यपद है। जो पुरुष कहता है कि "अहं ब्रह्म अस्मि" अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ और यह जगत् है तो जानिये कि उसको ज्ञान नहीं उपजा—उसको शास्त्रश्रवण का अधिकार है। जैसे कोई कहे कि मेरे हाथ में दीपक है और अन्धकार भी मुझको दृष्टि आता है तो जानिये कि इसके हाथ में दीपक नहीं; तैसे ही जबलग जगत् भासता है तबलग ज्ञान नहीं उपजा। हे रामजी! अब भी निर्वाणपद है, किससे किसको कौन पदेश करे? केवल एकरस शून्य है; शून्य और आत्मा में कुछ भेद नहीं और जो कुछ भेद है उसको ज्ञानवान् जानते हैं वाणी की गम नहीं। उसमें जो संवेदन फुरता है उससे संसार फुरता है और असंवेदन से लीन होता है। जैसे पवन से अग्नि प्रज्वलित होता है और पवन ही में लीन होता है तैसे ही जब संवेदन बहिर्मुख फुरता है तब संसार भासता है और जब अन्तर्मुख होता है तब जगत् लीन हो जाता है—इससे संसार फुरनेमात्र है। जैसे आकाश में नीलता भ्रम से भासती है तैसे ही आत्मा में जगत् कुछ बना नहीं केवल ब्रह्मसत्ता ज्यों की त्यों है—उसी में स्थित हो रहो। जब उसमें स्थित होगे तब भेद मिट जावेगा। हे रामजी! तब ग्राह्य और ग्राहकसम्बन्ध भी जाता रहेगा और केवल परमात्मतत्त्व जो शुद्ध, अजर और अमर है उसमें खाते-पीते, चलते-फिरते वृत्ति रहेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भावनाप्रतिपादनोपदेशो नाम
शताधिकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस प्रकार पुरुष आत्मपद को प्राप्त होता है सो सुनो। जब निरहंकार होता है तब आत्मपद को प्राप्त होता है। जो सर्वात्मा है उसको आवरण करनेहारी अविद्या ही है। जैसे सूर्यमण्डल को बादल ढाँप लेता है तैसे ही अविद्या आत्मा में आवरण करती है। उस अविद्या से उन्मत्त की नाईं मूर्ख चेष्टा करते हैं और जो अहंता से रहित ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको कोई दुःख नहीं स्पर्श करता—सदेह भी निर्दुःख होता है। जैसे भीत पर लिखी युद्ध की सेना देखनेमात्र क्षोभित दृष्टि आती है परन्तु शान्तरूप है; तैसे ही ज्ञानवान् की चेष्टा में भी क्षोभ दृष्टि आता है परन्तु सदा अक्षोभ और निर्वाणरूप है और वासनासहित दृष्टि आता है पर सदा निर्वासनिक है। जैसे जल में लहर और चक्र क्षोभ दृष्टि आते हैं परन्तु जल से भिन्न नहीं; तैसे ही ज्ञानवान् को ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता। जिसके हृदय से दृश्यभाव शान्त हो गया है और बाहर से क्षोभवान् दृष्टि आता है तो भी वह मुक्तरूप है। जैसे बादल आकाश में हाथी, घोड़ा और पहाड़रूप दृष्टि आते हैं परन्तु हैं कुछ नहीं; तैसे ही जगत् दृष्टि आता है परन्तु है कुछ नहीं;

आर्य

अहंकार से भासता है और अहंकार से रहित निर्विकार शान्तरूप हो जाता है। ऐसा जो निरहंकार आत्मपद है उसको पाकर ज्ञानवान् शोभता है। शरत्काल का आकाश, क्षीरसमुद्र और पूर्णमासी का चन्द्रमा भी ऐसा नहीं शोभता जैसा ज्ञानवान् पुरुष शोभता है। हे रामजी! अहन्ता ही इस पुरुष को मल है; जब अहन्ता नष्ट हो तब स्वरूप की प्राप्ति हो और संसार के पदार्थों की भावना निवृत्त हो क्योंकि भ्रम से उपजी थी। जो वस्तु भ्रम से उपजी होती है उसका भ्रम के अभाव हुए अभाव हो जाता है। जैसे आकाश में धुयें का बादल नाना प्रकार के आकार हो भासता है पर है नहीं; तैसे ही यह विश्व अनहोता भासता है और विचार किये से नहीं रहता। हे रामजी! जबतक संसार की वासना है तबतक बन्ध है और जब वासना निवृत्त हो तब आत्मपद की प्राप्ति हो, संपूर्ण कलना मिट जावे और इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट में तुल्य हो जावे। तब वह यद्यपि व्यवहारकर्ता हो तौ भी शान्तरूप है। जैसे शव को रागद्वेष नहीं फुरता तैसे ही ज्ञानी निर्वाणपद को प्राप्त होता है जिसमें सत् असत् शब्द कोई नहीं केवल ब्रह्मस्वरूप है बल्कि ब्रह्म कहना भी वहाँ नहीं रहता केवल आत्मतत्त्वमात्र है और अद्वैत है। हे रामजी। विश्व भी वही रूप चैतन्य आकाश है। जैसी जैसी भावना होती है तैसा ही तैसा चैतन्य होकर भासता है। जब जगत् की भावना होती है तब नाना प्रकार के आकार दृष्टि आते हैं और ब्रह्म की भावना से ब्रह्म भासता है। जैसे विष में यदि अमृत की भावना होती है और विधिसंयुक्त खाते हैं तो वह विष भी अमृत हो जाता है और जो विधि विना खाइये तो मृत्यु का कारण होता है; तैसे ही इस संसार को यदि विधिसंयुक्त देखिये अर्थात् विचार करके देखिये तो ब्रह्मस्वरूप भासता है और जो विचार विना देखिये तो जगद्रूप भासता है पर विचार तब होता है जब अहंकार निवृत्त होता है। अहंकार आकाश में उपजा है; आकाश शून्यता में उपजा है और शून्यता आत्मा के प्रमाद से उपजी है। फिर अहंकार से जगत् हुआ है और अहंकार मिथ्या है। हे रामजी! शरीर आदिक चित्तपर्यन्त विचारकर देखिये तो दृष्टि कहीं

नहीं आते; इनमें जो अहंप्रत्यय है वह भ्रान्तिमात्र है जब तुम विचार करके देखोगे तब मरीचिका के जलवत् भासेगा। हे रामजी! जैसे स्वप्न के पर्वत के त्यागने में कुछ यत्न नहीं तैसे ही मिथ्या संसार के त्यागने में कुछ यत्न नहीं—फिर इसका निर्णय क्या कीजिये? जैसे वन्ध्या के पुत्र की वाणी विचारिये कि सत्य कहता है अथवा असत्य कहता है तो मिथ्या कल्पना है, क्योंकि वन्ध्या का पुत्र है ही नहीं तो उसका विचार क्या करिये; तैसे ही प्रपञ्च है नहीं तो इसका निर्णय क्या कीजिये? इससे तुम ऐसे हो रहो जैसे मैं कहता हूँ तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे रामजी! ऐसी भावना करो कि न मैं हूँ और न जगत् है जब अहंकार ही न रहा तब कलना कहाँ हो; इसका होना ही अनर्थ है। जब ऐसा विचार उत्पन्न होता है तब भोगों की वासना क्षय हो जाती है और सन्तों की संगति होती है—अन्यथा भोग की वासना नष्ट नहीं होती। हे रामजी! जब तक अहन्ता उठती है अर्थात् दृश्य और प्रकृति से मिलाप है तब तक द्वैतभ्रम नहीं मिटता और जब अहंकार का उत्थान मिट जावे तब शुद्ध चिन्मात्र आत्मसत्ता ही रहेगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हंससंन्यासयोगो नाम
शताधिकैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब अहन्ता का उत्थान होता है तब स्वरूप का आवरण होता है और जब अहन्ता मिट जाती है तब स्वरूप की प्राप्ति होती है। इस संसार का बीज अहन्ता ही है; सो अहंकार ही मिथ्या है तो उसका कार्य कैसे सत्य हो और जो प्रपञ्च मिथ्या हुआ तो पदार्थ कहाँ से सत्य हों? हे रामजी ऐसा जो ब्रह्म है उसके पाने की युक्ति क्या है? संकल्पपुरुष भी असत्य है; उसका संशय भी मिथ्या है और जिसके प्रति प्रश्न करता है सो भी मिथ्या है। जैसे स्वप्न में द्वैतकलना होती है सो असत् है तैसे ही यह जगत् द्वैत भी असत्य है। हे रामजी! यह सब जगत् इसके भीतर स्थित है और प्रमाद से बाहर भासता है। यह अपना ही स्वप्ना दृष्टि आता है कि भीतर की सृष्टि बाहर भासती है। इससे यह जगत् सब चिद्रूप है—भिन्न कुछ नहीं।

यह चैतन्यसत्ता आकाश से भी अतिसूक्ष्म और स्वच्छ है। हे रामजी! यह जगत् चित्त ने चेता है इससे कहीं हुआ नहीं और न किसी का नाश होता है, न कोई उत्पन्न होता है, न कहीं जन्म है और न मरण है–सर्वब्रह्म ही है। हे रामजी! जगत् के नाश हुए कुछ नाश नहीं होता, क्योंकि हुआ कुछ नहीं। जैसे स्वप्न के पहाड़ और संकल्पपुर नष्ट हुए तो क्या नष्ट हुए वे तो कुछ उपजे ही नहीं, तैसे ही यह जगत है। यह विचार करके देखा है कि जो वस्तु अविचार से उपजी होती है सो विचार करने से नहीं रहती। जैसे जो पदार्थ तम से उपजा होता है सो प्रकाश हुए से नहीं रहता तैसे ही यह जगत् है; अविचार से भासता है और विचार करे से नाश हो जाता है। हे रामजी! यह जगत संकल्पमात्र है–जैसे संकल्पनगर होता है तैसे ही यह संसार है इसमें कोई पदार्थ सत्य नहीं; इससे रूप, इन्द्रियाँ और मन के अभाव की चिन्तना करना। यह संसार ऐसा है जैसे समुद्र में चक्र; इसमें प्रीति करना अज्ञानता है। हे रामजी! कोई ऐसे हैं कि बाहर से शान्तरूप दृष्टि आते हैं पर उनके हृदय में क्षोभ होता है और कोई पुरुष ऐसे हैं कि हृदय से शीतल हैं और बाहर नाना प्रकार की चेष्टा करते हैं पर जिनके दोनों मिट जाते हैं वे मोक्ष के भागी होते हैं और उनके भीतर बाहर एकता होती है–जैसे समुद्र में घट भरके रखिये तो उसके भीतर बाहर जल ही होता है। हे रामजी! जिस पुरुष ने आत्मा को ज्यों का त्यों जाना है उसको भय, शोक और मोह नहीं होता वह केवल स्वच्छरूप शान्त आत्मा में स्थित है। भय तब होता है जब दूसरा भासता है सो उसको सर्वद्वैत का अभाव होकर शान्तरूप होता है। हे रामजी! सम्यक्दर्शी को जगत् दुःख नहीं देता और असम्यक्दर्शी को दुःख देता है। जैसे रस्सी को जो जानता है उसको रस्सी ही भासती है और जो नहीं जानता उसको सर्प भासता है और भय पाता है; तैसे ही जिसको आत्मा का साक्षात्कार है उसको जगत्कल्पना कोई नहीं भासती केवल चिदानन्द ब्रह्म अधिष्ठानरूप भासता है और जिसको अधिष्ठान का अज्ञान है उसको जगत् द्वैतरूप होकर भासता है और वह रागद्वेष से जलता है। हे रामजी! और

जगत् कोई नहीं इसके अनुभव में ही जगत्कल्पना होती है और अज्ञान से द्वैतरूप हो भासता है पर जब अपने स्वभावसत्ता में जागता है तब सब अपना आप भासता है। जैसे स्वप्न में अपना आपही द्वैतरूप हो भासता है और रागद्वेष उपजता है पर जब जागता है तब सब आत्मरूप हो भासता है; तैसे ही यह जगत् है; न इस जगत् का कोई निमित्त कारण है और न कोई उपादान कारण है। जो पदार्थ कारण विना भासे उसे असत् जानिये वह वास्तव में उपजा नहीं भ्रम से सिद्ध हुआ है। जैसे स्वप्नसृष्टि अकारण है तैसे ही यह जगत् अकारण है और भ्रम करके भासता है। हे रामजी! शास्त्र की युक्ति से विचार करके देखो तो द्वैतभ्रम मिट जावे रञ्चकमात्र भी कुछ बना नहीं। जैसे आकाश में नीलता नहीं और मरुस्थल में नदी नहीं तैसे ही इस जगत् को भी जानो। आत्मा शुद्ध और अद्वैत है उसमें अहं का फुरना ही दुःख है और दुःख का कारण है। जो स्वरूप का प्रमाद न हो तो अहं भी दुःख का कारण नहीं और जो स्वरूप भूला तो अहंकारादिक दृश्य विष की बेलि बढ़ती जाती है और नाना प्रकार के आकार धारती है और वासना दृढ़ होती है। जबतक वासना होती है तबतक बन्ध है और जब वासना निवृत्त हो तब हीं कल्याण होता है। हे रामजी! जिस दृश्य की जीव भावना करता है वह जैसे समुद्र में तरङ्ग और चक्र होते हैं सो समुद्र से भिन्न कुछ नहीं होते तैसे ही अहंकार आदिक जो दृश्य हैं सो हैं नहीं और जो हैं नहीं तो उनकी इच्छा करनी मूर्खता है। ज्ञानवान् की वासना क्षय हो जाती है और उसको बन्धन का कारण नहीं होती क्योंकि संसार की सत्यता उसके हृदय में नहीं रहती और सत्यता इससे नहीं रहती कि आत्मा का साक्षात्कार हुआ है। जब आत्मा का प्रमाद होता है तब अहन्ता उदय होती है और दृश्य भासती है। जैसे नेत्र के खोलने से दृश्य का ग्रहण करता है और जब नेत्र मूँद लिये तब दृश्यरूप का अभाव हो जाता है तैसे ही जब अहन्ता उदय होती है तब दृश्य भी होती है और जब अहन्ता नष्ट होती है तब संसार का अभाव हो जाता है। हे रामजी! अहन्ता का उदय होना ही

अज्ञानता है और अहन्ता से ही बन्ध है; अहन्ता से रहित मोक्ष है—आगे जो इच्छा हो सो करो। हे रामजी! देह, इन्द्रियादिक मृगतृष्णा के जलवत् हैं; इनमें अहन्ता करनी मूर्खता है। ज्ञानवान् अहन्ता को त्यागकर आत्मपद में स्थित होता है और संसार के इष्ट अनिष्ट में हर्ष और शोक नहीं करता। जैसे आकाश में बादल हुआ तो भी वह ज्यों का त्यों है; तैसे ही ज्ञानी ज्यों का त्यों है। उसमें अहंकार नहीं होता इससे वह सुखरूप है। हे रामजी! रूप, दृश्य, इन्द्रियाँ और मन उसके जाते रहते हैं। जैसे वन्ध्या के पुत्र का नृत्य नहीं होता तैसे ही ज्ञानी के रूप, अवलोक, मनस्कार नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि उसको सर्व ब्रह्म भासता है और द्वैत भावना उसकी नष्ट हो जाती है संसार का बीज अहन्ता अज्ञानियों में दृढ़ है। हे रामजी! अहन्ता से जीव की बुद्धि बुरी हो जाती है अर्थात् स्थूल हो जाती है इससे वह दुःख पाता है। इस दुःख के नाश का उपाय यह है कि सन्तजनों के वचनों की भावना करना और विचार करके हृदय में धारणा—इससे अहन्तारूपी दुःख नष्ट हो जाता है। सन्तों के वचनों का निषेध करना मुक्तिफल का नाश करनेवाला है और अहन्तारूपी वैताल को उपजानेवाला है इसलिये सन्तों की शरण में जाओ और अहन्ता को दूर करो इसमें कुछ खेद नहीं; यह अपने आधीन है। अपने अभाव के चिन्तने में क्या खेद है। हे रामजी! आत्मपद सन्तों की संगति द्वारा बहुत सुगमता से प्राप्त होता है। ज्ञानवानों की पृथक् पृथक् सेवा करो और उनके वाक्य विचार करके बुद्धि को तीक्ष्ण करो; जब बुद्धि तीक्ष्ण होगी तब अहन्तारूपी विष की बेलि का नाश करेगी। यह विचार करना चाहिये कि 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है'; इस प्रकार सन्तों के वचनों और शास्त्रों के वचनों के निर्णय किये से सत्य सत्य होता है और जो असत्य है वह असत्य हो जाता है। सत्य जानकर आत्मा की भावना करना और असत्य जगत् को मृगतृष्णा के जलवत् जानकर भावना त्यागना तो जिनको सुख जानकर पाने की भावना करता था सो दुःखदायी भासते हैं। जैसे अधिष्ठान के अज्ञान से मरुस्थल में जल जानकर मृग दौड़ता है तो दुःख पाता है तैसे ही सबका अधिष्ठान आत्मतत्त्व है; सो शुद्ध रूप, परमशान्त

और परमानन्दस्वरूप है जिसको पाकर फिर दुःखी नहीं होता। हे रामजी! बन्धन का कारण भोग की वासना है पर भोगों से शान्ति नहीं होती; जब सन्तों की संगति होती है तब कल्याण होता है और अनात्म में अहंभाव छूट जाता है; और प्रकार शान्ति नहीं होती। हे रामजी! बालक की नाईं हमारे वचन नहीं हैं, हमारा कहना यथार्थ है, क्योंकि हमको स्वरूप का स्पष्ट भान है। जब अहन्ता मिट जावे तब सुखी हो। इससे अहंता का नाश करो। जब अहंता नाश हो तब जानिये कि चैत्य की भावना मिट गई है। हे रामजी! जब ज्ञानरूपी सूर्य उदय होता है तब अहंतारूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है। ज्ञान तब होता है जब सन्तों का संग और विचार, विषयों से वैराग्य और स्वरूप का अभ्यास करे—इससे स्वरूप की प्राप्ति होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणयुतयुक्त्युपदेशो नाम
शताधिकद्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिन पुरुषों ने ज्ञान से अपना अज्ञान नष्ट नहीं किया उन्होंने करने योग्य कुछ नहीं किया। अज्ञान से पहले अहंभावना होती है तब आगे जगत् भासता है और लोक परलोक की भावना करता है और इसी वासना से जन्म मरण पाता है। हे रामजी! जबतक हृदय में संसार का शब्द अर्थ दृढ़ है तबतक शब्द अर्थ के अभाव की चिन्तना करे और जहाँ जगत् भासता है तहाँ ब्रह्म की भावना करे। जब ब्रह्मभावना करेगा तब संसार के शब्द अर्थ से रहित होगा और आत्मपद भासेगा। हे रामजी! इस संसार में दो पदार्थ हैं—एक यह लोक और दूसरा परलोक। अज्ञानी इस लोक का उद्यम करते हैं और परलोक का नहीं करते इससे दुःख पाते हैं और तृष्णा नहीं मिटती और विचारवान् पुरुष परलोक का उद्यम करते हैं इससे यहाँ भी शोभा पाते हैं और परलोक में भी सुख पाते हैं और उनके दोनों लोकों के कष्ट मिट जाते हैं। जो इसी लोक का उद्यम करते हैं उनको दोनों ही दुःखदायक होते हैं अर्थात् यहाँ तृष्णा नहीं मिटती और आगे जाकर नरक भोगते हैं। जिन पुरुषों ने आत्मा का यत्न किया है उनको वही सिद्ध

होता है और वे सुखी होते हैं और जिसने यत्न नहीं किया वह दुःखी होता है। इससे अहंकार से रहित होने से ही आत्मपद की प्राप्ति है। जबतक परिच्छिन्न अहंकार होता है तबतक दुःखी होता है तब इसका नाम जीव होता है। जो कुछ फुरता है उससे विश्व की उत्पत्ति होती है। जैसे नेत्रों के खोलने से रूप भासता है और नेत्रों के मूँदने से रूप का अभाव हो जाता है; तैसे ही जब अहंता फुरती है तब दृश्य भासता है और जब अहंता का अभाव होता है तब दृश्य का भी अभाव हो जाता है। अहंता अज्ञान से सिद्ध होती है और ज्ञान के उपजे से निवृत्त हो जाती है। हे रामजी! यदि पुरुष अपना प्रयत्न करे और साथ ही सत्संग करे तो इस संसारसमुद्र से तर जावेगा; और किसी प्रकार नहीं तरता। हे रामजी! युक्ति करके जैसे विष भी अमृत हो जाता है तैसे ही पुरुषार्थ से सिद्धि प्राप्त होती है। हे रामजी! इस जीव को दो रोग हैं—एक यह लोक और दूसरा परलोक है उनमें दुःख पाता है। जिन पुरुषों ने सन्तों के मिलापरूपी औषध से चिकित्सा की है वे मुक्तरूप हैं और जिन्होंने वह औषध नहीं की वे पुरुष पंडित हों तौ भी दुःख पाते हैं। सो औषध क्या है? शम, दम और सत्सङ्ग; इन साधनों के यत्न से जिसने आत्मपद पाया है वह कल्याणमूर्त्ति है। हे रामजी! चिकित्सा भी यही है। जिसने औषध की वह कृतार्थ हुआ और जिन्होंने न की वे भोग में लम्पट रहे। वे मूर्ख वहाँ पड़ेंगे जहाँ फिर कोई औषध न पावेंगे। इससे, हे रामजी! इन भोगों का त्याग करो और आत्मविचार में सावधान हो रहो—यही औषध है। हे रामजी! जिस पुरुष ने मन नहीं जीता वह मूढ़ है—वह भोगरूपी कीचड़ में मग्न है और आपदा का पात्र है। जैसे समुद्र में नदियाँ प्रवेश करती हैं, तैसे ही उसको आपदा प्राप्त होती है। जिसकी तृष्णा भोग से निवृत्त हुई है और वैराग्य उपजा है वह मुक्त होता है। जैसे जीवन का आदि बालक अवस्था है तैसे ही निर्वाणपद का आदि वैराग्य है। हे रामजी! जैसे दूसरा चन्द्रमा, संकल्पनगर और मृगतृष्णा का जल भ्रम से भासता है तैसे ही यह जगत् भ्रम से भासता है। संसार का बीज अहंता है; जब अहंता उदय होती है

तब रूप और अवलोक भासते हैं, इससे यही चिन्तना करो कि मैं नहीं। जब यही भावना करोगे तब शेष जो रहेगा सो तुम्हारा शान्तरूप है; जिसमें आकाश भी शून्य है और अहं के उत्थान से रहित जड़ अजड़ केवल आत्मत्वमात्र है। जड़ता का उसमें अभाव है इससे अजड़ है और केवलज्ञानमात्र है। उसमें विश्व ऐसे है जैसे जल में तरङ्ग; पवन में स्पन्द और आकाश में शून्यता। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं जो आत्मा से कुछ भिन्न होता तो प्रलय में नाश हो जाता पर आत्मा तो प्रलयकाल में भी रहता है। जैसे सूर्य की किरणों में सदा जलाभास रहता है तैसे ही आत्मा में विश्व का चमत्कार रहता है और जैसे स्वप्नसृष्टि अनुभवरूप होती है तैसे ही यह जाग्रत्सृष्टि भी अनुभव है। आत्मा भीतर बाहर से रहित, अद्वैत, अजर, अमर, चैत्त्य से रहित, चैतन्य और सर्व शब्द अर्थ का अधिष्ठान है; फुरने से दूसरा भासता है और फुरना न फुरना वही है। जैसे चलना और ठहरना दोनों पवन के रूप हैं—जब चलता है तब भासता है और जब ठहरता है तब नहीं भासता; तैसे ही जब चित्तशक्ति फुरती है तब विश्वरूप होकर भासती है और जब अफुर होती है तब केवलमात्र पद रहता है सो निराभास, अविनाशी, निर्विकल्प और सबका अपना आप है और सत्य, असत्य; जड़, चैतन्य आदिक शब्द अर्थ सब उसी अधिष्ठानसत्ता में फुरते हैं। इससे उसी अपने स्वरूप में स्थित हो रहो जो परमार्थसत्ता आत्मतत्त्व अपने स्वभाव में स्थित और अहं त्वं से रहित केवल आकाशरूप सबका अधिष्ठान है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शान्तिस्थितियोगोपदेशो नाम
शताधिकत्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५३ ॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जिनको दुःख सुख चलाते हैं और जो इन्द्रियों के इष्ट में सुखी और अनिष्ट में दुःखी होते हैं और रागद्वेष के आधीन वर्तते हैं उनको ऐसे जानो कि वे नष्ट हुए हैं। जिनका पुरुषप्रयत्न नष्ट हुआ है वे बारम्बार जन्म पावेंगे और जिनको सुख दुःख नहीं चलाते उनको अविनाशी जानो। वे जन्ममरण की फाँसी से मुक्त हुए हैं और उनको शास्त्र का उपदेश नहीं है। हे रामजी! राग द्वेष तब फुरता है

जब मन में इच्छा होती है और इच्छा तब होती है जब संसार की सत्यता दृढ़ होती है। जिसको असत्य जानता है उसको बुद्धि नहीं ग्रहण करती और इच्छा भी नहीं होती और जिसको सत्य जानता है उसमें बुद्धि दौड़ती है। हे रामजी! अज्ञानी को संसार सत्य भासता है इससे वह दुःख पाता है। जब वह शान्तपद का यत्न करे तब दुःख से मुक्त हो। जिसमें अहं, त्वं, जगत्, ब्रह्म आदि शब्द कोई नहीं और जो केवल चिन्मात्र आकाशरूप है उसमें ये शब्द कैसे हों? ये सब शब्द विचार के निमित्त कहे हैं पर वास्तव में शब्द कोई नहीं अद्वैत और चैत्त्य से रहित चिन्मात्र है। जब सर्व शब्दों का बाध किया तब शेष शान्तपद रहता है, इसी से आत्मत्वमात्र कहा है और जगत् फुरने से उसी में भासता है। उस जगत् में जहाँ ज्ञप्ति जाती है उसका ज्ञान होता है। हे रामजी! एक अधिष्ठान ज्ञान है और दूसरा ज्ञप्ति ज्ञान है; अधिष्ठान ज्ञान सर्वज्ञ ईश्वर को है और ज्ञप्तिज्ञान जीव को है। एक लिङ्ग शरीर का जिसको अभिमान है वह जीव है और सर्वलिङ्ग शरीरों का अभिमानी ईश्वर है। जहाँ इस जीव की ज्ञप्ति पहुँचती है उसको जानता है। जैसे एक शय्या पर दो पुरुष सोये हों और एक को स्वप्ना आवे उसमें मेघ गर्जते हैं और दूसरा उस मेघ का शब्द नहीं सुनता, क्योंकि ज्ञप्ति उसके नहीं आई परन्तु मेघ तो उसके स्वप्न में है। जैसे सिद्ध बिचरते हैं और जीव को दृष्ट नहीं आते, क्योंकि इसकी ज्ञप्ति नहीं जाती और सब सृष्टि बसती है तिसका ज्ञान ईश्वर को है सो सृष्टि भी संकल्पमात्र है; कुछ बनी नहीं और भ्रम से भासती है। जैसे बादल में हाथी, घोड़े, मनुष्य आदिक विकार भासते हैं वे भ्रान्तिमात्र हैं तैसे ही आत्मा के अज्ञान से यह सृष्टि नाना प्रकार की भासती है। हे रामजी! यह आश्चर्य है कि आत्मा में अहंकार का उत्थान होता है कि मैं हूँ और अपने को वर्णाश्रमी मानता है पर विचार करके देखिये तो अहं कुछ वस्तु नहीं सिद्ध होती और अहं अहं फुरती है। यह आश्चर्य है कि भूत कहाँ से उठा है और शुद्ध आत्मब्रह्म में कैसे हुआ? अनहोते अहंकार ने तुमको मोहित किया है इसके त्यागने में तो कुछ यत्न नहीं इसका त्याग करो। हे रामजी! यह मिथ्या संकल्प उठा है। जब अहंकार का उत्थान होता है तब जगत्

होता है और जब अहन्ता मिट जाती है तब जगत् का भी अभाव हो जाता है, क्योंकि कुछ बना नहीं भ्रममात्र है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्न की सृष्टि भ्रममात्र है तैसे ही यह विश्व भी भ्रममात्र है। कुछ बना नहीं और आत्मतत्त्व है—भिन्न नहीं। जैसे पवन के दो रूप हैं चलता है तौ भी पवन है और ठहरता है तौ भी पवन है; तैसे ही विश्व भी आत्मस्वरूप है। जैसे पवन चलता है तब भासता है और ठहर जाता है तब नहीं भासता, तैसे ही चित्त चैत्त्यशक्ति का चमत्कार है; जब फुरता है तब विश्व भासता है पर तौ भी चिद्घन है और जब ठहर जाता है तब विश्व नहीं भासता परन्तु आत्मा सदा एकरस है। जैसे जल में तरङ्ग और सुवर्ण में भूषण हैं सो भिन्न नहीं; तैसे ही आत्मा में विश्व कुछ हुआ नहीं—आत्मस्वरूप ही है। ज्ञप्ति भी ब्रह्म है और ज्ञप्ति में फुरा विश्व भी ब्रह्म है तो विधि, निषेध और हर्ष, शोक किसका करें? सब वही है। हे रामजी! संकल्प को स्थिर करके देखो कि सब तुम्हारा ही स्वरूप है। जैसे मनुष्य शयन करता है तो उसको स्वप्नसृष्टि भासती है और जब जागता है तब देखता है कि सब मेरा ही स्वरूप है; तैसे ही जाग्रत् विश्व भी तुम्हारा स्वरूप है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उठते हैं सो जलरूप हैं तैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है और जैसे चितेरा काष्ठ में कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी और जैसे मृत्तिका में कुम्हार घटादिक कल्पता है कि इसमें इतने पात्र बनेंगे पर काष्ठ और मृत्तिका में तो कुछ नहीं; ज्यों का त्यों काष्ठ है और ज्यों की त्यों मृत्तिका है परन्तु उनके मन में आकार की कल्पना है; तैसे ही आत्मा में संसाररूपी पुतलियाँ मन कल्पता है जब मन का संकल्प निवृत्त हो तब ज्यों का त्यों आत्मपद भासे। जैसे तरङ्ग जलरूप है; जिसको जल का ज्ञान है सो तरङ्ग भी जलरूप जानता है और जिसको जल का ज्ञान नहीं सो भिन्न भिन्न तरङ्ग के आकार देखता है; तैसे ही जब निस्संकल्प होकर स्वरूप को देखे तब फुरने में भी आत्मसत्ता भासेगी। अहंत्वमादिक सब जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है तो भ्रम कैसे हो और किसको हो। सब विश्व आत्मस्वरूप है और आत्मा निरालम्ब अर्थात् चैत्त्य और अहंकार से

रहित केवल आकाशरूप है। जब तुम उसमें स्थित होगे तब नाना प्रकार की भावना मिट जावेगी, क्योंकि नाना प्रकार की भावना जगत् में फुरती है। जगत् का बीज अहन्ता है; जब अहन्ता नष्ट हो तब जगत् का भी अभाव हो जावेगा। हे रामजी ! अहन्ता का फुरना ही बन्धन है और निरहंकार होना ही मोक्ष है। एक चित्तबोध है और दूसरा ब्रह्मबोध है—चित्तबोध जगत् है और ब्रह्मबोध मोक्ष है। चित्तबोध अहन्ता का नाम है, जबतक चित्तबोध फुरता है तबतक संसार है और जब चित्त का अभाव होता है तब मुक्त होता है। इस चित्त के अभाव का नाम ब्रह्मबोध है। हे रामजी ! जैसे पवन फुरता है तैसे ही ब्रह्म में चित्तबोध है और जैसे पवन ठहर जाता है तैसे ही चित्त का ठहरना ब्रह्मबोध है। जैसे फुर अफुर दोनों पवन ही हैं तैसे ही चित्तबोध और ब्रह्मबोध ब्रह्म ही है—भिन्न कुछ नहीं। हमको तो ब्रह्म ही भासता है जो चैतन्यमात्र और शान्तरूप अपने स्वभाव में स्थित है। जिसको अधिष्ठान का ज्ञान होता है उसको विवर्त भी वही रूप भासता है और जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता उसको भिन्न भिन्न जगत् भासता है। जैसे एक बीज में पत्र, डाल, फूल और फल भासते हैं पर जिसको बीज का ज्ञान नहीं उसको भिन्न भिन्न भासते हैं। हे रामजी ! हमको अधिष्ठान आत्मतत्त्व का ज्ञान है इससे सब विश्व आत्मस्वरूप भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का विश्व और जन्म मरण भासते हैं। हे रामजी ! सब शब्द आत्मतत्त्व में फुरते हैं और सबका अधिष्ठान, निराकार, निर्विकार, शुद्ध आत्मा सबका अपना आप है; इससे सब विश्व आकाशरूप है कुछ भिन्न नहीं। जैसे तरङ्ग जलरूप है तैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है चित्त जो फुरता है उसके अनुभव करनेवाली चैतन्य सत्ता है सो ही ब्रह्म है और तुम्हारा स्वरूप भी वही है; इससे अहं त्वं आदिक जगत् सब ब्रह्मरूप है तुम संशय त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। आगे तुमसे जो द्वैत अद्वैत कहा है वह सब उपदेशमात्र है एकचित्त की वृत्ति को स्थित करके देखो सब ब्रह्म है भिन्न कुछ नहीं तो निषेध किसका कीजिये ? हे रामजी ! चित्त की दो वृत्ति ज्ञानवान् कहते हैं—एक मोक्षरूप है और दूसरी बन्धरूप है। जो वृत्ति स्वरूप की ओर फुरती है सो मोक्षरूप और जो दृश्य की ओर फुरती है सो बन्धरूप है। जो तुमको शुद्ध भासती हो वही करो। जो द्रष्टा है सो दृश्य नहीं होता और दृश्य है वह द्रष्टा नहीं होता पर आत्मा तो अद्वैत है इससे द्रष्टा में दृश्य पदार्थ कोई नहीं। तुम क्यों दृश्य की ओर फुरते हो और अनहोती दृश्य को ग्रहण करते हो ? द्रष्टा भी तुम्हारा नाम दृश्य से होता है। जब दृश्य का अभाव जाना तब अवाच्यपद है उसको वाणी से कहा नहीं जाता। हे रामजी ! जैसे अङ्गी और अङ्गवाले; आकाश और शून्यता; जल और द्रवता और बरफ़ और शीतलता में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। कोई जगत् कहे अथवा ब्रह्म कहे एक ही पर्याय है; जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है। इससे आत्मपद में स्थित हो रहो; भ्रम करके जो आपको कुछ और मानते हो उसको त्यागकर ब्रह्म ही की भावना करो और आपको मनुष्य कदाचित् न जानो जो आपको मनुष्य जानोगे तो यह निश्चय अधोगति को प्राप्त करनेवाला है इससे अपने स्वरूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नाम
शताधिकचतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब देश से देशान्तर को वृत्ति जाती है तो उसके मध्य जो संवित्तत्त्व है उसको जो अनुभव करता है सो तुम्हारा स्वरूप है उसमें स्थित हो रहो और जैसी चेष्टा आवे तैसी करो। देखो, सुनो, स्पर्श करो, गन्ध लो, बोलो, चलो, हँसो, सब क्रिया करो परन्तु इनके जाननेवाली जो अनुभवसत्ता है उसी में स्थित हो रहो। यह जाग्रत् में सुषुप्ति है। चेष्टा शुभ करो और हृदय में फुरने से रहित शिलावत् हो रहो। हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप निराभास; निर्मल और शान्तरूप है। जैसे सुमेरु पर्वत स्थित है तैसे ही हो रहो। यह दृश्य अज्ञान से भासता है पर तमरूप है और आत्मा सदा प्रकाशरूप है; उस प्रकाश में अज्ञानी को तम भासता है। जैसे सूर्य सदा प्रकाशरूप है पर उलूक को नहीं भासता और अज्ञान करके तम ही भासता है तैसे ही अज्ञानी को जो अविद्यारूप जगत् भासता है सो अविचार से सिद्ध है। अविद्या से इसकी विपर्यय दृष्टि हुई है

पर इसका वास्तवस्वरूप निर्विकार है अर्थात् जायते, अस्ति, वर्द्धते, परिणमते, विपक्षीयते, नश्यते इन षट् विकारों से रहित है पर उसको विकारी जानता है; आत्मा निर्विकार निराकार है पर उसको साकार जानता है; आत्मा आनन्दरूप है पर उसको दुःखी जानता है; आत्मा शान्तरूप है पर उसको अशान्त जानता है; आत्मा महत् है पर उसको लघु जानता है; आत्मा पुरातन है पर उसको उपजा मानता है; आत्मा सर्वव्यापक है पर उसको परिच्छिन्न मानता है; आत्मा नित्य है पर उसको अनित्य देखता है; आत्मा चैत्त्य से रहित शुद्ध चिन्मात्र है पर यह उसे चैत्त्यसंयुक्त देखता है; आत्मा चैतन्य है यह उसे जड़ देखता है; आत्मा अहं से रहित सदा अपने स्वभाव में स्थित है और यह अनात्म अहंकार में अहं प्रतीति करता है और आत्मा में अनात्मभावना करता है और अनात्मा में आत्मभावना करता है; आत्मा निरवयव है उसको यह अवयवी देखता है; आत्मा अक्रिय है उसको यह सक्रिय देखता है; आत्मा निरंश है उसको अंशांशीभाव करके देखता है; आत्मा निरामय है पर उसको रोगी देखता है; आत्मा निष्कलङ्क है पर उसको कलङ्कसहित देखता है; आत्मा सदा प्रत्यक्ष है उसको परोक्ष जानता है और जो परोक्ष है उसको प्रत्यक्ष जानता है। हे रामजी! यह सब विकार आत्मा में अज्ञान से देखता है पर आत्मा शुद्ध और सूक्ष्म से सूक्ष्म; स्थूल से स्थूल, बड़े से बड़ा और लघु से लघु है और सर्वशब्द और अर्थ का अधिष्ठान है। हे रामजी! ब्रह्मरूपी एक डब्बा है उसमें जगत्रूपी रत्न है। पर्वत और वनसहित भी जगत् दृष्ट आता है परन्तु आत्मा के निकट रुई के रोम सा लघु है आत्मरूपी वन है उसमें संसाररूपी मञ्जरी उपजी है। पाँचों तत्त्व—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश उसके पत्र हैं उनसे शोभती है सो अहंता के उदय हुए उदय होती है और अहन्ता के नाश हुए नष्ट होती है। आत्मरूपी समुद्र है उसमें जगत्रूपी तरङ्ग हैं सो उठते भी हैं और लीन भी हो जाते हैं। आत्माकाश में संसार भ्रममात्र है और आकाश वृक्ष की नाईं है और आत्मा के प्रमाद से भासता है। हे रामजी! मायारूपी चन्द्रमा की किरणें जगत् है और नेतिशक्ति नृत्य करनेवाली है सो तीनों अविचार सिद्ध हैं और विचार किये से शान्त हो जाते हैं। जैसे दीपक हाथ में लेकर अन्धकार देखिये तो दृष्ट नहीं आता तैसे ही विचार करके देखिये तो जगत् का अभाव हो जाता है और केवल शुद्ध आत्मा ही प्रत्यक्ष भासता है। हे रामजी! जगत् कुछ बना नहीं—जैसे किसी ने बरफ़ कही और किसी ने शीतलता कही तो उसमें भेद नहीं; तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं जो भेद भासता है सो भ्रममात्र है। जैसे तागे और पट में भेद कुछ नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् है। हे रामजी! आत्मरूपी पट में जगत्रूपी चित्र पुतलियाँ हैं और आत्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग हैं सो जलरूप हैं; तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद कुछ नहीं—आत्मा ही है आत्मा से भिन्न कुछ नहीं बना। जिससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते हैं; जिससे सर्व क्रिया सिद्ध होती हैं और जो अनुभवरूप सदा अप्रौढ़ है उसको प्रौढ़ जानना ही मूर्खता है। हे रामजी! यह विश्व तुम्हारा ही स्वरूप है; तुम जागकर देखो तुमही एक हो और स्वच्छ आकाश, सूक्ष्म, प्रत्यक्ष ज्योति अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नाम
शताधिकपञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे जल में लहर और तरङ्ग उठते हैं सो जलरूप हैं; तैसे ही आत्मा में रूप, अवलोक और मनस्कार फुरते हैं सो सब आत्मरूप हैं—भिन्न नहीं। हे रामजी! यह शुद्ध परमात्मा का चमत्कार है और आत्मा दृश्य से रहित, शुद्ध, चिन्मात्र निर्मल और अद्वैत है उसमें जगत् कुछ नहीं बना। हमको तो सदा वही भासता है—जगत् कुछ नहीं भासता। जैसे कोई आकाश में नगर कल्पता है और उसमें सब रचना देखता है सो उसके हृदय में दृढ़ हो जाती है और जो संकल्प की सृष्टि को मिथ्या जानता है उसको शून्याकाश ही भासता है। तैसे ही यह विश्व मूर्ख के हृदय में दृढ़ होता है और ज्ञानवान् को आत्मरूप ही भासता है। जैसे मिट्टी के खिलौने की सेना होती है तो जिसको मिट्टी का ज्ञान है वह उसमें राग द्वेष नहीं करता और बालक मिट्टी के ज्ञान से रहित है इससे वह उसमें राग द्वेष करता है; तैसे ही ज्ञानवान् इस जगत् में राग द्वेष नहीं करते और अज्ञानी राग द्वेष करते हैं। जैसे खिलौने में

रहित केवल आकाशरूप है। जब तुम उसमें स्थित होगे तब नाना प्रकार की भावना मिट जावेगी, क्योंकि नाना प्रकार की भावना जगत् में फुरती है। जगत् का बीज अहन्ता है; जब अहन्ता नष्ट हो तब जगत् का भी अभाव हो जावेगा। हे रामजी ! अहन्ता का फुरना ही बन्धन है और निरहंकार होना ही मोक्ष है। एक चित्तबोध है और दूसरा ब्रह्मबोध है–चित्तबोध जगत् है और ब्रह्मबोध मोक्ष है । चित्तबोध अहन्ता का नाम है, जबतक चित्तबोध फुरता है तबतक संसार है और जब चित्त का अभाव होता है तब मुक्त होता है। इस चित्त के अभाव का नाम ब्रह्मबोध है। हे रामजी ! जैसे पवन फुरता है तैसे ही ब्रह्म में चित्तबोध है और जैसे पवन ठहर जाता है तैसे ही चित्त का ठहरना ब्रह्मबोध है। जैसे फुर अफुर दोनों पवन ही हैं तैसे ही चित्तबोध और ब्रह्मबोध ब्रह्म ही है–भिन्न कुछ नहीं। हमको तो ब्रह्म ही भासता है जो चैतन्यमात्र और शान्तरूप अपने स्वभाव में स्थित है।जिसको अधिष्ठान का ज्ञान होता है उसको विवर्त भी वही रूप भासता है और जिसको अधिष्ठान का ज्ञान नहीं होता उसको भिन्न भिन्न जगत् भासता है। जैसे एक बीज में पत्र, डाल, फूल और फल भासते हैं पर जिसको बीज का ज्ञान नहीं उसको भिन्न भिन्न भासते हैं। हे रामजी ! हमको अधिष्ठान आत्मतत्त्व का ज्ञान है इससे सब विश्व आत्मस्वरूप भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का विश्व और जन्म मरण भासते हैं। हे रामजी ! सब शब्द आत्मतत्त्व में फुरते हैं और सबका अधिष्ठान, निराकार, निर्विकार, शुद्ध आत्मा सबका अपना आप है; इससे सब विश्व आकाशरूप है कुछ भिन्न नहीं। जैसे तरङ्ग जलरूप है तैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है चित्त जो फुरता है उसके अनुभव करनेवाली चैतन्य सत्ता है सो ही ब्रह्म है और तुम्हारा स्वरूप भी वही है; इससे अहं त्वं आदिक जगत् सब ब्रह्मरूप है तुम संशय त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो। आगे तुमसे जो द्वैत अद्वैत कहा है वह सब उपदेशमात्र है एकचित्त की वृत्ति को स्थित करके देखो सब ब्रह्म है भिन्न कुछ नहीं तो निषेध किसका कीजिये ? हे रामजी ! चित्त की दो वृत्ति ज्ञानवान् कहते हैं–एक मोक्षरूप है और दूसरी बन्धरूप है। जो वृत्ति स्वरूप की ओर फुरती है सो मोक्षरूप और जो दृश्य की ओर फुरती है सो बन्धरूप है। जो तुमको शुद्ध भासती हो वही करो। जो द्रष्टा है सो दृश्य नहीं होता और दृश्य है वह द्रष्टा नहीं होता पर आत्मा तो अद्वैत है इससे द्रष्टा में दृश्य पदार्थ कोई नहीं। तुम क्यों दृश्य की ओर फुरते हो और अनहोती दृश्य को ग्रहण करते हो ? द्रष्टा भी तुम्हारा नाम दृश्य से होता है। जब दृश्य का अभाव जाना तब अवाच्यपद है उसको वाणी से कहा नहीं जाता। हे रामजी ! जैसे अङ्गी और अङ्गवाले; आकाश और शून्यता; जल और द्रवता और बरफ़ और शीतलता में कुछ भेद नहीं तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। कोई जगत् कहे अथवा ब्रह्म कहे एक ही पर्याय है; जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है। इससे आत्मपद में स्थित हो रहो; भ्रम करके जो आपको कुछ और मानते हो उसको त्यागकर ब्रह्म ही की भावना करो और आपको मनुष्य कदाचित् न जानो जो आपको मनुष्य जानोगे तो यह निश्चय अधोगति को प्राप्त करनेवाला है इससे अपने स्वरूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नाम
शताधिकचतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब देश से देशान्तर को वृत्ति जाती है तो उसके मध्य जो संवित्तत्त्व है उसको जो अनुभव करता है सो तुम्हारा स्वरूप है उसमें स्थित हो रहो और जैसी चेष्टा आवे तैसी करो। देखो, सुनो, स्पर्श करो, गन्ध लो, बोलो, चलो, हँसो, सब क्रिया करो परन्तु इनके जाननेवाली जो अनुभवसत्ता है उसी में स्थित हो रहो। यह जाग्रत् में सुषुप्ति है। चेष्टा शुभ करो और हृदय में फुरने से रहित शिलावत् हो रहो। हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप निराभास; निर्मल और शान्तरूप है। जैसे सुमेरु पर्वत स्थित है तैसे ही हो रहो। यह दृश्य अज्ञान से भासता है पर तमरूप है और आत्मा सदा प्रकाशरूप है; उस प्रकाश में अज्ञानी को तम भासता है। जैसे सूर्य सदा प्रकाशरूप है पर उलूक को नहीं भासता और अज्ञान करके तम ही भासता है तैसे ही अज्ञानी को जो अविद्यारूप जगत् भासता है सो अविचार से सिद्ध है। अविद्या से इसकी विपर्यय दृष्टि हुई है

पर इसका वास्तवस्वरूप निर्विकार है अर्थात् जायते, अस्ति, वर्द्धते, परिणमते, विपक्षीयते, नश्यते इन षट् विकारों से रहित है पर उसको विकारी जानता है; आत्मा निर्विकार निराकार है पर उसको साकार जानता है; आत्मा आनन्दरूप है पर उसको दुःखी जानता है; आत्मा शान्तरूप है पर उसको अशान्त जानता है; आत्मा महत् है पर उसको लघु जानता है; आत्मा पुरातन है पर उसको उपजा मानता है; आत्मा सर्वव्यापक है पर उसको परिच्छिन्न मानता है; आत्मा नित्य है पर उसको अनित्य देखता है; आत्मा चैत्त्य से रहित शुद्ध चिन्मात्र है पर यह उसे चैत्त्यसंयुक्त देखता है; आत्मा चैतन्य है यह उसे जड़ देखता है; आत्मा अहं से रहित सदा अपने स्वभाव में स्थित है और यह अनात्म अहंकार में अहं प्रतीति करता है और आत्मा में अनात्मभावना करता है और अनात्मा में आत्मभावना करता है; आत्मा निरवयव है उसको यह अवयवी देखता है; आत्मा अक्रिय है उसको यह सक्रिय देखता है; आत्मा निरंश है उसको अंशांशीभाव करके देखता है; आत्मा निरामय है पर उसको रोगी देखता है; आत्मा निष्कलङ्क है पर उसको कलङ्कसहित देखता है; आत्मा सदा प्रत्यक्ष है उसको परोक्ष जानता है और जो परोक्ष है उसको प्रत्यक्ष जानता है। हे रामजी ! यह सब विकार आत्मा में अज्ञान से देखता है पर आत्मा शुद्ध और सूक्ष्म से सूक्ष्म; स्थूल से स्थूल, बड़े से बड़ा और लघु से लघु है और सर्वशब्द और अर्थ का अधिष्ठान है। हे रामजी ! ब्रह्मरूपी एक डब्बा है उसमें जगत्रूपी रत्न है। पर्वत और वनसहित भी जगत् दृष्ट आता है परन्तु आत्मा के निकट रुई के रोम सा लघु है आत्मरूपी वन है उसमें संसाररूपी मञ्जरी उपजी है। पाँचों तत्त्व-पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश उसके पत्र हैं उनसे शोभती है सो अहंता के उदय हुए उदय होती है और अहन्ता के नाश हुए नष्ट होती है। आत्मरूपी समुद्र है उसमें जगत्रूपी तरङ्ग हैं सो उठते भी हैं और लीन भी हो जाते हैं। आत्माकाश में संसार भ्रममात्र है और आकाश वृक्ष की नाईं है और आत्मा के प्रमाद से भासता है। हे रामजी ! मायारूपी चन्द्रमा की किरणें जगत् है और नेतिशक्ति नृत्य करनेवाली है सो तीनों अविचार सिद्ध हैं और विचार किये से शान्त हो जाते हैं। जैसे दीपक हाथ में लेकर अन्धकार देखिये तो दृष्ट नहीं आता तैसे ही विचार करके देखिये तो जगत् का अभाव हो जाता है और केवल शुद्ध आत्मा ही प्रत्यक्ष भासता है। हे रामजी ! जगत् कुछ बना नहीं—जैसे किसी ने बरफ़ कही और किसी ने शीतलता कही तो उसमें भेद नहीं; तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं जो भेद भासता है सो भ्रममात्र है। जैसे तागे और पट में भेद कुछ नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् है। हे रामजी ! आत्मरूपी पट में जगत्रूपी चित्र पुतलियाँ हैं और आत्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग हैं सो जलरूप हैं; तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद कुछ नहीं—आत्मा ही है आत्मा से भिन्न कुछ नहीं बना। जिससे सर्व पदार्थ सिद्ध होते हैं; जिससे सर्व क्रिया सिद्ध होती हैं और जो अनुभवरूप सदा अप्रौढ़ है उसको प्रौढ़ जानना ही मूर्खता है। हे रामजी ! यह विश्व तुम्हारा ही स्वरूप है; तुम जागकर देखो तुमही एक हो और स्वच्छ आकाश, सूक्ष्म, प्रत्यक्ष ज्योति अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थयोगोपदेशो नाम
शताधिकपञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे जल में लहर और तरङ्ग उठते हैं सो जलरूप हैं; तैसे ही आत्मा में रूप, अवलोक और मनस्कार फुरते हैं सो सब आत्मरूप हैं—भिन्न नहीं। हे रामजी ! यह शुद्ध परमात्मा का चमत्कार है और आत्मा दृश्य से रहित, शुद्ध, चिन्मात्र निर्मल और अद्वैत है उसमें जगत् कुछ नहीं बना। हमको तो सदा वही भासता है—जगत् कुछ नहीं भासता। जैसे कोई आकाश में नगर कल्पता है और उसमें सब रचना देखता है सो उसके हृदय में दृढ़ हो जाती है और जो संकल्प की सृष्टि को मिथ्या जानता है उसको शून्याकाश ही भासता है। तैसे ही यह विश्व मूर्ख के हृदय में दृढ़ होता है और ज्ञानवान् को आत्मरूप ही भासता है। जैसे मिट्टी के खिलौने की सेना होती है तो जिसको मिट्टी का ज्ञान है वह उसमें राग द्वेष नहीं करता और बालक मिट्टी के ज्ञान से रहित है इससे वह उसमें राग द्वेष करता है; तैसे ही ज्ञानवान् इस जगत् में राग द्वेष नहीं करते और अज्ञानी राग द्वेष करते हैं। जैसे खिलौने में

सारभूत मृत्तिका होती है तैसे ही इस जगत् में सारभूत चैतन्य आत्मा है। जो कुछ पदार्थ भासते हैं वे आत्मा के विवर्त्त हैं और मिथ्या ही भ्रम से सिद्ध हुए हैं। जो वस्तु मिथ्या हो उसमें सुख के निमित्त इच्छा करना ही मूर्खता है। हे रामजी! हमको तो इच्छा कुछ नहीं, क्योंकि हमको जगत् मृगतृष्णा के जलवत् भासता है किसकी इच्छा करें। जिसमें सत्य प्रतीति होती है उसमें इच्छा भी होती है और जो सत्य ही न भासे तो इच्छा कैसे हो? हे रामजी! इच्छा ही बन्धन है और इच्छा से रहित होने का नाम मुक्ति है। इससे ज्ञानवान् को इच्छा कुछ नहीं रहती उसकी अनिच्छित ही चेष्टा होती है। जैसे सूखे बाँस के भीतर बाहर शून्य होता है और संवेदन उसको कुछ नहीं फुरती तैसे ही ज्ञानवान् के अन्तर शान्ति होती है; अन्तर में संकल्प कोई नहीं उठता और बाहर भी कोई उपाधि नहीं निःसंकल्प निरुपाधि उसकी चेष्टा होती है। हे रामजी! जिस पुरुष के हृदय से संसार का रस सूख गया है वह संसारसमुद्र से पार हुआ है और जिसका रस नहीं सूखा उसको रागद्वेष फुरते हैं उसे संसार बन्धन में जानो। हे रामजी! मैं तुमसे ऐसी समाधि कहता हूँ कि जो सुख से प्राप्त हो और जिससे मुक्त हो। सर्व इच्छा से रहित होना ही परमसमाधि है। जिस पुरुष को इच्छा फुरती है उसको उपदेश भी नहीं लगता। जैसे आरसी के ऊपर मोती नहीं ठहरता तैसे ही उसके हृदय में उपदेश नहीं ठहरता। इच्छा ही जीव को दीन करती है और इच्छा से रहित हुआ शान्तरूप होता है और फिर शान्ति के निमित्त कर्तव्य कुछ नहीं रहता। हे रामजी! हम तो निरिच्छित हैं इससे हमको भीतर बाहर शान्ति है और हमको कर्तव्य करने योग्य कुछ नहीं—यह सब प्रारब्ध के अनुसार रागद्वेष से रहित चेष्टा होती है और बोलते हैं परन्तु बाँसुरी की नाईं। जैसे बाँसुरी अहंकार से रहित बोलती है तैसे ही ज्ञानवान् अहंकार से रहित हैं और स्वाद को ग्रहण करते हैं। जैसे करछी सब व्यञ्जनों में डाली जाती है और उसी के द्वारा सब व्यञ्जन निकलते हैं परन्तु उसको कुछ रागद्वेष नहीं फुरता; तैसे ही ज्ञानवान् स्वाद लेता है। जैसे पवन भली बुरी गन्ध को लेता है परन्तु रागद्वेष से रहित है तैसे ही ज्ञानवान् रागद्वेष की संवेदन से रहित गन्ध को लेता है और इसी प्रकार सर्व इन्द्रियों की चेष्टा करता है परन्तु इच्छा से रहित होता है इसी से परमसुखरूप है। जिसकी चेष्टा इच्छासहित है वह परमदुःखी है। हे रामजी! जिस पुरुष को भोग रस नहीं देते वही सुखी है और जिसको रस देते हैं और जिसकी राग से तृष्णा बढ़ती जाती है उसको ऐसे जानो जैसे किसी के मस्तक पर अग्नि लगे और उसपर तृण बुझाने के निमित्त डाले तो वह बुझती नहीं बल्कि बढ़ती जाती है; तैसे ही विषयों की इच्छा भोगने से तृप्त नहीं होगी। इच्छा ही बन्धन है और इच्छा की निवृत्ति का नाम मोक्ष है। हे रामजी! संसाररूपी विष का वृक्ष है और उसका बीज इच्छा है जिसकी इच्छा बढ़ती जाती है उसका संसार बढ़ता जाता है और उससे वह बारम्बार जन्म पाता है। हे रामजी! ऐसा सुख ब्रह्मा के लोक में भी नहीं जैसा सुख इच्छा की निवृत्ति में है और ऐसा दुःख नरक में भी नहीं जैसा दुःख इच्छा के उपजाने में है। इच्छा के नाश का नाम मोक्ष है और इच्छा के उपजाने का नाम बन्धन है। जिस पुरुष को इच्छा उत्पन्न होती है वह दुःख पाता है और संसाररूपी गढ़े और खत्ते में पड़ता है इच्छारूपी विष की बेल है उसको समतारूपी अग्नि से जलाओ। सम्यक्दर्शन से जलाये बिना बड़ा दुःख देगी और बढ़ती जावेगी। हे रामजी! जिस पुरुष ने इच्छा के दूर करने का उपाय नहीं किया उसने अन्धे कूप में प्रवेश किया है। शास्त्र का श्रवण और तप, दान, यज्ञ इसी निमित्त है कि किसी प्रकार इच्छा निवृत्त हो जो एक ही बार निवृत्त न कर सको तो शनैःशनैः निवृत्त करो। हे रामजी! यह विष की बेल बढ़ी हुई दुःख देती है। जो पुरुष शास्त्रों को पढ़ता और इच्छा को बढ़ाता है वह मानो दीपक हाथ में लेकर कूप में गिरता है इच्छारूपी कँटिआरी का वृक्ष है जिसमें सर्वदा कण्टक लगे रहते हैं—उसमें कदाचित् सुख नहीं। जो पुरुष काँटे की शय्या पर शयन करके सुखी हुआ चाहे तो नहीं होता; तैसे ही संसार से कोई सुख पाया चाहे तो कदाचित् न होगा। जिससे इच्छा निवृत्ति हो वही उपाय किया चाहिये। इच्छा के निवृत्त

होने में सुख है और इच्छा के उत्पन्न होने में बड़ा दुःख है। हे रामजी ! जो अनिच्छित पद में स्थित हुआ है उसको यदि एक क्षण भी इच्छा उपजती है तो वह रुदन करता है। जैसे चोर से लूटा रुदन करता है तैसे ही वह रुदन और पश्चाताप करता है और उसके नाश करने का उपाय करता है। हे रामजी ! इच्छारूपी क्षेत्र में रागद्वेषरूपी विष की बेलि है। जो पुरुष उसके दूर करने का उपाय नहीं करता वह मनुष्यों में पशु है। यह इच्छारूपी विष का वृक्ष बढ़ा हुआ नाश का कारण है। इससे तुम इसका नाश करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इच्छानिषेधयोगोपदेशो
नाम शताधिकषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी। इच्छारूपी विष के नाश करने का उपाय तुमसे आगे भी कहा है और अब फिर स्पष्ट करके कहता हूँ। इच्छा त्याग करने के योग्य संसार है; यदि आत्मसत्ता से भिन्न कीजिये तो मिथ्या है उसमें क्या इच्छा करनी है और जो आत्मा की ओर देखिये तो सर्व आत्मा ही है तो क्यों इच्छा करनी; इच्छा दूसरे में होती है पर दूसरा तो कुछ है ही नहीं तो इच्छा किसकी कीजिये ? हे रामजी ! द्रष्टा और दृश्य भी मिथ्या है; द्रष्टा इन्द्रियाँ और दृश्य विषय; ग्राहक इन्द्रियाँ और ग्राह्य विषय अविचार सिद्ध हैं भ्रम करके भासते हैं आत्मा में कोई नहीं। जैसे स्वप्ने में भ्रम से रूप भासते हैं तैसे ही यह ग्राह्य-ग्राहक भ्रम से भासते हैं और सुख दुःख भी इनहीं से होता है आत्मा में कोई नहीं। हे रामजी ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों ब्रह्म में कल्पित हैं और वास्तव में ब्रह्म ही है; चिरकाल से हम खोज रहे हैं परन्तु द्वैत हमको दृष्टि नहीं आता, एक ब्रह्मसत्ता ही ज्यों की त्यों भासती है जो निराभास, फुरने से रहित और ज्ञानरूप है; आकाश से भी सूक्ष्म है और सर्व जगत् भी वही है—सो मैं हूँ। हे रामजी ! जैसे जल में तरङ्ग; आकाश में शून्यता; पवन में स्पन्द और अग्नि में उष्णता है सो सबही अनन्यरूप है तैसे ही आत्मा में जगत् अनन्यरूप है। आत्मा ही विश्वआकार होकर भासता है और कुछ नहीं हुआ। हे रामजी ! जो वही है तो इच्छा किसकी करते

हो। यह जो मैं तुमसे मोक्ष उपाय कहता हूँ तो तुम आपको क्यों बन्धन करते हो ? बड़ा बन्धन इच्छा ही है जिस पुरुष की इच्छा बढ़ती जाती है वह जगत्रूपी वन का मृग है, उस पशु का संग कदाचित् न करना मूर्ख का संग बुद्धि को विपर्यय कर डालता है इससे विपर्ययबुद्धि को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो रहो। विश्व भी सब तुम्हारा अनुभव है इसका सुख दुःख विद्यमान भी दीखता है परन्तु आत्मा में भ्रममात्र भासता है—कुछ है नहीं। विश्व भी आनन्दरूप शिव ही है; तुम विचार करके देखो दूसरा तो कुछ नहीं जैसे मृत्तिका में नाना प्रकार की सेना हाथी, घोड़ा आदि होते हैं परन्तु मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही सब विश्व आत्मरूप है, भिन्न नहीं और उसमें कारण कार्यभाव देखना भी मूर्खता है। क्योंकि जो दूसरी वस्तु ही नहीं तो कारण कार्य किसका हो और इच्छा किसकी करते हो ? जिस संसार की इच्छा करते हो वह है ही नहीं। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है और सीपी में रूपा भासता है सो दूसरी वस्तु कुछ नहीं अधिष्ठान किरण और सीपी है, तैसे ही अधिष्ठानरूप परमार्थसत्ता ही है। न सुख है, न दुःख है; यह जगत् केवल शिवरूप है। उस शिव चिन्मात्र से मृत्तिका की सेनावत् अन्य कुछ नहीं तो इच्छा कैसे उदय हो ? रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो सर्व ब्रह्म ही है तो इच्छा अनिच्छा भी भिन्न नहीं ? इच्छा उदय हो चाहे न हो। फिर आप कैसे कहते हैं कि इच्छा का त्याग करो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस पुरुष की ज्ञप्ति जागी है अर्थात् जो ज्ञानरूप आत्मा में जागा है उसको सब ब्रह्म ही है और इच्छा अनिच्छा दोनों तुल्य हैं। इच्छा भी ब्रह्म है और अनिच्छा भी ब्रह्म है। हे रामजी ! ज्यों ज्यों ज्ञानसंवित् होती है त्यों त्यों वासना क्षय होती है जैसे सूर्य के उदय हुए रात्रि नष्ट हो जाती है तैसे ही ज्ञान के उपजे से वासना नहीं रहती। हे रामजी ! ज्ञानवान् को ग्रहण और त्याग का कर्तव्य नहीं और उसे इच्छा अनिच्छा तुल्य है। यद्यपि ऐसे ही है परन्तु स्वाभाविक ही उसे वासना नहीं रहती। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नहीं रहता तैसे ही आत्मा के साक्षात्कार हुए द्वैतवासना नहीं रहती। ज्यों

ज्यों ज्ञानकला जागती है त्यों त्यों द्वैत नाश होता जाता है और द्वैत के निवृत्त होने से वासना भी निवृत्त हो जाती है। हे रामजी! ज्यों ज्यों स्वरूपानन्द उसको प्राप्त होता है त्यों त्यों संसार विरस होता जाता है और जब संसार विरस हो गया तब वह वासना किसकी करे? हे रामजी! अमृत में इसको विष की भावना हुई थी इससे अमृत विष भासता था पर जब विष की भावना का त्याग हुआ तब अमृत तो आगे ही था सोई हो जाता है तैसे ही जो कुछ तुमको भासता है सो सब ब्रह्मरूपी अमृत ही है। जब उस ब्रह्मरूपी अमृत में अज्ञान से जगत्‌रूपी विष की भावना होती है तब दुःख पाता है और जब संसार की भावना त्यागी तब आनन्दरूप ही है और उसको करना, न करना, दोनों तुल्य हैं। यद्यपि ज्ञानवान् में इच्छा दृष्टि आती है तौ भी उसके निश्चय में नहीं उसकी इच्छा भी अनिच्छा ही है क्योंकि उसके हृदय में संसार की भावना नहीं तो इच्छा किसकी रहे? हे रामजी! यह संसार है नहीं; हमको तो आकाशरूप भासता है। जैसे और के मनोराज में आने जाने का खेद नहीं होता तैसे ही यह जगत् हमको और की चिन्तनावत् है। जैसे किसी पुरुष ने मनोराज से मार्ग में कोई स्थान रचकर उसमें किवाड़ लगाये हों और नाना प्रकार का प्रपञ्च रचा हो तो दूसरे पुरुष को उसमें जाने के लिये कोई नहीं रोकता और न कोई किवाड़ हैं, न कोई पदार्थ है; उसको शून्यमार्ग का निश्चय होता है; तैसे ही हमको तो सब प्रपञ्च शून्य ही भासता है। अज्ञानी के हृदय में हमारी चेष्टा है पर हमको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता। हे रामजी! जिसको जगत् ही न भासे उसको इच्छा किसकी हो? जिसके हृदय में संसार की सत्यता है उसको इच्छा भी फुरती है और रागद्वेष भी उठता है। जिसको रागद्वेष उठता है तो जानिये कि संसारसत्ता उसके हृदय में स्थित है और जिसको नाना पदार्थसहित संसार सत्य भासता है सो मूर्ख है और वह अज्ञाननिद्रा में सोया हुआ है। जैसे निद्रादोष से कोई स्वप्न में अपना मरण देखता है तैसे ही जिसको यह जगत् सत्य भासता है सो निद्रा में सोया है। हे रामजी! मैंने बहुत

प्रकार के स्थान देखे हैं जिनमें रोग और औषध भी नाना प्रकार के हैं परन्तु इच्छारूपी छुरी के घाव की औषध नहीं दृष्टि आई। वह जप, तप, पाठ, यज्ञ, दान और तीर्थ से निवृत्त नहीं होती और जितने संसार के पदार्थ हैं उनसे भी इच्छारूपी रोग नष्ट नहीं होता; जब आत्मरूपी औषध की जावे तब ही नाश होता है अन्यथा किसी प्रकार यह रोग नहीं जाता। हे रामजी! जिस पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है उसकी इच्छा स्वाभाविक ही निवृत्त हो जाती है और आत्मज्ञान विना अनेक यत्न से भी न जावेगी। जैसे स्वप्न की वासना जागे विना नहीं जाती और अनेक उपाय करिये तौ भी दूर नहीं होती। हे रामजी! ज्यों-ज्यों वासना क्षीण होती है त्यों-त्यों सुख की प्राप्ति होती है और ज्यों-ज्यों वासना की अधिकता है त्यों-त्यों दुःख अधिक हैं। यह आश्चर्य है कि मिथ्या संसार सत्य हो भासता है। जैसे बालक को वृक्ष में वैताल हो भासता है और उससे वह भय पाता है पर वह है नहीं; तैसे ही मूर्खता से आत्मा में संसार कल्पना है उससे जीव दुःखी होता है। हे रामजी! स्थावर-जङ्गम जो कुछ जगत् भासता है सो सब ब्रह्मरूप है, ब्रह्म से भिन्न नहीं पर भ्रम से भिन्न-भिन्न हो भासता है। जैसे आकाश में शून्यता, जल में द्रवता और सत्यता में सत्यता ही है; तैसे ही आत्मा में जगत् है सो न सत्य है और न असत्य है—आत्मा अनिर्वाच्य है। हे रामजी! दूसरा कुछ बना नहीं तो क्या कहिये? केवल ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है सो सबका अपना आप वास्तवरूप है। जब उसका साक्षात्कार होता है तब अहंरूप भ्रम मिट जाता है। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार का अभाव हो जाता है तैसे ही आत्मा के साक्षात्कार हुए अनात्म अभिमानरूपी अन्धकार का अभाव हो जाता है और परम निर्वाण भासता है। उसको एक और दो भी नहीं कह सकते; वह केवल शान्तरूप परम शिव है। जैसे आकाश में नीलता भासती है तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। हे रामजी! जिन्होंने ऐसे निश्चय किया है उनको इच्छा च्छा दोनों तुल्य हैं तौ भी मेरे निश्चय में यह है कि इच्छा के में सुख है। जिसकी इच्छा दिन दिन घटती जावे और आत्मा

की ओर आवे उसको ज्ञानवान् मोक्षभागी कहते हैं, क्योंकि संसार भ्रम से सिद्ध है और अपनी ही कल्पना जगत्रूप होकर भासती है; विचार किये से कुछ नहीं निकलता। संसार के उदय होने से आत्मा को कुछ आनन्द नहीं और नाश होने से खेद नहीं होता, क्योंकि कुछ भिन्न नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और विनशते हैं तो जल को हर्ष और शोक कुछ नहीं होता, क्योंकि वे जल से भिन्न नहीं हैं; तैसे ही सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप है तो इच्छा क्या और अनिच्छा क्या? हे रामजी! आदि जो परमात्मा से चित्तशक्ति फुरी है उसमें जब अहं हुआ तब स्वरूप का प्रमाद हुआ और यही चित्तशक्ति मनरूप हुई; फिर आगे देह इन्द्रियाँ हुईं और अज्ञान से मिथ्याभ्रम उदय हुआ इसी प्रकार अपने साथ मिथ्या शरीर देखता है। जैसे जल दृढ़ जड़ता से बरफ़रूप हो जाता है तैसे ही चित्संवित् प्रमाद की दृढ़ता से मन, इन्द्रियाँ, देहरूप होता है। जैसे कोई स्वप्न में अपना मरना देखता है तैसे ही अपने साथ जीव शरीर को देखता है। जब चित्तशक्ति नष्ट होती है तब शरीर कहाँ--और मन कहाँ यह कोई नहीं भासता? जैसे स्वप्न में भ्रम से शरीरादिक भासते हैं तैसे ही इस जगत् को भी जानो कि मिथ्याभ्रम से उदय हुए हैं। जब अपने स्वरूप की ओर आवे तब सबही भ्रम मिट जाते हैं। हे रामजी! जैसे भ्रम से आकाश में नीलता भासती है तैसे ही विश्व भी अनहोता ही भ्रम से भासता है; आत्मा में कुछ आरम्भ और परिणाम करके नहीं बना--वही स्वरूप है। जैसे आकाश और शून्यता और पवन और स्पन्द में भेद नहीं; तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभवरूप है--कुछ भिन्न नहीं; तैसे ही जगत् और आत्मा अनुभव से कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी! चैतन्य आकाश परम शान्तरूप है; उसमें देह और इन्द्रियाँ भ्रम से भासती हैं और क्रिया, काल, पदार्थ सब भ्रममात्र हैं जब आत्मस्वरूप में जागकर देखोगे तब द्वैतभ्रम निवृत्त हो जावेगा और केवल अद्वैत आत्मा ही भासेगा--दृ का अभाव हो जावेगा। यह पृथ्वी आदिक तत्त्व जो भासते हैं। अविद्यमान हैं और इनकी प्रतिभा मिथ्या उदय हुई है। जैसे हुत

अनहोते पृथ्वी आदिक तत्त्व भासते हैं परन्तु हैं नहीं तैसे ही आत्मा में यह जगत् भासता है। हे रामजी! पृथ्वी, दीवार, कीट, पर्वत आदि प्रपञ्च आकाशरूप हैं तो ग्रहण-त्याग किसका हो? आकाशरूपी दीवार पर संकल्प ने चित्र रचे हैं और रङ्ग चेतना है इससे विश्व संकल्पमात्र है और जैसा-जैसा निश्चय होता है तैसी ही तैसी सृष्टि भासती है। यदि कुछ बना होता तो और का और न भासता; इससे कुछ बना नहीं जैसा संकल्प होता है तैसा ही आगे रूप हो भासता है। हे रामजी! सिद्धों के पास एक चूर्ण होता है उससे वे जो चाहते हैं सो करते हैं पर्वत को आकाश और आकाश को पर्वत करते हैं--वह चूर्ण मैं तुमसे कहता हूँ। जब चित्तरूपी सिद्ध संकल्परूपी चूर्ण से फुरता है तब आत्मरूपी आकाश में पर्वत हो भासते हैं और जब चित्तरूपी सिद्ध का संकल्प उलटता है तब पर्वत भी आकाशरूप हो भासता है। जैसे स्वप्न में संकल्प फुरता है तब अनुभव में पर्वत आदिक पदार्थ भासि आते हैं और जब संकल्प से जागता है तब स्वप्न के पर्वत आकाशरूप हो जाते हैं तो आकाश ही पर्वतरूप हुआ और पर्वत ही आकाशरूप होता है; तैसे ही हे रामजी! यह सृष्टि कुछ बनी नहीं संकल्पमात्र है; जैसा संकल्प होता है तैसा भासता है। जब विश्व के अत्यन्त अभाव का संकल्प किया तब तैसे ही भासता है। जैसे विश्व का अभ्यास किया है और विश्व भासा है तैसे ही आत्मा का अभ्यास कीजिये तो क्यों न भासे? वह तो अपना आप है, जब आत्मा का अभ्यास कीजियेगा तब आत्मा ही भासेगा विश्व का अभाव हो जावेगा। अनेक सृष्टि अपने-अपने संकल्प से आकाश में भासती हैं; जैसा किसी का संकल्प होता है तैसी ही सृष्टि उसको भासती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में दृढ़ संकल्प होता है तो यथाइच्छित पदार्थ निकल आते हैं पर वे कुछ बने नहीं और चिन्तामणि भी परिणाम को प्राप्त नहीं हुई ज्यों की त्यों पड़ी है केवल संकल्प की ता से भासि आते हैं; तैसे ही यह प्रपञ्च भी आकाशरूप है। जैसे आकाश में शून्यता है तैसे ही आत्मा में जगत् है। हे रामजी! सिद्ध वचन फुरते हैं सो ही संकल्प की तीव्रता होती है; जो चित्त शुद्ध

होता है तो दूसरी सृष्टि को भी जानता है। जो पुरुष वचन सिद्धि होने के निमित्त वासना को सूक्ष्म करता है अर्थात् रोकता है तो उससे वचन सिद्धि पाता है और जैसा संकल्प करता है तैसा ही सिद्ध होता है। हे रामजी ! जितना यह दृश्य की ओर से उपराम होकर अन्तर्मुख होता है उतने ही वचन सिद्ध होते जाते हैं—चाहे वर दे, चाहे शाप दे, वह सिद्ध होता है। हे रामजी ! एक प्रमाण ज्ञान है कि यह पदार्थ इस प्रकार है। उसका जो नामरूप है वह सब आकाशरूप भ्रममात्र है—आत्मा में और कुछ नहीं। आत्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग उठते हैं सो आत्मरूप ही है; जिनको ऐसा ज्ञान हुआ है उनको इच्छा और अनिच्छा का ज्ञान नहीं रहता और सब आकाशरूप भासता है। हे रामजी ! आत्मरूपी फूल में जगत्रूपी सुगन्ध है। जैसे पवन और स्पन्द में भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। पत्थर पर लकीर खैंचिये तो वह पत्थर से भिन्न नहीं होती तैसे ही ब्रह्म से जगत् भिन्न नहीं। हे रामजी ! देश, काल, पृथ्वी आदिक तत्त्व और मैं, मेरा सब आत्मरूप है और अविनाशी है। जिनको ऐसे निश्चय हुआ है उनको रागद्वेष नहीं रहता, उन्हें सब आत्मरूप ही भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदुपदेशो नाम
शताधिकसप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! शुद्ध आत्मतत्त्व में जो संवेदन फुरी है उससे आगे जगत् भासित हुआ है। जैसे किसी के नेत्र में एक अञ्जन डालकर आकाश में पर्वत उड़ते दिखाते हैं तैसे ही अनहोता जगत् फुरने से भासता है। हे रामजी ! ब्रह्मसर्ग और चित्तसर्ग में कुछ भेद नहीं, परमार्थ से एक ही है और दृष्टि, सृष्टि पर्याय हैं और नानात्व भी इसकी भावना से भासते हैं आत्मा में दूसरा कुछ नहीं बना। चित्त और चैत्य आत्मा भिन्न नहीं; चित्त ही चैत्य होकर भासता है और ज्ञान से इनकी एक होती है—इसी से दृश्य भी द्रष्टारूप है। जैसे स्वप्न में शुद्ध संवित् ही रूप होकर स्थित होती है और जागे से एक हो जाती है। एक तब होती है जब वही रूप हो, इससे तुम अब भी वही जानो। इत

दर्शन और द्रष्टा त्रिपुटी भी सब वही रूप है। हे रामजी ! जो सजाति है उसकी एकता होती है, विजाति की एकता नहीं होती। जैसे जल में जल की एकता होती है, तैसे ही बोध से सबकी एकता होती है—इससे दृश्य भी वही रूप है कि एकता हो जाती है। जो दृश्य कुछ आत्मा से भिन्न होती तो एकता न होती। हे रामजी ! आकाश आदिक तत्त्व भी आत्मरूप हैं। जिससे ये सर्व हैं; जो यह सर्व है और जो सर्वव्यापी सर्वगत सबको धार रहा है और सब वही है ऐसे सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है। जो कुछ भासता है सर्व वही है। जैसे जल में गलाने की शक्ति है और काष्ठ में नहीं तैसे ही ब्रह्म में भावना स्वभाव है और में नहीं। ब्रह्मभावना से सर्व ब्रह्म ही भासता है। हे रामजी ! जड़ पदार्थ भी ब्रह्म ही हैं, क्योंकि जो भासता है सो ब्रह्म ही है जड़ हो तो भासे नहीं। जड़ चेतनता शुद्ध संवित् में है; उसमें चेतन है भिन्न कुछ नहीं। जैसे शुद्ध संवित् में स्वप्न फुरता है और उसमें जड़ और चेतन भी भासते हैं परन्तु जो जड़ भासते हैं वे भी उस संवित् में चेतन हैं, क्योंकि चेतन हैं तब फुरते हैं। जिनको शुद्ध संवित् में अहंप्रत्यय नहीं वह जान नहीं सकता अज्ञानी है परन्तु सब ब्रह्म है। जैसे समुद्र में जल होता है सो ऊँचे आवे तो भी जल है और नीचे को जावे तो भी जल है तैसे ही जो कुछ दीखता और भासता है सो सब ब्रह्मस्वरूप है भिन्न नहीं और इन्द्रियों का भी आत्मा है। पृथ्वी आदिक तत्त्व जो फुरे हैं उनमें प्रथम आकाश फुरा है, फिर वायु फुरी है; फिर अग्नि, फिर जल और फिर पृथ्वी फुरी है सो सब अनिच्छित चमत्कार फुरे हैं—इससे सब आत्मरूप है। जैसे वट-बीज में वृक्ष होता है तैसे ही आत्मरूपी बीज में जगत् होता है और नाना प्रकार भासते हैं। हे रामजी ! जैसे एक बीज ही नाना प्रकार के रूप धारता है परन्तु बीज से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही आत्मसत्ता नाना प्रकार हो भासती है परन्तु बीज की नाईं भी परिणामी नहीं। विश्व आत्मा का चमत्कार है इससे वही रूप है। जैसे सुवर्ण में अनेक भूषण होते हैं सो सुवर्ण से भिन्न नहीं तैसे ही विश्व आत्मस्वरूप है नहीं और जो आत्मा से इतर हो तो भासे नहीं; इससे जो

भासता है सो चैतन्यरूप है और दृश्य और द्रष्टा एक ही रूप है; द्रष्टा ही दृश्य की नाईं हो भासता है। हे रामजी ! जैसे कोई पुरुष तुम्हारे निकट सोया हो और उसको स्वप्न आवे कि मेघ गर्जते हैं और नाना प्रकार की चेष्टा होती है तो वह सब उसी को भासता है और तुमको नहीं भासता; तैसे ही यह दृश्य तुम्हारी भावना में स्थित है और हमको आकाशरूप है। हे रामजी ! चैतन्य आकाश शान्तरूप है; उसमें सृष्टि कुछ बनी नहीं और जो कुछ उपजा नहीं तो नष्ट भी नहीं होता केवल शान्तरूप है पर भ्रम से जगत् भासता है। कोई जैसे बालक मनोराज से आकाश में पुतलियाँ रचे तो आकाश में कुछ नहीं बना परन्तु उसके संकल्प में है; तैसे ही यह विश्व मनरूपी बालक ने रचा है उसके रचे हुए में ज्ञानवान् को शून्यता भासती है। हे रामजी ! संकल्पमात्र ही सृष्टि हुई है; जब इसका संकल्प नष्ट होता है तब शान्तपद शेष रहता है। निरहंकार सत्तामात्र असत् की नाईं स्थित है फिर उस चिन्मात्र अद्वैत में अहन्ता करके जगत् भासि आता है। जब अहन्ता फुरती है तब जगत् भासता है और जब स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब अहन्तारूप भ्रम मिट जाता है। जब अहन्तारूप भ्रम मिट जाता है तब जगत् और इच्छा का भी अभाव हो जाता है, इससे ज्ञानी को इच्छा और वासना कोई नहीं रहती। जब परिच्छिन्नरूप अहन्ता नष्ट होती है तब उस पद को प्राप्त होता है जिस पद में अणिमा आदिक सिद्धियाँ भी सूखे तृण की नाईं भासती हैं और वह ऐसा आनन्दरूप है जिसमें ब्रह्मादिक का सुख भी तृण समान भासता है। हे रामजी ! जिसको ऐसा ब्रह्मानन्दपद प्राप्त हुआ है उसको फिर किसी की इच्छा नहीं रहती और उसको मारनेवाले विष आदिक पदार्थ मृतक नहीं करते और जिलानेवाले पदार्थ अमृत आदिक नहीं जिलाते केवल निर्वाणपद में उसकी स्थिति है। हे रामजी ! जिस पुरुष को संपूर्ण संसार से वैराग्य हुआ है उसको संसार के पदार्थ सुखदायक नहीं भासते, मिथ्या भासते हैं और वह संसारसमुद्र से प हुआ है। जिनको संसार की वासना और अहन्ता नष्ट हुई है उन मूर्ति देखनेमात्र भासती है और वे निर्वासी ज्ञानवान् शान्तरूप हैं

रामजी ! इच्छा ही बन्धन है जब इच्छा का अभाव हो तब आनन्द हो। इच्छा भी तब फुरती है जब संसार को सत्य जानता है और संसार की सत्यता अहन्ता से भासती है। जब अहन्तारूपी बीज नष्ट हो तब निर्वाणपद की प्राप्ति हो। हे रामजी ! संसार कुछ बना नहीं—भ्रम से सिद्ध हुआ है। सर्व ही ब्रह्म है; उस परमात्मा में जो परिच्छिन्न अहन्ता फुरी वही उपाधि है। हे रामजी ! बुद्धि से आदि लेकर जितनी दृश्य है यह जिसको अपने में स्वाद नहीं देती और जो आकाश की नाईं रहता है उसको सन्त मुक्तरूप कहते हैं। हे रामजी ! यह अहंता अविचार से भासती है और विचार किये से असत्य हो जाती है। अनहोती अहन्ता ने दुःख दिया है; इससे तुम निरहंकार होकर चेष्टा करो। जैसे यन्त्र की पुतली अभिमान से रहित चेष्टा करती है तैसे ही तुम निरहंकार होकर चेष्टा करो और अपने स्वरूप में स्थित हो रहो तब व्यवहार और अव्यवहार तुमको तुल्य हो जावेगा। जैसे पवन को स्पन्द निस्पन्द दोनों तुल्य होते हैं तैसे ही तुमको हो जावेगा और अहंकार से रहित तेरी चेष्टा होगी। अहन्ता ही दुःख है; जब अहन्ता का नाश होगा तब तुम शान्त, निर्मल और अनामय पद को प्राप्त होगे जो सर्वपदार्थ का अधिष्ठान है और सबका अपना आप है; उसमें न कोई सुख है; न दुःख है; न कोई इन्द्रियों का विषय है परमशान्तरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमनिर्वाणयोगोपदेशो नाम
शताधिकाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ १५८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो ज्ञानवान् पुरुष है वह निरावरण है अर्थात दोनों आवरणों से रहित है। एक असत्वापादक आवरण है और दूसरा अभानापादक आवरण है। जो आत्मब्रह्म की सत्यता हृदय में न भासे सो असत्वापादक है और जो आत्मा की सत्यता हृदय में भासे परन्तु दृढ़ प्रत्यक्ष न भासे सो अभानापादक आवरण है। असत्वापादक आवरण अज्ञानी को भासता है और अभानापादक आवरण जिज्ञासु होता है पर ज्ञानवान् को ये दोनों आवरण नहीं रहते इससे वह वरण, शान्तरूप, आकाशवत् निर्मल और निरालम्ब किसी गुणत्व य नहीं होता और एक द्वैतभ्रम उसका नष्ट हो जाता है क्योंकि

उसने आत्मरूपी तीर्थ का स्नान किया है जो अपवित्र को भी पवित्र करता है। जिस पुरुष ने शरीर में आत्मा का दर्शन किया है उसका शरीर भी पवित्र होता है। ऐसे पुरुष को शरीर की सत्यता नहीं रहती और संसार भी नहीं रहता। आत्मा के साक्षात्कार हुए से सब इच्छा नष्ट हो जाती हैं और सर्व ब्रह्म ही भासता है—द्वैत कुछ नहीं भासता। सर्व आत्मस्वरूप है पर उसमें संकल्प से नाना प्रकार की सृष्टि भासती है। हे रामजी! तुम संकल्प की ओर मत जाओ, क्योंकि चित्त की वृत्ति क्षण क्षण में प्रणमती है और अनन्त योजनपर्यन्त चली जाती है। जो उसके अनुभव करनेवाली सत्ता मध्य में है और जिसके आश्रय वह जाती है सो चिन्मात्र तेरा स्वरूप है। जब तुम उसमें स्थित होकर देखोगे तब फुरने में भी ब्रह्मसत्ता भासेगी। हे रामजी! यह संवित सदा प्रकाशरूप, चित्त के क्षोभ से रहित और द्वैतरूप विकार से रहित शुद्ध है। जितने प्रकाश हैं उनके विरोधी भी हैं जैसे दीपक का विरोधी पवन है जो निर्वाण करता है और सूर्य का विरोधी केतु है जो घेर लेता है और महाप्रलय में सर्व प्रकाश तमरूप हो जाते हैं पर आत्मप्रकाश नित्य सिद्ध है; तम को भी प्रकाशता है और सदा ज्ञानरूप एकरस है। उसको त्यागकर और किसी ओर न लगना। हे रामजी! यह दृश्य सब मिथ्या है; जैसे रस्सी में सर्प और सीपी में रूपा कल्पित है। जब तुम जागकर देखोगे तब सबका अभाव हो जावेगा—जैसे वन्ध्या के पुत्र के रूप का अभाव है तैसे ही सब विश्व मिथ्या भासेगा, क्योंकि है नहीं—भ्रममात्र स्वप्न की नाईं अविचारसिद्ध है और विचार किये से आत्मा ही है; भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव से कुछ भिन्न नहीं तैसे ही यह आत्मस्वरूप विश्व भी ज्ञानमात्र है और अहं, मम, देह, इन्द्रियादिक भी सब ज्ञानमात्र हैं—दृश्य कुछ दूसरी वस्तु नहीं। जब ऐसे निश्चय धारोगे तब निश्शोक और मोह से भी रहित होगे और परमार्थसत्ता ज्यों की त्यों भासेगी। जैसे समुद्र तरङ्ग उठते हैं; तैसे ही आत्मा में दृश्य उठती है सो वही रूप है और दुत भिन्न भासे सो मिथ्या है। सब सृष्टि इसके हृदय में स्थित है पर

से बाह्य भासती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने भीतर होती है और अपना स्वरूप होता है पर निद्रादोष से बाहर भासती है और जब जागता है तब अपना ही स्वरूप भासता है; तैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी विचार किये से अपने अनुभव में भासती है। इससे स्थित होकर देखो कि सर्वदा जागती ज्योति है; उसको त्यागकर और यत्न करना व्यर्थ है। हे रामजी! अपने अनुभव में स्थित होना क्या कष्ट है? जो इसे कठिन जानते हैं वे मूढ़ हैं और उनको धिक्कार है, क्योंकि वे गऊ के पग को समुद्रवत् जानते हैं उनसे और कौन मूर्ख है। अनुभव में स्थित होना गऊ के पग की नाईं ही तरना सुगम है और जो और पदार्थों के पाने की इच्छा करेगा तो उनमें व्यवधान है पर आत्मा में व्यवधान कुछ नहीं, क्योंकि अपना आप है। हे रामजी! जिन पुरुषों ने आत्मा में स्थिति पाई है उनको मोक्ष की इच्छा भी नहीं तो स्वर्गादिक की इच्छा कैसे हो? मोक्ष और स्वर्ग आत्मा में रस्सी के सर्पवत् मिथ्या भासते हैं—उनको केवल अद्वैत आत्मा निश्चय होता है। हे रामजी! स्वप्न में सुषुप्ति नहीं और सुषुप्ति में स्वप्न नहीं—इनके अनुभव करनेवाली शुद्ध सत्ता है और ये दोनों मिथ्या हैं। उनको निर्वाण और जीना दोनों तुल्य है। ऐसे जानकर वे इच्छा किसी की नहीं करते—प्रपञ्च उनको शशे के सींग और वन्ध्या के पुत्रवत् भासते हैं। हे रामजी! हमको तो संसार सदा आकाशरूप भासता है। यदि तुम कहो कि उपदेश क्यों करते हो? तो हमको कुछ भास नहीं तुम्हारी ही इच्छा तुमको वशिष्ठरूप होकर उपदेश करती है। हमको विश्व सदा शून्यरूप भासता है और हमको चेष्टा करते भी अज्ञानी जानते हैं पर हमारे निश्चय में चेष्टा भी नहीं और हमारी चेष्टा कुछ अर्थाकार भी नहीं। अज्ञानी की चेष्टा अर्थाकार होती है हमारी चेष्टा सत्य नहीं इससे अर्थाकार भी नहीं होती। जैसे ढोल के शब्द का अर्थ नहीं होता कि क्या कहता है और वाणी से जो शब्द बोला जाता है उसका अर्थ होता है; तैसे ही हमारी चेष्टा अर्थाकार नहीं अर्थात् जन्म नहीं देती और अज्ञानी की चेष्टा जन्म देती है। हमको संसार ऐसे भासता है जैसे अवयवी सर्व अवयवों को अपना

स्वरूप ही देखता है अर्थात् हस्त, पाद, शीश आदिक सबको अपने ही अङ्ग देखता है । हे रामजी ! जगत् में एक ऐसे जीव दृष्टि आते हैं कि उनको हम स्वप्न के जीव भासते हैं और हमको वे शून्य आकाशवत् दृष्टि आते हैं और उनके हृदय में हम नाना प्रकार की चेष्टा करते भासते हैं । हमको तो जगत् ऐसे भासता है जैसे समुद्र में तरङ्ग । मैं भी ब्रह्म हूँ, तुम भी ब्रह्म हो, जगत् भी ब्रह्म है और रूप, अवलोक, मनस्कार सब ब्रह्मरूप है; इससे तुम भी ब्रह्म की भावना करो । अपने स्वभाव में स्थित होना परमकल्याण है और परस्वभाव में स्थित होना दुःख है । हे रामजी ! अपना स्वभाव साधने का नाम मोक्ष है और न साधने का नाम बन्धन है । हे रामजी ! धन, मित्र, क्रिया आदि कोई पदार्थ उपकार नहीं करता केवल अपना पुरुषार्थ ही उपकार करता है सो यही है कि अपने चैतन्य स्वभाव में स्थित होना और परस्वभाव का त्याग करना । जब अपने स्वभाव में स्थित होगे तब सब अपना स्वरूप ही भासेगा । जो स्वरूप से भिन्न होके देखो तो न मैं हूँ; न तुम हो और न जगत् है; सब भ्रममात्र है और मृगतृष्णा के जलवत् भासता है । ऐसे जानो कि मैं भी ब्रह्म हूँ; तुम भी ब्रह्म हो और जगत् भी ब्रह्म है; वा ऐसे जानो कि न तुम हो, न मैं हूँ और न जगत् है तो पीछे जो शेष रहेगा सो तुम्हारा स्वरूप है । हे रामजी ! जिन पुरुषों को ऐसे निश्चय हुआ है कि मैं, तू और जगत् सब ब्रह्म है अथवा मैं, तू और जगत् सब मिथ्या है; उनको फिर कोई इच्छा नहीं रहती और जिनको इच्छा उठती है उनको जानिये कि ब्रह्मआत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ । जब भोगों की वासना निवृत्त हो और संसार विरस हो जावे तब जानिये कि यह संसार से पार हुआ अथवा होगा । हे रामजी ! यह निश्चय करके जानो कि जिसको भोगों की वासना क्षीण होती है उसको स्वभावरूपी सूर्य उदय होता है और भोगों की तृष्णारूपी रात्रि नष्ट होती है । यद्यपि उसमें प्रत्यक्ष भोगों की तृष्णा दृष्टि आती है तो भी भास जाती रहती है और ब्रह्मसत्ता ही भासती है । संसार की ओर वह सुषुप्त और मृतक की नाईं हो जाता है, अपने स्वरूप में रहत

जाग्रत् रहता है और अपने स्वभावरूपी अमृत में मग्न होता है ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठगीतोपदेशो नाम
शताधिकैकोनषष्टितमस्सर्गः ॥ १५६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! रूप, अवलोक और मनस्कार यह परस्वभाव है; इनको ब्रह्मरूप जानो । परस्वभाव क्या है और ब्रह्मरूप क्या है ? सो भी सुनो । हे रामजी ! तुम्हारा स्वरूप शुद्ध आकाश है और उसमें जो रूप, अवलोक और मनस्कार फुरे हैं सो माया से फुरे हैं । माया स्वभाव से परस्वभाव है परन्तु अधिष्ठान इनका आत्मसत्ता है इससे आत्मस्वरूप है आत्मा के जाने से इसका अभाव हो जाता है । हे रामजी ! जब ज्ञान उपजता है तब संसार स्वप्नवत् हो जाता है और उसकी सत्ता कुछ नहीं भासती । जब दृढ़ता होती है तब सुषुप्त हो जाता है इनका भाव भी नहीं रहता, तुरीया में स्थित होता है । जब तुरीयातीत होता है तब अभाव का भी अभाव हो जाता है और परमकल्याणरूप सत्ता समानपद को प्राप्त होती है जो आदि अन्त से रहित परमपद है । ऐसा मैं ब्रह्मस्वरूप परमशान्तरूप और निर्दोष हूँ और जगत् भी सब ब्रह्मरूप है । हमको सदा यही निश्चय है और ऐसा उत्थान नहीं होता कि मैं वशिष्ठ हूँ । हमारा परिच्छिन्न अहंकार नष्ट हो गया है इससे हम निरहंकारपद में स्थित हैं । जब तुम ऐसे होकर स्थित होगे तब परम निर्मल स्वरूप हो जावोगे । जैसे शरत्काल का आकाश निर्मल शोभता है तैसे ही तुम भी शोभोगे । हे रामजी ! कैसे पुरुष को बन्धन है सो भी सुनो जिससे वह आत्मपद को नहीं प्राप्त होता । प्रथम धन और गृह का बन्धन है, दूसरे भोग की तृष्णा और तीसरे बान्धवों का बन्धन है । जिसको इन तीनों की वासना होती है उसको धिक्कार है । बड़े अनर्थ की देनेवाली यह वासना है । यह भोग महारोग हैं; बान्धव दृढ़बन्धनरूप हैं और अर्थ की प्राप्ति अनर्थ का कारण है । इससे इस वासना को त्यागकर आत्मपद में स्थित हो । यह संसार भ्रममात्र है, इसकी वासना करना व्यर्थ है और इसको सत्य न जानना । यह जो को संग और मिलाप भासता है सो कैसा है जैसे बैठे हुए स्मरण

आवे कि मैं अमुक से मिला था तो वह प्रतिभा प्रत्यक्ष हृदय में भासती है। जैसे संकल्प से नगर रच लिया तो उसमें मनुष्यादिकों के चित्र भासने लगते हैं तैसे ही इस जगत् को भी जानो। हे रामजी! तुम, मैं और यह जगत् भ्रममात्र संकल्पनगर के समान है। जैसे भविष्यत् नगर की रचना है तैसे ही यह जगत् है। कर्ता क्रिया कर्म जो भासते हैं सो भी भ्रममात्र हैं केवल आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। आत्मरूपी आकाश में यह जगत्रूपी पुतलियाँ हैं और संकल्प ही प्रत्यक्ष हुआ है वास्तव में केवल शान्तरूप आत्मतत्त्व है। हे रामजी! जो पुरुष स्वभावनिष्ठ हैं उनको आत्मतत्त्व ही भासता है और जिनको आत्मतत्त्व का प्रमाद है उनको नानाप्रकार का जगत् भासता है पर आत्मा में यह जगत् कुछ आरम्भ परिणाम से नहीं बना। जैसे सूर्य की किरणों में अज्ञान से जलाभास भासते हैं तैसे ही आत्मा में अज्ञान से जगत् की प्रतीति होती है। जब आत्मा का सम्यक्ज्ञान हो तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है—जैसे सूर्य की किरणों के जाने से जलभ्रम निवृत्त हो जाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे वशिष्ठगीतासंसारोपदेशो नाम
शताधिकषष्टितमस्सर्गः ॥ १६० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! रूप, अवलोक, मनस्कार सब ब्रह्मरूप हैं। जिसको ज्ञान प्राप्त होता है उसको सब ब्रह्मस्वरूप भासता है—यही ज्ञान का लक्षण है। ज्यों ज्यों ज्ञानकला उदय होती है त्यों त्यों भोगों की वासना क्षीण होती जाती है और जब पूर्णबोध की प्राप्ति होती है तब किसी की इच्छा नहीं रहती। जैसे ज्यों ज्यों सूर्य प्रकाशता है त्यों त्यों अन्धकार नष्ट होता जाता है और जब पूर्ण प्रकाश होता है तब रात्रि का अभाव हो जाता है; तैसे ही जिसको ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसको भोगों की वासना नहीं रहती और संसार उसको जले वस्त्र की नाईं भासता है पर अज्ञानी को सत्य भासता है। जैसे स्वप्न में सुषुप्ति नहीं होती और सुषुप्ति में स्वप्न नहीं होता और स्वप्न का पुरुष सुषुप्ति को नहीं जानता और सुषुप्तिवाला स्वप्नवाले को नहीं जानता तैसे ही जिसको तुरीयापद की प्राप्ति होती है उसको संसार का अभाव हो जाता है और वह अपने स्वभाव में स्थित होता है। जो संसार को सत् जानते हैं वे स्वप्ननर हैं—सुषुप्ति को नहीं जानते। हे रामजी! तेरा स्वरूप जो तुरीयापद है उसको अज्ञानी नहीं जान सकते और जो जानें तो उनका परिच्छिन्न अहंकार नष्ट हो जावे। जब अहंकार नष्ट हो तब सर्व आत्मा हुआ। हे रामजी! जीव को अहन्ता ने तुच्छ किया है; इससे तुम अहन्ता को त्याग करके अपने स्वभाव में स्थित हो रहो। संसाररूपी एक पुतली है जो भ्रम से उठी है; उसका शीश ऊर्ध्व ब्रह्मलोक है; टखने और पाँव पाताललोक हैं; दशोंदिशा वक्षःस्थल है; चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं; तारागण रोम हैं; आकाश वस्त्र है; सुखदुःखरूपी स्वभाव है; पवन प्राणवायु है; बग़ीचे भूषण हैं; द्वीप और समुद्र कङ्कण हैं और लोकालोक पर्वत मेखला है। हे रामजी! ऐसी जो पुतली है सो नृत्य करती है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और नष्ट होते हैं परन्तु जल ज्यों का त्यों ही है तैसे ही जल की नाईं सर्व ब्रह्मरूप है और भ्रम से विकार दृष्टि आते हैं। हे रामजी! कर्ता, क्रिया और कर्म भी आत्मस्वरूप हैं। जब तुम आत्मा की भावना करोगे तब तुम्हारा हृदय आकाशवत् शून्य हो जावेगा। जैसे पत्थर की शिला जड़ होती है; तैसे ही तुम्हारा हृदय जगत् से जड़ और शून्य हो जावेगा। हे रामजी! आत्मपद शान्तरूप और आकाशवत् निर्मल है। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही आत्मा में जगत् है; न उदय होता है और न अस्त होता है केवल शान्तरूप है। उदय अस्त भी तब होता है जब कुछ दूसरी वस्तु होती है पर जगत् कुछ भिन्न नहीं आत्मास्वरूप ही है। द्वैत और एक कल्पना से रहित आत्मा अपने आप में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदुपशमयोगोपदेशो
नाम शताधिकैकषष्टितमस्सर्गः ॥ १६१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह विश्व आत्मा का चमत्कार है। जैसे मृत्तिका की पुतली मृत्तिकारूप और काग़ज़ की पुतली काग़ज़रूप होती है तैसे ही विश्व आत्मरूप है। जैसे मृत्तिका का दीपक नेमात्र होता है और प्रकाश का कार्य नहीं करता तैसे ही यह जगत्

देखनेमात्र है विचार किये से आत्मा के सिवा भिन्नसत्ता कुछ नहीं; इससे जगत् की सत्यता आत्मा से कुछ भिन्न नहीं। जगत् की आस्था आत्मा के आश्रित होती है। जैसे जल में तरङ्ग; आकाश में शून्यता और पवन में फुरना है तैसे ही आत्मा में जगत् अभिन्नरूप है; और जैसे वायु चलती है तब भी पवन है क्योंकि उसको वायु का निश्चय है; जगत् वही स्वरूप है—इससे चैतन्य है। ज्ञानवान् जानता है कि जगत् मेरा ही स्वरूप है। हे रामजी! यह आश्चर्य देखो कि जगत् कुछ दूसरी वस्तु नहीं और भ्रम करके भिन्न भासता है। जैसे कथा में कथा के पुरुष विद्यमान भासते हैं और क्रिया करते हैं तैसे ही इस जगत् को भी मनोमात्र जानो। हे रामजी! जो विद्यमान है सो अविद्यमान हो जाता है और जो अविद्यमान है सो विद्यमान हो जाता है। जैसे स्वप्न में जगत् अनुभवस्वरूप है—भिन्न नहीं तैसे ही जाग्रत् जगत् को विचार से देखोगे तब ब्रह्मस्वरूप ही भासेगा। जैसे जो पुरुष सोया होता है स्वप्न जगत् उसी का रूप है परन्तु जबतक निद्रादोष है तबतक भिन्न भासता है पर जब जागा तब सब अपना ही आप भासता है, तैसे ही जब मनुष्य अपने स्वरूप में स्थित होकर देखता है तब सब अपना आप ही भासता है। हे रामजी! रूप, अवलोक, मनस्कार भी ब्रह्मस्वरूप है पर आत्मा इन्द्रियों का विषय नहीं, वह तो निराकार है और मन के चिन्तने से रहित है। संकल्प से आपही रूप, अवलोक और मनस्कार करके स्थित हुआ है, भिन्न नहीं। सर्व वही है और शास्त्रकारों ने शिव, ब्रह्म, आत्मा, शून्य आदि उसके नाम संकल्प में कहे हैं। आत्मा केवल चिन्मात्र है; वह वाणी का विषय नहीं और शान्तरूप, चैत्य अर्थात् दृश्य से रहित और सर्व शब्द अर्थों का अधिष्ठान है और जगत् उसका चमत्कार है। हे रामजी! आत्मा में एक और द्वैतकल्पना कोई नहीं, क्योंकि वह आत्मत्वमात्र है और जगत् भी आत्मरूप है। जैसे आकाश और शून्यता में भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। हे रामजी! यदि ऐसा भी किसी देश अथवा काल में हो कि सुवर्ण और भूषण में कुछ भेद हो अर्थात् सुवर्ण भिन्न और भूषण भिन्न हो परन्तु आत्मा और जगत् में भेद नहीं; आत्म

ऐसे प्रकाशता है और अपने स्वभाव में स्थित है दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे मृत्तिका की सेना नाना प्रकार की संज्ञा धारती है परन्तु मृत्तिका से भिन्न कुछ दूसरी वस्तु नहीं है तैसे ही फुरने से नाना प्रकार की संज्ञा दृष्टि भी आती हैं परन्तु आत्मा से भिन्न नहीं—वही रूप है। हे रामजी! यह सर्व पदार्थ अनुभव से भासते हैं। पदार्थ की सत्ता अनुभव से भिन्न नहीं। जब तुम अनुभव में स्थित होकर देखोगे तब अनुभवरूप अपना आप ही भासेगा। अपना स्वभाव ज्ञानमात्र है; उसी के जानने का नाम ज्ञान है। हे रामजी! ज्ञान विना जो तप, यज्ञ, दान आदिक क्रिया हैं सो सब व्यर्थ हैं। सब क्रियाओं की सिद्धि ज्ञान से होती है। हे रामजी! जो कुछ क्रिया ज्ञान के निमित्त कीजिये सो ही पुरुषप्रयत्न श्रेष्ठ है और इससे अन्यथा व्यर्थ है। धन के उपजाने में भी और रखने में भी कष्ट है परन्तु जो ज्ञान के साधन निमित्त इसको रखिये और दीजिये तो यह अमृत हो जाता है। हे रामजी! यह जगत् भ्रममात्र है। जैसे मलीन नेत्रवाले को रूप विपर्यय भासता है और स्वप्न की सृष्टि में अज्ञ तज्ञ भी भासते हैं परन्तु असत्यरूप है; तैसे ही यह जगत् विद्यमान भासता है पर अविद्यमान है और आत्मा सदा विद्यमान है। हे रामजी! विद्यमान देव जो विष्णु हैं उनको त्यागकर जो और देव का पूजन करते हैं उनकी पूजा सफल नहीं होती और विष्णु उन पर कोपमान भी होते हैं इसी तरह आत्मा जो अनुभवरूप विद्यमान है उसको त्यागकर जो और का पूजन करते हैं वे जन्ममरण के बन्धन से मुक्त नहीं होते—मूढ़ता में रहते हैं। आत्मदेव की पूजा सुनो। जो कुछ अनिच्छित आवे सो उसको अर्पण कीजिये और इसके जाननेवाले में अहंप्रत्यय करना—यही बड़ी पूजा है। हे रामजी! इस आत्मदेव से भिन्न जो सूर्य, चन्द्रमा आदिक भेदपूजा है सो तुच्छ है। जब तुम आत्मपूजा में स्थित होगे तब और पूजा तुमको सूखे तृण की नाईं भासेगी। दान भी आत्मदेव को ही करना है सो बोध से करने योग्य है और वैराग्य, धैर्य और संतोष बोध का कारण है। यथालाभ में रहकर ब्रह्मविद्या का विचार करो और सन्तों का संग करो। इन

साधनों से जब बोधरूपी सूर्य उदय होगा तब द्वैतरूपी अन्धकार नष्ट हो जावेगा और ज्ञानरूप ही भासेगा। फिर जो ज्ञान उपजा है वह भी शान्त हो जावेगा—इससे उसी देव की पूजा करो जिससे आत्मपद को प्राप्त हो। आत्मदेव की पूजा के निमित्त फूल भी चाहिये इसलिये आत्मविचार करके चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख करना और यथालाभ में संतुष्ट रहकर सन्तों की संगति करना—इन फूलों से निवेदन करना। यह पूजा भी तब होती है जब अन्तःकरण शुद्ध होता है; उससे ज्ञान उत्पन्न होता है और जब ज्ञान उपजता है तब आत्मदेव का साक्षात्कार होता है। ज्ञान का लक्षण सुनो। गुरु और शास्त्र से जो वस्तु सुनी है उसमें स्थित होती है और संसार की वासना क्षीण हो जाती है तब ज्ञानी कहाता है। जब इस ज्ञान की पूर्णता होती है तब जगत् उसको ब्रह्मस्वरूप ही भासता है और तब उसको शस्त्र काट नहीं सकते और सिंह, सर्प, अग्नि और विष का भी भय नहीं होता। हे रामजी! यह विश्व सब आत्मरूप है। जैसी भावना कोई करता है तैसा ही आगे हो भासता है। जब शास्त्र में शास्त्र के अर्थ की भावना होती है तब वही भासते हैं; इसी प्रकार सर्प और अग्नि सब अपने-अपने अर्थाकार भासते हैं। जो सर्व आत्मभावना होती है तब सर्व आत्मा ही भासता है, क्योंकि दूसरी वस्तु कुछ बनी नहीं तो दिखाई कैसे दे। जो पुरुष कृतकृत्य नहीं हुआ और आपको कृतार्थ मानता है पर दुःख की निवृत्ति का उपाय नहीं करता तो दुःख के आये से दुःख ही होवेगा और दुःख उसको चला ले जावेगा और जब सुख आवेगा तब सुख भी चला ले जावेगा। हे रामजी! जो पुरुष सर्व ब्रह्म कहता है पर निश्चय से रहित है और शास्त्र भी बहुत देखता है वह महामूर्ख है। जैसे जन्म का अन्धा सूर्य को नहीं जानता तैसे ही वह आत्मअनुभव से रहित है। जब आत्मपद का साक्षात्कार होगा तब ऐसा आनन्द प्राप्त होगा जिसके पाये से और पदार्थ रस से रहित भासेंगे और ब्रह्मा से काष्ठपर्यन्त सब पदार्थ विरस जावेंगे। इससे आत्मपरायण होकर सदा आत्मपद की भावना क रामजी! जैसे शुद्धमणि के निकट जैसी वस्तु रखिये तैसा ही प्रति

होता है तैसे ही जीव जैसी भावना करता है तैसा ही रूप भासता है। इससे जगत् को ब्रह्मस्वरूप जानो और जो दूसरा भासे उसे भ्रममात्र जानो। जैसे पत्थर की शिला पर पुतलियाँ लिखते हैं सो शिलारूप ही हैं तैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप है। जब आत्मपद की तुमको प्राप्ति होगी तब सब पदार्थ विरस होंगे। हे रामजी! यह जगत् मिथ्या है। जो पुरुष इस जगत् को सत् जानता है और कहता है कि हम मुक्त होंगे सो ऐसा है जैसे अन्धे कूप में जन्म का अन्धा गिरे और कहे कि अन्धकार में मैं सुखी हूँगा। वह मूर्ख है, क्योंकि आत्मज्ञान विना मुक्त नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पुनर्निर्वाणोपदेशो नाम
शताधिकद्विषष्टितमस्सर्गः ॥ १६२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अहन्ता आदि जो जगत् भासता है सो मिथ्या भ्रम करके उदय हुआ है; इसको त्यागकर अपने अनुभवस्वरूप में स्थित हो। इस मिथ्या जगत् में आस्था करनी मूर्खता है। जो ज्ञानवान् है उसको जगत् का अभाव है। अब ज्ञानी और अज्ञानी का लक्षण सुनो। हे रामजी! जैसे किसी पुरुष को ताप चढ़ता है तो उसका हृदय जलता है और तृषा बहुत होती है पर जिसका ताप नष्ट हो गया है उसका हृदय शीतल होता है और जल की तृषा भी नहीं होती; तैसे ही जिस पुरुष को अज्ञानरूपी ताप चढ़ा हुआ है उसका हृदय जलता है और भोगरूपी जल की तृष्णा बहुत होती है पर जिसके हृदय में अज्ञानरूपी ताप मिट गया है उसका हृदय शीतल होता है और भोगरूपी जल की तृष्णा मिट जाती है। अब ताप निवृत्त करने का उपाय सुनो। शास्त्रों के अर्थवाद से तो बुद्धि में भ्रम हो जाता है। मैं तुमसे सुगम उपाय कहता हूँ कि निरहंकार होना ही सुगम उपाय है। 'न मैं हूँ और 'न यह जगत् है'; जब तुम ऐसा निश्चय धारोगे तब सब जगत् तुमको ब्रह्मस्वरूप भासेगा और किसी पदार्थ की वाञ्छा न रहेगी। जब सब पदार्थों को मिथ्या जानकर अपना भी अभाव करोगे तब पीछे प्रत्यक् चैतन्य परमानन्दस्वरूप सबका अधिष्ठान शेष रहेगा।

हे रामजी ! यह अहन्तारूपी यत्न जो उठा है सो मिथ्या है और उस मिथ्या यत्न ने नाना प्रकार काजगत् कल्पा है। अहंकार भी मिथ्या है और जगत् भी मिथ्या है। जब तुम अपने स्वरूप में स्थित होगे तब जगत्भ्रम मिट जावेगा। जैसे स्वप्न के जगत् में सुन्दर पदार्थ भासते हैं और मनुष्य उनकी इच्छा करता है। जबतक जागता नहीं तबतक जानता है कि ये पदार्थ कदाचित् नष्ट न होंगे और कहता है कि अमुक रूप देखिये और अमुक भोजन कीजिये पर जब जाग उठा तब जानता है कि मेरा ही संकल्प था और फिर वे पदार्थ सुन्दर स्मरण भी होते हैं अथवा भासते हैं तौ भी उनको मिथ्या जानता है; तैसे ही जब आत्मा में जागता है तब सर्वब्रह्म ही भासता है। हे रामजी ! इस जगत् का बीज अहन्ता है। जैसे दुःख का बीज पाप होता है तैसे ही जगत् का बीज अहन्ता है, इससे तुम निरहंकार पद में स्थित हो रहो। यह सब तुम्हारा ही स्वरूप है पर भ्रम से जगत् भासता है। हे रामजी ! जगत् का अत्यन्ताभाव है। जैसे रस्सी में सर्प का अत्यन्ताभाव है, परन्तु भ्रमदृष्टि से सर्प भासता है और जब विचाररूपी दीपक से देखिये तो सर्प का अभाव हो जाता है तैसे ही आत्मा में यह जगत् भ्रम से भासता है। जब विचार करके जगत् का अभाव निश्चय करोगे तब आत्मपद ज्यों का त्यों भासेगा। जैसे जब वसन्त ऋतु आती है तब सब फूल, फल और डालें दृष्टि आते हैं सो एक ही रस इतनी संज्ञा को धारता है; तैसे ही तुम जब आत्मपद में स्थित होगे तब तुमको सब आत्मरूप ही भासेगा और सर्वआत्मा ही भासेगा। हे रामजी ! आदि भी आत्मा ही है और अन्त में भी आत्मा ही होगा पर मध्य में जो जगत् के पदार्थ भासते हैं उनकी ओर मत जाओ—जो इनका जाननेवाला है और जिससे सब पदार्थ प्रकाशते हैं उसमें स्थित हो रहो। ये सब मनुष्य मृग की नाईं हैं। जैसे मरुस्थल में जल जानकर मृग दौड़ते हैं तैसे ही जगत्रूपी मरुस्थल की भूमिका शून्य है और तीनों लोक मृगतृष्णा के जल हैं उनमें मनुष्यरूपी मृग दौड़ते हैं और दौड़ते-दौड़ते हार जाते हैं कदाचित् शान्ति नहीं होती, क्योंकि जगत् के पदार्थ सब असत्य हैं। हे रामजी ! रूप अवलोक और मनस्कार सब मृगतृष्णा के जल हैं; इनको जो सत्य जानता है वह मूर्ख है। यह जगत् गन्धर्वनगर की नाईं है तुम जागकर देखो, इनको सत्य जानकर क्यों तृष्णा करते हो। इनको सत्य जानकर तृष्णा करना ही बन्धन है। हे रामजी ! तुम आत्मा हो। इसकी इच्छा से बन्धवान् क्यों होते हो ? जैसे सिंह पिंजरे में आकर दीन होता है पर बल करके जब पिंजरे को तोड़ डालता है तब बड़े वन में जाय निवास करता है और निर्भय होता है तैसे ही तुम भी वासनारूपी पिंजरे को तोड़कर आत्मपद में स्थित हो रहो जो सर्व का अधिष्ठान और सबसे उत्कृष्ट है। जब तुम उस पद को प्राप्त होगे तब इस संसार की वासना नष्ट होकर आनन्द होगा और तुम निर्वाण पद को प्राप्त होकर अफुर होगे; परम उपशम ज्ञेय पद को प्राप्त होगे और द्वैतभाव मिटकर केवल परमार्थसत्ता भासेगी—इसी का नाम निर्वाण है। जैसे कोई मार्ग चलकर तपता आवे तो वह शीतल स्थान में आकर शान्ति पाता है तैसे ही यह चारों भूमिका शान्ति का स्थान हैं। निर्वाणता, निरहंकारता, वासना का त्याग और परम उपशम इनसे ज्ञेय में स्थित होना। जब तुम भी इन भूमिकाओं में स्थित होगे तब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य त्रिपुटी का अभाव हो जावेगा और केवल द्रष्टा ही रहेगा। हे रामजी ! द्रष्टा भी उपदेश जताने के निमित्त कहा है, जब दृश्य का अभाव हुआ तब द्रष्टा किसका हो; केवल अपने आपमें स्थित हो जो शुद्ध है। यह जगत् की सत्यता जन्मों की देनेवाली है। जो जगत् के पदार्थ सुखदायी भासते हैं सो दुःख के देनेवाले हैं, इनको विष जानकर त्याग करो। जैसे आकाश में तरुवरे भासते हैं तैसे ही यह जगत् अनहोता भासता है—आत्मा में दृश्य नहीं। एक ही पदार्थ में दो दृष्टि हैं। ज्ञानी उसको आत्मा और अज्ञानी जगत् जानते हैं।

दो० सब भूतन की रात्रि में, सन्तन का दिन होय।
जो लोकन दिन मानियाँ, सन्त रहे तहँ सोय॥

ज्ञानी परमार्थतत्त्व में जागते हैं और संसार की ओर से सो रहे हैं और अज्ञानी परमार्थतत्त्व में सोये हुए हैं और संसार की ओर सावधान हैं।

हे रामजी! यह जगत् मन से फुरा है और ज्ञानी का मन सत्पद को प्राप्त हुआ है इससे उसे जगत् की भावना नहीं फुरती। जैसे बालक को संसार के पदार्थों का ज्ञान नहीं होता तैसे ही ज्ञानी के निश्चय में जगत् कुछ वस्तु नहीं। हे रामजी! जब ज्ञान उपजता है तब जगत् कुछ भिन्न वस्तु नहीं भासता। जैसे जल की बूँदे जल में डालिये तो भिन्न नहीं भासतीं तैसे ही ज्ञानी को जगत् भिन्न नहीं भासता। जैसे बीज में वृक्ष होता है तैसे ही मन में जगत् स्थित होता है और जैसे वृक्ष बीजरूप है; तैसे ही जगत् मनरूप है। जब जगत् नष्ट हो तब मन भी नष्ट हो जावेगा और मन नष्ट हो तब दृश्य भी नष्ट होगी—एक के अभाव हुए दोनों का अभाव हो जाता है—मन नष्ट हो तो फुरना भी नष्ट हो और फुरना नष्ट हो तो मन भी नष्ट होता है। हे रामजी! जगत् के भीतर बाहर जो हो भासता है वही मन है। इससे जब मन को स्थित करके देखोगे तब जगत् की सत्यता न भासेगी। अज्ञानी के हृदय में जगत् दृढ़ स्थित है इससे वह दुःख पाता है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में भूत भासता है तिससे वह दुःख पाता है। जो निकट है उसको नहीं भासता इससे वह दुःख नहीं पाता। हे रामजी! यह जगत् कुछ सत्य होता तो ज्ञानवान् को भी भासता पर ज्ञानी को नहीं भासता इससे जगत् कुछ वस्तु नहीं है। जैसे एक ही स्थान में दो पुरुष बैठे हों और एक को निद्रा आवे तो उसको स्वप्न का जगत् भासता है और नाना प्रकार की चेष्टा होती है पर दूसरा जो जागता है उसको उसका जगत् नहीं भासता; तैसे ही जो पुरुष परमार्थसत्ता में जागा है उसको जगत् शून्य भासता है। हे रामजी! यह जगत् मिथ्या है; उसकी तृष्णा तुम काहे को करते हो—अपने स्वभाव में स्थित हो रहो। यह जगत् परस्वभाव है—ऐसे जानकर चाहे जैसी चेष्टा करो तुमको बन्धन न करेगी और पूर्वपद की प्राप्ति होगी। जैसे अग्नि से जले सूखे तृण को पवन उड़ा ले जाता है और नहीं जाना जाता कि कहाँ गया; तैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि से जलाया और निरहंकारतारूप पवन से उड़ाया हुआ संसाररूपी तृण न जाना जायगा कि कहाँ गया? जैसे लाखयोजन पर्यन्त चला जावे तो भी यही दृष्टि आता है कि आकाश ही सब

सृष्टि को धार रहा है; तैसे ही सब दृश्य जगत् को आत्मा धारता है। संसार का शब्द अर्थ आत्मा में कोई नहीं, इसको छोड़कर देखो कि सर्व शब्द अर्थ का अधिष्ठान आत्मा ही है। हे रामजी! रूप, अवलोक और मनस्कार मिथ्या उदय हुए हैं—इनका त्याग करो। जैसे मरुस्थल में जलाभास मिथ्या है तैसे ही आत्मा में जगत् मिथ्या भ्रममात्र है। इसके सम्बन्ध से जीव दुःखी होता है। जैसे रस्सी में सर्प और सीपी में रूपा मिथ्या है, तैसे ही आत्मा में जगत् है। तुम आत्मब्रह्म हो, दुःख से रहित अपने स्वभाव में स्थित हो और आत्मदृष्टि से देखो कि सर्व आत्मा है; अथवा जगत् को मिथ्या जानो तौ भी शेष आत्मपद ही रहेगा। जैसे जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति के अभाव हुए शान्तपद शेष रहता है, तैसे ही जगत् का अभाव निश्चय हुए आत्मपद शेष भासेगा। इस जगत् का अत्यन्ताभाव है और जो दृष्टि आता है सो भ्रममात्र है। जो एक काल में होता है वह दूसरे काल में नष्ट हो जाता है। स्वप्न में जाग्रत् का अभाव हो जाता है और जाग्रत् में स्वप्न का अभाव हो जाता है पर सुषुप्ति में दोनों का अभाव हो जाता है इससे वे भ्रममात्र हैं, विश्व आत्मा का चमत्कार है। जैसे समुद्र में तरङ्ग होते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् है। अहन्ता से यह उदय होता है और अहन्ता के अभाव हुए अभाव हो जाता है। जिनको अहन्ता का अभाव निश्चय हुआ है वे ही सन्त और उत्तम पुरुष हैं; उन महानुभाव पुरुषों का अभिमान और भोगों की आशा नष्ट हो जाती है वे निर्भ्रान्तिरूप नित्य ही समाधिरूप होते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मैकताप्रतिपादनन्नाम
शताधिकत्रिषष्टितमस्सर्गः ॥ १६३ ॥

रामजी बोले, हे भगवन्! यह मनरूपी मृग संसाररूपी वन में भटकता है यह समाधानरूप कौन वृक्ष है जिसके नीचे आकर शान्त हो? उसके फूल, फल और लता कैसे हैं और वह वृक्ष कहाँ होता है। सो कृपाकरके कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस प्रकार समाधानरूप वृक्ष उत्पन्न होता है सो सुनो। इसके पत्र, पुष्प और लता आदि सब साधनरूप हैं। हे रामजी! यह वृक्ष सब जीवों को कल्याण के निमित्त

साधने योग्य है अब तुम इसका क्रम सुनो। आत्मिक बल से तो यह उत्पन्न होता है और सन्तजनों के हृदय में यह होता है; चित्तरूपी पृथ्वी में लगता है और वैरागरूपी इसका बीज है। वैराग दो प्रकार से प्राप्त होता है—एक तो दुःख और कष्ट प्राप्त होने से वैराग उपज आता है; दूसरे शुद्ध निष्काम हृदय होता है तो भी वैराग उपजता है। उस वैरागरूपी बीज को जब चित्तरूपी भूमिका में डालते हैं; निर्वासनारूपी हल फेरते हैं और सन्तों की संगति और सत्शास्त्ररूपी जल जो निर्मल, शीतल और हृदयगम्य है मनरूपी क्यारी में पड़ता है तब उस वृक्ष के बढ़ने की आशा होती है। बहुत जल से भी उसकी रक्षा करते हैं, आत्मविचाररूपी सूर्य की किरणों से सुखाते हैं और उसके चहुँफेर धैर्यरूपी बाड़ी करते हैं और तप, दान, तीर्थ, स्नानरूपी चौतरे पर उस बीज को रखके बैठते हैं कि जल न जावे और आशारूपी पक्षी से रक्षा करते हैं कि वैरागरूपी बीज को काढ़ न ले जावे और अभिलाषारूपी बूढ़े बैल से रक्षा करते हैं कि क्षेत्र में प्रवेश करके उसको मर्दन न करे उसके निमित्त सन्तोष और सन्तोष की स्त्री मुदिता दोनों बैठा रखते हैं और इस बीज का नाशकर्ता कुहिरा जो मेघ से उपजता है उससे भी रक्षा करते हैं। संपदा, धन और सुन्दर स्त्रियों का प्राप्त होना ही वैरागरूपी बीज का नाशकर्ता ओला है। इसकी रक्षा का एक सामान्य उपाय है और एक विशेष उपाय है। तप करके इन्द्रियों को वश करना, दुःखी पर दया करना और शास्त्र का पाठ और जाप करना इत्यादिक शुभ क्रियारूपी यन्त्र की पुतली इसके विद्यमान रखिये तो सब विघ्न दूर हो जाता है। दूसरा परम उपाय यह है कि सन्तों की संगति करके सत्शास्त्रों का सुनना, प्रणव जो ॐकार है उसका ध्यान और जप करना और उसका अर्थ विचारना यही त्रिशूलरूप ओलों के नाश का परम उपाय है। जब इतने शत्रुओं से रक्षा करे तब उस बीज की उत्पत्ति हो। सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचाररूपी वर्षाकाल के जल से सींचिये तब अंकुर निकलता है और बड़ा प्रकाश होता है। जैसे द्वितीया

१—ॐकार एवेदं सर्वम्।

के चन्द्रमा को सब कोई प्रणाम करता है तैसे ही सन्तोष, दया और यशरूपी अंकुर निकलता है। उसके दो पत्र निकलते हैं—एक वैराग, दूसरा विचार और वे दिन प्रतिदिन बढ़ते जाते हैं। शास्त्रों से जो सुना है कि आत्मा सत्य है और जगत् मिथ्या है उसका बारम्बार अभ्यास करना चाहिये। इस जल के सींचने से वे अंकुर दिन प्रतिदिन बढ़ते जावेंगे और उनके थम्भ बड़े होंगे। हे रामजी! जब डालें बड़ी होती हैं तब रागद्वेषरूपी वानर उन पर चढ़कर तोड़ डालते हैं इससे इस वृक्ष को दृढ़ वैराग, सन्तोष और अभ्यासरूपी रस से पुष्ट करना योग्य है। जैसे सुमेरु पर्वत है तैसे ही सन्तोष से पुष्ट करना। जब ऐसे होगा तब उसमें सुन्दर पत्र, डालें, फूल और मञ्जरी लगेंगी; बड़े मार्गपर्यन्त इसकी छाया होगी और शान्ति, शीतलता, शुद्धता, कोमलता, दया, यश और कीर्ति इत्यादिक गुण प्रकट होंगे। उसके नीचे मनरूपी मृग विश्राम पाकर शीतल होता है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ताप मिट जाते हैं और परम शान्ति पाता है। हे रामजी! यह मैंने तुमसे समाधानरूपी वृक्ष कहा है। जहाँ यह वृक्ष उत्पन्न होता है उस स्थान की शोभा कही नहीं जाती और जो इस वृक्ष की शरण जाता है उसके ताप मिट जाते हैं और शान्तिमान् होता है। यह वृक्ष ब्रह्मरूपी आकाश के आश्रय बढ़ता है और वैरागरूपी रस और सन्तोषरूपी छाल से पुष्ट होता है। जो पुरुष इसका आश्रय लेगा सो शान्तिमान् होगा। हे रामजी! जबतक मनरूपी मृग इस समाधानरूपी वृक्ष का आश्रय नहीं लेता तबतक भटकता फिरता है, शान्ति नहीं पाता। जैसे मृग वन में भटकता है तैसे ही मनमृग भटकता है और द्वैत, अज्ञान और प्रमादरूपी बधिक मारने लगते हैं उससे दुःख पाता है। जब भय से इन्द्रियरूपी गाँववासियों के निकट जाता है तब वे आप ही इसको देखकर पकड़ लेते हैं अर्थात् विषयों की ओर खींचते हैं और उससे बड़ा कष्ट पाता है। उनके भय से जब फिर वन में जाता है तो वहाँ विषय की अप्राप्तिरूपी ताड़न से दुःखी होता है। जब उसको भी त्यागकर रसरूपी स्थानों को शान्ति के निमित्त दौड़ता है तो कामरूपी श्वान मारने को दौड़ता है

और उसके भय से जब फिर वैरागरूपी वन की ओर धावता है तब क्रोधरूपी अग्नि जलाती है; वासनारूपी मच्छर दुःख देते हैं और लोभ और मोहरूपी अँधेरी में अन्धा हो जाता है। निदान पुत्र और धनरूपी हरेहरे तृणों को देखकर ग्रहण करता है तब गढ़े में गिर पड़ता है। वह गढ़ा तृण से ढपा हुआ है सो तृण पुत्र धन है तिनको सुन्दर देख तब ममतारूपी गढ़े में गिर पड़ता है। इस प्रकार दुःख पाता है। हे रामजी! जब यह मनुष्य झूठ बोलता है तब मृत्तिका में लोटते की सी चेष्टा करता है और जब मनरूपी भेड़िया आता है तब उसको भक्षण कर जाता है। जब समाधानरूपी वृक्ष से जीव विमुख होता है तब इतने कष्ट पाता है और जब मनरूपी भेड़िये से छूटता है तब आशारूपी ज़ंजीर में बन्धवान् होता है; निदान जबतक इस वृक्ष के निकट नहीं आता है तबतक बड़े कष्टस्थानों को जाता है। तमाल वृक्षादिक के तले भी जाता है और कण्टक के वृक्षों के तले भी जाता है परन्तु शान्तिमान् किसी स्थान में नहीं होता—बड़े-बड़े कष्टों को ही पाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हरिणोपाख्याने वृत्तान्तयोगोपदेशो नाम शताधिकचतुःषष्टितमस्सर्गः ॥ १६४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार मूढ़ बुद्ध मनरूपी हरिण भटकता है। इससे मेरा यही आशीर्वाद है कि तुमको उस वृक्ष का संग हो। जब उस वृक्ष के निकट जीव जाता है तब शान्ति होती है और जब इसके नीचे आ बैठता है तब तीनों ताप अन्तःकरण से मिट जाते हैं। जितने विषयरूपी वृक्ष हैं उनके निकट गया मनरूपी मृग शान्ति नहीं पाता पर जब समाधानरूपी वृक्ष के निकट आता है तब शान्ति पाता है और बुद्धि खिल आती है—जैसे सूर्यमुखी कमल सूर्य को देखकर खिल आता है। उस वृक्ष के अनुभवरूपी फल और शास्त्र के विचाररूपी पत्र और फूलों को देखकर वह बड़े आनन्द को पाता है और उस वृक्ष के ऊपर चढ़ जाता है और पृथ्वी का त्याग करता है। जैसे सर्प अपनी पुरानी कञ्चुकी का त्याग करता है और नूतन सुन्दर शरीर से शोभता है। जब उस वृक्ष पर चढ़ता है तब गिरता नहीं, क्योंकि उसके पत्र

बहुत बली हैं उनके आश्रय ठहरता है। समाधानरूपी वृक्ष के सत्शास्त्ररूपी पत्र हैं। जब समाधानरूपी वृक्ष से उतरता है तब शास्त्र के अर्थ में ठहरता है और जितने पदार्थ देखता है वे उसे क्षारवत् दृष्ट आते हैं और अपनी पिछली चेष्टा को स्मरण करके पछताता है। जैसे कोई मद्यपान करके उसमें नीच चेष्टा करे तो जब मद उतरता है तब पछताता है तैसे ही मनरूपी मृग अपनी पिछली चेष्टा को धिक्कार करता है और कहता है कि बड़ा आश्चर्य है जो मैं इतने काल इस वृक्ष से विमुख हुआ भटकता रहा—अब मुझको शान्ति हुई है। जैसे दिन की तपन के अभाव हुए से चन्द्रमुखी कमलिनी को शान्ति होती है तैसे ही मनरूपी मृग को शान्ति होती है। हे रामजी! पुत्र, धन, स्त्री आदिक जो दीखते हैं उनको वह संकल्पपुर और स्वप्नवत् देखता है। जैसे स्वप्न से जागकर कोई स्वप्नपुर को स्मरण करता है परन्तु उसमें अभिमान नहीं होता तैसे ही उसमें भी अभिमान नहीं होता। जब जीव अनुभवरूपी फल को पान करता है तब बड़े आनन्द पाता है जिसको वाणी नहीं कह सकती और शान्त, निर्मल और निरतिशयपद को प्राप्त होता है। जो मन का विषय हो सो सातिशयपद है और जो मन का विषय नहीं वह निरतिशयपद है। जो इन्द्रियों का विषय है उसका नाश भी होता है और जो इन्द्रियों और मन का विषय नहीं उसका नाश नहीं होता। वह उसी अविनाशी पद को पाता है। जैसे किसी को बाण लगता है और उसकी विरोधी बूटी उसके सम्मुख रखिये तो निकल आता है तैसे ही अनुभवरूपी बूटी के सम्मुख हुए मोह बन्धनरूपी शर खुल पड़ते हैं और परमपद पाता है। हे रामजी! ज्ञानवान् जगत् से मृतक हो जाता है; उसको संसार का कुछ लेप नहीं लगता। जैसे लकड़ी विना अग्नि शान्त हो जाती है तैसे ही वासना से रहित ज्ञानवान् की चेष्टा शान्त हो जाती है अर्थात् संसार की सत्यता से रहित बेगम होती है और फिर संसाररूपी अग्नि नहीं उदय होती। तब द्वैत और एक कल्पना भी मिट जाती है और उन्मत्त की नाईं अपने स्वरूप में [illegible] रहता है जैसे मरुस्थल का मार्ग चलनेवाला धूप की इच्छा नहीं

करता तैसे ही ज्ञानी विषयों की तृष्णा नहीं करता। जिसने आत्म-अनुभवरूपी अमृत पान किया है उसको विषयरूपी काँजी की इच्छा नहीं रहती—वह पुरुष सदा निर्वासनिक है। जब जीव निर्वासनिक होता है तब चञ्चल जो मन की वृत्ति है सो सब लीन हो जाती है और केवल आत्मत्वमात्र पद रहता है 'मैं' 'मेरा' इत्यादि भावना नष्ट हो जाती है जब तक चित्त का सम्बन्ध होता है तबतक 'मैं' और 'मेरा' भासता है और जब चित्त का सम्बन्ध मिट जाता है तब एक हो जाता है। जैसे एक सूखा काष्ठ होता है और एक गीला काष्ठ होता है; सूखा तो शुद्ध कहाता है और गीला उपाधिक कहाता है और जब जल सूख गया तब वह भी शुद्ध होता है; तैसे ही जब मन की उपाधि नष्ट होती है तब शुद्ध आत्मा ही रहता है और एकरस भासता है। हे रामजी! संसार द्वितीयभ्रम से भासता है। जैसे पत्थर की शिला में पुतली अनउपजी ही भासती हैं सो न सत् हैं और न असत् हैं; यदि पत्थर से भिन्न करके देखिये तो सत् नहीं और जो शिला में देखिये तो वे ही रूप हैं; तैसे ही जगत् आत्मा से भिन्न सत्य नहीं और आत्मसत्ता में आत्मरूप है। जैसे छोटे बालक के हृदय में जगत् का शब्द अर्थ नहीं होता; तैसे ही ज्ञानी की चेष्टा भी प्रारब्धवेग से होती है और उसके हृदय में जगत् के शब्द अर्थ का अभाव है। हे रामजी! जो कुछ प्रारब्ध होता है सो अवश्य प्राप्त होता है, मिटता नहीं; शुभ हो अथवा अशुभ हो। जैसे मेघ से गिरती हुई बूँद नहीं नष्ट होती मेघ मन्त्रशक्ति से नष्ट होता है; तैसे ही प्रारब्धकर्म उसका भी नष्ट नहीं होता परन्तु वह उसमें बन्धायमान नहीं होता। अज्ञानी के हृदय में संसार सत्य भासता है और भिन्न-भिन्न पदार्थ संयुक्त भासता है; क्योंकि उसे पदार्थों की सत्यता है पर ज्ञानी के हृदय में आत्मा का ज्ञान है उसको संसार की सत्यता नहीं भासती। हे रामजी! यह जो समाधानरूपी वृक्ष मैंने तुमसे कहा है उसकी विधि संयुक्त सेवा करने से अनुभवरूपी फल प्राप्त होता है और जो बोध से रहित होकर सेवन करता है तो अनेक यत्न से भी फल

१—प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः।

की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि उसे ऐसी भावना नहीं कि आत्मा शुद्ध है और सत्चित् आनन्द है। जिनको यह भावना प्राप्त होती है उनको भोगों की इच्छा नहीं रहती। जैसे किसी ने अमृत पान किया हो तो अमल और कटुक फल की वाञ्छा नहीं करता तैसे ही ज्ञानी किसी की इच्छा नहीं करता। जैसे रुई के फाहे को अग्नि लगे और ऊपर से तीक्ष्ण पवन चले तो नहीं जाना जाता कि कहाँ जा पड़ा; तैसे ही जगत्‌रूपी रुई का फाहा ज्ञान अग्नि से दग्ध किया हुआ और वैरागरूपी पवन से उड़ाया नहीं जाना जाता कि कहाँ जा पड़ा। तब आकाश ही आकाश भासता है और जगत् सत्य नहीं भासता तो फिर तृष्णा किसकी करे—तब वह तृष्णा से रहित स्थित होता है। हे रामजी! दुःख का मूल तृष्णा है; तृष्णा ही से भटकता है। जैसे जबतक पर्वतों के पंख थे तबतक वे उड़ते थे, पंख विना उड़ने से रहित होकर गम्भीर स्थित हो रहे हैं; तैसे ही जब मन से वासना नष्ट होती है तब मन स्थिर हो जाता है। हे रामजी! वाञ्छितदेश को पथिक तब जा प्राप्त होता है जब एक देश का त्याग करता है; तैसे ही शुद्धस्वरूप परमानन्द अपना आप आत्मा तब प्राप्त होता है जब धन व लोक और पुत्र एषणा का त्याग करे। जब आत्मा की प्राप्ति होती है तब निर्विकल्पसमाधि से शुद्ध चैतन्य का साक्षात्कार होता है और जब समाधि से उसका साक्षात्कार होता है तब उत्थान हुए भी उसी में स्थित रहता है; परम निर्वाणपद को प्राप्त होता है और चित्तरूपी बेलि दूर हो जाती है। जैसे रस्सी में जो बल होता है तो उसको खैंचकर फिर छोड़ते हैं तब वह सीधी हो जाती है; तैसे ही जिसको समाधि में चैतन्य का साक्षात्कार होता है उसको उत्थानकाल में भी वही भासता है और जिसको उसका प्रमाद है उसको जगत् भासता है। हे रामजी! वस्तु एक है परन्तु उसमें दो दृष्टि हैं। जैसे रस्सी एक है पर सम्यक्‌दर्शी को रस्सी भासती है और असम्यक्‌दर्शी को सर्प हो भासता है; तैसे ही ज्ञानवान् को आत्मा भासता है और अज्ञानी को जगत् भासता है। जिस पुरुष ने ज्ञान से जगत् को असत्य नहीं जाना वह मानो चित्र की अग्नि है उससे कोई कार्य सिद्ध

नहीं होता और जिसको स्वरूप की इच्छा है और जो तृष्णा के नाश करने का प्रयत्न करता है और जगत् को मिथ्या विचारता है वह आत्मपद को प्राप्त होगा और उसकी तृष्णा भी निवृत्त हो जावेगी। हे रामजी! ज्ञानवान् की तृष्णा स्वाभाविक मिट जाती है। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार मिट जाता है तैसे ही वस्तु की सत्ता पाकर उसकी तृष्णा नष्ट हो जाती है और परमपद में स्थित होता है। हे रामजी! जिसको दृश्य में निरसता है वह उत्तम पुरुष है, वह मनुष्यशरीर पाकर ब्रह्म होता है; उसको मेरा नमस्कार है और वह मेरा गुरु है। हे रामजी! जब जीव की बुद्धि विषय से विरस होती है तब कल्याण होता है। वैराग से बोध होता है और बोध से वैराग होता है, क्योंकि परस्पर दोनों सम्बन्धी हैं। जब एक आता है तब दूसरा भी आता है। जब यह आते हैं तब तीनों एषणा निवृत्त होजाती हैं और जब तीनों एषणा नष्ट होती हैं तब अमृत की प्राप्ति होती है। हे रामजी! सन्तों के संग और सत्शास्त्रों को सुन करके स्वरूप का अभ्यास करो—इससे आत्मपद की प्राप्ति होती है। यह तीनों परस्पर सहकारी हैं। जैसे आठ पाँववाला कीट प्रथम चरण को रखकर और चरण को रखता है तब सुख से चला जाता है, तैसे ही सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के सुनने से जो आत्मपद का अभ्यास करता है वह शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होता है और उसे जगत् का अभाव हो जाता है। हे रामजी! जगत् के भाव और अभाव को ज्ञानी जानता है। जैसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति को तुरीयावाला जानता है; तैसे ही जगत् के भाव अभाव को ज्ञानी जानता है। जैसे अग्नि में सूखा तृण डाला दृष्टि नहीं आता, तैसे ही ज्ञानवान् को जगत् नहीं दृष्टि आता। हे रामजी! ज्ञानवान् को सर्वदा समाधि है, कदाचित् उत्थान नहीं होता। जबतक उस पद को प्राप्त न हो तबतक साधना में लगा रहे और जब उस पद को प्राप्त हो तब फिर कोई यत्न नहीं रहता। हे रामजी! इस चित्त के दो प्रवाह हैं—एक तो जगत् की ओर जाता है और दूसरा स्वरूप की ओर जाता है। जो जगत् की ओर जाता है सो उपाधिक है और जो स्वरूप की ओर जाता है सो उपाधि को दूर करनेवाला है। जैसे एक लकड़ी गीली और एक सूखी होती है; जो गीली है उसमें उपाधि जल है सो फैल जाता है और जब जल नष्ट हो जाता है तब वह शुद्ध होती है फिर प्रफुल्लित नहीं होती; तैसे ही संसार की सत्यता से चित्त वृद्ध होता है और जब संसार की वासना नष्ट होती है तब शुद्धपद पाता है। हे रामजी! वाद जो करते हैं सो भी दो प्रकार के हैं; जो वाद किसी को दुःख दे उसे मूर्ख करते हैं और जो परस्पर मित्रभाव से निरूपण तत्त्व का करे सो ज्ञानवान् करते हैं। जैसा जो वाद करते हैं उसका उन्हें दृढ़ अभ्यास होता है और तैसा ही रूप हो जाता है। जो झगड़ा करते हैं उनका वही रूप हो जाता है और जो मित्रता से स्वरूप का वाद करते हैं तो वही रूप होता है—उस पद को पाकर परम शान्ति होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मनमृगोपाख्यानयोगोपदेशो
नाम शताधिकपञ्चषष्टितमस्सर्गः ॥ १६५ ॥

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पूर्वार्द्ध समाप्तम्।

* * *

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीयोगवाशिष्ठ

निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध प्रारम्भ ।

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जिस पुरुष ने समाधानरूपी वृक्ष के फल को जानकर पान किया है और उसको पचाया है उसे परम स्थिति प्राप्त होती है । जैसे पंख टूटे से पर्वत स्थित हो रहे हैं तैसे ही तृष्णारूपी पंख के टूटे से जीव स्थित होता है। हे रामजी! जब उसको फल प्राप्त होता है तब उसका चित्त भी आत्मरूप हो जाता है। जैसे दीपक निर्वाण होता है तब जाना नहीं जाता कि कहाँ गया; तैसे ही आत्मपद के प्राप्त हुए चित्त भिन्न होकर दिखाई नहीं देता। हे रामजी ! जबतक वह अकृत्रिम आनन्द प्राप्त नहीं हुआ और उस पद में विश्राम नहीं पाया तबतक शान्ति प्राप्त नहीं होती। वह पद निर्गुण, शुद्ध, स्वच्छ और परम शान्त है जब उस पद में स्थिति होती है तब परम समाधि हो जाती है। ऐसा त्रिलोकी में कोई नहीं जो उसको उतारे। जैसे चित्र की मूर्ति होती है तैसे ही उसकी अवस्था होती है और उसकी सब चेष्टा इच्छा से रहित होती है। जैसे पंख से रहित पर्वत स्थित होता है तैसे ही मन अमन हो जाता है और शान्तिपद को प्राप्त होता है। हे रामजी! जिसके मन में संसार का अभाव हुआ है वह शान्तिपद को प्राप्त होता है और जो वासनासंयुक्त है तो मन है। जिस क्रम और युक्ति से वासना क्षय हो सो ही कर्त्तव्य है। हे रामजी ! जब वासना क्षय होती है तब बोधरूप शेष रहता है, इसलिये जिस क्रम से वह प्राप्त हो वही किया चाहिये क्योंकि उस पद के प्राप्त हुए विना शान्ति कदाचित् न होगी। जब चित्त उस पद की ओर आवे तब शान्त होकर दुःख से रहित और अविनाशी हो, क्योंकि सर्व आत्मा निर्विभाग; अनन्त परम शान्तिरूप और सबको कर्म के फल

का देनेवाला है। हे रामजी ! जब ऐसे पद को जीव प्राप्त होता है तब उसको उत्थानकाल में भी आत्मा ही भासता है द्वैत नहीं भासता तो समाधि से उत्थान कैसे हो ? ऐसा कोई समर्थ नहीं कि उसको समाधि से उतारे। जब ऐसा पद प्राप्त होता है तब संसार विरस हो जाता है। हे रामजी ! जबतक मनुष्य मूर्तिवत् नहीं होता तबतक विषय का त्याग करे और जब ऐसी दशा हो तब कुछ कर्तव्य नहीं रहता त्याग करे अथवा न करे। यह मुझे निश्चय है कि जब ज्ञान उपजेगा तब विषयों से विरक्त हो जावेगा। ब्रह्मा से आदि काष्ठपर्यन्त जितने पदार्थ हैं वे सब उसको विरस हो जाते हैं। ऐसा जो पुरुष है उसको सदा समाधि है। हे रामजी ! जिसको समाधि का सुख आता है वह स्वाभाविक समाधि की ओर आता है। जैसे वर्षाकाल की नदी स्वाभाविक समुद्र को जाती हैं तैसे ही वह पुरुष समाधि की ओर लगा रहता है। जो पुरुष विषयों से निरिच्छित और आत्मारामी होता है, उसकी वज्रसार की नाईं स्थिति होती है। जैसे पंख से रहित पर्वत स्थित होते हैं तैसे ही जिस पुरुष ने संसार को विरस जानकर त्याग किया है और आत्मा में क्रीड़ा करके तृप्त हुआ है उसका ध्यान चलायमान नहीं होता। हे रामजी ! जिस पुरुष की चेष्टा भी होती है पर संकल्प विकल्प से रहित है वह सदा मुक्तरूप है; उसको कोई क्रिया बन्धन नहीं करती, क्योंकि क्रिया और साधन का अभाव हो जाता है। जिस पुरुष को जगत् विरस हो गया है उसको विषयों की तृष्णा कैसे हो और जब तृष्णा न रही तब दुःख कैसे हो ? दुःख तबतक होता है जबतक विषयों की तृष्णा होती है और विषयों की तृष्णा तब होती है जब अपने स्वभाव को त्यागता है। हे रामजी! जब अपने स्वभाव में स्थित हो तब परस्वभाव जो इन्द्रियों के विषय हैं सो रससंयुक्त कैसे भासें और दुःख और तृष्णा कैसे हो ? हे रामजी ! जब अपने स्वभाव को जानता है तब निर्वाणपद को प्राप्त होता है जो आदि और अन्त से रहित है तिसकी प्राप्ति का उपाय यह है कि वेदान्त का अध्ययन करना और प्रणव का जप करना। जब इनसे थके तब समाधि करे और जब फिर थके तब वहीं जा मनन करे। जब ऐसे दृढ़ अभ्यास

हो तब उस पद को प्राप्त होवेगा जो संसार का पार है और जब उसको पाया तब परमशान्ति को प्राप्त होवेगा और स्वच्छ निर्मल अपने स्वभाव में स्थित होवेगा ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वभावसत्तायोगोपदेशो
नाम शताधिकषट्षष्टितमस्सर्गः ॥ १६६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह संसार बड़ा गम्भीर है और इसका तरना कठिन है जिसको इससे तरने की इच्छा हो उसको यह कर्तव्य है कि वेदान्त का अध्ययन; प्रणव का जाप और चित्त को स्थित करे । जब ऐसा उपाय करे तब ईश्वर उस पर प्रसन्न होंगे और उसके हृदय में विवेक उत्पन्न होगा जिससे संसार असत्य भासेगा और सन्त जनों का संग प्राप्त होगा; जिनका शुभ आचार है और जो परमशीतल और गम्भीर ऊँचे अनुभवरूपी फलसंयुक्त वृक्ष हैं और यश, कीर्ति और शुभ आचाररूपी फूल और पत्रोंसहित हैं। ऐसे सन्तजनों की संगति जब प्राप्त होती है तब जगत् के रागद्वेषरूपी तम मिट जाते हैं। जैसे किसी मजूर के शिर पर भार हो और तपन से दुःखी हो पर जब वृक्ष की शीतल छाया प्राप्त हो तब शीतल होता है और फल के भक्षण से तृप्त होता है और थकान का कष्ट दूर हो जाता है तैसे ही सन्तों के संग से सुख को प्राप्त होता है। जैसे चन्द्रमा की किरणों से शीतल होता है तैसे ही सन्तजनों के वचनों से शान्ति होती है। हे रामजी ! सन्तजनों की संगति किये से पाप दग्ध हो जाते हैं जो पुरुष सकाम तप, यज्ञ और व्रत करते हैं उनकी संगति न कीजिये, क्योंकि वे ऐसे हैं जैसे यज्ञ का थम्भा जो पवित्र भी होता है परन्तु उसकी छाया कुछ नहीं इससे उसके नीचे कोई सुख नहीं पाता। हे रामजी ! सब सकाम कर्म जन्म मरण देनेवाले हैं। यद्यपि यज्ञ, व्रत और तप जिज्ञासु भी करते हैं तो भी उनसे विशेष हैं, क्योंकि निष्काम हैं। उनको विषयों में विरसता है और उनका शुभ आचार है। हे रामजी ! ऐसे जिज्ञासु की संगति विशेष है जिसकी चेष्टा की सब कोई स्तुति करता है और जो सबको सुखदायक भासता है। जो जिज्ञासु नवनीतवत कोमल, सुन्दर और स्निग्ध होता है उसको सन्तों की संगति प्राप्त होती है। हे रामजी ! फूलों के बग़ीचे और सुन्दर फूलों की शय्या आदिक विषयों से भी ऐसा निर्भय सुख नहीं प्राप्त होता जैसा निर्भय सुख सन्तों की संगति से प्राप्त होता है, क्योंकि उनका निश्चय सदा आत्मा में रहता है। हे रामजी ! ऐसे ज्ञानवानों की संगति करके जब हृदय शुद्ध होता है तब आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और जबतक हृदय मलिन है तबतक प्राप्ति नहीं होती। जैसे उज्ज्वल आरसी प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है और लोहे की शिला प्रतिबिम्ब को नहीं ग्रहण करती; तैसे ही जब हृदय उज्ज्वल होता है तब सन्तों के वचन हृदय में ठहरते हैं। और जैसे वर्षाकाल का बादल थोड़े से बहुत हो जाता है तैसे ही जब हृदय शुद्ध होता है तब बुद्धि बढ़ती जाती है। जैसे वन में केले का वृक्ष बढ़ता जाता है तैसे ही बुद्धि बढ़ती जाती है। जब आत्मविषयिणी बुद्धि होती है तब वही रूप हो जाता है और बुद्धि की भिन्नसंज्ञा का अभाव हो जाता है। जैसे लोहे को पारस का स्पर्श होता है तब सुवर्ण हो जाता है और फिर लोहे की संज्ञा नहीं रहती तैसे ही आत्मपद की प्राप्ति हुए बुद्धि की संज्ञा नहीं रहती और विषयभोग की तृष्णा भी नहीं रहती। हे रामजी ! विषयों की तृष्णा और अभिलाषा ने जीव को दीन किया है; जब तृष्णा का त्याग करे तब परम निर्मलता को प्राप्त होता है। जैसे हस्ती शिर पर मृत्तिका डालता है तबतक मलीन है और जब नदी में प्रवेश करता है तब निर्मल हो जाता है; तैसे ही जब जीव तृष्णारूपी राख का त्याग करता है और आत्मा में स्थित होता है तब निर्मल होता है। हे रामजी ! जब भोगों की इच्छा त्यागता है तब बड़ी शोभा धारता है। जैसे सुवर्ण को अग्नि में डालने से उसका मैल जल जाता है और उज्ज्वल रूप धारता है। हे रामजी ! भोगरूपी बड़ा विष है; उसको दिन-दिन त्याग करना विशेष है। जब तृष्णा का त्याग करता है तब अति शोभता है। जैसे राहु दैत्य से रहित हुआ चन्द्रमा शोभा पाता है तैसे ही तृष्णा के वियोग हुए पुरुष शोभता है। हे रामजी ! जब भोगों में वैराग होता है तब दो पदार्थों की प्राप्ति होती है। जैसे नूतन अंकुर के दो पत्र होते हैं तैसे ही तृष्णा के त्याग से एक तो सन्तों की संगति

और दूसरा सत्शास्त्र का विचार उत्पन्न होता है और उनमें जब दृढ़ भावना होती है तब अभ्यास करके वही परमानन्दरूप होता है जिसको वाणी की गम नहीं। तब भोगों की इच्छा से मुक्त होता है और परमशान्त सुख पाता है। जैसे पिंजरे से निकलकर पक्षी सुखी होता है तैसे ही वह सुखी होता है। हे रामजी! जीव को भोग की इच्छा ने ही दीन किया है जब इच्छा निवृत्त होती है तब गोपद की नाईं संसारसमुद्र को लाँघ जाता है तब उसको तीनों जगत् सूखे तृण की नाईं भासते हैं। हे रामजी! जब वह भोग की इच्छा से मुक्त होता है तब ईश्वर होता है। जिस पुरुष को आत्मसुख प्राप्त हुआ है वह भोगों की इच्छा कदाचित् नहीं करता और जब वे आन प्राप्त होते हैं तब भी उसको विरस और मिथ्या भासते हैं इससे उनके भोग को नहीं चाहता। जैसे जाल से निकला हुआ पक्षी फिर जाल को नहीं चाहता तैसे ही वह पुरुष भोगों को नहीं चाहता। जब विषयों की तृष्णा निवृत्त होती है तब परम शोभा पाता है और सन्तों के वचन उसके हृदय में शीघ्र ही प्रवेश करते हैं। हे रामजी! मोक्षरूपी स्त्री के कानों के भूषण सन्तों की संगति हैं। जब साधु की संगति होती है तब अशुभ क्रिया का त्याग हो जाता है और बिराने धन की इच्छा नहीं रहती। तब जो कुछ अपना होता है उसके भी त्यागने की इच्छा होती है और भले भोग जो भोगने के निमित्त आते हैं उनको विभाग देकर खाता है। निदान बड़े उत्तम भोगों से लेकर साग पर्यन्त जो कुछ प्राप्त होता है उसमें से देकर खाता है। जब ऐसे हुआ तब यदि कोई शरीर माँगे तो शरीर भी देता है, क्योंकि उसको देने का अभ्यास हो जाता है पर और से साग माँगने की भी इच्छा नहीं रखता। संतोष से यथाप्राप्त चेष्टा और तप, दान करता है; यज्ञ, व्रत और ध्यान करके पवित्र रहता है और तृष्णा का त्याग करता है। हे रामजी! ऐसा दुःख क्रूर नरक में भी नहीं होता जैसा दुःख तृष्णा से होता है। जो धनवान् हैं उनको धन के उपजाने की चिन्ता है; रखने की चिन्ता है और उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते, सोते सदा धन की ही चिन्ता रहती है। इस ही चिन्ता में वे पचिपचि मर जाते हैं और फिर जन्मते हैं। हे

रामजी! निर्धन को भी चिन्ता रहती है परन्तु थोड़ी होती है। जबतक चिन्ता रहती है तबतक दुःखी रहता है पर जब चिन्ता नष्ट होती तब परम सुखी होता है। हे रामजी! यद्यपि धनी हो और उसे संतोष नहीं तो वह परम दरिद्री है और जो धन से हीन है परन्तु संतोषवान् है वह ईश्वर है। जिसको संतोष है उसको विषय बन्धन नहीं कर सकते। हे रामजी! जबतक धन की इच्छा नहीं की तबतक भोगरूपी विष नहीं लगता और जब धन की इच्छा उपजती है तब परम विष लगता है; विपरीत भावना में दुःख होता है और जो दुःखदायक पदार्थ हैं उनको सुखदायक जानता है। हे रामजी! जो कुछ अर्थ है वही अनर्थ है; जिसको संपदा जाना है वही आपदा है और जिनको भोग जाना है वही सब रोगरूप हैं। इनको संपदा जानकर बिचरता है इससे बड़ा दुःखी होता है। हे रामजी! रसायन सब दुःख नाश करती है परन्तु वह देवताओं के पास होती है। यदि अमृत चाहिये तो संतोष परम रसायन है। जब विषयों में दोषदृष्टि होती है और संतोष धारण करता है, तब मूर्खता दूर हो जाती है और गोपद की नाईं संसारसमुद्र से शीघ्र ही तर जाता है। जैसे गोपद को सुगम ही लंघ जाते हैं तैसे ही संसारसमुद्र को वह सुगम तर जाता है। हे रामजी! जिसको संतोष प्राप्त होता है उसको परम शान्ति होती है। कदाचित् वसन्तऋतु भी सुख का स्थान हो; नन्दनवन भी सुख का स्थान हो; उर्वशी आदिक अप्सरा हों; चन्द्रमा विद्यमान बैठा हो; कामधेनु विद्यमान हो और इन्द्रियों के सब सुख विद्यमान हों तो भी शान्ति न होगी परन्तु एक संतोष से ही शान्ति होगी। संतोषवान् को यह विषय चला नहीं सकते। हे रामजी! जैसे अर्घा भरभर छोड़ने से तालाब नहीं भरा जाता और जब मेघ के जल की वर्षा होती है तब शीघ्र ही भर जाता है; तैसे ही विषय के भोगने से शान्ति नहीं होती पर संतोष से पूर्ण आनन्द और ओज की प्राप्ति होती है। गम्भीर, निर्मल, शीतल, हृदयगम्य और सबका हितकारी ओज संतोषी पुरुषों को प्राप्त होता है। और जो ओज हैं वे सात्त्विकी, राजसी और तामसी होते हैं पर यह शुद्ध सात्त्विकी है।

जिस पुरुष को संतोष होता है वह ऐसे शोभता है जैसे वसन्तऋतु का वृक्ष फूल, फल और पत्रों से शोभा पाता है और जिसको तृष्णा है वह चरणों के नीचे आये कीटवत् मर्दन होता है। हे रामजी! जिसको तृष्णा है उसको संतोष और शान्ति कदाचित् नहीं होती। जैसे जल में डाला तृणों का पूला तीक्ष्ण पवन से बड़े क्षोभ को प्राप्त होता है तैसे ही तृष्णावान् पुरुष को क्षोभ होता है। हे रामजी! जो पुरुष अर्थ के निमित्त सदा इच्छा करता है वह अग्नि में प्रवेश करता है अर्थात् सर्वदा काल तपता रहता है और जैसे गर्दभ विष्ठा के स्थान में प्रवेश करता है तैसे ही तृष्णावान् जो विषयरूपी स्थान में प्रवेश करता है सो गर्दभ है। जैसे गर्दभ के साथ स्पर्श करना योग्य नहीं तैसे ही तृष्णावान् गर्दभ से स्पर्श करना योग्य नहीं है। हे रामजी! यह संसार मिथ्या है; जो इस संसार के पदार्थों को चाहता है वह मूर्ख है। इस जगत् के अधिष्ठान के प्राप्त होने से निर्वासनिक होता है और जब निर्वासनिक होता है तब संतोष को प्राप्त होता है। तब ऐसा होता है जैसे तारों में चन्द्रमा शोभा पाता है—इससे इच्छा के नाश करने का उपाय करो। हे रामजी! जब इच्छा नष्ट होती है और संतोषरूपी गम्भीरता प्राप्त होकर द्वैतकलना मिटती है तब उसी को पण्डित परमपद कहते हैं। यह पद कैसे प्राप्त होता है सो भी श्रवण करो। हे रामजी! जब संसार से वैराग, सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के अर्थों और आत्मा में दृढ़भावना होती है तब जगत् विरस हो जाता है अर्थात् जगत् असत् भासता है हृदय में शान्ति होती है; आपको ब्रह्म जानता है और परिच्छिन्नता मिट जाती है। जब तक आपको परिच्छिन्न जानता था तबतक सब दुःखों का अनुभव करता था और जब सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों से जगत् विरस हुआ तब परमपद को प्राप्त होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मोक्षोपदेशो नाम
शताधिकसप्तषष्टितमस्सर्गः ॥ १६७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब संसार से वैराग होता है तब सन्तों की संगति होती है; फिर शास्त्र सुनता है तब सम्पूर्ण जगत् विरस हो

जाता है। जब जगत् विरस हुआ और आत्मा में दृढ़ अभ्यास हुआ तब अपनी स्वभावसत्ता प्रकाशित होती है, उसी स्वभावसत्ता में स्थित हुए परमानन्द की प्राप्ति होती है जिसमें वाणी की गम नहीं। हे रामजी! जब यह अवस्था प्राप्त होती है तब मन अमन हो जाता है; अर्थों की तृष्णा नहीं रहती; जो अपने पास होता है उसको रखने की भी इच्छा नहीं रहती—सहज त्याग हो जाता है—और पुत्र, धन, स्त्री आदिक सब विरस हो जाते हैं। यद्यपि वह इनके बीच भी रहता है तौ भी इनमें 'अहं' 'मम' अभिमान नहीं करता। जैसे मज़दूर किसी मार्ग में आ उतरता है और मार्गवाले से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता तैसे ही वह किसी विषय से सम्बन्ध नहीं रखता और जो अनिच्छित इन्द्रियों के सुख प्राप्त होते हैं उनमें रागद्वेष नहीं करता। जैसे किसी पत्थर की शिला पर जल चला जाता है तो उसको कुछ रागद्वेष नहीं होता, तैसे ही ज्ञानवान् को रागद्वेष किसी में नहीं होता। हे रामजी! उसके शरीर की यह स्वाभाविक अवस्था हो जाती है कि वह एकान्त को चाहता है और वन और कन्दरा में रहने की इच्छा करता है। मुमुक्षु को अज्ञान के स्थान स्त्रीभोग, राग-द्वेष के इष्ट-अनिष्ट भी जो दैवसंयोग से प्राप्त होते हैं तौ भी शीघ्र ही त्याग देता है। हे रामजी! जब क्षेत्र में बीज डालना होता है तब पहले जो काँटा आदि होते हैं उन्हें फड़ुवे से काटकर दूर किया जाता है तब खेत अच्छा और सुन्दर फलता है; तैसे ही जिस पुरुष को मनरूपी क्षेत्र में अनुभवरूपी फल देखना हो सो इच्छारूपी कण्टक और वृक्षों को अनिच्छारूपी फड़ुवे से काटे और संतोषरूपी बीज को बोवे तो क्षेत्र भी सुन्दर फलेगा। हे रामजी! जब अनुभवरूपी फल प्राप्त होता है तब मनुष्य सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से भी स्थूल हो जाता है और सर्व आत्मा होकर स्थित होता है। हे रामजी! जब चित्त अदृश्य होता है तब द्वैत भावना मिट जाती है और जब द्वैत भावना मिटी तब चित्त अदृश्यता को प्राप्त होता है। उस चित्त को जो उपशम का सुख होता है सो वाणी से कहा नहीं जाता—उसका नाम निर्वाणपद है। जब ईश्वर की भक्ति करता है और दिनरात्रि चिरकाल

पर्यन्त भक्ति करता रहता है तब ईश्वर प्रसन्न होता है और निर्वाणपद की प्राप्ति होती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सर्वतत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ! वह कौन ईश्वर है और उसकी भक्ति क्या है जिसके करने से निर्वाणपद को प्राप्त होता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह ईश्वर दूर नहीं; उसमें भेद भी कुछ नहीं और दुर्लभ भी नहीं, क्योंकि अनुभव ज्योति है और परमबोध स्वरूप है। सर्व जिसके वश हैं; जो सर्व है और जिससे सर्व है उस सर्वात्मा को मेरा नमस्कार है। हे रामजी! सब कोई उसी को पूजते हैं। जाप, मन्त्र, तप, दान, होम जो कुछ कोई करता है सो सर्व ही उसको पूजते हैं। देवता, दैत्य, मनुष्य जो कुछ स्थावर-जङ्गम जगत् है वे सब उसी को पूजते हैं और सबको फल देनेवाला भी वही है। उत्पत्ति और प्रलय में जो पदार्थ भासते हैं वे सब उसी से सिद्ध होते हैं—ऐसा वह ईश्वर है। जब उस ईश्वर की प्रसन्नता होती है तब वह अपना एक दूत, जो शुभक्रिया संयुक्त पवित्र है भेजता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ईश्वर जो अद्वैतआत्मा शुद्धब्रह्म है उसका दूत कौन है और वह कैसे आता है सो मुझे कहिये। वशिष्ठजी ने कहा, हे रामजी! वह ईश्वर जो परमदेव है उसका दूत विवेक है और हृदयरूपी गुफा में उदय होता है। जब वह उदय होता है तब उससे परम शोभा प्राप्त करता है। जैसे चन्द्रमा के उदय हुए आकाश शोभा पाता है तैसे ही वह पुरुष शोभा पाता है। हे रामजी! जब विवेकरूपी दूत आता है तब जीव को संसार से पवित्र करता है। प्रथम वासनारूपी मैल से भरा था और चिन्तारूपी शत्रु ने बाँधा था पर जब विवेकरूपी दूत आता है तब चित्तरूपी शत्रु को मारता है और वासनारूपी मैल को नाश करके देव के निकट ले जाता है। जब उस देव का दर्शन होता है तब परमानन्द को प्राप्त होता है और बड़ा सुख पाता है। हे रामजी! संसाररूपी समुद्र में मृत्युरूपी भँवर है, तृष्णारूपी तरङ्ग है, अज्ञानरूपी जल है और इन्द्रियाँरूपी तँदुये(ग्राह)हैं। उसी समुद्र में यह जीव पड़े हैं। जब विवेकरूपी नौका अकस्मात् प्राप्त होती है तब संसारसमुद्र से पार होते हैं। हे रामजी! जीव प्रमाद से ही जड़ता को प्राप्त हुए हैं। जैसे जल शीतलता से ओले की संज्ञा को पाता है तैसे ही प्रमाद से जीवसंज्ञा पाता है और वासना से ढप गया है पर जब अन्तर्मुख होता है तब उस देव के सम्मुख होता है और वह देव प्रसन्न होता है। उसके सहस्रशीश, सहस्रपाद, सहस्रभुजा, सहस्रनेत्र और सहस्रकर्ण हैं। सर्वचेष्टा को वही करता है और देखता, सुनता, बोलता और चलता भी वही है और अपने स्वभावसत्ता से प्रकाशता है। जैसे सब देहों में चलनाशक्ति पवन की है तैसे ही प्रकाशशक्ति उस देव की है। जब जीव उसके सम्मुख होता है तब वह प्रसन्न होके विवेकरूपी दूत भेजता है तब इसको सन्त की संगति होती है और सत्शास्त्रों को सुनकर उनके अर्थ में दृढ़भावना होती है और वह विवेकरूपी दूत इसको अदृश्यता में प्राप्त करता है तब यह शून्य हो जाता है। फिर यह शून्य को भी त्यागकर बोधमात्र में स्थित होता है तब पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है। हे रामजी! जीव आनन्दस्वरूप है और यह विश्व भी अपना आप है परन्तु अज्ञान से भिन्न भासता है। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा, मरुस्थल में जल और आकाश में तरवरे भासते हैं तैसे ही भ्रान्ति से जगत् भासता है पर भूतों के भीतर बाहर और अधः ऊर्ध्व में सब ब्रह्मदेव ही व्याप रहा है और स्थावर, जङ्गम आदि सब जगत् उसी आत्मतत्त्व के आश्रय फुरता है; इससे वही स्वरूप है और वही सबको धार रहा है। वही ईश्वर ब्रह्म है और गम्भीर, साक्षी, आत्मा, ॐकार, प्रणव सब उसी के नाम हैं। जब ऐसे ईश्वर की कृपा होती है तब जीव अन्तर्मुख होकर निर्मल होता है। हे रामजी! जब हृदय शुद्ध होता है तब आत्मपद की ओर भावना होती है कि सब आत्मा ही है। जब यह भावना होती है सो ही भक्ति है—तब वह ईश्वर कृपा करके विवेकरूपी दूत भेजता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विवेकदूतवर्णनं नाम
शताधिकाष्टषष्टितमस्सर्गः ॥ १६८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब विवेक की दृढ़ता होती है तब जीव उस परमपद को प्राप्त होता है जो चैत्य से रहित चैतन्य घन है। तब चैत्य का सम्बन्ध टूट जाता है। जब चैत्य का सम्बन्ध टूटा तब विश्व

का क्षय हो जाता है; जब विश्व क्षय हुआ तब वासना भी नहीं रहती। हे रामजी! यह जगत् भी फुरने से है। जब जीव शुद्ध चैतन्य में चैत्योन्मुखत्व होता है तब मनोमात्र शरीर होता है जिसको अन्तवाहक कहते हैं और जब वासना की दृढ़ता होती है तब आधिभौतिक भासने लगता है। हे रामजी! इसका उत्थान ही अनर्थ का कारण है; जब यह चेतन होता है तब इसको अनर्थ की प्राप्ति होती है और मैं-मेरा इत्यादिक जगत् भासि आता है; जो यह न हो तो जगत् भी न हो; इसके होने से ही जगत् भासता है। इससे मेरा यही आशीर्वाद है कि तुम चेतनता से शून्य हो जाओ और अहन्तारूपी चेतनता से रहित अपने बोध में स्थित रहो। हे रामजी! मन से ही जगत् हुआ है सो मन और जगत् दोनों मिथ्या और शून्य हैं। रूप, अवलोक और मनस्कार तीनों का नाम जगत् है सो मृगतृष्णा के जलवत् मिथ्या शून्य है। जब इनका अभाव होता है तब शून्य भी नहीं रहता केवल बोधमात्र चैतन्य होता है। हे रामजी! दृश्य, दर्शन और द्रष्टा ये तीनों भावनामात्र हैं; जब ये होते हैं तब जगत् भासता है और जब अहन्ता का अभाव होता है तब आत्मपद शेष रहता है। जैसे सुवर्ण में भूषण होते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् है दूसरी वस्तु कुछ नहीं बनी। वासना से दृश्य भासता है सो वासना मन से फुरी है और मन अज्ञान से हुआ है। जब मन अमनपद को प्राप्त होता है तब दृश्य सब एक ही रूप हो जाती है। जबतक वासना उठती है, तबतक मन में शान्ति नहीं होती। जैसे कोई पुरुष भँवरी घुमाता है तो बल चढ़ते जाते हैं और जब ठहरता है तब वह बल उतर जाता है; तैसे ही जबतक चित्त वासना करके भ्रमता है तबतक जन्मरूपी बल चढ़ते जाते हैं और जब चित्त ठहरता है तब जन्म का अभाव हो जाता है। हे रामजी! जबतक चित्त का दृश्य के साथ सम्बन्ध है तबतक कर्म से नहीं छूटता और जब चित्त का दृश्य से सम्बन्ध टूटता है तब शुद्ध अद्वैतपद को प्राप्त होता है। हे रामजी! जब शुद्धचिन्मात्र में उत्थान होता है तब उसका नाम चैत्योन्मुखत्व होता है, वही अहन्ता दृश्य की ओर फुरती जाती है तब प्रमाद हो जाता है और जड़ता होती

है। जैसे जल ओला हो जाता है तैसे ही चित्तशक्ति प्रमाद से जड़ हो जाती है। जब दृढ़ वासना ग्रहण करता है तब अन्तवाहक से आधिभौतिक अपना शरीर दृष्टि आता है; फिर पृथ्वी आदिक भूत भासने लगते हैं और ज्यों-ज्यों चित्तशक्ति बहिर्मुख फुरती जाती है त्यों-त्यों संसार होता जाता है। जब चित्तवृत्ति फुरने से रहित होकर अपने स्वरूप की ओर आती है तब अपना आप ही भासता है; द्वैत मिट जाता है और परमानन्द अद्वैतपद भासता है। जब पूर्णबोध होता है तब द्वैत और एक संज्ञा भी जाती रहती है केवल आत्मत्वमात्र शुद्ध चैतन्य रहता है और ईश्वर से एकता होती है और जगत् की भास जाती रहती है। जब उस पद की प्राप्ति होती है तब दृश्य का अभाव हो जाता है, क्योंकि जगत् भावनामात्र है। जैसे भविष्यकाल का वृक्ष आकाश में हो तैसे ही यह जगत् है, क्योंकि इसका अत्यन्त अभाव है—कुछ बना नहीं, भ्रान्ति करके भासता है। हे रामजी! मेरे वचनों का अनुभव तब होगा जब स्वरूप का ज्ञान होगा और तभी ये वचन हृदय में फुरेंगे। जैसे कथावाले के हृदय में कथा के अर्थ फुरते हैं तैसे ही मेरे ये वचन आन फुरेंगे। हे रामजी! जबतक मन फुरता है तबतक जगत् का अभाव नहीं होता और जब मन उपशम होता है तब जगत् का अभाव हो जाता है। जैसे स्वप्न को जब स्वप्ना जानता है तब फिर स्वप्न के पदार्थों की इच्छा नहीं करता पर जबतक सत्य जानता है तबतक इच्छा करता है। हे रामजी! सब जीव वासना से ढँपे हुए हैं। जब वासना का क्षय होता है उसी का नाम ज्ञान है। अज्ञानरूपी भूत इनको लगा है उससे उन्मत्त होकर जगत् भासता है और जगत् के भासने से नाना प्रकार की वासना दृढ़ हो गई है उससे दुःख पाते हैं। जब यह चित्त उलटकर अन्तर्मुख हो और आत्मा में दृढ़ भावना करे तब ज्ञानरूपी मन्त्र प्राप्त होता है और अज्ञानरूपी भूत जाता रहता है। हे रामजी! अनुभवरूपी कल्पवृक्ष में जैसी भावना होती है तैसा ही भान होता है। हे रामजी! प्रथम इसका शरीर अन्तवाहक था और अपना स्वरूप भूला न था इससे आपको आत्मा ही जानता था और जगत् अपना संकल्प-

मात्र भासता था। जब उस संकल्प में दृढ़ भावना हुई तब वह शरीर आधिभौतिक भासने लगा और जब उसमें दृढ़भावना हुई तब देह और इन्द्रियाँ सब अपने में भासने लगीं तो इनके सुख दुःख को जानने लगा और जब जगत् के सुख दुःख भासे तब सर्व आपदा प्राप्त हुईं पर वास्तव में न कोई सुख है, न दुःख है और न जगत् है केवल भावना मात्र है। जैसी चित्त की भावना होती है तैसे ही आगे भासता है। हे रामजी ! जब यह भावना उलटकर अन्तर्मुख आत्मा की ओर होती है तब एकही बोध का भान होता है और जब एक बोध का भान होता है तब द्वैत सब मिट जाता है। हे रामजी ! आत्मा में अन्तवाहक भी नहीं है। यह जो ब्रह्मा है वह भी बोधस्वरूप है; यदि बोध से भिन्न अन्तवाहक कुछ होता तो भासता। अन्तवाहक भी उसी से है—अन्तवाहक शुद्धचिन्मात्र में चैत्योन्मुख होना और चित्तशक्ति फुर रहने का नाम है। जब उसको पञ्चतन्मात्रा का सम्बन्ध होता है तो यही जड़-चेतन ग्रन्थि है। चित्तशक्ति चेतन है और पञ्चतन्मात्रा जड़ है—इनके इकट्ठा होने का नाम अन्तवाहक शरीर है। यदि यह भी आत्मा में कुछ हुआ होता तो ये वचन न होते—इससे चिन्मात्र है, कुछ बना नहीं, क्योंकि आत्मा अद्वैत है। हे रामजी ! दूसरा कुछ बना नहीं पर भ्रम से द्वैत भासता है; तैसे ही यह जाग्रत् भी भ्रान्ति से भासता है कुछ है नहीं। हे रामजी ! जब है नहीं तो किसकी इच्छा करता है ? इतना सुख इन्द्रियों के इष्टभोग से नहीं होता जितना इनके त्यागने से होता है। हे रामजी ! एक यज्ञ है जिसके किये से पुरुष परमपद को प्राप्त होता है पर वह यज्ञ तब होता है जब एक थम्भा गड़े और उसके नीचे बलि करे। जब यज्ञ कर चुके तब सर्व त्याग करना होता है। तब फल की प्राप्ति होती है। इस क्रम के किये विना यज्ञ सफल नहीं होता। सो वह थम्भा क्या है; बलि क्या है; यज्ञ क्या है; त्याग क्या है और फल क्या है सो श्रवण करो। हे रामजी ! ध्यानरूपी तो थंभा गाड़े कि आत्मपद का सदा अभ्यास हो और उसके आगे तृष्णारूपी बलि करे और ज्ञानरूपी यज्ञ करे—अर्थात् आत्मा के जो नित्य, शुद्ध, बोधरूप, अद्वैत, निर्विकल्प,

देह, इन्द्रियाँ, प्राण आदिक से रहित इत्यादि विशेषण वेदशास्त्र में कहे हैं ऐसे जानने का नाम ज्ञान है। यही यज्ञ है। ध्यानरूपी थम्भे, तृष्णारूपी बलि और मनरूपी दृश्य को जीतकर यह यज्ञ पूर्ण होता है। जब ऐसा यज्ञ समाप्त होता है तब उसके पीछे दक्षिणा भी चाहिये तब यज्ञ का फल हो। सर्वस्व देना ही दक्षिणा है—सो अहंकार त्याग करना ही सर्वस्व त्याग है। जब सर्वस्व त्याग होता है तब यह यज्ञ सफल होता है। इसका नाम विश्वजित् यज्ञ है। जब इस प्रकार यज्ञ होता है तब इसका फल भी होता है—सो फल यह है कि यद्यपि अङ्गारों की वर्षा हो, प्रलयकाल का पवन चले और पृथ्वी आदिक तत्त्व नाश हों तो ऐसे क्षोभों में भी चलायमान नहीं होता। यह फल प्राप्त होता है कि कदाचित् स्वरूप से नहीं गिरता—यह शत्रुनाश वज्र ध्यान है। हे रामजी ! अहन्ता का त्याग करना सबसे श्रेष्ठ त्याग है। जो कार्य अहन्ता के त्याग किये से होता है सो और उपाय से नहीं होता और तप, दान, यज्ञ, दमन, उपदेश इन उपाधियों से भी अहन्ता का त्याग करना बड़ा साधन है; और सर्व साधन इसके अन्तर हैं। हे रामजी ! जब तुम अहन्ता का त्याग करोगे तब तुमको भीतर बाहर ब्रह्मसत्ता ही भासेगी और द्वैतभ्रम सम्पूर्ण मिट जावेगा। हे रामजी ! मन के सब अर्थरूपी तृणों को ज्ञानरूपी अग्नि लगाइये और वैराग्यरूपी वायु से जगाइये। जब इन तृणों को भस्म कर डालो तब तुम परम शान्ति को प्राप्त होगे। मन के जलाने से परम संपदा प्राप्त होती है--इससे भिन्न सब आपदा है। मन उपशम करने में कल्याण है। यह जो भीतर बाहर नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं सो मन के मोह से उत्पन्न हुए हैं; जब मन उपशम को प्राप्त हो तब नाना प्रकार जो भूतों की संज्ञा है अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, पृथ्वी आदिक सो सब आकाशरूप हो जाते हैं। हे रामजी ! यह सर्व ब्रह्म है; ज्ञानी को एकसत्ता भासती है, क्योंकि दूसरा कुछ बना नहीं भ्रम से जगत् भासता है। उसमें जब नाना प्रकार की वासना होती है तो अपनी-अपनी वासना के अनुसार जगत् को देखता है। इससे तुम जागो और वासना के पिंजरे को काटकर आत्मपद को प्राप्त हो

रहो। हे रामजी! अज्ञान से जो आत्मपद की तरफ़ से सोये पड़े हैं और वासना के पिंजरे में पड़े हैं उन अज्ञानियों की नाईं तुम न होना। अज्ञान से जीव का नाश होता है; जो कुछ जगत् देखते हो सो भ्रममात्र है। जैसे बाँसुरी में पवन का शब्द होता है तैसे ही यह भी प्राणवायु से बोलते दृष्टि आते जानो। जगत् भ्रममात्र है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वसत्तोपदेशो नाम
शताधिकनवषष्टितमस्सर्गः ॥ १६९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सम्पूर्ण जगत् में सप्त प्रकार की सृष्टि है और सात ही भाँति के जीव हैं उनको भिन्न-भिन्न सुनो। एक स्वप्न जाग्रत के हैं; दूसरे संकल्प जाग्रत् के हैं; तीसरे केवल जाग्रत् के हैं; चौथे फिर जाग्रत के हैं; पञ्चम दृढ़ जाग्रत् के हैं; छठे जाग्रत् स्वप्न के हैं और सप्तम क्षीण जाग्रत् के हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने जो यह सात प्रकार की सृष्टि कही सो बोध के निमित्त मुझसे खोलकर कहिये। यह ऐसे है जैसे नदियों के जल का समुद्र में अभेद हो और इनका पूछना भी ऐसे ही है जैसे एक जल से फेन, बुद्बुदे और तरङ्ग वायु से होते हैं इसलिये विस्तार से कहो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक तो यह है कि किसी जीव को किसी कल्प में अपनी जाग्रत् में सुषुप्ति हुई और उसमें जो स्वप्न हुआ तो उसको हमारी जाग्रत् का जगत् भासि आया और वह उसको शब्द अर्थ संयुक्त सत जानकर ग्रहण करने लगा, तो उसके स्वप्न में हम स्वप्न नर हैं परन्तु उसके निश्चय में नहीं, क्योंकि वह अपनी जाग्रत् मानता है पर हमारा और उसका कल्प एक हो गया है इसी से वह भी जाग्रत् जानता है और पूर्वकल्प में भी उसका शरीर चैतन्य फुरता था परन्तु सोया पड़ा है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जब वह पुरुष अपने कल्प में जागे तब यह उसको क्या भासता है और जब वह जागे नहीं और वहाँ कल्प का प्रलय हो तब उसकी क्या अवस्था हो? एवम् यदि यहाँ ज्ञान की प्राप्ति हो तो उस शरीर की क्या अवस्था हो? सो क्रम करके कहो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यदि वह पुरुष अपने कल्प में जागे तो यह जाग्रत् उसको स्वप्न भासे और जो वहाँ न जागे और उस कल्प का प्रलय हो तो वह जीव वहीं चेष्टा करे। यदि ज्ञान की प्राप्ति हो तो उस शरीर और इस शरीर की वासना इकट्ठी होकर निर्वाण हो और जो ज्ञान न प्राप्त हो तो उस शरीर को त्यागकर और जगत्भ्रम भास आवे। आपको पूर्ववत् जाने चाहे न जाने परन्तु जगत्भ्रम विना ज्ञान नहीं मिटता। हे रामजी! यह और वह दोनों तुल्य हैं; ब्रह्मसत्ता सब ठौर समान प्रकाशती है। हे रामजी! जैसे गूलर में मच्छर होते हैं तैसे ही ये जीव भी भ्रम से फुरते हैं। यह जाग्रत् कही और स्वप्न में जो जाग्रत् है उसका नाम स्वप्न जाग्रत् है। पुरुष बैठा हो और चित्त की वृत्ति ठहर जाय पर निद्रा नहीं आई उसमें जो मनोराज हुआ और उस मनोराज में जगत् होके उसी में दृढ़ वासना हो गई और पूर्व की वासना विस्मरण हुई; यह सत् भासी और उसमें मनोराज का शरीर भासा वही आधिभौतिकता दृढ़ हो गई उसका नाम संकल्पजाग्रत् है। आदि परमात्मतत्त्व से फुरा और आत्मा में जो जगत् भासित हुआ उसको संकल्पमात्र जाना उसका नाम केवल जाग्रत् है। आदि परमात्मतत्त्व से फुरना हुआ; उसमें सृष्टि हुई और उसको सत् जानकर ग्रहण किया; स्वरूप का प्रमाद हुआ और आगे जन्मान्तर को प्राप्त हुआ उसका नाम चिरजाग्रत् है। जब इसमें दृढ़ घनभूत वासना हुई और पापकर्म करने लगा उसके वश से स्थावर योनि पाई तो उसका नाम घनजाग्रत् और सुषुप्तजाग्रत् है। जब इसमें सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों के विचार से बोध प्राप्त हुआ तब यह जाग्रत् उसको स्वप्न हो जाती है उसका नाम स्वप्नजाग्रत् है। जब बोध में दृढ़ स्थिति हुई तब उसको तुरीयापद कहते हैं—इसका नाम क्षीणजाग्रत् है। जब इस पद को प्राप्त होता है तब परमानन्द की प्राप्ति होती है। हे रामजी! ये सात प्रकार के जीव और सृष्टि मैंने तुमसे कही है। इनको विचार करके देखो तो तुम्हारा भ्रम निवृत्त हो जावे। यह भी क्या कहना है कि यह जीव है और यह सृष्टि है; सर्व ब्रह्मसत्ता है, दूसरा कुछ हुआ नहीं, मन के फुरने से दृश्य भासती है और मन को स्थिर करके देखो तो सब शून्य हो जावेगी और शून्य भी न रहकर शून्य

का कहना भी न रहेगा—इस गिनती को भी विस्मरण करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सप्तप्रकारजीवसृष्टिवर्णनं
नाम शताधिकसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने जो केवल जाग्रत् की उत्पत्ति अकारण, अकर्मक और बोधमात्र में कही सो असम्भव है—जैसे आकाश में वृक्ष नहीं हो सकता तैसे ही आत्मा में सृष्टि नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा निराकार है और निष्क्रिय है; वह न समवायिकारण है और न निमित्तकारण है। जैसे मृत्तिका घट आदिक का कारण होती है तैसे ही आत्मा सृष्टि का समवायिकारण भी नहीं, क्योंकि अद्वैत है और जैसे कुलाल घटादिक का निमित्तकारण होता है तैसे आत्मा सृष्टि का निमित्त कारण भी नहीं, क्योंकि अक्रिय है। उस अकारणक और अकर्मक में सृष्टि कैसे हो सकती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम धन्य हो और अब तुम जागे हो। आत्मा में सृष्टि का अत्यन्त अभाव है, क्योंकि वह निर्विकार और निष्क्रिय है। वह न भीतर है, न बाहर है; न ऊर्ध्व है, न अधः है; केवल बोधमात्र है और उसमें न कोई आरम्भ है और न परिणाम है; केवल बोधमात्र अपने आपमें स्थित है। जैसे सूर्य की किरणों में जल कल्पित है; तैसे ही आत्मा में जगत् मिथ्या है। हे महाबुद्धिमन्! आत्मा अकारणरूप है उसमें कार्यरूप जगत् कैसे हो? उसमें जगत् कुछ नहीं उत्पन्न हुआ। उसके अभाव से सबका अभाव है, न कुछ उपजा है; न भास होता है; उपदेश और उसका अर्थ आरोपित है और कुछ है ही नहीं। आरोपित शब्द भी जिज्ञासु के जताने के निमित्त कहा है, है कुछ नहीं; आत्मा सदा अद्वैतरूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो आत्मा में सृष्टि है ही नहीं तो पिण्डाकार कैसे भासते हैं? उनको किसने रचा है और मन, बुद्धि, इन्द्रियों का भान क्यों होता है? चैतन्य को स्नेह (और राग) से किसने मोहित किया है और आत्मा में आवरण कैसे होता है? सो मुझे समझाकर कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! न कोई पिण्ड है, न किसी ने इनको किया है; न कोई भूत है, न किसी ने इनको मोहित किया है और न किसी को आवरण किया है; भ्रान्ति से आवरण भासता है। जो आत्मा को आवरण होता तो किसी प्रकार नष्ट भी होता परन्तु आवरण ही नहीं तो नष्ट कैसे होवे? हे रामजी! जिसको आवरण होता है उसका स्वरूप एक अवस्था को त्यागकर दूसरी अवस्था को ग्रहण करता है पर आत्मा तो सदा ज्ञानस्वरूप है इससे अन्य अवस्था को कदाचित् नहीं प्राप्त होता सदा ज्यों का त्यों है। उसमें मन, बुद्धि आदिक भी कुछ नहीं बने तब मोह कहाँ और आवरण कहाँ? सदा एकरस आत्मतत्त्व है; ज्ञानी को ऐसे भासता है और अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् भासता है। वह आत्मा ज्ञानकाल में और अज्ञानकाल में एकरस है पर उसमें दो दृष्टि होती हैं, ज्ञानदृष्टि से तो सर्व आत्मा है और अज्ञान से नाना प्रकार का जगत् भासता है। हे रामजी! जैसे एक समुद्र से अनेक तरङ्ग और बुद्बुदे उठते और लीन होते हैं पर उनका उत्पन्न और लीन होना जल में है, जल से भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही जितने विचार और इच्छा भासते हैं सो सब आत्मा में होते हैं और दूसरी वस्तु नहीं। विकार और अविकार सब परमात्मतत्त्व है। समुद्र में लहरें और बुद्बुदे परिणाम से होते हैं; आत्मा सदा ज्यों का त्यों है और नाना प्रकार के आकार भासते हैं सो भी वही रूप है। जैसे सुवर्ण में नाना प्रकार के भूषण होते हैं सो सब सुवर्ण ही हैं दूसरी वस्तु कुछ नहीं और भ्रान्ति से नाना प्रकार की संज्ञा होती है। जैसे कोई पुरुष जाग्रत् बैठा हो और नींद आने से स्वप्नसृष्टि भासे तो चाहे वह जाग्रत् के अज्ञान से स्वप्नसृष्टि भासी हो पर जब निद्रा निवृत्त होती है तब जाग्रत् ही भासती है सो जाग्रत् भी परमात्मतत्त्व के अज्ञान से भासती है। जब उस पद में जागोगे तब जाग्रत्भ्रम निवृत्त हो जावेगा। हे रामजी! यह संसार अपने फुरने से हुआ है। जब फुरना दृढ़ हुआ तब दुःख पाने लगा। जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पकर आप ही दुःख पाता है तैसे ही जीव अपने फुरने से आप ही दुःख पाता है। जब आत्मबोध होता है तब संसारभ्रम निवृत्त हो जाता है। हे रामजी! यह संसार जो रससंयुक्त भासता है सो भावनामात्र है। जब यही भावना उलटकर आत्मा की ओर आवे तब जगत्भ्रम मिट जावेगा। देह, इन्द्रियादिक जो आत्मा

के अज्ञान से फुरे हैं और उनमें अहंकार हुआ है सो आत्मभावना से निवृत्त हो जावेगा। जैसे वर्षाकाल में मेघ घन होते हैं और जब शरत्काल आता है तब नष्ट हो जाते हैं तैसे ही जब बोधरूपी शरत्काल आता है तब अनात्म में आत्म अभिमानरूपी मेघ नष्ट हो जाता है और परम स्वच्छता प्रकट होती है। हे रामजी! जितना जगत् पिण्डरूप होकर भासता है सो जब आत्मा का साक्षात्कार होगा तब पिण्डबुद्धि जाती रहेगी और सब जगत् आकाशरूप हो जावेगा। जैसे शरत्काल में मेघ की घनता जाती रहती है और आकाशरूप हो जाता है। हे रामजी! यह भ्रान्ति तबलग है जबतक स्वरूप से सुषुप्तिवत् है, जब जागेगा तब जगत् सब आकाशरूप हो जावेगा। जैसे स्वप्न से जागकर स्वप्न जगत् आकाशरूप हो जाता है। हे रामजी! यह विकार; क्षोभ और नानात्व प्रमाद से भासते हैं, जब आत्मबोध होता है तब सब क्षोभ और विकार मिट जाते हैं और सर्व प्रपञ्च एकता को प्राप्त होकर द्वैतभाव मिट जाता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि में घृत अथवा ईंधन और मिष्टान्न जो कुछ डालिये सो एक रूप हो जाता है; तैसे ही जब बोध की प्राप्ति होती है तब सब जगत् एकरूप हो जाता है; और जैसे नाना प्रकार के भूषण अग्नि में डालिये तो एक सुवर्ण ही हो जाता है और भूषण की संज्ञा नहीं रहती है तैसे ही मन को जब आत्मबोध में स्थित किया तब जगत्संज्ञा नहीं रहती केवल परमात्मतत्त्व हो जाता है। हे रामजी! इन्द्रियाँ और जगत् तबतक भासता है जबतक स्वरूप में सोया पड़ा है; जब जागेगा तब संसार की सत्यता मिट जावेगी और इच्छा भी कोई न रहेगी। जैसे किसी पुरुष को स्वप्ना आता है और जब उस स्वप्न से जागता है तब स्वप्न के स्मरण की इच्छा नहीं करता कि मुझको प्राप्त हो, क्योंकि उसकी सत्यता नहीं भासती तो इच्छा कैसे करे; तैसे ही जबतक स्वरूप से सोया पड़ा है तबतक संसार के पदार्थों को मिथ्या नहीं जानता, उनकी इच्छा करता है। जब तुम स्वरूप में जागोगे तब सब पदार्थ विरस हो जावेंगे और जब ज्ञान से जगत् को मिथ्या स्वप्नवत् जानोगे तब इच्छा भी न करोगे। हे रामजी! जीवन्मुक्त की चेष्टा सब

दृष्टि आती है परन्तु उसके हृदय में जगत् की सत्यता नहीं होती, क्योंकि उसको आत्मानुभव हुआ है। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है पर जिसने सूर्य की किरणें जानी हैं उसको जल नहीं भासता किरणें ही भासती हैं और जिसने किरणें नहीं जानीं उसको जल भासता है। दृष्टि दोनों की तुल्य है परन्तु ज्ञानवान् के निश्चय में जगत् जलवत् नहीं और अज्ञानी को जगत् जलवत् दृढ़ भासता है। हे रामजी! मनरूपी दीपक प्रज्वलित है; उसमें ज्ञानरूपी जल डालिये तो निर्वाण हो जावे। जब मन निर्वाण होगा तब उस पद को प्राप्त होगे जहाँ जगत् और अहंकार का अभाव है; वह न शून्य है, न अशून्य है और केवल, अकेवल; उदय, अस्त भी नहीं। हे रामजी! जो पुरुष ऐसे पद को प्राप्त हुआ है वह कृतकृत्य होता है और रागद्वेष से रहित परम शान्तिपद को प्राप्त होता है। उसका अहंकार निर्वाण हो जाता है और केवल निर्वाच्य पद को प्राप्त होता है जहाँ कोई उत्थान नहीं। हे रामजी! आत्मा में जगत् के पदार्थ कोई नहीं परन्तु मन के संकल्प से भासते हैं। जैसे थम्भे में चितेरा कल्पना करता है कि इतनी पुतलियाँ इस थम्भे में हैं सो उसके निश्चय में हैं, थम्भे में पुतलियों का अभाव है; तैसे ही मन के निश्चय में जगत् है; आत्मा में कुछ नहीं बना जिस पुरुष का मन सूक्ष्म होगया है उसको जगत् स्वप्न भासता है; जब उसने स्वप्न जाना तब वह इच्छा और त्याग किसका करे। हे रामजी! जगत् तबतक भासता है जबतक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ; जब आत्मानुभव होगा तब जगत् संयुक्त कदाचित् न भासेगा। जैसे धूप और छाया इकट्ठी नहीं होती तैसे ही ज्ञान और जगत् इकट्ठे नहीं होते आत्मज्ञान हुए जगत् का अभाव हो जाता है और जैसे पूर्वकाल वर्तमानकाल में नहीं होता; तैसे ही आत्मा में जगत् नहीं होता। हे रामजी! यह जगत् भ्रम से भासता है और विचार किये से इसका अभाव हो जाता है। द्रष्टा-दर्शन-दृश्य जो त्रिपुटी भासती है सो भी मिथ्या है। जैसे निद्रादोष से स्वप्न में तीनों भासते हैं और जागे से अभाव हो जाते हैं तैसे ही अज्ञान से ये भासते हैं और ज्ञान से त्रिपुटी का अभाव हो जाता है। हे रामजी! जैसे मनो-

राज करके मन में जगत् स्थित होता है तैसे ही ये पर्वत, नदियाँ, देश, काल, जगत् भी जानो । इससे इस जगत् भ्रम का त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो रहो । यह जगत् भ्रम से उदय हुआ है । विचार किये से नष्ट हो जावेगा और तुमको परमशान्ति प्राप्त होगी । हे रामजी ! जिसका मन उपशमभाव को प्राप्त हुआ है, वह पुरुष मौनी है । वह निरोधपद को प्राप्त हुआ है और संसारसमुद्र से तरकर कर्मों के अन्त को प्राप्त हुआ है । उसको सम्पूर्ण जगत्, पहाड़, नदियाँ, संयुक्त लीन हो जाता है । अज्ञान के नष्ट हुए विद्यमान जगत् भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह शान्ति से तृप्त है । वह ज्ञानवान् निरावरण होकर स्थित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वशान्त्युपदेशो नाम
शताधिकैकसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७१ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जिस क्रम से बोध आत्मा जगत्रूप हो भासता है सो क्रमभेद के निवृत्ति के अर्थ फिर मुझसे कहिये ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! जितना जगत् दृष्टि आता है उसका चित्त में निश्चय होता है । ज्ञानवान् को भी चित्त से भासता है और अज्ञानी को भी चित्त से भासता है परन्तु इतना भेद है कि अज्ञानी जगत् को देखता है तब सत् मानता है और ज्ञानवान् शास्त्रयुक्ति से देखकर पूर्व अपर अर्थ के विचार से भ्रान्तिमात्र जानता है । यह जगत् अविद्या से भासता है सो अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं । जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है सो कुछ है नहीं, तैसे ही अविद्या कुछ वस्तु नहीं है । जितना स्थावर-जङ्गम जगत् भासता है सो कल्प के अन्त में नष्ट हो जाता है। जैसे समुद्र से एक बुन्द निकालिये तौ नष्ट हो जाती है क्योंकि विभागरूप है तैसे ही माया, अविद्या, सत्, असत् आदिक सब सम्बन्ध का अभाव हो जाता है क्योंकि सब शब्द जगत् में हैं; जब जगत् लीन हुआ तब शब्द कहाँ रहे ? और वास्तव में न कुछ उपजा है; न लीन होता है—एक ही चिदाकाश है जो तुम कहो कि देह उपजती है सो देह और तत्त्व को स्वप्नवत् जानो । जो तुम कहो कि जगत् प्रलय में लीन होता है इससे कुछ है; तो नाश वही होता है जो असत्य होता है । जो तुम कहो कि असत्य है तो फिर क्यों उपजता है तो उपजी वस्तु भी सत् नहीं होती । जो तुम कहो कि महाप्रलय में चिदाकाश ही रहता है और वही जगत्रूप हो भासता है तो जगत् कुछ भिन्न वस्तु नहीं हुआ—बोधमात्र ही इस प्रकार हो भासता है जैसे बीज और वृक्ष में कुछ भेद नहीं तैसे ही जिससे जगत् भासता है वही रूप है, कुछ उपजा नहीं; जो उपजा नहीं तो विकार और भेद कैसे हो—इससे बोधमात्र ही अपने आपमें स्थित है । कारण कार्य से रहित परमशान्तरूप अपने आपमें आत्मसत्ता स्थित है, वही जगत्रूप होकर भासता है और देश, काल, पदार्थ भी सब महाप्रलयरूप हैं । जब महाप्रलय होता है तब ब्रह्मा पर्यन्त सब पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी का नाम भी नहीं रहता और अर्थ भी नहीं रहता; तब केवल बोधमात्र और बोध से भी रहित शेष रहता है जो परमशान्तरूप है और उसमें वाणी और मन की गम नहीं—केवल अचैत्यचिन्मात्र सत्ता ही है । उसी को तत्त्ववेत्ता अनुभव कहते हैं और कोई नहीं जान सकता । हे रामजी ! जो पुरुष अविद्यारूपी निद्रा से जागा है वह निराभास होता है अर्थात् चित्त से चैत्य का सम्बन्ध टूट जाता है और उसको परम प्रकाशरूप आत्मपद प्राप्त होकर स्वभाव में स्थिति होती है और परस्वभाव जो प्रकृति है उसका अभाव हो जाता है । हे रामजी ! जो कुछ जगत् परस्वभाव से भिन्न-भिन्न भासता था सो सब एकरूप हो जाता है। जैसे स्वप्न में सब पदार्थ भिन्न-भिन्न भासते हैं और जागे से सब एकरूप हो जाते हैं, अपना आपही भासता है; तैसे ही जब आत्मा का अनुभव होता है तब जगत् अपना आपही भासता है । हे रामजी ! एकरूप तब हो भासता है जब और कुछ नहीं बना । जैसे सुवर्ण के भूषण अग्नि में डालिये तो अनेक भूषणों का एक पिण्ड हो जाता है और एक ही आकार भासता है; तैसे ही जब बोध का अनुभव होता है तब सर्व एकरूप हो जाता है । हे रामजी ! भूषणों के होने भी सुवर्ण ही था इसी से सब एकरूप हो गया, तैसे ही जब बोध का अनुभव होता है तब सब एकरूप हो भामता है इससे जगत् के होने भी जगत् आत्मरूप है । जगत् है नहीं और हुए की नाईं भासित

होकर भिन्न भिन्न दृष्टि आता है—जैसे सोमजल में तरङ्ग हैं नहीं और भासते हैं तो भी जलरूप हैं—असम्यक्दृष्टि करके भिन्न भिन्न भासते हैं। हे रामजी! ज्ञानी को जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति तुल्य हैं। जैसे भूषण के होते भी स्वर्ण है और भूषण के अभाव हुए भी स्वर्ण है तैसे ही ज्ञानवान् को देह के होते भी ब्रह्म है और देह के अभाव हुए भी ब्रह्म है। जो अज्ञानी है उसको नाना प्रकार का जगत् फुरता है। अज्ञानी वही है जिसको मन का सम्बन्ध है। हे रामजी! यह जगत् भिन्न भिन्न फुरता है। जैसे काष्ठ के थम्भे में चितेरा पुतलियाँ कल्पता है सो और को नहीं भासतीं उसी के मन में होती हैं; तैसे ही भिन्न भिन्न पदार्थरूपी पुतलियाँ अज्ञानी के मन में फुरती हैं और ज्ञानवान् को नहीं भासतीं। जब काष्ठ रूप आधार होता है तब चितेरा पुतलियाँ कल्पता है पर यह आश्चर्य देखो कि मनरूपी ऐसा चितेरा है कि आकाश में पदार्थरूपी पुतलियाँ कल्पता है और बिना खोदी भासती हैं। हे रामजी! और दूसरा कुछ नहीं बना; जैसे किसी पुरुष ने काग़ज पर पुतली लिखी हो सो काग़ज़रूप है और कुछ नहीं बनी; तैसे ही यह जगत् भी वही स्वरूप है। हे रामजी! जब तुमको आत्मपद का अनुभव होगा तब जितने जगत् के शब्द अर्थ हैं वे सब उसी में भासेंगे जैसे जिसने स्वर्ण को जाना उसको भूषण के शब्द-अर्थ स्वर्ण ही भासते हैं तैसे ही जब आत्मपद को जानोगे तब तुमको जगत् के शब्द अर्थ आत्मा ही में दृष्टि आवेंगे। हे रामजी! यह जीव महासूक्ष्मरूप हैं। और इनमें अपनी-अपनी सृष्टि है। जबतक फुरना है तबतक सृष्टि है; जब सृष्टि फुरना अपनी ओर आता है तब सब सृष्टि एक आत्मरूप हो जाती है और आकाश, काल, दिशा, पदार्थ सब आत्मा है; आत्मा से भिन्न कुछ नहीं, वह अपने आपमें स्थित है—जो अद्वैत चिन्मात्रपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनं नाम
शताधिकद्विसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७२ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! सर्वतत्त्ववेत्ताओं में श्रेष्ठ द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध कैसे हुआ है? काल में कालत्व; आकाश में शून्यता और वायु में स्पन्द कैसे हुआ है? जड़ में जड़ता; भूतों में भूतता;

संकल्प में स्पन्द; सृष्टि में सृष्टिता; मूर्ति में मूर्तिता; भिन्न में भिन्नता और दृश्य में दृश्यता किससे हुई है सो मुझसे कहिये, क्योंकि अर्धप्रबुद्ध को बोध के निमित्त कहना योग्य है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर आदिक जो सब हैं सो प्रलयकाल में जिसमें लीन होते हैं उसका नाम महाप्रलय है। हे रामजी! ऐसा जो अनन्त आकाश है सो सम, शुद्ध, आदि-अन्त-मध्य से भी रहित; चैतन्यघन और अद्वैत है जहाँ एक और दो शब्द भी नहीं और जिसमें आकाश भी पहाड़ के समान स्थूल है और ऐसा सूक्ष्म है कि 'है', 'नहीं', दोनों 'शब्दों' से रहित अपने आपमें स्थित है। जैसे पाषाण का शिलाकोष होता है तैसे ही वह चित्त के फुरने से रहित है। ऐसे परमात्म तत्त्व अकारण से सृष्टि का उपजना कैसे कहिये? जैसे आकाश अपने आपमें स्थित है तैसे ही ब्रह्म अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! एक निमेष के फुरने से जो वृत्ति अनेक योजन पर्यन्त जाती है उसके मध्य जो अनुभव करनेवाली सत्ता है उसमें तुम स्थित होकर देखो कि जगत् और उसकी उत्पत्ति कहाँ है? हे रामजी! उत्पत्ति जो होती है सो समवायकारण और निमित्तकारण से होती है पर आत्मा निराकार, अद्वैत और सन्मात्र है—न समवायकारण है और न निमित्तकारण है। इससे आत्मा अच्युत है अर्थात् स्वरूप से कदाचित् नहीं गिरा तो समवायकारण कैसे होवे? निमित्तकारण भी नहीं, क्योंकि निराकार है; इससे आत्मा में जगत् कोई नहीं भ्रान्तिमात्र और अविद्या करके भासता है। जो वस्तु होवे नहीं और प्रत्यक्ष भासे उसे अविद्या से जानिये। हे रामजी! ब्रह्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है। जल में जो तरङ्ग और आवर्त उठते हैं सो जलरूप हैं जल से भिन्न कुछ नहीं। जब तुम अपने आपमें स्थित होगे तब जगत् का शब्द अर्थ भिन्न न भासेगा, क्योंकि दूसरी वस्तु कुछ नहीं है। हे रामजी! ब्रह्म अमूर्त है; उसमें यह मूर्ति कैसे उत्पन्न हो? यह भ्रान्तिमात्र है। जो वस्तु कारण से उपजी हो सो सत् होती है और जो कारण विना दृष्टि आवे उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है उसका काइ

कारण नहीं इससे मिथ्याभ्रम से भासता है, तैसे ही यह जगत् मिथ्या है विचार किये से नहीं रहता। हे रामजी! आकाश काल आदिक जो पदार्थ हैं सो सब शून्य हैं; आत्मा में न उदय हुए हैं और न अस्त होते हैं—ज्यों का त्यों आत्मा ही स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनं नाम
शताधिकत्रिसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है तैसे ही ब्रह्मरूपी आकाश अपने आपमें स्थित है सो कैसे किसी का कारण हो? कारण और कार्य तब होता है जब द्वैत होता है और आरम्भ, परिणाम होता है पर आत्मा तो अद्वैत, अच्युत और निर्गुण है उसमें आरम्भ कैसे हो? हे रामजी! जो कुछ जगत् तुमको भासता है सो सब काष्ठवत् मौन है अर्थात् वहाँ मन का फुरना शून्य है। हे रामजी! जो कुछ द्वैत भासता है सो भ्रममात्र है। जो कुछ हुआ होता तो ज्ञानी को भी प्रत्यक्ष होता पर ज्ञानकाल में नहीं भासता इससे भ्रममात्र है। हे रामजी! पृथ्वी, जल आदि जो पदार्थ हैं तिनका फुरना स्वप्न की नाईं है। जैसे स्वप्न में चेष्टा होती है सो पास बैठे को नहीं भासती, क्योंकि है नहीं; तैसे ही सृष्टि अकारण संकल्पमात्र है। हे रामजी! जैसे शशे के सींगों का कारण कोई नहीं तैसे ही जगत् का कारण कोई नहीं। जो कुछ हो तो उसका कारण भी हो पर जो कुछ है ही नहीं तो किसका कारण कौन हो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जैसे वट के बीज में वृक्ष का भाव होता है पर काल पाकर बीज से वृक्ष हो आता है तैसे ही इस जगत् का कारण परमाणु क्यों न हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सूक्ष्म में स्थूल संकल्पमात्र होता है। मैं भी कहता हूँ कि सूक्ष्म में स्थूल होता है परन्तु संकल्पमात्र होता है—कुछ सत्य नहीं होता। जो कहिये कि सत्य होता है तो नहीं हो सकता। जैसे राई के कणके में सुमेरु पर्वत का होना नहीं हो सकता। तैसे ही सूक्ष्म परमाणु से जगत् का उत्पन्न होना असम्भव है। हे रामजी! सूक्ष्म परमाणु का कार्य भी जगत् तब कहा जाय जब सूक्ष्म अणु भी आत्मा में पाया जावे; आत्मा तो अद्वैत है और उसमें एक और दो

कहने का अभाव है। आत्मा में जानना भी नहीं—केवल आत्मतत्त्वमात्र है और आधार आधेय से रहित है। बीज भी तब प्रणमता है जब उसको जल देते हैं और रक्षा करने का स्थान होता है पर आत्मा आधार आधेय से रहित केवल अपने भाव में स्थित है और अद्वैत सत्तामात्र है। जैसे वन्ध्या के पुत्र का कारण कोई नहीं, तैसे ही जगत् का कारण कोई नहीं; जो वन्ध्या का पुत्र ही नहीं तो उसका कारण कौन हो तैसे ही जगत् है नहीं तो ब्रह्म इसका कारण कैसे हो? जिसको तुम दृश्य कहते हो सो द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है। हे रामजी! जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होकर स्थित है; तैसे ही ब्रह्म ही जगत् आकार होकर दृष्टि आता है; दृश्य भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं। जैसे समुद्र ही तरङ्ग और आवर्तरूप होकर भासता है तैसे ही अनन्तशक्ति होकर परमात्मसत्ता ही स्थित है। हे रामजी! मैं और तुम आदि जगत् के पदार्थ सब फुरनेमात्र हैं। जैसे संकल्प नगर होता है जो मन से रचा है; तैसे ही यह जगत् आत्मा में कुछ बना नहीं केवल ब्रह्म अपने आपमें स्थित है—हमको तो सदा वही भासता है। हे रामजी! आत्मा में यह जगत् न उदय होता है और न अस्त होता है सदा ज्यों का त्यों निर्मल शान्तपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्वैतैकताप्रतिपादनं नाम
शताधिकचतुःसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जगत् का भाव-अभाव; जड़-चैतन्य; स्थावर-जङ्गम; सूक्ष्म-स्थूल; शुभ-अशुभ कुछ हुआ नहीं तो मैं तुमसे क्या कहूँ कि यह कार्य है और इसका यह कारण है? यह हुआ ही नहीं तो फिर कारण कार्य कैसे हो? जो सर्वदेश, सर्वकाल और सर्ववस्तु हो सो कारण कार्य कैसे हो? आत्मा केवल अपने आपमें स्थित है और जो है और नहीं की नाईं स्थित हुआ है; उसमें संवेदन है और उसके फुरने से जगत् भासता है। वह फुरना चैतन्यमात्र का विवर्त है और उस विवर्त से जगत् भ्रम हुआ है; जब यही फुरना उलटकर अपनी ओर आता है तब जगत्भ्रम मिट जाता है और जब फुरता है तब ध्यान, ध्याता और ध्येयरूप होकर स्थित होता है। इसी का नाम जगत् है और इसी

में बन्ध और मुक्त है; आत्मा में न बन्ध है और न मोक्ष है। हे रामजी! जब तरङ्ग घनभूत होकर बहता है तब एक नदी होकर चलता है; तैसे ही जब वासना दृढ़ होती है तब जगत्‌रूप होकर स्थित होता है और भासता है। जब ऐसी वासना दृढ़ हुई तब रागद्वेष संकल्प से बन्धवान् होता है और जब वासना क्षय होती है तब जगत् का अभाव होकर स्वच्छ आत्मा भासता है। जैसे शरत्काल का आकाश स्वच्छ होता है—उससे भी निर्मल भासता है। हे रामजी! जीव जो निकल जाता है सो मरता नहीं; मुआ तब कहा जाय जब अत्यन्त अभाव को प्राप्त हो और न जाना जाय; इससे यह मरना नहीं, क्योंकि फिर जगत भासता है। यह मरना सुषुप्ति की नाईं हुआ—जैसे सुषुप्ति से जागे हुए जगत् भासता है और वही चेष्टा करने लगता है और जैसे स्वप्न और जाग्रत होता है तैसे ही मृत्यु और जन्म भी है। यदि मरने का शोक उपजे तो जीने का सुख भी मानिये और जो जीने का हर्ष उपजे तो उसमें मरने का शोक मानिये—दोनों अवस्था शरीर की सम रची हैं। जब यह अवस्था शरीर की जानी तब तुम्हारा हृदय शीतल हो जावेगा। जब संवेदन फुरने का अत्यन्त अभाव हो तब परम शान्ति होती है। ध्यान, ध्याता और ध्येय तीनों का अभाव हो जाता है और अज्ञान भी नहीं रहता। जब ऐसा अभाव होता है तब पीछे स्वच्छ निर्मल पद रहता है। हे रामजी! अब भी निर्मलपद है परन्तु भ्रम से पदार्थसत्ता भासती है। जैसे निद्रा दोष से केवल अनुभव में पदार्थसत्ता होकर भासती है और जागे से कहता है कि केवल भ्रममात्र ही था; तैसे ही इस जगत् को भी भ्रममात्र जानो। परमार्थ स्वरूप के प्रमाद से यह जगत भासता है और स्वरूप में जागे से इसका अभाव हो जाता है। हे रामजी! जैसे स्वप्न में जीव अनहोता ही राज्य देखता है तैसे ही तुम इस जगत् को जानो। इसका फुरना ही इसको बन्धन का कारण है। जैसे कुसवारी आपही स्थान बनाकर आपही फँस मरती है और जैसे मद्यपान करनेवाला मद्यपान करके मुख से और का और बोलता है और उससे बन्धायमान होता है; तैसे ही जीव अपने संकल्प ही से

बँधता है और जब संकल्प मिटता है तब परमानन्द को प्राप्त होकर परम स्वच्छ शान्ति उदय होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमशान्तिनिर्वाणवर्णनं नाम
शताधिकपञ्चसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जहाँ आकाश होता है वहाँ शून्यता भी होती है; जहाँ अवकाश होता है वहाँ आकाश भी होता है और जहाँ आकाश है वहाँ पदार्थ भी होते हैं तैसे ही जहाँ चैतन्यसत्ता है वहाँ सृष्टि भी भासती है पर बनी कुछ नहीं और सदा रहती है। जैसे सूर्य की किरणों में जल कदाचित् नहीं उत्पन्न हुआ और जलाभास सदा रहता है, क्योंकि उसी का विवर्त है; तैसे ही सृष्टि आत्मा का विवर्त है—जहाँ चैतन्य सत्ता है वहाँ सृष्टि भी है। इसी पर मैं एक इतिहास तुमसे कहता हूँ जिसके सुने और समझे से जरा मृत्यु से रहित होगे। वह इतिहास परमसुन्दर और चित्त का मोहनेवाला आश्चर्यरूप है और मेरा देखा हुआ है। हे रामजी! एक काल में मेरा चित्त जगत् से उपरत हुआ तो मैंने विचार किया कि किसी एकान्त स्थान में जाकर समाधान करूँ, क्योंकि जगत् मोहरूप व्यवहार से दृढ़ हुआ है और जितना कुछ जानने योग्य है उसको मैं जाननेवाला हूँ परन्तु व्यवहार करके भी शान्तरूप होऊँ। तब ऐसा मैंने विचार किया कि निर्विकल्प समाधि करके परमशान्ति पाऊँ और जो आदि, अन्त और मध्य से रहित परमानन्दस्वरूप और अविनाशी पद है उसमें विश्राम करूँ। हे रामजी! तब भी मैं ज्ञान शक्तिमान् और परमात्मस्वरूप ही था परन्तु चित्त की वृत्ति जब जगत्‌भाव से उपरत हुई तो व्यवहार से भी एकान्त समाधि की इच्छा की कि जहाँ कोई क्षोभ न हो वहाँ स्थित हूँ। ऐसे विचार करके मैं आकाश में उड़ा और एक देवता के पर्वत पर जा बैठा तो वहाँ बहुत प्रकार के इन्द्रियों के विषय देखे कि अङ्गना गान करती हैं शिर पर चमर होते हैं; और मन्द मन्द पवन चलता है। पर वह भी मुझको आपातरमणीय भासे, क्योंकि किसी काल में किसी को सुखदायक नहीं—समाधिवाले के ये शत्रु हैं। उनको विरस जानकर मैं फिर उड़ा और एक पर्वत की कन्दरा में जो

बहुत सुन्दर थी और जहाँ एक सुन्दर वन था और उसमें सुन्दर पवन चलता था पहुँचा। ऐसे स्थान को मैंने देखा तो वह भी मुझको शत्रुवत् भासित हुआ, क्योंकि पक्षियों के शब्द होते थे और पवन का स्पर्श होता था व और भी अनेक विघ्न थे। उनको देखकर मैं आगे चला तो नागों के देश और सुन्दर नागकन्या देखीं और इन्द्रियों के बहुत सुन्दर विषय भी देखे पर वह भी मुझको सर्पवत् भासे। जैसे सर्प के स्पर्श किये से अनर्थ होता है तैसे ही मुझको विषय भासे। हे रामजी! जितने इन्द्रियों के विषय हैं वे सब अनर्थ के कारण हैं; उनमें प्रीति मूढ़ और अज्ञानी करते हैं। फिर मैं समुद्र के किनारे गया और उसके पास जो पुष्प के स्थान थे उनमें बिचरा और कन्दरा और वन को देखता हुआ पर्वत, पाताल और दशों दिशा देखता फिरा परन्तु एकान्त स्थान मुझको कोई दृष्ट न आया। तब मैं फिर आकाश को उड़ा और पवन; मेघों; देवगणों; विद्याधरों और सिद्धों के स्थान लाँघता गया तो आगे देखा कि कई ब्रह्माण्ड भूतों के उड़ते थे उनमें मैंने अपूर्व भूत और नाना प्रकार के स्थान देखे। फिर गरुड़ के स्थान लाँघे तो कहीं सूर्य का प्रकाश होता था और कहीं सूर्य का प्रकाश ही न था। फिर मैं चन्द्रमा के मण्डल को लाँघ गया और अग्नि के स्थान लाँघकर महाआकाश में गया जहाँ इन्द्रियों का रोकना भी न था, क्योंकि इन्द्रियों के विषय कोई दृष्ट न आते थे केवल एक आकाश ही आकाश दृष्ट आता था और वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी चारों का अभाव था। हे रामजी! निदान मैं उस स्थान में गया जहाँ भूत स्वप्न में भी दृष्ट न आते थे और सिद्धों की भी गम न थी। वहाँ मैंने संकल्प की एक कुटी रची और उसके साथ फूल और पत्रों से पूर्ण कल्पवृक्ष रचे और उसके एक ओर मैंने छिद्र रक्खा। मेरा तो सूक्ष्म संकल्प था इसलिये सब प्रत्यक्ष आन हुआ। उस कुटी को रचकर उसमें मैंने प्रवेश किया और संकल्प किया कि एक वर्ष पर्यन्त मैं समाधि में रहूँगा और उससे उपरान्त समाधि से उतरूँगा। ऐसे विचारकर मैंने पद्मासन बाँधा और समाधि में स्थित होकर परम शान्ति में एक वर्ष पर्यन्त स्थित हुआ जहाँ कोई क्षोभ न था जब वर्ष

व्यतीत हुआ तब वह भावी समाधि के उतरने की थी इसलिये वह संकल्प आन फुरा। जैसे पृथ्वी में बोया हुआ बीज काल पाकर अंकुर लेता है तैसे ही वह संकल्प आन फुरा। प्रथम जैसे सूखा वृक्ष वसन्तऋतु में हरा हो आता है तैसे ही प्राण फुरि आये; फिर जैसे वसन्तऋतु में फूल खिल आते हैं तैसे ही ज्ञान इन्द्रियाँ खिल आईं और फिर स्पन्द जो अहंकाररूपी पिशाच है सो फुरा कि मैं वशिष्ठ हूँ; और उसकी इच्छारूपी स्त्री फुरी। हे रामजी! वह वर्ष मुझको ऐसे व्यतीत हुआ जैसे निमेष का खोलना होता है। काल भी बहुत प्रकार से व्यतीत होता है; किसी को थोड़ा ही बहुत हो जाता है और किसी को बहुत थोड़ा हो जाता है जब सुख होता है तब बहुत काल भी थोड़ा हो भासता है और जब दुःख होता है तब थोड़ा काल बहुत हो जाता है। हे रामजी! इस समाधि का जो मैंने वर्णन किया यह शक्ति सब जीवों में है परन्तु सिद्ध नहीं होती क्योंकि नाना प्रकार की वासना से अन्तःकरण मलीन है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो तब जैसा संकल्प करे तैसा ही सिद्ध होता है और मलीन अन्तःकरणवाले का संकल्प सिद्ध नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे आकाशकुटीवशिष्ठसमाधिवर्णनं नाम शताधिकषट्सप्ततितमस्सर्गः ॥ १७६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम तो निर्वाणस्वरूप हो तुमको अहंकाररूपी पिशाच कैसे फुरा—यह मेरा संशय दूर कीजिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञानी हो अथवा अज्ञानी जबतक शरीर का सम्बन्ध है तबतक अहंकार दूर नहीं होता। जैसे जहाँ आधार होता है वहाँ आधेय भी होता है और जहाँ आधेय होता है वहाँ आधार भी होता है; तैसे ही जहाँ देह होती है वहाँ अहंकार भी होता है और जहाँ अहंकार होता है वहाँ देह भी होती है। हे रामजी! अहंकार विना शरीर नहीं रहता पर वह अहंकार अज्ञानरूपी बालक ने कल्पा है और ज्ञानी का अहंकार नष्ट हो जाता है। हे रामजी! यह अहंकार अविद्या ने कल्पा है। जो वास्तव में मिथ्या हो और भासे वह अविद्या है। और जो अविद्याही मिथ्या है तो उसका कार्य अहंकार कैसे सत् हो? यह केवल मिथ्या भ्रम से उदय हुआ है जैसे

भ्रम से वृक्ष में वैताल भासता है तैसे ही भ्रम से अहंकाररूपी वैताल उदय हुआ है और इसका कारण अविचार सिद्ध है; विचार किये से इसका अभाव हो जाता है। जहाँ विचार होता है वहाँ अविद्या नहीं रहती। जैसे जहाँ दीपक होता है तहाँ अन्धकार नहीं रहता, क्योंकि दीपक के जलाने से अन्धकार का अभाव हो जाता है; तैसे ही विचार के उदय हुए अविद्या का अभाव हो जाता है। जो वस्तु विचार किये से न रहे उसे मिथ्या जानिये और जो आपही मिथ्या है तो उसका कार्य कैसे सत्य हो? इससे अहंकार को मिथ्या जानो। हे रामजी! जैसे आकाश के वृक्ष का कारण कोई नहीं; तैसे ही अहंकार का कारण कोई नहीं। मन सहित जो षट्इन्द्रियाँ हैं शुद्ध आत्मा उनका विषय नहीं, क्योंकि वे साकार और दृश्य हैं। साकार का कारण निराकार आत्मा कैसे हो? जो आकार हैं सो सब मिथ्या हैं। जो बीज होता है उससे अंकुर उत्पन्न होता है तब जाना जाता है कि बीज से अंकुर उत्पन्न हुआ है परन्तु बीज ही न हो तो उसका कार्य अंकुर कैसे उत्पन्न हो? तैसे ही जगत् का कारण संवेदन ही न हो तो जगत् कैसे हो? जैसे आकाश में दूसरा चन्द्रमा हो तो उसका कारण भी मानिये और जो दूसरा चन्द्रमा ही नहीं तो उसका कारण कैसे मानिये? हे रामजी! ब्रह्म आकाश, अद्वैत, शुद्ध, फुरने से रहित, अच्युत और अविनाशी है, वह कारण कार्य कैसे हो? हे रामजी! पृथ्वी आदिक तत्त्व अविद्यमान हैं पर भ्रम से भासते हैं। केवल शुद्ध आत्मा अपने आप में स्थित है। जो तुम कहो कि अविद्यमान हैं तो भासते क्यों हैं तो उसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न में अनहोती सृष्टि भासती है तैसे ही यह जगत् भी अनहोता भासता है। जैसे भ्रम से आकाश में वृक्ष अनहोते भासते हैं तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं और संकल्पनगर रच लीजे तो चेष्टा भी होती है परन्तु इसका स्वरूप संकल्पमात्र है वास्तव में अर्थाकार कुछ नहीं होता और अपने काल में सत्य भासता है पर जब संकल्प का लय होता है तब उसका भी अभाव हो जाता है—इससे आकाश के वृक्ष की नाईं हुआ है। जैसे आकाश के वृक्ष भावना से भासते हैं। तैसे ही यह जगत् संकल्पमात्र है। स्वरूप से कुछ नहीं है जो विचार करके देखिये तो इसका अभाव हो जाता है। हे रामजी! शुद्ध आत्मतत्त्व अपने आप में स्थित है वही जगत् का आकार हो भासता है—दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में जितने पदार्थ भासते हैं सो सब अनुभवरूप हैं तैसे ही जगत् भी ब्रह्मरूप है। हे रामजी! हमको सदा वही भासता है तो अहंकार कहाँ हो? न मैं अहंकार हूँ और न मेरा अहंकार है केवल आकाश में अहंकार कहाँ हो? हे रामजी! न मैं हूँ और न मेरे में कुछ फुरना है; अथवा सर्व आत्मसत्ता मैं ही हूँ तौ भी अहंकार न हुआ। हे रामजी! हमारा अहंकार ऐसा है जैसे अग्नि की मूर्ति लिखी होती है तो उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता—दृश्यमात्र होती है। तैसे ही ज्ञानी का अहंकार देखनेमात्र है उन्हें कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं होता और वे अपने स्वभाव में स्थित हैं। सर्व ज्ञानवानों का एक ही निश्चय है कि ब्रह्म ही है और अहंकार का अभाव है। अहंकार न आगे था, न अब है और न फिर होगा—भ्रम से अहंकार शब्द जाना जाता है। हे रामजी! जब ऐसे जानोगे तब अहंकार नष्ट हो जावेगा। जैसे शरत्काल में मेघ देखनेमात्र वर्षा से रहित होता है तैसे ही ज्ञानी का अहंकार देखनेमात्र होता है। और की बुद्धि में भासता है परन्तु ज्ञानी के निश्चय में असंभव है, क्योंकि उसका अहंप्रत्यय आत्मा में रहता है और परिच्छिन्न अहंकार का अभाव हो जाता है। जब अहंकार नष्ट होता है तब अविद्या का भी नाश हो जाता है और यही अज्ञान का नाश है—यह तीनों पर्याय हैं। हे रामजी! अपने स्वभाव में स्थित रहो और बाहर प्रकृत आचार करो; हृदय से शिलाकोषवत् हो रहो और सब इन्द्रियों की सब क्रिया हों; अपने निश्चय को गुप्त रक्खो और सब इन्द्रियों को इस प्रकार धारो जैसे आकाश सबको धार रहा है; अन्तर से शिला के जठरवत् रहो और देखनेमात्र तुम्हारे में भी अहंकार दृष्ट आवेगा। जैसे अग्नि की मूर्ति लिखी दृष्टि आती है तैसे ही तुम्हारे में अहंकार दृष्ट आवेगा परन्तु अर्थाकार न होगा और केवल ब्रह्मसत्ता ही भासेगी और कुछ न भासेगा।

इति श्रीयो० नि० विदितवेदाहंकारव० नाम श० सप्तसप्ततितमस्सर्गः १७७

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! बड़ा आश्चर्य है कि तुमने अहंकार के त्यागे से परम सत्य की प्राप्ति का उपदेश किया है। यह परम दशा है और राग द्वेष मल से रहित; निर्मल, उत्तम, अविनाशी और आदि-अन्त से रहित है। यह दशा तुमने परमविभुता के अर्थ कही है। हे भगवन्! सर्वदाकाल और सर्वप्रकार सर्ववस्तु वही ब्रह्मसत्ता है और समरूपसत्ता के अनुभव से परम निर्मल है तो शिलाख्यान किस निमित्त कहा है सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! वह तो सबमें; सर्वदाकाल और सबसे रहित है पर उसके बोध के अर्थ मैंने तुझको शिलाख्यान का दृष्टान्त कहा है। हे रामजी ! ऐसा स्थान कोई नहीं जहाँ सृष्टि न हो। सब स्थान में सृष्टि भासती है पर आदि से कुछ नहीं बना और सर्वदाकाल बसती है—शिला के कोष में भी अनेक सृष्टि भासती हैं। जैसे आकाश में शून्यता है तैसे ही शिलाकोष में भी सृष्टि बसती हैं। श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो सबमें सृष्टि बसती है तो आकाशरूप क्यों न हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यही मैं भी तुमसे कहता हूँ कि जो कुछ सृष्टि है वह सब आकाशरूप है। स्वरूप में तो सृष्टि उपजी ही नहीं, सर्वदा आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और आकाश की वार्त्ता क्या कहनी है कि शिलाकोष में सृष्टि बसती है और आकाशरूप है—अर्थात् कुछ हुई नहीं। हे रामजी ! पृथ्वी में ऐसा अणु कोई नहीं जिसमें सृष्टि न हो। अणु-अणु में सृष्टि है और सब ओर से बसती है, परन्तु परमार्थ से कुछ नहीं बना, केवल आत्मरूप है और सर्वसृष्टि शब्दमात्र है। जैसे यह सृष्टि भासती है तैसे ही वह भी है। जो यह शब्दमात्र है तो वह भी शब्दमात्र है और जो यह सत्य भासती है तो वह भी सत्य भासती है। हे रामजी ! ऐसा कोई जल का कण नहीं जिसमें सृष्टि न हो; सर्व में ही सृष्टि है और यह आश्चर्य देखो कि इस विना कुछ नहीं और ऐसा कोई अग्नि और वायु का कण नहीं जिसमें सृष्टि न हो। सबमें सृष्टि है और आकाशरूप है, कुछ बना नहीं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें सदा ज्यों की त्यों स्थिन है। हे रामजी ! आकाश में ऐसा अणु कोई नहीं जिसमें सृष्टि न हो परन्तु कुछ उपजी नहीं। ऐसा ब्रह्म अणु कोई नहीं जहाँ सृष्टि न हो परन्तु स्वरूप से कुछ हुई नहीं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें सदा स्थित है। हे रामजी ! ऐसा अणु कोई नहीं जिसमें ब्रह्मसत्ता नहीं और ऐसा कोई चिद्अणु नहीं जिसमें सृष्टि नहीं पर जैसे किसी ने अग्नि कही और किसी ने उष्णता कही तो उसमें भेद कोई नहीं तैसे ही कोई ब्रह्म कहते हैं और कोई जगत् कहते हैं। शब्द दो हैं परन्तु वस्तु एक ही है—जगत् ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही जगत् है—कुछ भेद नहीं। जैसे बहते जल का शब्द होता है पर उसमें कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता; तैसे ही जगत् मुझको कुछ पदार्थ नहीं भासता है क्योंकि दूसरी वस्तु बनी नहीं। मैं, तुम और यह जगत्, सुमेरु आदि पर्वत, देवता, किन्नर, दैत्य, नाग इत्यादिक जगत् सब निर्वाणस्वरूप है—आत्मतत्त्व में कुछ नहीं बना। यह बोलते और चालते जो भासते हैं उसे स्वप्न की नाईं जानो। जैसे कोई पुरुष सोया हो और स्वप्न में उसे नाना प्रकार के युद्ध होते वा यन्त्र बजते और चेष्टा होती दिखाई दें पर जो उसके निकट जाग्रत् पुरुष बैठा हो उसको कुछ नहीं भासता, क्योंकि बना कुछ नहीं और उसको सब कुछ भासता है; तैसे ही ज्ञानी के हृदय में जगत् शून्य है और अज्ञानी को भ्रम से नाना प्रकार का भासता है। इससे, हे रामजी ! स्वप्नवत् इस जगत् को जानकर प्रकृत आचार करो और हृदय से शिला की नाईं हो कि कुछ न फुरै। ब्रह्म और जगत् में रञ्चक भी भेद नहीं; ब्रह्म ही जगत् है और जगत् ब्रह्म है। जगत् का स्पष्ट अर्थ ब्रह्म से भिन्न नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादनं
नाम शताधिकाष्टसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७८ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! आपने आकाशकोष में कुटी बनाकर एक वर्ष की समाधि लगाई तो उसके अनन्तर जो वृत्तान्त हुआ सो कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब मैं समाधि से उतरा तब आकाश में एक परम मनोहर मतुरी की तान के सदृश अङ्गना का शब्द सुना तब मैंने विचार किया कि मैं तो बहुत ऊँचे पर आया हूँ जहाँ सिद्धों की भी गम नहीं और सिद्धों से भी तीन लाख योजन ऊँचा

4,5,6,10,16,34,36

1076

आया हूँ यह शब्द कहाँ से आया ? ऐसे विचारकर मैं देखने लगा तो दशों दिशाओं में आकाश ही दीखा परन्तु सृष्टि का कर्ता कोई दृष्टि न आया । तब मैंने विचार किया कि सृष्टि आकाश में होती है इससे मैं आकाश ही हो जाऊँ और इस शब्द को पाऊँ कि किसका शब्द है; बल्कि आकाश को भी त्यागकर चिदाकाश हो जाऊँ जहाँ भूताकाश भी कुटीवत् भासता है तब इसका भी अन्त भासेगा और जान लूँगा कि यह किसका शब्द होता है। ऐसे विचारकर मैंने निश्चय किया कि यह शरीर यहाँ रहे और नेत्र मुँदे रहें । तब पद्मासन बाँधकर मैंने बाहर की इन्द्रियों को रोका और जो इन्द्रियों की वृत्ति शब्द आदिक को ग्रहण करती थी उसको भी रोक लिया । निदान भीतर बाहर की सब वृत्तियों और अहंवृत्ति को त्यागकर मैं आकाशरूप हो गया । जैसे इस ब्रह्माण्ड में आकाश का अन्त नहीं मिलता तैसे ही मैं इसको त्यागकर चित्ताकाशरूप हो गया जिसका संकल्प ही रूप है । उसको भी त्यागकर मैं बुद्धि आकाश में आया; फिर उसको भी त्याग करके चिदाकाश में आया और उस शब्द के सुनने के संकल्प से चिदाकाशरूप हो गया। जैसे समुद्र में मिली जल की बूँद समुद्ररूप हो जाती है तैसे ही मैं चिदाकाश हो गया जो निराकार और निराधार है; सबको धार रहा है और परमानन्दस्वरूप, शान्त और अनन्त है और जिसमें सर्व ब्रह्माण्ड प्रतिबिम्बित होते हैं। जब मैं आत्मा आदर्श में स्थित हुआ तब मुझको अनन्त सृष्टि अपने आपमें भासने लगीं। जैसे सूर्य की किरणों में त्रसरेणु होते हैं तैसे ही ब्रह्म में सृष्टियाँ हैं परन्तु जीव-जीव की अपनी-अपनी सृष्टि है एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता । जैसे कई एक मनुष्य सोये हों और अपनी-अपनी स्वप्नसृष्टि को देखें तो उसमें अपना आकाश और काल देखते हैं; इसकी सृष्टि को वह नहीं जानता और उसकी सृष्टि को यह नहीं जानता परन्तु ज्ञानी सर्वसृष्टियाँ अपने में देखता है; तैसे ही मुझको सर्वसृष्टियाँ चिदाकाश में भासीं पर जीवों को अपनी-अपनी सृष्टि भासती थी। हे रामजी ! एक सृष्टि ऐसी भासी कि उसमें कोई आवरण न था जैसे पृथ्वी के चौफेर समुद्र होते हैं—कहीं-कहीं एक ही भूत का आवरण था और कहीं ऐसी सृष्टि दृष्टि आई जिनको पाँचों तत्त्वों का आवरण था प्रथम पृथ्वी का, दूसरा जल का, तीसरा अग्नि 5 का, चतुर्थ वायु का और पञ्चम आकाश का आवरण था। कहीं ऐसी सृष्टियाँ देखीं जिनको चार ही तत्त्वों का आवरण था; कहीं ऐसी देखीं 10 जिनको षट् आवरण थे; कहीं दश आवरण दृष्ट आये, कहीं ऐसी सृष्टि दृष्टि आवे जिसको षोडश आवरण हैं और कहीं ऐसी दृष्ट आवें जिनको चौंतीस आवरण थे और कहीं तत्त्वों के छत्तीस आवरण संयुक्त सृष्टि 36 देखीं। हे रामजी ! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टियाँ चिदाकाश में देखीं परन्तु सब आकाशरूप थीं; आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु न थी, मन के फुरने से मुझको सृष्टि दृष्ट आई, क्योंकि सब संकल्पमात्र ही थी—कुछ बना नहीं। जैसे दीवार पर चित्र लिखे हों तैसे ही आत्मारूपी दीवार पर चित्ररूप सृष्टि दृष्टि आई कि अपने-अपने व्यवहार में मग्न हैं। हे रामजी ! ऐसी अनन्त सृष्टियाँ देखीं पर एककी सृष्टि को दूसरा न जानता था सब अपनी-अपनी सृष्टि को जानते थे। जैसे अनेक मनुष्य एकही काल में शयन करें और अपनी-अपनी स्वप्न सृष्टि देखें तो भी दूसरी सृष्टि को वे नहीं जानते । हे रामजी ! कुछ ऐसी सृष्टि देखीं जहाँ न सूर्य का प्रकाश था न चन्द्रमा का प्रकाश था, और न अग्नि का प्रकाश था और उनकी चेष्टा होती थी कहीं ऐसी सृष्टि देखी जहाँ सूर्य और चन्द्रमा हैं और कहीं ऐसी देखी कि; उनको काल का ज्ञान भी नहीं और न वहाँ कोई दिन है, न रात्रि है; सदा एक समान रहते हैं । कहीं महाशून्यरूप तम ही दृष्ट आया; कहीं ऐसे दृष्ट आया कि देवता ही रहते हैं; कहीं मनुष्य ही रहते हैं; कहीं तिर्यक् ही रहते हैं; कहीं दैत्य ही दृष्ट आये; कहीं जल ही दृष्ट आया और कोई तत्त्व न दृष्ट आया और कहीं ऐसी सृष्टि दृष्ट आई जहाँ शास्त्र का विचार ही नहीं; कहीं शास्त्र पुराण विपर्ययरूप थे और कहीं समान थे। कहीं प्रलय होती दृष्ट आई और कहीं उत्पत्ति होती दृष्ट आई। हे रामजी ! इसी प्रकार अनन्त सृष्टि मैंने देखीं परन्तु जब स्वरूप की ओर देखूँ तब केवल ब्रह्मरूप ही भासे और कुछ बना दृष्ट न आवे और जब संकल्प करके देखूँ तब

अनन्त सृष्टि दृष्ट आवें। कहीं ऐसी सृष्टि दृष्ट आवे जहाँ बालक, वृद्ध, यौवन अवस्था की मर्यादा ही नहीं—जैसे जन्मे तैसे ही रहे—कहीं ऐसी सृष्टि है कि चन्द्रमा और सूर्य का प्रकाश नहीं और अग्नि के प्रकाश से उनकी चेष्टा होती है और कहीं ऐसे देखे कि ऊर्ध्व को चले जावें; कहीं नीचे को चले जावें। कहीं ऐसे देखे जो शास्त्र की मर्यादा से चेष्टा करें और कहीं कृमि ही बसते हैं और कोई नहीं। हे रामजी। चैतन्यरूपी वन में मैंने अनन्त सृष्टिरूपी वृक्ष देखे परन्तु दूसरा कुछ दृष्ट न आया; सब चैतन्य का आभास ही दृष्ट आया। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है और बना कुछ नहीं तैसे ही सृष्टि बनी कुछ नहीं और जैसे आकाश में नीलता और दूसरा चन्द्रमा भासता है तैसे ही अनहोती सृष्टि भासे। जैसे मरुस्थल में जल और गन्धर्वनगर की सृष्टि भासती है तैसे ही सम्पूर्ण सृष्टि भासी हैं। हे रामजी! ब्रह्मरूपी आकाश में चित्तरूपी गन्धर्व ने सृष्टि रची है पर स्वरूप से भिन्न कुछ उपजा नहीं—सब अकारण है। जो समवायकारण विना सृष्टि भासे उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे स्वप्न की सृष्टि कारण विना होती है और अर्थाकार हो भासती है तौ भी अजात जात है अर्थात् उपजे विना उपजी भासती है; तैसे ही सम्पूर्ण सृष्टि आभासमात्र है। हे रामजी! आभास में भी अधिष्ठानसत्ता होती है जिसके आश्रय आभास फुरता है। सच्चिदानन्द ब्रह्म सबका अधिष्ठान है और सर्व आत्मता से ही स्थित हैं—ब्रह्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। चेतना करके ही नानात्व भासता है परन्तु नानात्व हुआ कुछ नहीं; आत्मा ही सर्वदा अपने आपमें स्थित है। जैसे क्षीरसमुद्र में वायु से नाना प्रकार के तरङ्ग उपजते भासते हैं तौ भी क्षीर से भिन्न नहीं—ऐसा क्षीरसमुद्र का तरङ्ग कोई नहीं जिसमें घृत न हो; तैसे ही जो कुछ पदार्थ हैं उन सबमें ब्रह्मसत्ता अनुस्यूत है। जैसे क्षीरमथन किये से घृत निकलता है; तैसे ही विचार किये से जगत् ब्रह्मस्वरूप भासता है—कुछ भिन्न नहीं दिखता, क्योंकि कारण द्वारा कुछ नहीं उपजा परमार्थ से केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। फुरनरूपी भ्रम से कुछ हुआ दृष्ट आता है और जब

फुरनरूपी भ्रम निवृत्त होता है तब ब्रह्म ही भासता है; इससे अविद्यारूप फुरने को त्यागकर अपने निर्विकल्पस्वरूप में स्थित हो रहो तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जावेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगज्जालसमूहवर्णनन्नाम शताधिकनवसप्ततितमस्सर्गः ॥ १७९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार मैंने सृष्टि देखी तब फिर विचार हुआ कि वह शब्द करनेवाला कौन था उसको देखूँ। तब मैं देखने लगा तो देखते देखते तीतरी की नाईं शब्द सुना परन्तु उसको न देखा। तब फिर देखा तो शब्द का अर्थ भासने लगा और फिर देखा तो एक अङ्गना दृष्ट आई जिसका शरीर सुवर्णवत् था; बहुत सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी और सब अङ्ग भूषणों से पूर्ण थे; मानो लक्ष्मी वा भवानी थी। जब मैंने उसको देखा तब वह मेरे निकट आई और कहने लगी; हे मुनीश्वर! और संसार जो मैंने देखा है वह सामान्यधर्मा मुझको दृष्ट आया है पर तुम उत्तमधर्मा और संसारसमुद्र के पार हुए दृष्ट आते हो। तुम संसारसमुद्र से पार हो; जो कोई तुम्हारी ओर आता है उसके आश्रयभूत हो और उसको निकाल भी लेते हो पर और जीव संसारसमुद्र में बहे जाते हैं और तुम पार हुए हो; इससे तुमको नमस्कार है। हे रामजी! जब इस प्रकार उस अङ्गना ने कहा तब मैं आश्चर्य में हुआ कि इसने मुझे कदाचित् देखा भी नहीं और सुना भी नहीं फिर इसने क्योंकर जाना? तब मैंने ऐसे विचार किया कि यह माया का कोई चरित्र है और सब ब्रह्माण्ड मुझको इस करके दृष्ट आये हैं। हे रामजी! ऐसे विचारकर मैं फिर आकाश को उड़ा तब और सृष्टि भासने लगी। जैसे स्वप्न की सृष्टि, संकल्प की सृष्टि और गन्धर्वनगर की सृष्टि होती हैं तैसे ही यह सृष्टि है—वास्तव में कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्नादिक की सृष्टि अनहोती भासती है तैसे ही यह जगत् है—केवल बोधमात्र आत्मा अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! जब मैं बोध में स्थित होकर देखूँ तब मुझको आत्मा ही भासे और जब संकल्प करके देखूँ तब नाना प्रकार के जगत् भासें कहीं नष्ट होते भासें और कहीं नष्ट होकर उत्पन्न होते

भासें। जैसे पीपल के पत्ते गिरते हैं और तैसे ही उपजते हैं; तैसे ही जगत् उपजते भासें। कहीं ऐसे दृष्ट आवें कि नाश होकर और के और उत्पन्न हों, कहीं उत्पन्न होतेही दृष्ट आवें और कहीं भिन्न भिन्न सृष्टि और भिन्न भिन्न शास्त्र दीखे। कहीं सूर्य चन्द्रमा और तारों का चक्र ऐसे ही फिरता दृष्ट आवे और कहीं और प्रकार दृष्ट आवे; कहीं नरक की सृष्टि और कहीं स्वर्ग के स्थान दृष्ट आवें। इसी प्रकार अनन्त सृष्टियाँ देखीं; अनन्त ही रुद्र देखे; अनन्त ही ब्रह्मा देखे और अनन्त ही विष्णु देखे। कहीं प्रलय के मेघ गर्जते थे; कहीं सुमेरु आदिक पर्वत उड़ते दृष्ट आते थे; कहीं ब्रह्माण्ड जलते और द्वादश सूर्य तपते थे और कहीं ऐसे स्थान दृष्ट आते थे कि जन्मते ही पुष्ट हो जावें। कहीं ऐसे सृष्टि दृष्टि आई कि एक सृष्टि में मुआ और दूसरी सृष्टि में आया और दूसरी सृष्टि में मुआ उसी सृष्टि में आया। कहीं प्रलय होती दृष्टि आवे; कहीं ज्यों की त्यों सृष्टि दृष्ट आवे और उनके निकट उनको कुछ कष्ट न हो। जैसे दो पुरुष एक ही शय्या पर सोये हों और दोनों को स्वप्ना आवे तो एक की सृष्टि में प्रलय होती है और दूसरे की ज्यों की त्यों रहे—इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। हे रामजी! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखीं परन्तु उनमें सार ब्रह्मसत्ता ही थी और सब स्वप्नवत् थे जैसे केले के वृक्ष में सार कुछ नहीं निकलता, तैसे ही उस स्थान में सार कुछ न देखा। हे रामजी! क्रिया—काल सब विश्व ब्रह्मस्वरूप है। जैसे समुद्र में तरङ्ग बुद्बुदे सब जलरूप हैं; तैसे ही सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है, भिन्न नहीं। जैसे क्षीरसमुद्र में तरङ्ग आवृत क्षीर से भिन्न कुछ नहीं होते, तैसे ही तुम और मैं, सब जगत् ब्रह्मही है। जब मैं बोध की ओर देखूं तब सर्व ब्रह्म ही दृष्टि आवे और जब संकल्प की ओर देखूं तब नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आवे। इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टियां देखीं। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि अधही है, कहीं गुणों की सृष्टि देखी और कहीं ऐसी सृष्टि थी कि धर्म अधर्म को जानती ही न थी। हे रामजी! एक सौ पचास सृष्टियां त्रेतायुग की मैंने देखीं जो भिन्न-भिन्न थीं और भिन्न ही भिन्न जगत् भी थे। उनमें ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठ भिन्न-भिन्न देखे जिसको मेरे समान ज्ञान था और मेरे ही समान मूर्ति थी। फिर कोई-कोई मुझ से उत्तम भी थे और उन सबके आगे उपदेश लेने के निमित्त रामजी बैठे थे। त्रेतायुग में अनेक युग और अनेक द्वापर, त्रेता और सतयुग देखे कि सब चैतन्य आकाश के आश्रय हैं। हे रामजी! हुए विना ही यह सब दृष्टि आये। जैसे मरुस्थल में जल, आकाश में अनहोती नीलता और रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही ब्रह्म से अनहोता जगत् भासता है। हे रामजी! मनके फुरने से जगत् भासता है। और फुरने के मिटे से सब ब्रह्म ही भासता है। हे रामजी! जैसे सूर्य की किरणों में अनन्त त्रसरेणु दृष्टि आते हैं, तैसे ही अनन्तसृष्टि देखीं जो एक चैतन्य से अनेक चैतन्य दृष्टि आईं। जैसे वृक्ष से फल प्रकट होते हैं, तैसे ही संकल्परूपी वृक्ष से सृष्टिरूपी फल दृष्टि आये। जैसे एक गूलर के फल में अनन्त मच्छर होते हैं, तैसे ही एक आत्मसत्ता के आश्रय अनन्त सृष्टि संकल्प के फुरने से मुझको दृष्टि आईं। कहीं महाप्रलय के क्षोभ होते थे और समुद्र उछलते थे उनके तरङ्ग देवलोक को गिराते, कहीं श्यामरूप चन्द्रमा उष्ण और सूर्य शीतल दृष्टि आता था, कहीं ऐसी सृष्टि दृष्टि आई कि दिन को अन्धेरा हो जावे और रात्रि को जीव उलूकादिक की नाईं चेष्टा करते थे और कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि उनको रात्रि और दिन का कुछ ज्ञान नहीं; काल का ज्ञान भी नहीं और धर्म अधर्म का भी ज्ञान नहीं; जैसी अपनी इच्छा हो तैसे ही करते थे। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि पुण्य करनेवाले नरक को प्राप्त होते थे और पापकर्ता स्वर्ग को जाते थे और कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि बालू से तेल निकलता था; विषपान किये से अमर होते थे और अमृत पान किये से मर जाते थे। हे रामजी! जैसे किसी का निश्चय होता है तैसे ही आगे भासता है। यह जगत् संकल्पमात्र है। जैसी भावना होती है तैसा ही आगे होकर भासता है। कहीं पत्थरों में कमल उपजते थे और कहीं वृक्षों में रत्न और हीरे दृष्टि आते थे और बड़े प्रकाश संयुक्त आकाश में वृक्षों के वन दृष्टि आये। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि मेघ के बादल ही उनके वस्त्र हैं और वस्त्रों की नाईं बादलों को पकड़ लें; कहीं शीश पर

भार लिये सब चेष्टा करते थे। निदान अन्धे, काने, बहरे इत्यादिक नाना प्रकार की सृष्टि देखी। हे रामजी! जब मैं स्वरूप की ओर देखूँ तब सब सृष्टि शून्यरूप दृष्टि आवे और जब संकल्प की ओर देखूँ तब नाना प्रकार का जगत् भासे। कहीं ऐसे ही सृष्टि दृष्टि आवे कि वे चन्द्रमा और सूर्य को जानते ही नहीं, कहीं एक पृथ्वी की सृष्टि पृथ्वी में; अग्नि की सृष्टि अग्नि में और जल की सृष्टि जल में देखी; कहीं पाँच भूत की सृष्टि देखी–जैसे यह विद्यमान है और कहीं काष्ठ की पुतलीवत् सृष्टि चेष्टा करती देखी–जैसे यह विद्यमान है और भोजन करती है और कहीं कहीं प्राणों विना यन्त्र की पुतलीवत् चेष्टा करती हैं। हे रामजी! जब ऐसे सृष्टि देखी तो मैं महाआकाश में अनन्तयोजन पर्यन्त चला गया। परन्तु एक आकाश ही दृष्टि आता था और कोई तत्त्व न दीखा। फिर ऐसी सृष्टि देखी कि वे खाना, पीना आदि सब चेष्टा वैताल की नाईं करते थे परन्तु दृष्टि न आते थे। जैसे वैताल सब चेष्टा करते हैं और दृष्टि नहीं आते तैसे ही वे दृष्टि न आवें। कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि जहाँ मैं और तुम की कल्पना भी नहीं केवल निश्चलभाव था और कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि उनका मन ही नहीं। कहीं अहंकार सृष्टि देखी; कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि वे सब में आत्मभावना करते हैं, कहीं सब अपना आप ही जानें और भेदभावना किसी की न करें कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि सब मोक्ष की लक्ष्मी से शोभते हैं; कहीं ऐसी सृष्टि देखी कि उपजकर नाश होजावें–जैसे नख और केश उपजते हैं–और कहीं ऐसे देखे कि चिरकालपर्यन्त रहें। हे रामजी! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टि देखीं जो अनहोती ही फुरती हैं और संकल्पमात्र हैं। और जब संकल्प लय होजाता है तब जगत्भ्रम निवृत्त होजाता है। चित्त के स्पन्द में सब जगत्जाल देखे पर मैं ऊर्ध्व गया, अधः गया और दशों दिशा गया परन्तु सब चैतन्यरूपी समुद्र के बुद्बुदे थे और कुछ न भासा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगज्जालवर्णनं नाम
शताधिकाशीतितमस्सर्गः ॥ १८० ॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! चिदाकाश ब्रह्म अपने आप में स्थित है–जैसे जल अपने जलभाव में स्थित है–और उसमें जो चैतन्योन्मुखत्व होता है मुनीश्वर उसको चित्ताकाश कहते हैं। उस मन में संकल्प विकल्प फुरने से जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बन गये हैं उनका नाम भूताकाश है। मन से उपजे हैं इस कारण इनका नाम भूताकाश है ये संकल्पमात्र हैं आत्मा से भिन्न नहीं। श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह जो नियम है कि ब्रह्मा के दिन में भूत उत्पन्न होते हैं; रात्रि में प्रलय हो जाते हैं और जब महाप्रलय होता है तब कोई भूत नहीं रहता सब ब्रह्मसत्ता में लीन हो जाते हैं और सब जीवन्मुक्त हो जाते हैं केवल सूक्ष्म ब्रह्म ही शेष रहता है; तो उस सूक्ष्म ब्रह्म से फिर कैसे सृष्टि उत्पन्न होती है सो कृपा करके कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब महाप्रलय होता है तब सब भूत नष्ट हो जाते हैं और ब्रह्मसत्ता ही शेष रहती है। उसको तुम मानते हो, क्योंकि तुमने भी कहा कि पीछे ब्रह्मसत्ता ही शेष रहती है। जब तुमने माना कि सबका कारण ब्रह्म शेष रहता है तो वह ब्रह्मसत्ता शुद्धस्वरूप है और आकाश से भी सूक्ष्म है; वरन आकाश के हजारहवें भाग से भी अतिसूक्ष्म है। हे रामजी! ऐसे सूक्ष्म ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे कहूँ? और जो उत्पत्ति ही नहीं तो उसका प्रलय कैसे हो। यह जगत् जो दृष्टि आता है सो ब्रह्म का हृदय है। अपनी जो स्वभावसत्ता है तिसका नाम हृदय है। जैसे स्वप्न में अपनी संवित् ही देश, काल, पर्वत आदिकरूप होती है तैसे ही यह जगत् संवितरूप है और अपने स्वरूप के अज्ञान से हुए की नाईं दुःखदायक भासता है। जैसे अपनी परछाहीं में अज्ञान से भूत कल्प के बालक भय पाता है पर जब विचार से देखता है तब भय निवृत्त हो जाता है, तैसे ही यह जगत् कुछ उपजा नहीं। हे रामजी! चैतन्य-संवित् ही जगत् आकार होकर भासती है और कुछ वस्तु नहीं। जो सब वही हुआ तो आदिसर्ग का होना और प्रलय सब उसी के अङ्ग हैं भिन्न नहीं। 'अस्ति', 'नास्ति', 'उदय', 'अस्त' आदि जो शब्द हैं वे सब आकाशरूप हैं और सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता है। सर्व शब्द ब्रह्म ही में होते हैं और ब्रह्म सर्व

शब्दों से रहित भी है। जो वह सर्वशब्दों से रहित हुआ तो जगत् की उत्पत्ति और प्रलय क्योंकर कही जावे। आत्मा अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अदृश्य है इन्द्रियों का विषय नहीं और जगत् भी अविनाशी है, क्योंकि उपजा ही नहीं। हे रामजी! जगत् भी आत्मा से भिन्न नहीं—आत्मरूप ही है और जो आत्मरूप है तो विकार कहाँ हो? सर्वशब्द और अर्थ का अधिष्ठान आत्मसत्ता है इससे जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जैसे अङ्गवाला सर्वअङ्ग अपने ही जानता है तैसे ही सब जगत् ब्रह्म के अङ्ग हैं और वह सबको जानता है। वास्तव में स्वच्छ; आकाशवत् और देश, काल, वस्तु, सुख, दुःख, जन्म, मरण, साकार, निराकार, केवल, अकेवल, नाशी, अविनाशी इत्यादिक सर्वशब्द और अर्थ उस ही के नाम हैं। जैसे अवयव अवयवी पुरुष के हैं जो फैलावे तौ भी अपना स्वरूप है जो संकोचे तौ भी अपने अवयव हैं; तैसे ही उत्पत्ति और प्रलय सब ब्रह्म ही के अवयव हैं; भिन्न नहीं परन्तु भिन्न की नाईं जगत् हुआ भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल कुछ उत्पन्न नहीं हुआ परन्तु हुए की नाईं दृष्टि आता है और किरणें ही जल होकर भासती हैं; तैसे ही आत्मा जगत् आकार होकर भासता है सो आत्मस्वरूप ही है। हे रामजी! शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्मरूपी एक वृक्ष है उसमें जो संवित् फुरना हुआ है सो ही दृढ़मूल है; चित्त शरीररूपी थम्भ है; लोकपाल डालें हैं; शाखा जगत् है; फल प्रकाश है जिससे जगत् प्रकाशता है; अन्धकार श्यामता है; पोल आकाश है; फूलों के गुच्छे प्रलय हैं; गुच्छों के हिलानेवाले भँवरे विष्णु, रुद्रादिक हैं और जड़ता त्वचा है। इस प्रकार सब आत्मब्रह्म है। ब्रह्मत्वभाव से भी कुछ नहीं बना सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है। हे रामजी! जगत् का भाव, अभाव; उत्पत्ति, प्रलयादिक अनुभवरूप ब्रह्म स्थित है और उसमें कोई विकार नहीं; वह केवल, शुद्ध, निरञ्जन, आत्मआकाश निर्मल है। जैसे चन्द्रमा के मण्डल में विष की बेल नहीं होती, तैसे ही आत्मा में कोई विकार नहीं होता निर्मल आकाशरूप है और आदि—अन्त—मध्य की कलना से रहित है तो लोकपाल आदि भ्रम कैसे हो? यह सम्पूर्ण विकार आत्मा के अज्ञान से भासते हैं; जब तुम एकाग्रचित्त करके देखोगे

तब जगत्भ्रम शान्त हो जावेगा। यह जगत्भ्रम फुरने से भासित हुआ है, जब फुरना उलटकर आत्मा की ओर आवेगा तब यह जगत्भ्रम मिट जावेगा। जैसे पवन से अग्नि जागता है और पवन ही से दीपक लीन हो जाता है तैसे ही चित्त के फुरने से जगत् भासता है और जब चित्त का फुरना अन्तर्मुख होता है तब जगत्भ्रम मिट जाता है। हे रामजी! जब ज्ञान से देखोगे तब अज्ञानरूप फुरने का त्रैकालिक अभाव हो जावेगा और बन्ध मुक्ति आत्मा में न भासेगी—इसमें कुछ संशय नहीं। यह जगत्जाल आत्मा में कुछ उपजा नहीं अज्ञान से भासता है; जब विचार करके देखोगे तब अष्टसिद्धि का ऐश्वर्य तृणवत् भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बोधजगदेकताप्रतिपादनं
नाम शताधिकैकाशीतितमस्सर्गः ॥ १८१ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह जगत्जाल तुमने चिद्रूप होकर एक स्थान में बैठकर देखा अथवा सृष्टि में जाकर देखा? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं अनन्त आत्मा सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वव्यापी चिदाकाश हूँ मुझमें आना जाना कैसे हो? न एक स्थान में बैठकर देखी और न सृष्टि में जाकर देखी। हे रामजी! मैं चिदाकाश हूँ मैंने चिदाकाश में देखी। हे रामजी! जैसे तुम अपने अङ्गों को शिखा से लेकर नखपर्यन्त देखते हो तैसे ही मैंने ज्ञाननेत्र से अपने आपही में जगत् देखा जो निराकार, निरवयव, आकाशरूप निर्मल; सावयव और फुरने से दृष्टि आये हैं वास्तव में कुछ नहीं केवल आकाशरूप है। जैसे स्वप्न में सृष्टि का अनुभव हो परन्तु संवित्रूप है बना कुछ नहीं और जैसे वृक्ष के पत्र, टास, फूल, फल सब वृक्ष के अङ्ग होते हैं तैसे ही ज्ञाननेत्र से मैंने जगत् को देखा। हे रामजी! जैसे समुद्र तरङ्ग, फेन, बुद्बुदे और जल को अपने आपही में देतखा है; तैसे ही मैं अपने आपमें जगत् को देखता हूँ और अब भी मैं इस देह में स्थित हुआ पर्वत की सृष्टि को ज्ञान से देखता हूँ। जैसे कुटी के भीतर बाहर आकाश एकरूप है तैसे ही मुझको आगे और अब भी जगत् आकाशरूप अपने आप में भासते हैं। जैसे जल अपने रस को जानता है; बरफ़ अपनी शीतलता को

जानता है और पवन अपनी स्पन्दता को जानता है तैसे ही मैं ज्ञान से सृष्टि अपने में देखता भया। जिस ज्ञानवान् पुरुष को शुद्ध बुद्धि में एकता हुई है वह अपने को सर्वात्मा देखता है और जिसको आत्मस्थिति हुई है वह वेदन को भी अवेदन देखता है और कदाचित् उपजा नहीं मानता। जैसे देवता अपने अपने स्थानों में बैठे हुए दिव्यनेत्रों से कोटि योजनपर्यन्त अपने को विद्यमान देखते हैं तैसे ही जगतों को मैंने सर्वात्म होकर देखा। जैसे पृथ्वी में निधि; औषध और रससहित पदार्थ होते हैं सो पृथ्वी अपने में ही देखती है, तैसे ही मैंने जगत् को अपने में ही देखा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह जो कमलनयनी कान्ता छन्दके पाठ करनेवाली थी उसने फिर क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह आकाशवपु को धारके मेरे निकट आई और जैसे भवानी आकाश में आन स्थित हो तैसे ही आन स्थित हुई। जैसे मैं आकाशवपु था तैसे ही उसको भी मैंने आकाशवपु देखा। प्रथम मैंने आकाश में इस कारण न देखा कि मेरा आधिभौतिक शरीर था। जब चित्तपद होकर मैं स्थित हुआ तब वह कान्ता देखी। मैं आकाशरूप हूँ और वह सुन्दरी भी आकाशरूप है और जगत्जाल जो देखे सो भी आकाशरूप हैं। श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम भी आकाशरूप थे और वह भी आकाशरूप थी पर वचन विलास तो तब होता है जब शरीर होता है और उसमें बोलने का स्थान कण्ठ, तालु, नासिका, दन्त, होठ और हृदय में प्रेरनेवाले प्राण होते हैं और अक्षर का उच्चार होता है और तुमतो दोनों निराकार थे; तुम्हारा देखना और बोलना किस प्रकार हुआ? बोलना रूप, अवलोक और मनस्कार से होता है—रूप अर्थात् दृश्य, अवलोक अर्थात् इन्द्रियाँ और मनस्कार अर्थात् मन का फुरना—इन तीनों बिना तुम्हारा बोलना कैसे हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे स्वप्न में रूप, अवलोक और मनस्कार; शब्दपाठ और परस्पर वचन होते हैं सो आकाशरूप होते हैं तैसे ही हमारा देखना, बोलना और आपस में संवाद हुआ था। जैसे स्वप्न में रूप अवलोक और मनस्कार आकाशरूप होते हैं और प्रत्यक्ष भासते हैं तैसे ही हमारा देखना और बोलना

हुआ। यह प्रश्न तुम्हारा नहीं बनता कि देखना और बोलना कैसे हुआ? जैसे आकाश में सृष्टि देखी है तैसे यह सृष्टि भी है और जैसे उनके शरीर थे तैसे ही इनके और हमारे शरीर हैं जैसे यह जगत् है तैसे ही वह जगत् है। हे रामजी! यह आश्चर्य है कि सत् वस्तु नहीं भासती और असत् वस्तु भासती है। जैसे स्वप्न में पृथ्वी, पर्वत, समुद्र और जगत् व्यवहार है नहीं, पर प्रत्यक्ष भासता है और सत् वस्तु अनुभवरूप नहीं भासती तैसे ही हम तुम जगत् सब आकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न में युद्ध होते भासते हैं और शब्द होते हैं और आना जाना भासता है वह सब आकाशरूप है और हुआ कुछ नहीं तैसे ही यह जगत् भी है। हे रामजी! स्वप्नसृष्टि मिथ्या है, कुछ बनी नहीं और जो कुछ है सो अनुभवरूप है—भिन्न कुछ नहीं। जो तुम पूछो कि स्वप्न क्या है और कैसे होता है तो सुनो, आदि परमात्मतत्त्व में स्वप्न में किंचन हुआ है सो विराट् आत्मा है और फिर उससे यह जीव हुए हैं सो आकाशरूप हैं, क्योंकि विराट् आकाशरूप है और ये सब आकाशरूप हैं। स्वप्न का दृष्टान्त भी मैंने तुमसे बोध के निमित्त कहा है, क्योंकि स्वप्न भी कुछ हुआ नहीं केवल आत्मत्वमात्र है; ब्रह्मही अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! वह कान्ता जब मैंने देखी तो मैंने उससे पूछा, क्योंकि संकल्प मेरा और उसका एक था। जैसे स्वप्न में स्वप्न होता है तैसे ही हमारा हुआ। हे रामजी! जैसे स्वप्न की सृष्टि आकाशरूप होती है तैसे ही हम, तुम और सब जगत् आकाश हैं कुछ हुआ नहीं। स्वप्न जगत् और जाग्रत् जगत् एक रूप है परन्तु जाग्रत् दीर्घकाल का स्वप्न है इससे इसमें दृढ़ व्यवहार; उत्पन्न और प्रलय होते भासते हैं। हे रामजी! स्वप्न में भोग होते भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र हैं; निर्मल आकाशरूप आत्मा से भिन्न कुछ नहीं बना। दृश्य और द्रष्टा स्वप्न की नाईं अनहोते भासते हैं। जो हम तुम आदिक दृश्य को मनरूपी द्रष्टा सत्य मानता है सो दोनों अज्ञान से भ्रममात्र उदय हुए हैं और जो शुद्ध द्रष्टा है सो दृश्य से रहित है। जैसे द्रष्टा आकाशरूप है तैसे ही दृश्य भी आकाशरूप है और जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभव से

भिन्न कुछ नहीं तैसे ही यह जाग्रत् भी अनुभवरूप है। हे रामजी! चिदाकाश जो अनन्त आत्मा है वह इस जगत् का कारण कैसे हो? जैसे स्वप्न की सृष्टि का कारण कोई नहीं; तैसे ही इस जाग्रत् जगत् का कारण भी कोई नहीं, क्योंकि हुआ कुछ नहीं और जो कुछ है सो अनुभवरूप है—इससे यह जगत् अकारण है। हे रामजी! सब जीव आकाशरूप हैं और इनके स्वप्न की सृष्टि जो नाना प्रकार की होती है सो भी आकाशरूप है कुछ आकार नहीं। जो निराकार अद्वैत आत्मसत्ता है उसमें आदि में आभासरूप जगत् फुरा है तो वह आकाशरूप क्यों न हो? अब साकार और निराकार का भेद कहते हैं सो सुनो। एक चिद् है और दूसरा चैत्य है—चिद्शुद्ध चिन्मात्र का नाम है और चैत्य दृश्य फुरने को कहते हैं। जिस चिद् को दृश्य का सम्बन्ध है उसका नाम जीव है। जिस चिद् को अज्ञान से द्वैत का सम्बन्ध है और अनात्म में आत्म अभिमान करता है ऐसा जीव साकाररूप है और उसके स्वप्न की सृष्टि आकाशरूप है सो अचैत्य चिन्मात्र निराकार सत्ता है तो उसका स्वप्ना आभासरूप जगत् आकाशरूप क्यों न हो? हे रामजी! यह जगत् निरुपादान है अर्थात् कुछ बना नहीं और चिदाकाश निराकाररूप है। जैसे स्वप्न में जगत् अकृत्रिम होता है तैसे ही यह जगत् है; न इसका कोई निमित्त कारण है और न समवायकारण है पर आत्मा अच्युत और अद्वैत है सो दृश्य का कारण कैसे कहिये? हे रामजी! न कोई कर्त्ता है, न भोक्ता है और न कोई जगत् है और नाहीं कहना भी नहीं बनता। जो ज्ञानवान् है सो पाषाणवत् मौन स्थित होता है और जब प्रकृत आचार आन पड़ता है तब उसको भी करता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगदेकताप्रतिपादनं नाम
शताधिकद्व्यशीतितमस्सर्गः ॥ १८२ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह जो तुम्हारे निकट आकाशरूप कान्ता आई तो वह शरीर विना अनेक क, च, ट, तादिक अक्षर कैसे बोली और जो तुम स्वप्न की नाईं कहो तो स्वप्न में भी केवल आकाश होता है वहाँ य, र, ल, वादिक कैसे बोलते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! स्वप्न में जो शरीर होता है सो आकाशरूप है; उसमें क, च, ट, तादिक अक्षर कदाचित् उद्देश नहीं हुए। जैसे मृतक कदाचित् नहीं बोलता तैसे ही आकाशरूप आत्मा में शब्द कदाचित् नहीं होता। जो तुम कहो कि स्वप्न में जो य, र, ल, वादिक अक्षर प्रवृत्त होते हैं; तो उसका उत्तर यह है कि जो कुछ शब्द वहाँ सत् हुए होते तो निकट बैठे भी सुनते। हे रामजी! निकट बैठे ने नहीं सुना तो ऐसे मैं कहता हूँ कि आकाशरूप है कुछ हुआ नहीं और जो हुआ भासता है सो भ्रान्तिमात्र केवल चिन्मात्र आकाश का किञ्चन है और आकाश में आकाश ही स्थित है; तैसे ही यह जगत् भी कुछ हुआ नहीं। हे रामजी! जैसे चन्द्रमा में श्यामता; आकाश में वृक्ष और पत्थर में पुतलियाँ नृत्य करतीं भासें तो मिथ्या हैं तैसे ही इस जगत् का होना भी मिथ्या है। हे रामजी! स्वप्न में जो जगत् भासता है सो चिदाकाश का किञ्चन है सो भी आकाशरूप है—भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न का जगत् आकाशरूप है तैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है और जैसे यह जगत् है तैसे ही वे जगत् भी थे और यह जो आकाश है सो आत्माकाश में अनाकाश है। जैसे स्वप्न की सृष्टि भ्रम से भासती है तैसे ही जगत् भी भ्रम से प्रत्यक्ष भासता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो यह जगत् स्वप्ना है तो जाग्रत् क्यों हो भासता है और जो असत् है तो सत्य की नाईं क्यों भासता है? वशिष्ठजी बोले हे रामजी! एक मृदुसंवेग है; दूसरा मध्यसंवेग है और तीसरा तीव्रसंवेग है—संवेग संकल्प के परिणाम को कहते हैं सो त्रिविध है। जैसे कोई पुरुष अपने स्थान में बैठा हुआ मनोराज से किसी व्यवहार को रचता है सो उसको जानता है कि संकल्पमात्र है और नट स्वांग धारता है तब वह जानता है कि मेरा स्वांग है और अपने स्वरूप को सत्य जानता है। इसका नाम मृदुसंवेग है, क्योंकि अपना स्वरूप नहीं भूला। मध्यसंवेग यह है कि जैसे किसी पुरुष को स्वप्ना आता है तो उसमें स्वप्न सृष्टि भासती है और एक शरीर अपना भासता है; तब अपने शरीर को सत्य जानता है और जगत् को भी सत्य जानता है, क्योंकि स्वरूप

का प्रमाद है इससे स्वप्नकाल की सृष्टि को सत्य जानता है और आगे हुए को असत्य जानता है। इसका नाम मध्यसंवेग है, क्योंकि सोया हुआ शीघ्र ही जाग उठता है और जो सोया और जागे नहीं उसका नाम तीव्रसंवेग है। हे रामजी! आदिसंकल्प स्वप्न में रूप भासते हैं और उसमें नाना प्रकार की सृष्टि होकर स्थित है। जिनको आदिस्वरूप का प्रमाद नहीं हुआ उनको यह जगत् मृदुसंवेग है, क्योंकि वे अपनी लीलामात्र असत्य जानते हैं और जिनको आदिस्वरूप का प्रमाद हुआ है वे फिर शीघ्र ही जाग उठते हैं तब उनको वह जगत् असत्य भासता है और इस जगत् में सत्य प्रतीति नहीं होती। जिनको प्रमाद हुआ है और फिर नहीं जागे। उनको यह जगत् सत्य ही भासता है, क्योंकि उनकी चित्त की वृत्ति का परिणाम तीव्र हो गया है इस कारण अज्ञानी को यह जगत् स्वप्न जाग्रत् हो भासता है--जैसे स्वप्नकाल में स्वप्न की सृष्टि सत्य हो भासती है। हे रामजी! चित्त के फुरने का नाम जगत् है; जब चित्त बहिर्मुख होता है तब जगत् हो भासता है और स्वरूप का अज्ञान होता है और जब अज्ञान होता है तब जगत्भ्रम दृढ़ होता जाता है—इससे इस जगत् का कारण अज्ञान है। हे रामजी! आत्मा के अज्ञान से जगत् भासता है; जब आत्मज्ञान होगा तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जावेगा। वह आत्मा अपना आप है इससे आत्मपद में स्थित हो रहो तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जावेगा। हे रामजी! अज्ञान से इस जगत् की सत्य प्रतीति होती है और उसमें जैसी जैसी भावना होती है तैसे ही जगत् हो भासता है। हे रामजी! जिस प्रकार जगत्भ्रम सत्य हो भासता है सो भी सुनो कि जो अज्ञानी जीव है वह जब मृतक होता है तब मुक्त नहीं होता, बल्कि अज्ञान के वश से जड़ पत्थरवत् होता है क्योंकि चेतनरूप है। हे रामजी! जब मृत्यु होती है तब आकाशरूप चित्त में ही जगत् फुर आता है और अपनी वासना के अनुसार नाना प्रकार का जगत् हो भासता है, एवं नाना प्रकार के व्यवहार रचना क्रियासहित होकर भासते हैं। कल्पपर्यन्त सब क्रिया जीवों की अन्तवाहक होती हैं—जैसी हमारी है। हे रामजी! तुम देखो वह जगत् क्या

रूप है—किसी कारण से तो नहीं उपजा? जैसे वह जगत् कलनामात्र सत् हो भासता है; तैसे ही इस जगत् को भी जानो। हे रामजी! यह जो तुमको स्वप्ना आता है और उसमें जो पुरुष और पदार्थ हैं वे भी सत्य हैं, क्योंकि ब्रह्मसत्ता सर्वात्मा है। हे रामजी! प्रबोध हुए से भी स्वप्न के पदार्थ विद्यमान भासते हैं, इसी से कहा है कि स्वप्न संकल्प और जाग्रत् तुल्य है। जैसे आगे शुक्र, ब्राह्मण के पुत्र इन्द्र, लवण और गाधि का उदाहरण कहा है, इनको मनोराजभ्रम प्रत्यक्ष हुआ है और दीर्घतपा को जिसका उदाहरण आगे कहेंगे प्रत्यक्ष स्वप्न हुआ है। जीव जीव प्रति अपनी अपनी सृष्टि है, क्योंकि संकल्प अपना अपना है इससे सृष्टि भिन्न भिन्न है और सबका अधिष्ठान आत्मसत्ता है। सर्व सृष्टि का प्रतिबिम्ब आत्मरूपी आदर्श में होता है और सर्वसृष्टि आत्मा का अनुभव है जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है और उस वृक्ष से और वृक्ष होते हैं तो भी विचार से देखो कि बीज तो एकही था और सब वृक्ष आदि उसी बीज से उपजे हैं; तैसे ही एक आत्मा से अनेकसृष्टि प्रकाशती हैं परन्तु स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं। जैसे एक पुरुष सोया है और उसको स्वप्न की सृष्टि भासती है और फिर स्वप्न में जो बहुत जीव भासते हैं उनको भी अपने अपने स्वप्न की सृष्टि भासती है। हे रामजी! जिससे आदि स्वप्न की सृष्टि भासती है वह पुरुष एकही है और उसे एकही में अनन्तसृष्टि चित्त के फुरने से होती हैं; तैसे ही आत्मसत्ता के आश्रय अनन्तसृष्टि फुरती हैं परन्तु स्वरूप से कुछ हुआ नहीं सब आकाशरूप है और जीवों को अपनी अपनी सृष्टि अज्ञान से भासती है। हे रामजी! जीवों को और सृष्टि का ज्ञान नहीं होता अपनी ही सृष्टि को जानते हैं, क्योंकि संकल्प भिन्न भिन्न हैं। कितनों को हम स्वप्नों के नर हैं और कितने हमको स्वप्ने के नर हैं; वे और सृष्टि में सोये हैं और हमारी सृष्टि उनको स्वप्न में भासती है तिनको हम स्वप्ने के नर हैं और जो हमारी सृष्टि में सोये हैं उनको स्वप्न में और सृष्टि भासि आई है सो हमारे स्वप्ने के नर हैं। हे रामजी! इस प्रकार आत्मतत्त्व के आश्रय अनन्तसृष्टि भासती हैं। जो जीव सृष्टि को सत् जानकर बिचरते हैं वे मोक्षमार्ग से

शून्य हैं। जैसे मनुष्य जो शयन करता है तो उसको स्वप्न में चित्त का परिणाम होता है और उसमें जो जीव होते हैं उनको फिर स्वप्न होता है तब अपनी अपनी सृष्टि उनको भासती है तो वह अनन्तसृष्टि अनुभव के आश्रय होती है; तैसे ही एक आत्मा के आश्रय असंख्य सृष्टि फुरती हैं सो कई समान; कई अर्धसमान और कई विलक्षण भासती हैं पर अपनी अपनी सृष्टि को जीव जानते हैं। जैसे एक मन्दिर में दश पुरुष सोये हैं और उनको अपना अपना स्वप्न आवे तब उसकी सृष्टि को वह नहीं जानता उसकी सृष्टि को वह नहीं जानता; तैसे ही यह सृष्टि भी और को नहीं भासती, क्योंकि संकल्प अपना अपना है। जैसे पत्थर को पत्थर नहीं जानता और जो अन्तवाहक शरीर योगेश्वर हैं उनको और सृष्टियों का भी ज्ञान होता है। हे रामजी! वास्तव में सृष्टि भी निराकार आकाशरूप है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है तैसे ही आत्मा में सृष्टि है और जैसे रस्सी में सर्प भासता है तैसे ही आत्मा में सृष्टि भासती है। हे रामजी! वास्तव में कुछ हुआ नहीं; सर्वदा काल सर्व प्रकार आत्मा ही अपने आप में स्थित है; जिनको आत्मा का प्रमाद हुआ है उनको जगत् भासता है वास्तव में जगत् किसी कारण से नहीं उपजा—आभासरूप है। सम्यक्ज्ञान के हुए ब्रह्म अद्वैत भासता है और असम्यक्ज्ञान से द्वैतरूप जगत् हो भासता है। जैसे रस्सी के सम्यक्ज्ञान से रस्सी ही भासती है और असम्यक्ज्ञान से सर्प भासता है; तैसे ही आत्मा के असम्यक्ज्ञान से जगत् भान होता है। हे रामजी! मैंने उस देवी से प्रश्न किया कि हे देवि! तुम कहाँ से आई हो; तुम्हारा स्थान कहाँ है; तुम कौन हो और यहाँ किस निमित्त आई हो? तब वह देवी बोली, हे मुनीश्वर! ब्रह्मरूपी महाकाश के अणु का भी जो अणु है और उसके छिद्र में भी जो छिद्र है तिसमें तुम रहते हो और तुम्हारा यह जगत् भी उसी में है। तुम्हारी सृष्टि का जो ब्रह्मा है तिसकी संवेदनरूपी कन्या ने यह जगत् रचा है। उस तुम्हारे जगत् में पृथ्वी है और उसके ऊपर समुद्र है जिनसे पृथ्वी घेरी हुई है; उसके ऊपर दूना और द्वीप है और उस द्वीप के ऊपर दूना समुद्र है। इसी प्रकार पृथ्वी को लांघ के आगे सुवर्ण की पृथ्वी आती है जो दशसहस्र योजन पर्यन्त महासुन्दर प्रकाशरूप है और उसने सूर्य चन्द्रमा के प्रकाश को भी लज्जित किया है। उसके परे और लोकालोक पर्वत हैं जो सब ठौर प्रसिद्ध हैं और उनमें बहुत से नगर बसते हैं। कहीं ऐसे स्थान हैं जहाँ सदा प्रकाश ही रहता है—जैसे ज्ञानी के हृदय में सदा प्रकाश रहता है; कहीं ऐसे स्थान हैं जहाँ सर्वदा अन्धकार ही रहता है—जैसे अज्ञानी के हृदय में अन्धकार रहता है; कहीं ऐसे ही स्थान हैं जहाँ प्रत्यक्ष पदार्थ मिलते हैं—जैसे पंडित के हृदय में अर्थ प्रत्यक्ष होते हैं; कहीं ऐसे स्थान हैं जहाँ पदार्थ नहीं मिलते—जैसे मूर्ख के हृदय में श्रुति का अर्थ नहीं होता; कहीं ऐसे स्थान हैं जिनके देखने से हृदय प्रसन्न होता है—जैसे सन्तों के दर्शन से हृदय प्रसन्न होता है; कहीं ऐसे स्थान हैं जिनमें सदा दुःख ही रहता है—जैसे अज्ञानी की संगति में सदा दुःख रहता है; कहीं ऐसे स्थान हैं जहाँ सूर्य उदय नहीं होता; कहीं सूर्य चन्द्रमा दोनों उदय होते हैं; कहीं पशु ही रहते हैं; कहीं मनुष्य ही रहते हैं; कहीं दैत्य और कहीं देवता ही रहते हैं; कहीं किसान रहते हैं; कहीं धर्म का व्यवहार होता है; कहीं विद्याधर ही रहते हैं; कहीं उन्मत्त हाथी हैं; कहीं बड़े नन्दनवन हैं; कहीं ऐसे स्थान हैं जहाँ शास्त्र का विचार ही नहीं; कहीं शास्त्र के विचारवान् हैं; कहीं राज्य ही करते हैं; कहीं बड़ी बस्तियाँ हैं; कहीं उजाड़ बन हैं; कहीं पवन चलता है; कहीं बड़े खात छिद्र हैं; कहीं ऊर्ध्वशिखर हैं जहाँ विद्याधर और देवता रहते हैं; कहीं गन्धर्व, यक्ष और राक्षस हैं और कहीं विद्याधरी देवियाँ महामत्त रहती हैं। इसी प्रकार अनन्त देशों और स्थानों की बस्तियाँ हैं। उस लोकालोक के शिखर पर सात योजन का एक तालाब है जिसमें कमल लगे हैं; सब ओर कल्पवृक्ष हैं और वहाँ के सब पत्थर चिन्तामणि हैं। उसके उत्तर दिशा में एक सुवर्ण की शिला पड़ी है जिसके शिखर पर ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र बैठते हैं और विलास करते हैं उसके शिला में मैं रहती हूँ और मेरा भर्ता और सम्पूर्ण परिवार भी वहीं रहता है। हे मुनीश्वर! उसमें एक वृद्ध ब्राह्मण रहता है जो अबतक जीता है और एकान्त

जाकर सदा वेद का अध्ययन करता है। उसने मुझको अपने विवाह के निमित्त अपने मन से उपजाया था और अब मैं बड़ी हुई हूँ तो वह मेरे साथ विवाह नहीं करता। वह जब से उपजा है तब से ब्रह्मचारी ही रहता है और वेद का अध्ययन करके विरक्तचित्त हुआ है। हे मुनीश्वर ! मैं वस्त्रों और भूषणों से संयुक्त हूँ; चन्द्रमा की नाईं मेरे सुन्दर अङ्ग हैं और मैं सब जीवों के मोहनेवाली हूँ। मुझको देखकर कामदेव भी मूर्च्छित हो जाता है; फूलों की नाईं मेरा हँसना है और सब गुण मेरे में हैं। महालक्ष्मी की मैं सखी हूँ पर मुझको त्यागकर वह ब्राह्मण एकान्त जाकर बैठा है और सदा वेद का अध्ययन करता है। वह बड़ा दीर्घसूत्री है; जब मैं उत्पन्न हुई थी तब वह कहता था कि मैं तुझको विवाहूँगा पर अब मैं यौवन अवस्था को प्राप्त हुई हूँ तब त्यागकर एकान्त जा बैठा है। हे मुनीश्वर ! स्त्री को सदा भर्ता चाहिये। अब मैं यौवन अवस्था से जलती हूँ और बड़े तालाब जो कमलसहित दृष्टि आते हैं वे भर्ता के वियोग से मुझे अग्नि के अङ्गारे से भासते हैं और नन्दनवन आदिक बड़े बाग़ मुझको मरुस्थल की नाईं भासते हैं। इनको देखकर मैं रुदन करती हूँ और नेत्रों से ऐसा जल चलता है जैसे वर्षाकाल का मेघ वर्षता है। जब मैं मुख आदिक अपने अङ्गों को देखती हूँ तब नेत्रों के जल से कमलिनी डूब जाती है और जब कल्पतरु और तमाल वृक्ष के फूल और पत्र शय्या पर बिछाकर शयन करती हूँ तब अङ्गों के स्पर्श से फूल जलते हैं। जिस कमल से मेरा स्पर्श होता है सो जल जाता है। हे भगवन् ! भर्ता के वियोग से मैं तपी हुई हूँ। जब मैं बरफ़ के पर्वत पर जा बैठती हूँ तब वह भी अग्निवत् हो जाता है और मैं नाना प्रकार के फूलों को गले में डालती हूँ तब भी तप्तता निवृत्त नहीं होती। मेरे भर्ता की देह त्रिलोकी है और उसके चरणों में सदा मेरी प्रीति रहती है। मैं गृह के सब आचार करती हूँ और सब गुणों से सम्पन्न हूँ; सबको धार रही हूँ; सबकी प्रतिपालक हूँ और ज्ञेय की मुझको सदा इच्छा रहती है। हे मुनीश्वर ! मैं पतिव्रता हूँ; जो पुरुष पतिव्रता स्त्री के साथ स्पर्श करता है वह बहुत सुख पाता है और तीनों ताप

रहित होता है, क्योंकि उसमें सब गुण मिलते हैं और वह सदा भर्ता में प्रीति करती है और भर्ता की प्रीति उसमें होती है—ऐसी मैं हूँ पर मुझको त्यागकर वह ब्राह्मण एकान्त जा बैठा है और सर्वकाल वेद का अध्ययन और विचार करता रहता है। मेरे भर्त्ता ने कामना का त्याग किया है, उसको कोई इच्छा नहीं रही और मैं उसके वियोग से जलती हूँ। हे भगवन् ! वह स्त्री भी भली है जिसका भर्त्ता विवाह करके मर गया हो; कुँवारी भी भली है और जो भर्त्ता के संयोग से प्रथम ही मर जाती है वह भी श्रेष्ठ है पर जिसको भर्ता प्राप्त हुआ है परन्तु उसको स्पर्श नहीं करता तो उसको बड़ा दुःख होता है। हे मुनीश्वर ! जो पुरुष परमात्मा की भावना के संस्कार से रहित उत्पन्न हुआ है वह निष्फल जैसे पात्र विना अन्न निष्फल होता है—अर्थ यह कि सन्तजन, तीर्थ आदिक से रहित पापस्थानों में डाला हुआ धन निष्फल होता है और जैसे समदृष्टि विना बोध और वेश्या की लज्जा निष्फल है; तैसे ही मैं पति विना निष्फल हूँ। हे भगवन् ! जब मैं शय्या बिछाकर शयन करती हूँ तब फूल भी जल जाते हैं। जैसे समुद्र को बड़वाग्नि जलाता है तैसे ही कमलों को मेरे अङ्ग जलाते हैं। हे मुनीश्वर ! जो सुख के स्थान हैं सो मुझको दुःखदायक भासते हैं और जो मध्य स्थान हैं सो न सुख देते हैं न दुःख देते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधरीविशोकवर्णनं नाम
शताधिकत्र्यशीतितमस्सर्गः ॥ १८३ ॥

हे मुनीश्वर ! इस प्रकार मैं तप करती फिरती हूँ। अब मुझको भी भर्ता के वियोग से वैराग्य उपजा है। भर्ता का वैराग्यरूपी ओला मेरी तृष्णारूपी कमलिनी पर पड़ा है और उससे मैं जल गई हूँ इससे जगत् मुझको विरस भासता है। हे मुनीश्वर ! यह जगत् असार है, इसमें स्थिर वस्तु कोई नहीं; इस कारण मुझको भी वैराग्य उपजा है। मेरा भर्ता जो स्वयम्भू है सो संसार से विरक्त होकर एकान्त जा बैठा है और वेद को विचारता रहता है परन्तु आत्मपद को नहीं प्राप्त हुआ। वह मन के स्थिर करने का उपाय करता है परन्तु अबतक उसका मन स्थिर नहीं हुआ।

सर्व एषणा से रहित होकर वह शास्त्र को विचारता रहता है पर आत्मा का साक्षात्कार उसे नहीं हुआ। मुझको भी वैराग्य उपजा है; अब हम दोनों वैराग्य से संपन्न हुए हैं और परमपद पाने की इच्छा हुई है। शरीर हमको विरस हो गया है—जैसे शरत्काल की बेलि विरस होती है—इस कारण मैं योग की धारणा करने लगी हूँ। यह शक्ति अब मुझको उत्पन्न हुई है कि आकाशमार्ग को आऊँ और जाऊँ; योगधारणा से आकाश पर उड़ने की भी शक्ति हुई है और सिद्धमार्ग की धारणा से सिद्धों के मार्ग में भी आती जाती हूँ परन्तु अर्थ कुछ सिद्ध न हुआ, क्योंकि पाने योग्य आत्मपद प्राप्त नहीं हुआ। जिसके पाये से कोई दुःख न रहे। अब मुझको निर्वाण की इच्छा हुई है। मैंने सिद्धों के गण; देवता; विद्याधर और ज्ञानियों के बहुत स्थान देखे हैं परन्तु जहाँ गई वहाँ सब तुम्हारी ही स्तुति करते हैं कि वशिष्ठजी आत्मज्ञान के द्वारा अज्ञान को निवृत्त करते हैं। जैसे बड़ा मेघ वर्षता है परन्तु जब वायु चलता है तब मेघ को दूर करता है तैसे ही तुम्हारे वचन अज्ञान को दूर करते हैं। जब ऐसे मैंने तुम्हारी स्तुति सुनी तब मैंने इस सृष्टि में आने का अभ्यास किया और धारणा के अभ्यास से तुम्हारी सृष्टि में आई हूँ। इससे, हे मुनीश्वर! मेरे और मेरे भर्ता को शान्ति के अर्थ आत्मज्ञान का उपदेश करो। मेरा भर्ता जो मन के स्थित करने का यत्न करता है उसको तुम ऐसा उपदेश करो कि शीघ्र ही स्थित हो और आत्मज्ञान को पावे और मुझको भी आत्मज्ञान का उपदेश करो। हे भगवन्! तुम माया से पार मुझको दृष्टि आते हो इस कारण मैं तुम्हारी शरण आई हूँ। मैं स्त्री बुद्धि करके तुम्हारे निकट नहीं आई शिष्यभाव को लेकर आई हूँ और मैं जानती हूँ कि मेरा अर्थ सिद्ध हो रहा है क्योंकि जो कोई महापुरुष की शरण आय प्राप्त होता है तो निष्फल नहीं जाता बल्कि सब अर्थ पूर्ण होता है। जैसा किसी का अर्थ होता है वैसा महापुरुष सिद्ध कर देते हैं। जैसे कल्पवृक्ष के निकट कोई जाता है तो उसका अर्थ पूर्ण होता है, तैसे ही मेरा अर्थ सफल हो जावेगा। इससे कृपा करके मुझको उपदेश करो। हे मुनीश्वर! तुम मानो दया के समुद्र हो। सबके अर्थ पूर्ण करने को तुम समर्थ हो और सुहृद् हो अर्थात् उपकार की अपेक्षा विना उपकार करते हो; इससे मैं अनाथ तुम्हारी शरण में आई हूँ मुझको आत्मपद को प्राप्त करो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्याधरीवेगवर्णनन्नाम
शताधिकचतुरशीतितमस्सर्गः ॥ १८४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार विद्याधरी ने मुझसे कहा तब मैं आकाश में संकल्प का आसन रचकर उसपर बैठा और संकल्प से ही एक आधारभूत का आसन रचकर उसको बैठाया, क्योंकि हमारा शुद्ध संकल्प है जो कुछ चिन्तना करते हैं सो हो जाता है। तब मैंने कहा, हे देवि! यह तू कैसे कहती है कि शिला में हमारी सृष्टि है सो कह? शिला में सृष्टि कैसे बसती है? विद्याधरी बोली; हे भगवन्! तुम्हारी सृष्टि में जो लोकालोक पर्वत है सो प्रसिद्ध है, उसके उत्तर दिशा शिखर पर एक सुवर्ण की शिला है उसमें हमारी सृष्टि है, तैसे उस शिला में सृष्टि बसती है। उस सृष्टि का ब्रह्मा मेरा भर्ता है और मैं उसकी स्त्री हूँ। त्रिलोकी इस प्रकार बसती है कि ऊर्ध्वलोक में देवता रहते हैं; पाताल में दैत्य और नाग रहते हैं; मध्यमण्डल में मनुष्य और पशु, पक्षी बसते हैं और समुद्र, पर्वत, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश भी हैं। समुद्र ने गम्भीरता; जीवों ने प्राण; पवन ने आकाश में चलना; आकाश ने पोल; पृथ्वी ने धैर्य; विद्याधरों ने ज्ञान; अग्नि ने उष्णता; सूर्य ने प्रकाश; दैत्यों ने क्रूरता; विष्णु ने जगत् की रक्षा के निमित्त अवतार; नदियों ने चलना और पर्वतों ने स्थिरता अंगीकार की है। इस प्रकार सब नीति परमात्मा के आश्रय रची हुई है और कल्पपर्यन्त ज्यों की त्यों मर्यादा रहती है। इसी प्रकार जीव जन्मते और मरते हैं; देवता विमान पर आरूढ़ फिरते हैं; दिन का स्वामी सूर्य है; रात्रि का स्वामी चन्द्रमा है और नक्षत्र और तारों का चक्र पवन से फिरता है। इस चक्र के दो ध्रुव हैं और काल इस चक्र को फेरता है सो फेरता फेरता नाशरूप जो काल है सो कल्प के अन्त में उस चक्र के मुख में जा रहता है। हे मुनीश्वर! परमात्मा अनन्त है, उसका कोई अन्त नहीं जान सकता; जब संवेदन

फुरती है तब जानता है कि यह जगत् ईश्वर की सत्ता से है। और जब फुरने से रहित होता है तब जाना नहीं जाता कि जगत् कहाँ गया। हे मुनीश्वर! तुम चलो और हमारी सृष्टि का विलास देखो। तुम तो जगत् के विलास से पार हुए हो और यद्यपि तुमको इच्छा नहीं है तो भी कृपा करके उस शिला में हमारी सृष्टि देखो। इतना कहकर वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार कहकर वह आकाशमार्ग में मुझे ले चली—जैसे गन्ध को वायु ले जाता है तब हम और वह दोनों आकाशमार्ग में उड़े और भूताकाश में चिरकाल उड़ते गये तब हमको लोकालोक पर्वत दृष्टि में आया, उसके निकट जाकर उसके शिखर देखे कि बहुत ऊँचे गये हैं और बड़े मेघ उसपर विचरते हैं और शिखर ऐसे सुन्दर हैं कि मानों क्षीरसमुद्र से चन्द्रमा निकला है वहाँ जाकर मैंने महासुन्दर सुवर्ण की एक शिला देखी और उसके निकट गया तो मैंने कहा, हे देवि! यह तो शिला पड़ी है, तुम्हारी सृष्टि कहाँ है? इसमें पृथ्वी द्वीप की मर्यादा जिसका आवरण चहुँफेर समुद्र होता है और उनपर की दशसहस्र योजनपर्यन्त सुवर्ण की पृथ्वी, पर्वत, सप्तलोक, आकाश, दशोंदिशा, तारामण्डल, सूर्य, चन्द्रमा जो रात्रि दिन के प्रकाशक हैं और भूतों का संचार, देवगण, विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व, योगीश्वर, वरुण, कुबेर, जगत् की उत्पत्ति प्रलय का संचार, पाताल की भूमिका; मण्डलेश्वर; न्याय करनेवाले; मरुस्थल की भूमिका; नन्दन वनादिक; दैत्यों के विरोधसंचारक देवता कहाँ हैं? यह तो एक शिला दृष्टि में आती है। हे रामजी! जब मैंने आश्चर्य को प्राप्त होकर ऐसे कहा तब विद्याधरी बोली; हे भगवन्! मुझको तो प्रत्यक्ष इस शिला में अपनी सृष्टि भासती है—जैसे शुद्ध आदर्श में अपना मुख भासता है तैसे ही मुझको अपनी सृष्टि इस शिला में प्रत्यक्ष भासती है—जैसी मर्यादा देश देशान्तर की मुझको भासती है इसका संस्कार मेरे हृदय में है इसी से मुझको प्रत्यक्ष भासती है और तुम्हारे हृदय में इसका संस्कार नहीं है इसी से तुमको नहीं भासती। तुम्हारी सृष्टि की अपेक्षा से यह शिला पड़ी है और तुमको शिला का निश्चय है इस कारण तुमको इसमें जगत् नहीं

भासता। हे भगवन्! जिसका अभ्यास होता है सो पदार्थ अवश्य प्राप्त होता है और वही भासता है। हे मुनीश्वर! गुरु शिष्य को उपदेश करता है पर उपदेशमात्र से इष्ट की प्राप्ति नहीं होती, जब उसका अभ्यास करे तब इष्ट की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर! ऐसा न्याय और सिद्धता कोई नहीं जो अभ्यास किये से न मिले; ऐसी कला कोई नहीं जो अभ्यास किये से न पाइये और ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो अभ्यास की प्रबलता से सिद्ध न हो; जो थककर फिरे नहीं तो अवश्य सिद्ध होते हैं। हे मुनीश्वर! जो कुछ सिद्ध होता दृष्ट आता है सो सब अभ्यास के वश से होता है। प्रथम जब मैं तुम्हारे साथ आई थी तब मुझको भी शिला में सृष्टि नहीं भासी थी, क्योंकि यह सृष्टि अन्तवाहक शरीर में स्थित है। तुम्हारे साथ द्वैतरूपी कथा के कहने से अन्तवाहक शरीर मुझको विस्मरण हो गया था इससे विश्व की चर्चा और तुम्हारी सृष्टि की चर्चा करके मुझको वह स्पष्ट नहीं भासती। जैसे मलिन दर्पण में मुख नहीं भासता तैसे ही तुम्हारी सृष्टि के संकल्प से मुझको भी अपनी सृष्टि भासती नहीं, परन्तु चिरकाल जो अभ्यास किया है इससे फिर भासती है, क्योंकि जो कुछ दृढ़ अभ्यास होता है उसकी जय होती है। हे मुनीश्वर! चिन्मात्रपद में फुरने से आदि जीवों के शरीर अन्तवाहक हुए हैं अर्थात् आकाशरूप शरीर थे; जब उनमें प्रमाद करके दृढ़ अभ्यास हुआ तब आधिभौतिक होकर भासने लगे। जब फिर भावना उलटकर योग की धारणा से अभ्यास होता है तब आधिभौतिकता क्षीण हो जाती है और अन्तवाहकता प्रकट होती है उससे आकाश में पक्षी की नाईं उड़ता फिरता है। इससे तुम देखो कि अभ्यास के बल से सब कुछ सिद्ध होता है। हे मुनीश्वर! अज्ञान से मनुष्यों को अहंकाररूपी पिशाच लगा है सो दृढ़ स्थित हुआ है; जब शास्त्र के वचनों में दृढ़ अभ्यास होता है तब क्षीण हो जाता है। हे मुनीश्वर! तुम देखो कि जिस किसी को इष्ट की प्राप्ति होती है सो अभ्यास के बल से होती है; जो अज्ञानी होता है और ब्रह्म अभ्यास करता है तो ज्ञानी होता है। पर्वत बड़ा है परन्तु अभ्यास से चूर्ण किया चाहे तो चूर्ण होता है और सम्पूर्ण वृक्ष को

भोजन करना कठिन है परन्तु अभ्यास करके शनैः शनैः घुन खाजाता है; आप तो छोटा है परन्तु जो वस्तु पानी कठिन हो सो अभ्यास से सुगम हो जाती है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु के निकट जाकर जिस पदार्थ की वाञ्छा करो सो सिद्ध होती है, तैसे ही आत्मरूपी चिन्तामणि और कल्पतरु है उसमें जिस पदार्थ का अभ्यास करता है सो सिद्ध होता है और अभ्यासरूपी भूमिका फल देती है। जो बालक अवस्था से अभ्यास होता है सो ही वृद्धावस्था पर्यन्त रहता है। हे मुनीश्वर! जो बान्धव नहीं होता और निकट आ रहता है तो निकट के अभ्यास से बान्धव हो जाता है परन्तु बान्धव जो विदेश में रहता है तो अभ्यास की क्षीणता से अबान्धव हो जाता है। हे मुनीश्वर ! विष भी अमृत की भावना करने से अभ्यास के द्वारा अमृत हो जाता है। जो मिष्टान्न में कटुक भावना होती है तो कटु भासता है और कटु में मिष्टान्न की भावना कीजिये तो मिष्टान्न हो भासता है—जैसे किसी को नींब प्रियतम है और किसी को मिष्टान्न प्रियतम है। हे मुनीश्वर ! जो कुछ सिद्ध होता है सो अभ्यास के बल से सिद्ध होता है; जो पुण्य किया होता है तो पाप के अभ्यास से नष्ट हो जाता है और पाप पुण्य के अभ्यास से नाश होता है; माता भी अमाता हो जाती है; अर्थ के अनर्थ हो जाते हैं; मित्र अमित्र हो जाता है और भाग्य अभाग्यरूप हो जाते हैं; निदान सब पदार्थ चल हो जाते हैं परन्तु अभ्यास का नाश कदाचित् नहीं होता। हे मुनीश्वर ! जो पदार्थ निकट पड़ा होता है और साधक इन्द्रियाँ भी विद्यमान होती हैं तो भी अभ्यास विना प्राप्त नहीं होता। जहाँ अभ्यासरूपी सूर्य उदय होता है वहाँ इष्ट की प्राप्ति होती है। अज्ञानरूपी विसूचिका रोग ब्रह्मचर्चा के अभ्यास से नाश हो जाता है। हे मुनीश्वर! संसाररूपी समुद्र आदि-अन्त से रहित है पर आत्मअभ्यासरूपी नौका द्वारा उससे तर जाता है—जो अभ्यास को न त्यागोगे तो अवश्य तरोगे। हे मुनीश्वर ! जो पदार्थ उदय हो उसके अभाव की भावना कीजिये तो अस्त हो जाता है और जो अस्त हो पर उसके उदय होने की भावना कीजिये तो उदय होता है। जैसे सिद्ध के शाप से उदय पदार्थ की

नष्टता होती है और वर से अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति होती है। हे मुनीश्वर! जो पुरुष शास्त्र से इष्ट पदार्थ को सुनता है और उसका अभ्यास नहीं करता उसे मनुष्यों में नीच जानो; उसको इष्ट पदार्थ की प्राप्ति कदाचित् नहीं होती जैसे वन्ध्या के पुत्र नहीं होता, तैसे ही उसको इष्ट पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। हे मुनीश्वर! जो आत्मरूपी इष्ट को त्यागकर और किसी पदार्थ की वाञ्छा करता है वह अनिष्ट से अनिष्ट पाकर नरक से नरक को भोगता है। हे मुनीश्वर! जिसको अभ्यास का भी अभ्यास प्राप्त हुआ है उसको शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होती है और अभ्यास के बल से इष्ट को पाता है—जैसे प्रकाश से पदार्थ देखिये कि वह पड़ा है तो उसका नाम अभ्यास है और उसके निमित्त यत्न करना अभ्यास का अभ्यास है। जब यत्न और अभ्यास करते हैं तब पदार्थ पाते हैं। बारम्बार चिन्तना करने का नाम अभ्यास है; जब ऐसा अभ्यास हो तब इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होती है—अन्यथा नहीं होती। हे मुनीश्वर! चौदह प्रकार के भूतजात हैं; जैसा-जैसा किसी को अभ्यास है उसके बल से तैसा ही तैसा सिद्ध होता है। अभ्यासरूपी सूर्य के प्रकाश से जीव अपने इष्ट पदार्थ पाता है और अभ्यास के बल से भय निवृत्त होता है और पृथ्वी, पर्वत, वन, कन्दरा में निर्भय होकर बिचरता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शताधिकपञ्चा-
शीतितमस्सर्गः ॥ १८५ ॥

विद्याधरी बोली, हे मुनीश्वर ! सर्व पदार्थ निरन्तर अभ्यास से सिद्ध होते हैं। तुम्हारा शिला में दृढ़ निश्चय है इससे तुमको शिला ही भासती है और मुझको इसमें सृष्टि भासती है। जब तुम्हारा संकल्प भी मेरे संकल्प के साथ मिले तब तुमको भी यह जगत् भासे। यह जगत् जो स्थित है सो मेरे अन्तवाहक में है और आदि वपु सबका अन्तवाहक है सो अन्तवाहक में सबकी एकता है—जैसे समुद्र में सब तरङ्गों की एकता होती है। हे मुनीश्वर ! जब तुम धारणा का अभ्यास करके शुद्ध बुद्धि में प्राप्त होगे तब तुमको इस शिला में सृष्टि भासेगी। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब उसने इस प्रकार मुझसे शुद्ध

युक्ति कही तब मैंने पद्मासन बाँधकर सब विषय त्याग किये और कथा के क्षोभ का भी त्यागकर अपने आधिभौतिक का भी त्याग किया, तब निरन्तर शुद्ध बोध का अभ्यास करने से मुझको बोधका अनुभव उदय हुआ। जैसे मेघ के अभाव से शरत्काल का आकाश निर्मल होता है तैसे ही कलना से रहित मुझको शुद्ध बोध का अनुभव उदय हुआ जो उदय और अस्त से रहित परम शान्तरूप है और उसमें वह शिला मुझको आकाशरूप दृष्टि आई और शिलातत्त्व करके केवल बोधमात्र दृष्टि आई। पृथ्वी आदिक तत्त्व मुझको कोई दृष्टि न आये केवल अद्वैत आकाश आत्मतत्त्वमात्र अपना आपही दृष्टि आया पर जब बोधमात्र से अन्तवाहकरूप होकर स्पन्द फुरा तब अन्तवाहक करके उस शिला में सृष्टि भासने लगी—जैसे मनोराज की सृष्टि होती है और बोध से भिन्न-भिन्न नहीं होती तैसे ही वह सृष्टि मुझको दृष्टि आई और शिला का रूप भासी। जैसे स्वप्न के गृह में शिला दृष्टि आवे तो वह अनुभव ही शिला और गृहरूप होकर भासता है कुछ भिन्न नहीं होता, तैसे ही वह शिला दृष्टि आई। हे रामजी ! जैसे मैंने आकाशरूप वह शिला देखी, तैसे ही सब जगत् चिदाकाशरूप है कुछ द्वैत नहीं बना। सर्वदाकाल आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है पर आत्मा के अज्ञान से द्वैत भासता है—जैसे कोई पुरुष स्वप्न में अपना शिर कटा देखे और रुदन करे पर जागकर आपको ज्यों का त्यों देखता है; तैसे ही जबतक जीव अज्ञाननिद्रा में सोता है तबतक जगत् भ्रम नहीं मिटता जब स्वरूप में जागकर देखेगा तब सब भ्रम मिट जावेगा और केवल अपना ही आप भासेगा। हे रामजी ! यह आश्चर्य देखो कि जो वस्तु सत्‌रूप है सो असत् की नाईं भासती है। आत्मा सदा सत्‌रूप है पर अज्ञान करके नहीं भासता और जो असत्यरूप है वह सत् की नाईं हो भासता है। शरीरादिक दृश्य असत्‌रूप हैं सो सत्यवत् होकर भासते हैं। हे रामचन्द्र ! आत्मा सदा प्रत्यक्ष है और शरीरादिक परोक्ष हैं पर अज्ञान से शरीरादिक प्रत्यक्ष भासते हैं और आत्मपद परोक्ष भासता है। हे रामजी ! आत्मा सदा प्रत्यक्ष है और इस लोक अथवा परलोक की क्रिया जो सिद्ध होती है सो सम्पूर्ण आत्मसत्ता से ही सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण आत्मसत्ता से ही भासता है—आदि प्रत्यक्ष आत्मा ही है और सब कुछ आत्मा के पीछे जानता है। जो पुरुष कहते हैं कि आत्मा योग और मन से प्रत्यक्ष होता है सो मूर्ख हैं; आत्मा सदा प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण भी आत्मा से सिद्ध होते हैं। माया इसी का नाम है कि सदा अपरोक्ष वस्तु आत्मा को परोक्ष जानना और शरीरादिक असत्य को सत्य मानना। हे रामजी ! जितने जीव हैं उनका वास्तवरूप ब्रह्म ही है और उनमें आदि फुरना अन्तवाहकरूप हुआ है; उसके अनन्तर आधिभौतिक भासने लगा है और भ्रम करके आधिभौतिक को अपना आप जानते हैं पर जो सदा निर्विकार, निराकार, निर्गुण स्वरूप अपना आप अनुभवरूप है उसको कोई नहीं जानते। आदि शरीर सर्वजीवों का अन्तवाहक है सो शुद्ध आत्मा का किञ्चन केवल आकाशरूप है और कुछ बना नहीं संकल्प करके आधिभौतिकता दृढ़ हुई है सो मिथ्याभ्रान्ति से भासती है जैसे स्वप्न में आधिभौतिक शरीर भासता है तैसे ही जाग्रत् में आधिभौतिक शरीर भासता है और अन्तवाहक अविनाशी है—इस लोक और परलोक में इसका नाश नहीं होता। वास्तव बोध स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं, भ्रम करके आधिभौतिक दृष्टि आता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल; सीपी में रूपा; रस्सी में सर्प और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है; तैसे ही भ्रम से अपने में आधिभौतिक शरीर भासता है। हे रामजी ! यह आश्चर्य है कि सत्य वस्तु असत्य हो भासती है और जो असत्य वस्तु है वह सत्य होकर भासती है सो अविचार से भासती है। यह मोह का माहात्म्य है कि सबका आदि जो प्रत्यक्ष आत्मा है उसको लोग अप्रत्यक्ष जानते हैं और अप्रत्यक्ष जगत् को प्रत्यक्ष जानते हैं। हे रामजी ! यह जगत् भ्रम से भासता है और स्वप्न की नाईं मिथ्या है। जिन पदार्थों को जीव सुखरूप मानते हैं वे दुःख के कारण हैं, क्योंकि परिणाम इनका दुःख है। जो प्रथम क्षीणसुख भासता है और फिर उनके वियोग से दुःख होता है इसी कारण इनका नाम आपातरमणीय है—इनको पाकर शान्तिमान्

अन्तस्पूर्वक

कोई नहीं होता। जैसे मृगतृष्णा का क्षीणसुख भासता है और फिर उसके वियोग से दुःख होता है, क्योंकि उस जल को पाकर कोई तृप्त नहीं होता; तैसे ही विषय के सुखों से कोई तृप्त नहीं होता—जो उनमें लगते हैं वे मूर्ख हैं। जो अत्युत्तम सुख है वह अनुभव करके प्रकाशता है; उसको त्यागकर विषय के सुख में जो लगते हैं सो मूर्ख हैं; वे शुद्ध आकाशरूप अन्तवाहक में जगत् देखते हैं। हे रामजी! जगत् जाल हुए की नाईं भासते हैं तौ भी हुए कुछ नहीं—जैसे स्थाणु में पुरुष भासता है तौ भी हुआ नहीं और जैसे सुवर्ण में भूषण भासते हैं तैसे ही यह जगत् प्रत्यक्ष भासता है पर कुछ नहीं है। हे रामजी! प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं है तो अनुमानादिक प्रमाण कहाँ से सत्य हों? जैसे जिस नदी में हाथी बहे जाते हैं तो उसमें रुई के बहने में क्या आश्चर्य है? तैसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय जगत् को असत् जानो तो अनुमानप्रमाण कर क्या सत् होना है? हे रामजी! केवल बोधमात्र में जगत् कुछ बना नहीं। हमको तो सदा ऐसे ही भासता है और अज्ञानी को जगत् भासता है—जैसे किसी पुरुष को स्वप्न में पर्वत दृष्ट आते हैं और जाग्रत् पुरुष को नहीं भासते तैसे ही अज्ञानी को यह जगत् भासता है पर हमको तो आकाश, समुद्र, पर्वत, सब केवल बोधमात्र भासते हैं। जैसे कथा के अर्थ श्रोता के हृदय में होते हैं और जिसने नहीं सुनी उसके हृदय में नहीं होते, तैसे ही मेरे सिद्धान्त को ज्ञानवान् जानते हैं और अज्ञानी जान नहीं सकते। हे रामजी! जितना कुछ आधिभौतिक जगत् भासता है सो अप्रत्यक्ष है और आत्मा सदा प्रत्यक्ष है। जो इस लोक अथवा परलोक का अर्थ है सो अनुभव से सिद्ध होता है, क्योंकि सबके आदि अनुभव प्रत्यक्ष है; उसको त्यागकर जो देहादिक दृश्य को अपना आप जानते हैं और इनहीं को प्रत्यक्ष जानते हैं वे मूर्ख पशु और पत्थरवत् हैं और सूखे तृण की नाईं तुच्छ हैं। जैसे भ्रमण से पर्वत आदिक पदार्थ भ्रमते भासते हैं तैसे ही अज्ञानी को आधिभौतिक भासते हैं। हे रामजी! यह जगत् सब परोक्ष है, क्योंकि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है। जो नेत्र होते हैं तो रूप भासता है और जो नेत्र न हों तो न भासे; इसी प्रकार

सब इन्द्रियों के विषय हैं जो होवें तो भासें नहीं तो न भासें और आत्मा सदा प्रत्यक्ष है उसके देखने में किसी और की अपेक्षा नहीं। हे रामजी! जो इन्द्रियों करके सिद्ध हो सो असत् है; जो जगत् ही असत् हुआ तो उसके पदार्थ कैसे सत् हों? इससे इस जगत् की सत्यता त्यागकर शुद्ध-बोध में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रत्यक्षप्रमाणजगन्निराकरणं
नाम शताधिकषडशीतितमस्सर्गः ॥ १८६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब मैं उस शिला को बोधदृष्टि से देखूँ तब वह मुझको ब्रह्मरूप भासे और जब संकल्पदृष्टि से देखूँ तब पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, पर्वत, लोक, लोकपाल, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण, पाताल-संयुक्त जगत् दृष्ट आवे। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब भासता है, तैसे ही आत्मारूपी आदर्श में जगत् भासता है। तब देवी ने शिला में प्रवेश किया और मैं भी संकल्परूपी शरीर से उसके साथ चला गया। हम दोनों जगत् के व्यवहार को लाँघते गये और जहाँ परमेष्ठी ब्रह्मा का स्थान था वहाँ हम जा बैठे। तब देवी ने कहा, हे भगवन्! तुम परमेष्ठी से ऐसे कहना कि, मुझको यह ले आई है और यह पूछना कि, इसको जो तुमने विवाह के निमित्त उपजाया था तो फिर क्यों इसका त्याग किया? हे मुनीश्वर! उसने मुझको विवाह के अर्थ उत्पन्न किया था पर जब मैं बड़ी हुई तब उसने मेरा त्याग किया है। उसको वैराग्य उपजा है और उसे देखकर अब मुझको भी वैराग्य उपजा है; इसी से हम परम-पद की इच्छा रखती हैं जहाँ न द्रष्टा है, न दृश्य है, और न शून्य है केवल शान्तरूप है और जो सर्ग के आदि और महाकल्प के अन्त में रहता है उसमें स्थित होने की इच्छा है जिसमें स्थित हुए पहाड़वत् समाधि हो जावे। ऐसे परमपद का उपदेश करो। हे रामजी! इस प्रकार कहकर वह भर्ता के जगाने के निमित्त निकट जाकर बोली, हे नाथ! तुम जागो; तुम्हारे गृह में दूसरी सृष्टि के ब्रह्मा के पुत्र वशिष्ठमुनि आये हैं। तुम उठकर इनका अर्घ्यपाद्य से पूजन करो, क्योंकि गृह में अतिथि आये हैं। महापुरुष केवल पूजा से ही प्रसन्न होते हैं। हे रामजी! जब इस प्रकार

देवी ने कहा तब ब्रह्माजी समाधि से उतरे और उनके प्राण देह और नाड़ियों में आन स्थित हुए। जैसे वसन्तऋतु से सब वृक्षों में रस हो आता है तैसे ही उसकी दशों इन्द्रियों और चारों अन्तःकरण में शनैःशनैः करके प्राण स्थित हुए और सब इन्द्रियाँ खिल आईं। तब उन्होंने मुझको और देवी को अपने सम्मुख देखा और ज्ञान से ॐकार का उच्चार करके सिंहासन पर बैठे। ब्रह्माजी के जागने से बड़ा शब्द होने लगा और विद्याधर, गन्धर्व, ऋषि, मुनि आ प्रणाम करके स्तुति और वेद की ध्वनि से पाठ करने लगे। ब्रह्मा बोले, हे ऋषे! कुशल तो है? तुम इतनी दूर से क्यों आये हो तुम तो सार असार को जाननेवाले हो? जैसे हाथ में बेल का फल होता है तैसे ही तुमको ज्ञान है बल्कि ज्ञान के समुद्र हो। ऐसे कहकर उसने अपने निकट आसन दिया और नेत्रों से आज्ञा की कि, इस पर विश्राम करो। हे रामजी! जब इस प्रकार उसने मुझसे कहा तब मैं प्रणाम करके उसके निकट जा बैठा और एक मुहूर्तपर्यन्त देवता, सिद्ध और ऋषियों के प्रणाम होते रहे। उसके अनन्तर जब विद्याधर और देवता सब चले गये तब मैंने कहा, हे भूत–भविष्य–वर्तमान तीनों कालों के ज्ञाता ईश्वर परमेष्ठी! तुम ऊँचे आसन पर विराजमान हो और साक्षात् ब्रह्मज्ञान के समुद्र हो यह जो तुम्हारी शक्ति देवी है जिसको तुमने भार्या करने के निमित्त उत्पन्न किया था और फिर उसे विरस जानकर त्याग किया है तो तुम्हारे वैराग्य करने से इसको भी वैराग्य उपजा है इस निमित्त यह मुझको यहाँ ले आई है कि तुम परमात्मतत्त्व की वाणी से हमको उपदेश करो सो इससे इसका क्या अभिप्राय है? ब्रह्मा बोले, हे मुनीश्वर! मैं शान्त, अजर अमररूप हूँ और मुझमें उदय अस्त कदाचित नहीं। मैं परम आकाशरूप हूँ और अपने आपमें स्थित हूँ। न मेरी कोई स्त्री है और न मैंने किसी को उत्पन्न किया है तथापि जैसे वृत्तान्त हुआ है तैसे मैं कहता हूँ, क्योंकि महापुरुष के विद्यमान ज्यों का त्यों कहना योग्य है। हे मुनीश्वर! आदि शुद्ध चिदात्मा चिन्मात्रपद है, उसका किंचन जो अहं होकर फुरा है उसका नाम आदि ब्रह्मा है सो मैं हूँ जैसे भविष्यत् सृष्टि का हो–अर्थ यह है कि, संकल्परूप द्रष्टा

और संकल्परूप मैं हूँ–और वास्तव में आकाशरूप सदा निरावरण हूँ और अपने आपही में मेरी अहंप्रतीति है। उसमें आदि जो संकल्प का फुरना हुआ है उसमें जगत् भ्रम रचा है और उस जगत्भ्रम में मर्यादा हुई है और संकल्प का अधिष्ठाता जो ब्रह्मशक्ति है सो भी शुद्ध है। हे मुनीश्वर। उस मर्यादा को सहस्र चौकड़ी युगों की बीती हैं–अब कलियुग है। कल्प और महाकल्प की मर्यादा पूरी हुई है इससे मुझको परम चिदाकाश में स्थित होने की इच्छा हुई है और इसी से इसको विरस जानकर मैंने त्याग किया है। जब इसका त्याग करूँगा तब निर्वाणपद को प्राप्त होऊँ, क्योंकि यह मेरी इच्छा वासनारूप है जो वासना का त्याग हो तो निर्वाणपद प्राप्त हो। यह जो शुद्ध चित्तकला है इसने धारणा का अभ्यास किया था इससे इसमें अन्तवाहक शक्ति प्राप्त हुई है अन्तवाहक शक्ति से यह आकाश में फुरी है और संसार से विरक्त हुई है। आकाश मार्ग में इसको तुम्हारी सृष्टि भासि आई और परमपद पाने की इच्छा से इसको तुम्हारी संगति प्राप्त हुई–इससे तुम्हारी शरण आई है और तुमको ले आई है। जो श्रेष्ठ हैं वे बड़ों की शरण जाते हैं; यह अपने कल्याण के निमित्त तुमको ले आई है। हे मुनीश्वर! यह मेरी मूर्तिरूप वासनाशक्ति है; आगे मैंने इसको उत्पन्न करके इस जगत्जाल को रचा पर अब मुझको निर्विकल्प निर्वाणपद की इच्छा हुई है इससे मैंने इसका त्याग किया है। अब इसको भी वैराग्य उपजा है इस कारण तुम बोधरूप की शरण में आई है। हे मुनीश्वर! यह जगत् विलास संकल्प से हुआ है; वास्तव में कुछ हुआ नहीं; परमात्मतत्त्व ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है और मैं, तुम; मेरा, तेरा इत्यादिक शब्द समुद्र के तरङ्ग की नाईं हैं। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजकर शब्द करते हैं और फिर लीन हो जाते हैं; तैसे ही हमारा तुम्हारा बोलना और मिलाप होता है। हे मुनीश्वर! वास्तव में न कोई उपजा है और न कोई लीन होता है। जैसे तरङ्ग जलरूप है–भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है–भिन्न कुछ नहीं; इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि सब वही रूप हैं। हे मुनीश्वर! मैं चिदाकाश हूं और चिदाकाश में स्थित

हूं। यह ब्रह्मशक्ति है जिसने जगत् रचा है; यह भी अजर और अमर है और न कदाचित् उपजा है और न नाश होगा। शुद्ध आत्मा किञ्चन द्वारा जगत् हो भासता है। जैसे सूर्य की किरणें जल हो भासती हैं परन्तु जल कुछ हुआ नहीं तैसे ही आत्मा ही है; विश्व कुछ हुआ नहीं। हे मुनीश्वर! जगत्जाल होकर आत्मा ही भासता है पर जगत् के उदय अस्त होने से आत्मा में कुछ क्षोभ नहीं होता; वह ज्यों का त्यों एकरस स्थित है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजते और लीन होते हैं परन्तु समुद्र ज्यों का त्यों रहता है; तैसे ही जगत् कुछ उपजा नहीं संकल्प से उपजे की नाईं भासता है। जैसे दृढ़ता से जल ओला हो जाता है, तैसे ही चिन्मात्र में चैतन्यता से पिण्डाकार भासता है परन्तु उपजा कुछ नहीं। हे मुनीश्वर! यह जो शिला है जिसमें हमारी सृष्टि है सो केवल चिद्घनरूप है। तुम्हारी सृष्टि में यह शिला है और हम चैतन्य घन हैं चैतन्य आकाश आत्मा ही शिला होकर भासता है। जैसे स्वप्न में सृष्टि सब जाग्रत् रूप हो भासती है सो बोधरूप है—बोध ही जगत् सा भासता है; तैसे ही यह जगत् और शिलारूप होकर बोध ही भासता है। हे मुनीश्वर! जैसे स्वप्ने में ग्रह का चक्र फिरता दृष्ट आता है तैसे ही सूर्य, चन्द्रमा, पर्वत, नदी, वरुण, कुबेर आदिक जगत् जो भ्रम से दृष्ट आता है सो बना कुछ नहीं—चैतन्य का किञ्चन ही ऐसे भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में किञ्चन जलाभास होता है तैसे ही जहाँ आत्मसत्ता है वहाँ जगत् भासता है। सब पदार्थ आत्मसत्ता से ही भासते हैं ब्रह्मसत्ता सबमें अनुस्यूत है इससे सब ओर से सृष्टि बसती है। जैसे इस शिला में हमारी सृष्टि में जो कुछ पदार्थ भासते हैं और इनमें सृष्टि बसती है सो परिच्छिन्न दृष्टि से नहीं भासती पर जब अन्तवाहक दृष्टि से देखिये तब सृष्टि भासती है। घटों में, गढ़ों में और पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, आदि ठौरों में सृष्टि है और बना कुछ नहीं। जैसे जहाँ समुद्र है तहाँ तरङ्ग भी होते हैं परन्तु समुद्र से भिन्न कुछ तरङ्ग हुए नहीं—वही रूप हैं; तैसे ही यह जगत् कुछ उपजा नहीं और न लीन होता है; ज्यों का त्यों आत्मसमुद्र अपने आपमें स्थित है; जगत् संकल्प से फुरता है और संकल्प ही अहंरूपी किञ्चनमात्र उदय हुआ है। जैसे कमल से सुगन्ध लेकर तरियाँ निकलती हैं तैसे ही भूल से देवी जगत्रूपी सुगन्ध को लेकर उदय हुई है परन्तु वास्तव जगत् कुछ बना नहीं केवल संकल्प से बने की नाईं भासता है। हे मुनीश्वर! वास्तव में न कोई संकल्प है और न प्रलय है ज्यों का त्यों ब्रह्म अपने स्वभाव में स्थित है। जैसे आकाश में आकाश और समुद्र में समुद्र स्थित है, तैसे ही ब्रह्म में ब्रह्म स्थित है। हे मुनीश्वर! यह जगत् न सत्य है और न असत्य है; आत्मा में न यह उदय हुआ और न अस्त होवेगा। जैसे आकाश में नीलता न सत्य है, न असत्य है; तैसे ही ब्रह्म में जगत् न सत्य है और न असत्य है। मैं उस ब्रह्म का किञ्चन ब्रह्मा हूँ और यह जगत् मेरे संकल्प से उत्पन्न हुआ है। अब मैं संकल्प को निर्वाण करता हूँ; जब संकल्प निर्वाण होगा तब जैसे कमल के नाश हुए सुगन्ध का अभाव हो जाता है तैसे ही जगत् का अभाव हो जावेगा। मेरे से इच्छा फुरी थी, उस वासना में जगत् है। अब मैं इसको निर्वाण करता हूँ; जब इच्छा निर्वाण होगी तब जगत् का भी स्वाभाविक अभाव हो जावेगा। तुम्हारा शरीर संकल्प से भासता है इससे तुम अपनी सृष्टि में जाओ; ऐसा न हो कि तुम्हारा शरीर भी यहाँ निर्वाण हो जावे। हे रामजी! इस प्रकार वह मुझसे कहकर फिर देवी से बोला, हे देवि! अब तू निर्वाण हो और अपने आपमें बोध आदिक को भी लीन कर।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शिलान्तरवशिष्ठब्रह्मसंवाद-
वर्णनन्नाम शताधिकसप्ताशीतितमस्सर्गः ॥ १८७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार ब्रह्मा ने कहकर पद्मासन बाँधा और सब जनों के संयुक्त 'अकार', 'उकार', 'मकार' को छोड़कर अर्धमात्रा में स्थित हुआ तब उसकी मूर्ति ऐसी दृष्टि आने लगी जैसे काग़ज़ पर मूर्ति लिखी होती है और उसे सम्पूर्ण जगत्जाल का ज्ञान विस्मरण हो गया और देवी भी उसी प्रकार पद्मासन बाँधकर ब्रह्माजी के निश्चय में लीन हो जाने लगी। जब ब्रह्माजी निर्वेदनरूप ब्रह्म में लीन होने लगे उस समय जितने उपद्रव थे सब उदय हुए। मनुष्य पाप करने लगे, स्त्रियाँ दुराचारिणी हो गईं; सब जीवों ने धर्म को त्याग दिया; कामी पुरुष बहुत

हुए जो परस्त्रियों के साथ संग करते थे और पुरुष स्त्रियाँ किसी की शङ्का न करती थीं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष बढ़ गये और शास्त्र की मर्यादा त्यागकर लोग अनीश्वरवादी हुए। वर्षा बन्द हो गई और कुहिरा पड़ने लगा, दुष्काल पड़ा, दुष्टजन धनपात्र होने लगे, धर्मात्मा आपदा भोगने लगे, चोर चोरी करने लगे, राजा मद्यपान करने लगे, जीवों को बड़े दुःख प्राप्त होने लगे और तीनों तापों से जलने लगे और राजाओं ने न्याय को त्याग दिया। निदान जो पाप आचार थे सो उदय हुए और धर्म छिप गया; अज्ञानी राज्य करें; पण्डित ज्ञानी टहल करें; दुर्जनों की मानपूजा हो; सत् पण्डितों का निरादर हो; जीवों के समूह इकट्ठे हुए और पृथ्वी ने अपनी सत्ता को त्याग दिया, क्योंकि पृथ्वी ब्रह्मा के संकल्प में थी, जब उसने अपना संकल्प खैंचा तब निर्जीव हो गई और चैतन्यता निकल गई। जो स्थान भूतों के बिचरने के थे सो खाईं की नाईं हो गये, भूतनाश हो गये और पृथ्वी भी नाश होने लगी; पर्वत काँपने लगे; और भूचाल और हाहाकार शब्द होने लगे। जैसे शरत्काल में बेल सूख जाती है और जर्जरीभाव को प्राप्त होती है तैसे ही पृथ्वी जर्जरीभाव को प्राप्त हुई, क्योंकि चैतन्यता रूप शरीरों और सर्व जगत् का कारण ब्रह्मा है। ज्यों-ज्यों संकलपरूपी चैतन्यता क्षीण होती गई त्यों-त्यों पृथ्वी जर्जरीभूत होती गई। जैसे किसी पुरुष का अर्धाङ्ग मारा जाता है तब वह अङ्ग शव-सा हो जाता है और फुरना उसमें नहीं रहता तैसे ही ब्रह्मा की संकलपरूप चैतन्यता पृथ्वी से निकलती जाती थी। इस कारण पृथ्वी दुःखी हुई; धूलि उड़ने लगी और नगर नष्ट होने लगे। इस प्रकार उपद्रव उदय हुए, क्योंकि पृथ्वी के नाश का समय निकट आया और समुद्र जो अपनी मर्यादा में स्थित थे उन्होंने भी अपनी मर्यादा त्याग दी। जैसे कामी पुरुष मद्यपान किये से अपनी मर्यादा को त्यागता है, तैसे ही समुद्र उछले, किनारे गिर गये और पर्वत कन्दरा से निकलकर पृथ्वी को नाश करने लगे। राजा और नगरवासी भागने लगे और उनके पीछे तीक्ष्ण वेग से जल चलने लगा; बड़े पर्वत गिरने लगे और चक्र की नाईं फिरने लगे। समुद्र के तरङ्गों से

पर्वत गिरते थे और उड़ते थे और तरङ्गें उछलकर पाताल को गईं और पाताल का नाश होने लगा। बड़े रत्नों के पर्वत जब गिरे, तब रत्नों का ऐसा चमत्कार हो जैसे तारामण्डल का होता है। इसी प्रकार बड़ा क्षोभ होने लगा और तरङ्ग उछलकर सूर्य-चन्द्रमा के मण्डल को जाने लगे और उनका प्रकाश जाता रहा। बड़वाग्नि उदय हुई तब वरुण, कुबेर आदि देवताओं के वाहन भयवान् हुए और जल के वेग से पर्वत नृत्य करने लगे—मानों पर्वतों को पंख लगे हैं और स्वर्ग के कल्पतरु समुद्र में आन पड़े और चिन्तामणि, सिद्ध और गन्धर्व गिरने लगे। समुद्र इकट्ठे होगये। जैसे गङ्गा, यमुना और सरस्वती एकत्र होती हैं तैसे ही समुद्र मिलकर शब्द करने लगे और उनमें से ऐसे मच्छ निकले जिनकी पूँछों के लगने से पर्वत उड़ जावें। कंदरा में जो हाथी थे वे पुकार करने लगे और सूर्य, चन्द्रमा, तारागण क्षोभ को प्राप्त होकर समुद्र में गिरने लगे। हे रामजी! इस प्रकार प्रलय के क्षोभ से जितने लोकपाल थे वे सब समुद्र के मुख में आन पड़े और मच्छ उनको भक्षण कर गये। तरङ्ग आपस में युद्ध करने लगे जैसे मतवाले हाथी शब्द करते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे शताधिकाष्टाशीतितमस्सर्गः॥ १८८॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! उस विराट्रूप ब्रह्मा ने जिसकी देह सम्पूर्ण जगत् था अपने प्राण को खैंचा तब नक्षत्र चक्र का फेरनेवाला जो वायु है सो अपनी मर्यादा त्यागकर क्षोभ करने लगा और वे चक्र नाश होने लगे; क्योंकि ब्रह्मा के संकल्प में वे थे किसी को सामर्थ्य नहीं कि उनको रक्खे। तेजोमय जो देवता थे सो पवन के आधार थे, पवन के निकलने से वे निराधार होकर समुद्र में गिरने लगे और जैसे वृक्ष से फल गिरते हैं तैसे ही गिरते भये। जैसे संकल्प के नाश हुए संकल्प का वृक्ष गिरता है और जैसे पक्क फल समय पर वृक्ष से गिरता है, तैसे ही सब गिरते भये। सुमेरु की कन्दरा गिरी और पवन का बड़ा क्षोभ और शब्द हुआ। जैसे पवन में तृण फिरता है तैसे ही आकाश में पवन फिरने लगा। देवताओं के रहनेवाला जो सुमेरु पर्वत था सो भी गिर पड़ा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! संकलपरूप जो ब्रह्मा था सो तो विराट्

आत्मा है और सब जगत् उसकी देह है। भूमण्डल, पाताल और स्वर्गलोक उसके कौन अङ्ग हैं और संकल्परूप कैसे अङ्ग होते हैं ? संकल्प तो आकाशरूप होते हैं और जगत् प्रत्यक्ष पिण्डाकार दृष्ट आता है? जो जिससे उपजता है सो वैसा ही होता है तो यह जगत् ब्रह्मा के अङ्ग कैसे हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस जगत् से पूर्व केवल चिन्मात्र था और उसमें जगत् न सत्य था, न असत्य था; केवल आत्मत्वमात्र अपने आपमें स्थित था। जैसे आकाश अपने आपमें स्थित है और एक और दो शब्द से रहित है। उस केवल चिन्मात्र का किञ्चन अहं होकर स्थित हुआ है; उसका दृश्य से सम्बन्ध हुआ और उसके अनुभव ग्रहण से जो निश्चय हुआ उसका नाम बुद्धि है और जब मनन हुआ उसका नाम मन है; उस मन के फुरने से जगत् दृश्य हुआ है। हे रामजी ! शुद्ध चिन्मात्र में जो चैत्त्य है वही ब्रह्मा कहाता है; उसके फुरने में आगे जगत् हुआ है और उस संकल्परूप जगत् का वह विराट् है परन्तु आकाशरूप है और कुछ नहीं बना। यह जो आकारसहित जगत् भासता है सो भ्रम से भासता है पर सब संकल्प आकाशरूप हैं। जैसे स्वप्न में जगत् भासता है सो सब आकाशरूप होता है परन्तु निद्रादोष से पिण्डाकार भासता है और आत्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। हे रामजी ! अहं जो फुरा है सो मिथ्या है अज्ञान से दृढ़ स्थित हुआ है और असम्यक्‌दर्शी को दृढ़ भासता है सो केवल संकल्पमात्र है और कुछ नहीं बना। इससे जितना जगत् भासता है सो सब चिदाकाश है; एक और द्वैतकलना सर्व शब्दों से रहित आत्मत्वमात्र है; मैं और तुम शब्द कोई नहीं और यह जगत् उनका किञ्चन है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है वैसे ही आत्मा का आभास जगत् है; संकल्प की दृढ़ता से दृश्य भासता है पर है नहीं। जैसे संकल्परूप गन्धर्वनगर और स्वप्नपुर होते हैं, तैसे ही यह जगत् है। हे रामजी ! जिस प्रकार मैंने जगत् वर्णन किया है उसे जो पुरुष मेरे कहे के अनुसार ज्यों का त्यों धारे तो उसकी वासना नष्ट हो जावे और पूर्ववत् आत्मा ज्यों का त्यों भासे। तब जैसे जगत् के आदि आत्मत्वमात्र था

तैसे ही भासेगा, क्योंकि और कुछ हुआ नहीं केवल आत्मत्वमात्र ज्यों का त्यों स्थित है। जो आत्मा ही है तो समवायकारण और निमित्तकारण कैसे हो ? जगत् का उदय और नाश होना असत्य है और अद्वैत और अनन्त कहना भी कोई नहीं। जब सब शब्दों का अभाव होता है तब परम चिदाकाश अनुभवसत्ता ही शेष रहती है। इसी का नाम मोक्ष है। हे रामजी ! हमको तो अब भी संवित्सत्ता ही भासती है और मैं शुद्ध हूँ; सर्वकल्पना से रहित हूँ; और चिदाकाश हूँ। मुझमें जो वशिष्ठ अहं फुरा है सो फुरा नहीं फुरे की नाईं भासता है और आत्मा का ही किञ्चन है; हुआ कुछ नहीं। इससे तुम भी इसी प्रकार जागकर निर्वासनिक हो रहो और अपने प्रकृत आचार को करो अथवा न करो, जो इच्छा है सो करो परन्तु करने और न करने का संकल्प मत करो और परम मौन में स्थित हो रहो। ज्ञानवान् को यही अनुभव होता है, इससे तुम भी ऐसे ही धारो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनन्नाम
शताधिकनवाशीतितमस्सर्गः ॥ १८९ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! बन्धमोक्ष जगत् बुद्धि न सत् है और न असत् है; उदय भी नहीं हुआ और अस्त भी नहीं होता केवल ज्यों का त्यों आत्मा स्थित है; ऐसे आपने मुझको उपदेश किया है इसलिये मैंने जाना है कि आत्मा में जगत् न उपजता है और न मिटता है पर तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को सुनता मैं तृप्त नहीं होता और अमृत की नाईं पान करता हूँ। जगत् सत्-असत् से रहित सन्मात्र है उसको मैंने जाना है। स अब यह कहिये कि संसारभ्रम कैसे उपजता है और अनुभव कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो कुछ तुमको स्थावर-जङ्गम जगत् सर्वप्रकार देशकाल संयुक्त दीखता है उसके नाश का नाम महाप्रलय है। उसमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र भी लीन हो जाते हैं और उसके पीछे जो शेष रहता है वह स्वच्छ, अज, अनादि, केवल आत्मतत्त्वमात्र है—उसमें वाणी की गम नहीं वह केवल अपने आपमें स्थित है और परम सूक्ष्म है जिसमें आकाश भी स्थूल है। जैसे सुमेरुपर्वत के निकट राई का दाना सूक्ष्म है तैसे ही आकाश से भी आत्मा सूक्ष्म है और संवेदन से

रहित चिन्मात्र है उसमें अहं किञ्चन होकर फुरा है। आत्मा सदा निर्विकल्प है, समुद्रवत् है, देशकाल के भ्रम से रहित है और केवल चैतन्यघन अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में अपने भाव को लेकर जीव स्थित होता है तैसे ही आत्मा अपने भाव को लेकर चेतन किञ्चन होता है। उसी का नाम ब्रह्मा है और वह भी चिद्रूप है। हे रामजी! चिद्अणु जो अपने भाव को लेकर उदय हुआ है उसने चैत्त्यनाम दृश्य को देखा। इससे उसका अनुभव मिथ्या हुआ। जैसे स्वप्न में कोई अपना मरण देखता है सो अनुभव मिथ्या है; तैसे ही चिद्अणु दृष्टि से दृश्य को देखता है सो मिथ्यादृष्टि है। जब चिद्अणु अपने स्वरूप को देखता है सो केवल निराकाररूप है परन्तु अहंरूप बीज दृढ़ होता है उससे अपने आपसे निकल दृश्य को संकल्प से देखता है। जैसे बीज से अंकुर निकलता है तैसे ही संकल्प के फुरने से देश, काल, द्रव्य, द्रष्टा, दर्शन और दृश्य होता है, वास्तव में हुआ कुछ नहीं, आत्मा सदा अपने स्वभाव में स्थित है परन्तु संकल्प से हुए की नाईं भासता है। जहाँ चिद्अणु भासे वह देश है; जिस समय भासे वह काल है; जो भान हो वह क्रिया हुई; भान का ग्रहण द्रव्य है और देखने को जो वृत्ति दौड़ती है वह नेत्र होकर स्थित हुई है। जिसको देखते हैं वह भी शून्य है और देखनेवाले भी शून्य हैं; सब असत् है—कुछ बना नहीं। जैसे आकाश में आकाश स्थित है तैसे ही आत्मा अपने आपमें स्थित है। संकल्प द्वारा सब कुछ बनता जाता है। चिद्अणु जो भासित हुआ वह दृश्यरूप होकर स्थित हुआ है। जब चिद्अणु में स्वरूप की वृत्ति फुरती है तब चक्षु इन्द्रियाँ होकर स्थित होती हैं; जब सुनने की वृत्ति फुरती है तब श्रोत्र होकर स्थित होते हैं; जब स्पर्श की वृत्ति फुरती है तब त्वचा इन्द्रिय होकर स्थित होती है; जब सुगन्ध लेने की वृत्ति फुरती है तब नासिका इन्द्रिय होकर स्थित होती है और जब रस लेने की इच्छा होती है तब जिह्वा इन्द्रिय होकर स्वाद लेती है। हे रामजी! प्रथम यह चिद्अणु नाम से रहित फुरा है और सम्पूर्ण जगत् भी तद्रूप ही था और अब भी वही केवल आकाशरूप है। संकल्प से अपने में पिण्डघन देखकर शरीर और इन्द्रियाँ

देखीं। अनादि सत्स्वरूप चिद्अणु इन्द्रियों के संयोग से पदार्थों को ग्रहण करता है और स्पन्दरूप जो वृत्ति फुरी है उसी का नाम मन हुआ। जब निश्चयात्मक बुद्धि होकर स्थित हुई तब चिद्अणु में यह निश्चय हुआ कि मैं द्रष्टा हूँ—यही अहंकार हुआ। जब अहंकार से चिद्अणु का संयोग हुआ तब अपने में देशकाल का परिच्छेद देखा, आगे दृश्य और पूर्व उत्तरकाल देखा कि इस देश में बैठा हूँ और यह मैंने कर्म किया है—यह विषम अहंकार हुआ। निदान देश, काल, क्रिया, द्रव्य के अर्थ को भिन्न-भिन्न ग्रहण करता है और आकाश होकर आकाश को ग्रहण करता है। हे रामजी! आदि फुरने से चिद्अणु में प्रथम अन्तवाहक शरीर हुआ, फिर संकल्प के दृढ़ अभ्यास से आधिभौतिक भासने लगा है। जैसे आकाश में और आकाश हो तैसे ही यह आकाश है और अनहोते भ्रम से उदय हुए हैं और सत् की नाईं भासते हैं। जैसे मरुस्थल में भ्रम से नदी भासती है तैसे ही अविचार से संकल्प की दृढ़ता से पाञ्चभौतिक आकार भासते हैं। उनमें अहं प्रत्यय होने से देखता है कि यह मेरा शिर है; यह मेरे चरण हैं; यह अमुक देश है इत्यादि शब्द-अर्थ और नाना प्रकार का जगत् और भाव-अभाव ग्रहण करता है और इस प्रकार कहता है कि यह देश है; यह काल है; यह क्रिया है और यह पदार्थ है। हे रामजी! जब इस प्रकार जगत् के पदार्थों का ज्ञान होता है तब चित्त विषयों की ओर दौड़ता है और रागद्वेष को ग्रहण करता है। जो कुछ देहादिक भूत फुरने से भासते हैं सो केवल संकल्पमात्र हैं और संकल्प की दृढ़ता से दृढ़ हुए हैं। हे रामजी! इस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र उत्पन्न हुए हैं और इसी प्रकार कीट उत्पन्न हुए हैं परन्तु प्रमाद अप्रमाद का भेद है। जो अप्रमादी हैं वे सदा आनन्दरूप स्वतन्त्र ईश्वर हैं, उनको यह जगत् और वह जगत् अपना आप रूप है और जो प्रमादी हैं वे तुच्छ हैं और सदा दुःखी हैं पर वास्तव में परमात्मतत्त्व से भिन्न कुछ हुआ नहीं। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है तैसे ही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और सबका बीज; त्रिलोकीरूप बूँद का मेघ; कारण का कारण; काल में नीति और क्रिया में क्रिया वही

भिन्न
ही [illegible]

विश्वमय, विश्वातीत

है। आदि विराट् पुरुष का शरीर भी नहीं और हम तुम भी नहीं—केवल चिदाकाशरूप है। अब भी इनका शरीर आकाशरूप है और आत्मसत्ता भिन्न अवस्था को नहीं प्राप्त हुई—केवल आकाशरूप है। जैसे स्वप्न में युद्ध होते और मेघ गर्जते इत्यादि शब्द-अर्थ भासते हैं सो केवल आकाशरूप हैं बना कुछ नहीं परन्तु निद्रादोष से भासते हैं और जब जागता है तब जानता है कि हुआ कुछ न था—आकाशरूप है; तैसे ही जो पुरुष अनादि अविद्या से जागा है उसको जगत् आकाशरूप भासता है। हे रामजी! बहुत योजन पर्यन्त विराट् पुरुष का देह है तौ भी ब्रह्म आकाश के सूक्ष्म अणु में स्थित है। यह त्रिलोकी एक चिद्अणु में स्थित है और विराट् पुरुष इसका ऐसा है जिसका आदि, अन्त और मध्य नहीं भासता तौ भी एक चावल के समान भी नहीं है। हे रामचन्द्र! यह जगत् और जगत् के भोग विस्तीर्ण दृष्ट आते हैं पर जैसे स्वप्न के पर्वत जाग्रत् के एक अणु के समान नहीं तैसे ही विचाररूपी तराजू से तोलिये तो परमार्थसत्ता में इनकी कुछ सत्यता नहीं दृष्ट आती परन्तु आत्मसत्ता से कुछ भिन्न नहीं हुआ, आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है। इसी का नाम स्वायम्भुव मनु और विराट् है और इसी को जगत् कहते हैं। जगत् और विराट् में कुछ भेद नहीं—वास्तव में आकाशरूप है। सनातन भी इसी को कहते हैं और रुद्र, इन्द्र, उपेन्द्र, पवन, मेघ, पर्वत, जल, जितने भूत हैं सो उसका वपु हैं। हे रामजी! इसका आदि वपु जो चिन्मात्ररूप है उसमें चैतन्यता से अपना अणु सा वपु देखता है—जैसे तेज का कणका होता है उस तेज अणु से चैतन्यता—और क्रम करके अपना बड़ा शरीर जगत्रूप देखता है। जैसे स्वप्न में कोई पुरुष आपको पर्वत देखे, तैसे ही वह आपको विराट्रूप देखता है। जैसे पवन के दो रूप हैं—चलता है तौ भी पवन है और नहीं चलता तौ भी पवन है—तैसे ही जब चित्त फुरता है तब भी ब्रह्मसत्ता ज्यों का त्यों है और जब चित्त नहीं फुरता तब भी ज्यों का त्यों है परन्तु जब स्पन्द फुरता है तब विराट्रूप होकर स्थित होता है और जब चित्त अफुर होता है तब अद्वैतसत्ता भासती है और

सदा अद्वैत ही विराट्स्वरूप है। हे रामजी! इस दृष्टि से उसके शिर और पाद नहीं भासते। जितनी ब्रह्माण्ड की पृथ्वी है सो उसका मांस है; सब समुद्र उसका रुधिर है; नदी नाड़ी हैं; दशो दिशा वक्षस्थल हैं; तारागण रोमावली हैं; सुमेरु आदिक अँगुलियाँ हैं; सूर्यादिक तेज पित्त है; चन्द्रमा कफ है; पवन प्राणवायु है; सम्पूर्ण जगत्जाल उसका शरीर है और ब्रह्मा हृदय है सो आकाशरूप है पर संकल्प से नानारूप हो भासता है, स्वरूप से कुछ बना नहीं। आकाश आदिक जगत् सब चिदाकाश रूप है और अपने आपही में स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विराडात्मवर्णनन्नाम
शताधिकनवतितमस्सर्गः ॥ १९० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आदि जो विराट् है सो ब्रह्मा है उसका आदि-अन्त नहीं और यह जगत् उसका छोटा वपु है; उसी चैतन्यवपु का किञ्चन ब्रह्मारूप हुआ है। उसके विस्तार का क्रम सुनो—उस ब्रह्मा ने, जिसका वपु संकल्पमात्र है, अपने संकल्प से एक अण्ड रचा और उसको तोड़ फोड़ कर ऊर्ध्वभाग ऊपर किया और नीचे का भाग नीचे गया। पाताल ब्रह्मा का चरण हुआ; ऊर्ध्व शिर हुआ; मध्य आकाश उदर हुआ; दशोदिशा वक्षस्थल; हाथ सुमेरु आदिक पर्वत; मांस पृथ्वी; समुद्र और सब नदियाँ उसकी नाड़ी; जल रुधिर; प्राण अपान वायु पवन; हिमालय पर्वत कफ; सर्वतेज पित्त; चन्द्रमा और सूर्य नेत्र; तारागण स्थूल लार और लार प्राण के बल से निकलती है—जैसे ताराचक्र को पवन फेरता है—ऊर्ध्वलोक उसकी शिखा मनुष्य, पशु और पक्षी रोम; सब भूतों की चेष्टा उसका व्यवहार है; पर्वत अस्थि; ब्रह्मलोक उसका मुख है और सब जगत् उस विराट् का वपु है। रामजी बोले, हे भगवन्! यह जो आपने संकल्परूप ब्रह्मा और जगत् उसका वपु कहा उसे मैं मानता हूँ परन्तु यह जगत् तो उसी का शरीर हुआ फिर ब्रह्मलोक में ब्रह्मा कैसे बैठता है और अपने शरीर में भिन्न होकर कैसे स्थित होता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसमें क्या आश्चर्य है? जो तुम ध्यान लगा कर बैठो और अपनी मूर्ति अपने हृदय में रख कर स्थित हो तो बन जावे। जैसे

मनुष्य को स्वप्न आता है और उसमें जगत् भासता है सो सब अपना स्वरूप है परन्तु अपनी मूर्ति धार कर और को देखता है; तैसे ही ब्रह्मा का एक शरीर ब्रह्मलोक में भी होता है। ब्रह्मा और जीव में इतना भेद है कि जीव भी अपनी स्वप्नसृष्टि का विराट् है परन्तु उसको प्रमाद से नहीं भासती और ब्रह्मा सदा अप्रमादी है उसको सब जगत् अपना शरीर भासता है। हे रामजी! देवता, सिद्ध, ऋषीश्वर और विद्याधर उस विराट् पुरुष की ग्रीवा में स्थित हैं, भूत, प्रेत, पिशाच सब उस विराट् पुरुष के मल से उपजे हैं और कीट की नाईं उदर में स्थित हैं और स्थावर-जङ्गम जगत् सब संकल्प से रचा हुआ विराट् में स्थित है–सब उसी के अङ्ग हैं। जो जगत् है तो विराट् भी है और जगत् नहीं तो विराट् भी नहीं। जगत्, ब्रह्म और विराट् तीनों पर्याय हैं; इससे सम्पूर्ण जगत् विराट् का वपु है–निराकार क्या और आकार क्या–सब भीतर बाहर विराट् का वपु है। जैसे भीतर बाहर आकाश में भेद नहीं तैसे ही विराट् आत्मा में भेद नहीं। जैसे पवन के चलने और ठहरने में भेद नहीं तैसे ही विराट् और आत्मा में भेद नहीं। जैसे चलना और ठहरना दोनों रूप पवन के हैं तैसे ही साकार निराकार सब विराट् का शरीर है। हे रामजी! इस प्रकार जगत् हुआ है सो कुछ उपजा नहीं संकल्प से उपजे की नाईं भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल है नहीं और हुए की नाईं भासता है; तैसे ही ब्रह्मसत्ता में जगत् उपजे की नाईं भासता है और उपजा कुछ नहीं–केवल अपने आप में स्थित है वह शिला की नाईं स्थित है अर्थात् तुम्हारा संकल्प विकल्प और चैतन्यरूप चैत्त्य से रहित चिन्मात्रस्वरूप है–इससे कलना को त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विराट्शरीरवर्णनन्नाम
शताधिकैकनवतितमस्सर्गः ॥ १९१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! प्रथम प्रलय का प्रसंग फिर सुनो। मैं ब्रह्मपुरी में ब्रह्मा के पास बैठा था, जब मैंने नेत्र खोलकर देखा कि मध्याह्न का समय है और दूसरा सूर्य पश्चिम दिशा में उदय हुआ है उसका बड़ा प्रकाश है–मानो सम्पूर्ण तेज इकट्ठा हुआ है वा वड़वाग्नि की नाईं प्रकाश हुआ है और बिजली की नाईं स्थित हुआ है–उसको देखकर मैं आश्चर्यवान् हुआ। ऐसे देखता था कि एक और सूर्य उदय हुआ; फिर उत्तर दिशा की ओर और सूर्य उदय हुआ; इसी प्रकार दश सूर्य आकाश में प्रकट हुए और एक प्रथम था और वड़वाग्नि समुद्र से उदय हुई उससे एक सूर्य निकला सब द्वादश सूर्य इकट्ठे होकर विश्व को तपाने लगे। हे रामजी! प्रलय के तीन नेत्र उदय हुए–एक नेत्र सूर्य, दूसरा नेत्र वड़वाग्नि और तीसरा नेत्र बिजली वे तीनों विश्व को जलाने लगे; दिशा सब रक्त हो गईं; अट्टअट्ट शब्द होने लगे; नगर, वन, कन्दरा, पृथ्वी जलने लगीं; देवताओं के स्थान जलजलकर गिरने लगे; पर्वत जलकर श्याम हो गये; ज्वाला के कण निकलकर पाताल को गये वह भी जल गया; समुद्र जलकर सूख गये और हिमालय पर्वत के बरफ़ का जल होकर जलने लगा–जैसे दुर्जनों से संगकर साधु का हृदय तप्त होता है–जब इसी प्रकार बड़ी अग्नि प्रज्वलित हुई तब मुझको भी तपन आन लगी और मैं वहाँ से दौड़कर नीचे जाकर स्थित हुआ। वहाँ मैंने देखा कि अस्ताचल पर्वत जलता हुआ उदयाचल पर्वत के पास आ पड़ा; मन्दराचल और सुमेरु पर्वत जलकर गिरने लगे और अग्नि की ज्वाला ऊँचे उठकर भड़भड़ शब्द करने लगी। हे रामजी! इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व जलने लगा; बड़ा क्षोभ हुआ और जहाँ कुछ रस था सो सब सूख गया। हे रामजी! जिसको अज्ञानी रस कहते हैं सो सब विरस है परन्तु अपने अपने काल में रससंयुक्त दृष्टि आते हैं। उस काल में मुझको सब ऐसे भासे जैसे जली हुई बेल होती है। हे रामजी! इस प्रकार मैंने सब विश्व जलता देखा परन्तु ज्ञान से जिसका अज्ञान नष्ट हुआ था सो सुखी दृष्टि आता था और सब अग्नि में जलते दृष्टि आते थे और बड़े भयानक शब्द होते थे। शिव का जो कैलास पर्वत है उसके निकट जब अग्नि आई तब सदाशिव ने अपने नेत्र से अग्नि प्रकट की जिससे बड़ा क्षोभ हुआ और ब्रह्माण्ड जलने लगा। तब महापवन चला और बड़े पर्वत उड़ने लगे–जैसे तृण उड़ते हैं। जो स्थान जले थे उनकी

आँधी होकर यक्षों के स्थान भी उड़ने लगे, निदान बड़ा क्षोभ उदय हुआ और इन्द्रादिक देवता अपने स्थान को त्यागकर ब्रह्मलोक में चले गये; बड़े मेघ जो जल से पूर्ण थे सूखकर जलने लगे और कल्परूपी पुतली नृत्य करने लगी। जले स्थानों से जो धूम्र निकलता था वह उसके केश थे और प्रलय शब्द उसका बोलना था। बड़ा पवन चलने लगा, पर्वत जलकर उड़ने लगे और सुमेरु आदिक पर्वत तृणों की नाईं उड़ते थे। निदान जीवों को बड़ा कष्ट हुआ जो कहा नहीं जाता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगद्ब्रह्मप्रलयवर्णनन्नाम
शताधिकद्विनवतितमस्सर्गः ॥ १९२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब अग्नि से सब स्थान जल गये उसके उपरान्त पुष्कल मेघ गर्जकर वर्षने लगे और प्रथम मुसल की, फिर थम्भधारा, फिर नदी की नाईं और फिर महानद की नाईं वर्षने लगे जिनकी गङ्गा यमुना नदी लहरें हैं और उनसे सब स्थान शीतल हो गये—जैसे तीनों तापों से जला हुआ अज्ञानी सन्तों के संग से शीतल होता है। हे रामजी! फिर ऐसा जल चढ़ा जिससे सुमेरु आदिक पर्वत नृत्य करने लगे और जैसे समुद्र में झाग होते हैं तैसे ही हो गये अथवा ऐसे जान पड़ते थे जैसे जलचर होते हैं। हे रामजी! ऐसे जल चढ़े कि कहा नहीं जाता; बड़े बड़े स्थान और देवता, सिद्ध, गन्धर्व बहे जाते थे। जिनको अज्ञानी परमार्थ जानकर सेवन करते हैं वे भी बहते दृष्टि आये। जैसे कोई पुरुष कण्टक के अन्धे कूप में गिरके दुःख पावे तैसे ही वे दृष्टि आवें पर मुझको सब ब्रह्म दृष्टि आवे पर जब संकल्प की ओर देखूँ तब महाप्रलय दृष्टि आवे और मेघ गर्जते घटा होकर दृष्टि आवें। निदान ब्रह्मलोक पर्यन्त जल चढ़ गया और मैं देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुआ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजलमयवर्णनं नाम
शताधिकत्रिनवतितमस्सर्गः ॥ १९३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! उस ब्रह्मा का जगत् जलमय हो गया और मुझे जल से भिन्न कुछ न भासे सब शून्य ही भासे। ऊर्ध्व, अधः और मध्य दिशा भी न भासें और न कोई तत्त्व; न कोई पर्वत; न कोई देवता; न पशु और न पक्षी भासें। तब मैंने ब्रह्मपुरी को देखा कि इसकी क्या दशा है। फिर जैसे प्रातःकाल का सूर्य अपनी प्रतिभा को फैलाता है; तैसे ही मैंने ब्रह्मपुरी को दृष्टि फैलाके देखा तब ब्रह्माजी मुझको परमसमाधि में दृष्टि आये और भी जो जीवन्मुक्त ब्रह्मा के परिवारवाले थे वे भी सब पद्मासन बाँध करके परमसमाधि लगाये बैठे थे और जैसे पत्थर पर मूर्ति हो तैसे ही सब परमसमाधि में अचल स्थित थे और संवेदन फुरने से रहित थे। चारों वेद मूर्ति धरे और बृहस्पति, वरुण, कुबेर, इन्द्र, यम, चन्द्रमा, अग्नि, देवता इत्यादि ऋषीश्वर मुनीश्वर जीवन्मुक्त सबको मैंने ध्यान में स्थित देखा और द्वादशसूर्य भी जो विश्व को तपाते थे सो पद्मासन बाँधकर समाधि में स्थित हुए थे। एक मुहूर्त पर्यन्त मैंने इसी प्रकार देखा जब एक मुहूर्त बीता तब सूर्य विना सब अन्तर्धान हो गये। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अपने में विद्यमान होती है और जागे से अभावना हो जाती है; तैसे ही मेरे देखते-देखते ब्रह्मपुरी शून्य वन की नाईं हो गई। जैसे राजपतन से मार्गप्रलय हो जाते हैं तैसे प्रलय हो गई। हे रामजी! जैसे स्वप्ने में मेघ गर्जते दृष्टि आते हैं—और यह दृष्टान्त तो बालक भी जानते हैं कि प्रत्यक्ष अनुभव को छिपाते हैं वे मूर्ख हैं। मैं अनुभव से भी जानता हूँ; स्मृति भी होती है और सुना भी है कि जबतक निद्रा है तबतक स्वप्ने की सृष्टि भासती है और जागे से उसका अभाव होता है—तैसे ही जबतक ब्रह्मा की वासना थी तबतक सृष्टि थी, जब वासना क्षय हुई तब सृष्टि कहाँ रही। जब वासना नष्ट होती है तब अन्तवाहक आधिभौतिक शरीर नहीं रहते। हे रामजी! जब शुद्धमात्र पद से चित्तशक्ति फुरती है तब पिण्डाकार हो भासती है और जबतक वह शरीर है तबतक संसार उपजाता भी है और नष्ट भी होता है; तैसे ही ब्रह्मा की सुषुप्ति में जगत् लीन हो जाता है और जाग्रत् में उत्पन्न होता है, क्योंकि ब्रह्मा के शरीर का सुषुप्ति में लीन होना ही प्रलय है। यदि कहिये कि इस शरीर के नाश का नाम महाप्रलय हो तो ऐसे नहीं है, क्योंकि मृतक हुए शरीर का नाश होता है और फिर लोक भासता है और जो कहिये कि वह परलोक भ्रममात्र

है तैसे ही यह भी भ्रान्तिमात्र है और वह परलोक भ्रान्तिमात्र है इसी का नाम महाप्रलय है; तो ऐसे भी नहीं है, क्योंकि श्रुति, स्मृति और पुराण सब कहते हैं कि महाप्रलय में कुछ नहीं रहता केवल आत्मसत्ता ही रहती है और जो कहिये कि परलोक भ्रान्तिमात्र है इसका नाश होना क्या है तो श्रुति और शास्त्र का कहना व्यर्थ होता है और जो उनका कहना व्यर्थ हो तो इनके कहने से ब्रह्माकार वृत्ति किसी को उत्पन्न न हो। जो तुम कहो कि जैसे अङ्गवाला अङ्ग को सकुचा लेता है तैसे ही स्थूलभूत सकुचकर अपने सूक्ष्मकारण में जा लीन होते हैं इसी का नाम महाप्रलय है, तो ऐसे भी नहीं, क्योंकि सूक्ष्मभूत के रहते महाप्रलय नहीं होता और जो तुम कहो कि संवेदन जो अज्ञान है जिसमें अहं फुरता है उसका नाम महाप्रलय है तो यह भी नहीं, क्योंकि मूर्च्छा में इसको अज्ञान होता है परन्तु फिर सृष्टि भासती है और मृत्यु होती है सो बड़ी मूर्च्छा है पर उसमें भी फिर पाञ्चभौतिक शरीर भासता है और आगे जगत् भासता है इससे इसका नाम भी महाप्रलय नहीं। जो तुम कहो कि जबतक यह पाञ्चभौतिक शरीर है तबतक जगत् है और इसका अभाव हो तब महाप्रलय है तो यह भी नहीं क्योंकि जब शरीर को जीव त्यागता है और उसकी क्रिया नहीं होती तो पिशाच होता है। इस शरीर का जब नीरूप होता है और मनुष्य शव हो जाता है तब क्षत्रिय ब्राह्मण की संज्ञा नहीं रहती, इससे तुम देखो कि बस देह का नाश भी महाप्रलय नहीं और प्रमाद करके विपर्यय का नाम भी महाप्रलय नहीं। महाप्रलय उसको कहते हैं कि जिसमें सबका अभाव हो जावे और सबका अभाव तब होता है जब वासना क्षय हो जाती है। इसलिए वासना के क्षय को ज्ञानी निर्वाण कहते हैं। जैसे जबतक निद्रा है तबतक स्वप्ने का जगत् भासता है और जाग्रत् में स्वप्ने के जगत् का अभाव हो जाता है, तैसे ही जबतक वासना है तबतक जगत् है, जब वासना का क्षय होता है तब जगत् का अभाव होता है। हे रामजी! वासना भी फुरती नहीं आभासमात्र है और तुम जो कहो कि भासता क्यों है? तो जो कुछ भासता है सो वही अपने भाव में आप स्थित है।

हे रामजी! उत्थान होने का नाम बन्धन है और उत्थान के मिटने का नाम मोक्ष है। हे रामजी! नेत्र के खोलने और मूँदने में भी कुछ यत्न है पर मुक्त होने में कुछ यत्न नहीं। जो वृत्ति बहिर्मुख हुई तो बन्धन हुआ और वृत्ति अन्तर्मुख हुई तो मुक्त हुआ। इसमें क्या यत्न है? इसलिये सुषुप्त की नाईं निर्वासनिक स्थित हो रहो। जब अहंसंवेदन फुरता है तब मिथ्या जगत् सत्य हो भासता है। आगे जो इच्छा हो सो करो पर जब अहं उत्थान से रहित होगे तब निर्वाणपद को प्राप्त होगे, जहाँ एक और दो कल्पना कोई नहीं उस परमशान्त निर्विकल्प पद को प्राप्त होगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शताधिकचतुर्णवतितमस्सर्गः १९४

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! निदान वे ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये—जैसे तेल विना दीपक निर्वाण हो जावे। जब ब्रह्माजी ब्रह्मपद में निर्वाण हुए और द्वादश सूर्य फिर ब्रह्मपुरी को जलाने लगे और सम्पूर्ण ब्रह्मपुरी जल गई तब वे सूर्य भी ब्रह्मा की नाईं पद्मासन बाँध स्थित हुए। जैसे तेल विना दीपक निर्वाण होता है तैसे ही वे सूर्य भी निर्वाण हो गये। हे रामजी! जब द्वादश सूर्य निर्वाण हो गये तब समुद्र उछले और ब्रह्मपुरी को ढाँप लिया। जैसे रात्रि में अन्धकार नगर को ढाँप लेता है तैसे ही ब्रह्मपुरी को उन्होंने आच्छादित किया; बड़े तरङ्ग उछले और पुष्करमेघ भी तरङ्गों से छेदे गये और जलरूप हो गये। हे रामजी! तब एक पुरुष आकाश से निकला मुझको दृष्ट आया, जो महाभयानक श्यामरूप उग्र आकार था। उसने सबको ढाँप लिया और वह कृष्णमूर्ति मानों कल्पपर्यन्त रात इकट्ठी होकर उसका रूप आन स्थित हुआ है। और मुख से ज्वाला निकलती है। उसके शरीर का बड़ा प्रकाश था मानों कोटि सूर्य स्थित हैं और बिजली का प्रकाश इकट्ठा हुआ है। उसके पञ्च मुख थे, दश भुजा थीं और तीन नेत्र थे—मानों तीनों सूर्य चमत्कार करते हैं। हाथ में उसके त्रिशूल था और आकाश की नाईं उसकी मूर्ति थी। जैसे क्षीरसमुद्र के मथने को भुजा बड़ी करके विष्णु ने शरीर धारा था और क्षीरसमुद्र को क्षोभाया था तैसे ही

नासिका के पवन से वह समुद्र को क्षोभित करता हुआ। जैसे आकाश का बड़ा वपु है तैसा ही उसने स्वरूप धारण किया—मानों प्रलयकाल के समुद्र मूर्ति धर के स्थित हुए हैं; अथवा मानों सर्व अहंकार की समष्टिता अथवा महाप्रलय की वड़वाग्नि की मूर्ति स्थित वा प्रलयकाल के मेघ मूर्ति धरके स्थित हुए हैं। हे रामजी! मैंने जाना कि यह महारुद्र है, क्योंकि इसके हाथ में त्रिशूल है, तीन नेत्र और पञ्चमुख हैं। ऐसे जानकर मैंने उसे प्रणाम किया। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! उसका भयानक रूप क्या था और रुद्र किसको कहते हैं? उसका बड़ा आकार, दश भुजा, पञ्च मुख और तीन नेत्र क्या थे और हाथ में त्रिशूल क्या था? क्या वह किसी का भेजा आया था उसने क्या किया और कहाँ गया? वह अकेला था अथवा उसके साथ कोई और था और वह श्याम मूर्ति क्यों था? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! विषम विष परिच्छिन्न जो अहंकार है सो त्यागने योग्य है और समष्टि अहंकार सेवने योग्य है। सर्व आत्मा प्रतीत का नाम समष्टि अहंकार और उसी का नाम रुद्र है। कृष्णमूर्ति इस निमित्त थी कि आकाशरूप है। जैसे आकाश में नीलता है तैसे ही उसमें कृष्णता थी। सर्वजीव जो अपने अहंकार को त्याग कर निर्वाण हुए उनकी समष्टिता होकर रुद्ररूप भासी इसी से उग्र था। पञ्चमुख ज्ञान इन्द्रियों की समष्टिता थी और दश भुजा कर्म इन्द्रियों की समष्टिता थी राजस, तामस और सात्त्विक तीन गुण तीनों नेत्र थे अथवा भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान; वा ऋग्, यजुः और साम तीनों वेद नेत्र थे; अथवा मन, बुद्धि और चित्त तीनों नेत्र थे। ॐकार की तीन मात्रा उसके नेत्र और आकाशरूपी वपु था और त्रिलोकीरूपी हाथ में त्रिशूल था। चित्संवित् से फुरा था इससे उसी का भेजा आया था और फिर उसी में लीन होगा। वह केवल आकाशरूप था। जो कुछ उसने किया वह भी सुनो। हे रामजी! ऐसा वह रुद्र था मानों आकाश को पंख लगे हैं, उसने अपने नेत्र प्राणों को खींचा तो सर्व जल उसके मुख में प्रवेश करने लगे। जैसे नदी समुद्र में प्रवेश करती है तैसे ही सब जल रुद्र में लीन हुए और जैसे वड़वाग्नि समुद्र को पान कर लेती है,

चित् = आकाश

अग्नि रूप रुद्र

तैसे ही उस रुद्र ने एक मुहूर्त में सब जल पान कर लिया, कहीं जल का अंश भी दृष्टि न आवे। जैसे अन्धकार को सूर्य लीन कर लेता है तैसे ही उसने जलपान कर लिया और जैसे अज्ञानी का अज्ञान सन्त के संग से नष्ट हो जाता है तैसे ही उसने जल को पान कर लिया। तब केवल शुद्ध आकाश हो गया, न कहीं पृथ्वी दृष्टि आवे; न अग्नि; न वायुः; कोई तत्त्व कहीं दृष्टि न आवे—एक आकाश ही दृष्टि आवे—जैसे उज्ज्वल मोती होता है तैसे ही उज्ज्वल आकाश दृष्टि आवे और चारों तत्त्व न भासें। एक तो अधोभाग दृष्टि आवे; दूसरे मध्य भाग आकाश सो रुद्र ही दृष्टि आवे; तीसरे ऊर्ध्वभाग दृष्टि आवे और चौथे चिदाकाश दृष्टि आवे कि सर्वात्मा है और कुछ दृष्टि न आवे। हे रामजी! वह रुद्र भी आकाशरूप था और उसका कोई आकार न था केवल भ्रान्ति से आकार भासता था। जैसे भ्रम से आकाश में नीलता और तरुवरे भासते हैं और जैसे स्वप्न में भ्रम से आकार भासते हैं; तैसे ही रुद्र का आकार दृष्टि आया पर आत्मा आकाश से भिन्न न था। जैसे चिदाकाश में भूताकाश भ्रम से भासता है, तैसे ही रुद्र का शरीर भासा। वह रुद्र सर्वात्मा था और आकाश होकर भासा सो किञ्चन था। हे रामजी! आकाश में रुद्र निराधार भासा था। जैसे मेघ निराधार होते हैं तैसे ही वह निराधार दृष्टि आता था। श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! इस ब्रह्माण्ड के ऊपर क्या है और फिर उसके ऊपर क्या है सो कहिये? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! यह जो ब्रह्माण्ड का आकाश है उस पर दश गुणा जल अवशेष है; जल के ऊपर दशगुण अग्नि है उसके ऊपर दशगुण वायु है और उसके ऊपर दशगुण आकाश है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ये तत्त्व जो तुमने वर्णन किये सो किसके ऊपर हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ये तत्त्व पृथ्वी के ऊपर स्थित हैं। जैसे माता की गोद में बालक आन बैठता है तैसे ही ये तत्त्व पृथ्वी पर हैं और पृथ्वी भागों के आश्रय है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! पृथ्वी आदिक तत्त्व सहित निराधार ब्रह्माण्ड किसके आश्रय स्थित हुआ है; उनका चलना और ठहरना कैसे होता है और नाश कैसे होते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हीं

कहो कि आकाश में मेघ किसके आश्रय होते हैं ? सूर्य और चन्द्रमा किसके आश्रय होते हैं ? जैसे ये संकल्प के आश्रय हैं तैसे ही ब्रह्माण्ड भी संकल्प के आश्रय है और जैसे स्वप्ने की सृष्टि संकल्प ही के आश्रय है और संकल्प आत्मा के आश्रय है तैसे ही यह जगत् और तत्त्व भी आत्मसत्ता के आश्रय स्थित हैं और इनका ठहरना और गिरना भी आत्मा के आश्रय है। जैसे आदि चित्त स्पन्द होकर नीति हुई है तैसे ही है। इस प्रकार गिरना है; इस प्रकार ठहरना है; इस प्रकार इसका नाश होना है और इस प्रकार रहना है तैसे ही परम स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं—केवल भ्रममात्र है। जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और चित्तसंवित् ही जगत् आकार हो भासती है। जैसे आकाश में नीलता भासती है तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और जैसे तलवार में श्यामता भासती है तैसे ही आत्मा में जगत् है। जैसे नेत्रदोष से आकाश में मोती भासते हैं तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और मिथ्या जगतों की संख्या कीजिये तो नहीं होती। जैसे सूर्य की किरणों का आभास और रेत के कणके में संख्या नहीं होती; तैसे ही जगत् की संख्या नहीं होती और वास्तव में कुछ बना नहीं—अजातजात हैं। जैसे स्वप्ने में अनहोती सृष्टि भासती है तैसे ही यह जगत् भासता है, इससे दृश्य को मिथ्या जानकर जगत् की वासना त्यागो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनं
नाम शताधिकपञ्चनवतितमस्सर्गः ॥ १९५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! उस रुद्र का तो मैंने बड़ा भयानक रूप देखा था। उसके नेत्र बड़े तेज से पूर्ण थे—चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि ये तीनों उसके नेत्र थे और वह महाभयानक था—मानों प्रलय के समुद्र मूर्ति धरके स्थित हुए हैं। रुण्डों की माला उसके कण्ठ में थी और उसकी परछाहीं बड़ी और श्यामरूपी निकलती थी; उसको देखकर मैं आश्चर्यवान् हुआ कि यहाँ सूर्य और अग्नि भी नहीं और किसी का प्रकाश भी नहीं तो यह परछाहीं किस प्रकार है और क्या है। ऐसे मैं देखता

ही था कि वह परछाहीं नृत्य करने लगी और उससे एक स्त्री निकली जिसका शरीर दुर्बल, बड़ा ऊँचा आकार और कृष्णवर्ण था—मानों अँधेरी रात्रि मूर्ति धरके स्थित हुई है और उसके तीन नेत्र बड़ी भुजा और ऊँची ग्रीवा थी—मानों प्रलयकाल के मेघ मूर्ति धारके स्थित हुए हैं। उसके गले में रुद्राक्ष और रुण्डों की माला पड़ी हुई थी और विकराल स्वभाव, हाथों में त्रिशूल, खड्ग, बाण, ध्वजा, ऊखल, मूशल आदिक आयुध लिये थी। ऐसा भयानक आकार देखकर मैंने विचार किया कि यह काली भवानी है। उसको जानकर मैंने नमस्कार किया। जैसे अग्नि के जले हुए पर्वत के शिखर श्याम होते हैं तैसे ही वह श्याम आकार थी और उसके मस्तक में तीसरा नेत्र वड़वाग्नि की नाईं तेजवान् निकला था। कभी उसकी दो भुजा दृष्टि आवें; कभी सहस्रभुजा दृष्टि आवें; कभी अनन्त भुजा हों; कभी एक एक भुजा दीखे और कभी कोई भुजा न दृष्टि आवे; कभी शिर पाद कोई न रहे केवल एक बुतसी भासे और नृत्य करे। ज्यों-ज्यों वह नृत्य करे त्यों-त्यों शरीर स्थूल दृष्टि आवे—मानों आकाश को भी ढाँप लिया है और दशों दिशा आकाश से पूर्ण किये है नख शिख की भी मर्यादा कुछ न दृष्टि आवे ऐसा आकार बढ़ाया। जब वह भुजा को हिलावे तब मानों आकाश को मापती है। पाताल पर्यन्त उसके चरण; आकाश पर्यन्त शीश; पृथ्वी उसका उदर, सुमेरु आदिक पर्वत नाभिस्थान और दशों दिशा भुजा थीं—मानों प्रलय काल की मूर्ति धारकर स्थित भई है बड़े पर्वत की कन्दरावत् जिसकी नासिका थी; लोकालोक पर्वत हाड़ थे और कण्ठ में नदियों की माला थी जो चलती थी। वरुण, कुबेर आदिक देवतों के शिर की माला उसके कण्ठ में थी, पवन नासिका के मार्ग से निकलता था उससे सुमेरु आदिक पर्वत तृणों की नाईं उड़े जाते थे। ब्रह्माण्ड की माला उसके गले में थी, हाथों में ब्रह्माण्डरूपी भूषण थे और कटि में ब्रह्माण्ड के घुंघुरू और करधनी थी जब वह नृत्य करे तब सब ब्रह्माण्ड नृत्य करे। जैसे पवन से पत्र नृत्य करते हैं तैसे ही सुमेरु आदिक नृत्य करें और उसके एक-एक रोम में ब्रह्माण्ड थे। जैसे तारागण वायु के आधीन

हैं। उसके कानों में धर्म अधर्मरूपी मुद्रा थी और बड़े-बड़े कान और बड़ा मुख था—मानों सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भक्षण करती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, स्तन थे और उन स्तनों में चारों वेदों और शास्त्रों के अर्थरूपी दूध निकलता था। निदान जगत् की सब मर्यादा मुझको उसमें दृष्टि आई। उसके नृत्य करने से कई ब्रह्माण्ड और अस्ताचल आदिक पर्वत तृणों की नाईं नृत्य करें और सब कुछ विपर्यय होता दृष्टि आवे। उसके शरीर में आकाश अधः को दृष्टि आवे; पृथ्वी ऊर्ध्व को दृष्टि आवे और तारामण्डल, सिद्ध, देवता, विद्याधर, गंधर्व, किन्नर, दैत्य, स्थावर, जङ्गम सब उसमें दृष्टि आवें—मानों सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का आदर्श है। भुजों के उछलने से चन्द्रमा की नाईं नखों का प्रकाश हो और मन्दराचल, उदयाचल पर्वत कानों में भूषण दृष्टि आवें और हिमालय पर्वत बरफ़ के कण के समान दृष्टि आवे। हे रामजी! इस प्रकार उस देवी के शरीर में मुझको अनन्त सृष्टि दृष्टि आई। कहीं इकट्ठी और कहीं भिन्न-भिन्न कहीं एकही सी चेष्टा करे और कहीं भिन्न-भिन्न चेष्टा करे। मानों ब्रह्माण्डरूपी रत्नों का डब्बा है। हे रामजी! जब मैं संकल्प सहित देखूँ तब मुझको सृष्टि दृष्टि आवे और जब आत्मा की ओर देखूँ तब केवल आत्मरूप ही भासे और कुछ दृष्टि न आवे। संकल्प दृष्टि से सम्पूर्ण जगत् नृत्य करते दृष्टि आवें पर ऐसी सामर्थ्य किसी की दृष्टि न आवे कि नृत्य न करे। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सब उसही में दृष्टि आवें और सम्पूर्ण क्रिया उसही से होती दृष्टि आवें। उसही में सिद्ध, देवता, गन्धर्व, अप्सरा विमान पर आरूढ़ फिरें और नक्षत्रों के चक्र फिरें—मानों ब्रह्माण्ड फिर उदय हुए हैं। जब मैं फिर आत्मदृष्टि से देखूँ तब ब्रह्मस्वरूप भासे और संकल्पदृष्टि से जगत् भासे। वह चित्तकला जो संकल्परूप है उसमें सबही दृष्टि आवें। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब उसी में दृष्टि आते थे। जैसे मच्छर वायु से उड़ते हैं तैसे ही अनन्त सृष्टि उसके शरीर में उड़ती दृष्टि आवें इससे मैं महा आश्चर्यवान् हुआ। वह भैरव था और यह भैरवी उसकी शक्ति थी; दोनों मुझको दृष्टि आये कि बड़े वपुधारी

हैं। यह नित्य शक्ति सर्वात्मा थी और परमात्मा की क्रिया शक्ति सब विश्व को अपने आपमें जानती थी। जैसे समुद्र सब तरङ्गों को अपने में अपना आप जानता है तैसे ही सर्व ब्रह्माण्ड को वह अपने में अपना आप जानती थी। वह तो सदाशिव से भी बड़े अहंकार को धारे थी मानों सब ब्रह्माण्ड की माला कण्ठ में डाले है और यमादिक सब उसकी मर्यादा हैं। हे रामजी! इस प्रकार मैंने रुद्र और काली भवानी को देखा। रुद्र के शिर पर जो जटा थीं सो मोर की पंख की नाईं थीं और काली को मैंने देखा कि नाना प्रकार के मृग और दम दम से आदि लेकर शब्द करती थी और यह शब्द भी करती थी—"दिग्वंदिग्वं तुदिग्वं पंचमना यह संमभप्रलये मियतुयात्रिपंत्रो त्रीलं त्रीषलषलुमं षनुषं सुमंष मषमभ्रिगु ही गुहींगुही उगुमियगुंदलुमददारी मीदातंदती"। हे रामजी! इस प्रकार के शब्द करती हुई वह श्मशानों में नृत्य करती थी। हे रामजी! ऐसी देवी तुम्हारे सहाय हो जो सर्वशक्ति परमात्मा है और सब ब्रह्माण्ड उसके आश्रय हैं। क्षण में वह अंगुष्ठप्रमाण हो जाती थी और क्षण में बड़े दीर्घ आकार धारण करती थी। सब जगत् में जो क्रिया होती हैं सो उसके आश्रय होती हैं; कहीं उत्पत्ति होती है और कहीं युद्ध होते हैं और नाना प्रकार की क्रिया उस देवी के आश्रय होती हैं। जैसे आदर्श में प्रतिबिम्ब होता है तैसे ही उस देवी में क्रिया होती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे देवीरुद्रोपाख्यानवर्णनन्नाम
शताधिकषण्णवतितमस्सर्गः ॥ १९६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह जो तुमने रुद्र और कालिका का वर्णन किया सो कौन थे महाप्रलय में तो कुछ नहीं रहता? उसके शरीर में तुमने सृष्टि कैसे देखी और महाप्रलय होकर उसके शरीर में सृष्टि ने कैसे प्रवेश किया? उसके हाथ में शस्त्र क्या थे; कहाँ से आई थी और कहाँ गई और उसका आकार क्या था? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! न कोई रुद्र है; न काली है; न कोई पुरुष है; न कोई स्त्री है; न कोई नपुंसक है; न पुरुष मिलकर कुछ हुआ है; न ब्रह्माण्ड है और न पिण्ड है; केवल चिदाकाश है और संकल्प से उपजे आकार भासते हैं। जैसे स्वप्न में

रुद्रनृत्य

आकार भासते हैं। तैसे ही वे आकार भी भासते हैं वास्तव में केवल चिदाकाश ज्यों का त्यों है। हे रामजी! आत्मपद अनन्त; चैतन्य, सत्य, प्रकाशरूप, अविनाशी और अपने आप में स्थित है। रुद्रदेव का आकार जो भासा था सो चैतन्य आत्मा ही ऐसे होकर भासित हुआ था—कोई और आकार न था। जैसे सुवर्ण ही भूषण होकर भासता है तैसे ही परमदेव चिदाकाश ऐसे होकर भासा था, क्योंकि चैतन्यस्वरूप है। जैसे मधुरता पौंड़े का स्वरूप है, तैसे ही आत्मा का चैतन्यस्वरूप है। हे रामजी! चैतन्य सत्ता अपने स्वरूप को नहीं त्यागती, आकार होकर भासती है और सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे पौंड़े के रस में मधुरता न हो तो उसको कोई रस नहीं कहता, तैसे ही आत्मसत्ता में चैतन्यता न हो तो चैतन्य कोई न कहे। जो आत्मा चैतन्यता को त्यागे तो परिणामी हो और चैतन्य न कहावे परन्तु वह तो सदा अपने आप स्वभाव में स्थित है और किसी और अवस्था को नहीं प्राप्त हुआ, इसी से कहा है कि जो कुछ भासता है सो आत्मा का किञ्चन है। हे रामजी! जैसे पौंड़े के रस में मधुरता होती है तैसे ही आत्मा में चैतन्यता है। चैतन्यमात्र में चैतन्यता लक्षण चेतनतारूप रहता है इससे यह जगत् भावरूप है; जो शुद्धचिन्मात्र में चित्त का उत्थान न होता तो जगत्भाव न लखाता। आत्मसत्ता दोनों अवस्थाओं में सदा ज्यों की त्यों है—जैसे वायु जब स्पन्द होता है तब उसका स्पर्शरूप लक्षण प्रतीत होता है और जब निस्पन्द होता है तब उसमें कोई शब्द नहीं प्रवेश कर सकता पर वायु दोनों अवस्थाओं से तुल्य है; तैसे ही शुद्ध चैतन्य में किसी शब्द का प्रवेश नहीं पर चेतनताभाव में है और आत्मसत्ता सदा एक रस है—इससे वास्तव यह जगत् ही नहीं है। हे रामजी! आदि, मध्य, अन्त, जगत्, आकाश, कल्प, महाकल्प, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, जन्म, मरण, सत्, असत्, प्रकाश, अन्धकार, पण्डित, मूर्ख, ज्ञानी, अज्ञानी, नामरूप, कर्मरूप, अवलोक, मनस्कार, विद्या, अविद्या, दुःख, सुख, बन्ध, मोक्ष, जड़, चेतन, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आना, जाना, जगत्, अजगत् कुछ नहीं है। बढ़ना, घटना, मैं, तुम, वेद, शास्त्र, पुराण, मन्त्र, आकार, उकार, मकार, जय, नाम आदिक स्थावर-जङ्गम सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे समुद्र में तरंग बुद्बुदे और आवृत सब जलरूप हैं, तैसे ही सब ब्रह्मस्वरूप है ब्रह्म से भिन्न जगत् कुछ वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न में पर्वत भासते हैं सो अनुभव से भिन्न नहीं होते तैसे ही यह जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है तैसे ही आत्मसत्ता जगत्रूप होकर भासती है। हे रामजी! ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु, आकाश आदिक जितने शब्द हैं वे सब ब्रह्मासत्ता ही से होकर स्थित हुए हैं परन्तु सत्ता अपने आपमें ज्यों की त्यों है कदाचित् परिणाम को नहीं प्राप्त हुई और वही सत्ता सर्व की आत्मा है। जैसे समुद्र अपने तरङ्गभाव को त्यागे तो अपने सौम्यभाव में स्थित होता है, तैसे ही ब्रह्मसत्ता फुरने को त्यागे तो अपने स्वभाव में स्थित हो सो अनामय है अर्थात् दुःखों से रहित, परमशान्तिरूप, अनन्त और निर्विकार है जब इस प्रकार बोध हो तब उस ब्रह्मसत्ता को प्राप्त हो और बोध, अबोध, विधि, निषेध भी वही है। जैसे जल और समुद्र की संज्ञा कही है और तरङ्ग शब्द कहने से विलक्षण भासता है पर जब जल तरङ्ग बुद्धि को त्यागे तब केवल समुद्ररूप है, तैसे ही यह जीव जब अपने जीवत्वभाव को त्यागे तब आत्मरूपी समुद्र को प्राप्त हो अर्थात् जब दृश्य का सम्बन्ध त्याग करे तब आत्मा हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अन्तरोपाख्यानवर्णनं नाम
शताधिकसप्तनवतितमस्सर्गः ॥ १९७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुमसे मैंने जो चिदाकाश कहा है सो परमचिदाकाश है और सदा अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! शुद्ध चिदाकाश जो मैंने तुमसे कहा है वही यह रुद्ररूप है और वही नृत्य करता था। वहाँ आकार कोई न था केवल चिद्घनसत्ता थी और वही ऐसे होकर किञ्चन होती थी। हे रामजी! ① जब मैं आत्मदृष्टि से देखता था तब मुझको चिदाकाशरूप ही भासता था। हे रामजी! मेरे जैसा हो वही तैसा रूप देखे और नहीं देख सकता है। हे रामजी! जिसका नाम

कृतान्त कहाता है वही रुद्र और भैरव है और वही कृतान्त की मूर्ति नृत्य करके अन्तर्धान होगई और वास्तव में मायामात्र रूप था। यह चैतन्यसत्ता के आश्रय नाचते थे। हे रामजी! जैसे सोने में भूषण हैं परन्तु सोने विना नहीं होते तैसे ही चेतनता किञ्चन से जगत् भासता है और फिर वही प्रमाद से आधिभौतिक हो जाता है, वास्तव में शुद्ध चिदाकाशरूप ही है और चेतनता से वही जगत्रूप हो भासता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! प्रथम तो आपने कहा कि आत्मतत्त्व अद्वैत में यह जगत् प्रमाद से कल्पित है और जो है तो कल्प के अन्त में नाश हो जाता है, केवल अद्वैतसत्ता रहती है और फिर आपही कहते हो कि, चैत्यता से जगत्रूप भासता है। अद्वैत में चैत्यता कैसे हुई है और कौन चेतनेवाला हुआ? प्रलय के अनन्तर काली क्योंकर भासी? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! न कोई चैत्य है और न कोई चेतता है केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है जो चैतन्यघन, परम निर्मल और शान्तरूप है और शिवतत्त्व भी उसी को कहते हैं। वही शिवतत्त्व रुद्र आकार को धारण किये दृष्ट आया था दूसरा कुछ नहीं—केवल परम चिदाकाश है। वही चिदाकाश आकार हो भासता है और कोई आकार नहीं हुआ; न भैरव है, न भैरवी है, न काली है, न यह जगत् है, सब मायामात्र है। जैसे स्वप्ने में आत्मसत्ता चैत्यता के कारण जगत्रूप हो भासती है पर स्वरूप से न कुछ चैत्यता है और न जगत् है, आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है; तैसे ही उस जगत् को भी जानो। कुछ और नहीं हुआ अद्वैतसत्ता ही है; इससे चैत्य और चेतनेवाला मैं तुमको क्या कहूँ सब भ्रम से भासते हैं आत्मा में यह नहीं उपजे केवल स्वच्छ चिदाकाश है। हमको तो सदा वही भासता है पर अज्ञानी को नाना प्रकार का जगत् भासता है और आत्मा सदा एक है—किञ्चन करके उसमें आकार भासते हैं। भैरव और काली सब निराकार हैं भ्रान्ति करके आकार भासते हैं। जैसे मनोराज में युद्ध भासते हैं और जैसे कथा में अर्थ भासते हैं सो अनहोते ही संकल्प विलासते हैं; तैसे ही चिदात्मा में यह जगत् भासता है। जैसे आकाश में तरुवरे भासते हैं; तैसे ही यह आकार भासते हैं।

हे रामजी! यह जो जगत् प्रलय और महाप्रलयादिक शब्द है उनका नाश करने के लिये मैं तुमको कहता हूँ। आत्मा एक अद्वैत चैतन्य है, उस चैतन्यता का अभाव कभी नहीं होता अपने आपमें स्थित है और किञ्चन है। जैसे सूर्य की किरणें किञ्चनरूप होती हैं और उनमें जल भासता है, तैसे ही चिद् का किञ्चन जगत् भासता और वही महाप्रलय में रुद्र और भैरवी हो भासती है वास्तव में न कुछ रुद्र है और न काली है सर्व आत्मा ही है। हे रामजी! जो कुछ कहना सुनना होता है तो वाच्य वाचक से होता है आत्मा में कहना और सुनना कुछ नहीं। वही चिदाकाश संकल्प से रुद्र नृत्य करता था। जैसे सुवर्ण भूषण होकर भासता है, तैसे ही चिदाकाश संकल्प से आकार होकर भासता है दूसरा कुछ नहीं बना। मैं, तुम और जगत्, चैत्य और अचैत्य सब वही रूप है; उसमें कोई शब्द नहीं फुरा। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के शब्द भासते हैं सो कुछ वास्तव नहीं—पत्थर की नाईं मौन है—तैसे ही जाग्रत् जगत् में भी जितना शब्द होता है सो सब स्वप्न है; कुछ हुआ नहीं केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, तैसे ही आत्मसत्ता अपने आप भाव में स्थित है जहाँ न एक है; न द्वैत है; न सत्य है; न असत्य है; न चित्त है; न चेत है; न मौन है; न अमौन है और न कोई चेतनेवाला है; चेत के अभाववत् केवल अचेत चिन्मात्र आत्मसत्ता निर्विकल्परूप स्थित है। हे रामजी! सबसे बड़ा शास्त्र का सिद्धान्त यही है; इस दृष्टि मौन में तुम स्थित हो। हे रामजी! सर्वसिद्धान्तों की समता यही है कि निर्विकल्प होना। जैसे पत्थर की शिला मौन होती है, तैसे ही चैत्य से रहित ही जो कुछ प्रत्यक्ष आचार प्राप्त हो उसमें प्रवर्तना और सदा आत्मनिश्चय रखना इसी का नाम परम मौन है। सब क्रिया होती रहें पर अपने से कुछ न देखना—जैसे नट स्वाँग धरता है और उसके अनुसार बिचरता है परन्तु निश्चय उसका आदि ही वपु में होता है, उससे चलायमान नहीं होता; तैसे ही जो कुछ अनिच्छित प्राप्त हो उसको यथाशास्त्र करना परन्तु अपने निर्गुण निष्क्रियस्वरूप से चलायमान न होना उसी अद्वैत स्वरूप में स्थित

रहना। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! वह रुद्र क्या था और वह काली शक्ति क्या थी? उनके अङ्ग जो बढ़ते घटते थे; नृत्य करना क्या था और वस्त्र क्या थे सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शिवतत्त्व ही आकार होकर भासता है और कोई आकार नहीं जो चिन्मात्र; अमल विद्या और अविद्या के कार्य से रहित; शान्त और अवाच्यपद है। यह संज्ञा भी संकल्प में तुमसे कही है; आत्मवेत्ता आत्मपद को अवाच्यपद कहते हैं तथापि मैं कुछ कहता हूँ। हे रामजी! केवल आत्मतत्त्वमात्र जो चिदाकाश है, वही शिव भैरव है; उसी के चमत्कार का नाम चित्तशक्ति है और उसी का नाम काली है उस काली आत्मा और शिवरूप में कुछ भेद नहीं। जैसे पवन और स्पन्द में; और अग्नि और उष्णता में कुछ भेद नहीं होता तैसे ही चित्तकला और आत्मा में कुछ भेद नहीं। जैसे पवन निस्पन्द होता है तब उसका लक्षण नहीं होता अवाचकरूप होता है और जब स्पन्द होता है तब उसका लक्षण भी होता है और उसमें शब्द प्रयोग होता है; तैसे ही चित्तशक्ति से उसका लक्षण होता है। उसके अनेक नाम हैं; उसी का नाम स्पन्द और इच्छा है; उसी को चैत्योन्मुखत्व से वासना कहते हैं; उसी के स्वाद की इच्छा से जब चित्तसंवित् में वासना फुरती है तब उसका नाम वासना करनेवाला वासक कहाता है—फिर आगे दृश्य होती है। जब त्रिपुटी हुई अर्थात् वासना, वासक और वास्य हुए तब वासक को जीव कहते हैं—जो जीवत्वभाव लेकर स्थित होता है। जब इसको यह भावना होती है कि मैं जीव हूँ और मेरा नाश कदाचित् न हो इस इच्छा से जीव कहाता है ऐसी संज्ञा जो चित्तशक्ति की होती है सो स्पन्द में होती है पर शिवतत्त्व अफुर है और अचेत शक्ति में फुरने की नाईं स्थित है। जैसे सूर्य की किरणों में जल नहीं होता और हुए की नाईं भासता है, तैसे ही यह जगत् है नहीं और हुए की नाईं भासता है इससे उसमें यह संज्ञा देते हैं। काली जो परमात्मा की क्रियाशक्ति है सो प्रथम तो कारणरूप प्रकृति है और उसी से सब हैं—इसी से प्रकृतिरूप है, विकृति नहीं; अर्थात् यह किसी का कार्य नहीं। महदादिक पञ्चभूत, महत्तत्त्व और अहंकार यह

सप्त प्रकृति—विकृति है—अर्थात् कार्य भी हैं और कारण भी हैं। कार्य आदि देवी के हैं और कारण षोडश के हैं—पञ्चज्ञान इन्द्रियाँ, पञ्चकर्म इन्द्रियाँ, पञ्चप्राण और एक मन। इनके सप्तदश कार्य हैं। षोडश तो विकृति हैं अर्थात् कार्यरूप हैं कारण किसी का नहीं और पुरुष जो परमात्मा है वह अद्वैत, अचिन्त्य और चिन्मात्र है, न किसी का कारण है और न कार्य है अपने आपमें स्थित है इससे जितनी द्वैतकलना कारण कार्य में है वह सब चित्तशक्ति में स्थित है। जब यह निस्पन्द होती है तब तत्त्वरूप शिवपद में निर्वाण हो जाती है और कारण कार्यरूपी भ्रम सब मिट जाता है केवल आकाशवत् शेष रहता है। वह शुद्ध, अद्वैत, अचेत, चिन्मात्र सदा अपने आपभाव में स्थित है और उसकी स्पन्दरूप क्रियाशक्ति की इतनी संज्ञा है। प्रथम तो सबका कारणरूप प्रकृति है जो शोष है अर्थात् जैसे वड़वाग्नि समुद्र को सुखाती है तैसे ही वह जगत् को सुखाती है; सिद्धि है अर्थात् सिद्धि उसे आश्रयभूत करके सेवते हैं; जयन्ती है अर्थात् उसकी जय है, चण्डिका है अर्थात् जिसके क्रोध से जगत् प्रलय होता है और भय पाता है; वीर्य है अर्थात् जिसका अनन्तवीर्य है; दुर्गा है अर्थात् इसका रूप जानना कठिन है; गायत्री है अर्थात् जिसके पाठ से संसारसमुद्र से रक्षा होती है; सावित्री है अर्थात् जगत् की पालना करती है; कुमारी है अर्थात् कोमलस्वभाव है; गौरी है अर्थात् गौर अङ्ग है; शिवा है अर्थात् शिव के बायें अङ्ग में उसका निवास है; विजया है अर्थात् सब जगत् को जीत रही है; सुशक्ति है अर्थात् अद्वैत आत्मा में उसने विलास रचा है और इन्द्रसारा है अर्थात् यह जो उकार इन्द्र आत्मा है उसका सार अर्धमात्रा है और उकार-अकार-मकार तीनों मात्राओं का अधिष्ठान है। हे रामजी! राजसी; तामसी और सात्त्विकी तीन प्रकार की जो क्रिया होती हैं सो इसी से होती हैं; यह सब संज्ञा क्रियाशक्ति की कही। अब उसका शस्त्र और बढ़ना-घटना सुनो। हे रामजी! वह नृत्य जो करती थी सो ही क्रिया है; सो क्रिया सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन प्रकार की है। मुसल जो था सो ग्राम पुर और नगर थे और उसके अङ्ग सृष्टि थे। जब वह शिव से व्यतिरेक होती

थी तब उसके अङ्ग सृष्टिरूप बहुत हो जाते थे; जब शिव की ओर आती थी तब सृष्टिरूप अङ्ग थोड़े हो जाते थे और जब शिव को आ मिलती थी तब शिव ही होती थी—सृष्टिरूपी अङ्ग कोई न रहता था। यह तो आत्मा की कालीशक्ति की क्रिया का वर्णन तुमको सुनाया है अब शिव का वर्णन सुनो। वह तो वाणी से अतीत है तथापि मैं कुछ कहता हूँ। वह परमशुद्ध, निर्मल और अच्युत है और उसमें कुछ हुआ नहीं केवल क्रियाशक्ति के फुरने से जगत् हो भासता है। जब वह अपने अधिष्ठान की ओर देखता है तब अपना स्वरूप दृष्टि आता है। क्रियाशक्ति और आत्मा में कुछ भेद नहीं—जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, क्योंकि आकाश का अङ्ग शून्यता है—और अवयवी और अवयव में भी कुछ भेद नहीं जैसे अग्नि का रूप उष्णता है, तैसे ही आत्मा का स्वभाव चित्तशक्ति है। इसका नाम काली इससे है कि कृष्णरूप है। जैसे आकाश ऊर्ध्व को श्याम भासता है तैसे ही आकाश वपु है। और जैसे आकाश निराकार है तैसे ही काली निराकार श्याम भासती है। आकाश की नाईं इसका वपु है इससे इसका नाम कृष्णवपु है और काली जगत् के नाश के अर्थ है। वह जब स्वरूप की ओर आती है तब जगत् का नाश करती है। हे रामजी! स्पन्दशक्ति जबतक शिव से व्यतिरेक है तबतक जगत् को रचती है—जहाँ यह है तहाँ जगत् है—जगत् से विलक्षण नहीं रहती। जैसे जहाँ सूर्य की किरणें हैं वहाँ जलाभास होता है—किरण विना जलाभास नहीं रहता; तैसे ही स्पन्दशक्ति जगत् विना नहीं रहती। जैसे आकाश के अङ्ग आकाश हैं तैसे ही इसके अङ्ग जगत् हैं और जैसे समुद्र में तरङ्ग समुद्ररूप हैं; तैसे ही जगत् इसका रूप है और यह शक्ति चिदाकाश है उससे व्यतिरेक नहीं। जब यह फुरती है तब जगत् आकार हो भासती है और जब शिव की ओर आती है तब शिवरूप हो जाती है। और जगत् का भाव कोई नहीं रहता। इससे हे रामजी! तुम्हारी चित्तशक्ति जब तुम्हारी ओर आवे तब जगत्भ्रम मिटे। इस चित्तशक्ति ने ही जगत्भ्रम रचा है। शिव और शान्तरूप है और अजर, अमर, अचेत, चिन्मात्र है उसमें कुछ क्षोभ नहीं—आत्मसत्ता सदा अपने

माया [illegible] depending on [illegible]

आपमें स्थित है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुमने काली के अङ्ग की जो सृष्टि देखी थी वह आत्मा में सत् है अथवा असत् है सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह काली देवी आत्मा की क्रियाशक्ति है अर्थात् फुरनशक्ति है इससे आत्मा में सत्य है और वास्तव में आत्मा में कुछ नहीं मिथ्या है। जैसे तुम मनोराज से अपने में दूसरी चिन्तना करो तो वह कुछ वस्तु नहीं पर उस काल में सत् भासती है; तैसे ही जितनी सृष्टियाँ हैं सो आत्मा में सत्य नहीं परन्तु चित्तशक्ति से बसती दृष्टि आती है, जैसे जितने कुछ विधि-निषेध पदार्थ और आकाश, पर्वत, समुद्र, वन, जगत्, तीर्थ, कर्म, बन्ध, मोक्ष, गुरु, शास्त्र, युद्ध, शस्त्र आदिक जो भासते हैं वह सब चिदाकाश ब्रह्मरूप हैं और वास्तव में इनका होना ब्रह्म से भिन्न नहीं; सर्वप्रकार और सर्वदाकाल आत्मा अपने आपमें स्थित है जो शुद्ध, अद्वैत, निराकार, निर्विकार और ज्यों का त्यों है उसमें जगत् कोई नहीं उपजा। सब जगत् आत्मा में क्रियाशक्ति ने रचा है सो माया काल में सत्य है वास्तव में कुछ नहीं। जैसे सोनेवाले को स्वप्न में सृष्टि भासती है और उसके शरीर को कोई हिलावे तो वह नहीं जागता पर जो कुछ सृष्टि होती तो हिलाने से उसका कोई स्थान गिर पड़ता—इसी से जाना जाता है कि किसी का नाश नहीं होता—वास्तव में कुछ नहीं। हे रामजी! वह सृष्टि जो प्रत्यक्ष अर्थाकार होती है उसके चित्तस्पन्द में स्थित है परन्तु जबतक निद्रा है तबतक वह सृष्टि है और जब निद्रा निवृत्त होती है तब स्वप्नसृष्टि भी नहीं भासती तैसे ही यह सृष्टि भी कुछ वास्तव में नहीं अज्ञान से चित्तशक्ति में भासती है। हे रामजी! सब पदार्थ चित्त के फुरने से भासते हैं। जिसका संकल्प शुद्ध होता है उसके मनोराज की सृष्टि यदि देशकाल से प्रत्यक्ष होती है तो संकल्परूप होती है क्योंकि कुछ बना नहीं। जब संकल्प फुरता है तब संकल्प के अनुसार सृष्टि भासती है; इससे संकल्परूप ही हुई और जो उसकी सत्यता हृदय में होती है तब इसका अर्थ हृदय में अनुभव होता है। जैसे परलोक अदृष्ट है पर जब उसकी सत्यता हृदय में होती है तब उसका राग द्वेष भी हृदय में

फुरता है क्योंकि, संकल्प में उसका भाव है; तैसे ही जबतक चित्तस्पन्द फुरता है तब तक जगत् है और जब चित्त निस्पन्द होता है तब जगत् की सत्यता नहीं भासती । हे रामजी ! यह सब जगत् क्रियाशक्ति ने आत्मा में रचा है । जबतक यह काली क्रियाशक्ति शिव से व्यतिरेक होती है तबतक नाना प्रकार के जगत् रचती है और क्षोभ को प्राप्त होती है और जब शिव की ओर आती है तब शान्तरूप हो जाती है; तब फिर प्रकृति संज्ञा उसकी नहीं रहती—अद्वैततत्त्व में अद्वैतरूप ही हो जाती है । जैसे जबतक पवन चलता है तबतक शीत, उष्ण, सुगन्ध, दुर्गन्ध, बड़ी और छोटी संज्ञा होती है और जब ठहरता है तब कहा नहीं जाता कि ऐसा है अथवा वैसा है; तैसे ही जबतक चित्तशक्ति स्पन्दरूप होती है तबतक जगत् रचती है और प्रकृति कारणरूप कहाती है और उसमें दो प्रकार के शब्द होते हैं—विद्या और अविद्या । हे रामजी ! जो कुछ कहना होता है सो स्पन्दरूप जो चित्र लिखा है उसमें है और जब शिवतत्त्व के अंतर होती है तब अद्वैतरूप हो जाती है—वहाँ किसी शब्द की गम नहीं । हे रामजी ! शिव क्या है और शक्ति क्या है सो भी सुनो ? ये सब जीव शिवरूप हैं और इनके चित्त का फुरना काली है । जबतक इच्छा से चित्तशक्ति बाहर फुरती है जबतक भ्रम का अन्त नहीं आता और नाना प्रकार के विकारों का अनुभव होता है कदाचित् शान्ति नहीं होती और जब चित्तशक्ति उलटकर अधिष्ठान को देखती है तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है और परमशान्ति को प्राप्त होता है । हे रामजी ! आत्मा और चित्संवित् में कुछ भेद नहीं । जैसे वायु के स्पन्द और निस्पन्द में कुछ भेद नहीं होता परन्तु जब स्पन्द होती है तब जानी जाती है और निस्पन्द नहीं जानी जाती; तैसे ही चित्तसंवित् जब फुरता है तब जाना जाता है और नहीं फुरता तब नहीं जाना जाता और जानना और न जानना दोनों नहीं रहते हैं । हे रामजी ! जबतक इच्छाशक्ति शिव की ओर नहीं देखती तबतक नाना प्रकार का नृत्य करती है अर्थात् जगत् को रचती है और जब शिव की ओर देखती है तब नृत्य विरस हो जाता है

अन्तरमुख,

और सब अङ्ग सूक्ष्म हो जाते हैं । हे रामजी ! इस काली का आकार प्रमाण में आता न था पर शिव की ओर देखने से सूक्ष्म होगया । प्रथम पर्वत समान था; फिर निकट आई तब ग्राम के समान हुआ; फिर वृक्ष के समान रहा और जब निकट आई तब सूक्ष्म आकार होगया और शिव के साथ मिली तब शिवरूप होगई । शिव के सम्मिलन से इसका जो विलास है सो शून्य हो जाता है और परमशान्त शिवपद की प्राप्ति होती है । श्रीरामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यह जो परमेश्वरी कालीशक्ति है सो उसको मिलकर शान्त कैसे हुई ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! देवी परमात्मा की इच्छाशक्ति है और जगन्माता इसका नाम है । जबतक यह शिवतत्त्व से व्यतिरेक रहती है तब तक जगत् को रचती और जब अपने अधिष्ठान की ओर आती है जो नित्यतृप्त, अनामय, निर्विकार, द्वैतभाव से रहित परमशान्ति को प्राप्त होती है, तब इसकी प्रकृतसंज्ञा जाती रहती है । जैसे नदी जबतक समुद्र को नहीं प्राप्त हुई तबतक दौड़ती और शब्द करती है पर जब समुद्र को मिली तब शब्द करना और दौड़ना नष्ट हो जाता है और नदी संज्ञा भी नहीं रहती—समुद्र को मिलकर परमगम्भीर समुद्ररूप हो जाती है; तैसे ही जबतक चित्तशक्ति शिव से व्यतिरेक होती है तबतक जगत् भ्रम को रचती है और जब शिवतत्त्व को मिली तब शिवरूप हो जाती है और द्वैतभ्रम मिट जाता है । हे रामजी ! जब यह चित्तशक्ति शिवपद में लीन हो जाती है तब प्रथम जो देह और इन्द्रियों से तद्रूप हुई थी; इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट में आपको सुखी दुःखी मानती थी और रागद्वेष से जलती थी सो नित्यतृप्त और अनामय पद के मिले से सुख दुःख से रहित होती है, क्योंकि अनात्मदेह इन्द्रियों की तद्रूपता का अभाव हो जाता है और आत्मतत्त्व के साथ तद्रूप होती है । जैसे पत्थर की शिला के साथ मिलकर खड्ग की धार तीक्ष्ण होती है तैसे ही चित्तसंवित् जब आत्मपद में मिलती है तब एक अद्वैतरूप हो जाती है । और आत्मपद के स्पर्श किये से अनात्मभाव का त्याग करती है । जैसे ताँबा पारस के स्पर्श से सुवर्ण हो जाता है और फिर ताँबा नहीं होता तैसे ही यह वृत्ति

अनात्मभाव को नहीं प्राप्त होती। चित्तकला तबतक विषय की ओर धावती है जबतक अपने वास्तवस्वरूप को नहीं प्राप्त हुई; जब अपने वास्तवस्वरूप को प्राप्त होती है तब विषय की ओर नहीं धावती है। जैसे जिस पुरुष को अमृत प्राप्त होता है और उसके स्वाद का उसे अनुभव होता है तब वह नींब पान करने की इच्छा नहीं करता; तैसे ही जिसको आत्मानन्द प्राप्त हुआ है वह विषयों के सुख की इच्छा नहीं करता। हे रामजी! यह संसारभ्रम चित्तसंवित् में दृढ़ सत्य होकर स्थित हुआ है और संसार के सुख का त्याग नहीं कर सकता पर जब आत्मसुख प्राप्त होगा तब त्याग देगा। जैसे किसी पुरुष को जबतक पारस नहीं प्राप्त हुआ तबतक वह और धन को त्याग नहीं सकता पर जब पारस प्राप्त होता है तब तुच्छ धन का त्याग करता है और फिर यत्न नहीं करता; तैसे ही जब जीव को आत्मानन्द प्राप्त होता है तब विषय के सुख का त्याग करता है पाने का यत्न नहीं करता। हे रामजी! भँवरा तबतक और स्थानों में भ्रमता है जबतक कमल की पंक्ति पर नहीं पहुँचता पर जब उस पंक्ति पर पहुँचता है तब और स्थान को त्याग देता है; तैसे ही चित्तशक्ति जब आत्मपद में लीन होती है तब किसी पदार्थ की इच्छा नहीं करती। निर्विकल्पपद को प्राप्त होती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे पुरुषप्रकृतिविचारो नाम
शताधिकाष्टनवतितमस्सर्गः॥ १९८॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अब पूर्व का प्रसंग फिर सुनो। जब काली नृत्य करके निर्वाण हो गई तब शिव अकेला रह गया वही मुझको दृष्टि आवे और दो खण्ड आकाश के दृष्टि आवें—एक अधोभाग और दूसरा ऊर्ध्वभाग और कुछ दृष्टि न आवे। तब रुद्र ने नेत्रों को फैलाकर दोनों खण्ड देखे—जैसे सूर्य जगत् को देखता है—और प्राण को भी खैंचा तब ऊर्ध्व और अधः दोनों खण्ड इकट्ठे हो गये और ब्रह्माण्ड को अन्तर्मुख कर लिया—एक शिव ही रह गया और कुछ दृष्टि न आवे। हे रामजी! जब एक क्षण व्यतीत हुआ तब रुद्र बड़े आकार को धारे हुए ब्रह्माण्ड को भी लाँघ गया और एक वृक्ष के समान हो गया। फिर अंगुष्ठमात्र शरीर

होकर एक क्षण में सूक्ष्मअणु सा हो गया; फिर रेत के कणके से भी सूक्ष्म हो गया और फिर नेत्रों से दृष्टि न आवे तब दिव्यदृष्टि से मैं देखता रहा और फिर वह भी नष्ट हो गया केवल चिदाकाश ही शेष रहा और दूसरी वस्तु कुछ न भासे। जैसे वर्षाकाल के मेघ शरत्काल में नष्ट हो जाते हैं तैसे ही वह रुद्र भी नष्ट हो गया। हे रामजी! उस काल में मुझको तीनों इकट्ठे दीखे—एक देवी ब्रह्मा की शक्ति; दूसरी कालीशक्ति और तीसरी शिला। तब मैंने विचार किया कि यह स्वप्न नगरवत् आश्चर्य था और कुछ नहीं। तब मैंने क्या देखा कि स्वर्ण की शिला ही पड़ी है। यह सृष्टि शिलाकोष में स्थित थी। तब मैंने विचार किया कि यह सृष्टि शिलाकोष में है और सृष्टि भी होगी क्योंकि सर्व वस्तु सर्व प्रकार और सर्व ठौर पूर्ण है; इसलिये उसमें भी मैं सृष्टि देखने लगा और नाना प्रकार की सृष्टि देखीं। जब मैं बोधदृष्टि से देखूँ तब सब ब्रह्म ही भासे। संकल्पदृष्टि से आत्मरूपी आदर्श में अनन्तसृष्टि दृष्टि आवें और चर्मदृष्टि से शिला ही दीखे। इस प्रकार मैं शिलाकोष में चला तो वहाँ मुझे घास, तृण, पत्थर, फल और फूलों की अनन्त सृष्टि दृष्टि आवें और निस्संकल्प आत्मदृष्टि से देखूँ तब अद्वैत आत्मा ही भासे। हे रामजी! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टि देखीं; कहीं ऐसी सृष्टि भासे कि ब्रह्मा उपजे हैं और रचना रचने को समर्थ हुए हैं; कहीं ब्रह्मा ने चन्द्रमा सूर्य उपजाये हैं और मर्यादा स्थापित की है; कहीं सम्पूर्ण पृथ्वी आदिक तत्त्व उपजाये हैं पर प्राण नहीं हुए; कहीं समुद्र नहीं उपजे; कहीं आचार सहित सृष्टि दृष्टि आवे; कहीं चन्द्रमा सूर्य नहीं उपजे और कहीं उपजे हैं; कहीं चन्द्रमा शिव से नहीं निकले; कहीं क्षीरसमुद्र मथा नहीं गया और अमृत नहीं निकला और लक्ष्मी, हाथी, घोड़ा, धन्वन्तरि वैद्य भी नहीं निकले; कहीं विष और अमृत नहीं निकला—देवता मरते हैं; कहीं क्षीरसमुद्र मथा है उससे अमृत निकला है; कहीं प्रकाश नहीं होता; कहीं सदा प्रकाश ही रहता है; कहीं पृथ्वी पर पर्वतों के सिवा कुछ दृष्टि न आवे; कहीं इन्द्र के वज्र से पर्वत कटते हैं और उड़ते थे; कहीं प्राणियों को जरा मृत्यु नहीं होता कल्पपर्यन्त ज्यों के त्यों रहते हैं; कहीं प्रलय होती

हैं; कहीं मेघ गर्जते हैं; कहीं सम्पूर्ण जल ही दृष्ट आवे; कहीं आकाश दृष्ट आवे और प्राणी कोई न दीखे; कहीं देवताओं के युद्ध होते थे; कहीं देवताओं को दैत्य जीतते थे; कहीं दैत्यों को देवता जीतते थे; कहीं देवता और दैत्यों की परस्पर प्रीति थी; कहीं बलि और इन्द्र; रुद्र और वृत्रासुर का युद्ध होता था; कहीं मधुकैटभ दैत्य ब्रह्मा की कन्या से उत्पन्न होते थे; कहीं सदा प्रसन्नता ही रहती है और तीनों कालों को जानते हैं; कहीं सदा शोकवान् ही रहते हैं; कहीं सतयुग का समय है और दान, पुण्य, तप होते थे; कहीं कलियुग का समय था और प्राणी पाप में बिचरते थे; कहीं अर्द्धयुग बीता था; कहीं रामजी और रावण का युद्ध होता था; कहीं रावण को रामजी ने मर्दन किया था; कहीं रामजी को रावण ने मर्दन किया था; कहीं सुमेरु पर्वत तले है और पृथ्वी ऊपर है; कहीं शेषनाग पर पृथ्वी है और भूचाल से भ्रमती है; कहीं प्रलयकाल का जल चढ़ा है और एक बालक वट के वृक्ष पर बैठा अपने अंगुष्ठ को चूसता है सो विष्णु भगवान् हैं और कहीं ब्रह्मा के कल्प की रात्रि है और महाशून्य अन्धकार है; कहीं कौरव पाण्डव की सहायता कृष्ण करते हैं; कहीं महाभारत का युद्ध होता है और दोनों ओर से अक्षौहिणी सेना निकली है और श्रीकृष्णजी पाण्डवों की सहायता करते हैं; कहीं एक सृष्टि नाश होती है और दूसरी उसी में उसी की सी और उत्पन्न होती है और उसी का सा कर्म, उसी का सा कुल, जाति और गोत्र होते हैं; कहीं उससे अर्धभाग मिलता है; कहीं चतुर्थ भाग उसी का सा मिलता है और कहीं विलक्षण भाग होता है। हे रामजी! इस प्रकार मैंने अनन्त सृष्टि देखीं जो आत्मआदर्श में प्रतिबिम्बित हैं। जब मैं आत्मदृष्टि से देखूँ तब सब चिदाकाश ही भासे और जब संकल्पदृष्टि से देखूँ तब जगत् भासे। कहीं ऐसी सृष्टि देखी जहाँ दशरथ के पुत्र राम हैं और रावण के मारने को समर्थ हुए हैं; कहीं तुम्हारे रूप बड़े तपस्वी रहते हैं जिनके मन सदा प्रसन्न हैं। ऐसी अनन्तसृष्टि देखीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! मैं आगे भी ऐसा ही हुआ हूँ अथवा किसी और प्रकार हुआ हूँ सो कहिये! वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! कई उसी के से; कई अर्धलक्षण के और कई

चतुर्थ भाग लक्षणवाले होते हैं। जैसे अन्न का बीज उसी का सा होता है और कोई उससे विशेष भी होता है; तैसे ही ये सब पदार्थ होते हैं। हे रामजी! तुम भी आगे होगे और मैं भी आगे हूँगा परन्तु आत्मा का विवर्त है। जैसे समुद्र में एकसे तरङ्ग भी होते हैं और विलक्षण भी दृष्ट आते हैं परन्तु वही रूप हैं; तैसे ही हमारे सदृश भी फिर होंगे परन्तु आत्मतत्त्व से भिन्न कुछ नहीं—संकल्प से भिन्न की नाईं विलक्षणरूप भासते हैं। जैसे समुद्र में वायु से तरङ्ग भासते हैं; तैसे ही आत्मा संकल्प से जगत्‌रूप हो भासता है। यद्यपि नाना प्रकार हो भासता है तो भी दूसरा कुछ हुआ नहीं। यह जगत् चैतन्य का विलास है और चित्त के फुरने में अनन्त सृष्टि भासती हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि बड़े आरम्भ से भासती है परन्तु स्वरूप से कुछ भिन्न नहीं; तैसे ही यह जगत् आरम्भ परिणाम से कुछ बना नहीं, आत्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे अनन्तजगद्वर्णनं नाम
शताधिकनवनवतितमस्सर्गः ॥ १९९ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार मैंने सृष्टि देखी और फिर दृश्य भ्रम को त्यागकर अपने वास्तव स्वरूप में स्थित हुआ। मैं अनन्त, नित्य, शुद्ध, बोध, चिदाकाश और सर्वदा अपने आपमें स्थित हूँ। हे रामजी! चिन्मात्र आत्मा के किसी स्थान में संवेदन आभास फुरा है—जैसे अनाज के कोठे से एक मूठीभर निकालिये और क्षेत्र में डालिये तो उसी से किसी ठौर में अंकुर निकले; तैसे ही चैतन्य में संवेदन फुरा है और उस संवेदन से जगत् उपजा है। जैसे जल के दिये से अंकुर निकल आता है, तैसे ही मेरे में सृष्टि का अनुभव होने लगा और मैंने जाना कि सृष्टि मुझसे फुरी है। रामजी बोले, हे भगवन्! तुम जो आकाशरूप अपने आपमें स्थित थे उसमें सृष्टि तुमको कैसे फुरी? दृढ़बोध के निमित्त मुझसे कहिये। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वास्तव तो कुछ उपजा नहीं परन्तु जैसे हुई है तैसे सुनो। मुझे अनुभव आकाश और अनन्त के किसी स्थान में संवेदन चित्त 'अहं' फुरा अर्थात् 'मैंहूँ'; उस अहंभाव के होने से मैं आपको सूक्ष्म तेज अणुसा जानने लगा और उस

ज्ञान शक्ति

क्रिया

इच्छा

अणु में अहंकार फुरा जिसको तुम अहंकार कहते हो उस अहंकार की दृढ़ता से निश्चयात्मक बुद्धि फुरी; उस बुद्धि से संकल्प विकल्परूप मन फुरा और उस मन ने प्रपञ्च रचा। उस मन में देखने का स्पन्द फुरा तब चक्षु इन्द्रियाँ हुईं और जिसको देखने लगा वह रूप दृश्य हुआ। फिर सुनने की इच्छा फुरी तब श्रवण इन्द्रिय हुई और वह शब्द ही सुनने लगी। फिर रस लेने की इच्छा हुई तब जिह्वा इन्द्रिय हुई और वह रस को ग्रहण करने लगी। जब सुगन्ध लेने की इच्छा की तब नासिका इन्द्रिय हुई और सुगन्ध ग्रहण करने लगी और फिर स्पर्श करने की इच्छा से त्वचा इन्द्रिय प्रकट होकर स्पर्श ग्रहण करने लगी। इस प्रकार मुझको ज्ञानइन्द्रिय आन फुरी और उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध उदय हुई तब मैंने अपने साथ स्थूल वपु देखा। जैसे कोई स्वप्न देखता है और उसमें अपना शरीर देखता है तैसे ही मैंने देखा। हे रामजी ! जिसको मैं देखने लगा वह दृश्य हुआ और जिससे मैं देखता था वे इन्द्रियाँ हुईं। जब दृश्य फुरना हुआ वह काल हुआ; जहाँ हुआ वह देश हुआ और ज्योंकर हुआ वह क्रिया हुई। इस प्रकार सब देश काल पदार्थ हुए हैं सो मैंने तुमसे कहे। हे रामजी ! वास्तव में न कोई देह है; न इन्द्रियाँ हैं और न सृष्टि है पर चित्तकला में हुए की नाईं दृष्ट आते हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि भासती है। जब वह सृष्टि मुझको फुरी तब पूर्वस्वरूप मुझे विस्मरण हुआ। जैसे सुषुप्ति में अपना स्वरूप विस्मरण की नाईं होता है; तैसे ही मुझको विस्मरण हुए की नाईं भासा। तब जैसे स्वप्न में जाग्रत्स्वरूप का विस्मरण होता है और जाग्रत् में स्वप्न के स्वरूप का विस्मरण होता है, तैसे ही पूर्व का स्वरूप मुझको विस्मरण हुआ। जब शरीर और इन्द्रियाँ मुझको अपने साथ भासीं तो उनमें मैंने अहंप्रत्यय करके ॐकार शब्द उच्चार किया। जैसे बालक माता के गर्भ से उत्पन्न होकर शब्द करता है, तैसे ही मैंने ॐ शब्द का उच्चार किया। जैसे कोई पुरुष स्वप्न में उड़ता और शब्द करता है तैसे ही मैंने ॐकार का उच्चार किया जो आदि, मध्य और अन्त से रहित परब्रह्म है और सर्वब्रह्माण्डरूपी तरङ्ग का आधार समुद्र है। हे रामजी ! जब मैं आधिभौतिक दृष्टि से देखूँ तब मुझको शिला ही भासे और जब अन्तवाहक दृष्टि से देखूँ तब अनन्तब्रह्माण्ड दृष्ट आवे और नाना प्रकार की क्रिया और मर्यादा सहित भासे पर जब आत्मदृष्टि से देखूँ तब अद्वैत अपना आपही भासे। हे रामजी ! जैसे सूर्य की किरणों में मरुस्थल की नदी भासती है तैसे ही मुझको सृष्टि भासे। जैसे मरुस्थल की नदी मिथ्या है, तैसे ही ग्रहण करनेवाली वृत्ति मिथ्या है। जैसे संवेदन में मनन फुरता है सो भी मिथ्या है, क्योंकि नदी मिथ्या है तो मनन उसका सत् कैसे हो; तैसे ही यह भी जीव का रूप-अवलोक मिथ्या है और भ्रान्ति करके सत्य भासता है। जैसे स्वप्नसृष्टि, संकल्पपुर और मनोराज का नगर मिथ्या है और कथा का वृत्तान्त अनहोता ही भ्रान्ति से प्रत्यक्ष भासता है; तैसे ही यह जगत् भ्रान्ति से सत्य भासता है—वास्तव में कुछ नहीं पर संकल्पविलास में बना दृष्टि आता है। हे रामजी ! जिस प्रकार मुझको सृष्टि भासी है सो सुनो। जब मेरे में पृथ्वी की धारणा हुई तब पृथ्वी मुझको शरीर होकर भासने लगी, क्योंकि मैं विराट् आत्मा था। उस पृथ्वी पर वन, पर्वत, नदी, समुद्र, वृक्ष, फल, फूल, मनुष्य, पशु, पक्षी, देवता, ऋषीश्वर, दैत्य और नाग आदिक जो स्थित हैं सो पृथ्वी मेरा शरीर हुआ; पर्वत मेरे मुख हुए; सुमेरु आदि पर्वत मेरी भुजा हुईं; सप्तसमुद्र इन्द्रिय हुईं; सर्व नदी मेरे कण्ठ में माला और वन मेरी रोमावली हुई; मरुस्थल की नदी मेरे ऊपर विस्तार हुई और देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और दैत्य इत्यादि मेरे में कीट भासे—शरीर में जुआँ लीख आदिक हैं। किसी ठौर मेरे ऊपर हल चलाते हैं और बीज बोते हैं जिससे खेती उगती है और प्राणी खाते हैं; कहीं खोदते हैं; कहीं पूजा करते हैं; कहीं समुद्र स्थित हैं; कहीं नदी चलती हैं; कहीं राजा राज्य करते हैं और कहीं मेरे ऊपर झगड़ मरते हैं। एक कहता है पृथ्वी मेरी है और दूसरा कहता है मेरी है; इस प्रकार ममता करके युद्ध करते हैं। कहीं हाथी चेष्टा करते हैं; कई रुदन करते हैं; कई हास्य करते; कहीं वृत्ति फैलाते हैं; कहीं सुगन्ध है; कहीं दुर्गन्ध है; कहीं नदियाँ चलती और क्षोभ करती हैं; कहीं देवता और दैत्य मेरे ऊपर युद्ध करते

क्षेत्र

हैं; कहीं शीतलता से जल मेरे ऊपर बरफ़ हो जाता है। इस प्रकार इष्ट-अनिष्ट स्थान मैंने अपने ऊपर देखे और राजसी, तामसी और सात्त्विकी जितनी जीवों की क्रिया होती हैं उन सबका आधार मैं हुआ। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं की संज्ञा संवेदन फुरने से हुई है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्याने पृथ्वीधातुवर्णनन्नाम द्विशततमस्सर्गः ॥ २०० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुमको जो धारणा से पृथ्वी का अनुभव हुआ और उसमें जगत् उत्पन्न हुआ वह संकल्परूप था वा मन से उपजा था अथवा आधिभौतिक था? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सब जगत् संकल्परूप है और आधिभौतिक की नाईं भासता है परन्तु केवल चिदाकाश अपने आपमें स्थित है। वह चिदाकाश मैं हूँ, न कदाचित् उपजा हूँ और न नाश होऊँगा; सर्वदा अद्वैत, अचैत्य, चिन्मात्ररूप हूँ। उसके संकल्प का नाम मन है; आभास का नाम संकल्प है और उसी का नाम ब्रह्मा और इच्छा है; उसी में जगत् स्थित है सो आकाशरूप है—कुछ बना नहीं। हे रामजी! जिसको सत्य और असत्य कहते हो वह शुभ-अशुभरूप जगत् मन में स्थित है और सर्वआकार निराकाररूप हैं; भ्रान्ति से पिण्डाकार भासते हैं। जैसे स्वप्न में शुभ-अशुभ पदार्थ भासते हैं सो निराकार हैं पर भ्रान्ति से पिण्डाकार भासते हैं; तैसे ही वे जगत् भी निराकार हैं पर भ्रम से पिण्डाकार भासते हैं और विचार किये से शून्य हो जाते हैं। जैसे मनोराज से आकार रचित है, तैसे ही हमारे आकार जानो—स्वरूप से कुछ उपजे नहीं। जैसे मृत्तिका में बालक नाना प्रकार की सेना रचते हैं और उस मृत्तिका का उनको भिन्न-भिन्न भाव निश्चय होता है; तैसे ही अद्वैत आत्मा में मनरूपी बालक ने जगत् कल्पा है, वास्तव में कुछ नहीं—आत्मतत्त्व सदा अपने आपमें स्थित है। जैसे मृगतृष्णा का जल ही नहीं तो उसमें डूबा किसे कहिये; तैसे ही मन आप आभासरूप है तो उसका रचा जगत् कैसे सत् हो? हे रामजी! आकाश में सब चिदाकाशरूप है—दूसरा कुछ बना नहीं। आत्मरूप आकाश में मनरूपी नीलता है सो अविचार सिद्ध है और विचार किये से नीलता

कुछ वस्तु नहीं। जैसे दीपक के विद्यमान होने से अन्धकार नहीं रहता, तैसे ही विचार किये से मन और मन की रचना जगत् नहीं रहता। मन का निर्वाण करना ही परमशान्ति है और कोई उपाय नहीं। हे रामजी! जितने क्षोभ हैं उनका कर्त्ता मन है और सम्पूर्ण शब्द अर्थ कल्पना मन से उठती है—मन के निर्वाण हुए कोई नहीं रहती। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! आप अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुए सो कुछ और रूप भी हुए अथवा न हुए? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मरूपी जो जाग्रत् है उसमें मैं अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुआ। मैं चैतन्य था और जड़ की नाईं स्थित हुआ—वास्तव में मैं जगत् न था केवल चिदाकाश था जिसमें न कुछ नाना है; न अनाना है; न अस्ति है; न नास्ति है; और जिसमें अहं-त्वं-इदं का अभाव है। वह केवल परम आकाश है जो आकाश से भी निर्मल चिदाकाश है और जो है सो सर्व शब्द ब्रह्म है। जगत् के होते भी वह अरूप है, क्योंकि कुछ आरम्भ परिणाम से नहीं बना—केवल आत्मा का चमत्कार है। हे रामजी! जहाँ जहाँ पदार्थसत्ता है वहाँ वहाँ जगत् वस्तु है। सर्वदा काल, सर्वप्रकार, सब पदार्थों का स्पन्द ब्रह्म है; जहाँ ब्रह्मसत्ता है वहाँ जगत् है। इस प्रकार मैंने अनन्त ब्रह्माण्ड को देखा। जब मैं अनन्त ब्रह्माण्ड की पृथ्वी होकर स्थित हुआ तो जब जल की धारणा की तब जलरूप होकर फैला और वृक्ष, घास, फूल, फल, गुच्छे, डाल, तमाल और पत्रों में रस होकर स्थित हुआ; थम्भे में मैं ही बल हुआ और समुद्र हुआ; नदियों के प्रवाह होकर मैं ही बहने लगा और उनमें गड़ गड़ शब्द करने लगा और तरङ्ग बुद्बुदे फेन को फैलाकर विलास किया; ओस के कणके होकर मैं ही स्थित हुआ; आकाश में मेघ होकर बरसता और प्राणियों को तृप्त करने लगा। उनमें रुधिर आदि रस होकर मैं ही स्थित हुआ और उनकी नाड़ियों में मथन करके आप ही प्रवेश किया। जैसी जैसी नाड़ी होती है तैसा तैसा रस होकर मैं स्थित हुआ। रस, बीज, कफ, पित्त, मूत्र आदिक सब नाड़ियों में मैं ही स्थित हुआ। सर्व प्राणियों की जिह्वा के अग्रभाग में रस होकर मैं स्थित हुआ और अपने आपका आपसे

शिव

स्वादु को ग्रहण करने लगा और हिमालय में बरफ़ होकर स्थित हुआ। हे रामजी ! मैं चैतन्य होके जड़ की नाईं स्थित हुआ; बीज होकर मैंने ही उत्पन्न किया और प्रलय के मेघ होकर मैंने ही नाश किया। इस प्रकार जल होकर स्थावर, जङ्गम सर्व जगत् में स्थित हुआ और सदा अपने आपमें स्थित होकर अपने स्वरूप को न त्यागा। जैसे स्वप्न में जगत् अनुभवरूप है और अनहोता भासता है; तैसे ही मैं जलरूप होकर जगत् को धारता भया। हे रामजी ! नाना प्रकार के स्थानों में मैं स्थित हुआ; फूलों की शय्या पर चिरकाल पर्यन्त विश्राम करता रहा; गन्ध होकर फूलों में स्थित हुआ और मेघ होकर आकाश में बिचरा और ऐसी वर्षा की कि पर्वतों पर वेग से प्रवाह चलने लगा और मैं कणके कणके होके समुद्र और नदी में बिचरा। यह प्रतिभा चिद्अणु में मुझको हुई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्याने जलरूपवर्णन-
नाम द्विशताधिकप्रथमस्सर्गः ॥ २०१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जल के अनन्तर मैंने तेज की भावना की अर्थात् तेज धारा, तब मुझमें इतने अङ्ग उदय हुए—चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि—और इनसे जगत् की क्रिया सिद्ध होने लगी। जैसे राजा के अङ्ग अनुचर और हरकारे होते हैं तैसे ही तमरूपी चोर को दीपकरूपी हरकारे मारने लगे आकाशरूपी जो मैं था इससे मेरे कण्ठ में तारावली रूपी माला पड़ी थी। सूर्य होकर मैं जल को सोखता और दशों दिशाओं को प्रकाशता रहा। आकाश जो ऊर्ध्वता से श्याम भासता है वह मेरे निकट प्रकाशमान होता था; सब जगत् में मैं ही फैल रहा था और जहाँ मैं रहूँ तहाँ से तम का अभाव हो जावे। चन्द्रमा और सूर्यरूपी डब्बा है जिसमें दिन, रात और काल, वर्षरूपी अनेक रत्न सर्वदा निकलते रहते हैं। राजसी, सात्त्विकी और तामसी क्रियारूपी कमलिनी का मैं सूर्य हुआ और सर्वदेवताओं और पितरों को तृप्त करता रहा। यज्ञ की अग्नि और रत्न, मोती, मणि आदिक जो प्रकाश पदार्थ हैं उनमें प्रकाश मैं ही हुआ। प्राणों के भीतर मैं स्थित हुआ और प्राण-अपान के क्षोभ से अन्न को पचाने लगा। जैसे आत्मा के प्रकाश से रूप, अवलोक और

पूर्ण और प्रकाश का

मनस्कार प्रकाशते हैं; तैसे ही सब पदार्थ मेरे प्रकाश से प्रकाशित होने लगे, क्योंकि मैं तेजरूप था—मानों चैतन्यसत्ता का दूसरा भाई हूँ। जैसे सर्वपदार्थ आत्मा से सिद्ध होते हैं, तैसे ही मुझसे सिद्ध होने लगे। हे रामजी ! राजों में तेज और सिद्धों में वीर्य मैं हीं था; बलरूप होकर जगत् को मैं हीं पुष्ट करता था; वड़वाग्नि दाहकशक्ति होकर जगत् को मैं हीं नष्ट करता था और तेजवानों में तेज; बलवानों में बल मैं हीं था। तले भी मैं था; मध्य भी मैं हीं था और चन्द्रमा सूर्य से रहित जो स्थान हैं उनमें भी मैं हीं था। अग्निरूपी दीपक और चन्द्रमा और सूर्यरूपी नेत्रों से मध्यमण्डल में स्पष्ट मैं देखता था। हे रामजी ! इस प्रकार तेजरूप होकर भीतर बाहर स्थावर जङ्गम पदार्थों में मैं स्थित हुआ पर जब बोधदृष्टि से देखूँ तब सर्व आत्मा ही का भान हो और जब अन्तवाहक दृष्टि से आपको विराट्रूप जानूँ कि सर्वजगत् में मैं हीं फैल रहा हूँ और सर्व पदार्थ मेरे ही अङ्ग हैं। निदान तेजवानों में तेज और क्रोधवानों में क्रोध; यतियों में यती और अजीत मैं हुआ और सर्व ओर मेरी ही जय है, क्योंकि जय उसकी होती है जिसमें बल और तेज होता है—सो बल मैं हूँ और तेज भी मैं हूँ इससे मेरी जय है। हे रामजी ! सुवर्ण और रत्नमणि में जो प्रकाश और रूप है सो मैं हुआ। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! इस प्रकार जो आप जगत् की क्रिया अनुभव करने लगे कि जलरूप होकर अग्नि को बुझाना और अग्नि होकर जल को जलाना इत्यादिक क्रिया जो तुम्हारे ऊपर इष्ट अनिष्ट से होती रहीं उनको तुमने सुख दुःख से अनुभव किया वा न किया सो मेरे बोध के निमित्त कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे चैतन्य पुरुष स्वप्न में पर्वत, वृक्ष, देह, इन्द्रियाँ और नानाप्रकार के जड़पदार्थ देखते हैं जो वास्तव में उनमें नहीं हैं; केवल अनुभवरूप हैं परन्तु निद्रादोष से वे उन्हें द्वैत की नाईं जानते हैं और उनका राग-द्वेष अपने में मानते हैं, यथार्थ में द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर स्थित होता है परन्तु निद्रादोष से नहीं जान सकता और जब जागता है तब स्वप्न की सब सृष्टि को अपना आपही जानता है; तैसे ही यह जगत् अपने स्वरूप में नहीं है; जब बोध

स्वरूप में जागोगे तब पदार्थ भावना जाती रहेगी और सब जगत् बोधस्वरूप भासेगा। हे रामजी ! जिस पुरुष को देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित अखण्ड सत्ता उदय हुई है उसको ज्ञानी कहते हैं। जब यह पुरुष परमात्म अवलोकन करता है तब सब जगत् आत्मस्वरूप ही भासता है। जिस पुरुष को स्वप्न की सृष्टि में पूर्व का स्वरूप विस्मरण नहीं हुआ उसको अन्तवाहक कहते हैं और उसको पत्थर, जल और अग्नि में प्रवेश करने से भी खेद नहीं होता है। हे रामजी ! मैं जो आकाश में उड़ता फिरा और आकाश को भी लाँघकर ब्रह्माण्ड के खप्पर पर फिरा हूँ सो अन्तवाहक शरीर से ही फिरा हूँ। जिसको अन्तवाहक शरीर प्राप्त होता है उसको कोई आवरण नहीं रोक सकता क्योंकि सब उसके अङ्ग होते हैं। मुझको शुद्ध आत्मा में स्वप्ना हुआ था पर पूर्व का स्वरूप विस्मरण नहीं हुआ इससे सब जगत् मुझको अपना स्वरूप ही भासता रहा और अपने संकल्प से कल्पे हुए अपने ही अङ्ग भासते थे। जैसे कोई मनोराज से अग्नि का समुद्र रचे और उसमें स्नान करे तो वह भी होता है, क्योंकि उसको खेद नहीं होता सब अपने संकल्प में ही उसको भासते हैं। अन्तवाहक शरीर से विराट् सबको अपना आप देखता है तैसे ही सब जगत् मुझको अपना आप भासता था तो खेद कैसे हो ? जैसे स्वप्नवाला स्वप्न में पर्वत, नदियाँ और अग्नि देखता है सो वही रूप है और आप भी एक आकार धारण करके बन जाता है और पूर्व का स्वरूप उसकी परिच्छिन्नता से भूल जाता है और राग द्वेष से जलता है। मैंने तत्त्वरूप बन के आपको जड़रूप देखा और चैतन्यरूप भी देखा। इस प्रकार मुझको अपना स्वरूप विस्मरण न हुआ तब मैं विराट्रूप सबको अपना अङ्ग ही देखता रहा इससे मुझे खेद कैसे होता ? खेद तब होता है जब अपना स्वरूप भूलता है और परिच्छिन्न सा बन जाता है, पर मैं तो बोधवान् रहा कि मैंने स्पन्द से सब रूप धारे हैं। हे रामजी ! जिसको यह निश्चय है उसको दुःख कहाँ ? सुखदुःखरूप जो पदार्थ हैं सो मैंने अपने में ऐसे देखे जैसे आदर्श में प्रतिबिम्ब भासता है। जिसको यह दृष्टि हो उसको दुःख कहाँ है ? हे रामजी ! जिसको

13T 15/65/102 ✓

अन्तवाहक शक्ति प्राप्त होती है वह पाताल और आकाश में जाने को समर्थ होता है और जहाँ प्रवेश किया चाहे वहाँ जा सकता है, क्योंकि सृष्टि संकल्पमात्र है। हे रामजी ! और कुछ सृष्टि बनी नहीं आत्मा का किञ्चन ही सृष्टिरूप होकर भासता है। हे रामजी ! यह सृष्टि सब ब्रह्मस्वरूप है। हमको तो सदा ऐसे ही भासती है। जब तुम जागोगे तब तुमको भी ऐसे ही भासेगी। तुम भी अब जागे हो। उस प्रकार मैं अग्नि होकर स्थित हुआ कि जिसकी शिखा से कालख निकलती थी। प्रकाश मैं हीं हुआ और अपने चिद्स्वरूप अनुभव में मुझको जगत् भासे उसमें मैं स्थित हुआ। अन्धकार और उलूकादि भी मेरे प्रकाश से प्रकाशते हैं और भावरूप पदार्थ भी मैं अपने में जानता भया, क्योंकि भावरूप पदार्थ तब भासते हैं जब उनका रूप होता है; सो रूपवान् पदार्थ मैं हीं था इस कारण सब मेरे ही में सिद्ध होते थे। इस प्रकार मुझको यह प्रतिभा हुई।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्याने चिद्रूप-
वर्णनन्नाम द्विशताधिकद्वितीयस्सर्गः ॥ २०२ ॥

wind ✓
greatest

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! फिर मैंने पवन की धारणा का अभ्यास किया तब पवनरूप होकर बिचरने लगा और कमल के फूलों और वृक्षों को हिलाने लगा। तारों और नक्षत्रों का आधारभूत हुआ और वे मेरे आधार पर फिरने लगे। चन्द्रमा और सूर्य के चलानेवाला भी मैं हीं हुआ और समुद्र और नदियों के प्रवाह मेरी ही शक्ति से चलते रहे मन का बड़ा वेग भी मैंहीं हुआ और प्राणियों के शरीरों में मेरा निवास हुआ मैंहीं प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान पञ्चरूप होकर स्थित हुआ और सब नाड़ियों में मेरा निवास हुआ। सब नाड़ियों को रस अपना-अपना भाग मैं हीं पहुँचाता रहा और हलना, चलना, बोलना, लेना, देना सब मुझही से सिद्ध होता था निदान सर्वपदार्थों में स्पर्शशक्ति मैं हीं हुआ और सर्वशब्द मेरे ही से सिद्ध होते थे। क्रियारूपी बुन्द का मैं मेघ हुआ; आकाशरूपी गृह में मेरा निवास था और दशों दिशा सब मेरे में ही फुरी थीं। देवताओं को गन्ध से मैं हीं सुख देता था और दीपक को मैं हीं प्रज्वलित करता था। पक्षियों में मेरा सदा निवास था। जैसे अग्नि में उष्णता रहती है तैसे ही

सबके सुखाने और हरियावल करनेवाला मैं हीं हूँ। हे रामजी! इस प्रकार मैं पवन होकर स्थित हुआ इसलिये रूप, अवलोक और मनस्कार सर्व पदार्थ मैं हीं हुआ और चन्द्रमा, सूर्य, तारे, अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वरुण, कुबेर और यम आदिक जगत् होकर मैं हीं स्थित हुआ। पञ्चभूतों के भीतर और बाहर भी मैं था; प्राण-अपान के क्षोभ से दुःख होता है सो मैं हीं साकार निराकाररूप हूँ और रक्त पीत श्यामरङ्ग पदार्थ सब मैं हीं हूँ। पञ्चभूत जो चिद्अणु फुरे हैं सो उसी का रूप है जैसे स्वप्न की सृष्टि सब अपना ही रूप होती है—इतर कुछ नहीं होती। हाड़, मांस, पृथ्वी होकर भूतों में स्थित हुआ और वायुरूप प्राण, अग्निरूप समिधा और आकाशरूप अवकाश भया हूँ। इस प्रकार मैं सर्व में स्थित भया। मैं भी चैतन्यवपु था और वे तत्त्व भी चैतन्यवपु थे। जैसे स्वप्न में जगत् आकाशरूप होता है तैसे ही वे भी आकाशरूप हैं। हे रामजी! सर्वकाल, सर्वप्रकार सर्व का सर्वात्मा स्थित है दूसरा कुछ नहीं। आत्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है इससे भिन्न जानना भ्रान्तिमात्र है। यह दृष्टि ज्ञानवान् की है पर जो असम्यक्दर्शी हैं उनको भिन्न भिन्न पदार्थ भासते हैं। इस प्रकार मैंने सम्पूर्ण जगत् अपने में ही देखा। हे रामजी! मैं ब्रह्मरूप था इससे उसमें जगत् उत्पन्न होते दृष्ट आये और जो मैं ब्रह्म से इतर होता तो एकतृण भी न उत्पन्न होता। मैं जो ब्रह्मरूप था इससे सृष्टि उत्पन्न होती है। हे रामजी! जब मैंने बोधदृष्टि से देखा तब आत्मा से भिन्न कुछ न दीखा और जब अन्तवाहक दृष्टि से देखा तब स्पन्द के कारण अणु अणु में सृष्टि भासी। जैसे जहाँ चन्दन का अणु होता है वहाँ सुगन्ध भी होती है; तैसे ही जहाँ जहाँ तत्त्व के अणु हैं वहाँ वहाँ सृष्टि भी है। हे रामजी! एक अणु में अनन्त सृष्टि मुझको भासी। जैसे एक पुरुष शयन करता है और उसको स्वप्न में सृष्टि भासती है और फिर स्वप्न से स्वप्नान्तर की सृष्टि देखता है तो एकही जीव में बहुत भासते हैं; तैसे ही एक अणु से अनेक सृष्टि होती हैं। हे रामजी! जो सृष्टि है सो आभासरूप है और आभास अधिष्ठान के आश्रय होता है। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है जो देश और काल के परिच्छेद से रहित अखण्ड अद्वैतसत्ता है। इसी से कहा है कि अणु अणु में सृष्टि है, क्योंकि कोई अणु भिन्न नहीं, ब्रह्मसत्ता ही है; जो सर्वब्रह्म है तो सृष्टि भी ब्रह्मरूप है—इससे सब ब्रह्म ही जानो। ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे वायु और स्पन्द में भेद नहीं, तैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादनं
नाम द्विशताधिकतृतीयस्सर्गः ॥ २०३ ॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! इस प्रकार जब मेरे में सृष्टि फुरी तब मैं उनके भ्रम को त्याग और संकल्प को खैंचकर अन्तर्मुख हुआ और अपनी जो कुटी थी उसकी ओर आया। जब मैंने कुटी देखी तो उसमें एक पुरुष बैठा मुझको दृष्टि आया। तब मैंने विचार किया कि यह कौन है; मेरा शरीर कहाँ है? मैंने विचार करके देखा कि यह कोई महासिद्ध है। मेरा शरीर इसने मृतक जानकर गिरा दिया है और आप पद्मासन बाँधकर दोनों टँखने पुट्ठों के ऊपर किये और शिर और ग्रीवा सूधे किये बैठा है। दोनों हाथ काँधों पर ऊर्ध्व किये हैं—मानों कमल फूल है वा मानों अन्तर का प्रकाश बाहर उदय हुआ है और नेत्र मूँदे हैं—मानों सब वृत्ति खैंच ली है। हे रामजी! इस प्रकार समाधि लगाकर पद्मासन बाँधे वह आत्मपद में स्थित बैठा था और उसका मुख सूर्य की नाईं प्रकाशता था। जैसे धुयें से रहित अग्नि प्रकाशता है, तैसे ही वह सिद्ध प्रकाशमान स्थित था। इस प्रकार मैंने उसको आत्मपद में स्थित देखा। जैसे दीपक निर्वाण स्थित होता है, तैसे ही उसे स्थित देखकर मैंने विचार किया कि इसे इहाँ हीं बैठा रहने दूँ और मैं अपने स्थान सप्तर्षियों में जाऊँ। इस प्रकार कुटी के संकल्प को त्यागकर मैं उड़ा और उड़ते हुए मार्ग में मुझको विचार उपजा कि देखूँ अब उस सिद्ध की क्या दशा है। फिर उलटकर देखा तो कुटी सहित सिद्ध वहाँ नहीं था, क्योंकि कुटी उसकी आधारभूत थी सो मेरे संकल्प में स्थित थी, जब मेरा संकल्प निर्वाण हो गया तब वह कुटी गिर पड़ी तो उसमें वह सिद्ध कैसे रहे; वह भी गिर

पड़ा । हे रामजी ! उसको गिरता देखकर मैं भी उसके पीछे हुआ कि उसका कौतुक देखूँ । निदान आगे वह चला और मैं पीछे पीछे चला परन्तु मैं स्वाधीन और वह पराधीन चला जाता था । जैसे मेघ से बूँद गिरती है तो नहीं ठहरती तैसे ही वह चला और सप्तद्वीप के पार दशसहस्र योजन स्वर्ण की धरती है उस पर आन पड़ा और उसी प्रकार पद्मासन बाँधे हुए शीश और ग्रीवा उसी प्रकार सम ठहरे रहे, क्योंकि उसके शीश और ग्रीवा ऊर्ध्व को थे । हे रामजी ! शरीर प्राण से हलता चलता है; जब प्राण ठहर जाते हैं तब शरीर नहीं हलता चलता इस कारण उसका शरीर सम ही रहा और जैसे कुटी में बैठा था उसी प्रकार आसन करके पृथ्वी पर आ पड़ा । तब मेरे मन में आया कि इसके साथ कुछ चर्चा भी करना चाहिये परन्तु यह तो समाधि में स्थित है इसलिये प्रथम किसी प्रकार इसको जगाऊँ । हे रामजी ! ऐसा विचार करके मैं मेघ होकर उसके शिर पर वर्षा करने लगा और बड़ा शब्द किया जिससे पहाड़ फटने लगे पर उस शब्द और वर्षा से भी वह न जागा । फिर जब मैं ओले होकर उसके ऊपर वर्षा करने लगा—जैसे पत्थर की वर्षा होती है तब ऐसी वर्षा होने से वह नेत्र खोलकर देखने लगा—जैसे पर्वत पर मोर मेघ को देखने लगे और मैं उसके आगे आ स्थित हुआ । तब उसने समाधि खोली और उसकी प्राण इन्द्रियाँ अपने स्थान में आईं । हे रामजी ! जब मुझको उसने अपने आगे देखा तब मैं अद्वैतभाव को त्यागकर बोला, हे साधो ! तू कौन है; कहाँ स्थित है; क्या करता था और किस निमित्त कुटी में स्थित था ? सिद्ध बोले; हे मुनीश्वर ! मैं अपने प्रकृतभाव में स्थित हूँ और सब कुछ कहूँगा परन्तु जल्दी मत कर—मैं स्मरण करके कहता हूँ । हे रामजी ! मुझसे इस प्रकार कहकर वह स्मरण करने लगा और फिर स्मरण करके बोला; हे वशिष्ठजी ! मुझ पर क्षमा करो, क्योंकि सन्तों का शान्त स्वभाव होता है । मुझसे तुम्हारी बड़ी अवज्ञा हुई है परन्तु तुम क्षमा करो—मेरा तुमको नमस्कार है । हे रामजी ! इस प्रकार नमस्कार करके उसने निर्मल आनन्द के उपजानेवाले यह वचन कहे कि हे मुनीश्वर ! संसाररूपी नदी है जिसका बड़ा प्रवाह है और कदाचित् नहीं सूखता । चित्तरूपी समुद्र से यह प्रवाह निकलता है; जन्म-मरण इसके दोनों किनारे हैं; रागद्वेषरूपी इसमें तरङ्ग हैं और भोग की तृष्णा इसमें चक्र फिरता है—उसमें मैंने बड़ा दुःख पाया है । हे मुनीश्वर ! अपने सुख के निमित्त देवों के स्थानों में भी मैं गया; दिव्यभोग भोगे और स्पर्श आदिक जो भोग हैं वे भी सब मैंने भोगे हैं परन्तु शान्ति मुझको नहीं प्राप्त हुई और जिस सुख को मैं चाहता था सो न पाया । जैसे पपीहा मेघ की बूँद चाहता है और मरुस्थल की भूमिका में उसको शान्ति नहीं होती; तैसे ही मुझको विषयों के सुख में शान्ति न हुई । हे मुनीश्वर ! इस जगत् को असार जानकर मेरा चित्त विरक्त हुआ है कि इतने काल मैंने भोग भोगे परन्तु मुझको शान्ति न हुई । इनको असत् जानकर मैं फिरा और विचार किया कि जो सार हो उसमें स्थित हो रहूँ । तब मैंने जाना कि सार अपना अनुभवरूप ज्ञानसंवित् ही है—इससे मैं उसी में स्थित हुआ हूँ । हे मुनीश्वर ! जितने विषय हैं वे विषरूप हैं । विष के पान किये से मृत्यु ही होती है । स्त्री, धन आदिक सुख मोह और दुःख के देनेवाले हैं । ऐसा कौन पुरुष है जो इनमें आया सावधान रहता है ? ये तो स्वरूप से नष्टकरनेवाले हैं । हे मुनीश्वर ! देहरूपी एक नदी है जिसमें बुद्धिरूपी एक मछली रहती है; जब वह शिर बाहर निकालती है अर्थात् इच्छा करती है तब भोगरूपी बगला इसको खा जाता है अर्थात् आत्ममार्ग से शून्य करता है । ये जो भोगरूपी चोर हैं जब इनका संग जीव करता है तब वे इसको लूट लेते हैं अर्थात् आत्मज्ञान से शून्य करते हैं और जब आत्मज्ञान से शून्य होता है तब जन्मों का अन्त नहीं आता—अनेक शरीर धारता है । जैसे चक्र पर चढ़ी हुई मृत्तिका अनेक बासनों के आकार धारती है तैसे ही आत्मज्ञान से रहित जीव अनेक शरीर धारता है पर अब मैं जागा हूँ मुझको वे अब नहीं लूट सकते । हे मुनीश्वर ! भोगरूपी बड़े नाग हैं; और जो नाग हैं उनके डसे से शरीर मृतक होते हैं पर विषयरूपी सर्प के फुत्कार से ही मृतक होता है अर्थात् इच्छा करने से ही आत्मपद से शून्य होता है । जब जीव को विषयों की इच्छा से सम्बन्ध होता है तब उसका

क्षण-क्षण में निरादर होता है—जैसे कदली वन से रहित हुआ और महावत के वश में आया हस्ती निरादर पाता है। हे मुनीश्वर! जिस शरीर के निमित्त जीव विषयों की इच्छा करता है वह शरीर भी नाशरूप है। इसमें अहंप्रतीति करनी परम आपदा का कारण है और अहंप्रतीति न करनी परमसुख का कारण है। जैसे सर्प के मुख में पड़ा हुआ दर्दुर मच्छर खाने की इच्छा करता है सो महामूर्ख है। किसी क्षण काल इसको ग्रास लेगा; इससे भोगों की इच्छा करनी व्यर्थ है और दुःख का कारण है। हे मुनीश्वर! जब बालअवस्था व्यतीत होती है तब युवा अवस्था आती है और युवा के उपरान्त जब वृद्धावस्था आती है तब शरीर जर्जरीभाव को प्राप्त होता है। जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी जेठ आषाढ़ में सूख जाती है, तैसे ही वृद्धावस्था में शरीर जर्जरीभाव को प्राप्त होता और दुःख पाता है। बालक अवस्था में जीव क्रीड़ा में मग्न होता है; यौवन अवस्था में कामादिक सेवता और वृद्ध होकर चिन्ता में मग्न रहता है। इस प्रकार जब यह तीनों अवस्था व्यतीत होती हैं तब मर जाता है। जीवों की अवधि इस प्रकार व्यतीत होती है और परमपद से अप्राप्त रहते हैं। हे मुनीश्वर! यह आयु बिजली के चमत्कार की नाईं है। इस क्षणभंगुर अवस्था में जो भोगों की वाञ्छा करते हैं वे महादुःख को प्राप्त होते हैं। इनमें सुख देखकर जो कोई कहे कि मैं स्वस्थ रहूँगा तो कदाचित् न होगा। जैसे जल के तरङ्गों में बैठकर कोई स्थित हुआ चाहे तो नहीं हो सकता—अवश्य मरेगा—तैसे ही विषय भोगों से शान्ति सुख नहीं होता। जैसे कोई महाधूप से तपा हुआ सर्प के फन की छाया के नीचे बैठकर सुख की वाञ्छा करे तो सुख न पावेगा पर जब आत्मज्ञानरूपी वृक्ष की छाया के नीचे बैठे तब शान्त और सुखी होगा। जिन पुरुषों ने विषयों की सेवना की है वे परमदुःख को प्राप्त होते हैं और जिन्होंने आत्मपद की सेवना की है वे परमानन्द को प्राप्त होते हैं। जैसे नदी का प्रवाह नीचे चला जाता है, तैसे ही मूर्ख का मन विषयों की ओर धावता है। यह संसार मायामात्र है और इसमें शान्ति कदाचित् नहीं प्राप्त होती। जैसे मरुस्थल की नदी के जल से तृषा निवृत्त नहीं होती तैसे ही विषय-

भोगों से शान्ति कदाचित् नहीं होती। जो आत्मपद से विमुख हैं वे विषयों की ओर धावते हैं और जो आत्मपद में स्थित हैं वे विषयों की ओर नहीं दौड़ते। जैसे समुद्र में तरंग उपजकर नष्ट होते हैं और जैसे नदी का वेग समुद्र की ओर गमन करता है पर पत्थर की शिला गमन नहीं करती; तैसे ही भोगरूपी समुद्र की ओर अज्ञानी दौड़ता है ज्ञानी नहीं गमन करता। हे मुनीश्वर! कमल में सुगन्ध तबतक होती है जबतक सर्प के मुख का वायु नहीं लगा; तैसे ही बुद्धि में विचार तबतक है जबतक चित्तरूपी सर्प को भोग और इच्छारूपी वायु नहीं लगा। जब यह लगता है तब विचाररूपी सुगन्ध ले जाता है और विषरूपी तृष्णा को छोड़ जाता है। बाण निशान की ओर तब धावता है जब धनुष और चिल्ले को त्यागता है और त्यागे से फिर नहीं मिलता, तैसे ही आत्मारूपी चिल्ले से जब चित्तरूपी बाण छूटता है तब भोगरूपी निशान की ओर धावता है और जब जाता है तब फिर आना कठिन होता है—अर्थात् अन्तर्मुख होना कठिन होता है। हे मुनीश्वर! यह आश्चर्य है कि जो पदार्थ सुखदायक नहीं हैं उनकी ओर चित्त बड़ा यत्न करता है पर तौ भी वे सिद्ध नहीं होते और अयत्नसिद्ध आत्मपद है उसको त्यागते हैं। जिनको यह सुख जानता है वे सब दुःख के स्थान हैं जिस अपने होने को यह भला जानता है वह अनर्थ का कारण है। जिस देह को जीव सुखरूप जानता है वह सर्वरोग का मूल है। जिनको यह भोग जानता है वे इसको दुःख देनेवाले परमरोग हैं और जिनको यह सत्य जानता है वे सब मिथ्या हैं; जिनको यह स्थिर जानता है वे स्थिर नहीं चलरूप हैं; जिनको यह रस जानता है वे सब विरस हैं; जिनको बान्धव जानता है वे सब अबान्धव हैं और दृढ़ बन्धनरूप हैं और जिसको यह सुख देनेवाली स्त्री जानता है वह सर्पिणी है और परमविष के देनेवाली है जिसका काटा मर जाता है फिर नहीं जीता अर्थात् आत्मपद में स्थित नहीं होता। हे मुनीश्वर! मैं परम आपदा का कारण देह को जानता हूँ। इसके निवृत्त हुए जीव परमपद को प्राप्त होता है जिस पुत्र, धन आदिक को जीव संपदा जानता है सो

144/66

परम दुःखरूप आपदा हैं; इनमें सुख कदाचित् नहीं। यह वार्ता मैं सुनकर नहीं कहता; मैंने देखकर विचार किया है; विचार करके अनुभव किया है और अनुभव करके कहा है कि यह संसार मायामात्र है। बड़े बड़े स्थानों में भी मैं गया हूँ परन्तु सार पदार्थ मुझको कोई दृष्टि नहीं आया। स्वर्ग में नन्दनवन आदि काष्ठरूप ही दीखे; मृत्युलोक में आकर देखा तो पञ्चभूत ही दृष्टि आये और शरीर में रक्त, मांस, हाड़, मूत्र आदिक देखे; जो ऐसे शरीर में अहंप्रत्यय करते हैं मैं उनको धिक्कार देता हूँ। शरीर की आयुष्य ऐसी है जैसे दोनों हाथों में जल लीजिये तो वह जाता है अथवा जैसे जल में तरङ्ग बुद्बुदे उपजकर नष्ट होते हैं वा बिजली का चमत्कार होकर नष्ट हो जाता है। जो ऐसे शरीर को पाकर सुख की तृष्णा करते हैं वे महामूर्ख हैं। बालक अवस्था तरङ्ग की नाईं नष्ट हो जाती है यौवन अवस्था बिजली के चमत्कारवत् छिप जाती है और वृद्ध अवस्था में केश श्वेत हो जाते हैं और दाँत घिसकर गिर पड़ते हैं। जैसे नीचे स्थान में जल स्थित हो जाता है तैसे ही सब रोग वृद्ध अवस्था में आ स्थित होते हैं और तृष्णा दिन दिन बढ़ती जाती है। हे मुनीश्वर! उस समय सब पदार्थ जर्जरीभूत हो जाते हैं और तृष्णा जवान होती है—जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी बढ़ती जाती है—और जो सुखभोग प्राप्त होकर बिछुर जाते हैं उनका दुःख होता है। हे मुनीश्वर! इस प्रकार इनको असत्य जानकर मैं स्वरूप में स्थित हुआ हूँ। यदि पाँचों इन्द्रियों के इष्ट बड़ी उत्तम मूर्ति धारके आ स्थित हों तो भी हमको खैंच नहीं सकते। जैसे मूर्ति की लिखी कमलिनी भँवर को नहीं खैंच सकती; तैसे ही हम सरीखों को विषय नहीं चला सकते। हे मुनीश्वर! तुम्हारा शरीर मैंने अवज्ञा करके डाल दिया है—विचार से नहीं फेंका। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक जो त्रिकालज्ञ हैं वे भी इस चर्मदृष्टि से नहीं जान सकते; जब विचार से देखते हैं तभी जानते हैं; इस कारण विचार विना मैंने तुम्हारा शरीर फेंक दिया था। अब तुम क्षमा करो। योगेश्वर विचार से ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानता है; इन नेत्रों से तो वही जाना जाता है कि जो अग्रभाग में होता है

विशेष नहीं जाना जाता, इस कारण मुझसे तुम्हारा शरीर गिरा है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे आकाशकुटीसिद्धसमाधि-
योगवर्णनन्नाम द्विशताधिकचतुर्थस्सर्गः॥ २०४॥

वशिष्ठजी बोले, हे साधो! मुझसे भी तेरा गिराना विचार विना हुआ है कि विचार विना मैं उठ गया था। यह कुटी मेरे अन्तवाहक संकल्प में थी सो मैं अपने स्थान को चला इस कारण यह कुटी गिर पड़ी और तुम भी गिर पड़े। जो बीत गई सो भली हुई उसकी क्या चिन्तना कीजिए? ज्ञानवान् बीती की चिन्तना नहीं करते जो होनी थी सो भली हुई। हे साधो! अब जहाँ तुम्हें जाना है वहाँ जावो और हम भी जाते हैं। हे रामजी! इस प्रकार चर्चा करके हम दोनों आकाशमार्ग को उड़े—जैसे पक्षी उड़ते हैं—और परस्पर नमस्कार करके हम दोनों भिन्न भिन्न हो गये। वह अपने स्थान को चला और मैं अपने स्थान को चला और बहुतेरे स्थान देखता गया परन्तु मुझको कोई न जानता था। हे रामजी! यह सम्पूर्ण वृत्तान्त जो मैंने तुमसे कहा है उसे तुम विचारो। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! आपने जो सिद्ध के साथ समागम किया था तो आकाशमार्ग में कैसे शरीर से किया था और पाञ्चभौतिक शरीर तो पृथ्वी पर पड़ा था और पृथ्वी में अणुरूप हो गया था फिर आप किस शरीर से बिचरे? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अन्तवाहक शरीर से मैं बिचरता फिरा था और उससे ही मैं सिद्ध और देवताओं के स्थानों और इन्द्र, वरुण और कुबेर के स्थानों में फिरा हूँ परन्तु मुझे कोई न देखता था और मैं सबको देखता था। संकल्परचित पुरुष से मेरा व्यवहार हुआ था और किससे कहूँ? रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! अन्तवाहक शरीर तो इन्द्रियों का विषय नहीं है फिर सिद्ध से आपने चर्चा कैसे की और उसने तुमको कैसे देखा? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार जो तुम कहते हो तो सुनो। सिद्ध को मैं इस निमित्त दृष्टि आया कि मेरा सत्य संकल्प था। मुझे यह फुरना हुआ कि सिद्ध मुझको देखे और मुझसे चर्चा करे इससे उसने मुझको देखा और उसका संकल्प भी मेरे में आया तब जाना। जो दोनों सिद्ध हों और उनका संकल्प

Astral body

भिन्न भिन्न हो तो एक दूसरे के संकल्प को नहीं जानते परन्तु किसी का विशेष संकल्प हो तो वह दूसरे के संकल्प को जानता है। इससे यद्यपि उसका संकल्प मेरे देखने को न था पर मेरा दृढ़ संकल्प था इससे मैं उसके संकल्प को खैंचकर अपनी ओर ले आया। जो बली होता है उसी की जय होती है—इससे उसने मुझको देखा। हे रामजी! जो अन्तवाहक में स्थित होता है उसको तीनों काल का ज्ञान होता है परन्तु व्यवहार में लगे तो उसे भूल जाता है और जो वर्तमान पदार्थ होता है उसी का ज्ञान होता है। इसी कारण उसने मेरा शरीर डाल दिया था, क्योंकि वह समाधि के व्यवहार में लगा था और मेरे संकल्प से वह कुटी भी तब गिरी थी कि जब मैं अपने स्थान के व्यवहार की ऐसी चिन्तना करके चला था। जो मैं चिन्तना में न होता, अन्तवाहक शरीर में होता और उस कुटी का भविष्यत् विचार उस संकल्प को रहने देता तो वह सिद्ध न गिरता पर मैं तो और ही व्यवहार में लगा था इससे अन्तवाहक विस्मरण हो गया जिससे वह कुटी गिर पड़ी और सिद्ध भी गिर पड़ा। हे रामजी! इस प्रकार सिद्ध गिरा और उससे चर्चा हुई तब मैं वहाँ से चला और अन्तवाहक शरीर से आकाशमार्ग में फिरने लगा। सिद्धों के समूह और देवता, विद्याधर, गन्धर्व, किन्नर, ऋषि, मुनि, वरुण, कुबेर, इन्द्र, यम आदि सबके स्थान देखे परन्तु मुझको कोई न देखे। मैं बड़े बड़े शब्द करूँ कि किसी प्रकार कोई शब्द सुने और मुझको देखे परन्तु मेरा शब्द कोई न सुने और न कोई देखे। जैसे स्वप्न में कोई शब्द करे तो उसका शब्द जाग्रत्वाला कोई नहीं सुनता और जैसे असंकल्पवाला दूसरे की सृष्टिव्यवहार का शब्द नहीं जानता तैसे ही मुझको कोई न जानता था। हे रामजी! इस प्रकार मैं प्रथम आकाश में पिशाच की नाईं होकर विचरा और फिर दैत्यों के स्थानों में विचरा मैं सबको देखूँ पर मुझको कोई न देखे। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! पिशाच का शरीर, जाति और क्रिया कैसी होती है और उनके रहने का कौन स्थान है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! पिशाच की कथा से कुछ प्रयोजन न था तथापि तुमने प्रसंग पाकर पूछा है इससे मैं कहता हूँ। पिशाच का आकार नहीं होता और जो जो रूप वे धारते हैं सो सुनो। कई तो आकाश की नाईं शून्य होते हैं और परछाहीं की नाईं भय देते हैं; कई शूकर और कई काकरूप धारकर स्थित होते हैं। ऐसे रूप धारके वे बिचरते हैं और सबको देखते और जानते हैं पर उनको कोई नहीं जानता। शीत-उष्ण से वे भी दुःख पाते हैं और इच्छा, द्वेष, लोभ, मान, मोह, क्रोध आदिक विकार उनमें भी रहते हैं। शीतल जल और भले भोजन की वे भी इच्छा करते हैं और नगरों, वृक्षों और दुर्गन्ध स्थानों में भी रहते हैं। कहीं सियार होकर दिखाई देते हैं और कहीं श्वान होकर दृष्टि आते हैं। मन में भी प्रवेश करते हैं और मन्त्र, पाठ, दान आदिक से जो वश होते हैं सो भी अपनी अपनी वासना के अनुसार होते हैं। इनमें भी उत्तम, मध्यम और नीच होते हैं; जो उत्तम हैं वे देवताओं के स्थानों, मध्यम मनुष्यों के स्थानों और नीच नरकों के स्थानों में रहते हैं और इनकी उत्पत्ति अचैत्त्य चिन्मात्र जो दृश्य से रहित शुद्ध चैतन्य है उससे हुई है। हे रामजी! सबका अपना आप वही चैतन्यसत्ता कल्पवृक्ष की नाईं है, उसमें जैसी जैसी वासना होती है तैसा ही तैसा पदार्थ हो भासता है। हे रामजी! न कहीं पिशाच है और न जगत् है; ब्रह्मसत्ता ही ज्यों की त्यों अपने आपमें स्थित है। शुद्ध आत्मत्वमात्र में किञ्चन 'अहं' होकर फुरा है उसी को जीव कहते हैं। उस अहं की दृढ़ता से मन फुरा है सो मन ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है। उस ब्रह्मा ने मनोराज से आगे जगत् उत्पन्न किया है और ब्रह्मा ही जगत्रूप होकर स्थित हुआ है सो ब्रह्म में ब्रह्मा स्थित है। हे रामजी! ब्रह्मा का शरीर अन्तवाहक और केवल आकाशरूप है और उसके दृढ़ संकल्प से आधिभौतिक जगत् दृढ़ हुआ है—उसी मन से और मन हुआ है। हे रामजी! जैसे ब्रह्मा का शरीर अन्तवाहक है तैसे ही सबका शरीर अन्तवाहक है परन्तु संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासता है और सब मनरूप है परन्तु दीर्घकाल का स्वप्न है वह जाग्रत् होकर स्थित हुआ है इससे दृढ़ भासता है। जिनको शरीर में अहंकार है उनको जगत् आधिभौतिक भासता है और जो प्रबोधरूप हैं उनको

सब जगत् संकल्परूप है—वास्तव में कुछ उपजा नहीं, न तुम हो, न मैं हूँ, न ब्रह्मा है और न जगत् है—सब ही ब्रह्मरूप है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं; अग्नि और उष्णता में कुछ भेद नहीं और वायु और स्पन्द में कुछ भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। ब्रह्मा और जगत् दोनों अज हैं; न ब्रह्मा ही उपजा है और न जगत् ही उपजा है—दोनों ब्रह्मरूप हैं। जो ब्रह्म से भिन्न भासता है वह भ्रान्तिमात्र है। हे रामजी! पञ्चभूत और छठा मन इनका नाम जगत् है। जबतक ये भूत उसमें दृष्टि आते हैं तबतक भ्रान्ति है और जब इनसे रहित केवल चैतन्य भासे तब उसी का नाम परमपद है। हे रामजी! जब आत्मपद में जागोगे तब पञ्चभूत भी आत्मा से भिन्न न भासेंगे। सबका अधिष्ठान चैतन्यसत्ता है जबतक आत्मा का प्रमाद है तबतक संसारभ्रम न मिटेगा। सब जगत् निराकार संकल्पमात्र है परन्तु संकल्प की दृढ़ता से आकाश में स्थूलभूत दृष्टि आते हैं। ज्ञानकाल और अज्ञानकाल में जगत् उपजा नहीं परन्तु अज्ञानी को दृढ़ भासता है। जैसे मनोराज से किसी ने नगर रचा हो तो वह उसी के हृदय में है और कहीं नहीं भासता; तैसे ही जबतक जीव अज्ञाननिद्रा में सोया है तबतक जगत् भासता है पर जब जागेगा तब आकाशरूप देखेगा। हे रामजी! अपना संकल्प आपको नहीं बाँधता। जबतक स्वरूप का प्रमाद नहीं होता तबतक ब्रह्मा का संकल्प ब्रह्मा को नहीं बन्धन करता। सत्य स्वरूप भी अहंप्रत्यय से तो संकल्परूप है और दूसरी कुछ वस्तु नहीं—आत्मा ही है। वास्तव में न जगत् का आदि है, न मध्य है और न अन्त है, न जगत् का होना है और न अनहोना है—आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! जो सर्वात्मा ही है तो राग-द्वेष किसका हो? सब अपना आप ही है और अपना आप जो आत्मतत्त्व है उसका किञ्चन संवेदन फुरने से जगत्‌रूप होकर स्थित हुआ है। जैसे किसी पुरुष ने मनोराज से एक स्थान रचा और उसमें दृढ़ भावना हुई तो आधिभौतिक भासने लग जाता है; तैसे ही यह जगत् भी ब्रह्मा का संकल्प है और चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, रुद्र, वरुण और कुबेर आदिक सब संकल्परूप हैं पर संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक भासते हैं। हे रामजी! आत्मारूपी एक ताल है जिसमें चैतन्यरूपी जल है; फुरनरूपी कीचड़ है और उसमें चौदह प्रकार के भूतजातरूप दर्दुर रहते हैं सो सब संकल्पमात्र हैं। हे रामजी! आकाश में एक आकाशक्षेत्र है जिसमें शिला उत्पन्न होती हैं। स्वर्गलोक और देवता बड़ी शिला हैं; एक उनमें उज्ज्वल शिला है सो ज्ञानवान् हैं; मध्यम शिला मनुष्य हैं; नीच शिला तिर्यक् आदिक योनि हैं सो सब ही निर्बीज हैं अर्थात् कारण से रहित हैं और अद्वैत आत्मा सदा अपने आपमें स्थित है—कुछ उत्पन्न नहीं हुआ परन्तु भ्रान्ति से भिन्न भिन्न भासता है। जैसे फेन बुद्बुदे और तरङ्ग सब जलरूप हैं; तैसे ही यह जगत् सब आत्मरूप है और जैसे स्वप्न और संकल्प की सृष्टि कारण विना होती है, तैसे ही यह जगत् कारण विना संकल्प से उत्पन्न हुआ है। जैसे ब्रह्मादिक हुए हैं तैसे ही पिशाच भी उदय हुए हैं। हे रामजी! जैसा किञ्चन आत्मा में होता है तैसा ही होकर भासता है; वास्तव में पृथ्वी आदिक तत्त्व कहीं नहीं और न कहीं ब्रह्मा उपजा है, न कोई जगत् उपजा है सब भ्रममात्र हैं। जितने वपु भासते हैं वे सब निर्वपु हैं; चैतन्यता से फुरे हैं और सब जीवों का आदि अन्तवाहक शरीर है। जैसे ब्रह्मा का अन्तवाहक शरीर था, तैसे ही सर्व जीवों का अन्तवाहक शरीर होता है परन्तु संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक हो भासता है। सब जीवों का अपना अपना भिन्न भिन्न संकल्प है उसी के अनुसार अपनी अपनी सृष्टि होती है। जो तुम कहो कि भिन्न भिन्न हैं तो जीव इकट्ठे क्यों दृष्टि आते हैं; चाहिये कि अपनी अपनी सृष्टि में हों? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे एक नगरवासी और नगर में जावे और एक नगरवासी और में आवे और दोनों जाय इकट्ठे बैठें, तैसे ही सब जीव इकट्ठे भासते हैं पर उनके इकट्ठे हुए भी इसकी सृष्टि को वह नहीं देखता और उसकी सृष्टि को यह नहीं देखता जैसे स्वप्न में भिन्न भिन्न भूतजात होते हैं और अनुभव में इकट्ठे दृष्टि आते हैं और एक अनुभव में भिन्न भिन्न होते हैं; एक दूसरे की सृष्टि को नहीं जानते। जीव को अन्तवाहक

भूल गया है इससे आधिभौतिक दृढ़ हो रहा है जैसा अनुभव में अभ्यास होता है तैसा ही भासता है। जहाँ पिशाच होता है वहाँ अन्धकार भी होता है। जो मध्याह्न का सूर्य उदय हो और पिशाच आगे आवे तो अन्धकार हो जाता है ऐसा तमरूप वह होता है। जैसे उलूकादिक को प्रकाश में अन्धकार होता है तैसे ही अनेक सूर्य का प्रकाश हो तौ भी पिशाच को अन्धकार ही रहता है। हे रामजी ! जैसा उनमें निश्चय होता है तैसा ही भान होता है, क्योंकि उनका ओज तमरूप है। जैसा किसी को निश्चय होता है तैसा ही भासता है। हमको तो सदा आत्मा का निश्चय है इससे हमें सदा आत्मतत्त्व का भान होता है। जैसे पिशाच पाञ्चभौतिक शरीर से रहित चेष्टा करते हैं तैसे ही मैं पाञ्चभौतिक शरीर से रहित आकाश में चेष्टा करता रहा हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽन्तरोपाख्यानवर्णनन्नाम
द्विशताधिकपञ्चमस्सर्गः ॥ २०५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मैं चिदाकाशरूप हूँ इसलिए पाञ्चभौतिक शरीर से रहित अन्तवाहक शरीर से मैं बिचरता रहा परन्तु मुझको कोई न देखे। चन्द्रमा, सूर्य और इन्द्र जो सहस्र नेत्रवाले हैं और सिद्ध, गन्धर्व, ऋषीश्वर, मुनीश्वर, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी इस चर्मदृष्टि से मुझे न देख सकें और मैं सबको देखता फिरूँ। इन्द्र के निकट जाकर मैंने उसके अङ्ग हिलाये परन्तु उसने मुझको न जाना। जैसे संकल्पनर किसी को हिलावे और वह न देखे और आधिभौतिक शरीर न हिले तैसे ही उनके शरीर मेरे हिलाने से नहीं हिले। इससे मैं अति मोह को भास हुआ कि इतने काल मैं रहा और मुझको कोई देख नहीं सकता। तब मैंने यह इच्छा की कि मुझको सब देखें। मैं तो सत्यसंकल्परूप था इससे सब मुझे देखने लगे। जैसे कोई इन्द्रजाल को देखे तैसे ही वे मुझको देखने लगे। जिसने पृथ्वी पर देखा उसने पृथ्वी से उपजा वशिष्ठ जाना और मनुष्यलोक में कई जल से उपजा जानें कि वारिज वशिष्ठ है। कई ने वायु से उपजा जाना और कई जानें कि सप्तऋषियों के मध्य जो तेजोमय वशिष्ठ है वही है। इस प्रकार जगत् में मुझको

सब देखने लगे और मैं सबके साथ व्यवहार करने लगा। जब बहुत काल इसी प्रकार व्यतीत हुआ तब सबने भावना की दृढ़ता से पञ्चभौतिक शरीर मुझको देखा और प्रथम वृत्तान्त सबको विस्मरण हो आधिभौतिकता दृढ़ हो गई जैसे अज्ञान से जीव स्वप्ने के नर को आधिभौतिक देखता है, तैसे ही मेरे साथ उन्होंने आकार देखा पर मुझको सदा अपने स्वरूप में अहं प्रत्यय से भिन्न द्वैत कुछ न भासता था, क्योंकि मैं ब्रह्मरूप था। मेरा नाम वशिष्ठ ऐसा है जैसे रस्सी में सर्प होता है, मैं तो चिदाकाशरूप हूँ पर औरों को वशिष्ठ प्रतीति उपजी है। हे रामजी ! तुम सरीखों को मेरा आकार दृष्ट आता है पर मुझको आधिभौतिक और अन्तवाहक दोनों शरीर चिदाकाश का किञ्चन भासते हैं। मैं सदा निराकार अद्वैतरूप हूँ। चेष्टा तुम्हारी और हमारी समान है परन्तु मुझको सदा आत्मपद का निश्चय है इस कारण मैं जीवन्मुक्त होकर बिचरता हूँ अज्ञानी को क्रिया में द्वैत भासता है और हमको क्रिया में भी अद्वैत भासता है; ब्रह्मा भी ब्रह्मरूप भासता है और उसका संकल्प जो जगत् है वह भी ब्रह्मरूप है। जैसे समुद्र में तरङ्ग जलरूप हैं—भिन्न कुछ नहीं, तैसे ही ब्रह्म में जगत् ब्रह्मरूप है—भिन्न कुछ नहीं। इससे मैं चिदाकाशरूप हूँ—द्वैत कुछ नहीं फुरता। जब अहं फुरती है तब जगत् द्वैतरूप होकर भासता है जैसे अहं के फुरने से स्वप्न की सृष्टि होती है, तैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी होती है सो संकल्पमात्र है। ब्रह्मा और ब्रह्मा का जगत् संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिक की नाईं हो भासता है पर वास्तव में न ब्रह्मा उपजा है और न जगत् उपजा है चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें स्थित है और सदा एकरस है। हे रामजी ! सृष्टि की आदि से प्रलयपर्यन्त जो कुछ क्षोभ हैं उनमें आत्मा सदा एकरस है और उसमें कदाचित् क्षोभ नहीं, क्योंकि वास्तव कुछ उपजा नहीं; जो कुछ भासता है सो अज्ञान से सिद्ध है और ज्ञान से जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। जैसे स्वप्नसृष्टि में किसी को कहीं निधि भासे तो वह उसकी प्राप्ति के निमित्त यत्न करता है पर जब जागता है तो उसको स्वप्ना जान फिर उसके पाने का यत्न नहीं करता, तैसे ही जब आत्मबोध होता है

चित +
आनन्
शान्तिम

152

तब फिर इस जगत् में जगत् बुद्धि नहीं रहती। अज्ञान ही जगत् भ्रम का कारण है और उस अज्ञान के निवृत्त का उपाय यही है कि इस महारामायण का विचार करना—उसी से संसार भ्रम निवृत्त होगा। यह संसार अविद्या से वासनामात्र है, जो इसको सत्य जानकर इसकी ओर धावते हैं वे परमार्थ से शून्य हैं मूढ़ हैं, कीट हैं और वानर की नाईं चञ्चल हैं। जिनको भोगों में सदा इच्छा रहती है वे नीच पशु हैं और उनको संसार से निवृत्त होना कठिन है, क्योंकि उनके हृदय में सदा तृष्णा रहती है और वैराग्य को नहीं प्राप्त होते। हे रामजी! भोग तो ज्ञानवान् भी भोगते हैं परन्तु वे भोगबुद्धि से नहीं भोगते पर प्रवाहपतित जो कुछ प्रारब्धवेग से प्राप्त होता है उसको भोगते हैं और जानते हैं कि गुणों में गुण बर्तते हैं और इन्द्रियों सहित भोग को भ्रान्तिमात्र जानते हैं। जो अज्ञानी हैं वे आसक्त होकर भोगते और तृष्णा करते हैं और भोग की तृष्णा से उनका हृदय जलता है—इसी का नाम बन्धन है। भोग दुःखरूप हैं; जो इनको सेवते हैं वे हृदय में सदा तृष्णा से जलते हैं और उनका द्वैतरूप जगत्भ्रम कदाचित् नहीं मिटता और ज्ञानवान् सदा आत्मा से तृप्त रहते हैं इससे शान्तरूप हैं जैसे हिमालय पर्वत में सब पदार्थ शीतल हो जाते हैं तैसे ही आत्मज्ञान से हृदय शीतल हो जाता है; आत्मानन्द की प्राप्ति होती है और कोई दुःख नहीं रहता। जिनका चित्त सदा स्त्री, पुत्र और धन में आसक्त है और इच्छा करते हैं वे महामूर्ख और नीच हैं; उनको धिक्कार है। जिसको आत्मपद की इच्छा हो उसको सदा सन्तों का संग करना चाहिये और शास्त्रों को श्रवण करके विचार करना चाहिये। इस अभ्यास से आत्मपद की प्राप्ति होती है। हे रामचन्द्र! इस शास्त्र का विचार परमपद को प्राप्त करानेवाला है। जो पुरुष इस शास्त्र को त्यागकर और की ओर लगते हैं वे मूर्ख हैं। बाल्मीकिजी बोले, हे राजन्! जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब सायंकाल का समय हुआ और सर्व श्रोता परस्पर नमस्कार करके गये और सूर्य की किरणों के उदय होने से फिर आन स्थित हुए।

इति श्रीयो० अन्तरोपा० वर्णनसमाप्तिर्नामद्विशताधिकषष्ठस्सर्गः २०६॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुमको यह अन्तरोपाख्यान सुनाया है इसके विचार से जगत्भ्रम नष्ट हो जावेगा। ऐसे जब तुम विचार कर देखोगे तब अनन्त ब्रह्माण्ड आत्मा में धसते दृष्टि आवेंगे। हे रामजी! आत्मा में जगत् कुछ वास्तव नहीं हुआ इससे मिटता भी नहीं; चित्त के फुरने से भासता है; जब चित्त का फुरना अधिष्ठान में लीन हो जावेगा तब अद्वैततत्त्व आत्मा ही भासेगा। हे रामजी! अद्वैततत्त्व में जगत भ्रम से भासता है। ज्ञानवान् की दृष्टि में सदा अद्वैत ही भासता है। जगत्, मैं और तुम सब चिदाकाश हैं। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं—आत्मसत्ता ही जगत् होकर भासती है। जैसे अपना अनुभव स्वप्ने में स्वप्ने की सृष्टि हो भासता है सो अनुभवरूप ही है, तैसे ही यह जगत् भी चिदाकाशरूप है। यदि नाना प्रकार के विकार भी दृष्टि आते हैं तो भी आत्मसत्ता अनुस्यूत और अखण्डरूप है—आत्मसत्ता और जगत् में भेद कुछ नहीं। जैसे सुवर्ण और भूषणों में भेद कुछ नहीं होता, तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं ब्रह्म ही चेतनता से जगत्रूप हो भासता है। जैसे स्वप्न में अपने ही अनुभव से बहुत विस्तृत हो भासता है सो अनुभव से इतर कुछ नहीं हुए और जैसे समुद्र और तरङ्गों में कुछ भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म, जगत् और अनुभव तीनों में कुछ भेद नहीं—असम्यक्दृष्टि से भेद भासता है, सम्यक्दृष्टि से कोई भेद नहीं। हे रामजी! आत्मसत्ता में प्रथम आभास फुरा है सो ब्रह्मारूप होकर स्थित हुआ है वह ब्रह्मा चिदाकाशरूप है और वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। उसी ब्रह्मसत्ता ने अपने भाव को नहीं त्यागा और ब्रह्मारूप होकर स्थित हुई है। फिर उसने जगत् रचा इसलिये वह जगत् भी आकाशरूप है वास्तव में न जगत् उपजा है न ब्रह्मा उपजा है और न स्वप्ना हुआ है और परमार्थसत्ता सदा अपने आप में स्थित है जो शुद्ध, अनन्त, अविनाशी अचेत चिन्मात्र है और जगत् भी वही स्वरूप है। हे रामजी! मैं चिदाकाशरूप हूँ; न मेरे साथ कोई आकार है, न मैं कदाचित् उपजा हूँ और न मैं कदाचित् मृतक होता हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, अजर-अमर सदा अपने स्वभाव में स्थित हूँ और

अनेक विकारों में भी एकरस हूँ। जैसे स्वप्न में बड़े क्षोभ होते हैं तौ भी जाग्रत् वपु को स्पर्श नहीं करते, क्योंकि उसमें कुछ हुए नहीं आभासमात्र हैं; तैसे ही जगत् की उत्पत्ति-प्रलयादिक क्षोभ में आत्मसत्ता को स्पर्श नहीं होता अर्थात् वह क्षोभ से रहित सदा अनुभवरूप है। जिस पुरुष ने ऐसे अनुभव को नहीं पहिंचाना जिससे सब कुछ सिद्ध होता है और उसे छिपाया है वह महामूर्ख है और आत्महत्यारा है—वह महाआपदा के समुद्र में डूबेगा—और जिसको अपने स्वरूप में अहं प्रत्यय हुई है उसको मानसी दुःख कदाचित् नहीं स्पर्श करता। जैसे पर्वत को चूहा नहीं चूर्ण कर सकता, तैसे ही उसको दुःख नहीं स्पर्श करता। जिसको आत्मा में अहं प्रत्यय नहीं उसको शान्ति नहीं प्राप्त होती। जैसे वायुगोले में उड़ा हुआ तृण स्थिर नहीं होता, तैसे ही देह अभिमानी को कदाचित् शान्ति नहीं प्राप्त होती। जो अपने शुद्ध स्वरूप को त्यागकर देह से आपको मिला हुआ जानता है सो क्या करता है? और वह मानों चिन्तामणि को त्यागकर राख को अङ्गीकार करता है और शुद्ध चिन्मात्र अपने स्वरूप को त्यागकर देह में आत्मअभिमान करता है। हे रामजी ! जब जीव अनात्म में आत्मअभिमान करता है तब आपको विकारवान् और जन्मता मरता मानता है और जब देह अभिमान को त्यागकर आत्मा को आत्मा मानता है तब न जन्मता है, न मरता है, न शस्त्र से कटता है, न अग्नि से दग्ध होता है, न जल से डूबता है और न पवन से सूखता है—निराकार अविनाशी और चिदाकाशरूप है। हे रामजी! यदि चेतन की मृत्यु होती हो तो पिता के मरे से पुत्र भी मर जाता और एक के मरे से सभी मर जाते, क्योंकि आत्मसत्ता चेतन एक अनुस्यूत है पर एक के मरने से सब नहीं मरते; इससे चैतन्य आत्मा को मृत्यु कदाचित् नहीं। शरीर के काटे से आत्मा नहीं कटता शरीर के दग्ध हुए आत्मा नहीं दग्ध होता और सम्पूर्ण विश्व भस्म हो जावे तौ भी आत्मा भस्म नहीं होता। आत्मा नित्य, शुद्ध, अनन्त, अच्युतरूप है—कदाचित् स्वरूप से अन्यथा भाव को नहीं प्राप्त आ। हे रामजी ! मैं अहंब्रह्मरूप हूँ अर्थात् सबमें अहंरूप निराकार अखण्ड मैं हूँ; न मुझको जन्म है और न मृत्यु है; सुख की इच्छा नहीं; न कुछ हर्ष है, न शोक है, न जीने की इच्छा है और न मरने की इच्छा है। जैसे रस्सी में सर्प और सुवर्ण में भूषण कल्पित हैं तैसे ही आत्मा में वशिष्ठ नामरूप है और देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित अनन्त आत्मा; नित्य, शुद्ध और बोधरूप हूँ। सबका स्वरूप आत्मतत्त्व है परन्तु वास्तवस्वरूप के प्रमाद से और अवस्तु को प्राप्त हुए की नाईं भासता है। जो पुरुष स्वरूप में स्थित नहीं हुये वे संसारमार्ग की ओर दृढ़ हुए हैं, उनका जीना वृथा है और वे कहनेमात्र चैतन्य हैं, नहीं तो पाषाण की शिलावत् हैं। जैसे लुहार की धौंकनी से पवन निकलता है, तैसे ही उनका जीना वृथा है। वे घड़ीयन्त्र की नाईं वासना में भटकते हैं, आत्मानन्द को नहीं प्राप्त होते और सदा तपते रहते हैं। जिनको आत्मपद में स्थिति हुई है उनको दुःख कदाचित् स्पर्श नहीं करता। यदि प्रलयकाल का पवन चले और पुष्करमेघ की वर्षा हो; वा वड़वाग्नि लगे और द्वादश सूर्य तपें पर वे ऐसे क्षोभों में भी चलायमान नहीं होते, क्योंकि वे सर्वब्रह्मस्वरूप जानते हैं। जैसे तृण से पर्वत चलायमान नहीं होता, तैसे ही वे बड़े दुःखों से भी चलायमान नहीं होते। दुःख तब होता है जब आत्मा से भिन्न कुछ भासता है पर उनको तो आत्मा से भिन्न कुछ भासता ही नहीं। हे रामजी ! यह सब जगत् आत्मअनुभवरूप है, क्योंकि आत्मरूप है। जैसे स्वप्न में अनुभव से भिन्न कुछ वस्तु नहीं होती तैसे ही सब जगत् अनुभवरूप है और जो भिन्न भासता है सो भ्रान्तिमात्र है। यह जगत् जो नाना प्रकार का भासता है सो आत्मा में अव्यक्तरूप है और भ्रम से प्रकट भासता है। जैसे आकाश में नीलता भ्रम से सिद्ध है, तैसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से सिद्ध है। वास्तव में ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं; आत्मसत्ता ही जगत्रूप होकर भासती है और उसमें जैसा जैसा निश्चय होता है तैसा ही तैसा अधिष्ठानरूप हो भासता है। जिनको कारण से सृष्टि का होना दृढ़ हो रहा है उनको वैसा ही भासता है; जिनको परमाणुओं से सृष्टि उत्पन्न होने का निश्चय है उनको तैसे ही सत्य भासती है और माध्यमिक सत् असत् के मध्य वस्तु को

मानते हैं। एक चार्वाकी म्लेच्छ हैं जो चारों तत्त्वों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं; बौद्ध कहते हैं कि जो कुछ वस्तु है वह बोध है इसके अभाव हुए से शून्य है। ब्राह्मण, हाथी, गौ, श्वान, घोड़ा, सूर्यादिक में भिन्न भिन्न प्रतीत हो रही है पर जो ज्ञानवान् ब्राह्मण हैं वें सबमें एक ब्रह्मसत्ता अनुस्यूत देखते हैं। हे रामजी! वस्तु तो एक है पर उसमें जैसा निश्चय जिसको हुआ है तैसा ही भासता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु में जैसी भावना करते हैं तैसी ही सिद्धि होती है; तैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना करते हैं, तैसा ही रूप हो भासता है। हे रामजी! बुद्धिमानों से निर्णय किया है कि सारभूत आत्मसत्ता ही है; जब उसमें दृढ़ अभ्यास करोगे तब आत्मसत्ता ही भासेगी और फिर उस निश्चय से चलायमान न होगे। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! पाताल, भूतल और स्वर्ग में बुद्धिमान् कौन हैं जिनको पूर्वापर के विचार से परावर का साक्षात्कार हुआ है और आत्मस्वरूप का वे कैसे निश्चय करते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जितना जगत् है सब इन्द्रियों के विषयों की तृष्णा से जलता है और इष्ट की प्राप्ति में हर्ष और अनिष्ट की प्राप्ति में शोक करता है। ऐसा कोई बिरला ही है जो जगत् में सूर्य की नाईं प्रकाशता है; नहीं तो सब तृणवत् भोगरूपी वायु में भटकते हैं और जो सबमें श्रेष्ठ कहाता है वह भी विषयरूपी अग्नि में जलता है। जैसे कृमि अशुभ स्थानों में रहते हैं और उनसे आपको प्रसन्न मानते हैं, तैसे ही देवता भी सदा भोगरूपी अपवित्र स्थानों में आपको प्रसन्न मानते हैं सो मेरे मत में दुर्गन्ध के कृमि हैं। गन्धर्व तो मूढ़ हैं उनको तो कुछ सुधि नहीं अर्थात् आत्मपद की गन्ध भी नहीं—वे तो मेरे मत में मृग हैं। जैसे मृग को राग में आनन्द होता है, तैसे ही गन्धर्व राग से उन्मत्त रहते हैं और आत्मपद से विमुख हैं। विद्याधर भी मूर्ख हैं, क्योंकि वे वेद के अर्थरूपी चतुराई को अग्नि में जलाते हैं और वेद के सारभूत अमृत को नहीं जानते इसलिये आत्मपद से विमुख हैं। सिद्ध मेरे मत में पक्षी हैं जो पक्षी की नाईं उड़ते फिरते हैं और अभिमानरूपी पवन के चलने से अनात्मरूपी गढ़े में आन पड़ते हैं अपने वास्तवस्वरूप में स्थित नहीं होते यक्ष धन के अभिमान से मूर्ख की नाईं प्रीति कर जलते हैं और आत्मपद में स्थिति नहीं पाते। योगिनी भी मद से सदा उन्मत्त रहती हैं इससे आत्मपद में स्थिति नहीं पातीं और दैत्यों को भी सदा देवताओं के मारने की इच्छा रहती है इससे सदा शोक में रहते हैं और आत्मपद से विमुख हैं। तुम तो पहिले से ही जानते हो। मनुष्य भी आत्मपद से गिरे हुए हैं, क्योंकि सदा यही इच्छा रहती है कि गृह बनाइये और वे खाने और धन इकट्ठे करने के निमित्त यत्न करते हैं और इन्द्रियों के विषयों में डूबे हुए हैं। पाताल में नाग रहते हैं जिनका जल में भी निवास है वे सुन्दर नागिनियों में आसक्त रहते हैं इसलिए वे भी आत्मानन्द से गिरे हुए हैं। निदान जितने भूतप्राणी हैं वे सब विषयों के सुख में लगे हुए हैं और आत्मपद से विमुख हैं। सब जातों में बिरले जीवन्मुक्त भी हैं और ज्ञानवान् भी हैं—उन्हें सुनो। देवताओं में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सदा आत्मानन्द में मग्न हैं और चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, इन्द्र, धर्मराज, वरुण, कुबेर, बृहस्पति, शुक्र, नारद, कच आदि जीवन्मुक्त पुरुष हैं। सप्तऋषि और दक्षप्रजापति, सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन जीवन्मुक्त हैं और और भी बहुत मुक्त हैं। सिद्धों में कपिलमुनि; यक्षों में विद्याधर और योगिनी और दैत्यों में हिरण्यकशिपु; प्रह्लाद, बलि, विभीषण; इन्द्रजीत, स्वरमेय, चित्रासुर और नमुचि आदिक जीवन्मुक्त हैं। मनुष्यों में राजर्षि और ब्रह्मर्षि और नागों में शेषनाग; वासुकि नाग आदिक जीवन्मुक्त हैं। ब्रह्मलोक, विष्णुलोक और शिवलोक में कोई कोई बिरले जीवन्मुक्त हैं। हे रामजी! जात जात में जो जीवन्मुक्त हुए हैं सो तुमसे संक्षेप से कहे हैं और जहाँ जहाँ देखता हूँ वहाँ वहाँ अज्ञानी ही बहुत हैं ज्ञानवान् कोई बिरला दृष्टि आता है। जैसे सब जगह और वृक्ष बहुत हैं परन्तु कल्पवृक्ष बिरला होता है, तैसे ही संसार में अज्ञानी बहुत दृष्टि आते हैं; ज्ञानी कोई बिरला है। हे रामजी! शूरमा और कोई नहीं, जिनकी आत्मपद में स्थिति हुई है वही शूरमा हैं और संसार समुद्र तरना उन्हीं को सुगम है।

इति श्रीयो० निर्वाण० मुक्तसंज्ञावर्णनन्नाम द्विशताधिकसप्तमस्सर्गः २०७

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो विवेकी पुरुष विरक्तचित्त हैं और जिनकी स्वरूप में स्थिति हुई है उनके राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, अभिमान, दम्भ आदिक विकार स्वाभाविक नष्ट हो जाते हैं। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार स्वाभाविक निवृत्त हो जाता है और जैसे बाण को देखकर कौवा भाग जाता है तैसे ही विवेकरूपी बाण को देखकर विकाररूपी कौवे भाग जाते हैं। विवेकी पुरुषों के हृदय में इतने गुण स्वाभाविक आन स्थित होते हैं कि वे किसी पर क्रोध नहीं करते और जो करते भी दृष्टि आते हैं—सो किसी निमित्तमात्र जानना, उनके हृदय में सदा शीतलता और दया रहती है और जो कोई उनके निकट आता है वह भी शीतल हो जाता है, क्योंकि वे निरावरण स्थित हैं। जैसे चन्द्रमा के निकट गये से शीतल होता है तैसे ही ज्ञानवान् के निकट आये से हृदय शीतल होता है और कोई पुरुष उनसे उद्वेगवान् नहीं होता। जो कोई निकट आता है उसको वे विश्राम के निमित्त स्थान देते हैं और उसका अर्थ भी पूर्ण करते हैं। जैसे कमल के निकट भँवरा जाता है तो वे उसको विश्राम का स्थान देते हैं और सुगन्ध से उसका अर्थ पूर्ण करते हैं; तैसे ही सन्तजन अर्थ पूर्ण करते हैं। वे यथाशास्त्र चेष्टा करते हैं और हेयोपादेय की विधि को भी जानते हैं। जो कुछ उन्हें स्वाभाविक प्राप्त हो उसको वे शास्त्र की विधिसहित अङ्गीकार भी करते हैं और हृदय में सर्व की भावना से रहित हैं। उनमें दान-स्नान आदिक शुभ क्रिया स्वाभाविक होती हैं और उदारता, वैराग्य, धैर्य, शम, दम आदिक गुण स्वाभाविक होते हैं। वे इस लोक में भी सुख देनेवाले हैं और परलोक में भी सुख देनेवाले हैं। हे रामजी ! जिन पुरुषों में ऐसे गुण पाइये वे ही सन्त हैं। जैसे जहाज़ के आश्रय समुद्र से पार होते हैं, तैसे ही संसारसमुद्र के पार करनेवाले सन्तजन हैं। जिनको सन्तजनों का आश्रय हुआ है वे ही तरे हैं। सन्तजन संसारसमुद्र के पार के पर्वत हैं। जैसे समुद्र में बहुत जल होता है तो बड़े तरङ्ग उछलते हैं और उसमें बड़े मच्छर रहते हैं पर जब उसका प्रवाह उछलता है तब पर्वत उस प्रवाह को रोकता है और उछलने नहीं देता तैसे ही चित्तरूपी समुद्र में

इच्छारूपी तरङ्ग है और राग-द्वेषरूपी मच्छ रहते हैं; जब इच्छारूपी तरङ्ग का प्रवाह उछलता है तब सन्तरूपी पर्वत उसको रोकते हैं। सन्तजन अपने चित्त को भी रोकते हैं और जो उनके निकट कोई जाता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं। यदि शरीर नष्ट होने लगे अथवा नगर नष्ट होने लगे वा निकट अग्नि लगे तौ भी ज्ञानवानों का हृदय स्वरूप से चलायमान नहीं होता; वे सदा अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं। जैसे भूकम्प से सुमेरु चलायमान नहीं होता; तैसे ही वे भी चलायमान नहीं होते। यह जो मैंने तुमसे शुभगुण स्नान, दान आदि कहे हैं सो जीवों को सुख देनेवाले हैं और दुःख को निवृत्त करनेवाले हैं। इनसे सुख की प्राप्ति होती है और दुःख नष्ट हो जाता है। जब स्नान-दान की ओर मनुष्य आता है तब सन्तों की संगति में भी उसका चित्त लगता है और जब सन्तों की संगति में चित्त लगा तब क्रम से परमपद की प्राप्ति होती है। इससे मनुष्य को यही कर्तव्य है कि शास्त्र के अनुसार शुभ चेष्टा करे और सन्तों के निश्चय का अभ्यास करे। हे रामजी ! जिसको सन्तों की संगति प्राप्त होती है वह भी सन्त हो जाता है। सन्तों का संग वृथा नहीं जाता। जैसे अग्नि से मिला पदार्थ अग्निरूप हो जाता है; तैसे ही सन्तों के संग से असन्त भी सन्त हो जाता है और मूर्खों की संगति से साधु भी मूर्ख हो जाता है। जैसे उज्ज्वल वस्त्र मल के संग से मलीन हो जाता है तैसे ही मूढ़ का संग करने से साधु भी मूढ़ हो जाता है, क्योंकि पाप के वश से उपद्रव भी होते हैं, इसी से पाप के वश साधु को भी दुर्जनों की संगति से दुर्जनता आनि उदय होती है। इससे हे रामजी ! दुर्जन की संगति सर्वथा त्यागनी चाहिये और सन्तों की संगति कर्तव्य है। जो परमहंस सन्त मिले और जो साधु हो और जिसमें एक गुण भी शुभ हो उसका भी अङ्गीकार कीजिये, परन्तु साधु के दोष न विचारिये—उसका शुभगुण ही अङ्गीकार कीजिये। जैसे भँवरा केतकी के कण्टकों की ओर नहीं देखता, उसकी सुगन्ध को ग्रहण करता है। इससे हे रामजी ! संसारमार्ग को त्यागकर सन्तों की संगति करो तब संसारभ्रम निवृत्त हो जावेगा।

इति श्रीयो० नि० जीवन्मुक्तव्यवहारो नाम द्विशताधिकाष्टमस्सर्गः २०८॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! हमारे दोष तो सत्शास्त्र, सतसंग और उनकी युक्ति से और समानदुःख तीर्थ, स्नान, दान, जप और पूजा से निवृत्त होते हैं पर और जीव जो कीट, पतङ्ग, पशु, पक्षी आदिक हैं उनके दुःख कैसे निवृत्त होंगे? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो वास्तवसत्ता है उसी का नाम ब्रह्म है और वह अखण्ड अद्वैत है, उसमें कुछ द्वैत का विभाग नहीं है परन्तु उसमें जो चित्त किञ्चन आभास फुरा है सो फुरना ही नानात्व हुए की नाईं स्थित हुआ है वास्तव में कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्न में स्वप्न की सृष्टि भासती है परन्तु वास्तव कुछ हुई नहीं निद्रादोष से भासती है, तैसे ही जाग्रत् सृष्टि भी कुछ वास्तव नहीं हुई अज्ञान से जीवों को भासती है। वास्तव में सब ब्रह्मरूप है पर अपने स्वरूप के प्रमाद से जीवत्वभाव को अङ्गीकार किया है। उस अङ्गीकार करने और अनात्म देहादिक में आत्मअभिमान करके जैसा निश्चय करता है तैसी ही गति पाता है। देश, काल, क्रिया और द्रव्य का जैसा संकल्प अनुभवसत्ता में दृढ़ होता है तैसा ही भासता है। उसमें चार अवस्था कल्पित होती हैं और जैसी-जैसी भावना होती है उसके अनुसार अवस्था का अनुभव होता है। वे चार अवस्था ये हैं—एक घनसुषुप्ति; दूसरी क्षीणसुषुप्ति; तीसरी स्वप्नअवस्था और चौथी जाग्रत्। पर्वत और पाषाण घनसुषुप्ति में हैं। जैसे सुषुप्ति अवस्था में कुछ नहीं फुरता, जड़ीभूत हो जाता है; तैसे ही इसको कुछ फुरना नहीं फुरता—घनसुषुप्ति में स्थित है। वृक्ष क्षीणसुषुप्ति में स्थित हैं। जैसे क्षीणसुषुप्ति में कुछ फुरना फुरता है, तैसे ही वृक्षों में भी फुरना होता है इससे वे क्षीणसुषुप्ति में हैं। तिर्यक् जो पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जीव हैं वे स्वप्नअवस्था में स्थित हैं। जैसे स्वप्न में पदार्थ भासता है परन्तु स्पष्ट नहीं भासता तैसे ही इनको थोड़ा सूक्ष्म ज्ञान है इससे वे स्वप्नअवस्था में स्थित हैं। मनुष्य और देवता जाग्रतरूप जगत् का अनुभव करते हैं। हे रामजी! यह चारों अवस्था आत्मा में स्थित हैं। सबका अहंप्रत्ययरूप आत्मा है—बड़े का क्या और छोटे का क्या। उसमें जैसा संकल्प दृढ़ होता है तैसा ही हो भासता है। हे रामजी! हमको एक दिन व्यतीत होता है और चींटी को उसी में युग का

अनुभव होता है; हमको जो सूक्ष्म अणु होता है उनको वही पर्वत के समान भासता है। हे रामजी! स्वरूप सबका एक आत्मसत्ता है परन्तु भावना से भिन्न-भिन्न भासता है। एक कीट है जो बहुत सूक्ष्म है, जब वह चलता है तब जानता है कि मेरा गरुड़ का सा वेग है और उसको वही सत् हो रहा है। बालखिल्य का अंगुष्ठप्रमाण शरीर है उनको वही बड़ा भासता है और विराट् को वही अपना बड़ा शरीर भासता है। निदान जैसी जिसको भावना होती है तैसा ही उसको भासता है। मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी सबका अपना-अपना भिन्न-भिन्न संकल्प है; जैसा संकल्प किसी को दृढ़ हो रहा है उसको तैसा ही स्वरूप भासता है। जैसे मनुष्य राग, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि विकारों में आसक्त होता है, तैसे ही कीट, पतङ्ग, पक्षी आदि को भी होता है परन्तु इतना भेद है कि जैसे हमको यह जगत् स्पष्टरूप भासता है, तैसे उनको नहीं भासता। संसारी सब हैं परन्तु वासना के अनुसार न्यून अधिक भासता है और दुःख का अनुभव स्थावर-जङ्गम को भी होता है। जब किसी स्थान में अग्नि लगती है और उसमें वृक्ष और पाषाण जलते हैं तब उनको भी दुःख होता है परन्तु सूक्ष्म-स्थूल का भेद है। जैसे और जीव के शस्त्रप्रहार किये से शरीर नष्ट होने का दुःख होता है, तैसे ही वृक्षादिक को भी होता है परन्तु घनसुषुप्ति; क्षीणसुषुप्ति और स्वप्न-जाग्रत् का भेद है। पर्वत पाषाण को सूक्ष्म दुःख होता है; वृक्ष को पाषाण से विशेष होता है परन्तु स्पष्ट मान और अपमान का दुःख नहीं होता, स्वप्न की नाईं होता है। मनुष्य और देवताओं को स्पष्ट राग-द्वेष जाग्रत् की नाईं होता है, क्योंकि वे जाग्रत् अवस्था में स्थित हैं और वृक्ष, पाषाण आदिक को स्पष्ट दुःख का विकल्प नहीं उठता, क्योंकि वे जड़ता स्वभाव में स्थित हैं पर दुःख तो सबको होता है। और आश्चर्य देखो कि कीट महादुःखी होते हैं; जब वे मृतक होते हैं तब सुखी होते हैं। अज्ञान से जो इस शरीर में आस्था हुई है उसको भी मरना बुरा भासता है तो और जीव को भला कैसे न लगे। हे रामजी! अपने स्वरूप के प्रमाद से भय,

क्रोध, लोभ, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृषा, राग-द्वेष, हर्ष, शोक, इच्छादिक विकारों की अग्नि से जीव जलते हैं। आत्मानन्द को नहीं प्राप्त होते और घड़ीयन्त्र की नाईं वासना के अनुसार भटकते हैं। जब वासना दृढ़ पाप की होती है तब जीव पाषाण और वृक्षयोनि पाते हैं और जब क्षीण वासना तामसी होती है तब तिर्यक् पक्षी, सर्प और कीटयोनि पाते हैं। हे रामजी! राजसी वासना से जीव मनुष्य होते हैं और सात्त्विकी वासना से देवता होते हैं पर जब मनुष्य शरीर धारकर निर्वासनिक होते हैं तब मुक्ति पाते हैं। जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब जीवों के दुःख नष्ट हो जाते हैं; दुःख के नाश करने का और कोई उपाय नहीं। यह जगत् के दुःख तबतक भासते हैं जबतक आत्मज्ञान नहीं उपजा; जब आत्मज्ञान उपजता है तब जगत्भ्रम सब मिट जाता है। मुझसे पूछो तो वास्तव में न कोई देवता है; न मनुष्य है; न पशु है; न पक्षी है; न पाषाण है; न वृक्ष है और न कीट है; सब चिदाकाशरूप हैं दूसरा कुछ नहीं बना भ्रान्ति से नानास्वरूप हो भासता है और सदा सर्वदाकाल सर्वप्रकार आत्मसत्ता आपमें स्थित है। हे रामजी! न कुछ जगत् का होना है, न अनहोना है, न आत्मता शब्द है, न परमात्मता शब्द है, न मौन है, न अमौन है, न शून्य है, न अशून्य है केवल अचेत चिन्मात्र अपने आपमें स्थित है और उसमें जन्म और जन्मान्तर भ्रम से भासते हैं। जैसे स्वप्न से स्वप्नान्तर भ्रम से भासता है और जैसे स्वप्न में एक अपना आप होता है और निद्रादोष से द्वैत भासता है; तैसे ही अब भी आत्मा अद्वैत है पर अविचार से नानात्व भासता है। दुःख भी अज्ञान से भासता है विचार किये से दुःख कुछ नहीं। जो मृतक होकर उत्पन्न होता है तो शान्ति हुई दुःख कोई नहीं और जो मृतक होकर शान्त हो जाता है उपजता नहीं तो भी दुःख कोई नहीं मुक्त हुआ; जो मरता नहीं तो भी ज्यों का त्यों हुआ दुःख कोई नहीं हुआ और जो सर्व चिदाकाश है तो भी दुःख कोई न हुआ। हे रामजी! अज्ञानी के निश्चय में दुःख है पर विचार किये से दुःख कोई नहीं। यह जगत् आत्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित है परन्तु यह

जगत्‌रूपी कैसा प्रतिबिम्ब है जो अकारणरूप है। इसका कारणरूप बिम्ब कोई नहीं कारण से रहित है। जैसे नदी में नीलता का प्रतिबिम्ब पड़ता है सो अकारणरूप है, तैसे ही यह जगत् अकारणरूप है। अज्ञानी को प्रमाददोष से उसमें सत्यता है और ज्ञानी को द्वैत नहीं भासता—अज्ञानी को द्वैत भासता है। हे रामजी! हमको तो सदा चिदाकाश भासता है—हम जागे हुए हैं इससे द्वैत नहीं भासता। जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं भासता, तैसे ही हमको द्वैत नहीं भासता। जो ज्ञानी है उसको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता उसे सर्वब्रह्म ही भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थरूपवर्णनन्नाम
द्विशताधिकनवमस्सर्गः ॥ २०६ ॥

श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो कुछ तुमने कहा है सो तो मैंने जाना परन्तु नास्तिकवादी का कल्याण किस प्रकार होता है, क्योंकि वे कहते हैं कि जबतक जीव है तबतक सुख भोगे और जब मर जावेगा तब भस्मीभूत होवेगा; न कहीं आना है, न जाना है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मसत्ता आकाश की नाईं अखण्ड सर्वत्र पूर्ण है; जबतक उसका भान नहीं होता तबतक मन की तप्तता नहीं नष्ट होती। जब आत्मसत्ता का भान होता है तब शान्ति प्राप्त होती है और आपको अमर जानता है। जिस पुरुष ने अखण्ड निश्चय अङ्गीकार किया है उसको दुःख स्पर्श नहीं करता वह ब्रह्मदर्शी होता है और जिसको ब्रह्मसत्ता का निश्चय नहीं हुआ उसको मन के ताप नहीं छोड़ते और स्वरूप के प्रमाद से आपको मरता जानता है पर महाप्रलयरूप आत्मा में सर्व शब्दों का अभाव है। जैसे महाप्रलय में सर्व शब्दों का अभाव होता है; तैसे ही आत्मा में सर्व शब्दों का अभाव है। जिसको आत्मा में निश्चय हुआ है उसको सर्व शब्दों का अभाव हो जाता है और वह महाज्ञानवान् है उसको आत्मसत्ता ही भासती है। जो वास्तव है उसको हमारे उपदेश की आवश्यकता नहीं—वह ज्ञानी है। हे रामजी! आत्मसत्ता में द्वैत जगत् कुछ नहीं बना; परमार्थसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और उसमें जो सृष्टि भासती है सो स्वप्नवत् अकारण है इसलिये ज्ञानवान्

पुरुष सर्व शब्द अर्थों को सत् नहीं जानता है। ऐसा पुरुष हमारे उपदेश के योग्य नहीं, क्योंकि सर्व शास्त्रों का सिद्धान्त आत्मपद है, जो उसको जानता है उसको फिर कर्तव्य कुछ नहीं रहता। जिसको ऐसी दशा नहीं प्राप्त हुई वह उपदेश का अधिकारी है। यह जगत् आत्मा का किञ्चन है अज्ञानी को सत्य भासता है और ज्ञानी के निश्चय में कुछ नहीं। जैसे किसी ने संकल्प से एक वृक्ष रचा हो तो उसके पत्र, टास, फूल, फल उसको भासते हैं पर और के मन में शून्य होते हैं, तैसे ही अज्ञानी के निश्चय में जगत् होता है और ज्ञानी के निश्चय में विलास और आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। हे रामजी! आत्मसत्ता सर्वत्र और सर्वव्यापी है; उसमें जैसा निश्चय फुरना होता है तो अहंप्रत्यय भावना की दृढ़ता से तैसे ही भासता है। जिस पदार्थ का निरन्तर दृढ़ अभ्यास होता है तो शरीर के त्यागे से भी वही अभ्यास, धारणारूप हो जाता है पर आत्मसत्ता ज्ञानमात्र है और केवल अद्वैतसंवित् सबका अपना आप है। जिसको स्वरूप का ज्ञान होता है सो शास्त्रों के दण्ड से रहित होता है। वेद और शास्त्र जिसको भला, बुरा, सच वा झूठ वर्णन करते हैं उसमें जिस पुरुष को निश्चय होता है उसको वासना के अनुसार वे फल देते हैं और जिसके निश्चय में आत्मा से भिन्न सर्व शब्दों का अभाव होता है उसको आत्मनिश्चय में अनात्म विभागकलना भी नहीं रहती, देह रहे अथवा न रहे। हे रामजी! जिसकी संवित् जगत् के शब्द अर्थ में बँधी हुई है उसको पदार्थों में राग-द्वेष उपजता है। जैसे सुषुप्ति में भी आत्मसत्ता है पर अभाव की नाईं स्थित है; तैसे ही नास्तिकवादी भी अपने जड़स्वरूप को देखते हैं, क्योंकि उनको जड़शून्यता का ही अभ्यास है और उसी से उनकी संवित् दृश्य सुख से बेधी हुई है इससे उनका जगत्भ्रम नहीं मिटता। उस मलीन वासना से जो संवित् मिली है इससे उनको जड़ पत्थररूप प्राप्त होते हैं। उस जड़ता को भोगकर वे वासना के अनुसार फिर दुःख भोगेंगे। उस भावना से जगत् नहीं भासता पर कुछ काल पीछे चैतन्य होकर फिर उन्हीं कर्मों को भोगते हैं। जैसे सूर्य के आगे बादल आवे और फिर निवृत्त हो, तैसे ही जगत् होता है। फुरनरूप जो जीव है उसमें

जैसा निश्चय होता है तैसा ही भासता है। जिसको एक आत्मा में निश्चय होता है सो जन्म-मरण आदिक विकार से रहित होता है और जिसको नानास्वरूप जगत् में निश्चय होता है सो जन्म-मरण से नहीं छूटता। हे रामजी! जिसकी बुद्धि में पदार्थों का रङ्ग चढ़ता है वह राग-द्वेषरूपी नरक से मुक्त नहीं होता और जिसको एक आत्मा का अभ्यास होता है उसको अभ्यास के बल से सब जगत् आत्मत्व भासता है और वह राग-द्वेष से मुक्त होता है। जैसे स्वप्न में किसी को अपना जाग्रत्स्वरूप स्मरण आता है तब वह स्वप्न के सर्वजगत् को अपना आप देखता है, तैसे ही जिसको आत्मज्ञान होता है उसको सर्वजगत् अपना आपही भासता है। सर्वदा काल आत्मसत्ता अनुभवरूप जाग्रत् ज्योति है; जिसको ऐसी आत्मसत्ता में नास्तिभावना होती है वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है कि गढ़े में कीट होता है; पाषाण, वृक्ष, पर्वत आदिक स्थावरयोनि को प्राप्त होता है और उनमें चिरकाल पर्यन्त रहता है। जबतक उसकी बुद्धि को द्वैत का संयोग होता है तबतक वह जगत्भ्रम देखता है—और भ्रम नहीं मिटता पर जब उसकी संवित् को द्वैत का संयोग मिट जावे तब जगत्भ्रम निवृत्त हो जाता है। हे रामजी! सम्यक्ज्ञान से जगत् के भ्रम का अभाव हो जावेगा। अभाव का निश्चय फुरे तब फिर जगत् नहीं भासता और जब संसार के पदार्थों से संवित् बेधी हुई है तब जैसा निश्चय होगा तैसा ही प्राप्त होगा और उसी निश्चय के अनुसार गति पावेगा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! नास्तिकवादी का वृत्तान्त तो तुमने कहा सो मैंने जाना पर जिस पुरुष के हृदय में जगत् की सत्यता स्थित है और जो आत्मबोध के मार्ग से शून्य है और शुद्धस्वरूप को नहीं जानता उसके मोक्ष की क्या युक्ति है और उसकी क्या अवस्था होती है—मेरे बोध की दृढ़ता के निमित्त कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसका उत्तर मैंने प्रथम ही तुमसे कहा है पर अब फिर तुमने जो पूछा है इससे फिर कहता हूँ। प्रथम तो पुरुष का अर्थ सुनो। हे रामजी! यह जगत् नेत्रों में स्थित नहीं है, न श्रवण में है और न नासिका आदि इन्द्रियों में स्थित है—चैतन्य संवित् में स्थित है। चैतन्य

संवित् ही पुरुषरूप है; जिस पुरुष को उसमें निश्चय है सो ज्ञानवान् है और उसको द्वैतकलना नहीं फुरती और जो प्रत्यक्षदृष्टि भी आती है परन्तु उसके निश्चय में नहीं होती है। जैसे आकाश में धूलि भी दृष्टि आती है परन्तु स्पर्श नहीं करती; तैसे ही ज्ञानवान् को द्वैतकलना स्पर्श नहीं करती। जिस चैतन्य संवित् में फुरने का सम्बन्ध है उसको जगत् का आकार भासता है और जिस पुरुष की संवित् में देश, काल, क्रिया और द्रव्य का सम्बन्ध है वह कलङ्क में दृढ़ हो रहा है और जो अपने वास्तव अद्वैत स्वरूप के अभ्यास से मार्जन नहीं करता वह वास्तव चैतन्य आकाशरूप भी है तो भी कलङ्क से वासना के अनुसार जगत् उसको आपसे भिन्न भासता है—द्वैतभ्रम नहीं मिटता। हे रामजी! जो पुरुष ऐसा भी है कि देह के इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में सम रहता है पर उसे आत्मसत्ता ज्यों की त्यों नहीं भासती तो वह अज्ञानी है; आत्मसत्ता जाने विना उसका संसार निवृत्त नहीं होता। जब आत्मसत्ता का साक्षात्कार होगा तभी सब भ्रम निवृत्त होगा। हे रामजी! यह पुरुष न जीव है, न फुरन है और न शरीर के नाश होने से नाश होता है; यह केवल चिन्मात्रस्वरूप है पर वासना से भ्रम को देखता है और शून्यवादी वृक्ष, पर्वत, जड़ादिक योनि पाते हैं। जो सदा अनुभव है उसको त्यागकर जो और को इष्ट मानते हैं वे मूर्ख हैं और उनको आत्मसुख नहीं प्राप्त होता। आत्मा के प्रमाद से अहं, त्वं, भीतर, बाहर आदिक शब्द भासते हैं और जब आत्मज्ञान हुआ तब सर्वशब्द आत्मरूप हो जाता है। जिन पुरुषों ने आत्म-अनात्म को निर्णय करके नहीं देखा वे पुरुषों में नीच हैं और जिस पुरुष ने निर्णय करके आत्मा में अहं प्रतीति की है और अनात्म का त्याग किया है वह महापुरुष है और उसको मेरा नमस्कार है। जिसने अनात्मा में अहं प्रतीति की है और आत्मा को त्याग किया है वह बालक है। जैसे आकाश में बादल ही हाथी और घोड़े के आकार हो भासते हैं और समुद्र में तरङ्ग भासते हैं; तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है सो द्वैत कुछ नहीं। जैसे स्वप्न के नगर अपने-अपने अनुभव में स्थित होते हैं

और बाहर द्वैत की नाईं भासते हैं सो आभासमात्र हैं; तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है सो आभासमात्र है—वास्तव में कुछ नहीं। जिसको आत्मसत्ता का अनुभव हुआ है उसको जगत् के शब्द-अर्थ और राग-द्वेष किसी की कल्पना नहीं रहती और पुण्यपाप का फल उसको स्पर्श नहीं करता। हे रामजी! ज्ञानसंवित् का नाश कदाचित् नहीं होता इससे विश्व भी अनुभवरूप है। इस जगत् का निमित्तकारण और समवायकारण कोई नहीं, क्योंकि अद्वैत है और जो तुम कहो कि प्रत्यक्ष घटादिक समवाय और निमित्तकारण उपजते दीखते हैं; तो जैसे स्वप्न में कारण-कार्य अनहोते भासते हैं, तैसे ही यह भी जानो। प्रथम तो स्वप्न में ये बने हुए दृष्टि आते हैं और पीछे कारण से होते दृष्टि आते हैं, तैसे ही यह भी जानो—केवल भ्रममात्र है। जैसे स्वप्नदृष्टि का जागे हुए से अभाव होता है, तैसे ही ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है। यह दीर्घकाल का स्वप्न है इससे जाग्रत् कहाता है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने आप होती है—और निद्रादोष से भिन्न भासती है, तैसे ही यह जगत् अपना आप है परन्तु अज्ञान से भिन्न भासता है। जाग्रत् में ज्ञान से सब अपना आप भासता है इससे राग-द्वेष का अभाव हो जाता है। जैसे चन्द्रमा और चन्द्रमा की चाँदनी में भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं—आत्मा ही जगत्रूप हो भासता है। हे रामजी! तुम अपने अनुभव में स्थित होकर देखो कि सर्व ब्रह्मरूप है जगत् कुछ नहीं भासता—सर्वात्मकरूप है और साध्य है। जैसे शरत्काल का आकाश शुद्ध होता है तैसे ही आत्मसत्ता फुरनेरूपी बादल से परमशुद्ध और शान्तरूप है और उसमें स्थित हुए से मान और मोह का अभाव हो जाता है; किसी पदार्थ की तृष्णा नहीं रहती और प्रारब्धवेग से जो कुछ आन प्राप्त होता है उसको भोगता है। वह आत्मदृष्टि में दुःख से रहित हुआ प्रत्यक्ष आचार करता है; उसको शास्त्र का दण्ड नहीं रहता और परमशान्तरूप विराजता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे नास्तिकवादीनिराकरणं नाम द्विशताधिकदशमस्सर्गः॥ २१०॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मैं चिदाकाशरूप हूँ और द्रष्टा दर्शन दृश्य जो त्रिपुटी भासती है सो भी चिदाकाशरूप है। आत्मसत्ता ही त्रिपुटीरूप हो भासती है—दूसरी वस्तु कुछ नहीं। नास्तिकवादी जो कहते हैं कि परलोक कोई नहीं अर्थात् जो कहते हैं कि आत्मसत्ता कोई नहीं सो मूर्ख हैं। हे रामजी ! जो अनुभव आत्मसत्ता न हो तो नास्तिक किससे सिद्ध हो ? जिससे नास्तिकवाद भी सिद्ध होता है सो ही आत्मसत्ता है। जो इष्ट-अनिष्ट पदार्थ में राग-द्वेष करते हैं और आत्मा का नाश कहते हैं सो महामूर्ख हैं। जैसे जाग्रत् के प्रमाद से स्वप्न में इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष होता है और इष्ट को ग्रहण करता और अनिष्ट को त्यागता है और जागे से सब अपना ही स्वरूप भासता है और ग्रहण-त्याग और राग-द्वेष किसी पदार्थ में नहीं रहता, तैसे ही आत्मा के अज्ञान से किसी पदार्थ में राग होता है और किसी में द्वेष होता है। जब आत्मज्ञान होता है तब सब अपना ही स्वरूप भासता है और राग-द्वेष किसी में नहीं रहता। चित्त के फुरने से जगत् उत्पन्न होता है और चित्त के शान्त हुए लय हो जाता है, इससे जगत् मन में स्थित है और वह मन आत्मा के अज्ञान से हुआ है। जब आत्मज्ञान होता है तब मनुष्य, देवता, हाथी, नाग आदिक स्थावर-जङ्गम जगत् सब आत्मरूप भासता है और राग-द्वेष किसी में नहीं रहता। नास्तिकवादी जो नास्ति कहते हैं सो ही नास्ति का साक्षी सिद्ध होता है। जिससे नास्ति भी सिद्ध होता है सो अस्ति आत्मपद है; उस अस्ति अनुभव के इतने नाम शास्त्रकार कहते हैं—सत्, आत्मा, विष्णु, शिव, चिदाकाश, ब्रह्म, अहंब्रह्म और अस्मि। एक कहते हैं कि शून्य ही रहता है और एक कहते हैं कि अस्ति पद रहता है। हे रामजी ! ये सर्वसंज्ञा आत्मसत्ता ही की है, सो आत्मसत्ता अपना ही आप स्वरूप है। वही आत्मा मैं हूँ और ये अङ्ग जो मेरे साथ दृष्टि आते हैं इनको इष्ट पदार्थों से लेपन कीजिये अथवा चूर्ण करिये तो मुझको हर्ष और शोक कुछ नहीं। इनके बढ़ने से मैं बढ़ता नहीं और इनके नष्ट हुए मैं नष्ट नहीं होता। हे रामजी ! तीन शब्द होते हैं कि 'मैं जन्मा हूँ'; 'मैं जीता हूँ' और 'मैं मरूँगा'। जो प्रथम

न हो और उपजे उसको जन्म कहते हैं; मध्य में जीता कहते हैं और फिर नाश हो उसको मृतक कहते हैं, पर आत्मा में तीनों विकार नहीं हैं। आत्मा उपजा भी नहीं, क्योंकि आदि ही सिद्ध है; मृतक भी नहीं होता, क्योंकि अविनाशी है। चैतन्य आकाश सबका अधिष्ठान है और काल का भी अधिष्ठान है फिर उसका कैसे नाश हो ? वह तो उदय-अस्त से रहित है। जिसमें देश, काल, वस्तु और जगत् का किञ्चन होता है उससे आत्मा का नाश कैसे हो—इससे आत्मा अविनाशी है। हे रामजी ! जिस वस्तु को देश, काल का परिच्छेद होता है उसका नाश भी होता है सो देश, काल और वस्तु तीनों आत्मा में कल्पित हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल कल्पित होता है, तैसे ही आत्मा में तीनों कल्पित हैं। कल्पित वस्तुओं से सत्य का नाश कैसे हो ? इससे आत्मा अविनाशी और अद्वैत है उसमें दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे शून्यस्थान में वैताल कल्पित होता है, तैसे ही आत्मा में जगत् कल्पित है। उस अभावरूप जगत् में प्रमाद से एक का अभाव जानता है और एक का सद्भाव जानता है। जब इस निश्चय को त्यागकर मोक्ष हो तब शान्ति प्राप्त होगी। विचार करके देखिये तो इस संसार में दुःख कहीं नहीं। जो मरके फिर जन्म लेता है तौ भी दुःख कहीं न हुआ, क्योंकि शरीर जब वृद्ध होकर क्षीण हुआ तब उसको त्यागकर नव तनु को ग्रहण किया तो उत्साह हुआ; जो मृतक होकर फिर नहीं उपजता तौ भी आनन्द हुआ क्योंकि जब-तक जीता था तबतक ताप था। एक का भाव जानता था, एक को ग्रहण करता था और एक को त्याग करता था तिनसे तपता था। उनसे यदि छूटा तो बड़ा आनन्द हुआ और जो सर्वचिदाकाशरूप है तो भी अपना आप आनन्दरूप है दुःख कुछ न हुआ। हे रामजी ! एक प्रमाद से ही दुःख होता है और किसी प्रकार दुःख नहीं होता। यह सब जगत् आत्मरूप है और जो आत्मरूप है तो दुःख कैसे हो ? जो तुम कहो कि मैं अपने कर्मों से डरता हूँ, जो परलोक में मुझको भय का कारण होंगे तो ऐसे जानो कि बुरे कर्म का दुःख यहाँ भी होता है और परलोक में भी होगा—इससे बुरे कर्म मत करो। मैं तुमसे ऐसा उपाय

कहता हूँ जिससे तुम्हारे सर्व दुःख नष्ट हो जावें। वह उपाय यह है कि तुम जानो 'मैं नहीं'; अथवा ऐसे जानो कि 'सर्व मैं ही हूँ' और सर्व वासना त्यागकर आपको अविनाशी जानो और आत्मसत्ता में स्थित हो रहो। यह जगत् भी सब तुम्हारा स्वरूप है; जब कि ऐसे आत्मा को जानोगे तब शरीर के त्याग किये से भी कोई दुःख न रहेगा और शरीर के होते भी दुःख कहीं नहीं। यदि पूर्व शरीर को त्यागकर नूतन जन्म लिया तौ भी आनन्द हुआ, परमशान्ति हुई और जो चिदाकाशरूप है तौ भी परमआनन्द हुआ। हे रामजी! सर्व प्रकार आनन्द है परन्तु भ्रान्ति से दुःख भासता है। जब स्वरूप का साक्षात्कार होगा तब सर्वजगत् ब्रह्मानन्दस्वरूप भासेगा। हे रामजी! जिसको आत्मसत्ता का प्रकाश है सो पुरुष सदा आनन्द में मग्न रहता है और प्रकृत आचार को भी करता है परन्तु इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति में स्वरूप से चलायमान कदाचित् नहीं होता। जैसे सुमेरु पर्वत वायु से चलायमान नहीं होता, तैसे ही ज्ञानी इष्ट-अनिष्ट में चलायमान नहीं होता और परम गम्भीरता में रहता है। इससे जो कुछ आत्मा से भिन्न उत्थान होता है उसको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो रहो कि चिन्मात्रसत्ता शरत्काल के आकाशवत् निर्मल है। जब ऐसे स्वच्छ केवल और चिन्मात्र का अनुभव होगा तब जगत् द्वैतरूप होकर न भासेगा और व्यवहार में भी द्वैत न फुरेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमउपदेशवर्णनं नाम
द्विशताधिकैकादशस्सर्गः ॥ २११ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जिन पुरुषों को आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार हुआ है वह कैसे हो जाते हैं और उनका कैसा आचार होता है सो मुझसे कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे उनकी चेष्टा और जैसे उनका निश्चय है सो सुनो। सबके साथ उनका मित्रभाव होता है, बल्कि पाषाण से भी मित्रभाव होता है। बन्धुओं को वे ऐसे जानते हैं जैसे वन के वृक्ष और पत्र होते हैं और स्त्री-पुत्रादिक के साथ वे ऐसे होते हैं जैसे वन के मृग के पुत्र से होते हैं। जैसे उनमें स्नेह नहीं होता, तैसे ही पुत्रादिक में भी वे स्नेह नहीं करते और जैसे माता की पुत्र में

दया होती है, तैसे ही वे सब पर दया करते हैं और निश्चय में उदासीन रहते हैं। जैसे आकाश किसी से स्पर्श नहीं करता, तैसे ही वे किसी से स्पर्श नहीं करते और जो कुछ आपदा है वह उनको परमसुख है। जितने कुछ जगत् में रस हैं सो उनको विरस हो जाते हैं; न किसी में वे राग करते हैं और न किसी में द्वेष करते हैं। वे तृष्णा करते दृष्टि भी आते हैं परन्तु हृदय से जड़ और पत्थर की नाईं होते हैं; व्यवहार करते भी हैं परन्तु निश्चय में परमशून्य और मौन होते हैं अर्थात् सदा समाधि में स्थित होते हैं। वे सब क्रिया करते दृष्टि आते हैं सो इस प्रकार करते हैं कि सबको स्तुति करने योग्य हैं। वे यत्न से रहित सब क्रिया का आरम्भ करते भी हैं परन्तु निश्चय से सदा आपको अकर्ता मानते हैं। जो कुछ उन्हें प्रारब्धवेग से प्राप्त होता है; उसको भोगते हैं और देश काल क्रिया सबको अङ्गीकार करते हैं। जो परस्त्री आदिक अनिष्ट आ प्राप्त हों उनका त्याग भी करते हैं परन्तु निश्चय में सदा अकर्ता ज्यों के त्यों रहते हैं और सुख-दुःख की प्राप्ति में समबुद्धि रहते हैं। प्रकृत आचार में यथाशास्त्र विचरते हैं परन्तु स्वरूप से कदाचित् चलायमान नहीं होते। जैसे फूल के मारने से सुमेरु पर्वत चलायमान नहीं होता, तैसे ही दुःख-सुख की प्राप्ति में वे चलायमान नहीं होते। वे सदा स्वभाव में स्थित रहते हैं और सुख-दुःख को भोगते भी दृष्टि आते हैं, पर उनके निश्चय में कुछ नहीं होता। जैसे स्फटिकमणि के सम्मुख कोई रङ्ग रखिये तो उसमें भासता है परन्तु उसका रूप कुछ और नहीं हो जाता वह ज्यों की त्यों ही रहती है; तैसे ही सुख-दुःख के भोग ज्ञानवान् में भी दृष्टि आते हैं परन्तु वह स्वरूप से कदाचित् चलायमान नहीं होता—चेष्टा वे अज्ञानी की नाईं करते हैं परन्तु निश्चय से परमसमाधी हैं। जैसे अज्ञानी को भविष्यत् का राग-द्वेष; सुख-दुःख कुछ नहीं होता; तैसे ही ज्ञानी को वर्तमान का राग-द्वेष नहीं होता और स्वाभाविक चेष्टा उसकी ऐसे होती है। वह सबसे मित्रभाव रखता है; न उससे कोई खेदवान् होता है और न वह किसी से खेदवान् होता है। जब उसको सुख प्राप्त होता है तब रागवान् दृष्टि आता है और दुःख की प्राप्ति में द्वेषवान् दृष्टि आता है

परन्तु निश्चय से उसको हर्ष-शोक कुछ नहीं। जैसे नट स्वाँग लाता है और जैसा स्वाँग होता है तैसी ही चेष्टा करता है—राजा का स्वाँग हो अथवा दरिद्री का—परन्तु निश्चय उसे अपने स्वरूप में ही होता है; तैसे ही ज्ञानवान् में सुख-दुःख दृष्टि आते हैं परन्तु निश्चय उसका आत्मस्वरूप में ही होता है और पुत्र, धन, बान्धव आदिक को बुद्बुदे की नाईं जानता है। जैसे जल में तरङ्ग और बुद्बुदे होते हैं और फिर लीन भी हो जाते हैं परन्तु जल को कुछ राग-द्वेष नहीं होता; तैसे ही ज्ञानवान् को राग-द्वेष कुछ नहीं होता। वह सब पर दया रखता है और पतितप्रवाह में जो सुख-दुःख आन प्राप्त होता है उसको भोगता है। जैसे वायु दुर्गन्ध-सुगन्ध को साथ ले जाती है, परन्तु उसको राग-द्वेष कुछ नहीं होता तैसे ही ज्ञानवान् को राग-द्वेष कुछ नहीं होता। बाहर अज्ञानी की नाईं वह व्यवहार करता है परन्तु निश्चय में जगत् को भ्रान्तिमात्र जानता है अथवा सर्वब्रह्म जानता है। वह सदा स्वभाव में स्थित होता है और अनिच्छित प्रारब्ध को भोगता है परन्तु जाग्रत् में सुषुप्ति की नाईं स्थित है; पूर्व और भविष्यत् की चिन्तना नहीं करता और वर्तमान में बिचरता है—वह हृदय से शीतल रहता है और बाहर इष्ट-अनिष्ट दृष्टि आते हैं पर हृदय से अद्वैतरूप है। ज्ञानवान् कर्म करता है परन्तु कर्म में अकर्म को जानता है और जीता ही मृतक की नाईं है। हे रामजी! जैसे मृतक होता है और उसको फिर जगत् की कलना नहीं फुरती, तैसे ही जिसको आत्मपद में अहंप्रत्यय हुई है उसको द्वैत नहीं भासता और प्रत्यक्ष व्यवहार उसमें दृष्टि भी आता है परन्तु निश्चय में अर्थ शान्त हो गया है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह ज्ञानी के लक्षण जो आपने कहे सो उनको वही जानें और कोई नहीं जानता, क्योंकि बाहर की चेष्टा तो अज्ञानी के तुल्य ही है और हृदय से शान्तरूप हैं। ब्रह्मचर्य से भी हृदय में धैर्य होता है और तपस्या से भी राग-द्वेष कुछ नहीं फुरता। एक मिथ्या तपसी हैं कि उसी प्रकार बन बैठते हैं; उनका निश्चय सत्य है अथवा असत्य है उनको कैसे जानिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह निश्चय सत्य हो अथवा असत्य हो यह

लक्षण सन्त के ही हैं और आत्मा के साक्षात्कार का निश्चय अपने आपसे जानता है और किसी से नहीं जाना जाता इस कारण उसका लक्षण ज्ञानी ही जानता है और कोई नहीं जानता। जैसे सर्प के खोज को सर्प ही जानता है और कोई नहीं जानता; तैसे ही ज्ञानी का लक्षण सुसंवेद्य है। हे रामजी! यह जो गुण कहे हैं सो ज्ञानवान् में स्वाभाविक ही रहते हैं और दूसरे को यत्नसाध्य हैं। ज्ञानवान् को सर्व जगत् भ्रान्तिमात्र है अथवा अनुभवदृष्टि से अपना आपही भासता है इसी कारण से वह परमशान्त है और राग-द्वेष उसके निश्चय में नहीं फुरता और न वह अपने निश्चय को बाहर प्रकट करता है पर जो अधिकारी है वह उसको जानता है और जो अनधिकारी अज्ञानी है वह उसको नहीं जान सकता। जैसे वन में चन्दन की बड़ी सुगन्ध होती है परन्तु दूर से नहीं भासती, तैसे ही अज्ञानी उसके निश्चय से दूर है इस कारण वह नहीं जान सकता। चर्मदृष्टि से उसको देखे तो नहीं देख सकता और वह अधिकारी विना जनावता भी नहीं। जैसे अमूल्य चिंतामणि नीच को दीजिये तो भी उसके माहात्म्य को वह नहीं जानता, इससे उसका निरादर करता है; तैसे ही आत्मरूपी चिन्तामणि और अनधिकारी अज्ञानी उसका माहात्म्य नहीं जानता इससे उसका निरादर करता है—इसी कारण ज्ञानवान् प्रकट नहीं करते। हे रामजी! यह जो प्रकट है कि हमको अर्थ की प्राप्ति होगी; हमारा मान होगा; हमारे चेले बनेंगे और हमारी पूजा होगी उसे ज्ञानवान् गन्धर्वनगर और इन्द्रजाल की नाईं जानते हैं, फिर वे किसकी वाञ्छा करें? इस कारण वे अनधिकारी को अपना इष्ट नहीं प्रकट करते और जो कोई निकट बैठता है तो भी अपने निश्चयरूपी अङ्ग को सकुचा लेते हैं। जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सकुचा लेता है तैसे ही वह अपने निश्चयरूपी अङ्ग को सकुचा लेता है पर जिसको अधिकारी देखता है उससे प्रकट करता है। हे रामजी! पात्र में रक्खा पदार्थ शोभता है, अपात्र में रक्खा अनिष्ट हो जाता है। जैसे गौ को घास दिये से क्षीर हो जाता है और सर्प को क्षीर दिये से विष हो जाता है; तैसे ही अधिकारी को दिया उपदेश शुभ होता है

और अनधिकारी को अनिष्ट हो जाता है। हे रामजी! अणिमा आदि ले जो सिद्धियाँ हैं वे जप, द्रव्य, काल अथवा देश से सबको प्राप्त होती हैं और अभ्यास के बल से अज्ञानी को भी प्राप्त होती हैं और ज्ञानी को भी होती हैं परन्तु ये ज्ञान का फल नहीं, जप आदिक का फल है। जिसकी सिद्धि के निमित्त जो पुरुष दृढ़ होकर लगता है वही सिद्ध होता है; जो इन सिद्धियों का दृढ़ अभ्यास करता है तो उनसे आकाशमार्ग में उड़ने और आने-जाने लगता है पर यह पदार्थ तबतक रस देते हैं जबतक आत्ममार्ग से शून्य हैं। हे रामजी! परम सिद्धता इनसे नहीं प्राप्त होती। परमसिद्धि आत्मपद है। जिसको आत्मपद की प्राप्ति हुई है वह इनकी अभिलाषा नहीं करता। ऐसा पदार्थ पृथ्वी में कोई नहीं और न आकाश में देवताओं के स्थानों में ही है जिसमें ज्ञानी का चित्त मोहित हो, ज्ञानवान् को सब पदार्थ मृगतृष्णा के जलवत् भासते हैं। मेरे सिद्धान्त में तो यही है कि सदा विषयों से उपराम रहना और आत्मा को परम इष्ट जानना इसी का नाम ज्ञान है। ज्ञानी को जो प्रारब्ध से प्राप्त हो उसको करता है परन्तु करने से उसका कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता और न करने में कुछ प्रत्यवाय भी नहीं होता। न किसी अर्थ का वह आश्रय करता है; न उसके निमित्त किसी भूत का आश्रय करता है और सर्वदा वह अपने आप स्वभाव में स्थित होता है। ऐसे निश्चय को पाकर वह आश्चर्यवान् होता है और कहता है कि बड़ा आश्चर्य है कि जो सदा अपना आप स्वरूप है उसको विस्मरण करके मैं इतने काल भ्रमता रहा पर अब मुझको शान्ति प्राप्ति हुई है। जगत् को देखके वह हँसता है, क्योंकि यह जगत् आभासरूप है और अपनी ही संवित् में स्थित है। जैसे आरसी में प्रतिबिम्ब स्थित होता है, तैसे ही अपनी संवित् में जगत् स्थित है। उसको जो द्वैत जानता है और राग-द्वेष से जलता है ऐसे अज्ञानी को देखकर वह हँसता है और व्यवहार करता भी हँसता है। जैसे किसी ने स्वप्न में हाथ में सुवर्ण दिया और फिर ले लिया और इसने उसको स्वप्न जाना तो चेष्टा करता है परन्तु हँसता है और कहता है कि यह मेरा ही स्वरूप है; तैसे ज्ञानी व्यवहार करता भी अपने

निश्चय में हँसता है। जैसे किसी ग्राम में अग्नि लगे और एक पुरुष उस गाँव से निकलकर पर्वत पर जा बैठे तब वह जलतों को देखकर हँसता है; तैसे ही ज्ञानवान् पुरुष भी संसाररूपी जलते नगर से निकलकर आत्मरूपी पर्वत पर जा बैठा है और अज्ञानियों को दग्ध होता देखकर हँसता है अर्थात् आप अशोच होकर उनको सशोच देखता है। हे रामजी! जब ज्ञानवान् बोधदृष्टि से देखता है तब अद्वैतसत्ता भासती है और जब अन्तवाहक में स्थित होकर देखता है तब जैसे पदार्थ होते हैं तैसे ही उनको देखता है और आपको सदा शान्तरूप देखता है—अर्थ यह कि जो आत्मतत्त्व परमानन्दस्वरूप है उससे भिन्न जितने कुछ पदार्थ हैं सो सब दोषरूप हैं और सिद्धि से आदि लेकर जितनी क्रिया हैं वे संसार का कारण हैं। जैसे समुद्र में कई तरङ्ग बड़े और कई छोटे होते हैं परन्तु समुद्र ही में हैं जिस तरङ्ग का आश्रय करेगा वह सिद्धता को प्राप्त होवेगा और हलने, डोलने, कहने से मुक्त होवेगा; तैसे ही सिद्धता आदिक जो क्रिया हैं वे कहीं बड़े ऐश्वर्य हैं और कहीं छोटे ऐश्वर्य हैं परन्तु संसार ही में हैं जो पुरुष इस क्रिया को त्याग कर अन्तर्मुख होगा वह संसाररूपी समुद्र को त्यागकर आत्मरूपी पार को प्राप्त होगा। हे रामजी! जिस पुरुष को जिस पदार्थ का अभ्यास होता है उसको वही प्राप्त होता है। जैसे पाषाण को नित्यप्रति घिसते रहिये तो वह भी चूर्ण हो जाता है; तैसे ही जिस पदार्थ का अभ्यास करता है सो प्राप्त होता है। जिसको अभ्यास से आत्मपद प्राप्त होता है वह सर्वदा परम श्रेष्ठ हो जाता है; सब जगत् से ऊँचे विराजता है और परमदया की खान होता है। जैसे मेघ समुद्र से जल लेकर वर्षा करते हैं सो जल का स्थान समुद्र ही होता है; तैसे ही जितने कुछ दया करते दृष्टि आते हैं सो ज्ञान के प्रसाद से ही करते हैं। सर्व दया का स्थान ज्ञानवान् ही है और ज्ञानवान् सबका हृदय है। और कुछ प्रवाहपतित कार्य आन प्राप्त होता है उसको वह करता है और शरीर को दुःख आन प्राप्त होता है उसको ऐसे देखता है जैसे अन्य शरीर को होता है और अपने में सुख-दुःख दोनों का अभाव देखता है। जिनको यह अभ्यास नहीं हुआ वे शरीर के राग-द्वेष से जलते हैं और

ज्ञानी को शान्तिमान् देखकर औरों को भी प्रसन्नता उपज आती है। जैसे पुण्य करके जो स्वर्ग को गया है उसको वहाँ इष्ट पदार्थ दृष्ट आते हैं और कल्पवृक्ष की सुन्दर मञ्जरियाँ और सुन्दर अप्सरा आदिक भासती हैं जिन पदार्थों को देखकर प्रसन्नता उपजती है; तैसे ही ज्ञानवान् की संगति में जो पुरुष जाता है उसको प्रसन्नता उपज आती है। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा शीतलता उपजाता है; तैसे ही ज्ञानवान् की संगति शीतलता उपजाती है। ज्ञानवान् आत्मपद को पाकर आनन्दवान् होता है और वह कभी आनन्द दूर नहीं होता क्योंकि उसको उस आनन्द के आगे अष्टसिद्धियाँ तृण समान भासती हैं। हे रामजी! ऐसे पुरुषों का आचार और जिन स्थानों में वे रहते हैं वह भी सुनो। कई तो एकान्त जा बैठते हैं, कई शुभस्थानों में रहते हैं, कई गृहस्थी ही में रहते हैं, कई अवधूत हुए सबको दुर्वचन कहते हैं, कई तपस्या करते हैं, कई परम ध्यान लगाके बैठते हैं, कई नङ्गे फिरते हैं, कई बैठे राज्य करते हैं, कई पण्डित होकर उपदेश करते हैं, कई परम मौन धारे हैं, कई पहाड़ की कन्दराओं में जा बैठते हैं, कई ब्राह्मण हैं, कई संन्यासी हैं, कई अज्ञानी की नाईं विचरते हैं, कई नीच पामर होते हैं और कई आकाश में उड़ते हैं और नाना प्रकार की क्रिया करते दृष्ट आते हैं परन्तु सदा अपने स्वरूप में स्थित हैं। हे रामजी! जिसको पुरुष कहते हैं सो देह और इन्द्रियाँ पुरुष नहीं और अन्तःकरण चतुष्टय भी पुरुष नहीं; पुरुष केवल चिदाकाशरूप है; वह न कुछ करता है और न किसी से उसका नाश होता है। जैसे नट स्वाँग ले आता है और सब चेष्टा करता है परन्तु नटभाव से आपको असंग देखता है; तैसे ही ज्ञानवान् व्यवहार भी करते हैं परन्तु आपको अकर्ता और असंग देखते हैं; और ऐसा निश्चय रखते हैं कि हम अच्छेद, अदाह, अक्लेद, अशोष, नित्य, सर्वगत, स्थिर, अचल और सनातन हैं। हे रामजी! इस प्रकार आत्मा में जिसको अहंप्रतीति हुई है उसका नाश कैसे हो और वह बन्धायमान कैसे हो? वह पुरुष चाहे जैसे आरम्भ करे और चाहे जैसे स्थान में रहे उसको बन्धन कुछ नहीं होता। चाहे वह पाताल में चला जावे, आकाश में उड़ता फिरे अथवा देशान्तरों में भ्रमता फिरे

उसको न कुछ अधिकता है और न कुछ न्यूनता है। पहाड़ में चूर्ण हो जावे तौ भी वह चूर्ण नहीं होता। यह तो चैतन्य पुरुष है शरीर के नाश हुए इसका नाश कैसे हो? ऐसे अपने स्वरूप में वह सदा स्थित है और आकाशवत् परम निर्मल, अजर, अमर और शिवपद है। इससे हे रामजी! ऐसे जानकर तुम भी अपने स्वरूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिकद्वादशस्सर्गः॥ २१२॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक भावमात्र है; दूसरा भासमात्र है और तीसरा भासितमात्र है। भावमात्र केवल चैतन्यमात्र को कहते हैं; उसमें जो चैत्योन्मुखत्व अहंकार का उत्थान हुआ उसका नाम भास है और उसमें जो जगत् हुआ उसका नाम भासित है। भासित कल्पित का नाम है। कल्पित के नाश हुए अधिष्ठान का नाश नहीं होता; जो अधिष्ठान कुछ और भाव हो तो उसका नाश भी होवे सो तो और कुछ बना नहीं। उसके फुरने से तीन संज्ञा हुई हैं सो फुरना भी उसी का किञ्चन है। आत्मा फुरने न फुरने में ज्यों का त्यों है। जैसे स्पन्द और निस्पन्द वायु एक ही है; तैसे ही बोध अबोध में आत्मा एकही है। बोध, अबोध, फुरना, अफुरना एक रूप है। हे रामजी! वह आत्मा किससे और कैसे नाश हो? चैतन्य भी मरता हो तो इसका किञ्चन जगत् कैसे रहे? किञ्चन आभास को कहते हैं, सो आभास अधिष्ठान विना नहीं होता–इससे आत्मा का नाश नहीं होता और तुम जो चैतन्य को भी मरता मानो कि मरके फिर नहीं उपजता तौ भी आनन्द हुआ। मेरा भी यही उपदेश है कि चैतन्यता मिटे। जब चैतन्यता उपजती है तब जगत् भासता है और उसके मिटे से आत्मा ही शेष रहेगा। ब्रह्म चैतन्य का तो नाश नहीं होता। जो तुम कहो कि वह चैतन्य नाश हो जाता है–यह और चैतन्य है जिससे जगत् होता है तो हे रामजी! अनुभव तो एकही है उसका नाश कैसे मानिये? जैसे बरफ़ शीतल है चाहे किसी ठौर पान कीजिये वह सबको शीतल ही है और अग्नि उष्ण ही है चाहे जिस ठौर से स्पर्श कीजिये उष्ण ही अनुभव होता है तैसे ही आत्मा का स्वरूप चैतन्य है। वह एक अखण्डरूप है और जहाँ कोई

शिव

माइन

शक्ति

चैतन्यं
आत्म

नाश नहीं होती मगर विवते मे, पाता है

पदार्थ भासता है उसी चैतन्यता से प्रकाशता है। वह चैतन्यसत्ता स्वच्छ, निर्मल और अद्वैत सदा अपने आप में स्थित है; उसका नाश कैसे हो! जो तुम शरीर के नाश हुए आत्मा का नाश होता मानो तो नहीं बनता, क्योंकि शरीर यहाँ अखण्ड पड़ा है और वह परलोक में चेष्टा करता है और पिशाच आदिक का शरीर भी नहीं दृष्टि आता। जो शरीर विना उसका अभाव होता हो तो उनका भी अभाव हो जाता; इससे शरीर के अभाव हुए आत्मा का अभाव नहीं होता, क्योंकि शरीर के मृतक हुए कुछ चेष्टा शरीर से नहीं होती क्योंकि पुर्यष्टका जीवकला में नहीं। शरीर तो अखण्ड पड़ा है उससे कुछ नहीं होता और जीव परलोक में सुख दुःख भोगता है तो शरीर के नाश हुए नाश न हुआ। जो तुम कहो कि सब स्वभाव उसमें रहता है तो सर्वदा काल उसको क्यों नहीं देखते उसी समय आपको क्यों मृतक देखते हैं और बान्धव, भाई, जन सब उसी समय क्यों मृतक जानते हैं और जो तुम कहो कि जीवित धर्म से वेष्टित है इसी से सब अवस्था का अनुभव नहीं करता मृत्यु समय जब जीवत्वभाव नष्ट हो जाता है तब मृतक होता है जो ऐसे हो तो परलोक का अनुभव न करे तो ऐसा नहीं है क्योंकि जब शरीरपात होता है तब सब अवस्था को भी जानता है और परलोक में शब्द होता है उसका अनुभव करता है; अपने कर्म के अनुसार सुख दुःख भोगता है और देश स्थान को प्राप्त होता है। यह वार्त्ता शास्त्र से भीं प्रसिद्ध है और अनुभव करके भी प्रसिद्ध है कि मृतक को किसी ने नहीं जाना और अभाव को किसी ने नहीं जाना और जिसने जाना वह आत्मा एक अखण्ड है—इससे हे रामजी! शरीर के नाश में आत्मा का नाश नहीं होता; वह तो नित्य शुद्ध है और जैसा निश्चय उसमें होता है तैसा ही हो भासता है और जैसा मिलता है; तैसा प्रकाशता है। ऐसा जो सत्य आत्मा है वह किसी में बन्धायमान नहीं होता जैसे रस्सी में सर्प आकार भासता है पर वह रस्सी सर्प तो नहीं हो जाती जब कल्पित सर्प का अभाव हो जाता है तब रस्सी ज्यों की त्यों रहती है; तैसे ही आत्मसत्ता आकार हो भासती है परन्तु आकार तो नहीं होती जब आकार का अभाव

हो जाता है तब आत्मसत्ता ज्यों की त्यों रहती है इसी कारण बन्धायमान नहीं होती। ऐसी आत्मसत्ता में जो विकार भासते हैं सो भ्रममात्र हैं और भ्रान्ति से ही लोग दुःख पाते हैं। हे रामजी! वह जगत् आभासमात्र है और उस आभासमात्र में जो राग द्वेष आदिक फुरते हैं उनकी निवृत्ति का उपाय मैं तुमसे कहता हूँ। जो कुछ उपदेश मैंने किया है उसके विचारने से भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी और आत्मपद की प्राप्ति होगी। अभ्यास विना आत्मपद की प्राप्ति चाहे तो कदाचित् न होगी; जब बारम्बार अभ्यास करेगा तब द्वैतभ्रम मिट जावेगा और आत्मपद प्राप्त होगा। जिसका कोई नित्य अभ्यास करता है और उसका यत्न भी करता है सो प्राप्त होता है। वह कौन पदार्थ है जो अभ्यास से प्राप्त न हो। जो थककर फिरे नहीं और दृढ़ अभ्यास करे तो प्राप्त होता ही है। राज्य की लक्ष्मी तब प्राप्त होती है जब रण में दृढ़ होकर युद्ध करते हैं और जय होती है और केवल मुख से कहे कि मेरी जय हो तो नहीं होती; तैसे ही आत्मपद भी तब प्राप्त होगा जब दृढ़ अभ्यास करोगे—अभ्यास विना कहनेमात्र से प्राप्त नहीं होता। हे रामजी! इस मन के दो प्रवाह हैं एक जगत् का कारण है और दूसरा स्वरूप की प्राप्ति का कारण है। भ्रमकारी जो असत्यशास्त्र हैं और जिनमें आत्मज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा उनको त्यागो। यह जो महारामायण मोक्ष उपाय है उसमें चार वेद षट्शास्त्र और सर्व इतिहास और पुराणों का सिद्धान्त मैंने कहा है और इसके समान और न किसी ने कहा है न कोई कहेगा। ऐसा जो शास्त्र है इसके विचार में मन को लगावो तो शीघ्र ही आत्मपद को प्राप्त होगे। हे रामजी! आत्मज्ञान वर और शाप की नाईं नहीं कि कहनेमात्र से सिद्ध हो; इसकी प्राप्ति तब होगी जब बारम्बार विचार करके दृढ़ अभ्यास करोगे और जब इसकी भावना होगी तब मुक्ति को प्राप्त होगे। ऐसा कल्याण पिता, माता और मित्र भी न करेंगे और तीर्थ आदिक सुकृत से भी न होगा जैसा कल्याण बारम्बार विचारने से मेरा उपदेश करेगा। इससे और सब उपायों को त्यागकर इसी का विचार करो तो सब भ्रान्ति मिट जावेगी और शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे रामजी!

अज्ञानरूपी विसूचिकारोग है और उसमें पड़े जीव जलते हैं। जो हमारे शास्त्र को विचारेगा उसका रोग नष्ट हो जावेगा। ईश्वर की यह मूढ़ः माया है कि मिथ्याभ्रम से जीव दुःखी होते हैं। जो अपना दुःख नाश करना चाहे वह मेरा शास्त्र विचारे। जितने सुन्दर पदार्थ दृष्टि आते हैं वे सब मिथ्या हैं और उनके निमित्त यत्न करना परम आपदा है। यह सब पदार्थ आपातरमणीय हैं जो देखनेमात्र सुन्दर हैं पर भीतर से शून्य हैं। इनकी प्राप्ति में मूर्ख आनन्द मानते हैं। हे रामजी! यह पदार्थ तबतक सुन्दर भासते हैं जबतक मृत्यु नहीं आई, जब मृत्यु आवेगी तब सब क्रिया रह जावेंगी इसलिए इनके निमित्त जो यत्न करते हैं वे मूर्ख हैं। जिस काल में मृत्यु आती है उस काल कष्ट प्राप्त होता है और यदि चन्दन का लेप कीजिये तौ भी शीतल नहीं होता। जिस द्रव्य के निमित्त जीव बड़े यत्न करता है; युद्ध करता है और प्राण त्यागता है सो धन स्थिर नहीं रहता एक दिन धन और प्राणी का वियोग हो जाता है और जब वियोग होता है तब कष्ट पाता है। मैं ऐसा उपाय कहता हूँ जिसमें यत्न भी थोड़ा हो और सुगमता से आत्मपद प्राप्त हो। जब शास्त्र के अर्थ में दृढ़ अभ्यास होता है तब वह अजर, अमरपद प्राप्त होता है; इससे तुम बोधवान् हो और बोध करके अभ्यास का यत्न करो। जो यत्न न करोगे तो अज्ञानरूपी शत्रु लातें मारेगा; यदि उस शत्रु को मारना हो तो निर्मान और निर्मोह होकर आत्मपद का अभ्यास करो। हे रामजी! जो पुरुष अबतक अज्ञानरूपी शत्रु के मारने और आत्मपद पाने का यत्न नहीं करते वे परम कष्ट पावेंगे और संसाररूपी दुःख से कदाचित् मुक्त न होंगे। इस कष्ट से निकलने का यही उपाय है कि महारामायण ब्रह्मविद्या का जो उपदेश है उसको विचार करके अपने हृदय में धारणा करें। इस उपाय से भ्रान्ति मिट जावेगी। यह महारामायण उपदेश सर्वसिद्धान्तों का सार है; और शास्त्रों से आत्मपद को प्राप्त हो अथवा न भी हो परन्तु इसके विचार से अवश्य आत्मा को प्राप्त होगा। जैसे तिल की खली से तेल निकलना कठिन है और तिलों से तेल निकालिये तो निकलता है; तैसे ही मेरा उपदेश तिल की नाईं है और इतर खली की नाईं है। हे रामजी! सम्पूर्ण शास्त्रों के मुख्य सिद्धान्तों का सार जो सिद्धान्त है सो मैंने तुमसे कहा है। जो आत्मा सदा विद्यमान है उसको लोग भ्रान्ति से अविद्यमान जानते हैं इसलिये उसी के विद्यमान करने को सर्वशास्त्र प्रवर्त्तते हैं पर जो उनके विचार से आत्मपद को विद्यमान नहीं जानता वह मेरे उपदेश के विचारने से अवश्य आत्मपद को विद्यमान जानेगा यह निश्चय है। हे रामजी! और शास्त्रों के दृढ़ विचार और यत्न से जो सिद्धि होती है सो इस शास्त्र के विचार से सुख से ही प्राप्त होगी। शास्त्रकर्ता का और लक्षण न विचारना पर शास्त्र की युक्ति विचार देखनी है। जो कुछ सर्व शास्त्र का सार सिद्धान्त है सो मैंने तुमसे सुगममार्ग से कहा है। इसके विचार से इसकी युक्ति देखो अज्ञानी जो कुछ मुझको कहते हैं और हँसते हैं सो मैं सबही जानता हूँ परन्तु मेरा जो दया का स्वभाव है इससे मैं चाहता हूँ कि किसी प्रकार वे नरकरूप संसार से निकलें और इसी कारण मैं उपदेश करता हूँ। हे रामजी! मैं जो तुमको उपदेश करता हूँ सो किसी अपने अर्थ के निमित्त नहीं करता कि मेरा कुछ अर्थ सिद्ध हो। जो कोई तुमको उपदेश करता है सो सुनो; तुम्हारा जो कोई बड़ा पुण्य है वही शुद्ध संवित् होकर मलीनसंवित् को उपदेश करता है। वह संवित् न देवता है; न मनुष्य है; न यक्ष है; न राक्षस है और पिशाच आदिक भी नहीं है; केवल जो ज्ञानमात्र है सो तुमहीं हो; मैं भी वही हूँ और जगत् भी वही है और जो सर्व वही है तो वासना किसकी करनी है। हे रामजी! जीव को दुःख का कारण वासना ही है। जो पुरुष इस संसार बन्धन के दुःख की चिकित्सा अब न करेगा वह आत्महत्यारा है और बड़े दुःख में जापड़ेगा जहाँ से निकलने की सामर्थ्य न होगी इससे अबहीं उपाय करो। जबतक सर्वभाव की वासना निवृत्त नहीं होती तबतक स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता—इसी का नाम बन्धन है। जब वासना क्षय होगी तब आत्मपद की प्राप्ति होगी। जितने पदार्थ भासते हैं वे सब अविचार सिद्ध हैं, विचार किये से कुछ नहीं रहते; और जो विचार किये से न रहें उनकी अभिलाषा करनी

प्रधानं: साधकः

यद्रका

व्यर्थ है। जो वस्तु होती हो उसके पाने का यत्न भी कीजिये तो बनता है और जो वस्तु होवे ही नहीं उसके निमित्त यत्न करना मूर्खता है। यह जगत् के पदार्थ असत्यरूप हैं। जैसे शशे के सींग असत् हैं और मरुस्थल की नदी असत् होती है; तैसे ही यह जगत् असत् है। जो सम्यक्दर्शी ज्ञानवान् पुरुष है वह जानता है कि यह जगत् शशे के सींगवत् असत् और भ्रान्तिमात्र है इसलिये इसके निमित्त यत्न करना मूर्खता है। जो पदार्थ कारण विना दृष्टि आवे उसको भ्रान्तिमात्र जानिये। आत्मा जगत् का कारण नहीं इससे जगत् मिथ्या है। आत्मपद सब इन्द्रियों और मन से अतीत है और जगत् पाञ्चभौतिक है। जगत् मन और इन्द्रियों का विषय है और आत्मपद मन और इन्द्रियों का विषय नहीं तो उसे जगत् का कारण कैसे कहिये? जो अशब्दपद है सो नाना प्रकार शब्द का कारण कैसे हो और जो निराकार आत्मपद है सो पृथ्वी आदिक नाना प्रकार के भूत आकारों का कारण कैसे हो? हे रामजी! जैसा कारण होता है उससे तैसा ही कार्य उपजता है; आत्मा निराकार है और जगत् साकार है इसलिये निराकार साकार का कारण कैसे हो? जैसे वट का बीज साकार होता है इसलिये उसका कार्य वट भी साकार होता है और साकार से निराकार कार्य तो नहीं होता; तैसे ही निराकार से साकार कार्य भी नहीं होता। इससे इस जगत् का कारण आत्मा नहीं और न समवाय कारण है, न निमित्त कारण है। निमित्त कारण तब होता है जब कुछ द्वितीय वस्तु होती है। जैसे मृत्तिका से कुलाल घट बनाता है। पर आत्मा तो अद्वैत है वह निमित्त कारण कैसे हो? और समवाय कारण भी तब होता है जब साकार वस्तु होती है—जैसे मृत्तिका परिणाम से घट होता है—पर आत्मा निराकार अपरिणामी है जगत् का कारण कैसे हो? दोनों कारणों से जो रहित भासे उसे जानिये कि भ्रान्तिमात्र है जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के आकार भासते हैं सो कारण विना भासते हैं इसलिये वे भ्रान्तिमात्र हैं; तैसे ही यह जगत् भी कारण विना भ्रान्तिमात्र भासता है। आत्मा में जगत् कदाचित् नहीं हुआ। जैसे

[illegible]

[illegible] जाता है

Force Shakti

प्रकाश में तम नहीं होता, तैसे ही आत्मा में जगत् नहीं। यदि तुम कहो कि तो फिर भासता क्या है तो उसी का किञ्चन भासता है जो वही रूप है जैसे चलती है तौ भी वायु है और ठहरती है तौ भी वायु है, चलने और ठहरने में कुछ भेद नहीं होता और जैसे आकाश और शून्यता में भेद कुछ नहीं होता तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं है—वही आत्मसत्ता फुरने से जगत्रूप हो भासती है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं और कुछ द्वैत वस्तु है नहीं। जो लोग कहते हैं कि जगत् कर्मों से होता है सो असत्य है, क्योंकि कर्म भी बुद्धि से होते हैं सो आत्मा में बुद्धि ही नहीं तो कर्म कैसे हो और जो कर्म ही नहीं तो जगत् कैसे हो? जैसे शशे के सींग के धनुष से बाण चलाना असत्य है, तैसे ही कर्म से जगत् का होना असत्य है। एक कहते हैं कि सूक्ष्म परमाणु से जगत् हो जाता है पर यह भी असत्य है, क्योंकि जो सूक्ष्म परमाणु परिणाम से जगत्रूप हुए होते तो बुद्धिरूप जगत् न भासता पर यह तो बुद्धिरूप क्रिया होती दृष्टि आती है। जो परमाणु से जगत् होता तो इनहीं से बढ़ता जाता, क्योंकि जो परमाणु जड़ हैं वही बढ़ते हैं पर ऐसे तो नहीं होता; बुद्धिपूर्वक चेष्टा होती दृष्टि आती है, इसी से कहा है कि वे असत्य कहते हैं, क्योंकि सूक्ष्म भी किसी से उत्पन्न हुआ चाहिये और कोई उसके रहने का स्थान भी चाहिये पर आत्मा में देश, काल और वस्तु तीनों कल्पित हैं। जो आत्मा में ये न हुए तो परमाणु कैसे हो और जगत् कैसे हो? आत्मा अद्वैत है इससे जगत् न उपजा है और न नष्ट होता है। जो जगत् उपजा होता तो नष्ट भी होता, जो उपजा ही नहीं तो वह नष्ट कैसे हो? आत्मसत्ता ज्यों का त्यों अपने आपमें स्थित है। इससे हे रामजी! मैं, तुम और सब जगत् आकाशरूप है किसी के साथ आकार नहीं—सब निराकाररूप है। जो तुम कहो कि फिर बोलते चालते क्यों हैं? तो जैसे स्वप्न में सब आकाशरूप होते हैं पर नाना प्रकार की चेष्टा करते दृष्टि आते हैं और बोलते-चालते हैं; तैसे ही यह भी बोलते-चालते हैं परन्तु आकाशरूप हैं। तुम्हारा जो स्वरूप

और जगत [illegible]

How to compare concrete with abstract.

स्वामी जी की धारना

(1)

है सो भी सुनो। देश को त्यागकर देशान्तर को जो संवित् जाता है और उसके मध्य जो ज्ञानसंवित् है वही तुम्हारा स्वरूप है। वह अनामय और सर्व दुःख से रहित है। जैसे जब जाग्रत् दशा को त्यागकर जीव स्वप्ने में जाता है तो जाग्रत् त्याग दिया हो और स्वप्ना न आया हो मध्य में जो अचेत चिन्मात्र सत्ता है वही तुम्हारा स्वरूप है; उसमें पण्डितों और ज्ञानवानों का निश्चय है और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक उसी में स्थित रहते हैं उनको कदाचित् उत्थान नहीं होता। जैसे बरफ़ से अग्नि कदाचित् नहीं उपजती, तैसे ही उनको स्वरूप से उत्थान कदाचित् नहीं होता। वह आत्मसत्ता न उपजती है; न विनशती है और न और की और होती है—सर्वदा अपने स्वभाव में स्थित है। हे रामजी! जितना कुछ जगत् तुम देखते हो सो वास्तव में कुछ उपजा नहीं—भ्रम से भासता है। जैसे स्वप्ने में नाना प्रकार के आरम्भ होते दृष्टि आते हैं और जागे से उनका अत्यन्त अभाव भासता है, तैसे ही यह जगत् भी है। आदि जो अद्वैत तत्त्व में स्वप्ना हुआ है उसमें ब्रह्मा उपजे और उन्होंने आगे जगत् रचा सो ब्रह्मा भी आकाशरूप है स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं हुआ—सब असत्यरूप है। जैसे स्वप्ने में नदी और पर्वत दृष्टि आते हैं परन्तु कुछ उपजे नहीं; अनुभवसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है; तैसे ही ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त जगत् सब असत्यरूप है जिसको तुम ब्रह्मा कहते हो वह वास्तव में कुछ उपजे नहीं तो जगत् की उत्पत्ति मैं तुमसे कैसे कहूँ? जैसे मरुस्थल की नदी ही उपजी नहीं तो उसमें मछलियाँ कैसे कहिये? तैसे ही आदि ब्रह्मा नहीं उपजा तो उसमें जगत् कैसे उपजा कहिये? केवल आत्मचैतन्यसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और यह जगत् भी वही रूप है परन्तु अज्ञान से विपर्ययरूप भासता है। जैसे स्वप्न में पुरुष अनुभवरूप होता है और अपने प्रमाद से नाना प्रकार के पदार्थ और पर्वत, जल, पृथ्वी, जन्म, मरणादिक विकार देखता है परन्तु हुआ कुछ नहीं आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है और अज्ञान से भासते हैं; तैसे ही इस जगत् को भी जानो—आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं सब चिदाकाशरूप है और अज्ञान से आत्मसत्ता ही जगत्रूप हो भासती है। इससे हे

709.

(1) शब्द
(2) स्पर्श
(3) रूप
(4) रस
(5) गंध

रामजी! जिसके अज्ञान से यह जगत् भासता है और जिसके ज्ञान से निवृत्त हो जाता है ऐसे आत्मतत्त्व के पाने का यत्न करो। वह नित्य, शुद्ध और परमानन्दस्वरूप है और सदा अपने स्वभाव में स्थित है और वही तुम्हारा अनुभवरूप है जो सदा अनुभव करके प्रकाशता है और उसमें स्थित होने में क्या कायरता करनी है? हे रामजी! जितना प्रपञ्च है सो सब भ्रान्तिमात्र है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रान्तिमात्र है तैसे ही आत्मा में जगत् भ्रममात्र है इससे उसको त्यागकर अपने स्वभाव में स्थित हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वपदार्थभाववर्णनं नामत्रयोदशाधिकद्विशततमस्सर्गः ॥ २१३ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस प्रकार यह जगत् आभास फुरा है और भासता है सो भी सुनो। आदि जो शुद्धअचेत चिन्मात्र है उसमें जब चेतनता फुरती है तब वह वेदन होती है और उसमें शब्दतन्मात्रा होती है फिर उसमें आकाश उत्पन्न होता है और फिर स्पर्श की इच्छा होती है तब वायु उपजती है। जब आकाश में उत्थान होता है तब उस वायु और आकाश के संघर्षणभाव से अग्नि उपजती है और जब अग्नि में उष्णस्वभाव होता है तब जल उत्पन्न होता है अर्थात् जब तेज की अधिकता होती है तब जल उत्पन्न हो आता है। जब स्वेदवत् जल बहुत इकट्ठा होता है तब उसमें पृथ्वी उत्पन्न होती है। इस प्रकार आकाश और वायु से जल और पृथ्वी ये उत्पन्न होते हैं तब तत्त्वों से शरीर उपजते हैं और स्थावर जङ्गम और नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आता है सो सब पाञ्चभौतिक हैं और वास्तव में न पञ्चभूत हैं; न कोई उपजता है और न नष्ट होता है केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार का जगत् आरम्भ परिणाम सहित भासता है परन्तु वास्तव में कुछ उपजा नहीं आत्मसत्ता ही जगत् आरम्भ परिणाम सहित भासता है परन्तु वास्तव में कुछ उपजा नहीं आत्मसत्ता ही चित्त के फुरने से जगत्रूप हो भासती है; तैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी जानो। हे रामजी! यह जगत् सब अपना अनुभवरूप है पर भ्रम करके आकारसहित भासता है और जब भली प्रकार विचार के

शब्दब्र

देखिये तब जगत्भ्रम मिट जाता है केवल चैतन्य आत्म तत्त्वमात्र शेष रहता है। जैसे निद्रादोष से स्वप्ने में नाना प्रकार के क्षोभ भासते हैं और जब जागता है तब एक अपना आपही भासता है; तैसे ही आत्मसत्ता में जागे से अद्वैत ही अद्वैत भान होता है। हे रामजी! जो बोधसमय में द्वैत कुछ न भासे तो अबोध समय भी जानिये कि द्वैत कुछ नहीं हुआ और जो बोध के समय सत्य भासे तो जानिये कि सर्वदाकाल यही सत्ता है। हे रामजी! यह निश्चय धारो कि जगत् कुछ वस्तु नहीं—जैसे आकाश में नीलता; किरणों में जल और रस्सी में सर्प भासता है, तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और विचार किये से कुछ नहीं पाया जाता। हे रामजी! अपनी कल्पना ही जीव को जगत्रूप हो भासती है और कुछ नहीं। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अपनी कल्पनारूप है परन्तु निद्रादोष से भिन्न हो भासती है और उसमें राग-द्वेष उपजता है पर जागे से सब क्षोभ मिट जाते हैं; तैसे ही अज्ञान से जगत् सत्य भासता है और उसमें राग-द्वेष भासते हैं—ज्ञान से सब शान्त हो जाते हैं। हे रामजी! यह जगत् भ्रममात्र है; ज्ञानवान् के निश्चय में सब चिदाकाश है और अज्ञानी के निश्चय में जगत् है। यदि बड़े क्षोभ प्राप्त हों तौ भी ज्ञानवान् को चला नहीं सकते क्योंकि उसके निश्चय में कुछ द्वैत नहीं फुरता, वह सदा एकरस रहता है। यदि प्रलयकाल के मेघ गर्जें; समुद्र उछलें और पहाड़ के ऊपर पहाड़ पड़ें; ऐसे भयानक शब्द हों तौ भी ज्ञानवान् के निश्चय में कुछ द्वैत नहीं फुरता। जैसे कोई पुरुष सोया पड़ा हो तो उसके स्वप्ने में बड़े क्षोभ होते हैं और जाग्रत् को निकट बैठे भी नहीं भासते; तैसे ही ज्ञानवान् के निश्चय में द्वैत कुछ नहीं भासता, क्योंकि है नहीं और अज्ञानी को होते भासते हैं। जैसे वन्ध्या स्त्री स्वप्ने में अपने पुत्र को देखती है सो अनहोता भ्रम से उसको भासता है तैसे ही अज्ञानी को अनहोता जगत् सत्य होकर भासता है। हे रामजी! भ्रम से अनहोता जगत् भासता है और होते का अभाव भासता है। जैसे वन्ध्या अनहोते पुत्र को देखती है और पुत्रवाली स्वप्ने में पुत्र का अभाव देखती है; तैसे ही अज्ञान से अनहोता जगत् सत् भासता है और सदा अनुभवरूप आत्मा का अभाव भासता है सो भ्रम से ही और का और भासता है। जैसे दिन में सोया हुआ स्वप्ने में रात्रि देखता है और रात्रि को सोया हुआ स्वप्ने में दिन देखता है; शून्यस्थान में नाना प्रकार के व्यवहार और अन्धकार में प्रकाश देखता है सो भ्रम से ही देखता है और पृथ्वी पर सोया है और स्वप्ने में आकाश पर दौड़ता फिरता है और आपको गढ़े में गिरता देखता है सो भी भ्रम से ही भासता है; तैसे ही यह जाग्रत् जगत् को विपर्ययरूप भ्रम से ही देखता है। जाग्रत् और स्वप्ने में कुछ भेद नहीं; जैसे स्वप्ने में मुये भी बोलते चालते दृष्टि आते हैं। हे रामजी! जैसे स्वप्ने में तुमको नाना प्रकार का जगत् भासता है और जागकर कहते हो सब भ्रममात्र था; तैसे ही हमको यह जाग्रत जगत् भ्रममात्र भासता है। जैसे जल और तरङ्ग में कुछ भेद नहीं, तैसे ही जाग्रत् और स्वप्ने में कुछ भेद नहीं। जैसे दो मनुष्य एक ही से होते हैं और दो सूर्य हों तो उनमें कुछ भेद नहीं होता, तैसे ही जाग्रत् और स्वप्ने में कुछ भेद न जानना। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! स्वप्ने की प्रतिभा अल्पमात्र भासती है और शीघ्र ही जागकर कहता है कि भ्रममात्र थी और जाग्रत् दृढ़ होकर भासती है पर तुम दोनों को समान कैसे कहते हो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस प्रतिभा का प्रत्यक्ष अनुभव होता है सो जाग्रत् कहाती है और जिसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता और चित्त में स्मृति होती है वह स्वप्न है। वह जाग्रत् और स्वप्न दो प्रकार का है—जिसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह जाग्रत् है और उसमें जब सो गया तब स्वप्न हुआ उस स्वप्ने में जगत् भासि आया तो जहाँ जगत् भासि आया वही उसकी जाग्रत् होगई और जहाँ से सोया था वह स्वप्न होगया। वहाँ जो स्वप्न भासित हुआ उसको जाग्रत् जानो और लोगों से चेष्टा करने लगा जब वहाँ से मृतक हो गया फिर उसमें आया तो पिछले को स्वप्न जानने लगा तो चित्त के भ्रम से स्वप्ने को जाग्रत् देखा और जाग्रत् को स्वप्न देखा। हे रामजी! सो यह क्या हुआ? जैसे किसी को स्वप्न आया और उसमें अपनी चेष्टा और व्यवहार करने लगा और फिर उसमें स्वप्न हुआ उस स्वप्नान्तर से जागा

फिर उस स्वप्ने में आया तो उसको स्वप्न जानने लगा और उस स्वप्ने को जाग्रत् जानने लगा। हे रामजी! जैसे वह स्वप्नान्तर से जागकर उसको स्वप्न कहता है और स्वप्ने को जाग्रत् कहता है, तैसे ही यहाँ जाग्रत् स्वप्नरूप है और आगे जो होता है वह स्वप्नान्तर है। एक और प्रकार है कि जो इस जाग्रत् में मृतक हुआ शरीर छूट गया तब परलोक देखता है सो परलोक जाग्रत् होगया और इस जाग्रत् को स्वप्न जानने लगा। जैसे स्वप्न से जागा स्वप्ने को भ्रम कहता है, तैसे ही इस जाग्रत् को परलोक में भ्रम जानता है। फिर परलोक में स्वप्न आया तब परलोक की जाग्रत् स्वप्नवत् होगई और जो स्वप्ने में सृष्टि भासी उसको जाग्रत् जानता है। फिर वहाँ से मृतक होकर यहाँ आया तब यह जाग्रत् होगई और परलोक स्वप्न होगया। इससे हे रामजी! स्वप्न और जाग्रत् दोनों मिथ्या हैं। जब मूर्ख स्वप्ने से जागते हैं तब वे जानते हैं कि इसका नाम जागना है और इसको जाग्रत् मानते हैं और उसको स्वप्न जानते हैं। पर वास्तव में वह स्वप्नान्तर है और यह स्वप्न है। इसमें जो तीव्रसंवेग हो रहा है इससे उसको जाग्रत् जानते हैं और उसको स्वप्न जानते हैं पर दोनों तुल्य हैं कुछ भेद नहीं। आत्मा में दोनों असत्यरूप हैं और इनकी प्रतिभा भ्रममात्र भासती है। आत्मा न कदाचित् उपजता है; न मरता है और उपजता भी है और मरता भी है। उपजता इस कारण से नहीं कि पूर्व सिद्ध है और मरता इस कारण नहीं कि भविष्यत्काल में भी सिद्ध है। परलोक में सुख दुःख भोगता है और भ्रमकाल में जन्मता भी है और मरता भी है सो प्रत्यक्ष भासता है पर वास्तव में ज्यों का त्यों है। हे रामजी! यह जगत् उसका आभास है और चैत्य का चमत्कार चैतन्य होकर भासता है। जैसे घट मृत्तिकारूप है—मृत्तिका से भिन्न नहीं; तैसे ही चेतन भी चैतन्यरूप है। चैतन्य से भिन्न जगत् नहीं—स्थावर-जङ्गम जगत् सब चिन्मात्र है। हे रामजी! जैसे तुमको स्वप्न आता है और उसमें पत्थर और पहाड़ भासते हैं सो तुम्हारा ही अनुभवरूप हैं भिन्न तो नहीं; तैसे ही यह दृश्य सब चिन्मात्ररूप है। जैसे घट मृत्तिका से भिन्न नहीं; तैसे ही जगत् चिदाकाश से भिन्न

नहीं। जैसे काष्ठ के पात्र काष्ठ से भिन्न नहीं सब काष्ठ ही रूप हैं; तैसे ही जगत् चैतन्यरूप है—चैतन्य से भिन्न नहीं। जैसे पाषाण की मूर्ति पाषाणरूप है; तैसे ही जगत् भी चैतन्यरूप है जैसे समुद्र ही तरङ्गरूप हो भासता है; तैसे ही चैतन्य जगत्रूप हो भासता है जैसे अग्नि उष्णरूप है, तैसे ही चैत्यचैतन्यरूप है जैसे वायु स्पन्दरूप है तैसे चैतन्य चैत्यरूप है जैसे वायु निस्स्पन्दरूप है तैसे चैतन्य चैत्यरूप है; जैसे पृथ्वी घनरूप होती है और आकाश शून्यरूप होता है—जहाँ शून्यता है वहाँ आकाश है—तैसे ही जहाँ चैत्य है तहाँ चैतन्य है। जैसे स्वप्न में शुद्ध संवित् पहाड़ और नदियाँरूप हो भासती हैं; तैसे ही चिन्मात्रसत्ता जगत्रूप हो भासती है। हे रामजी! जो कुछ पदार्थ तुमको भासते हैं उनको त्यागकर आत्मा की ओर देखो। यह सब विश्व आत्मरूप है। शुद्ध चिदाकाशरूप निर्दुःख आकाश से भी निर्मल है; ऐसे जानकर उसमें स्थित हो। हे रामजी! जब तुमको स्वभावसत्ता का अनुभव साक्षात्कार होगा तब सर्वद्वैतकलना जो भासती है सो शान्त हो जावेगी और केवल आत्मतत्त्वमात्र शेष रहेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नैकताप्रतिपादनं
नाम चतुर्दशाधिकद्विशततमस्सर्गः ॥ २१४ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! चिदाकाश कैसा है जिसको तुम परब्रह्म कहते हो और उसका क्या रूप है? तुम्हारे अमृतरूपी वचनों को पान करता मैं तृप्त नहीं होता इससे कृपा करके कहिये। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जैसे एक माता के गर्भ से दो पुत्र जोड़े उत्पन्न होते हैं और उनका एकसा आकार होता है पर जगत् के व्यवहार के निमित्त उनका नाम भिन्न-भिन्न होता है और भेद कुछ नहीं और जैसे दो पात्रों में जल रखिये तो जल एक ही है और पात्रों के नाम भिन्न-भिन्न होते हैं तैसे ही स्वप्न और जाग्रत् दो नाम हैं परन्तु एक ही से हैं पर आत्मा में दोनों कल्पित हैं और जिसमें दोनों कल्पित हैं सो चिदाकाश है। वृत्ति जो फुरती है और देशदेशान्तर को जाती है उसके मध्य में जो संवित् ज्ञानरूप है कि जिसके आश्रय वृत्ति फुरती है सो चिदाकाश संवित् है और वृत्त जो

रस को खैंचकर ऊर्ध्व को जाते हैं सो उसी के आश्रय जाते हैं—ऐसी जो सत्ता है सो चिदाकाशरूप है। हे रामजी! जैसे सर्ववृक्ष फूल, फल, टास आदि सहित रस के आश्रय फुरते हैं, तैसे ही यह सब जगत् चिदाकाश के आश्रय फुरता है और उसी के आश्रय वृत्ति फुरती है—ऐसी जो सत्ता है सो चिदाकाश है। जिसकी इच्छा सब निवृत्त हो गई है और राग-द्वेषरूपी मल शरत्काल के आकाशवत् निवृत्त हो गया है और शुद्ध संवित् है उसको चिदाकाश जानो। हे रामजी! जगत् का जब अन्त हुआ पर जड़ता नहीं आई उसके मध्य जो अद्वैत सत्ता है सो चिदाकाश है; बेल, फूल, फल, गुच्छे और वृक्ष जिसके आश्रय बढ़ते हैं सो चिदाकाश है और रूप, अवलोक, मनस्कार इन तीनों का जहाँ अभाव है—ऐसी जो शुद्धसंवित् है—वह चिदाकाश है। पृथ्वी, पर्वत और नदियाँ सबका जो आश्रय है सो चिदाकाश है और द्रष्टा, दृश्य, दर्शन; ये तीनों जिससे उपजे हैं और फिर जिसमें लीन होते हैं ऐसी जो अधिष्ठान सत्ता है सो चिदाकाश है। जिससे सब उपजते हैं; जो यह सब है और जिसमें सब है; ऐसा सर्वत्मा चिदाकाश है और अर्द्धरात्रि को जो उठता है और इन्द्रियों की चपलता का विषय से अभाव होता है और उस काल में अफुरसत्ता होती है सो चिदाकाश है। हे रामजी! जिस संवित् में स्वप्न की सृष्टि फुरती है और फिर जाग्रत् भासती है और दोनों के करनेवाले में शोभता है सो चिदाकाश है। जैसा फुरना होता है, तैसा ही जगत् में भासता है और वही द्रष्टा, दर्शन, दृश्य होकर भासता है दूसरा कुछ नहीं। आत्मरूपी सूत्र में असत्य-सत्य जगत्रूपी मणि पिरोये हुए हैं। जिसके आश्रय इनका फुरना होता है वह चिदाकाश है। हे रामजी! जिसके आश्रय एक निमेष में जगत् उपजता है और उन्मेष में लीन हो जाता है, ऐसी जो अधिष्ठान सत्ता है उसको चिदाकाश जानो। यह सब जगत् मिथ्या है और भ्रान्ति से भासता है जैसे मरुस्थल की नदी भासती है। इससे जो रहित है और जिसमें संकल्प-विकल्प का क्षोभ नहीं और सदा अपने आपमें स्थित और दुःख से रहित निर्विकल्प सत्ता है वही चिदाकाश है। हे रामजी! नेति नेति से जो पीछे अनाद्यपद शेष

रहता है उसको तुम चिदाकाश जानो। शुद्ध चैतन्य आत्मसत्ता सबका अपना आप और सबका अनुभवरूप होकर प्रकाशता है। उसमें जैसा फुरना होता है कि ये ऐसे हैं तैसा ही हो भासता है सो चिदाकाशरूप है। इससे शुद्ध आत्मसत्ता ही फुरने से जगत्रूप हो भासती है। जैसे जाग्रत् के अन्त में अद्वैतसत्ता होती है और फिर उससे स्वप्न की सृष्टि भासि आती है पर स्वप्न की सृष्टि वास्तव कुछ नहीं उपजी वही अनुभव स्वप्न की सृष्टि हो भासती है; तैसे ही यह जगत् जो कार्यरूप दृष्टि आता है सो अविद्या से भासता है वास्तव में कुछ उपजा नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि अकारण भासती है, तैसे ही यह सृष्टि अकारण है। ब्रह्मा से आदि चींटीपर्यन्त सब स्थावर-जङ्गमरूप जगत् चिदाकाशरूप है कुछ उत्पन्न नहीं हुआ और जो दूसरा कुछ न हुआ तो कारण-कार्य भी कुछ न हुआ। हे रामजी! न कोई द्रष्टा है, न कोई दृश्य है, न भोक्ता है और न भोग है सब कल्पनामात्र है। आत्मा के अज्ञान से कल्पना उठती हैं और आत्मज्ञान से लीन हो जाती हैं—जैसे समुद्र के जाने से तरङ्ग-कल्पना मिट जाती है, क्योंकि अनुभव आत्मा में कारण-कार्य कुछ नहीं हुआ। जो तुम कहो कि कारण-कार्य क्यों भासते हैं तो जैसे इन्द्रजाल की बाजी में नाना प्रकार के पदार्थ दृष्टि आते हैं परन्तु वास्तव कुछ नहीं बने, तैसे ही यह जगत् कारण-कार्य कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही नगररूप हो भासता है; तैसे ही यह जगत् भासता है। हे रामजी! आत्मसत्ता ही फुरने से जगत् की नाईं भासती है। जिस जगत् को इदम् रूप कहते हैं वह अहंरूप है; जिसको समुद्र कहते हैं वह भी अहंकाररूप है; जिसको रुद्र कहते हैं वह अपना ही अनुभवरूप है इत्यादिक जो सब जगत् भासता है सो भावनामात्र है। जैसी जिसकी भावना दृढ़ होती है तैसा ही रूप होकर भासता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पतरु में जैसी भावना होती है, तैसा ही सिद्ध होता है; तैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना होती है तैसी ही हो भासती है। इससे जब चिदाकाश का निश्चय दृढ़ होता है तब अज्ञान से जो विरुद्ध भावना हुई थी सो निवृत्त हो जाती है।

शिव

इति श्रीयो० जगन्निर्वाणवर्णनं नामपञ्चदशाधिकद्विशततमस्सर्गः २१५॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जब मन थोड़ा भी फुरता है तब यह जगत् उत्पन्न हो आता है और जब फुरने से रहित होता है तब जगत् भावना मिट जाती है इस प्रकार जो जानता है सो ज्ञानवान् है; वह पुरु इन्द्रियों से देखता, सुनता, ग्रहण करता भी निर्वासनिक हो जाता है और जगत् की ओर से घनसुषुप्त होता है। हे रामजी ! जिसका मन निर्वासनिक और शान्त हुआ है वह बोलता, चालता, खाता, पीता भी पाषाणवत् मौन हो जाता है—इससे यह जगत् कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जैसे मृगतृष्णा की नदी अनहोती भासती है और भ्रम से आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासता है; तैसे ही मन के भ्रम से आत्मा में जगत् भासता है; आदिकारण से कुछ नहीं उत्पन्न हुआ। जिसका आदिकारण न पाइये वह कारण भी असत्य जानिये इससे सब जगत् कारण विना ही भासता है उपजा कुछ नहीं। हे रामजी! जो पदार्थ कारण विना भासता है और जिसमें भासता है वह अधिष्ठानसत्ता है, क्योंकि जो अधिष्ठान में भासित होता है उसको भी वही रूप जानिये और जो अधिष्ठान से व्यतिरेक भासे उसे भ्रममात्र जानिये। जैसे स्वप्न में इन्द्रियादिक पदार्थ भासते हैं और उसमें दृश्य दर्शन सब मिथ्या हैं हुआ कुछ नहीं, तैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी मिथ्या है, न कुछ उपजा है, न स्थित हुआ है; न आगे होना है और न नाश होता है। जो उपजा ही नहीं तो नाश कैसे हो? न कोई द्रष्टा है; न दर्शन है और न दृश्य है; केवल चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्य क्या है और कैसे भासता है? यह आगे भी कहा है और अब फिर भी कहिये। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! यह दृश्य सब अदृश्यरूप है; अकारण ही दृश्य हो भासता है और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य जो कुछ जगत् विस्तारसहित भासता है सो आदिस्वरूप है। जैसे स्वप्न में आकाश का वन भासे और और पदार्थ भासें सो सब चिदाकाशरूप हैं; तैसे ही यह जगत् भी चिन्मात्र रूप है—कारण-कार्यभाव कहीं नहीं। जैसे वायु स्पन्दरूप होती है तब भासती है और निस्पन्द हुए नहीं भासती; तैसे ही आत्मा में जब चित्त फुरता है तब आत्मसत्ता जगत्रूप हो भासती है सो वही आत्मसत्ता भाव में अभावरूप है। जैसे आकाश में शून्यता है; तैसे ही आत्मा में जगत् आत्मरूप है इससे जो कुछ भासता है सो चैतन्य का आभास प्रकाश है और परमार्थसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है। इससे इतर कहिये तो न द्रष्टा है और न दृश्य है आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों है। रामजी ने पूछा, हे ब्राह्मण, ब्रह्म के वेत्ता ! जो इसी प्रकार है तो कारण-कार्य का भेद कैसे होता दीखता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसा-जैसा फुरना उसमें होता है तैसा ही तैसा रूप हो भासता है चैतन्य आकाश ही जगत्रूप हो भासता है और कहीं न कारण है; न कार्य है। जैसे स्वप्नसृष्टि कारण-कार्यसहित भासती है सो किसी कारण से नहीं उपजी—अकारणरूप है; तैसे ही यह सृष्टि किसी कारण से नहीं उपजी अकारणरूप है। न कहीं कर्ता है और न भोक्ता है केवल भ्रम से कर्ता-भोक्ता भासता है और स्वप्न की नाईं विकल्प उठते हैं—वास्तव में ब्रह्मसत्ता ही है। हे रामजी ! जैसे स्वप्न में नगर और जगत् भासता है सो चिदाकाश अनुभवसत्ता ही ऐसे हो भासती है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही यह जगत् सम्पूर्ण चिदाकाश है। जब ऐसे जानोगे तब जगत् भी ब्रह्मतत्त्व भासेगा। हे रामजी ! यह जगत् चित्त के फुरने से उपजा है। जैसे मूर्ख बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पता है तैसे ही चित्तभ्रम से जगत् को कल्पता है पर इसका कारण ब्रह्म ही है और कारण कहीं नहीं, क्योंकि महाप्रलय में चिदाकाश ही रहता है सो कारण किसका हो? वही सत्ता इन्द्र, रुद्र, नदियाँ, पर्वत आदि जगत् हो भासता है और उससे भिन्न द्वैतरूप कुछ नहीं। इसमें जैसा-जैसा फुरना होता है तैसा ही रूप भासता है। जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष में जैसी भावना होती है तैसा ही रूप भासता है; तैसे ही आत्मसत्ता में जैसी भावना होती है तैसा ही पदार्थरूप हो भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कारणकार्याभाववर्णनं नाम
षोडशाधिकद्विशततमस्सर्गः ॥ २१६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अचैत चिन्मात्र जो आकाशरूप आत्मसत्ता है सो ही जगत्रूप हो भासती है। शुद्धचिन्मात्र में जब अहंफुरना

होता है तब जगत् हो भासता है। वही अहंरूप जीव है जगत् में जीवता दृष्टि आता है परन्तु मृतक की नाईं स्थित है और तुम, मैं आदिक सब जगत् जीवता, बोलता, चलता और व्यवहार करता भी दृष्टि आता है परन्तु काष्ठ मौनवत् स्थित है। आत्मरूपी रत्न का जगत्‌रूपी चमत्कार है और वह प्रकाश आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे आकाश में तरुवरे; मरुस्थल में जल और धुयें के पर्वत मेघ भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र है तैसे ही यह जगत्‌लक्षण भी भासता है परन्तु वास्तव में कुछ नहीं अवस्तु है-उपजा कुछ नहीं। हे रामजी! चित्तरूपी बालक ने जगत् जालरूपी सेना रची है सो असत्य है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदिक भूत भ्रान्तिमात्र हैं और उनमें सत्य प्रतीति करनी मूर्खता है। बालक की कल्पना में सत्य प्रतीति बालक ही करते हैं और जो इस जगत् का आश्रय करके सुख की इच्छा करते हैं वे मानो आकाश के धोने का यत्न करते हैं और उनका सर्व यत्न व्यर्थ है। यह सब जगत् भ्रान्तिरूप है; इसमें जो आस्था करके इसके पदार्थ पाने का यत्न करते हैं सो जैसे बंध्या स्त्री के पुत्र पाने का यत्न करे सो व्यर्थ है, तैसे ही जगत् में जो सुख के पाने का यत्न करते हैं सो व्यर्थ यत्न है। हे रामजी! यह पृथ्वी आदिक जो सम्पूर्ण भूत पदार्थ भासते हैं सो भ्रान्तिमात्र हैं और जो भ्रान्तिमात्र हैं तो इनकी उत्पत्ति किससे और कैसे कहिये? जो मूर्ख बालक हैं उनको पृथ्वी आदिक जगत् के पदार्थ सत्य भासते हैं ज्ञानवान् को ये सत्य नहीं भासते और अज्ञानी को सत्य भासते हैं पर उनसे हमको क्या प्रयोजन है? जैसे सोये को स्वप्न में आत्म अनुभवसत्ता ही पृथ्वी, पहाड़ और नदियाँ जगत् हो भासता है पर वे सब आकार भासते भी निराकाररूप हैं तैसे ही यह जगत् आकारसहित भासता है परन्तु आकार कुछ बना नहीं निराकार सत्ता ही जगत्‌रूप हो भासती है और यह जगत् निराकार ही है पर और कुछ नहीं आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणेऽभावप्रतिपादनन्नाम
सप्तदशाधिकद्विशततमस्सर्गः ॥ २१७ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि जगत् अविद्यमान है पर अज्ञान से स्वप्न की नाईं सत्य भासता है इससे विद्यमान भी है और जैसे स्वप्ने का नगर शून्यरूप है तैसे ही यह जगत् अज्ञानरूप है सो अज्ञान क्या है और कितने काल की अविद्या हुई है; किसको है और इसका प्रमाण क्या है सो कहिए? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ तुमको जगत् दृष्टि आता है सो सब अविद्या है। वह अविद्या अनन्त है और देश और काल से इसका अन्त कदाचित् नहीं होता। जिसको अपने वास्तव स्वरूप का अज्ञान है उसको सत् दिखाई देती है इस पर एक इतिहास है सो सुनिये। हे रामजी! आत्मरूप चिदाकाश के अणु में अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं। उनमें से एक ब्रह्माण्ड इसी का सा है और उस ब्रह्माण्ड के जगत् में तुरमत नाम एक देश है जिसका राजा विपश्चित् था। वह एक समय अपनी सभा में बैठा था और उसके चारों दिशा में उसकी बड़ी तेजवान् सेना उपस्थित थी। वह अग्नि देवता के सिवा और किसी देवता को न पूजता था और बड़ी लक्ष्मी से शोभित और बहुत गुणों और ऐश्वर्य से सम्पन्न था। एक काल में वह सभा में बैठा था कि पूर्व दिशा की ओर से हरकारा आया और उसने कहा, हे भगवन्! तुम्हारा जो पूर्व दिशा का मण्डलेश्वर था वह जरा से मृतक होके मानो यम को जीतने गया है इससे पूर्व दिशा की रक्षा करो, क्योंकि वहाँ और मण्डलेश्वर आता है। हे रामजी! इस प्रकार वह कहता ही था कि दूसरा हरकारा पश्चिम से आया और कहने लगा कि हे भगवन्! तुमने जो पश्चिम दिशा का मण्डलेश्वर किया था सो तप से मृतक हो गया है और वहाँ एक और मण्डलेश्वर आता है इसलिये वहाँ की रक्षा करो। हे रामजी! इस प्रकार दूसरा हरकारा कह रहा था कि एक और हरकारा आया और उसने कहा कि हे भगवन्! दक्षिण दिशा का मण्डलेश्वर पूर्व-पश्चिम की रक्षा के निमित्त गया था सो मार्ग ही में मृतक हुआ इससे दोनों की रक्षा के निमित्त सेना भेजो, क्योंकि एक शत्रु आया है और विलम्ब का समय नहीं है शीघ्र ही सेना भेजिये। हे रामजी! इस प्रकार सुनकर राजा बाहर निकला और कहने लगा

कि सब सेना मेरे पास होकर दिशाओं की रक्षा के निमित्त जावे और बड़े-बड़े शस्त्र, हाथी, घोड़े, रथ आदिक सेना ले जावो। हे रामजी! इस प्रकार राजा कहता ही था कि एक और पुरुष आया और बोला कि हे भगवन्! उत्तर दिशा की ओर जो तुम्हारा मण्डलेश्वर था उसके ऊपर और शत्रु आ पड़ा है और बड़ा युद्ध होता है इससे उसकी रक्षा के निमित्त शीघ्र ही सेना भेजो अब विलम्ब का समय नहीं है और आगे कई दुष्ट चले आते हैं। मैं फिरा जाता हूँ, क्योंकि मेरा स्वामी युद्ध करता है। हे रामजी! इस प्रकार कहकर वह चला गया तब द्वारपाल ने आकर कहा कि हे भगवन्! उत्तर दिशा का मण्डलेश्वर आया है आज्ञा हो तो ले आऊँ। राजा ने कहा, ले आवो। वह उसे ले आया और उस मण्डलेश्वर ने राजा के सम्मुख आकर प्रणाम किया। राजा ने देखा कि उसके अङ्ग टूट गये हैं और मुख से रुधिर चला जाता है पर ऐसी अवस्था में भी उस धैर्यसंयुक्त मण्डलेश्वर ने कहा कि हे भगवन्! मेरे अङ्गों की यह दशा हुई है। मैं तुम्हारा देश रखने को चला था पर मेरे ऊपर शत्रु आन पड़ा और मेरी सेना थोड़ी थी इस कारण दौड़कर तुम्हारे पास आया हूँ कि प्रजा की रक्षा करो। हे रामजी! जब इस प्रकार उसने कहा तब राजा ने सब मन्त्रियों को बुलाया। मन्त्री राजा के पास आये और बोले, हे भगवन्! अब तीन उपाय छोड़ो और एक उपाय करो अर्थात् एक नम्रता, दूसरा धन देना और तीसरा बुद्धि का भेद ये तीनों अब नहीं चाहिये। ये दुष्ट नम्रता माननेवाले नहीं हैं क्योंकि नीच और पापी हैं और धन इस कारण न देना चाहिये कि ये आधीन हैं और भेदभाव भी नहीं जानते, क्योंकि सब मिलके इकट्ठे हुए हैं इससे ये तीनों उपाय छोड़ो और एक उपाय करो कि युद्ध हो। अब विलम्ब का समय नहीं है, क्योंकि उनकी सेना निकट आई है। अब उत्साहसहित कर्म करना है प्राणों की रक्षा नहीं चाहिये। हे रामजी! जब इस प्रकार मन्त्रियों ने कहा तब राजा ने आज्ञा की कि सब सेना मेरी आज्ञा से उनके सम्मुख जावे और निशान, नगारे, हस्ती, घोड़ा, रथ, पियादे सेना के साथ जावें। इस प्रकार जब राजा ने कहा

तब सब विद्यमान सेना आन स्थित हुई और नौबत-नगारे बजने लगे। जब नाना प्रकार के शस्त्रोंसहित चारों प्रकार की सेना इकट्ठी हुई तब राजा ने कहा, हे साधो! तुम आगे जावो। सेना आगे हो उसके पीछे सेनापति जावें और शत्रुओं के साथ युद्ध करो मैं भी स्नान करके आता हूँ। हे रामजी! इस प्रकार कहकर राजा ने मन्त्री को भेजा और आप गङ्गाजल से स्नानकर एक स्थान में अग्नि का कुण्ड था उसके निकट जाकर हवन करने लगा। जब अग्नि प्रज्वलित हुई तब राजा ने कहा; हे भगवन्! इतना काल मुझको व्यतीत हुआ है कि यथाशास्त्र मैं विचरता रहा; अपनी प्रजा सुखी रक्खी; अभय राज्य किया; शत्रु को नाश करके सिंहासन के नीचे दबाया और आप सिंहासन पर बैठा हूँ। पातालवासी दैत्य भी मैंने जीत रक्खे हैं; दशों दिशाएँ अपने अधीन की हैं; सातों समुद्रपर्यन्त सब मेरे भय से काँपते हैं और सब ठौर में मेरी कीर्ति हो रही है। रत्नों के स्थान मेरे भरे हुए हैं और वस्त्र, सेना, घोड़े और हाथी भी बहुत हैं। मैंने बड़े भोग भी भोगकर बड़े-बड़े दान भी किये हैं और सिद्ध और देवताओं में भी मेरा यश हुआ है। निदान सब ओर मेरा यश हुआ है; शरीर भी बूढ़ा हुआ है और क्षोभ भी बड़ा प्राप्त हुआ है इससे अब मेरा जीने से मरना भला है। हे भगवन्! मैं तुमको शीश निवेदन करता हूँ; कृपा करके लो। यदि मुझपर प्रसन्न होना तब एक की चार मूर्ति देना कि चारों ओर जाऊँ और जहाँ मुझको कुछ कष्ट हो वहाँ दर्शन देना। हे रामजी! इस प्रकार कहकर उसने खड्ग निकाला और अपना शीश काटकर अग्नि में डाल दिया तब धड़ भी आप ही अग्नि में जा पड़ा और शीश धड़ दोनों भस्म हो गये अथवा अग्नि ने भक्षण कर लिये। तब उसी की सी चार मूर्ति निकल आईं और उनके उसी के से आकार, वस्त्र, भूषण, मुकुट और कवच पहिरे और नाना प्रकार के शस्त्र धारे हुए उदय हुए। हे रामजी! इस प्रकार बड़े तेजसंयुक्त चारों राजा विपश्चित् प्रकट भये और रथ, हस्ती, घोड़े, प्यादे और चारों प्रकार की सेना भी प्रकट हुईं। निदान चारों ओर से शत्रु युद्ध करने लगे और बड़ा युद्ध होने लगा। नगर जलने लगे, बड़ा

हाहाकार शब्द होने लगा और शूरवीर युद्ध में प्राण को त्यागते और उछल-उछलकर लड़ते थे। बड़े रुधिर के प्रवाह चलते थे, खड्ग और बरछी की वर्षा होती थी और अग्नि का अट्ट-अट्ट शब्द होता था—मानो समय विना ही प्रलय होने लगा है। निदान बड़ा युद्ध हुआ जो सूरमा थे वे युद्ध में मरने को जीना मानते थे और जीने को मरना जानते थे; ऐसा निश्चय धरके वे युद्ध करते थे और जो कायर थे वे भाग जाते थे—जैसे गरुड़ के भय से सर्प भाग जाते हैं और सूरमे सम्मुख होकर लड़ते थे। इस प्रकार बड़ा युद्ध होने लगा और रुधिर की नदियाँ चलीं जिनमें हाथी, घोड़े, रथ और सूरमे बहते जाते थे और बड़े-बड़े वृक्ष और नगर गिरते और बहते जाते थे। मांसभक्षण के निमित्त योगिनी भी आ उपस्थित हुईं। जो-जो युद्ध में मृतक हो उसको अप्सरा और विद्याधरी विमान पर चढ़ाकर स्वर्ग को ले जाती थीं। हे रामजी! इस प्रकार जब युद्ध हुआ तब राजा विपश्चित् की सेना सब शून्य हो गई अर्थात् थोड़ी हो गई। राजा ने सुना कि सेना बहुत मारी गई है इसलिये उसने सवार होकर देखा कि सेना थोड़ी रह गई है इससे एक-एक राजा एक एक ओर को गया अर्थात् चारों राजा चारों ओर गये और विचार करने लगे कि यह महागम्भीर सेनारूपी समुद्र है, इसमें शस्त्ररूपी जल है, धाररूपी तरङ्ग है और सूरमेरूपी मच्छ हैं। ऐसा जो समुद्र है उसको अगस्त्य होकर मैं पान करूँ—ऐसे विचारकर उसने उद्यम किया, क्योंकि शत्रु की विशेष सेना देखी—एक तो आगे ही को चली आवें, दूसरे बहुत सूरमे तेज से सेना को जलावें और तीसरे बहुत सेना आवे। ऐसी तीन प्रकार की सेना के राजा ने तीन उपाय किये। प्रथम उसने वायव्यास्त्र हाथ में लिया और परमात्मा ईश्वर को नमस्कार कर और मन्त्र पढ़के पवन का अस्त्र चलाया। इससे अँधेरी आगई और जितनी सेना आगे चली आती थी वह सब उलटी उड़ने लगी। फिर उसने मेघरूपी अस्त्र चलाया तब वर्षा होने लगी और उससे जो तेज उनकी सेना को जलाता था वह शीतल हो गया। उसके अनन्तर उसने शिवअस्त्र चलाया, उसमें से प्रथम शस्त्रों की नदी चली, फिर त्रिशूलों की

नदी चली, फिर चक्रों की नदी चली, फिर वज्र की नदी चली, बरछी की नदी चली; बिजली की नदी चली और अग्नि इत्यादिक की नदी चली और दूसरे शस्त्रों और अस्त्रों की वर्षा हुई। जब इस प्रकार नदियाँ चलीं तब जो कुछ सेना सम्मुख आती थी सो मृतक हो गई। जैसे कमलिनी काटी जाती है तैसे ही शूरवीर काटे गये। कोई पहाड़ों की कन्दराओं में गिरें और वहाँ से उड़कर समुद्र में जा पड़ें और कोई सुमेरु की कन्दराओं में जाकर छिपें और समुद्र में जाकर डूबें—जैसे अज्ञानी विषयों में डूबते हैं। इस प्रकार दोनों ओर से सेना शून्य हुई और चारों दिशाओं की सेना नष्ट हो गई। नीच से नीच देशों के और पहाड़ की कन्दराओं के रहनेवाले सब बहते जावें। हे रामजी! कई शस्त्रों से और कई आँधी से उड़े सो सब क्षेत्रों में जा पड़े और कई वन में और कई नीचे देशों में गिरे। जो पुण्यवान् थे वे उत्तम क्षेत्र में जा पड़े और मृतक होकर वे स्वर्ग में गये और पापी नीच देशों में जा पड़े उससे दुर्गति को प्राप्त हुए। कई पिशाच हुए, कितनों को विद्याधरियाँ ले गईं और कई ऋषीश्वरों के स्थानों में जीतकर जा पड़े उनकी उन्होंने रक्षा की। इसी प्रकार कितने बाणों से छेदे हुए नाश हुए और कई रुधिर की नदियों में बहते समुद्र की ओर चले गये। हे रामजी! जब सब सेना शून्य हो गई तब आकाश शुद्ध हुआ। जैसे ज्ञानी का मन निर्मल होता है तैसे ही आकाश अधिक क्षोभ से रहित भया। जब सब सेना शून्य हो गई तब चारों राजा आगे चले। हे रामजी! निदान चारों विपश्चित् चारों दिशाओं के समुद्रों पर जा पहुँचे, तब उन्होंने क्या देखा कि बड़े गम्भीर समुद्र हैं; कहीं रत्न और कहीं हीरा, मोती इत्यादिक चमकते हैं और बड़े गम्भीर समुद्र में बड़े मच्छ और तरङ्ग उछलते हैं और रेती में नाना प्रकार के लौंग, इलायची, चन्दन इत्यादिक के वृक्ष समुद्र पर जाकर देखे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चित्समुद्रप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकाष्टादशस्सर्गः ॥ २१८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब इस प्रकार राजा विपश्चित् समुद्र के पार जा पहुँचा तब उसके साथ जो मन्त्री पहुँचे थे उन्होंने राजा को

सब स्थान दिखाये जो बड़े गम्भीर थे। बड़े गम्भीर समुद्र जो पृथ्वी के चहुँफेर वेष्टित थे वह भी दिखाये और बड़े-बड़े तमालवृक्ष; बावलियाँ; पर्वतों की कन्दरा; तालाब और नाना प्रकार के स्थान दिखाये। ऐसे स्थान राजा को मन्त्री ने दिखाकर कहा, हे राजन्! तीन पदार्थ बड़े अनर्थ और परमसार के कारण हैं—एक तो लक्ष्मी, दूसरा आरोग्य देह और तीसरा यौवनावस्था। जो पापी जीव हैं वे लक्ष्मी को पाप में लगाते हैं, देह आरोग्यता से विषय सेवते हैं और यौवन अवस्था में भी सुकृत नहीं करते, पाप ही करते हैं और जो पुण्यवान् हैं वे मोक्ष में लगाते हैं अर्थात् लक्ष्मी से यज्ञादिक शुभकर्म और आरोग्य से परमार्थ साधते हैं और यौवन अवस्था में भी शुभकर्म करते हैं—पाप नहीं करते। हे रामजी! जैसे समुद्र और पर्वत के किसी ठौर में रत्न होते हैं और किसी ठौर में दर्दुर होते हैं; तैसे ही संसाररूपी समुद्र में कहीं रत्नों की नाईं ज्ञानवान् होते हैं और कहीं अज्ञानीरूपी दर्दुर होते हैं। हे राजन्! यह समुद्र मानो जीवन्मुक्त है, क्योंकि जल से भी मर्यादा नहीं छोड़ता और रागद्वेष से रहित है। किसी स्थान में दैत्य रहते हैं; कहीं पंखोंसंयुक्त पर्वत; कहीं वड़वाग्नि और कहीं रत्न हैं परन्तु समुद्र को न किसी स्थान में राग है; न द्वेष है। जैसे ज्ञानवान् को किसी में रागद्वेष नहीं होता परन्तु सबमें ज्ञानवान् कोई बिरला होता है। जैसे जिस सीपी और बाँस से मोती निकलते हैं सो बिरले ही होते हैं, तैसे ही तत्त्वदर्शी ज्ञानवान् कोई बिरला होता है। हे रामजी! सम्पूर्ण रचना यहाँ की देखो कि कैसे पर्वत हैं जिनके किसी स्थान में पक्षी रहते हैं; किसी स्थान में विद्याधर रहते हैं; कहीं देवियाँ विलास करती हैं; कहीं योगी रहते हैं और कहीं ऋषीश्वर, मुनीश्वर; कहीं ब्रह्मचारी, वैरागी आदिक पुरुष रहते हैं। यह द्वीप है और सात समुद्र हैं जिनके बड़े तरङ्ग उछलते हैं और पर्वत का कौतुक और आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, तारे, ऋषि, मुनि को देखो और देखो कि सबको आकाश ठौर दे रहा है पर महापुरुष की नाईं आप सदा असंग रहता है और शुभ-अशुभ दोनों में तुल्य है। स्वर्गादिक शुभस्थान हैं और चाण्डाल पापी नरकस्थान और अपवित्र हैं परन्तु आकाश दोनों में तुल्य है—असंगता से निर्विकार है। जैसे ज्ञानी का मन सब स्थानों से निर्लेप होता है, तैसे ही आकाश सब पदार्थों से असंग और न्यारा है और महात्मा पुरुष की नाईं सर्वव्यापी है। हे आकाश! तू कैसा है कि प्रकाशरूप है तुझमें अन्धकार दृष्टि आता है—यह आश्चर्य है। हे आकाश! तू सबका आधारभूत है और जो तुझको शून्य कहते हैं वे मूर्ख हैं; दिन को तुझमें श्वेतता भासती है; रात्रि को अन्धकार भासता है और संध्याकाल में तेरे में लाली भासती है पर तू तीनों से न्यारा है। ये तीनों राजसी, तामसी और सात्त्विकी गुण हैं पर तू इनके होते भी असंग है। हे आकाश! तू निर्मल है और तम तेरे में दृष्टि आता है परन्तु तू सदा ज्यों का त्यों है। यह अनित्यरूप है। चन्द्रमा तेरे में शीतलता करता है, सूर्य दाहक होते हैं; तीर्थआदिक पवित्र स्थान हैं और पापमय अपवित्र स्थान हैं परन्तु तू सबमें एक समान ज्यों का त्यों रहता है और वृक्ष को बढ़ने और ऊँचे होने की सत्ता तू ही देता है। अपनी महिमा को तू आप ही जाने और कोई तेरी महिमा पा नहीं सकता। तू निष्किञ्चन अद्वैत है; सबको धार रहा है और सबका अर्थ तुझसे ही सिद्ध होता है। जल नीचे को जाता है और तू सबसे ऊँचा है और विभु है। अनेक पदार्थ तेरे में उत्पन्न होते और नष्ट हो जाते हैं पर तू सदा ज्यों का त्यों रहता है। जैसे अग्नि से चिनगारे उफजते और अग्नि ही में लीन हो जाते हैं; तैसे ही तेरे में अनन्त जगत् उपजते और लीन होते हैं और तू सदा ज्यों का त्यों रहता है। जो तुझको शून्य कहते हैं वे मूढ़ हैं। हे राजन्! ऐसा आकाश कौन है सो भी सुनो। ऐसा आकाश आत्मा है जो चैतन्य आकाश है और जिसमें अनन्त जगत् उत्फन्न और लीन हो जाते हैं। उसको जो शून्य कहते हैं वे महामूर्ख हैं—जो सबका अधिष्ठान है; सबको धार रहा है और सदा निःसंग है ऐसे चिदाकाश को नमस्कार है। हे राजन्! यह आश्चर्य है कि वह सदा एकरस है पर उसमें नाना तरङ्ग भासते हैं—यही माया है। हे राजन्! एक विद्याधरी और विद्याधर थे। उनके मन्दिर में एक ऋषि आ निकला पर उस विद्याधर ने उनका आदरभाव न किया

इससे ऋषीश्वर ने शाप दिया कि तू द्वादशवर्ष पर्यन्त वृक्ष होगा। निदान वह विद्याधर वृक्ष हो गया। पर अब जो हम आये हैं हमारे देखते ही वह शाप से मुक्त हो वृक्षभाव को त्यागकर फिर विद्याधर हुआ है। यह ईश्वर की माया है कि कभी कुछ हो जाता है और कभी कुछ हो जाता है। हे मेघ! तू धन्य है! तेरी चेष्टा भी सुन्दर है; तीर्थों में सदा तेरी स्थिति है; तू सबसे ऊँचे विराजता है और सब आचार तेरा भला दृष्टि आता है परन्तु एक तुझमें नीचता है कि ओले की वर्षा करता है जिससे खेतियाँ नष्ट हो जाती हैं और फिर नहीं उगतीं। तैसे ही अज्ञानी की चेष्टा देखनेमात्र सुन्दर है और हृदय से मूर्ख हैं; उनकी संगति बुरी है और ज्ञानवान् की चेष्टा देखने में भली नहीं तौ भी उनकी संगति कल्याण करती है। हे राजन्! सबमें नीच श्वान है क्योंकि जो कोई उसके निकट आता है उसको काट लेता है, घर घर में भटकता फिरता और मलीन स्थानों में जाता है; तैसे ही अज्ञानी जीव श्रेष्ठ पुरुषों की निन्दा करता है पर मन में तृष्णा रखता है और विषयरूपी मलीन स्थानों में गिरता है। वह मूर्ख मनुष्य मानो श्वान है और श्वान से भी नीच है। ब्रह्मा ने सम्पूर्ण जगत् को रचा है परन्तु उसमें श्वान सबसे नीच है पर श्वान क्या समझता है सो सुनो। एक पुरुष ने श्वान से प्रश्न किया कि हे श्वान! तुझसे कोई नीच है अथवा नहीं? तब श्वान ने कहा कि मुझसे भी नीच मूर्ख मनुष्य है और उससे मैं श्रेष्ठ हूँ क्योंकि प्रथम तो मैं सूरमा हूँ; दूसरे जिसका भोजन खाता हूँ उसकी रक्षा करता हूँ और उसके द्वारे बैठा रहता हूँ पर मूर्ख से ये तीनों कार्य नहीं होते। इससे मैं उससे श्रेष्ठ हूँ क्योंकि मूर्ख को देहाभिमान है इससे वह श्वान से भी नीच है। हे राजन्! परम अनर्थ का कारण देहाभिमान है। देहाभिमान से जीव परम आपदा को प्राप्त होता है। वह मूर्ख नहीं मानो कौवा है जो सबसे ऊँची टहनी पर बैठकर कां कां करता है। हे राजन्! कमल की खानों के ताल के निकट एक कौवा जा निकला तो क्या देखे कि भँवर बैठे कमल की सुगन्ध लेते हैं; उनको देखकर वह हँसने लगा और कां कां शब्द किया। तब उसको देख भँवरे हँसे कि यह कमल की सुगन्ध क्या जाने; तैसे ही जिज्ञासु भँवरे के समान हैं जो परमार्थरूपी सुगन्ध लेते हैं। जो अज्ञानरूपी कौवे हैं वे परमार्थरूपी सुगन्ध नहीं जानते इस कारण मूर्ख को देखकर जिज्ञासु हँसते हैं जो आत्मरूपी सुगन्ध को नहीं जानते। अरे कौवे! तू क्यों हंस की रीस करता है? हंस तो हीरे और मोती चुगनेवाले हैं और तू नीचस्थानों को सेवनेवाला है। मन्त्री ने कहा, हे कोयल! तुम कमल को देखकर क्या प्रसन्न होते हो? प्रसन्न तो तब हो जब वसन्तऋतु हो पर यह तो वर्षाकाल का समय है—यह फूल ओलों से नष्ट हो जावेंगे। हे राजन्! कोयलरूपी जो जिज्ञासु हैं उनको यह उपदेश है। हे जिज्ञासु! जो सुन्दर पदार्थ तुमको दृष्टि आते हैं इनको देखकर तुम क्यों प्रसन्न होते हो? प्रसन्न तो तब हो जो यह सत्य हों पर यह तो मिथ्या हैं और अविद्या के रचे हैं। तुम क्यों प्रसन्न होते हो? अपने कुल में जा बैठो और अज्ञानी का संग छोड़ दो। जैसे कौवा हंसों में जा बैठता है तौ भी उसका चित्त गन्दगी के भोजन में होता है और हंस का आहार जो मोती है उन मोतियों की ओर देखता भी नहीं; तैसे ही अज्ञानी जीव कदाचित् सन्तों की संगति में जा भी बैठता है तौ भी उसका चित्त विषयों की ओर ही भ्रमता फिरता है और स्थिर नहीं होता। जैसे कोयल का बच्चा कौवे को माता-पिता जानकर उनमें जा बैठता है तब उनकी संगति से यह भी गन्दगी के भोजन करनेवाला हो जाता है। इससे कोयल उसको बर्जन करते हैं कि रे बेटा! तू कौवे की संगति मत बैठ, अपने कुल में बैठ, क्योंकि तेरा भी नीच आहार हो जावेगा; तैसे ही जिज्ञासु जो अज्ञानी का संग करता है तो उसके अनुसार उसको भी विषयों की तृष्णा उत्पन्न होती है तब उसको बर्जन करते हैं कि रे जिज्ञासु! तू मूर्ख अज्ञानियों में मत बैठ; अपना कुल जो सन्तजन हैं उनमें बैठ। जैसे कोयल के बच्चे को कौवे सुख देनेवाले नहीं होते; तैसे ही मूर्ख तुझको सुख देनेवाले नहीं होंगे। मन्त्री फिर कहने लगा, अरी चील! तू क्यों हंस की रीस करती है? तू भी बहुत ऊँचे उड़ती है परन्तु हंस का गुण तेरे में कोई नहीं। जब तू मांस को पृथ्वी पर देखती है तब वहाँ गिर पड़ती है और हंस नहीं

गिरते; तैसे ही जो मूर्ख हैं वे सन्तों की नाईं ऊँचे कर्म भी करते हैं परंतु विषयों को देखकर गिरते हैं पर सन्त नहीं गिरते तो मूर्ख सन्तों की रीस कैसे करें। फिर मन्त्री ने कहा, हे बगला! तू हंस की रीस क्या करता है? अपने पाखण्ड को छुपाकर तू आपको हंस की नाईं उज्ज्वल दिखाता है पर जब मछली निकलती है तब तू खा लेता है; यही तेरे में अवगुण है। हंस मानसरोवर के मोती चुगनेवाले हैं और तू गढ़े में से तृष्णा करके मछली खानेवाला है; तू क्यों आपको हंस मानता है? तैसे ही अज्ञानी जीव विषयों की तृष्णा करते हैं और ज्ञानवान् विवेक से तृप्त हैं; उनकी रीस अज्ञानी क्यों करता है? हे राजन्! जो हंस हैं वे सदा अपनी महिमा में रहते हैं और अपना जो मोती का आहार है उसको भोजन करते हैं; दूसरे किसी पदार्थ का स्पर्श नहीं करते। जैसे चन्द्रमुखी कमल चन्द्रमा को देखकर शोभा पाते हैं—चन्द्रमा विना शोभा नहीं पाते; तैसे ही बुद्धि भी तब शोभा पाती है जब ज्ञान उदय होता है—आत्मज्ञान विना बुद्धि शोभा नहीं पाती। बड़े-बड़े सुगन्धवाले वृक्ष का माहात्म्य भँवरे ही जानते हैं और जीव नहीं जानते। इतना कह वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! समुद्र के किनारे पर राजा विपश्चित् को मन्त्रियों ने ऐसे कहकर फिर कहा, हे राजन्! अब पृथ्वीनगर के मण्डलेश्वर स्थापन करो। हे रामजी! जब ऐसे मन्त्री ने कहा, तब सब दिशाओं के मण्डलेश्वर स्थापन किये गये और चारों राजा जो अपनी-अपनी दिशा के समुद्र पर बैठे थे उन्होंने अपने-अपने मन्त्री से कहा, हे साधो! अब हमने समुद्रपर्यन्त दिग्विजय की है और अब हमारी जय हुई है; अब चैत्य जो दृश्य है सो दृश्य विभूति को देखो। समुद्र के पार द्वीप है, फिर उस समुद्र के पार और द्वीप है; फिर समुद्र है और फिर द्वीप है और इसी प्रकार सप्तद्वीप और सात समुद्र हैं पर उनके पार क्या है? इस प्रकार सर्वदृश्य देखने की इच्छा करके उन्होंने अग्निदेवता का आवाहन किया तब उनकी दृढ़भावना से अग्निदेवता सम्मुख आन स्थित हुए और बोले, हे राजन्! जो कुछ तुमको वाञ्छा है सो माँगो। तब राजा ने कहा, हे भगवन्! ईश्वर की माया से पाञ्चभौतिक दृश्य में जो भूत हैं उनके देखने की हमारी इच्छा है सो पूर्ण करो। हे देव! हम इसी शरीर से दृश्य देखने जावें और जब यह शरीर चलने से रहित हो तब मन्त्र-सत्ता से जावें पर जहाँ मन्त्र की भी गम नहीं वहाँ सिद्धि से जावें और जहाँ सिद्धि की भी गम नहीं वहाँ मन के वेग से जावें और मृतक भी न हों। यह वर हमको दो। हे रामजी! जब इस प्रकार राजा ने कहा तब अग्नि ने कहा कि ऐसे ही होगा। इस प्रकार कहकर अग्नि अन्तर्धान होगये। जैसे समुद्र से तरङ्ग उठकर फिर लय होजावे तैसे ही अग्नि अन्तर्धान होगये। जब राजा विपश्चित् वर पाकर चलने को समर्थ हुआ तब जितने मन्त्री और मित्र थे वे रुदन करने लगे और बोले, हे राजन्! तुमने यह क्या निश्चय किया है? ईश्वर की माया का अन्त किसी ने नहीं पाया इससे तुम अपने स्थान को चलो; यह क्या निश्चय तुमने धारा है? हे रामजी! इस प्रकार मन्त्री कहते रहे परन्तु राजा ने उनको आज्ञा देकर एक एक दिशा के समुद्र में प्रवेश किया और चारों दिशाओं में चारों राजाओं ने गमन किया पर जो बड़े बड़े शक्तिमान् मन्त्रीगण थे वे साथ ही चले। तब राजा मन्त्रशक्ति से समुद्र को लाँघ गया। कहीं पृथ्वी पर चले और कहीं ऊँचे चले इसी प्रकार और द्वीप में जा निकला, तब बड़ा समुद्र आया उसमें प्रवेश कर गया जिसमें बड़े तरङ्ग उछलते थे और जिसका सौ योजनपर्यन्त विस्तार था। कभी अधः को और कभी ऊर्ध्व को जाते थे। हे रामजी! ऐसे तरङ्ग उछलें मानो पर्वत उछलते हैं जब वे ऊर्ध्व को उछलें तब स्वर्गपर्यन्त उछलते भासें और जब अधः को जावें तब पातालपर्यन्त चलते भासें। जैसे पानी में तृण फिरता है, तैसे ही राजा फिरे। इस प्रकार कष्ट से रहित समुद्र और दिशा को लाँघ गया परन्तु मध्य में जो वृत्तान्त हुआ है सो सुनो। क्षीरसमुद्र में एक मच्छ रहता था जिसको सब देवता प्रणाम करते थे और जो विष्णु भगवान् के मच्छ अवतार के परिवार में था। जब राजा ने क्षीरसमुद्र में प्रवेश किया तब राजा को उसने मुख में डाल लिया पर राजा मन्त्र के बल से उसके मुख से निकल गया। आगे फिर एक मच्छ मिला उसने भी उसे मुख में डाल लिया

पर उससे भी वह निकल गया। फिर आगे पिशाचिनी का देश था वहाँ राजा को पिशाच ने काम से मोहित किया। फिर उसने दक्षप्रजापति की कुछ अवज्ञा की जिससे उसने शाप दिया और राजा वृक्ष होगया। निदान कुछ काल वृक्ष रहकर फिर छूटा तो एक देश में दर्दुर हुआ और सौ वर्षपर्यन्त खाईं में पड़ा रहा। फिर उससे छूटकर मनुष्य हुआ तब किसी सिद्ध के शाप से शिला होगया और सौ वर्षपर्यन्त शिला ही रहा। उसके उपरान्त अग्निदेवता ने शिला से छुड़ाया तो फिर मनुष्य हुआ, तब वह सिद्ध आश्चर्यवान् हुआ कि मेरे शाप को दूर करके यह मनुष्य क्योंकर हुआ है—यह तो मुझसे भी बड़ा सिद्ध है। ऐसे जानकर उसने उसके साथ मैत्री की। इसी प्रकार दूसरे समुद्रों को भी यह लाँघता गया और क्षीरसमुद्र, खारी समुद्र और इक्षु के रस के समुद्र को लाँघकर द्वीपों को लाँघता गया। फिर एक अप्सरा से मोहित हुआ और बहुत काल में वहाँ से छूटा—तो एक देश में पक्षी हुआ और बहुत कालपर्यन्त पक्षी रहकर छूटा तो एक गोपी पिशाचिनी थी उसने बैल बनाके उसे रक्खा और दूसरे विपश्चित् ने बैल विपश्चित् को उपदेश करके जगाया। निदान हे रामजी! चारों दिशाओं में चारों विपश्चित् भ्रमते फिरे। दक्षिण दिशा का तो पिशाचिनी से मोहित हुआ इससे उसने बहुत जन्म पाये और पूर्व का बहता हुआ मच्छ के मुख में चला गया और उसने निकाल डाला, इससे लेकर वह अवस्था देखी। उत्तर दिशा का जो हुआ उसने वही अवस्था देखी और पश्चिम दिशा का हेमचू पक्षी की पीठ पर प्राप्त हुआ और उसने उसे कुशद्वीप में डाल दिया इससे उसने भी अनेक अवस्था पाई। हे रामजी! एक एक विपश्चित् ने भिन्न भिन्न योनि और अवस्था का अनुभव किया। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि विपश्चित् एक ही था और उनकी संवित् भी एक ही थी और आकार भी एकही था तो भिन्न भिन्न रुचि कैसे हुई जो एक पक्षी हुआ, दूसरा वृक्ष हुआ और इससे लेकर वासना के अनुसार अनेक शरीर पाते फिरे। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इसमें क्या आश्चर्य है? उनकी संवित् एकही थी परन्तु भ्रम से भिन्नता हो जाती है। जैसे किसी पुरुष

को स्वप्ना आता है तो उसमें पशु-पक्षी हो जाते हैं और भिन्न भिन्न रुचि भी हो जाती है, तैसे ही उसकी भी भिन्न भिन्न रुचि हो गई। जैसे देखो कि शरीर तो एकही होता है पर उसमें नेत्र, श्रवण, नासिका, जिह्वा और त्वचा की रुचि भिन्न भिन्न होती है और अपने अपने विषयों को ग्रहण करती हैं सो एकही शरीर में अनेकता भासती है; तैसे ही उनकी एक ही संवित् थी परन्तु संकल्प भिन्न भिन्न हो गया था इससे मन के फुरने से एक में अनेक भासीं। जैसे एक ही योगेश्वर इच्छा करके और और शरीर धर लेता है और एक से अनेक हो जाता है। एक सहस्रबाहु अर्जुन था सो एक भुजा से युद्ध करता था; दूसरी भुजा से दान करता था और एक से लेता देता था; इसी प्रकार सब भुजाओं से चेष्टा करता था—वे भी भिन्न भिन्न हुए। एकही शरीर में भिन्न भिन्न चेष्टा होती है। जैसे विष्णु भगवान् कहीं दैत्यों के साथ युद्ध करते; कहीं कर्म करते हैं; कहीं लीला करते हैं और कहीं शयन करते हैं सो संवित् तो एकही है परन्तु चेष्टा भिन्न भिन्न होती है; तैसे ही उनकी संवित् में अनेक रुचि हुई तो इसमें क्या आश्चर्य है? हे रामजी! इस प्रकार उन्होंने जन्म से जन्मान्तर को अविद्यक संसार में देखा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वे तो बोधवान् विपश्चित् थे और बोधवान् जन्म नहीं पाता फिर उनको किस प्रकार जन्म हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वे विपश्चित् बोधवान् न थे परन्तु बोध के निकट धारणा अभ्यासवाले थे। जो वे ज्ञानवान् होते तो दृश्यभ्रम देखने की इच्छा क्यों करते? इससे वे ज्ञानवान् न थे—धारणा अभ्यासी थे अतः समुद्र को लाँघ गये और मच्छ के उदर से बल करके निकले सो यह योगशक्ति प्रसिद्ध है। ज्ञान का लक्षण स्वसंवेद्य है परसंवेद्य नहीं। राजा विपश्चित् ज्ञानवान् न थे इस कारण देश-देशान्तर में भ्रमते रहे और ज्ञान विना अविद्यक संसार में जन्ममरण में भटकते रहे। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ज्ञानवान् योगेश्वरों को भूत, भविष्य, वर्तमान; तीनों कालों का ज्ञान कैसे होता है और एकदेश में स्थित हुआ सर्वत्र कर्मों को कैसे करता है सो सब मुझसे कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अज्ञानी की वार्त्ता यह मैंने तुमसे कही है

और जितना जगत् है सो सब चिदाकाशस्वरूप है। जिनको ऐसी सत्ता का ज्ञान हुआ है वे महापुरुष हैं। जैसे स्वप्ने से कोई पुरुष जागे तो स्वप्ने की सब दृष्टि उसको अपना ही स्वरूप भासती है और उसमें बन्धायमान नहीं होता। हे रामजी! यह सब नानात्व भासती है सो नाना नहीं और अनाना भी नहीं केवल आत्मसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है। जैसे आकाश अपनी शून्यता में स्थित है, तैसे ही आत्मा अपने आपमें स्थित है। ये तीनों काल भी ज्ञानवान् को ब्रह्मरूप हो जाते हैं और सब जगत् भी ब्रह्मरूप हो जाते हैं और द्वैतभाव उसका मिट जाता है। ऐसे ज्ञानवान् को ज्ञानी ही जानता है और कोई नहीं जान सकता, जैसे अमृत को जो पान करता है सो ही उसके स्वाद को जानता है और कोई जान नहीं सकता। हे रामजी! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तो तुल्य भासती है परन्तु ज्ञानी के निश्चय में कुछ और है और अज्ञानी के निश्चय में और है। जिसका हृदय शीतल हुआ है वह ज्ञानवान् है और जिसका हृदय जलता है वह अज्ञानी है। वह बाँधा हुआ है और ज्ञानवान् का शरीर चूर्ण हो अथवा उसे राज्य प्राप्त हो तो भी उसको रागद्वेष नहीं उपजता; वह सदा ज्यों का त्यों एकरस रहता है। वह जीवन्मुक्त है परन्तु यह लक्षण उसका कोई जान नहीं सकता है; वह आपही जानता है। शरीर को दुःख और सुख भी प्राप्त होता है और मरता और रुदन भी करता है और हँसता, लेता और देता भी है और इससे लेकर सब चेष्टा करता दृष्टि आता है पर वह अपने निश्चय में न दुःखी होता है; न सुखी होता है; न देता है और न लेता है—सदा ज्यों का त्यों रहता है। हे रामजी! व्यवहार तो उसका भी अज्ञानी की नाईं ही दृष्टि आता है परन्तु हृदय से उसका यह निश्चय होता है और अद्भुत पद में स्थित रहता है कदाचित् नहीं गिरता। उसका परम उदित रूप होता है और रागसहित भी दृष्टि आता है परन्तु हृदय से राग किसी में नहीं करता; क्रोध करता भी दृष्टि आता है परन्तु उसको क्रोध कदाचित् नहीं होता। जैसे आकाश शुभपदार्थ को धारता है और धूम और बादल से ढापा भी दृष्टि आता है परन्तु किसी से स्पर्श नहीं करता; तैसे

ही ज्ञानवानों में सब क्रिया दृष्टि आती हैं परन्तु अपने निश्चय में वह किसी से स्पर्श नहीं करता। जैसे नटवा स्वाँग ले आता है और चेष्टा करता दीखता है पर हृदय से अपने नटत्व भाव में निश्चय होता है; तैसे ही ज्ञानवान् को भी सर्व क्रिया में अपना आत्मभाव निश्चय होता है। जैसे जिसको स्वप्ना आता है वह यदि स्वप्न में भी अपना पूर्वरूप स्मरण रखता है तो स्वप्न के पदार्थ में बर्तता है तौ भी उनके सुख में आपको सुखी नहीं मानता और दुःख में आपको दुःखी नहीं मानता—सब सृष्टि उसको अपना ही स्वरूप भासती है; तैसे ही ज्ञानवान् को अपने स्वरूप के निश्चय से सुख-दुःख का क्षोभ नहीं होता। जो ऐसे पुरुष हैं उनको दुःख से क्या होता है? जैसे उनकी इच्छा होती है, तैसे ही सिद्ध होकर भासती है। हे रामजी! यह जितनी सृष्टि है सो सब चित्सत्ता में है और योगीश्वर पुरुष उसी में स्थित होकर जहाँ प्राप्त हुआ चाहते हैं वहाँ अन्तवाहक से जा प्राप्त होते हैं और तीनों काल उनको विद्यमान होते हैं साधन कुछ नहीं परन्तु ज्ञानी अवश्य करके किसी निमित्त यत्न नहीं करते—जैसा प्राप्त होता है उसी में प्रसन्न रहते हैं। हे रामजी! एक काल में ब्रह्माजी ऊर्ध्वमुख से सामवेद को गायन करते थे और सदाशिव का मान न किया तब सदाशिव ने अपने नख से ब्रह्मा का पाँचवाँ शीश काट डाला परन्तु ब्रह्माजी के मन में कुछ क्रोध न फुरा। उन्होंने विचारा कि मैं चिदाकाश हूँ सो अब भी चिदाकाश हूँ मेरा तो कुछ गया नहीं; शिर से मेरा क्या प्रयोजन है? न कुछ हानि है और न कुछ लाभ है। हे रामजी! इस प्रकार सर्व विश्व रचनेवाले ब्रह्माजी का शिर कटा; जो वे फिर भी शिर लगा लेते तो समर्थ थे परन्तु उनको लगाने का कुछ प्रयोजन न था और न लगाने में कुछ हानि भी न थी। उनका भी निश्चय सदा आत्मपद में है इस कारण उन्हें कुछ क्षोभ न हुआ। हे रामजी! काम के सदृश और कोई विकार नहीं है। जो सदाशिव पार्वती को बायें अङ्ग में धारते हैं और कामदेव के पाँच बाण चलने से सर्वविश्व मोहित होता है उस काम को सदाशिव ने भस्म कर डाला तो क्या स्त्री के त्यागने को वे समर्थ नहीं हैं परन्तु उनको रागद्वेष कुछ नहीं

इस कारण त्याग नहीं करते। त्यागने से उन्हें कुछ अर्थ की सिद्धि नहीं होती और रखने से कुछ अनर्थ नहीं होता—जो कुछ प्रवाहपतित कार्य होता है उसको करते हैं खेद नहीं मानते इससे वे जीवन्मुक्त हैं। विष्णुजी सदा विक्षेप में रहते हैं; आप भी कर्म करते हैं और लोगों से भी कराते हैं और शरीर धारते हैं और त्याग भी देते हैं इत्यादिक क्षोभ में रहते हैं सो त्यागने को समर्थ भी हैं परन्तु त्यागने में उनका कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता और करने में कुछ हानि नहीं होती। उनको लोग कई गुणों से गुणवान् जानते और मुझको तो शुद्ध चिदाकाशरूप भासता है। मूर्ख कहते हैं कि विष्णु श्यामसुन्दर हैं परन्तु वे शुद्ध चिदाकाशरूप हैं और सदा शुद्ध स्वरूप में उनको अहंप्रत्यय है। आकाशमार्ग में जो सूर्य स्थित हैं वे कभी ऊर्ध्व की ओर और कभी नीचे जाते हैं तो क्या उनको स्थित होने की सामर्थ्य नहीं है? है परन्तु चलना और ठहरना दोनों उनको सम हैं और खेद से रहित होकर प्रवाहपतित कार्य में रहते हैं इससे जीवन्मुक्त हैं। जीवन्मुक्त चन्द्रमा भी है सो घटते-घटते सूक्ष्म होते दृष्टि आते हैं और कभी बढ़ते जाते; शुक्ल और कृष्ण दोनों पक्ष उनमें होते हैं और रात्रि को प्रकाशते हैं तो क्या वे अपनी क्रिया को त्याग नहीं सकते? नहीं त्याग सकते हैं; परन्तु क्षोभ से रहित होकर प्रवाहपतित कार्य में विचरते हैं इससे जीवन्मुक्त हैं। अग्नि सदा दौड़ता रहता है और यज्ञ और होम के भोजन करने को सर्व ओर जाता है तो क्या उसको गृह में बैठने की सामर्थ्य नहीं है? है परन्तु जो कुछ अपना आचार है उसको वह नहीं त्यागता, क्योंकि ठहरने में उसका कुछ कार्य सिद्ध नहीं होता और चलने में कुछ हानि नहीं होती—दोनों में वे तुल्य जीवन्मुक्त हैं। हे रामजी! बृहस्पति और शुक्र को बड़ा क्षोभ रहता है; बृहस्पति देवताओं के जय के निमित्त यत्न करते हैं और शुक्र दैत्यों की जय के निमित्त यत्न करते रहते हैं तो क्या इनको त्यागने की सामर्थ्य नहीं है परन्तु दोनों इनको तुल्य हैं इस कारण खेद से रहित होकर अपने कार्य में विचरते हैं इससे जीवन्मुक्त पुरुष हैं। हे रामजी! राज्य में बड़े क्षोभ होते हैं पर राजा जनक आनन्दसहित राज्य करता है और जीवन्मुक्त है और

प्रह्लाद, बलि, वृत्रासुर और मुर आदि दैत्य जीवन्मुक्त हुए हैं और समताभाव को लिये खेद से रहित नाना प्रकार की चेष्टा करते रहे हैं और हृदय से शीतल और जीवन्मुक्त रहे हैं। राजा नल, दिलीप और मान्धाता आदि ने भी समताभाव को ले राज्य किया है सो जीवन्मुक्त हैं। ऐसे ही अनेक राजा हुए हैं और उनमें रागवान् भी दृष्टि आये हैं परन्तु हृदय में रागद्वेष से रहित शीतलचित्त रहे हैं। हे रामजी! ज्ञानी और अज्ञानी की चेष्टा तुल्य होती है परन्तु इतना भेद है कि ज्ञानी का चित्त शान्त है और अज्ञानी का चित्त क्षोभ में है; इष्ट की प्राप्ति में वह हर्षवान् होता है और अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष करता है और ग्रहणत्याग की इच्छा से जलता है क्योंकि उसको संसार सत्य भासता है और जिसका चित्त शान्त हो गया है उसके भीतर न राग है, न द्वेष है; स्वाभाविक शरीर की जो प्रारब्ध होती है उसमें कुछ अपना अभिमान नहीं होता। उसके निश्चय में सब आकाशरूप है, जगत् कुछ बना नहीं—भ्रममात्र है जैसे आकाश में नीलता भ्रममात्र है और दूर नहीं होती तैसे ही यह जगत् भ्रम से भासता है परन्तु है नहीं। जैसे आकाश में नाना प्रकार के तरुवरे भासते हैं, तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और जैसे काष्ठ की पुतली काष्ठरूप होती है, तैसे ही जगत् भ्रमरूप है। जो कुछ भ्रम से भिन्न भासता है वह सब भविष्यन्नगर में असत्य है और जो कुछ तुम्हें दृष्टि आता है सो कुछ नहीं केवल सर्व कलना से रहित, शुद्धसंवित् जड़ता विना मुक्तस्वभाव एक अद्वैत आत्मसत्ता स्थित है और केवल आकाशरूप है, उसमें जगत् भी वही रूप है और पाषाण की शिलावत् घन मौन है। तुम भी उसी रूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तलक्षणवर्णनन्नाम
द्विशताधिकैकोनविंशतितमस्सर्गः ॥ २१६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! उस राजा विपश्चित् ने फिर क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो उनकी दशा हुई है सो तुम सुनो। पश्चिम दिशा का विपश्चित् वन में बिचरता फिरता था कि एक मत्त हाथी के वश पड़ा और उसने उसे पहाड़ की कन्दरा में मार डाला;

दूसरे विपश्चित् को राक्षस ले गया और वड़वाग्नि में डाल दिया वहाँ अग्नि ने उसे भक्षण कर लिया; तीसरे विपश्चित् को एक विद्याधर स्वर्ग में ले गया और उसने वहाँ इन्द्र का मान न किया इसलिये उसको इन्द्र ने शाप दिया और यह भस्म हो गया; इसी प्रकार चौथा भी हुआ उसके एक मच्छ ने आठ टुकड़े कर डाले। जैसे प्रलयकाल में लोक भस्म हो जाते हैं तैसे ही चारों विपश्चित् मर गये। तब उनकी संवित् आकाशरूप हुई परन्तु उनको जगत् देखने का संस्कार था इससे उनकी आकाशरूप संवित् फिर आन फुरी उससे जाग्रत् भासने लगा और पृथ्वी, द्वीप, समुद्र, स्थावर, जङ्गमरूप जगत् को देखा और अन्तवाहक शरीर से चेष्टा करने लगे। उनमें से एक पश्चिम दिशा का विपश्चित् विष्णु भगवान् के स्थान में मुआ निर्वाण हो गया इससे उसकी संवित् में सर्व अर्थ शून्य हो गये और वह वहाँ मुक्त हुआ। एक मच्छ के उदर में सहस्र वर्ष पर्यन्त रहा उससे फिर एक देश का राजा हुआ और वहाँ राज्य करने लगा। एक चन्द्रमा के निकट जा वहाँ मरके चन्द्रमा के लोक को प्राप्त हुआ और एक बहता हुआ समुद्र के पार हुआ और आगे चौरासी हजार योजन पृथ्वी को लाँघता गया। इसी प्रकार चारों फिर जिये और समुद्र, वन और पर्वतों को लाँघते गये। सबके आगे दशसहस्र योजन सुवर्ण की पृथ्वी आई जहाँ देवताओं के बिचरने के स्थान हैं उनको भी वे लाँघते गये। आगे लोकालोक पर्वत आया जिसने सर्व पृथ्वी को आवरण किया है—जैसे वृक्षों से वन का आवरण होता है, तैसे ही उस पर्वत ने पञ्चाशत्कोटि योजन पृथ्वी को आवरण किया है और पचास हजार योजन ऊँचा है—वे उस लोकालोक पर्वत में पहुँचे जहाँ तारों का नक्षत्र-चक्र फिरता है उसको भी वे लाँघ गये। उसमें आगे एक शून्यवन था सो महाशून्य था जहाँ पृथ्वी, जल आदिक तत्त्व कोई न था, एक शून्य आकाश है जहाँ न कोई स्थावर पदार्थ है, न कोई जङ्गम पदार्थ है, न कोई उपजै है, न कभी मिटै है उसको भी उन्होंने देखा। इसी प्रकार सम्पूर्ण भूगोल को उन्होंने देखा। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! भूगोल क्या है; किसके आश्रय है और उसके ऊपर क्या है? वशिष्ठजी बोले,

हे रामजी! जैसे गेंद होता है, तैसे भूगोल है और संकल्प के आश्रय है। सर्व ओर उसके आकाश है और सूर्य, चन्द्रमा; नक्षत्र सहित चक्र फिरता है। हे रामजी! यह कोई वस्तु बुद्धि से नहीं बनी संकल्प से बनी है; जो वस्तु बुद्धि से बनी होती है सो क्रम से स्थित होती है और यह तो विपर्ययरूप से स्थित है। पृथ्वी के चहुँफेर दशगुण जल है उससे परे दशगुणी अग्नि है; उसके उपरान्त दशगुणा वायु है और फिर ब्रह्माण्ड खप्पर है। वह खप्पर एक अधः को और एक ऊर्ध्व को गया है और उसके मध्य में जो पोल है वह आकाश है जो वज्रसार की नाईं है और अनन्तकोटि योजन का उसका विस्तार है। उस ब्रह्माण्ड का उसमें भूगोल है; उसके उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत है, पश्चिम दिशा में लोकालोक पर्वत है और ऊपर नक्षत्रचक्र फिरता है। जहाँ वह जाता है वहाँ प्रकाश होता है और जहाँ वह नहीं होता वहाँ तमरूप भासता है सो सब संकल्परचना है। जैसे बालक संकल्प से पत्थर का बट्टा रचे, तैसे ही चैतन्यरूपी बालक ने यह संकल्परूपी भूगोल रचा है। हे रामजी! जैसे-जैसे उस समय उसमें निश्चय हुआ है तैसे ही स्थित हुआ है। जहाँ पृथ्वी स्थित रची है वहाँ ही स्थित हैं और जहाँ खात रची है वहाँ खात ही है परन्तु जैसे स्वप्ने में अविद्यमान प्रतिभा होती है, तैसे ही भूगोल है। हे रामजी! जिनको ऐसा ज्ञान है कि सुमेरु में देवता और पूर्वादि दिशाओं में मनुष्य आदि जीव रहते हैं वे पण्डित हैं तौ भी मूर्ख हैं, क्योंकि ये तो भ्रममात्र हैं कुछ बने नहीं। जो हमसे आदि लेकर तत्त्ववेत्ता हैं उनको ज्ञाननेत्र से आत्मसत्ता ज्यों की त्यों भासती है और जो मन सहित षट्इन्द्रियों से अज्ञानी देखते हैं उनको जगत् भासता है। ज्ञानवानों को परब्रह्म सूक्ष्म ज्यों का त्यों भासता है और जगत् को वे असत् जानते हैं। जैसे आकाश में अनहोती नीलता भासती है; तैसे ही आत्मा में अनहोता जगत् भासता है। जैसे नेत्रदूषण से आकाश में तरुवरे भासते हैं, तैसे ही अज्ञान से आत्मा में जगत् भासता है सो केवल आभासमात्र है। हे रामजी! जगत् उपजा भी दृष्टि आता है और नष्ट होता भी दृष्टि आता है परन्तु बना कुछ नहीं। जैसे संकल्प

का रचा नगर अपने मन में भासता है, तैसे ही यह जगत् मन में फुरता है। यह सम्पूर्ण भूगोल संकल्प में स्थित है। जैसे बालक संकल्प करके पत्थर का बट्टा रचे, तैसे ही भूगोल है। यह ब्रह्माण्ड सौकोटि योजन पर्यन्त है। उसका एक भाग अधः को गया है और एक ऊर्ध्व को गया है, उसमें चैतन्यरूपी बालक ने यह भूगोल रचा है सो संकल्प के आश्रय खड़ा है। जैसे आदि नीति हुई है, तैसे ही भासता है। इस पृथ्वी के उत्तर दिशा में सुमेरु पर्वत है; पश्चिम दिशा की ओर लोकालोक पर्वत है और ऊपर तारों और नक्षत्रों का चक्र फिरता है; लोकालोक के जिस ओर वह आता है उस ओर प्रकाश होता है। भूगोल ऐसे है, जैसे गेंद होता है और उसके एक ओर पाताल है, एक ओर स्वर्ग है, एक ओर मध्यमण्डल है और आकाश सर्व ओर है। पातालवासी जानते हैं कि हम ऊर्ध्व हैं, आकाशवासी जानते हैं कि हम ऊर्ध्व हैं और मध्यवासी जानते हैं कि हम ऊर्ध्व हैं। इस प्रकार भूगोल है और उसके ऊपर महाभ्रमरूप एक शून्य खात है। जहाँ न पृथ्वी है, न कोई पहाड़ है, न स्थावर है, न जङ्गम है और न कुछ उपजा है। उसके ऊपर एक सुवर्ण की दीवार है जिसका दश सहस्र योजन विस्तार है और उसके ऊपर दशगुणा जल है सो पृथ्वी को चहुँफेर से घेरे है; उससे परे दशगुण अग्नि है; फिर दशगुण वायु है और उसके आगे आकाश है। फिर ब्रह्माकाश महाकाश है जिसमें अनन्त ब्रह्माण्ड स्थित हैं परन्तु ये तत्त्व जैसे तृण के आश्रय कपूर ठहरता है तैसे ही पृथ्वीभाग के आश्रय ठहरे हैं। वास्तव में शुद्ध चैतन्य ब्रह्म का चमत्कार है जो आकाशवत् निर्मल है और उसमें कोई क्षोभ नहीं है, परमशान्त, अनन्त और सर्व का अपना आप है। हे रामजी! अब फिर विपश्चित् की वार्ता सुनो। जब वे लोकालोक पर्वत पर जा स्थित हुए तब एक शून्य खात (खाई) उनको दृष्ट आया और पर्वत से उतरकर खात में वे जा पड़े। वह खात भी पर्वत के शिखर पर था और वहाँ शिखर की नाईं बड़े-बड़े पक्षी भी रहते थे इस कारण उन पक्षियों ने चोंचों से इनके शरीर चूर्ण किये, तब उन्होंने अपने स्थूल शरीर को त्यागकर अपना सूक्ष्म अन्तवाहक शरीर जाना। रामजी ने पूछा, हे

भगवन्! आधिभौतिकता कैसे होती है और अन्तवाहक क्या है? फिर उन्होंने क्या किया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे कोई संकल्प से दूर से दूर चला जावे तो जिस शरीर से जावे वह अन्तवाहक है और जो पाञ्चभौतिक शरीर प्रत्यक्ष भासता है सो आधिभौतिक है। जब मार्ग से कहीं जाने को चित्त का संकल्प उठता है तब स्थूल शरीर गये बिना नहीं पहुँच सकता और जब मार्ग में चले तब पहुँचता है सो ही आधिभौतिक है और यह प्रमाद से होता है। जैसे रस्सी के भूलने से सर्प भासता है, तैसे ही आत्मा के अज्ञान से आधिभौतिक शरीर भासता है और जैसे कोई मनोराज का पुर बनाके उसमें आप भी एक शरीर बनकर चेष्टा करता फिरे तो उसे जब तक पूर्व का शरीर विस्मरण नहीं हुआ तब तक वह संकल्पशरीर से चेष्टा करता है सो अन्तवाहक है। उस शरीर को संकल्पमात्र जानना—विशेष बुद्धि कहाती है। आत्मबोध हुए बिना जो उस संकल्पशरीर में दृढ़ भावना होती है तो उसका नाम आधिभौतिक होता है—सो घट बढ़ कहाता है। इससे जबतक शरीर का स्मरण है तबतक आधिभौतिकता निवृत्त नहीं होती और जब शरीर का विस्मरण होता है तब आधिभौतिकता मिट जाती है। विपश्चित् आत्मबोध से रहित थे और जहाँ चाहते थे तहाँ चले जाते थे पर स्वरूप से न कुछ अन्तवाहक है और न कुछ आधिभौतिक है; प्रमाद से ये सब आकार भासते हैं। वास्तव में सब चिदाकाशरूप है, दूसरी वस्तु कुछ नहीं बनी सब वही है और उसी के प्रमाद से विपश्चित् अविद्यक जगत् को देखने चले थे। वह अविद्या भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं—ब्रह्म ही है तो ब्रह्म का अन्त कहाँ आवे। वहाँ से वे चले परन्तु जानें कि हमारा अन्तवाहक शरीर है। निदान वे सब पृथ्वी को लाँघ गये। फिर जल को भी लाँघ गये और उसके परे जो सूर्यवद्दाहक अग्नि का आवरण प्रकाशवान् है तिसको भी लाँघकर मेघ और वायु के आवरण को भी लाँघे। फिर आकाश को भी लाँघ गये तो उसके परे ब्रह्माकाश था जहाँ उनको संकल्प के अनुसार फिर जगत् भासने लगा पर उसको भी लाँघे। फिर आगे ब्रह्माकाश मिला और फिर उनको पञ्चभूत भासि

आये; उसके आवरण को भी लाँघ गये। फिर उस ब्रह्माण्डकपाट के परे तत्त्वों को लाँघकर ब्रह्माकाश आया; उसमें एक और पाञ्चभौतिक ब्रह्माण्ड था। उसको भी लाँघ गये पर अन्त न पाया। स्वरूप के प्रमाद से दृश्य के अन्त लेने को वे भटकते फिरे पर अविद्यारूप संसार का अन्त कैसे आवे? यह जीव तबतक अन्त लेने को भटकता फिरता है जबतक अविद्या नष्ट नहीं होती; जब अविद्या नष्ट होगी तभी अविद्यारूप संसार का अन्त होगा। हे रामजी! जगत् कुछ बना नहीं वही ब्रह्माकाश ज्यों का त्यों स्थित है और उसका न जानना ही संसार है। जबतक उसका प्रमाद है तबतक जगत् का अन्त न आवेगा और जब स्वरूप का ज्ञान होगा तब अन्त आवेगा। सो वह जानना क्या है? चित्त को निर्वाण करना ही जानना है। जब चित्त निर्वाण होगा तब जगत् का अन्त आवेगा। जबतक चित्त भटकता फिरता है तबतक संसार का अन्त नहीं आता। इससे चित्त का नाम ही संसार है। जब चित्त आत्मपद में स्थित होगा तब जगत् का अन्त होगा। इस उपाय विना शान्ति नहीं प्राप्त होती।

उत्तम

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चिदुपाख्यानवर्णनं
नाम द्विशताधिकविंशतिस्सर्गः ॥ २२० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वे जो दो विपश्चित् थे उनकी क्या दशा हुई, यह भी कहो? वे तो दोनों एक ही थे। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! एक तो निर्वाण हुआ था और दूसरा ब्रह्माण्डों को लाँघता लाँघता और एक ब्रह्माण्ड में गया तब वहाँ उसको सन्तों का संग प्राप्त हुआ और उनकी संगति से उसको ज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञान को पाकर वह भी निर्वाण हो गया। एक अबतक दूर फिरता है और एक यहाँ पहाड़ की कन्दरा में मृग होकर विचरता है। हे रामजी! यह जगत् आत्मा का आभास है। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है और जबतक किरणें हैं तबतक जलाभास निवृत्त नहीं होता; तैसे ही जबतक आत्मसत्ता है तबतक जगत् का चमत्कार निवृत्त नहीं होता और आत्मा के जाने से जगत्सत्ता नहीं रहती। जैसे किरणों के जाने से जलाभास नहीं रहता और जो जल भासता है तो भी किरणों ही की सत्ता भासती है; तैसे ही आत्मा के जाने से आत्मा की सत्ता ही भासती है—भिन्न जगत् की सत्ता नहीं भासती। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! विपश्चित् एक ही था तो एक ही संवित् में भिन्न भिन्न वासना कैसे हुई? एक मुक्त हो गया, एक मृग होकर फिरता रहा और एक आगे निर्वाण हो गया—यह भिन्नता कैसे हुई है? संवित् तो एक ही थी उसमें कम और अधिक फल कैसे प्राप्त हुए सो कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वासना जो होती है सो देश, काल और पदार्थों से होती है। उसमें जिसकी दृढ़ भावना होती है उसकी जय होती है। जैसे एक पुरुष ने मनोराज से अपनी चार मूर्त्तियाँ कल्पीं और उनमें भिन्न भिन्न वासना स्थापित की पर संवित् तो एक है, यदि पूर्व का शरीर भूलकर उसमें दृढ़ हो गये तो जैसी जैसी भावना उनके शरीर में दृढ़ होती है वही प्राप्त होती है; तैसे ही संवित् में नाना प्रकार की वासना फुरती हैं। जैसे एकही संवित् स्वप्ने में नाना प्रकार धारती है और भिन्न भिन्न वासना होती है; तैसे ही आकाशरूप संवित् में भिन्न भिन्न वासना होती है। हे रामजी! संवित् उनकी एक थी परन्तु देश, काल और क्रिया से वासना भिन्न भिन्न हो गई और पूर्व की संवित् स्मृति भूल गई उससे उन्होंने न्यून और अधिक फल पाये। वह संवित् क्या रूप है? हे रामजी! देश से देशांतर को जो संवेदन जाती है उसके मध्य जो संवित्सत्ता है सो ब्रह्मसत्ता है। जैसे जाग्रत् के आकार को छोड़ा और स्वप्ना नहीं आया उसके मध्य जो ब्रह्मसत्ता है वह किञ्चनरूप जगत् होकर भासती है परन्तु किञ्चन भी कुछ भिन्न वस्तु नहीं। वह एक है, न दो है; एक कहना भी नहीं होता तो दो कहाँ हो और जगत् कहाँ हो? यही अविद्या है कि है नहीं और भासती है। जैसी जैसी वासना फुरती है उसमें जो दृढ़ होती है उसकी जय होती है। इस कारण एक विपश्चित् जनार्दन (विष्णु) के स्थान में निर्वाण हो गया और दूसरा दूर से दूर ब्रह्माण्ड को लाँघता गया और उसको सन्तों का संग प्राप्त हुआ जिससे ज्ञान उदय होकर वासना मिट गई और उसका अज्ञान नष्ट हो गया। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार नष्ट हो

जाता है, तैसे ही जब उसका अज्ञान नष्ट हो गया तब वह उस पद को प्राप्त भया जिसके अज्ञान से दूर से दूर भटकता है। तीसरा दूर से दूर भटकता फिरता है और चौथा पहाड़ की कन्दरा में मृग होकर विचरता है। हे रामजी! जगत् कुछ वस्तु नहीं, अज्ञान के वश से भटकता है इसलिये अज्ञान ही जगत् है। जबतक अज्ञान है तबतक जगत् है। जब ज्ञान उदय होता है तब वह अज्ञान को नाश करता है और तभी जगत् का अभाव हो जाता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह जो मृग हुआ है सो कहाँ कहाँ फिरा है और कहाँ कहाँ स्थित हुआ है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! दो ब्रह्माण्ड को लाँघते दूर से दूर चले गये थे, उनमें से एक अबतक चला जाता है और पृथ्वी, समुद्र, वायु, आकाश उसकी संवित् में फुरते हैं। यह तो दूर से दूर चला गया है और हमारी आधिभौतिक दृष्टि का विषय नहीं और एक ब्रह्माण्ड को लाँघता गया था पर अब इस जगत् में पहाड़ की कन्दरा का मृग हुआ है सो हमारी इस दृष्टि का विषय है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ये तो दूर गये थे और उनमें से एक इस जगत् में अब मृग हुआ है; तुमने कैसे जाना कि आगे वह ब्रह्माण्ड में था और अब इस जगत् में है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं ब्रह्म हूँ और सर्व ब्रह्माण्ड मेरे अङ्ग हैं। मुझको सबका ज्ञान है। जैसे अवयवी पुरुष अपने अङ्गों को जानता है कि यह अङ्ग फुरता है और यह नहीं फुरता; तैसे ही मैं सबको जानता हूँ। जहाँ जहाँ यह लाँघता गया है उसे बुद्धि के नेत्रों से मैं जानता हूँ परन्तु तुम नहीं जान सकते। जैसे समुद्र में अनेक तरङ्ग फुरते हैं और समुद्र सबको जानता है, तैसे ही मैं समुद्ररूप हूँ और मेरे में ब्रह्माण्डरूपी तरङ्गें हैं इससे मैं सबको जानता हूँ। हे रामजी! वह जो मृग है सो दूर ब्रह्माण्ड में फिरता है। वह विपश्चित् यह सामान्य मृग नहीं है परन्तु जैसा है सो सुनो। हे रामजी! एक ब्रह्माण्ड इस हमारे ब्रह्माण्ड सा है जिसका ऐसा ही आकार है, ऐसी ही चेष्टा है, एक ही सा जगत् है और स्थावर-जङ्गम सब एक ही से हैं। वहाँ जो देश, काल और क्रिया का बिचरना होता है सो इसके ही समान होता है। जैसे नामरूप आकार यहाँ होते हैं; जैसे बिम्ब का प्रतिबिम्ब तुल्य ही होता है और जैसे एक ही आकार का एक प्रतिबिम्ब जल में होता है और द्वितीय दर्पण में होता है सो दोनों तुल्य हैं; तैसे ही दोनों ब्रह्माण्ड एक समान हैं और ब्रह्मरूपी आदर्श में प्रतिबिम्बित होते हैं। इस कारण यह मृग विपश्चित् है इसी निश्चय को धारे हुए है यह और वह दोनों तुल्य हैं सो पहाड़ की कन्दरा में है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह विपश्चित् अब कहाँ है और उसका क्या आचार है? अब मैं जानता हूँ कि उसका कार्य हुआ है। अब चलकर मुझको दिखाओ और उसको दर्शन देकर अज्ञानफाँस से मुक्त करो। इतना कहकर बाल्मीकिजी बोले, हे अङ्ग! जब रामजी ने इस प्रकार कहा तब मुनिशार्दूल वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जहाँ तुम्हारा लीला का स्थान है और तुम क्रीड़ा करते हो उस ठौर में वह मृग बाँधा हुआ है। यह तुमको तिरगदेश के राजा ने दिया है सो बहुत सुन्दर है इस कारण तुमने उसे रक्खा है। उसको मँगाओ। तब रामजी ने अपने सखाओं से, जो निकटवर्ती थे, कहा कि उस मृग को सभा में ले आओ। हे राजन्! जब इस प्रकार रामजी ने कहा, तब वे सभा में उस मृग को ले आये और जितने श्रोता सभा में बैठे थे वे बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुए। वह मृग बड़ी ग्रीवा किये महासुन्दर और कमल की नाईं नेत्रवाला था; कभी वह घास खाने लगे, कभी सभा में खेले और कभी ठहर जावे। तब रामजी ने कहा, हे भगवन्! आप इसको कृपा करके मनुष्ययोनि को प्राप्त कीजिये और उपदेश करके जगाइये कि हमारे साथ प्रश्न-उत्तर करे; अभी तो यह प्रश्न-उत्तर नहीं करता? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस प्रकार इसको उपदेश न लगेगा, क्योंकि जिसका कोई इष्ट होता है उसी से उसको सिद्धि होती है; इससे मैं इसके इष्ट को ध्यान करके बुलाता हूँ—उससे इसका कार्य सिद्ध होगा। बाल्मीकिजी बोले, हे राजन्! इस प्रकार कहकर वशिष्ठजी ने कमण्डलु हाथ में लेकर तीन आचमन किया और पद्मासन बाँध, नेत्र मूँद और ध्यान में स्थित होकर अग्नि का आवाहन किया। हे वह्ने! यह तेरा भक्त है इसकी सहायता करो और इस पर दया करो। तुम सन्तों का दयालु स्वभाव है। जब ऐसे वशिष्ठजी ने कहा तब सभा में बड़े प्रकाश को धारे अग्नि की

ज्वाला काष्ठ अङ्गार से रहित प्रकट हुई और जलने लगी। जब ऐसे अग्नि जागी तब वह मृग उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उसके चित्त में बड़ी भक्ति उत्पन्न हुई। तब वशिष्ठजी ने नेत्र खोलकर अनुग्रह सहित मृग की ओर देखा। उससे उसके सम्पूर्ण पाप दग्ध हो गये। वशिष्ठजी ने अग्नि से कहा, हे भगवन्, वह्ने ! यह तेरा भक्त है। अपनी पूर्व की भक्ति स्मरण करके इस पर दया करो और इसके मृगशरीर को दूर करके इसको विपश्चित् शरीर दो कि यह अविद्याभ्रम से मुक्त हो। हे राजन् ! इस प्रकार वशिष्ठजी अग्नि से कहकर रामजी से बोले, हे रामजी ! अब यही मृग अग्नि में प्रवेश करेगा तब इसका मनुष्यशरीर हो जावेगा। ऐसे वशिष्ठजी कहते ही थे कि अग्नि को वह मृग देखकर एक चरण पीछे को हटा और उछलकर अग्नि में प्रवेश कर गया। जैसे बाण निशान में आ प्रवेश करते हैं, तैसे ही उसने प्रवेश किया। हे राजन् ! उस मृग को कुछ खेद न हुआ बल्कि उसको अग्नि आनन्दरूप दृष्टि आया। तब उसका मृगशरीर अन्तर्धान हो गया और महाप्रकाशरूप मनुष्यशरीर को धारे अग्नि से निकला। जैसे कपड़े के ओढ़े से स्वांगी स्वांग धारण कर निकल आता है, तैसे ही वह निकल आया और अति सुन्दर वस्त्र पहिरे हुए, शीश पर मुकुट, कण्ठ में रुद्राक्ष की माला और यज्ञोपवीत धारण किये था। अग्निवत् वह तेजवान् था किन्तु सभा में जो बैठे थे उनसे भी अधिक उसका तेज था—मानो अग्नि को भी लज्जित किया है। जैसे सूर्य के उदय हुए चन्द्रमा का प्रकाश लज्जित हो जाता है, तैसे ही वह सर्व से प्रकाशवान् हो गया। फिर जैसे समुद्र से तरङ्ग निकलकर लीन हो जाता है, तैसे ही वह अग्नि अन्तर्धान हो गये। उसको देखकर रामजी आश्चर्य को प्राप्त हुए और सर्वसभा विस्मय को प्राप्त हुई। तब बड़े प्रकाश को धारनेवाला विपश्चित् निकलकर ध्यान में लग गया और विपश्चित् से आदि लेकर इस शरीरपर्यन्त सर्व शरीर स्मरण करके नेत्र खोल वशिष्ठजी के निकट आ साष्टाङ्ग प्रणाम कर बोला, हे ब्राह्मण ! ज्ञान के सूर्य और प्राण के दाता ! तुमको मेरा नमस्कार है। हे राजन् ! जब इस प्रकार उसने कहा तब वशिष्ठजी ने उसके शिर पर हाथ रक्खा और कहा, हे राजन् ! तू उठ खड़ा हो। अब मैं तेरी अविद्या दूर करूँगा और तू अपने स्वरूप को प्राप्त होगा। तब राजा विपश्चित् ने उठकर राजा दशरथ को प्रणाम किया और बोला, हे राजन् ! तेरी जय हो। तब राजा दशरथ ने आसन से उठकर कहा, हे राजन् ! तुम बहुत दूर फिरते रहे हो अब यहाँ मेरे पास बैठो। तब राजा विपश्चित् विश्वामित्र आदिक जो ऋषि बैठे थे उनको यथायोग्य प्रणाम करके बैठ गया और राजा दशरथ ने विपश्चित् को, जो बड़े प्रकाश को धारे हुए था, भास कहके बुलाया और कहा, हे भास ! तुम संसारभ्रम के लिये चिरकाल फिरते रहे हो; थके होगे अब विश्राम करो और जो जो देश काल क्रिया की हैं और देखा है सो कहो। यह आश्चर्य है कि अपने मन्दिर में सोये हो और निद्रादोष से गढ़े में गिरते फिरे और देश देशान्तरों को भटकते फिरे। यही अविद्या है। हे भास ! जैसे वन का बिचरनेवाला हाथी जंजीर से बन्धायमान हुआ दुःख पाता है, तैसे ही तुम विपश्चित् भी थे और अविद्या से जगत् के देखने के निमित्त भटकते रहे। हे राजन् ! जगत् कुछ वस्तु नहीं है पर भासता है यही माया है। जैसे भ्रम से आकाश में नाना प्रकार के रङ्ग भासते हैं तैसे ही अविद्या से यह जगत् भासते हैं और सत्य प्रतीत होते हैं पर सब आकाशरूप ही आकाश में स्थित हैं। उस आकाश में जो कुछ तुमने आत्मरूपी चिन्तामणि के चमत्कार से देखा है सो कहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चिच्छरीरप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकैकविंशतितमस्सर्गः ॥ २२१ ॥

दशरथजी बोले, हे भास ! बड़ा आश्चर्य है कि तुम विपश्चित् बुद्धिमान् थे और चेष्टा से तुमने अविपश्चित् बुद्धि की है जो अविद्या के देखने को समर्थ हुए थे। यह जगत्प्रतिभा तो मिथ्या उठी है; असत्य के ग्रहण की इच्छा तुमने क्यों की ? बाल्मीकिजी बोले, हे राजन् ! जब इस प्रकार राजा दशरथ ने कहा तब प्रसंग पाकर विश्वामित्र बोले, हे राजन्, दशरथ ! यह चेष्टा वही करता है जिसको परम बोध नहीं

होता और केवल मूर्ख और अज्ञानी भी नहीं होता, क्योंकि जिसको परमबोध और आत्मा का अनुभव होता है वह जगत् को अविद्यक जानता है और उस अविद्यक जगत् के अन्त लेने को इतना यत्न नहीं करता, क्योंकि वह तो असत्य जानता है और जो देहअभिमानी मूर्ख अज्ञ है वह भी यह यत्न नहीं करता, क्योंकि उसको देखने की सामर्थ्य भी नहीं होती। इससे मध्य भावी है। जो आत्मबोध से रहित है और जिसने आधिभौतिक शरीर त्याग किया है वही संसार देखने का यत्न करता है और जिनको उत्तम बोध नहीं हुआ वे इस प्रकार बहुत भटकते फिरते हैं। हे राजन्! इसी प्रकार बटधाना भी इसी ब्रह्माण्ड में फिरते हैं। सत्तर लक्ष वर्ष उनके व्यतीत हुए हैं कि इसी ब्रह्माण्ड में फिरते हैं। उनने भी यही निश्चय धारा है कि पृथ्वी कहाँ तक चली जाती है। इस निश्चय से वह निवृत्त नहीं होते और इसी ब्रह्माण्ड में भ्रमते हैं और उनको अपनी वासना के अनुसार विपरीत और ही और स्थान भासते हैं। हे राजन्! जैसे किसी बालक का रचा संकल्प का वृक्ष आकाश में हो, तैसे ही यह भूगोल ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है और संकल्प से गेंद के समान आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी इन पाँचों तत्त्वों का ब्रह्माण्ड रचा है और उसके चौफेर चींटियाँ फिरती हैं; जिस ओर से वे जाती हैं सो ऊर्ध्व भासता है सो और ही और निश्चय होता है, तैसे ही यह संकल्प के रचे भूगोल के किसी कोण में बटधाना जीव हुआ है। हे राजन्! उसके तीन पुत्र थे, उनको यह संकल्प उदय हुआ कि हम जगत् का अन्त देखें। इसी संकल्प से फिरते-फिरते पृथ्वी लाँघते हैं, फिर पृथ्वी और जल आता है जल लाँघते हैं फिर आकाश आता है फिर पृथ्वी, जल, वायु फिर उसी भूगोल के चहुँफेर फिरते रहे। जैसे आकाश में गेंद हो तैसे ही यह पृथ्वी आकाश में है और इसका अध-ऊर्ध्व कोई नहीं। चरण अध शिर ऊर्ध्व उसी के चौफेर घूमते रहे परन्तु अपने निश्चय से और का और जानते रहे। जबतक स्वरूप का प्रमाद है तबतक जगत् का अभाव नहीं होता और जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब जगत् ब्रह्मरूप हो जाता है। जगत् कुछ बन

weird scientists

नहीं, फुरने से भासता है जैसे स्वप्न में अज्ञान से अनन्त जगत् दीखते हैं कि यह फुरना परब्रह्म में हुआ है और जो फुरने में है सो भी परब्रह्म है और कुछ बना नहीं—आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे पत्थर की शिला घनरूप होती है, तैसे ही आत्मतत्त्व चैतन्यघन है। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, तैसे ही ब्रह्म और जगत् में कुछ भेद नहीं। सब कल्पना परब्रह्मरूप है और ब्रह्म ही कल्पनारूप है। इस जड़ और चैतन्य में कुछ भेद नहीं। हे राजन्! जिसको जगत् शब्द से कहते हो वह ब्रह्मसत्ता ही है। न कुछ उत्पन्न हुआ है और न प्रलय होता है—सर्व ब्रह्म ही है। जैसे पहाड़ में पत्थर से इतर कुछ नहीं होता, तैसे ही यह जगत् ब्रह्मसत्ता से इतर कुछ नहीं। जैसे पाषाण की पुतली पाषाणरूप ही है, तैसे ही जगत् ब्रह्मरूप ही है। एक सूक्ष्म अनुभव अणु से अनेक अणु होते हैं, जैसे एक पहाड़ से अनेक शिला होती हैं। हे राजन्! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको जगत् ब्रह्मरूप भासता है और जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार हो भासता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं है परन्तु जब तक संकल्प है तब तक जगत् फुरता है। जैसे रत्नों का चमत्कार होता है, तैसे ही जगत् आत्मा का चमत्कार है और चैतन्य आत्मा के आश्रय अनन्त सृष्टियाँ फुरती हैं सो सृष्टि सब आत्मरूप हैं आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जो जाग्रत् पुरुष ज्ञानवान् हैं उनको ब्रह्मरूप ही भासता है और जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार का जगत् भासता है। हे राजन्! कई एक इसको शून्य कहते हैं कि शून्य ही है और कुछ नहीं; कई इसको जगत् कहते हैं और कई ब्रह्म कहते हैं। जैसा किसी को निश्चय होता है उसको वही रूप भासता है। आत्मरूपी चिन्तामणि है, जैसा जैसा संकल्प उसमें फुरता है तैसा तैसा ही भासता है। सबका अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है; जैसा जैसा उसमें निश्चय होता है तैसा ही तैसा होकर भासता है और द्रष्टा, दर्शन, दृश्य—त्रिपुटी जो भासती है सो भी ब्रह्म होकर भासती है द्वितीय कुछ वस्तु नहीं और और जो कुछ भासता है वही अज्ञान है। हे राजन्! जबतक वासना नष्ट नहीं होती तबतक दुःख भी नहीं मिटते और जब वासना मिट जावे

तब सर्व जगत् ब्रह्मरूप अपना आप ही भासे और रागद्वेष किसी में न रहे। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार की सृष्टि भासती हैं जब पूर्व का स्वरूप स्मरण आता है तो सर्वरूप आप हो जाता है और रागद्वेष मिट जाता है; तैसे ही ज्ञानवान् को यह जगत् ब्रह्मरूप अपना आप भासता है और विकार से रहित होता है। पूर्व, अपूर्व और अपर को विचारना कि यह शुभ है और यह अशुभ है; अशुभ का त्याग करना यह गौण विचार है। जबतक पूर्वापर विचार मन में रहता है तबतक जगत् में भटकता है और बाँधा रहता है, क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों जगत् में हैं। जब इनका विस्मरण हो जावे और सम्पूर्ण जगत् को भ्रममात्र जानकर आत्मपद में सावधान हो तब मुक्त होता है। इस जीव को अपनी वासना ही बन्धन का कारण है। जबतक जगत् में वासना होती है तबतक रागद्वेष उपजता है और उससे बँधा रहता है। जिनको जगत् के सुख-दुःख में रागद्वेष की भावना नहीं उपजती और जिनकी वासना भी नष्ट होती है उनको यह जगत् ब्रह्मरूप अपना आप ही भासता है और जगत् में दुःखदायक कुछ नहीं भासता। उनको सब ब्रह्म ही भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे बटधानोपाख्यानवर्णनन्नाम
द्विशताधिकद्वाविंशतितमस्सर्गः ॥ २२२ ॥

दशरथजी ने विपश्चित् से पूछा, हे भास! तुम चिरकाल पर्यन्त जगत् में फिरते रहे हो जिस प्रकार तुमने चेष्टा की है और जो देश, काल, पदार्थ देखे हैं सो सब ही कहो। भास बोले, हे राजन्! मैं जगत् को देखता फिरा हूँ और फिरता फिरता थक गया हूँ परन्तु देखने की जो इच्छा थी इस कारण मुझको दुःख नहीं हुआ है। जो कुछ मैंने चेष्टा की है और जो देखा है सो कहता हूँ। हे राजन्! मैंने बहुत जन्म धारे हैं; और बहुत बार मृतक हुआ हूँ; बहुत बेर शाप पाया है; ऊँच-नीच जन्म धारे हैं और मर मर गया हूँ और बहुत ब्रह्माण्ड देखे हैं परन्तु यह सब अग्नि-देवता के वर से देखे हैं। एक बार मैं वृक्ष हुआ और सहस्र वर्ष पर्यन्त फूल, फल, टास संयुक्त रहा। जब कोई काटे तब मैं दुःखी होऊँ और मेरे हृदय में पीड़ा होवे। फिर वहाँ से शरीर छूटा तब मैं सुमेरु पर्वत

पर सुवर्ण का कमल हुआ और वहाँ का जलपान किया। फिर एक देश में पक्षी हुआ और सौ वर्ष पक्षी रहकर फिर सियार हुआ और मुझे हस्ती ने चूर्ण किया इससे मृतक होकर फिर सुमेरु पर्वत पर सुन्दर मृग हुआ और देवता और विद्याधर मेरे साथ प्रीति करने लगे। कुछ काल में मरकर फिर देवताओं के वन में मञ्जरी हुआ और वहाँ देवियाँ और विद्याधरियाँ मुझको स्पर्श करें और सुगन्ध लें। तब मैं देवताओं की स्त्री हुआ, फिर सिद्ध हुआ और मेरा वचन फुरने लगा; फिर मैंने और शरीर धारा और एक ब्रह्माण्ड लाँघ गया। इसी प्रकार कई ब्रह्माण्ड मैं लाँघ गया तब एक ब्रह्माण्ड में जो आश्चर्य देखा है सो सुनो। वहाँ मैंने एक स्त्री देखी जिसके शरीर में कई ब्रह्माण्ड थे। इससे मैं आश्चर्यवान् हुआ और देश काल क्रिया से पूर्ण कई त्रिलोकी देखीं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दृष्टि आता है; तैसे ही मुझको उसमें जगत् भासे। तब मैंने उससे कहा, हे देवि! तुम कौन हो और यह तेरे शरीर में क्या है? देवी बोली, हे साधो! मैं शुद्ध चित्शक्ति हूँ और यह सब मेरे अङ्ग मेरे में स्थित हैं। मेरी क्या बात पूछनी है–यह सब जगत् जो तू देखता है चिद्रूप हैं; चैतन्य से भिन्न और कुछ नहीं और सबमें ब्रह्माण्ड (त्रिलोकी) स्थित हैं जो अपना आप ही है। जो अपने स्वभाव में स्थित हैं उनको अपने ही में ये भासते हैं और जो स्वरूप में स्थित नहीं हैं उनको जगत् बाहर और आपसे भिन्न भासते हैं। हे राजन्! यह जगत् कुछ बना नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि और गन्धर्वनगर भासता है, तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है और जैसे जल में तरङ्ग भासता है सो जलरूप है–तरङ्ग कुछ भिन्न वस्तु नहीं होते; तैसे ही सब जगत् चिद्रूप में भासता है सो चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं परन्तु जब स्वभाव में स्थित होकर देखोगे तब ऐसे ही भासेगा और जो अज्ञानदृष्टि से देखोगे तो नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आवेगा। हे राजन्, दशरथ! जब इस प्रकार उस देवी ने मुझसे कहा तब मैं वहाँ से चला और आगे दूसरी सृष्टि में गया तो देखा कि वहाँ सब पुरुष ही रहते हैं, स्त्री कोई नहीं और पुरुष से प्रजा उत्पन्न होते हैं। उससे भी आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ न

सूर्य था, न चन्द्रमा था, न तारे थे, न अग्नि थी, न दिन था और न रात्रि थी। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और तारों का प्रकाश होता है, तैसे ही सब अपने प्रकाश से प्रकाशते थे। उनको देखकर मैं आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ क्या देखा कि आकाश ही से जीव उत्पन्न होकर आकाश ही में लीन होते हैं और इकट्ठे ही सब उपजते और इकट्ठे ही सब लीन हो जाते हैं; न वहाँ मनुष्य हैं; न देवता हैं; न वेद हैं; न शास्त्र हैं; न जगत् है—इनसे विलक्षण ही प्रकार है। हे राजन् ! इस प्रकार मैंने कई सृष्टियाँ देखी हैं जो मुझको स्मरण आती हैं। आगे और सृष्टि में गया तो वहाँ क्या देखा कि सब जीव एक ही समान हैं; न किसी को रोग है और न किसी को दुःख है—सब एक से गङ्गा के तीर पर बैठे हैं। हे राजन्! एक और आश्चर्य मैंने देखा है सो भी सुनो। एक सृष्टि में मैं गया तो वहाँ क्षीरसमुद्र मन्दराचल से मथा जाता था। एक ओर विष्णु भगवान् और देवता थे और मन्दराचल पर्वत रत्नों से जड़ा हुआ शेषनाग से रस्सी की नाईं लपिटा हुआ था; मथने के निमित्त दूसरी ओर दैत्य लगे थे और बड़ा सुन्दर शब्द होता था। वहाँ वह कौतुक देखकर मैं आगे गया तो एक और सृष्टि देखी जहाँ मनुष्य आकाश में उड़ते फिरते थे और देवता मनुष्य की नाईं पृथ्वी पर बिचरते और वेदशास्त्र जानते थे। हे राजन् ! एक और आश्चर्य मैंने देखा सो भी सुनो। एक सृष्टि में मैं जा निकला तो वहाँ मन्दराचल पर्वत पर कल्पतरु का वन था और उसमें मदनका नाम एक अप्सरा रहती थी। वहाँ जाकर मैं सो रहा तो ज्यों ही रात्रि का समय आया कि वह अप्सरा मेरे कण्ठ में आ लगी। तब मैंने जागकर उसको देखा और कहा कि हे सुन्दरी! तूने मुझको किस निमित्त जगाया ? मैं तो सुख से सो रहा था। तब उस अप्सरा ने कहा कि हे राजन् ! मैंने इस निमित्त तुझको जगाया है कि चन्द्रमा उदय हुआ है और चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमा को देखकर स्रवेगी और नदी की नाईं प्रवाह चलेगा; ऐसा न हो कि उसमें तू बह जावे। हे राजन्, दशरथ ! इस प्रकार उसने कहा ही था कि नदी का प्रवाह चलने लगा। तब वह अप्सरा उस प्रवाह को देखकर मुझे आकाश

को ले उड़ी और पर्वत के ऊपर जहाँ गङ्गा का प्रवाह चलता था उसके तट पर मुझको स्थित किया। सात वर्ष पर्यन्त मैं वहाँ रहकर फिर एक और ब्रह्माण्ड में गया तो देखा कि वहाँ तारा, नक्षत्र, चन्द्र, सूर्य कुछ भी न थे। उसको देखकर मैं और आगे गया। इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्ड मैंने देखे। हे राजन् ! ऐसा देश व ऐसी पृथ्वी, नदी और पहाड़ कोई न होगा जिसको मैंने न देखा हो और ऐसी चेष्टा कोई न होगी जो मैंने न की हो। कई शरीरों के मैंने सुख भोगे हैं; कितनों के दुःख भोगे हैं और वन, कन्दरा और गुप्त स्थानों में फिरकर सब देखा परन्तु अग्निदेवता के वर को पाकर फिरता-फिरता मैं थक गया तौ भी आगे ही चला गया और अनेक अविद्यक ब्रह्माण्ड भी देखे परन्तु अब उनका अन्त आया है कि यह जगत् भ्रममात्र है। मैंने शास्त्रों में सुना है कि यह जगत् है नहीं तौ भी दुःख देता है। जैसे बालक को अपनी परछाहीं में वैताल भासता है, तैसे ही यह जगत् अविचार से भासता है और विचार किये से निवृत्त हो जाता है। एक आश्चर्य और सुनो कि एक ब्रह्माण्ड में मैं गया तो वहाँ महाआकाश था। उस महाआकाश से गिरकर मैं पृथ्वी पर आन पड़ा और वहाँ सो गया तब मैं महागाढ़ सुषुप्तिरूप हो गया और सब जगत् का मुझे विस्मरण हो गया। जब वह गाढ़ सुषुप्ति क्षीण हुई तब एक स्वप्ना आया और उसमें तुम्हारा यह जगत् मुझको भासि आया। उसमें मुझको पहाड़, कन्दरा, देश और बहुत से गुप्त, प्रकट स्थान भासि आये। जहाँ केवल सिद्धों की गम थी वहाँ भी मैं गया और जहाँ सिद्धों की भी गम न थी वहाँ भी मैं गया। इस प्रकार अनेक जगत् मैंने देखे परन्तु आश्चर्य है कि स्वप्ने की सृष्टि प्रत्यक्ष जाग्रत् की तरह दृष्टि आती थी और स्वप्ने के शरीर जाग्रत् में पड़े भासते थे। इससे सब जगत् भ्रममात्र है और असत्य ही सत्य होकर दिखाई देता है। इस प्रकार देखकर मैं बड़े आश्चर्य में पड़ा हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विपश्चित्कथावर्णनन्नाम
द्विशताधिकत्रयोविंशतितमस्सर्गः ॥ २२३ ॥

विपश्चित् बोले, हे राजन् ! एक सृष्टि और भी मैंने देखी है जो इसी महाआकाश में है—अर्थात् इस महाआकाश से भिन्न नहीं और जहाँ तुम्हारी भी गम नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि कोई जाग्रत् में देखा चाहे तो दृष्टि नहीं आती तैसे ही वह सृष्टि है। हे राजन् ! पृथ्वी का एक स्थान मेरे देखते ही देखते परछाहीं की नाईं फिरने लगा और फिर उस आकाश में वही पहाड़ की नाईं भासने लगा, यहाँ तक कि मनुष्यों के शरीर और दशों दिशाओं को रोक लिया और आकाश से भी बड़ा भासने लगा इससे आकाश में भी न समाता था। उसने सूर्य और चन्द्रमा को भी मेरे देखते ही देखते ढाँप लिया और फिर भूकम्प सा आया मानो प्रलयकाल ही आ गया। तब मैंने अपने इष्ट अग्निदेवता की ओर देखकर प्रार्थना की कि हे भगवन् ! तुम मेरी जन्म-जन्म रक्षा करते आये हो इससे अब भी रक्षा करो; मैं नष्ट होता हूँ। तब अग्नि ने कहा, तू भय मत कर। फिर मैंने अग्नि में जब प्रवेश किया, तब अग्नि ने कहा कि मेरे वाहन पर सवार होकर मेरे स्थान को चल। फिर अग्निदेव मुझको अपने वाहन तोते पर चढ़ाकर आकाशमार्ग से तुरन्त ले उड़ा। जब हम उड़े तब पीछे से वह शव पृथ्वी पर गिरा और उसके गिरने से सुमेरु जैसे पर्वत भी पाताल को चले गये। वह महाशरीर सैकड़ों सुमेरु के समान गिरा और मन्दराचल, मलयाचल, अस्ताचल से लेकर जो बड़े-बड़े पर्वत थे सो भी नीचे को चले गये। पृथ्वी में गढ़े पड़ गये और उसके शरीर के नीचे जो वृक्ष, मनुष्य, दैत्य, स्थावर, जङ्गम आये वे सब नष्ट हो गये और बड़ा उपद्रव उदय हुआ। निदान उसके शरीर से सर्व-दिशा पूर्ण हो गई और उसके अङ्ग ब्रह्माण्ड से भी पार निकल गये। हे राजन्, दशरथ ! इस प्रकार मैं भयानक दशा देखकर अपने इष्टदेव अग्नि से बोला कि हे देव ! यह उपद्रव क्योंकर हुआ; यह सब क्या है और ऐसा शरीर क्यों पड़ा है ? आगे तो कोई भी ऐसा शरीर नहीं देखा-सुना ? अग्नि ने कहा, तू अभी तूष्णी हो रह। यह सब वृत्तान्त मैं तुझसे कहूँगा पर प्रथम इसको शान्त होने दे। इस प्रकार अग्नि कहता ही था कि देवता, विद्याधर, गन्धर्ब और सिद्ध जितने स्वर्गवासी थे वे सब आकर

स्थित हुए और विचार करने लगे कि यह उपद्रव प्रलयकाल विना हुआ है। इसके नाश करने को देवीजी की आराधना करनी चाहिये। हे राजन् ! ऐसे विचार करके वे देवी की स्तुति करने लगे कि हे देवि, शववाहिनि, चण्डिके ! हम तेरी शरण आये हैं, इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो। ऐसे कहकर वे स्तुति करने लगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाशववृत्तान्तवर्णनन्नाम
द्विशताधिकचतुर्विंशतितमस्सर्गः ॥ २२४ ॥

विपश्चित बोले, हे राजन्, दशरथ ! उन देवताओं ने स्तुति करके शव की ओर जो देखा तो क्या देखते हैं कि सातों द्वीप उसके उदर में समा गये हैं; भुजाओं से सुमेरु आदिक पर्वत ढप गये हैं और उसके दूसरे अङ्ग ब्रह्माण्ड को भी लाँघ गये हैं और साथ ही पाताल को भी गये हैं। निदान उनकी मर्यादा कहीं पाई नहीं जाती थी। एक ही अङ्ग से पृथ्वी छिप गई। ऐसे देखकर विद्याधर, गन्धर्ब और सिद्धों से लेकर सम्पूर्ण नभचर स्तुति करने लगे। हे अम्बे, चण्डिके ! अपने गण को साथ लेकर इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो—हम तेरी शरण आये हैं। हे राजन् ! जब इस प्रकार स्तुति करके देवता आराधन करने लगे तब चण्डिका आकाशमार्ग से यक्ष, वैताल, भैरव आदिक गण अपने साथ लेकर आई और जैसे मेघ सर्व दिशाओं को ढाँप लेता है, तैसे ही सर्व ओर से उसके गणों ने आकर आकाश को ढाँप लिया और चण्डिका ऐसे तेजरूप को धारे हुए चली आती थी मानो अग्नि की नदी चली आती थी। उसके रक्त नेत्र, शिर पर पके केश और श्वेत दाँत थे और वह बड़े शस्त्र धारे हुए कई कोटि योजन पर्यन्त उसका विस्तार था। वह सब दिशा और आकाश अपने शरीर से आच्छादित किये, कण्ठ में मुण्डों की माला पहिने, मुरदे वाहन पर आरूढ़ और परमात्मपद में उसकी स्थिति थी। वह ऐसी महाप्रकाशवान् थी मानो सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि आदिक के प्रकाश को भी लज्जित कर रही है और हाथों में खड्ग, मूसल, ध्वजा, ऊखल आदिक नाना प्रकार के शस्त्र धारें आकाश में तारागण की नाईं गर्जती हुई गणों सहित इस प्रकार चली आती थी मानो समुद्र

से निकली साक्षात् बड़वाग्नि चली आती है। जब वह निकट आई तब देवता फिर प्रार्थना करने लगे कि हे अम्बे! इसका नाश करो व अपने गणों को आज्ञा दीजिये कि इसका भोजन करें; हम इसको देखकर बड़े शोक को प्राप्त हुए हैं और तेरी शरण हैं; इस उपद्रव से हमारी रक्षा करो। हे राजन्, दशरथ! जब इस प्रकार देवताओं ने कहा तब चण्डिका ने प्राणवायु को खींचा और जितना शव में रक्त था वह सब पान कर गई। जैसे समुद्र को अगस्त्यजी ने पान किया था, तैसे ही उसने रक्त पान किया। जब उससे देवी का उदर और अङ्ग सब पूर्ण हो गये और नेत्र लाल हो आये तब देवी नृत्य करने लगी और उसके गण सब उस शव का भोजन करने लगे। कई मुख को खाने लगे; कई भुजा को; कई उदर को; कई वक्षःस्थल को; कई टाँगों को और कई चरणों को, इसी प्रकार उसके सब अङ्गों को गण भोजन करने लगे। कई गण आँतें लेकर आकाश में सूर्य के मण्डल को गये; कई गण उस शव के अन्त पाने को उड़े सो मार्ग ही में मर गये परन्तु कहीं अन्त न पाया और देवी जो उस शव की ओर देखती थी इससे उसके नेत्रों से अग्नि निकलती थी—और उससे मांस परिपक्व होता था और गण भोजन करते थे। मांस पकने के समय जो शरीर से रक्त निकलता था उससे मन्दराचल और हिमाचल पर्वत लाल हो गये—मानो पर्वतों ने भी लाल वस्त्र पहिरे हैं। रक्त की नदियाँ बहने लगीं और जो बड़े सुन्दर स्थान और दिशा थीं वे सब भयानक हो गईं और पृथ्वी के जीव सब नष्ट हो गये पर जो पहाड़ की कन्दरा में जाकर दब रहे थे सो बच गये शेष सब नष्ट हो गये। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि उसके नीचे प्राणी आकर सब नष्ट हो गये और अङ्ग उसके ऐसे कहते हो कि ब्रह्माण्ड को भी लाँघ गये एवम् फिर कहते हो कि देवता बच रहे सो क्या कारण है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो उसके शरीर और अङ्ग के नीचे आये वे तो नष्ट हो गये पर मुख और ग्रीवा में कुछ भेद है तिसमें जो पोल है और गोदी और टाँग के नीचे के पोल में और सुमेरु, मन्दराचल, उदयाचल और अस्ताचल पर्वतों में कुछ

पोल है उनकी कन्दरा में बैठे हुए देवता बच गये और जो अङ्ग के छिद्रों में रहे वे भी बच रहे और कहने लगे कि बड़ा कष्ट है जो हमारे बैठने के कई स्थान नष्ट हो गये। हाय! वे वृक्ष कहाँ गये, बरफ़ का पर्वत हमारा कहाँ गया, उनकी सुन्दरता कहाँ गई, वन और बगीचे कहाँ गये, चन्दन के वृक्ष कहाँ गये और वे जनों के समूह कहाँ गये जो हमको यज्ञ करके पूजते थे? वे ऊँचे वृक्ष कहाँ गये जिनके ब्रह्मलोक पर्यन्त फूल और टहनी जाती थीं और वह क्षीरसमुद्र कहाँ गया जिसके मथने से बड़ा शब्द हुआ था? उसके पुत्र जो रत्न, कल्पतरु और चन्द्रमा थे वे कहाँ गये और जम्बूद्वीप कहाँ गया जिसमें जम्बू के रस की नदी चलाई थी और सुवर्णवत् जल के चक्र उठते थे? ईख के रस का समुद्र कहाँ गया? हा कष्ट! हा कष्ट! शक्कर के और मिश्री के पर्वत और अप्सराओं के बिचरने के स्थान कहाँ गये और पृथ्वी कहाँ गई? वे नन्दनवन के स्थान कहाँ गये जहाँ हम अप्सराओं के साथ विलास करते थे? उन विषयों का अभाव नहीं हुआ मानो हमको शूल चुभते हैं। जैसे फल को कण्टक चुभते हैं, तैसे ही विषय के आभासरूपी हमको कण्टक चुभते हैं। इसी प्रकार वे अति शोकवान् हुए और कहने लगे हा कष्ट! हा कष्ट! इधर विषयों का स्मरण करके देवता शोक करते थे और उधर उस शव के जितने अङ्ग थे उनको गणों ने भोजन कर लिया और उससे अघा गये। कुछ मेदा का पिण्ड शेष रह गया था उससे बहुत दुर्गन्ध हुई और उस पिण्ड की पृथ्वी हो गई इससे उसका नाम मेदिनी हो गया और मोटे हाड़ों के सुमेरु आदिक पर्वत हुए। तब ब्रह्माजी ने देखा कि सब विश्व शून्यसा हो गया है इससे उन्होंने संकल्प किया कि अब फिर मैं सृष्टि रचूँ। निदान पूर्व की नाईं उसने सृष्टि रची और जगत् का सब व्यवहार उसी प्रकार चलने लगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वयंमाहात्म्यवृत्तान्तवर्णनन्नाम द्विशताधिकपञ्चविंशतितमस्सर्गः ॥ २२५ ॥

विपश्चित् बोले; हे राजन्, दशरथ! जब यह कर्म हो रहा था तब मैंने अपने इष्टदेवता से, जो तोतेवाहन पर आरूढ़ था, प्रश्न किया कि हे महा-

देव ! सर्वजगत् के ईश्वर और सर्वजगत् के भोक्ता ! यह शव कौन था; कहाँ स्थित था और किस प्रकार गिरा ? अग्नि बोले, हे राजन् ! जिसका अनन्त त्रिलोकी आभास है उससे इस शव का वृत्तान्त वर्णन हो सकता है; एक त्रिलोकी से इसका वृत्तान्त नहीं हो सकता। इससे सुनो; हे राजन्! एक परम आकाश है जो चिन्मात्र पुरुष सर्वज्ञ, अनामय और अनन्त है। वह आत्मतत्त्व केवल अपने आपमें स्थित है पर उसका जो आभास संवेदन फुरना है, वही किञ्चन होता है। वह जब किसी स्थान में फुरता है तब ऐसी भावना होती है कि मैं तेज अणु हूँ। उस भावना के वश से अणु सी हो जाती है। जैसे कोई पुरुष सोया है और स्वप्ने में आपको मार्ग में चलता देखता है, अथवा जैसे तुम स्वप्ने में आपको पौढ़े देखो तैसे ही चित्संवेदन ने आपको अणु जाना है। जैसे फुरना ब्रह्मा को हुआ है, तैसे ही धूर के कणके का भी अधिष्ठान में फुरना तुल्य हुआ है। जब उस अणु को शरीर की भावना होती है तब अपने साथ शरीर देखता है और शरीर के होने से नेत्र आदिक इन्द्रियाँ घन होती हैं तब शरीर और इन्द्रियों से आपको मिला हुआ जानता है। जब अपना आप जानकर उनको ग्रहण करके इन्द्रियों से विषय को ग्रहण करता है तब वही चिद्रूप जीव प्रमाद से आधाराधेयभाव को मानता है पर अधिष्ठानसत्ता में कुछ हुआ नहीं; वह अद्वैतसत्ता ज्यों की त्यों अपने आप में स्थित है। जैसे स्वप्ने में प्रमाद से अपने आपको किसी गृह में बैठे देखता है; तैसे ही यहाँ प्रमाद से आधाराधेयभाव को देखता है और प्राण और मन अहंकार को धारता है और जानता है कि मेरे माता-पिता हैं और मैं अनादि जीव हूँ। अपना शरीर जानकर आगे पाञ्चभौतिक जगत् शरीर को देखता है और अपने फुरने के अनुसार अङ्ग होते हैं। इसी प्रकार जो आदि शुद्ध चिन्मात्र तत्त्व में फुरना हुआ तो चित्तकला फुरी और उसने आपको तेज अणु जाना। तब उसमें अहंवृत्ति तो अहंकार हुआ; निश्चयात्मक बुद्धि हुई, चेतनारूप चित्त और संकल्पविकल्परूप मन हुआ। यह उत्पन्न होकर फिर तन्मात्रा उपजी, फिर उसके इच्छा द्वारा शरीर और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं और देखने की इच्छा हुई। उस

संवित् में दृश्य भासि आई तब संवित् शक्ति ने आपको प्रमाददोष से द्वैतरूप जाना और साथ ही उसके अपने माता, पिता और कुल फुर आये कि यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है और यह मेरा कुल है सो चिरकाल से चला आता है। इसी प्रकार एक दैत्य अहंकार सहित बिचरने लगा और एक कुटी में एक ऋषि बैठा था, उस कुटी की ओर गया और उसकी कुटी चूर्ण करके जब ऋषि के निकट आया तब ऋषि ने कहा, हे दुष्ट ! तूने यह क्या चेष्टा ग्रहण की है। अब तू मरकर मच्छर होगा। हे विपश्चित् ! उस ऋषि के शापरूपी अग्नि से उसका शरीर भस्म हो गया और उसकी निराकार चेतनसंवित् भूताकाशरूप हो गई। फिर आकाश में उसका वायु से संयोग हुआ और उस ऋषि मौनी के शाप की वासना आन उदय हुई। जैसे पृथ्वी में समय पाकर बीज से अंकुर उत्पन्न होता है, तैसे ही पञ्चतन्मात्रा उदय हुईं और अपना मच्छर का शरीर जिसकी आयु दो अथवा तीन दिन की होती है, अज्ञान से भासि आया। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जीव जो जन्म पाते हैं सो जन्म से जन्मान्तर को चले आते हैं अथवा ब्रह्मा से उपजे होते हैं–यह कहो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! कई जन्म से जन्मान्तर चले आते हैं और कई ब्रह्मा से उपजे होते हैं। जिनको पूर्ववासना का संसरना होता है वे वासना के अनुसार शरीर धारते हैं और जन्म से जन्मान्तर पाते चले आते हैं और जिनको संस्कार विना भूत भासि आते हैं वे ब्रह्मा से उत्पन्न होते हैं। हे रामजी ! आदि में सब जीव संस्काररूपी कारण विना उत्पन्न हुए हैं और पीछे से जन्मान्तर होता है। जो संस्कार विना भूत भासे, उसे जानिये कि ब्रह्मा से उपजा है और जिसको संस्कार से सृष्टि भासे उसे जानिये कि इसका जन्मान्तर है। यह दो प्रकार से भूतों की उत्पत्ति मैंने तुमसे कही है। अब फिर उस मच्छर का क्रम सुनो। हे रामजी ! जब उसने मच्छर का जन्म पाया तब कमलिनियों और हरी घास, तृण और पत्तों में मच्छरों को साथ लिये रहने लगा। निदान वहाँ एक मृग आया और उसका चरण उस मच्छर पर इस प्रकार आ पड़ा जैसे किसी पर सुमेरु पर्वत आ पड़े। तब वह मच्छर चूर्ण होकर

मृतक हो गया और मृतक होने के समय मृग की ओर देखने लगा इससे मरके तत्काल ही मृग हुआ और वन में बिचरने लगा फिर एक काल में उसको बधिक ने देखकर बाण चलाया और उस बाण से वह मृग बेधा गया। बेधे हुए मृग ने बधिक की ओर देखा इसलिये वह मरके बधिक हुआ और धनुष बाण लेकर मृग और पक्षियों को मारने लगा। एक समय में वह वन को गया और वहाँ एक मुनीश्वर को देख उसके निकट जा बैठा, तब मुनीश्वर ने कहा, हे भाई! तूने यह क्या पापचेष्टा का आरम्भ किया है? इस चेष्टा से तो तू नरक को प्राप्त होवेगा इससे किसी जीव को दुःख न दे। जिन भोगों के निमित्त तू यह चेष्टा करता है सो बिजली के चमत्कारवत् हैं। जैसे मेघ में बिजली का चमत्कार होता है और फिर मिट जाता है, तैसे ही ये भोग भी होकर मिट जाते हैं और जैसे कमल के पत्र पर जल की बुन्द ठहरती है पर उसकी आयु कुछ नहीं होती क्षणपल में गिर पड़ती है, तैसे ही इस शरीर की आयु कुछ नहीं है। जैसे अञ्जली में जल डाला नहीं ठहरता, तैसे ही यौवन अवस्था चली जाती है। क्षणभंगुर है और यौवन असार है उसमें भोगना क्या है? इनसे कदाचित् शान्ति नहीं होती। जो तुझको शान्ति की इच्छा हो तो निर्वाण होने का प्रश्न कर, तब तू दुःख से मुक्त होगा। अपने हिंसाकर्म को त्याग दे। इसके करने से नरक में जावेगा और कदाचित् शान्ति तुझको न प्राप्त होगी। तू अपने हाथ से अपने चरण पर क्यों कुल्हाड़ा मारता है और अपने नाश के निमित्त तू क्यों विष का बीज बोता है? इस कर्म से तू दुःखरूप संसार में भटकता फिरेगा और शान्तिमान् कदाचित् न होगा। इससे अब तू वही उपाय कर जिससे संसारसमुद्र से पार हो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे मच्छरव्याधवर्णनन्नाम
द्विशताधिकषड्विंशतितमस्सर्गः ॥ २२६ ॥

अग्नि बोले, हे राजन्! जब इस प्रकार ऋषीश्वर ने उस बधिक से कहा तब उसने धनुषबाण को डाल दिया और बोला हे भगवन्! जिस प्रकार मैं संसारसमुद्र से पार हो जाऊँ वह उपाय कृपा करके मुझसे कहिये

परन्तु वह कैसा उपाय हो जो न दुःसाध्य हो और न मृदु हो अर्थात् जो अल्प भी न हो और कठिन भी न हो। ऋषीश्वर बोले, हे बधिक! मन को एकाग्र करने का नाम शम है और इन्द्रियों के रोकने को दम कहते हैं-वही मौन है। मन को एकाग्र करने से अन्तःकरण शुद्ध होता है और अन्तःकरण की शुद्धता से आत्मज्ञान उपजता है इससे संसारभ्रम निवृत्त होकर परमानन्द की प्राप्ति होती है। अग्नि बोले, हे राजन्! इस प्रकार जब ऋषीश्वर ने कहा तब वह बधिक उठ खड़ा हुआ और प्रणाम करके तप करने लगा। इन्द्रियों को उसने संयम में रक्खा और जो अनिच्छित यथाशास्त्र प्राप्त हो उसका भोजन करने लगा और हृदय से सब क्रियाओं की मौनवृत्ति धारण की। जब उसको कुछ काल तप करते व्यतीत हुआ तब उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और ऋषीश्वर के निकट आ प्रणाम करके बैठ गया और बोला, हे भगवन्! बाहर जो दृश्य है सो हृदय में किस प्रकार प्रवेश करती है और स्वप्न की सृष्टि अन्तर की बाह्यरूप हो कैसे भासती है? यह कृपा करके कहो। ऋषीश्वर बोले, हे बधिक! यह बड़ा गूढ़ प्रश्न तूने किया है। यही प्रश्न मैंने भी गणपति से किया था और उनके कहने से मैंने जो ग्रहण किया है सो सुन। एक समय यही सन्देह दूर करने का उपाय मैंने भी किया था और पद्मासन बाँध, बाहर की इन्द्रियों को रोक मन में लगा मन, बुद्धि आदिक को पुर्यष्टका में स्थित किया। फिर पुर्यष्टका को भी शरीर से विरक्त किया और उसको आकाश में निराधार ठहराया। निदान जब विलक्षण हुआ चाहूँ तब विलक्षण हो जाऊँ और जब शरीर में व्यापा चाहूँ तब व्याप जाऊँ। हे बधिक! इस प्रकार जब मैं योगधारणा से पूर्ण हुआ, तो एक काल में एक पुरुष हमारी कुटी के पास सो रहा था और उसके श्वास भीतर-बाहर आते-जाते थे। उसको देखकर मैंने यह इच्छा की कि इसके भीतर जाकर कौतुक देखूँ कि क्या अवस्था होती है। ऐसे विचार करके मैंने पद्मासन बाँधा और योग की धारणा करके उसके श्वासमार्ग से भीतर प्रवेश किया। जैसे उष्ट्र ऊँघता हो और उसके श्वासमार्ग से सर्प प्रवेश करे। तैसे ही मैंने प्रवेश किया

तो उसके भीतर अपने-अपने रस को ग्रहण करनेवाली नाड़ियाँ मुझे दृष्टि आईं। कई वीर्य को ग्रहण करनेवाली हैं, कई रक्त और कफ को ग्रहण करती हैं, कई मलमूत्रवाली हैं और अनेक विकार जो उसके भीतर थे सो सब देखे। इससे मैं अप्रसन्न भया कि महा अपवित्र स्थान है और रक्तमज्जासंयुक्त महानरक के तुल्य अन्धकार है। फिर और आगे गया तो वहाँ एक कमल देखा कि उसमें उसका संवेदन फुरता है और संवित्शक्ति जो महातेजवान् हृदयाकाश है सो भी वहाँ स्थित है। वही त्रिलोकी का आदर्श है और त्रिलोकी में जो पदार्थ हैं उनका दीपक है और सर्व पदार्थों की सत्तारूप है। ऐसी संवित्रूपी जीवसत्ता वहाँ स्थित थी उससे मैं तद्रूपता को प्राप्त हुआ। फिर मैंने सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, देवता, गन्धर्व आदि नाना प्रकार के स्थावर-जङ्गम विश्व को देखा। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सहित सम्पूर्ण सृष्टि को उसके भीतर देखकर मैं आश्चर्यवान् हुआ कि उसके भीतर सृष्टि क्योंकर भासी। हे बधिक! उसने जाग्रत् में उस सृष्टि का अनुभव इन्द्रियों से किया था और भीतर चित्तत्व में उसका संस्कार हुआ था वही भीतर भासने लगा और भीतर जो भूतसत्ता थी सो उसके स्वप्ने में सृष्टिरूप बाहर बनी और मुझको प्रत्यक्ष भासने लगी। जैसे जाग्रत् प्रत्यक्ष अर्थाकार भासती है, तैसे ही मुझको यह सृष्टि भासने लगी। हे बधिक! इस जाग्रत् सृष्टि और उस सृष्टि में मैंने कुछ भेद न देखा—दोनों तुल्य हैं। चिरपर्यन्त प्रतीति का नाम जाग्रत् है और अल्पकाल की प्रतीति का नाम स्वप्ना है पर स्वरूप से दोनों तुल्य हैं। जो उसके स्वप्ने के अनुभव में था सो मुझको जाग्रत् भासा और जो मुझको जाग्रत् भासा सो उसको स्वप्ना भासा। निद्रादोष से उसको स्वप्ना हुआ सो उसको भी उस काल में जाग्रत्रूप भासने लगा, क्योंकि स्वप्ना जो स्वप्नरूप है सो जाग्रत् में स्वप्ना है और स्वप्न में तो जाग्रत् है; तैसे जाग्रत् भी अपने काल में जाग्रत् है, नहीं तो स्वप्नरूप है सो जाग्रत् में भी जो सत्य प्रतीत है वही प्रमाद है। इन दोनों में कुछ भेद नहीं, क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न दोनों का अधिष्ठान चैतन्यसत्ता परब्रह्म ही है और उसी के प्रमाद से प्राण के साथ सम्बन्ध हुआ है। जब प्राण से चित्तसंवेदन मिलती है तब उस फुरनरूप के इतने नाम होते हैं—जीव, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार आदिक। वही संवेदन जो बाह्यरूप हो फुरती है तब जाग्रत्रूप जगत् हो भासता है और पाँच ज्ञानइन्द्रियाँ, पाँच कर्मइन्द्रियाँ और चतुष्टय अन्तःकरण ये चौदह अपने-अपने विषय को ग्रहण करते हैं—इसका नाम जाग्रत् है। जब चित्तस्पन्द निद्रादोष से अन्तर्मुख फुरता है तब नाना प्रकार की स्वप्ने की सृष्टि देखता है और उस काल में वही जाग्रत्रूप हो भासता है। अधिष्ठान जो आत्मसत्ता है जब संवेदन उसकी ओर फुरती है और बाह्यविषय के फुरने से रहित अफुरन होती है तब न जाग्रत् भासती है और न स्वप्ना भासता है केवल निर्विकल्प आत्मसत्ता शेष रहती है। हे बधिक! मैंने विचार देखा है कि जगत् और कुछ वस्तु नहीं फुरने ही का नाम जगत् है। जब चित्तसंवेदन फुरनरूप होती है तब जगत् भासता है और जब चित्तसंवेदन फुरने से रहित होती है तब जगत् कल्पना मिट जाती है; इसलिये मैंने निश्चय किया है कि वास्तव में केवल चिन्मात्र है। जगत् कुछ वस्तु नहीं मिथ्या कल्पनामात्र है। हे बधिक! जगत्भावना त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो। अब वही वृत्तान्त फिर सुनो। जब उसके भीतर मैंने स्वप्न और जाग्रत् अवस्था देखीं तब मैंने यह इच्छा की कि सुषुप्ति अवस्था भी देखूँ और विचार किया कि सुषुप्ति प्रलय का नाम है जहाँ द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनों का अभाव हो जाता है परन्तु जहाँ मैं देखनेवाला हुआ वहाँ महाप्रलय कैसे होगी और जो मैं जाननेवाला न होऊँ तब सुषुप्ति को कौन जानेगा। हे बधिक! तब मैंने विचार के देखा कि और सुषुप्ति कोई नहीं जहाँ चित्त की वृत्ति नहीं फुरती उसी का नाम सुषुप्ति है। ऐसे विचार करके मैंने चित्त को फुरने से रहित किया तब उसकी सुषुप्ति देखी तो क्या देखा कि न कोई वहाँ अहं और त्वं शब्द है; न शुभ है; न अशुभ है; न जाग्रत् है; न स्वप्ना है और न सुषुप्ति की कल्पना है; सर्व कल्पना से रहित केवल चित्तसत्ता मैंने देखी। जो तुम कहो कि सुषुप्ति निर्विकल्प तुमने कैसे देखी तो उसका उत्तर

यह है कि अनुभव ज्ञानरूप आत्मसत्ता सर्वदा काल में ज्यों की त्यों है और उसमें जैसा आभास फुरता है तैसा ही ज्ञान होता है। यह जो तुम भी दिन प्रतिदिन देखते हो और सुषुप्ति से उठकर जानते हो कि मैं सुख से सोया था सो अनुभव से ही देखते हो; तैसे ही मैंने भी वह देखा जहाँ चित्तसंकल्प कोई नहीं फुरता केवल निर्विकल्प है परन्तु सम्यग्बोध से रहित है उस अभाव वृत्ति का नाम सुषुप्ति है। फिर मुझको तुरीया देखने की इच्छा हुई पर तुरीया देखनी महाकठिन है। तुरीया साक्षीभूत वृत्ति का नाम है, वह सम्यग्ज्ञान से उत्पन्न होती है और जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था की साक्षीभूत है और सुषुप्ति की नाईं है। जैसे सुषुप्ति में अहं, त्वं आदिक कल्पना कोई नहीं होती तैसे ही तुरीया में भी नहीं। उसमें ब्रह्म का सम्यग्बोध होता है और सुषुप्ति जड़ीभूत तमरूप अविद्या होती है। तुरीया में जड़ता नहीं होती; सुषुप्ति और तुरीया में इतना ही भेद होता है। सच्चिदानन्दसाक्षी वृत्ति होती है। सम्यग्बोध का नाम तुरीयापद है और तुरीया इससे भिन्न नहीं। ऐसे निश्चय से मैंने उसको देखा। हे बधिक ! चारों अवस्था मैंने माया अर्थात् फुरने सहित भिन्न-भिन्न देखीं पर आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है उसमें न कोई जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न तुरीया है—इनका भेद वहाँ नहीं। आत्मसत्ता सदा अद्वैत है और ये चारों चित्त संवेदन में होती हैं। हे बधिक ! ऐसा अनुभव करके मैं बाहर आया और बाहर भी मुझको वैसे ही भासने लगा; तब मैंने कहा कि यही जगत मुझको उसके भीतर भासा था बाहर कैसे आया ? मैंने तब मैंने फिर उसके भीतर प्रवेश किया। प्रथम जो उसके भीतर मैंने प्रवेश किया था और उसके भीतर सृष्टि देखी थी तब उसकी और मेरी संवेदन मिल गई थी पर जब मैंने अपनी संवेदन उससे भिन्न की तब दो ब्रह्माण्ड हो गये और एक उसकी संवेदन फुरने में और एक मेरी संवेदन में भासने लगा, क्योंकि मैंने प्रथम उसकी सृष्टि को देख और अर्थरूप जानकर ग्रहण किया था उसका संस्कार दृढ़ हो गया। आत्मसत्ता के आश्रय जैसे संवेदन फुरती गई तैसे होकर भासने लगा।

उसका स्वप्न मुझको जाग्रत् होकर भासने लगा—जैसे एक दर्पण में दो प्रतिबिम्ब भासें, तैसे ही एक अनुभव में मुझे दो सृष्टि भासने लगीं। तब मैंने विचार किया कि सृष्टि संकल्परूप है; संकल्प जीव-जीव का अपना-अपना है और अपने-अपने संकल्प की भिन्न-भिन्न सृष्टि है इससे अनुभव के आश्रय जैसा-जैसा संकल्प फुरता है तैसी-तैसी सृष्टि भासती है; सृष्टि का कारण और कोई नहीं। हे बधिक ! अष्टनिमेष पर्यन्त मुझको दो सृष्टि भासती रहीं, फिर मैंने उसके और अपने चित्त की वृत्ति इकट्ठी करके मिलाई तो दोनों तद्रूप हो गईं—जैसे जल और दूध मिलकर एकरूप हो जाते हैं और दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। जैसे भ्रम दृष्टि से आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं और भ्रम के गये से दूसरे चन्द्रमा का अभाव हो जाता है; तैसे ही द्वितीय वृत्ति के अभाव हुए से दूसरी सृष्टि का अभाव हो गया। निदान एक ही सृष्टि भासने लगी और नाना प्रकार के व्यवहार होते दृष्टि आवें और चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, द्वीप, समुद्र स्पष्ट भासने लगे। कुछ काल के उपरान्त चित्त की वृत्ति सुषुप्ति की ओर आई और स्वप्न की सृष्टि का विस्तार लीन होने लगा—जैसे सन्ध्या के समय सूर्य की किरणें सूर्य में लय हो जाती हैं। जब वह सृष्टि चित्त में लय होने लगी तब स्वप्न की सृष्टि मिट गई; सुषुप्ति अवस्था हुई और सर्व इन्द्रियाँ स्थिर हो गईं। हे बधिक ! सुषुप्ति तब होती है जब जीव अन्न भोजन करता है और वह समवाही नाड़ी पर प्राण स्थित होता है; तब जाग्रत्वाली नाड़ी ठहर जाती है, उससे प्राण भी ठहर जाते हैं और तब मन भी ठहर जाता है—उसका नाम सुषुप्ति है। जब मन फिर फुरता है तब जाग्रत् होती है। इतना सुन रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जब मन प्राणों ही से चलता है तब मन का अपना रूप तो कहीं न हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! परमार्थ से कहिये तो देह ही नहीं है तो मन क्या हो। जैसे स्वप्न में पहाड़ भासते हैं, तैसे ही यह शरीर भासता है, क्योंकि जो सबका आदि कारण कोई नहीं इससे जगत् मिथ्याभ्रम है—केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जो तत्त्ववेत्ता हैं उनको तो ऐसे ही भासता है और अज्ञानी के

निश्चय को हम नहीं जानते जैसे सूर्य उलूक के अनुभव को नहीं जानता और उलूक सूर्य के निश्चय को नहीं जानता, तैसे ही ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय भिन्न-भिन्न होता है। शुद्ध चिन्मात्र आकाश में जगत् भ्रम कोई नहीं पर फुरनभाव से अपने चेतन वपु को भू ज्ञान विना ही मनभाव को प्राप्त होता है और तब मन आत्मसत्ता आश्रय होकर प्राणवायु को अपना आश्रयभूत कल्पता है कि मे प्राण हैं। हे रामजी! फिर जैसे-जैसे मन कल्पना करता है, तैसे-तैसे देह, इन्द्रियाँ और जगत् भासते हैं। परब्रह्म सर्वशक्तिसम्पन्न है उसमें जैसी-जैसी भावना से मन फुरता है तैसा ही तैसा रूप हो भासता है—वास्तव में और कुछ नहीं केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। मन का फुरना जैसे-जैसे दृढ़ हुआ है तैसे ही तैसे देह, इन्द्रियाँ और जगत् भासने लगा है। जैसे स्वप्न में कल्पनामात्र जगत् भासता है तैसे ही इसे जानो। हे रामजी! जितने विकल्प उठते हैं वे सब मन के रचे हुए हैं। जब मन उदय होता है तब यह फुरना होता है कि यह पदार्थ सत्य है और यह असत्य है जब चित्तशक्ति का मन से सम्बन्ध होता है तब प्रथम प्राण उदय होते हैं और प्राण को ग्रहण करके मन कहता है कि मैं जीव हूँ; प्राण ही मेरी गति है और प्राण विना मैं कहाँ था। फिर कहता है कि जब प्राण का वियोग होगा तब मैं मर जाऊँगा—फिर न रहूँगा। फिर ऐसे कहता है कि मुआ हुआ भी मैं जीऊँगा। हे रामजी! संशय वाले को न इस लोक में सुख है और न परलोक में सुख है जबतक आत्म बोध का साक्षात्कार नहीं होता तबतक चित्त भी निर्वाण नहीं होता और विकल्प भी नहीं मिटते। हे रामजी! मन के विस्मरण का उपाय आत्मज्ञान से इतर कोई नहीं और मन के शान्ति हुए विना कल्याण भी नहीं होता। दो उपायों से मन शान्त होता है मन की वृत्ति स्थित करने और प्राणस्पन्द के रोकने से मन स्थित होता है तब प्राण ठ जाते हैं और प्राण के स्पन्द को रोकने से मन स्थित होता है। जब प्राण क्षोभते हैं तब चित्त भी क्षोभता है और तभी आध्यात्मिक और आधि भौतिक तापों की अग्नि से जलता है। मन के स्थित करने से परमसुख

568

1493

प्राप्त होता है सो मन की स्थिति दो प्रकार की है—एक ज्ञान की स्थिति है और दूसरी अज्ञान की स्थिति है। जब प्राणी बहुत अन्न भोजन करता है तब वह नाड़ी पर जा स्थित होता है और प्राण ठहर जाता है और जब प्राण ठहरे तब मन भी जड़ीभूत हो जाता है—उसी का नाम सुषुप्ति है। वे नाड़ी कौन हैं जिन पर अन्न जाय स्थित होता है? वे नाड़ी वे ही हैं जिनके मार्ग से जाग्रत् में प्राण निकलते हैं। जब वासना सहित वे ही नाड़ी रोकी जाती हैं तब मन सुषुप्त हो जाता है। यह अज्ञानी के मन की स्थिति है, क्योंकि जड़ता है सो संसार को लिये शीघ्र ही फिर उठ आता है। जैसे पृथ्वी में बीज समय पाकर अंकुर ले आता है, तैसे ही वह संस्कार से फिर सुषुप्ति से उठता है। जो ज्ञानवान् सम्यक्दर्शी है उसका चित्त चैतन्यता के लिये स्थित होता है। वह चैतन्यता दो प्रकार की है—एक तो योगी को होती है जिससे वह समाधि में मन को स्थित करता है। वह समाधिनिष्ठ चित्त है; जड़ता नहीं। जैसे सुषुप्ति में जड़ता होती है तैसी जड़ता वह नहीं है। दूसरे ज्ञानवान् जीवन्मुक्त के चित्त की वृत्ति सम्यक्ज्ञान से स्थित होती है, क्योंकि उसका चित्त वासना से रहित है। यही स्थिति है। जिसका चित्त इस प्रकार स्थित है उसी पुरुष को शान्ति है और जिसका चित्त वासना सहित है उसको कदाचित् शान्ति नहीं प्राप्त होती और उसके दुःख भी नहीं मिटते। उसे निर्वासनिक चित्त करने को सम्यक्ज्ञान का कारण यह मेरा शास्त्र ही है। इसके समान और कोई उपाय नहीं। हे रामजी! यह जो मोक्ष-उपाय शास्त्र मैंने कहा है उसके विचार से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति होवेगी; इससे सर्वदा इसी का विचार कर्तव्य है। जब इसको भली प्रकार विचारोगे तब चित्त निर्वासनिक हो जावेगा। अब वही बधिक का प्रसंग सुनो। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जब मैंने उस पुरुष के चित्त में प्राण के मार्ग से प्रवेश किया तब क्या देखा कि उसके प्राण रोके गये हैं और अन्न करके जाग्रत् नाड़ी जो फुरती थी सो रोकी गई हैं, क्योंकि अन्न पचा न था इस कारण वह सुषुप्ति में था। उसकी सुषुप्ति में मुझको भी अपना आप विस्मरण हो गया। जब कुछ अन्न पचा तब

149
75
149

224
74.1
149.3

उसके प्राण फुरने लगे और जब प्राण फुरे तब चित्त की वृत्ति भी
जड़ता को त्यागती भई पर सम्पूर्ण जड़ता को त्याग नहीं किया।
के फुरने से चन्द्रमा, सूर्य आदिक जो कुछ विश्व है सो भी फुरा तब
नाना प्रकार के जगत् को देखा और मुझे अपना पूर्वसंस्कार भूल ग
निदान वहाँ मैं भी अपने कुटुम्ब में रहने लगा; साथ ही उसके
अपनी कुटी भासी और स्त्री, पुत्र, भाई, जन, बान्धव सब भासि आ
फिर मेरे में देखते-देखते प्रलयकाल के पुष्कर मेघ गर्जने लगे; मूस
धार जल बरसने लगा और सातों समुद्र उछलने लगे। निदान जो
प्रलयकाल के उपद्रव होते हैं सो भी उदय हुए। प्रथम अग्नि लगी;
अग्नि लग चुकी और सब स्थान जल गये तब जल का उपद्रव उदय हु
तब मैंने क्या देखा कि नगर, ग्राम, पुर, मनुष्य, पशु, पक्षी सब ब
जाते हैं और हाहाकार शब्द करते निदान बड़ा क्षोभ हुआ और
एक आश्चर्य देखा कि मेरी कुटी भी बही जाती है और स्त्री, पुत्र,
जन इत्यादिक सब जल के प्रवाह में बहे जाते हैं। जिस स्थान में हम
वह स्थान भी बहा जाता था और मैं भी लुढ़कता जाता था निदान ब
बहते मुझको ऐसा कष्ट प्राप्त हुआ कि कहने में नहीं आता। एक त
से तो मैं ऊर्ध्व को चला जाऊँ और एक तरङ्ग के साथ नीचे चला जा
तब मुझे अपना पूर्व शरीर स्मरण आगया और जितना कुछ जगत्
वह मुझको सब भासने लगा; मिथ्या रागद्वेष सब मिट गया और श
की सब चेष्टा उसी प्रकार होने लगी कि तरङ्ग के साथ कभी ऊ
और कभी नीचे आ पड़ा परन्तु मेरा हृदय शान्त हो गया। उस काल
नगर, देश और मण्डल बहते जाते थे और त्रिनेत्र सदाशिव और वि
धर, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, सिद्ध आदि सब बहते जाते थे। अष्ट
कमल की पंखड़ी पर बैठे ब्रह्माजी और इन्द्र, कुबेर और विष्णुजी अप
अपनी पुरियों सहित बहते जाते थे और पहाड़, द्वीप, लोकपाल,
बहते जाते थे। पातालवासी सब प्रलय के जल में बहते जाते थे
यम भी अपने वाहन सहित बहते जाते थे; ऐसी सामर्थ्य किसी की
थी कि किसी को कोई निकाले, क्योंकि आप ही सब बहते जाते थे

ते और गोते खाते थे। बड़े ऐश्वर्य सहित देव भी बहे जाते थे। जो
सार सुख के निमित्त यत्न करते हैं वे महामूर्ख हैं और जिनके निमित्त
न करते हैं वे सुख और सुख के देनेवाले सब बहते जाते थे तैसे ही सब
शीश्वर भी बहते जाते थे। हे बधिक! मैंने इस प्रकार उसके स्वप्ने में
हाप्रलय होती देखी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हृदयान्तरस्वप्नमहाप्रलयवर्णन-
नामद्विशताधिकसप्तविंशतितमस्सर्गः ॥ २२७ ॥

बधिक ने पूछा, हे मुनीश्वर! यह जो महाप्रलय तुमने कही कि
समें ब्रह्मादिक भी बहते जाते थे सो ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक तो स्वतन्त्र
श्वर हैं परन्तु परतन्त्र हुए बहते जाते तुमने कैसे देखे? वे अन्तर्धान
यों न हुए? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह जो प्रलय हुई सो क्रम से
हीं हुई। जब क्रम से प्रलय होती है तब यह ईश्वर समाधि से शरीर
को अन्तर्धान कर लेते हैं परन्तु अन्तर्धान होने से पाहिले जल चढ़ गया।
सका कुछ नियम नहीं, क्योंकि यह जगत् भ्रमरूप है; इसमें क्या आस्था
रनी है स्वप्ने में क्या नहीं बनता और स्वप्नभ्रान्ति करके विपर्यय भी
होते हैं इसलिये उनको बहते देखा है। ब्याध ने पूछा, हे मुनीश्वर! जब
वह स्वप्न भ्रम था तो उसका वर्णन क्यों करना? मुनीश्वर बोले, हे
बधिक! तुझसे इसकी समानता का अर्थ कहता हूँ इससे कि स्थावर-
जङ्गम जगत् बहता देखा और साथ ही मैं भी बहता जाता था और जल
की लहरें उछलती थीं और उन तरङ्गों में मैं भी उछलता था परन्तु
मुझको कुछ कष्ट न होता था। निदान मैं बहता-बहता एक किनारे
पर जा लगा और उसके पास एक पर्वत था उसकी कन्दरा में जा स्थित
हुआ। वहाँ मैंने देखा कि जीव बहते हैं और जल भी सूखता जाता है।
जल के सूखने से कीचड़ हो गई; किसी ठौर में जल रहा उसमें कई
डूबते दृष्टि आते थे; कहीं ब्रह्मा के हंस, कहीं यम के वाहन और कहीं
विष्णु के वाहन कीचड़ में पहाड़ की नाईं डूबते दृष्टि आते थे। कहीं
इन्द्र के हाथी और विद्याधर आदि वाहन कीचड़ में दृष्टि आये और
ता, सिद्ध, गन्धर्व, लोकपाल दृष्टि आये इससे मैं आश्चर्यवान् हुआ।

हे बधिक ! इस प्रकार देखता हुआ जब मैं पहाड़ की कन्दरा में सो ग
तब मुझको अपनी संवित् में स्वप्न आया और चन्द्रमा, सूर्य आदि
नाना प्रकार के भूत जलते देखे; नगर और पर्वत जलते देखे औ
जगत् बड़े खेद को प्राप्त हुआ देखा । जब रात्रि हुई तो मैं वहाँ सो
हुआ स्वप्ने को देखता रहा और दूसरे दिन उसमें मैंने फिर जगत् दे
और सूर्य, चन्द्रमा, देश, नदियाँ, समुद्र, मनुष्य, देवता, पशु, प
नाना प्रकार की क्रियासंयुक्त दृष्टि आने लगे। मैंने अपना षोड़श व
का शरीर देखा और मुझे अपने पिता और माता दृष्टि आये। उन
देख मैं पिता और माता जानूँ और वे मुझको अपना पुत्र जानें। निदा
स्त्री, कुटुम्ब, बान्धव समस्त मुझको दृष्टि आये और मैं बोध से रहि
और तृष्णा सहित था इससे मुझे अहं मम का अभिमान आन फु
और मैंने एक ग्राम में जहाँ मेरा गृह था ईंट और काष्ठ संग्रह करके ए
कुटी बनाई और उसके चौफेर बूटे लगाकर एक आसन बनाया जहाँ
कमण्डलु और माला पड़ी रहे। मैं ब्राह्मण था, मुझको धन उपजाने की
इच्छा हुई और जो कुछ ब्राह्मण की आचार चेष्टा थी सो भी मैं करता था।
बाहर जाके ईंट और काष्ठ ले आऊँ और आनकर कुटी बनाऊँ। यह चेष्टा
हमारी होने लगी और शिष्य और सेवक हमारी पूजा करने लगे और मैं यथा
योग्य उनको आशीर्वाद दूँ। इस प्रकार गृहस्थाश्रम में मैं चेष्टा करूँ और
मुझको यह विचार उपजे कि यह कर्तव्य है इसके करने से भला होता है।
नदियाँ और तालों में मैं स्नान करूँ; गौ की टहल करूँ और अतिथि की
पूजा करूँ। हे बधिक ! इस प्रकार चेष्टा करता मैं सौ वर्षपर्यन्त वहाँ रहा
तब एक काल मेरे गृह में एक मुनीश्वर आया तो प्रथम मैंने उसको
स्नान कराया; फिर भोजन से तृप्त किया और रात्रि के समय उसको
शय्या पर शयन कराया। इस प्रकार उसकी टहलकर रात्रि को हम वार्ता
चर्चा करने लगे उसमें उसने मुझको बड़े पर्वत, कन्दरा और चित्त के
मोहनेवाले सुन्दर देश स्थान और नाना प्रकार के संवाद सुनाये और
कहने लगा कि हे ब्राह्मण ! जितने सुन्दर स्थान और संवाद तुमको
सुनाये हैं उन सबों में सार एक चिन्मात्ररूप है इससे सब चिन्मात्रस्वरूप

है। सब जगत् उसका चमत्कार और आभास (किञ्चन) है उससे कोई वस्तु भिन्न नहीं। इससे हे ब्राह्मण ! उसी सत्ता को ग्रहण करो जो सबका अनुभव और परमानन्द स्वरूप है। उसी में स्थित हो रहो। हे बधिक ! जब इस प्रकार उस मुनीश्वर ने मुझसे कहा तब आगे जो मेरा मन योग से निर्मल था इससे उसके वचन मेरे चित्त में चुभ गये और अपने स्वभावसत्ता में मैं जाग उठा। तब मैंने क्या देखा कि सब मेरा ही संकल्प है, मुझसे भिन्न कोई नहीं; मैं तो मुनीश्वर हूँ और यह स्वप्न आया था। मैंने जागकर देखा कि उसी पुरुष का स्वप्न था; तब मेरे चित्त में आया कि किसी प्रकार इसके चित्त से बाहर निकलूँ और अपने शरीर में प्रवेश करूँ। तब मैंने फिर विचारा कि यह जगत् तो उस पुरुष का वपु है, वही पुरुष विराट् है जिसके स्वप्ने में यह जगत् है परन्तु उस पुरुष को अपने विराट्स्वरूप का प्रमाद है इससे जैसा वपु हमारा बना है उसके स्वप्ने में वह भी तैसा एक विराट् इतर बन पड़ा है तो फिर उस विराट् को कैसे जानिये कि उसके चित्त से निकल जावे। हे बधिक ! इस प्रकार विचार करके मैंने पद्मासन बाँधा और योग की धारणा कर उस विराट्स्वरूप के शरीर को देखा। फिर जहाँ चित्त की वृत्ति फुरती थी उसके साथ मिलकर और प्राण के मार्ग से निकलकर अपनी कुटी को देखा और उसमें अपने शरीर को पद्मासन बाँधे देखा। तब उसमें मैंने प्रवेश करके नेत्र खोले तो अपने सम्मुख शिष्य बैठे देखे और वह पुरुष सोया था उसको देखा। एक मुहूर्त बीता तब मैं आश्चर्यवान् हुआ कि भ्रम में क्या-क्या चेष्टा देख पड़ती है कि यहाँ एक मुहूर्त बीता है और वहाँ मैंने सौ वर्ष का अनुभव किया। बड़ा आश्चर्य है कि भ्रम से क्या नहीं होता। फिर मेरे मन में उपजी कि उसके चित्त में प्रवेश करके कुछ और कौतुक भी देखूँ। तब फिर प्राण के मार्ग से उसके चित्त में मैंने प्रवेश किया तो क्या देखा कि अगली कल्पना व्यतीत हो गई है; बान्धव, पुत्र, स्त्री, माता, पिता आदिक सब नष्ट हो गये हैं और दूसरा कल्प हुआ है उसकी भी प्रलय होती है। बारह सूर्य उदय होकर विश्व जलाने लगे हैं; बड़वाग्नि जलाने लगी है; मन्दराचल और अस्ताचल पर्वत जल-

कर टूक-टूक हो गये हैं; पृथ्वी जर्जरीभाव को प्राप्त हुई है; स्थावर-जङ्गम जीव हाहाकार शब्द करते हैं; बिजली चमत्कार करती है और बड़ा क्षोभ उदय हुआ। हे बधिक! मैं अग्नि में जा पड़ा और मेरा शरीर भी जलने लगा परन्तु मुझको कष्ट कुछ न हुआ। जैसे किसी पुरुष को अपने स्वप्ने में कष्ट प्राप्त हो और जाग उठे तो कुछ कष्ट नहीं होता तैसे ही अग्नि का कष्ट मुझको कुछ न हुआ। मैं आपको वही रूप जाग्रत्वाला जानता था और जगत् प्रलय को भ्रममात्र जानता था इस कारण मुझको कष्ट न होता था और चेष्टा तो मैं भी उसी प्रकार देखता और करता था परन्तु हृदय से ज्यों का त्यों शीतल चित्त था और लोग जो थे सो अग्नि के क्षोभ से कष्ट पाते थे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे हृदयान्तरप्रलयाग्निकदाहवर्णनं
नाम द्विशताधिकाष्टविंशतितमस्सर्गः ॥ २२८ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! प्रलय के क्षोभ में मैं भी भटकता था और जल में बहता था परन्तु पूर्व का शरीर मुझको विस्मरण न हुआ इस कारण शरीर का दुःख मुझको स्पर्श न करता था। मैंने विचारा कि यह जगत् तो मिथ्या है इसमें बिचरने से मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होता है? यह तो स्वप्नमात्र है इसमें मैं किस निमित्त खेद पाऊँ—इससे जगत् से बाहर निकलूँ। बधिक ने पूछा, हे मुनीश्वर! तुमने जो उस स्वप्ने में जगत् को देखा वह जगत् क्या वस्तु था और स्वप्न क्या था? उसकी संवित् में जगत् था और उस जगत् का उसको ज्ञान था वा वह प्रमादी था? तुमने तो जाग्रत् होकर के उसका स्वप्न देखा था, उसके हृदय में पहाड़ कहाँ से आया और नदियाँ, वृक्ष आदि नाना प्रकार के भूतजात और पृथ्वी, आकाश, वायु, जल, अग्नि आदिक विश्व की रचना कहाँ से आई? वह सब क्या था यह संशय मेरा दूर करो। जो तुम कहो कि अपने स्वप्ने में तुम भी अपनी सृष्टि देखते हो तो हे भगवन्! हमको जो स्वप्न आता है उसको हम अपने स्वरूप के प्रमाद से देखते हैं और तुमने जाग्रत् होकर देखा तो कैसे देखा? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! प्रथम जो मैंने देखा था सो आपको विस्मरण करके उसके हृदय में जगत्

देखा था और दूसरी बार जो देखा था सो आपको जानकर जगत् देखा था सो क्या वस्तु है सुनो। हे बधिक! जो वस्तु कारण से होती है सो सत्य होती है और जो कारण विना भासती है सो मिथ्या होती है। मुझको जो सृष्टि उसके स्वप्ने में भासी थी सो कारण विना थी, क्योंकि कारण दो प्रकार का होता है—एक निमित्त कारण; जैसे घट का कारण कुलाल होता है और दूसरा समवाय कारण; जैसे घट मृत्तिका का होता है। जो दोनों कारणों से उत्पन्न हो वह कारण कहाता है पर आत्मा तो दोनों प्रकार से जगत् का कारण नहीं; वह अद्वैत है इससे निमित्त कारण नहीं और समवायकारण भी इससे नहीं कि अपने स्वरूप से अन्यथाभाव नहीं हुआ। जैसे मृत्तिका के परिणाम से घट होता है, तैसे ही आत्मा का परिणाम जगत् नहीं। आत्मा अच्युत है। वह जगत् कारण विना भासि आया था इससे भ्रममात्र ही था। हे बधिक! वस्तु नहीं होती है तो जगत् की भ्रान्ति आत्मा में भासी तो जगत् आत्मरूप हुआ। जब सृष्टि फुरी न थी तब अद्वैत आत्मसत्ता थी उसमें संवेदन फुरने से जगत् हुए की नाईं उदय हुआ सो क्या हुआ—जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है सो किरण ही जलरूप भासती है, तैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है सो आत्मा ही जगद्रूप हो भासता है। वहाँ न कोई शरीर था, न कोई हृदय था, न पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश था और न उत्पत्ति और प्रलय थी न और कोई था, केवल चिन्मात्ररूप ही था। हे बधिक! ज्ञानदृष्टि से हमको तो सच्चिदानन्द ही भासता है जो शुद्ध और सर्वदुःखों से रहित परमानन्द है, और जगत् भी वही रूप है। तुम सरीखे को जो जगत् शब्द अर्थरूप भासता है सो आत्मा में कुछ हुआ नहीं केवल चिन्मात्र सत्ता है। सर्वदा हमको आत्मरूप ही भासता है। जो तू चाहे कि मुझको भी चिन्मात्र ही भासे तो सर्वकल्पना मन से त्यागकर उसके पीछे जो शेष रहेगा वह आत्मसत्ता है और सबका अनुभवरूप वही है और प्रत्यक्ष शुद्ध, सर्वदा स्वभावसत्ता में स्थित है और अमर है। तुम भी उस स्वभाव में स्थित हो रहो। हे बधिक! आत्मसत्ता परमसूक्ष्म है जिसमें

आकाश भी स्थूल है जैसे सूक्ष्म अणु से पर्वत स्थूल होता है, तैसे ही आत्मा से आकाश भी स्थूल है। आत्मा में यही सूक्ष्मता है कि आत्मत्वमात्र है जिसमें कोई उत्थान नहीं केवल निर्मल स्वभावसत्ता और निराभास है उसी में यह जगत् भासता है इससे वही रूप है। जैसे काल में क्षण, पल, घड़ी, पहर, दिन, मास, वर्ष और युगसंज्ञा होती है सो काल ही है; तैसे ही एक ही आत्मा में अनेक नामरूप जगत् होता है। जैसे एक बीज में पत्र, टहनी, फूल, फल नाम होते हैं तैसे ही एक आत्मा में अनेक नामरूप जगत् होता है सो आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु नहीं सब आत्मस्वरूप है और जो आत्मा से भिन्न भासे उसे भ्रममात्र जानो। जैसे संकल्पपुर होता है तैसे ही यह जगत् है। हे बधिक! आत्मा में जगत् कुछ बना नहीं। वही आत्मा तेरा अपना आप अनुभवरूप है और परमशुद्ध है। उसमें न जन्म है, न मृत्यु है—और चिदाकाश अपना आप है जो तेरा आप अनुभवरूप शुद्धसत्ता है—उसको नमस्कार है। हे बधिक! तू उसमें स्थित हो रह तब तेरे दुःख नष्ट हो जावेंगे। यह जगत् अज्ञानी को सत्य भासता है और ज्ञानवान् को सदा आकाशरूप भासता है। जैसे एक पुरुष सोया है और एक जागता है तो जो सोया है उसको स्वप्ने में महल आदिक जगत् भासता है और जो जाग्रत् है उसको आकाशरूप है; तैसे ही अज्ञानी को जगत् भासता है और ज्ञानवान् को आत्मरूप है। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! कितने कहते हैं कि यह जीव कर्म से होता है और कितने कहते हैं कि कर्म विना उत्पन्न होता है तो इन दोनों में सत्य क्या है? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! आदि जो परमात्मा से ब्रह्मादिक फुरे हैं सो कर्म से नहीं हुए वे कर्म विना ही उत्पन्न हुए हैं और उन्हें न कहीं जन्म है और न कर्म है। वे ब्रह्मस्वरूप ही हैं और उनका शरीर भी ज्ञानरूप है वे और अवस्था को नहीं प्राप्त होते सर्वदा उनको अधिष्ठान आत्मा ही अहंप्रतीत है। हे बधिक! सृष्टि के आदि जो ब्रह्मादिक फुरे हैं वे ब्रह्म से भिन्न नहीं और जो अनन्त जीव फुरे हैं और जिनका आदि ही आत्मपद से प्रकट होना हुआ है वे भी ब्रह्मरूप हैं ब्रह्म से कुछ भिन्न नहीं आदि सबका ब्रह्मचेतन स्वयंभू हैं परन्तु ब्रह्मा विष्णु रुद्रादिक को अविद्या ने स्पर्श नहीं किया वे विद्यारूप हैं और दूसरे जीव अविद्या के वश से प्रमाद करके परतन्त्र हुए हैं और कर्म करके कर्म के वश हुए हैं और संसार में शरीर धारते हैं। जब उनको आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है तब वे कर्म के बन्धन से मुक्त होकर आत्मपद को पाते हैं। हे बधिक! आदि जो सृष्टि हुई है सो कर्म विना उपजी है और पीछे अज्ञान के वश से कर्म के अनुसार जन्म-मरण देखते हैं। जैसे स्वप्न की सृष्टि आदि कर्म विना उत्पन्न होती है और पीछे कर्म से उत्पन्न होती भासती है; तैसे ही यह जगत् है। आदि जीव कर्म विना उपजे हैं और पीछे कर्म के अनुसार जन्म पाते हैं। ब्रह्मादिक के शरीर शुद्ध ज्ञानरूप हैं। ईश्वर में जीवभाव दृष्टि आता है पर उस काल में भी ब्रह्म ही स्वरूप है, क्योंकि उनके कर्म कोई नहीं केवल आत्मा ही उनको भासता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में द्रष्टा ही दृश्यरूप होता है और नाना प्रकार के कर्म दृष्टि आते हैं परन्तु और कुछ हुआ नहीं तैसे ही जो कुछ जगत् भासता है सो सब चिन्मात्रस्वरूप है और कुछ नहीं। सुख दुःख भी वही भासता है परन्तु अज्ञानी को जबतक जगत् प्रतीति होती है तबतक कर्मरूपी फाँसी से बँधा हुआ दुःख पाता है और जब स्वरूप में स्थित होगा तब कर्म के बन्धन से मुक्त होगा वास्तव में न कोई कर्म है और न किसी को बन्धन है। यह मिथ्या भ्रम है केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है दूसरा कुछ हो तो मैं कहूँ कि इस कर्म ने इसको बन्धन किया है। यह जगत् आत्मा में ऐसा है जैसे जल में तरङ्ग होता है सो भिन्न कुछ नहीं। जल से तरङ्ग उत्पन्न होता है सो किस कर्म से होता है और क्या उसका रूप है? जैसे वह जल ही रूप है, तैसे ही यह जगत् भी आत्मस्वरूप है—आत्मा से इतर कुछ नहीं जो कुछ कल्पना कीजिये सो अविद्यामात्र है। हे बधिक! जबतक यह संवित् बहिर्मुख फुरती है तबतक जगत् भासता है और कर्म होते दृष्टि आते हैं और जब संवित् अन्तर्मुख होगी तब न कोई जगत् रहेगा और न कोई कर्म दृष्टि आवेगा; तब सब आत्मसत्ता ही भासेगी। जैसे हमको सदा आत्म-

शुद्ध विद्या [illegible] = ज्ञान का सर्वोत्तम उपाय
स्वरूप

सत्ता भासती है, तैसे ही तुमको भी भासेगी। हे बधिक ! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको जगत् आत्मत्व दिखाई देता है और जो अज्ञानी हैं उनको प्रमाद से द्वैतरूप भासता है इससे वह पदार्थों को सुखरूप जानकर पाने का यत्न करता है और सुख से सुखी और दुःख से द्वेष करता है पर परमानन्द जो आत्मपद है उसके पाने का यत्न नहीं करता। ज्ञानवान् सदा परमानन्द में स्थित है और सब जगत् उसको ब्रह्मस्वरूप भासता है। हे बधिक ! सर्वजगत् जो तुझको दृष्टि आता है वह चिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म है; न कोई स्वप्न है, न कोई जाग्रत् है, न कोई कर्म है और न कोई अविद्या है सर्व ब्रह्मस्वरूप सदा अपने आप में स्थित है—उसमें और कुछ नहीं जैसे जल में आवर्त स्थित होता है परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं होता; तैसे ही ब्रह्म में जगत् हुए की नाईं भासता है परन्तु ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है तू विचार करके देख तब तेरे दुःख मिट जावेंगे। जबतक विचार करके स्वरूप को न पावेगा तबतक दुःख न मिटेगा। जब स्वरूप को पावेगा तब सब कर्म नष्ट हो जावेंगे। जितना विचार होता है उतना ही उतना सुख है। जहाँ विचार उत्पन्न होता है वहाँ से अविद्या नष्ट हो जाती है। जैसे जहाँ प्रकाश होता है वहाँ अन्धकार नहीं रहता; तैसे ही जहाँ सत्य-असत्य का विचार उत्पन्न होता है वहाँ अविद्या का अभाव हो जाता है और फिर वह संसारचक्र में नहीं गिरता बल्कि परमपद को प्राप्त होता है। जिस ज्ञानवान् को यह पद प्राप्त हुआ है वह दुःखी नहीं होता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कर्मनिर्णयो नाम
द्विशताधिकैकोनत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २२९ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! जो ज्ञानवान् पुरुष है वह अवश्य उस परमानन्द को प्राप्त होता है जिसके पाये से इन्द्रियों का आनन्द सूखे तृणवत् तुच्छ प्रतीत होता है और वैसा सुख पृथ्वी, आकाश और पाताल में भी कहीं नहीं मिलता जैसा सुख ज्ञानवान् को प्राप्त होता है। जिसको ऐसा आनन्द प्राप्त हुआ है वह किसकी इच्छा करे ? आत्मानन्द तब प्राप्त होता है जब आत्मअभ्यास होता है। आत्मा शुद्ध और सर्वदा

अपने आपमें स्थित है और जो कुछ आगे दृष्टि आता है सो अविद्या का विलास है। जब तू अपने स्वरूप में स्थित होगा तब तुझको सब ब्रह्म ही भासेगा। हे बधिक ! पृथ्वी आदिक तत्त्व जो दृष्टि आते हैं सो हैं नहीं; ये जो कुछ होते तो इनका कारण भी कोई होता पर जो ये ही नहीं हैं तो इनका कारण किसको कहिये और जो इनका कारण नहीं तो कार्य किसका कहिये इसलिये ये भ्रममात्र हैं। विचार किये से जगत् आत्मसत्ता ही भासता है ~~का अभाव हो जाता है~~ और आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों जगत भासती है। जैसे किसी को रस्सी में सर्प भासता है पर जब वह भली प्रकार देखता है तब सर्पभ्रम मिट जाता है और ज्यों की त्यों रस्सी ही भासती है; तैसे ही विचार किये से आत्मसत्ता ही भासती है। जैसे आकाश में संकल्प का कल्पवृक्ष अथवा देवता की प्रतिमा रच कर उससे प्रार्थना की तो अनुभव से कार्य सिद्ध होता है तैसे ही जितना जगत् तू देखता है सो सब संकल्पमात्र और अनुभवरूप है। जैसे स्वप्ने में नाना प्रकार की सृष्टि स्वप्नमात्र है; तैसे ही यह सर्वविश्व ब्रह्मा के संकल्प में स्थित है। आदि परमात्मा से कर्म विना जो सृष्टि उपजी है वह किञ्चन आभासरूप है; फिर आगे जो ब्रह्मा ने रचा है सो संकल्परूप है और फिर आगे अज्ञान से कर्म करने लगे तब उन कर्मों से उत्पत्ति होती दृष्टि आई है। जैसे स्वप्न में स्वप्ने की सृष्टि भ्रममात्र ही दृढ़ हो भासती है; जबतक स्वप्ने की अवस्था है तबतक जैसा वहाँ कर्म करेगा तैसा ही भासेगा और जो जाग उठे तो न कहीं कर्म है न जगत् है; तैसे ही यह सब संकल्पमात्र है ज्ञान से इसका अभाव हो जाता है। हे बधिक ! ये जो तुझको मनुष्य भासते हैं सो मनुष्य नहीं तो उनके कर्म मैं तुझसे कैसे कहूँ ? जैसे स्वप्ने के निवृत्त हुए स्वप्ने की सृष्टि का अभाव होता है तैसे ही अविद्या के निवृत्त हुए अविद्या की सृष्टि का भी अभाव हो जाता है। आत्मसत्ता अद्वैत है उसमें जगत् कुछ बना नहीं वह ही जगत है बना नहीं और वही रूप है। जैसे आकाश और शून्यता; अथवा वायु और स्पन्द में भेद नहीं होता; तैसे ही (आत्मा) ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। जब चित्तसंवित् फुरती है तब जगत् होकर भासती है और जब नहीं फुरती तब अद्वैत होकर स्थित

होती है पर आत्मसत्ता फुरने और न फुरने में ज्यों की त्यों है। जन्म, मरण और बढ़ना, घटना मिथ्या है, क्योंकि दूसरी वस्तु कुछ नहीं। जैसे किसी ने जल और किसी ने पानी कहा तो दोनों एक ही वस्तु के नाम होते हैं; तैसे ही आत्मा और जगत् एक ही के नाम हैं परन्तु अज्ञान से भिन्न-भिन्न भासते हैं। जैसे स्वप्ने में कार्य भासते हैं परन्तु हैं नहीं; तैसे ही जाग्रत् में कारण-कार्य भासते हैं परन्तु हैं नहीं—वास्तव में आत्मतत्त्व है। उस आत्मा में जो अहं मम चित्त फुरता है और उस उत्थान से आगे जो कुछ फुरना होता है वही जगत् है; उस जगत् में जैसा-जैसा निश्चय होता है वैसा ही वैसा भासने लगता है—इसका नाम नीति है। उसमें देश, काल और पदार्थ की संज्ञा होने लगती है और कारण-कार्य दृष्टि आते हैं सो क्या हैं; केवल आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है और कुछ हुआ नहीं, परन्तु हुए की नाईं भासता है; तैसे ही स्वप्ने में नाना प्रकार का जगत् भासता है और कारण-कार्य भी दृष्टि आता है परन्तु जागने पर कुछ दृष्टि नहीं आता, क्योंकि है ही नहीं; तैसे ही यह जगत् कारण कार्यरूप दृष्टि आता है परन्तु है नहीं आत्मा से दृष्टि आता है इससे आत्मा ही है। जैसे संकल्प नगर दृष्टि आता है, तैसे ही आत्मा में घन चैतन्यता से जगत् भासता है सो वही रूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसा आत्मा में निश्चय होता है तैसा ही प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह सब जगत् संकल्पमात्र है; संकल्प ही जहाँ तहाँ उड़ते फिरते हैं और अनुभवसत्ता ज्यों की त्यों है—संकल्प से ही मर के परलोक देखता है। बधिक बोला, हे भगवन्! परलोक में जो यह मर के जाता है तो उस शरीर का कारण कौन होता है और वह हत होता और हन्ता कौन है? यह शरीर तो यहीं रहता है वहाँ भोगता शरीर कौन होता है जिससे सुख दुःख भोगता है? जो तुम कहो कि उस शरीर का कारण धर्म अधर्म होता है तो धर्म अधर्म तो अमूर्ति है उससे समूर्ति और साकाररूप क्योंकर उत्पन्न हुआ? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! शुद्ध अधिष्ठान जो आत्मसत्ता है उसके फुरने की इतनी संज्ञा होती हैं—कर्म. आत्मा, जीव, फुरना, धर्म, अधर्म आदि नाना प्रकार के नाम होते हैं। जब शुद्ध चिन्मात्र में अहं का उत्थान होता है तब देह की भावना होती है और देह ही भासने लगती है; आगे जगत् भासता है और स्वरूप के प्रमाद से संकल्परूप जगत् दृढ़ हो जाता है; फिर उसमें जैसा-जैसा फुरता है तैसा तैसा हो भासता है। हे बधिक! यह जगत् संकल्पमात्र है परन्तु स्वरूप के प्रमाद से सत्य हो भासता है। प्रमाद से शरीर में अभिमान हो गया है उससे कर्तव्य-भोक्तव्य अपने में मानता है और वासना दृढ़ हो जाती है उसके अनुसार परलोक देखता है। हे बधिक! वहाँ न कोई परलोक है और न यह लोक है; जैसे मनुष्य एक स्वप्ने को छोड़कर और स्वप्ने को प्राप्त हो; तैसे ही अविदित वासना से इस लोक को त्यागकर जीव परलोक को देखता है। जैसे स्वप्ने में निराकार ही साकार शरीर उत्पन्न होता है; तैसे ही परलोक है पर वास्तव में संकल्प ही पिण्डाकार होकर भासता है जैसी-जैसी वासना होती है तैसा ही उसके अनुसार होकर भासता है वास्तव में शरीर और पदार्थ सब ही आकाशरूप हैं। हे बधिक! असत्य ही सत्य होकर जन्म मरण भासता है और जैसा-जैसा फुरना होता है तैसा ही तैसा भासता है—जगत् आभासमात्र है। जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको आत्मभाव ही सत्य है और उसमें जैसा निश्चय होता है तैसा होकर भासता है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातारूप जगत् जो भासता है वह अनुभव से भिन्न नहीं। जैसे स्वप्ने में अनेक पदार्थ भासते हैं सो अनुभव ही अनेकरूप हो भासता है और प्रलय में एक हो जाते हैं तैसे ही ज्ञानरूपी प्रलय में सब एकरूप हो जाते हैं। जब संवित् फुरती है तब नाना प्रकार का जगत् भासता है और जब संवित् अफुर होती है तब प्रलय हो जाती है और एकरूप हो जाता है। एक चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है और पृथ्वी आदिक पदार्थ उसका चमत्कार है, भिन्न वस्तु कुछ नहीं, आत्मसत्ता निर्विकार है और उसमें निराकार और साकार भी कल्पित है। जो पुरुष दृश्य से मिले चेतन हैं वे जड़धर्मी हैं और उसको नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं; ज्ञानवान् को सत्यरूप चिन्मात्र ही भासता है हे बधिक! यह जगत् सब चिन्मात्र है; जब चित्त संवित् फुरती है तब स्वप्नरूप जगत् भासता है और जब

माया

चित्तसंवित् फुरने से रहित होती है तब सुषुप्ति होती है। ऐसे ही चित्त संवित् के फुरने से सृष्टि होती है और चित्त के स्थित होने से प्रलय हो जाती है। जैसे स्वप्न और सुषुप्ति आत्मा में कल्पित है, तैसे ही आत्मा में कल्पित सृष्टि और प्रलय आभासमात्र है और जगत् कुछ बना नहीं फुरने से जगत् भासता है इससे जगत् भी आत्मरूप है और पञ्चतत्त्व भी आत्मा का नाम है सदा अद्वैतरूप जगत् आभासमात्र है। जैसे आत्मा में साकार कल्पित है तैसे ही निराकार भी कल्पित है जैसे स्वप्न में किसी को साकार जानता है और किसी को निराकार जानता है पर दोनों फुरनामात्र है। जो फुरने से रहित है सो आत्मसत्ता है साकार और निराकार भी वही है। आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है और निराकार ही साकार हो भासता है। हे बधिक ! सर्व जगत् जो तुझको दृष्टि आता है सो चिन्मात्रस्वरूप है, भिन्न कुछ नहीं; परन्तु अज्ञान से नाना प्रकार के कार्य-कारण और जन्म-मरण आदि विकार भासते हैं; वास्तव में न कोई जन्म है और न मरण है; न कोई कार्य है और न कारण है। यदि जीव मरता होता तो परलोक भी न देखता और अपने मरने को भी न जानता जो मर के परलोक देखता है सो मरता नहीं। यदि मनुष्य मृतक हो तो पूर्व के संस्कार को न पावे और पूर्वस्मृति इसको न हो पर तू तो पूर्वसंस्कार से क्रिया में प्रवर्तता है और प्रतियोग से तुझे पदार्थों की स्मृति भी हो आती है फिर कर्म भोगता है। लोक में तो पुरुष मृतक नहीं होता केवल भ्रम से मरण भासता है और कारण कार्यरूप पदार्थ भासते हैं जब मरके परलोक देखता है सुख दुःख भोगता है तो वह शरीर किसी कारण से नहीं बना। जैसे वह शरीर अकारण है तैसे ही और जो आकार दृष्टि आते हैं वे भी अकारण हैं—इसी से आभासमात्र हैं, जैसे स्वप्न के शरीर से नाना प्रकार की क्रिया होती है और देश देशान्तर देखता है सो सब मिथ्या है, तैसे ही यह जगत् मिथ्या है और मरण भी मिथ्या है। जो तू कहे कि इसके साकार का अभाव देखता है सो मृतक है तो हे बधिक ! जो यह पुरुष परदेश जाता है तो भी इसका आकार दृष्टि नहीं आता। जैसे दृष्टि के अभाव में

असत्य होता है, तैसे ही देह के त्याग में भी इसका असत्यभाव होता है पर इस पुरुष का अभाव कदाचित् नहीं होता। जो तू कहे कि परदेश गया फिर आ मिलता है शरीर के त्याग से फिर नहीं मिलता तो परदेश गया फिर मिलकर वार्त्ता चर्चा करता है और मुआ तो कदाचित् चर्चा नहीं करता पर जिसके पितर प्रीति से बँधे हुए मरते हैं और जिनकी यथाशास्त्र क्रिया नहीं होती तो वे स्वप्ने में आ मिलते हैं और यथार्थ कहते हैं कि हमारी क्रिया तुमने नहीं की; हम अमुक स्थान में पड़े हैं और अमुक द्रव्य अमुक स्थान में पड़ा है तुम निकाल लो; तो जैसे परदेशीगण मिलते हैं और वार्त्ता चर्चा करते हैं तैसे ही मुये भी करते हैं। हे बधिक ! वास्तव में न कोई जगत् है और न कोई मरता है केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और जैसा-जैसा उसमें फुरना फुरता है तैसा ही तैसा हो भासता है। हे बधिक! अनुभवरूप कल्पवृक्ष है; जैसा-जैसा उसमें फुरना फुरता है तैसा ही तैसा हो भासता है। एक संकल्पसिद्ध और एक दृष्टिसिद्ध वस्तु है; जब इनकी दृढ़ भावना होती है तब ये दोनों सिद्ध होती हैं। जो इन्द्रियों में द्रव पदार्थ है सो दृष्टिसिद्ध वस्तु कहाती है; जो इसी की भावना होती है तो यही प्राप्त होती है और जो अपने मन में आपही मान लीजिये कि मैं ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र वर्ण हूँ अथवा गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी वा संन्यासी आश्रम हूँ तो यह संकल्प सिद्ध है। जबतक इनमें अभ्यास होता है तबतक आत्मसत्ता की प्राप्ति नहीं होती और जब आत्मसत्ता का अभ्यास होता है तब इन दोनों का अभाव हो जाता है और आत्मा ही प्रत्यक्ष अनुभव से भासता है। हे बधिक ! जिस वस्तु का अभ्यास होता है उसकी यदि भावना करे और थककर फिरे नहीं तो वह अवश्य प्राप्त होती है पर अभ्यास विना कुछ सिद्ध नहीं होता। जैसे कोई पुरुष कहे कि मैं अमुक देश जाता हूँ तो जबतक उसकी ओर वह चले नहीं तबतक अनेक उपाय करे भी नहीं प्राप्त होता और जब उसकी ओर चलेगा तब पहुँच रहेगा; तैसे ही जब आत्मा का अभ्यास बहुत एकाग्र होकर करेगा तब उसको प्राप्त होगा अन्यथा

√अभ्यास
√वैराग्याभ्याम

वैराग नहीं

आत्मपद को न प्राप्त होगा। हे बधिक! जिस पुरुष को जगत् के पदार्थों की इच्छा है उसको आत्मपद नहीं प्राप्त होता और जिसको आत्मपद की इच्छा है उसको वही प्राप्त होवेगा; जगत् के पदार्थ न भासेंगे। यदि ऐसी भावना हो कि मेरी देवता की सी मूर्ति हो और उससे मैं स्वर्ग में विचरूँ और एक रूप से भूलोक में मृग होके भ्रमण करूँ तो दृढ़ अभ्यास से वही हो जाता है, क्योंकि जगत् संकल्पमात्र है जैसा-जैसा निश्चय होता है तैसा ही भासि आता है। हे बधिक! दो रूप की क्या वार्त्ता है जो सहस्रमूर्ति की भावना करे तो वही तद्रूप हो जावेगा। यह मनुष्य जैसी भावना करता है तैसा ही रूप हो जाता है। यह अविद्यक भ्रममात्र जगत् है इसकी भावना त्यागकर आत्मपद का अभ्यास कर तब तेरे दुःख मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे महाशवोपाख्याने निर्णयोपदेशो
नाम द्विशताधिकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३० ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जैसे अगाध समुद्र में अनेक तरङ्ग फुरते हैं, तैसे ही आत्मा में अनेक सृष्टि फुरती है और जीव-जीव प्रति अपनी-अपनी सृष्टि है परन्तु परस्पर अज्ञात है और एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता और दूसरे की सृष्टि को वह नहीं जानता। जैसे एक ही स्थान में दो पुरुष सोये हों तो उनको अपने-अपने फुरने की सृष्टि भासि आती है पर एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता परस्पर दोनों अज्ञात होते हैं; तैसे ही सब सृष्टि आत्मा में फुरती है परन्तु एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता। जो धारणाभ्यासी योगी है उसको अन्तवाहक शरीर प्रत्यक्ष होता है और वह दूसरे की सृष्टि को भी जानता है। जैसे एक तालाब का दर्दुर होता है; एक कूप का दर्दुर होता है और एक समुद्र का दर्दुर होता है सो स्थान तो भिन्न-भिन्न होते हैं परन्तु जल एक ही है इससे चाहे जैसा दर्दुर हो पर उसको जल जानता है कि मेरे में हैं; तैसे जगत् भिन्न-भिन्न अन्तःकरणों में है परन्तु आत्मसत्ता के आश्रय है और आदि जो संवेदन उसमें फुरी है सो अन्तवाहक है। जब अन्तवाहक में योगी स्थित होता है तब और के अन्तवाहक को भी जानता है। इस प्रकार अनन्त

सृष्टि आत्मा के आश्रय अन्तवाहक में फुरती हैं सो आत्मा का किञ्चन है, फुरती भी है और मिट जाती है। संवेदन के फुरने से सृष्टि उत्पन्न होती है और संवेदन के ठहरने से मिट जाती है, क्योंकि आकाशरूप होती है। जैसे वायु के ठहरने से जल एक रूप हो जाता है और जल से इतर कुछ नहीं भासता; तैसे ही संवेदन के फुरने से आत्मा में अनन्त सृष्टि भासती है और संवेदन के ठहरने से सब आत्मरूप हो जाती है तब आत्मा से इतर कुछ नहीं भासता, क्योंकि इससे इतर प्रमाद से भासता है और फिर कारण-कार्य भ्रम भासता है। प्रथम जो सृष्टि फुरी है सो कारण-कार्य के क्रम और संस्कार से रहित है; पीछे कारण-कार्य क्रम भासित हुआ और फिर उसका संस्कार हृदय में हुआ तब संस्कार के वश से भासने लगीं। जिनको स्वरूप का प्रमाद नहीं हुआ उनको सदा परब्रह्म का निश्चय रहता है और जगत् अपना संकल्पमात्र भासता है और जिनको स्वरूप का प्रमाद होता है उनको संस्कारपूर्वक जगत् भासता है—संस्कार भी कुछ वस्तु नहीं। हे बधिक! जो जगत् ही मिथ्या है तो उसका संस्कार कैसे सत्य हो? परन्तु ज्ञानवान् को इस प्रकार भासता है और जो अज्ञानी हैं उनको स्पष्ट भासता है। हे बधिक! जैसे तुम संकल्प के रचे पदार्थ; स्मृति और स्वप्नसृष्टि को असत् जानते हो; तैसे ही हम इस जाग्रत्सृष्टि को असत् जानते हैं और जैसे मृगतृष्णा का जल असत् भासता है तैसे ही हमको यह जगत् असत्य है तो फिर कारण, कार्य, कर्म-संस्कार हमको कैसे भासे? अज्ञानी को तीनों भासते हैं। हे बधिक! जब चित्तसंवित् बहिर्मुख होती है तब जगत् भासता है और जब अन्तर्मुख होती है तब अपने स्वरूप को देखती है। जब आत्मतत्त्व का किञ्चन संवेदन फुरती है तब स्वप्न जगत् हो भासता है और जब ठहर जाती है तब सुषुप्ति प्रलय हो जाती है। फुरने का नाम सृष्टि की उत्पत्ति है और ठहरने का नाम प्रलय है। जिसके आश्रय फुरना फुरता है सो शुद्धसत्ता अव्यक्त और निराकार है—वही आकाररूप हो भासती है और जो अकारण निराकार है उसमें अकारण आकार भासता है इससे जानता है कि वही रूप है और कुछ नहीं। आकार भी निराकार है;

मगर

सृष्टि क

स्थिति काल

संहार का

मृत्युकाल में नहीं.

दृष्टि ही सृष्टि रूप हो भासती है और जगत् आभासमात्र है। जैसे समुद्र का आभास तरङ्ग होते हैं तैसे ही आत्मा का आभास जगत् है सो आत्मानन्द चिदाकाश है और सर्व जगत् का अपना आप है। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! तुम जगत् को अकारण कहते हो तो कारण विना कैसे उत्पन्न होता है, क्योंकि प्रत्यक्ष भासता है और जो कारण से उत्पत्ति कहो तो स्वप्नवत् क्यों कहते हो? स्वप्नसृष्टि तो कारण विना होती है इससे यह कहो कि यह सृष्टि कारणसहित है अथवा कारण से रहित अकारण है? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह जगत् आदि अकारण है और आत्मा का आभासमात्र है; इसका आत्मा में अत्यंताभाव है और कुछ पदार्थ बने नहीं आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है सो चिदाकाश चिन्मात्र है और उसका किञ्चन चैतन्यता है। जैसे सूर्य की किरणों का आभास जल भासता है परन्तु मिथ्या है; तैसे ही आत्मा का किञ्चन चेतन है। वह किञ्चन संवेदन अहंभाव को लेकर फुरती गई है और जैसे-जैसे फुरती है तैसा ही तैसा जगत् हो भासता है। जो-जो उसमें निश्चय किया है कि यह कर्तव्य है, इसके करने से पाप है; यह करना है, यह नहीं करना है और देश, काल, क्रिया क्रम है, यह इसी प्रकार है। यह ऋषि है, यह देवता है, यह मनुष्य है, यह द्वैत है, यह धर्म है, यह कर्म है, इससे इनका बन्धन है; इससे इनका मोक्ष है। हे बधिक! जो आदि नेति रची है तैसे ही अब तक स्थित है अन्यथा नहीं होती—उसी में कारण-कार्य क्रम है। प्रथम जो सृष्टि फुरी है सो बुद्धिपूर्वक नहीं बनी—आकाशमात्र फुरी है और जैसे फुरी है तैसे ही स्थित है। फिर पदार्थ जो एकभाव को त्यागकर और भाव को अङ्गीकार करते हैं सो कारण से करते हैं; कारण विना नहीं होते, क्योंकि प्रथम सृष्टि अकारण हुई है और पीछे से सृष्टिकाल में कारण-कार्य हुए हैं; परन्तु हे बधिक! जिन पुरुषों को आत्मा का साक्षात्कार हुआ है उनको यह जगत् कारण विना ब्रह्मस्वरूप भासता है और जिनको आत्मसत्ता का प्रमाद है उनको कार्य-कारण सत्य भासता है, परन्तु आत्मा ब्रह्म निराकार अकारण है उसमें संवेदन के फुरने से अब्रह्मता भासती है; निराकार में

19, 11, 12

No 13

आकार भासता है और अकारण में कारण भासता है। जब संवेदन जो मन का फुरना है सो स्थिर हो जाता है तब सर्व जगत् कारण-कार्य सहित भासता है पर प्रथम अकारण फुरा है पीछे से देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पदार्थों की मर्यादा भई है और बन्ध-मोक्ष की नेति हुई है सो ज्यों की त्यों है कि जल शीतल ही है और अग्नि उष्ण ही है। जब जीव आत्मसत्ता में जागता है तब कारण-कार्य सहित जगत् नहीं भासता। जैसे स्वप्नसृष्टि प्रथम अकारण भासि आती है और जब दृढ़ हो जाती है तब कारण से कार्य होता है सो दृढ़ हो आता है; जैसे मृत्तिका बिना घट नहीं बनता पर जाग उठे से सर्व जगत् आत्मरूप हो जाता है। हे बधिक! यह जगत् संवेदन में स्थित है, जबतक अहंभाव का फुरना है तबतक जगत् है और जब अहंभाव मिटता है तब सर्व जगत् शून्य आकाशवत् होता है। जबतक अहं फुरती है तबतक नाना प्रकार का जगत् भासता है और जैसी भावना होती है तैसा भासता है। सर्व पदार्थ सर्वदा काल अपनी-अपनी शक्ति में और जैसे आदि नेति हुई है तैसे ही स्थित हैं। जो जीव जैसी क्रिया का अभ्यास करेगा उसका फल पावेगा; जो बन्धन के निमित्त अभ्यास करेगा सो बन्धन पावेगा और मोक्ष के निमित्त करेगा सो मोक्ष पावेगा—ऐसे ही आदि नेति हुई है। हे बधिक! इस प्रकार किञ्चन होकर मिट जाती है और आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय ऐसे हैं जैसे हाथी अपनी सूँड़ को पसारे और खैंचे और ऐसे ही चित्तसंवेदन के पसरने से जगत्उत्पत्ति होती है और निस्पन्द में प्रलय हो जाती है। ✓

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कार्यकारणाकारणनिर्णयो नाम
द्विशताधिकैकत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३१ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह सम्पूर्ण जगत् चिद्अणु के ओज में है और उस सम्बन्ध के अभ्यास से आत्मा चिद्अणु की संज्ञा पाता है। ओज, अन्तःकरण और हृदय तीनों अभेद हैं और चैतन्यसत्ता उसमें स्थित है जो बाह्यदृष्टि से मृतकवत् है और उनमें जीवितरूप है और वहाँ बड़े प्रकाश से प्रकाशती है। उस सत्ता का आगे चित्त से संयोग

विगलित

संवित

हुआ है और फिर चित्त और प्राणकला का संयोग हुआ है। हे बधिक! जब प्राण क्षोभते हैं तब चित्त खेद को प्राप्त होता है और जब चित्त खेद को पाता है तब प्राण भी खेद पाते हैं। जब प्राण स्थित होते हैं तब जीव शान्ति पाता है और जो प्राण स्थित नहीं होते तो जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था भिन्न-भिन्न होती हैं सो सुनो, हे बधिक! जब यह पुरुष अन्न भोजन करता है तब वह अन्न जाग्रत्वाली नाड़ी पर स्थित होता है और वह नाड़ी रुक जाती है उससे सुषुप्ति आती है। जिन नाड़ियों में गई हुई चित्त की वृत्ति जाग्रत् जगत् को देखती है सो जाग्रत् नाड़ी कहाती है। उन पर अन्न जाय स्थित होता है और चित्तसत्ता जो चित्त में प्रतिबिम्बित है वह चित्तनाड़ी उसके तले आ जाती है तब प्राणवायु भी उस नाड़ी में ठहर जाता है और चित्त-स्पन्द भी ठहर जाता है तब सुषुप्ति होती है। जो पित्त बहुत होता है तो सूर्य, अग्नि आदिक उष्ण पदार्थ स्वप्न में दिखते हैं और जब वह अन्न पचता है और उन नाड़ियों में प्राण जाते हैं तब स्वप्न अवस्था आती है। और जो जब जल के शोषने को वायु बहता है तब जीव स्वप्न में उड़ता है और जो कफ बहुत होता है तब जल को देखता है और नदियाँ, ताल आदि देखता है और जाकर डूबता है। जब उष्ण नाड़ी में अन्न-जल पहुँचता है तब जाग्रत् अवस्था होती है। इसी प्रकार जीव तीनों अवस्थाओं में भटकता है। जगत् न कुछ भीतर है और न बाहर है केवल अद्वैतसत्ता ज्यों की त्यों है। उसके प्रमाद से चित्त की वृत्ति जब बहिर्मुख फुरती है तब जगत् को जाग्रत् देखता है; जब बाहर की इन्द्रियों को त्याग के भीतर आती है तब अन्तर स्वप्न जगत् देखता है और जब अपने स्वभाव में स्थित होती है तब और कल्पना मिट जाती है सर्वब्रह्म ही भासता है। इससे सर्वकल्पना को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिविचारो
नाम द्विशताधिकद्वात्रिंशत्तमस्सर्गः॥ २३२॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह तीनों अवस्था आती और जाती हैं इनके अनुभव करनेवाली जो सत्ता है सो आत्मसत्ता है और वह सदा

एक रस है। जिस पुरुष को अपने स्वरूप का अनुभव हुआ है उसको अपना किञ्चन भासता है और जिसको प्रमाद है उसको जगत् भासता है। यह जगत् चित्त का कल्पा हुआ है और स्वरूप का जिसको प्रमाद है उसको जगत् भासता है। जब इन्द्रियाँ विषयों के सम्मुख होती हैं तब जगत् देखती हैं और उस संकल्पजगत् को देखकर राग-द्वेषवान् होती हैं। फिर इन्द्रियों के अर्थ पाकर जीव हर्ष-शोकवान् होता है। हे बधिक! जिस चिद्अणु का इन्द्रियों से सम्बन्ध है उसको संसार का अभाव नहीं होता। नेत्र, त्वचा, जिह्वा, नासिका और श्रोत्र से देखता, स्पर्श करता, रस लेता, सूँघता, सुनता और मानता है तब संसारी होकर दुःख पाता है और जब इनके अर्थ को त्याग के अपने स्वभाव की ओर आता है तब सर्व जगत् को आत्मरूप जानकर सुखी होता है। हे बधिक! चित्त के फुरने का नाम जगत् है और चित्त के स्थित होने का नाम ब्रह्म है—जगत् और कुछ वस्तु नहीं इसी का आभास है। चित्त के आश्रय सब नाड़ी हैं उनमें स्थित होकर जीव तीनों अवस्था देखता है पर वास्तव में जीव चिदाकाश आत्मा है—अज्ञान से जीव-संज्ञा पाई है। हे बधिक! ओज धातु जो हृदय है उसमें चिद्अणु स्थित होकर दीपक की ज्योतिवत् प्रकाशता है और उसी के ओज के आश्रय सब नाड़ी हैं सो अपने-अपने रस को ग्रहण करती हैं। जब प्राणी भोजन करता है और अन्न जाग्रत् नाड़ी में पूर्ण होता है तब जाग्रत् का अभाव हो जाता है और चित्त की वृत्ति और प्राण आने-जाने से रहित हो जाते हैं—वह नाड़ी मुँद जाती है। फिर जब कफनाड़ी में प्राण फुरते हैं तब स्वप्ना भासता है। हे बधिक! जब इन्द्रियों को ग्रहण करके चित्त की वृत्ति बाहर निकलती है तब जाग्रत् जगत् हो भासता है। जब तन्मात्रा को लेकर चित्त की वृत्ति ओज धातु में फुरती है तब स्वप्ना भासता है और जब ओज धातु पर अन्न आदिक द्रव्य का बोझ पड़ता है तब सुषुप्ति होती है। जब निद्रा और जाग्रत् का बल होता है तब दोनों भासते हैं और जब दोनों में से एक का बल अधिक होता है तब वही जाग्रत् अथवा सुषुप्ति भासती है। जब निद्रा से रहित मन्द संकल्प

होता है तब उसको मनोराज कहते हैं और जब बाह्य विषयों को त्यागकर चित्त की वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब स्वप्ना होता है। वहाँ जिस सिद्धान्त में जाता है उसके अनुसार भीतर जगत् भासता है। कफ के बल से चन्द्रमा, क्षीरसमुद्र, नदियाँ, जल से पूर्ण ताल और वृक्ष, फूल, फल, बागीचे, सुन्दर वन, हिमालय, कल्पवृक्ष, तमाल, सुन्दर स्त्रियाँ, बेलें, बावलियाँ इत्यादि सुन्दर और शीतल स्थान देखता है। जब पित्त का बल अधिक होता है तब सूर्य, अग्नि और सूखे वृक्ष, फल और टास देखता है; सन्ध्याकाल के मेघ की लाली देखता है; वन और दूसरे स्थानों में अग्नि लगी देखता है और पृथ्वी और रेत तपी हुई और मरुस्थल की नदी दृष्टि आती हैं; जल उष्ण लगता है; हिमालय का शिखर भी उष्ण लगता है और नाना उष्ण पदार्थ दृष्टि आते हैं। जब वायु का बल अधिक होता है तब स्वप्ने में अधिक वायु देखता है और पाषाण की वर्षा होती दृष्टि आती है; अन्धे कूप में गिरता देखता है और हाथी-घोड़े उड़ते दृष्टि आते हैं; आपको उड़ता फिरता देखता है; अप्सरा के पीछे दौड़ता है; पहाड़ों की वर्षा होती; वायु तीक्ष्णवेग से चलती और अन्न से आदि लेकर पदार्थ चलते दृष्टि आते हैं और विपरीत होकर भासते हैं। इस प्रकार वात, पित्त और कफ से स्वप्ने में जगत् देखता है और जिसका बल विशेष होता है वह उस धर्म में दृष्टि आता है। वासना के अनुसार जीव न्यूनाधिक राजसी, तामसी और सात्त्विकी पदार्थ देखता है और जब तीनों इकट्ठे होकर कुपित होते हैं तब प्रलयकाल दृष्टि आता है। हे बधिक ! जबतक वात, पित्त और कफ के अंश के साथ मिला हुआ पुर्यष्टक कफ के स्थान में प्रवेश करता है तबतक समान जल के क्षोभ भासते हैं। इसी प्रकार वात, पित्त और कफ जिसके स्थान में जाता है और अन्य के स्वभाव को लेता है तबतक समान क्षोभ भासता है। जब केवल वात का क्षोभ होता है तब महाप्रलय काल के पवन चलते और पहाड़ पर पहाड़ गिरते और भूकम्प आदि क्षोभ होते हैं; जब कफ का क्षोभ होता है तब समुद्र उछलते हैं और पित्त से अग्नि लगती है और महाप्रलय की नाईं तत्त्व क्षोभवान् होते हैं। जब प्राण

जाग्रत् नाड़ी में जाते हैं और वह अन्न से पूर्ण होती है तब संवित् उसके नीचे आ जाती है। जैसे भीत के नीचे दर्दुर आवे; पाषाण की शिला में कीट आ जावे और काष्ठ की पुतली काष्ठ में हो। जैसे इनमें अवकाश नहीं रहता तैसे ही और नाड़ी में फुरने का अवकाश नहीं रहता रुक जाती है तब इसको सुषुप्ति होती है। जब कुछ अन्न पचता है तब चित्त-संवित् अपने भीतर स्वप्ना देखती है जिसको जिसका विकार विशेष होता है उसी का कार्य देखता है। जब अन्न और जल पचता है तब फिर जाग्रत् जगत् देखता है और जब जाग्रत् और स्वप्न दोनों का बल सम होता है तब दोनों को देखता और अनुभव करता है। हे बधिक ! इसी प्रकार तीनों अवस्था होतीं और मिट जाती हैं सो तीनों गुणों से होती हैं। इनका द्रष्टा इनको अनुभव करनेवाला है सो गुणों से अतीत है और सर्व का आत्मा है। यह जगत् और स्वप्न-जगत् संकल्पमात्र है, कुछ बना नहीं ब्रह्मसत्ता ही किञ्चन करके जगत्रूप हो भासती है परन्तु अज्ञानी उसको जगत् जानते हैं और जगत् को सत्य जानकर इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष करते हैं जब बाहर की इन्द्रियाँ सुषुप्ति हो जाती हैं तब भीतर स्वप्ने में भटकता है और उसमें सूर्य, चन्द्रमा, वन, फूल, फल, वृक्ष आदिक जगत् देखता है और जब स्वरूप का अनुभव होता है तब सर्व भटकना मिट जाती है तब शान्ति पाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिवर्णनं नाम
द्विशताधिकत्रयस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३३ ॥

बधिक बोला, हे मुनीश्वर ! उस पुरुष के हृदय में जो तुमने जगत् और प्रलय देखी थी उसके अनन्तर क्या किया और क्या अवस्था देखी? मुनीश्वर बोले, हे बधिक ! उसके चित्तस्पन्द में मैंने देखा कि बड़े-बड़े पहाड़ प्रलय की वायु से सूखे तृण की नाईं उड़ते हैं और पाषाण की वर्षा होती है। इस प्रकार मैंने प्रलय के क्षोभ को देखा और मेरे देखते-देखते जाग्रत्वाली नाड़ी में अन्न स्थित हुआ तो वहाँ जो अन्न के दाने गिरे सो पर्वतवत् भासे और चित्तस्पन्द जो संवित् थी सो रोकी गई एवम् उसमें मैं था सो तामस नरक में जा पड़ा—मानो वहाँ मैं भी जड़ हो

गया और मुझको कुछ ज्ञान न रहा। जब कुछ अन्न पचा और कुछ अवकाश हुआ तब प्राण का स्पन्द फुरा और जैसे वायु निस्पन्द हुई स्पन्द होकर चले तैसे ही वहाँ संवित् फुरी तब सुषुप्ति दृश्य होकर भासने लगी-मानों आत्मा द्रष्टा ही दृश्यरूप होकर भासने लगा परन्तु और कुछ नहीं बना। जैसे अग्नि और उष्णता; जल और द्रवता और मिरच और तीक्ष्णता में भेद नहीं तैसे ही आत्मा और दृश्य में कुछ भेद नहीं। हे बधिक! इस प्रकार मैंने जगत् को देखा और सुषुप्ति से जाग्रत् दृश्य उपजी भासी और मुझको दृष्टि आई-जैसे कुमारी कन्या से सन्तान उपजे। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! जो सुषुप्ति आत्मा में दृश्य उपजी सो सुषुप्ति क्या है जिसमें तुम दब गये थे वही सुषुप्ति है जिससे जगत् उपजता है? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जहाँ सर्वसम्बन्ध का अभाव है केवल आत्मसत्ता से भिन्न कुछ कहना नहीं बनता उसका नाम सुषुप्ति है और उसमें जो फुरना हुआ उसके तीन पर्याय हैं सो सब सन्मात्र में हैं। जो वस्तु,देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित है वह सन्मात्र है; उस सन्मात्र में और कुछ बना नहीं उसके जो पर्याय हैं वे ही रूप हैं। वही सत्य वस्तु अपने आपमें विराजता है और कदाचित् अन्यथाभाव को नहीं प्राप्त होता; किञ्चन में भी वही रूप है और अकिञ्चन में भी वही रूप है। आत्मा ही का नाम सुषुप्ति है और उसी से सब जगत् होता है। जिस सत्ता का नाम सुषुप्ति है वही स्वप्नदृश्य होकर भासता है, उससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे वायु निस्स्पन्द स्पन्द में वही रूप है, तैसे ही आत्मा दोनों अवस्थाओं में एक ही है। हे बधिक! हम सरीखों की बुद्धि में और कुछ नहीं बना आत्मा ही सदा ज्यों का त्यों स्थित है और शरीर के आदि भी और अन्त भी वही रूप है। उसमें जो किञ्चन द्वारा भासित हुआ है वह भी वही रूप है। जैसे सुषुप्ति अवस्था में मुझको अद्वैत का अनुभव होता है और कहीं फुरना नहीं होता और उसमें जो स्वप्न और जाग्रत् भासि आती है सो भी वही रूप है और जिसमें फुरती और जिसमें भासती है उससे भिन्न कुछ नहीं; इससे यह जगत् आत्मा का किञ्चन आत्मरूप है। जब तू जागकर देखेगा तब तुझको आत्म-

ज्ञानी अपने आत्मसत्ता का ज्ञान है

31 तत्व रूप जगत्

पूर्ण ज्ञान.

[illegible]

रूप ही भासेगा। जैसे स्वप्नपुर और संकल्पनगर का अनुभव होता है वह आकाशरूप है तैसे ही यह जगत् आकाशरूप है और शक्ति भी वही है। सर्वशक्ति आत्मा निष्किञ्चन भी और किञ्चन भी और शून्य भी वही है जो वाणी से कहा नहीं जाता। उस अवस्था में ज्ञानी स्थित है। हे बधिक! ज्ञानवान् को प्रत्यक्ष करके अनुभवरूप ही भासता है जैसे स्वप्ने में जीव और ईश्वर भिन्न-भिन्न भासते हैं और उपाधि करके अनुभवभेद भासता है—वास्तव में कुछ भेद नहीं; जैसे ही जाग्रत् में अज्ञान उपाधि से भेद भासता है पर स्वरूप से आत्मा एकरूप है और जब अज्ञान निवृत्त होता है तब सर्व आत्मरूप ही भासता है। हे बधिक! सर्व जगत् अपना स्वरूप है परन्तु अज्ञान से भेद होता है; जब आपको जाने तब द्वैतभेद भी मिट जावे। जैसे किसी पुरुष ने अपनी भुजा पर सिंह की मूर्त्ति लिखी हो और उसके भय से दौड़ता फिरे और कष्ट पावे तो वह प्रमाद से भयवान् होता है, क्योंकि वह तो अपना ही अङ्ग है और अपने अङ्ग के जाने से भय मिट जाता है; तैसे ही स्वरूप के ज्ञान से जगत्-भय मिट जाता है। जैसे स्वप्ने में अज्ञान से नानात्व भासता है पर बना कुछ नहीं; तैसे ही जाग्रत् में नानात्व भासता है परन्तु बना कुछ नहीं। जब मनुष्य अन्तर्मुख होता है तब बोध की दृढ़ता हो आती है। जैसे प्रातःकाल को ज्यों-ज्यों सूर्य की किरणें प्रकट होती हैं त्यों-त्यों सूर्यमुखी कमल खिलते हैं, तैसे ही ज्यों-ज्यों मनुष्य अन्तर्मुख होता है त्यों-त्यों बोध खिलता है। विषयों से वैराग्य और आत्मा के अभ्यास से बुद्धि अन्तर्मुख होकर आत्मपद की प्राप्ति होती है तब आत्मा सर्व एकरस भासता है।

माया

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुषुप्तिवर्णनन्नाम
द्विशताधिकचतुस्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३४ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! तब मैंने उसकी सुषुप्ति से जागकर जगत् को देखा—जैसे कोई पुरुष समुद्र से निकल आवे; जैसे संकल्प सृष्टि फुर आवे; जैसे आकाश में बादल फुरते हैं और वृक्ष से फल निकल आते हैं; तैसे ही उसकी सुषुप्ति से सृष्टि निकल आई—मानो आकाश से उड़ आई

वा मानो कल्पवृक्ष से चिन्तामणि निकल आई है। जैसे शरीर के रोम खड़े हो आते हैं; जैसे गन्धर्वनगर फुरि आता है; अथवा जैसे पृथ्वी से अंकुर निकल आता है; तैसे ही सृष्टि फुरि आई। जैसे भीत पर पुतलियाँ लिखी हों और जैसे थम्भ में पुतलियाँ हों; तैसे ही मैंने सृष्टि को देखा। जैसे थम्भे में पुतलियाँ निकली नहीं परन्तु शिल्पी कल्पता है कि इतनी पुतलियाँ निकलेंगी; तैसे ही अनहोती सृष्टि आत्मरूपी थम्भ से निकल आती है। आत्मरूपी माटी से पदार्थरूपी बासन निकलते हैं परन्तु यह आश्चर्य है कि आकाश में चित्र होते हैं और निराकार चैतन्य आकाश में पुतलियाँ मनुष्य कल्पता है। हे बधिक! जैसे आकाश में मकड़ी के समूह निकल आते हैं, तैसे ही शून्याकाश से सृष्टि निकलकर उस पुरुष के हृदय में मुझको स्पष्ट भासने लगी। देश, काल, क्रिया और द्रव्य से अकस्मात् सत्यासत्य पदार्थ भासने लगते हैं और असत्य पदार्थ सत्य हो भासते हैं। जैसे मणि मन्त्र औषधद्रव के बल से असत्य पदार्थ सत्य हो भासने लगते हैं और सत्य पदार्थ असत्य भासते हैं, तैसे ही अभ्यास के बल से मुझको उस पुरुष के हृदय में सृष्टि भासने लगी। हे बधिक! जैसा निश्चय संवित् में दृढ़ होता है तैसा ही रूप होकर भासता है, वास्तव में न कोई पदार्थ है, न भीतर है, न बाहर है, न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है; यह सब सृष्टि इसके भीतर ही स्थित है और प्रमाद दोष से बाहर से उत्पन्न होते देखता है। जैसे स्वप्ने में सब पदार्थ अपने भीतर-बाहर होते भासते हैं तैसे ही ये पदार्थ अपने भीतर से बाहर फुरते भासते हैं। हे बधिक! यह जगत् जो आकारसंयुक्त दृष्टि आता है सो सब निराकार है और कुछ बना नहीं ब्रह्मसत्ता ही अज्ञान से जगत् रूप हो भासती है; जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको जगत् सत्य-असत्य कुछ नहीं भासता केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित भासती है और जो अज्ञानी हैं उनको भिन्न-भिन्न नाम रूप भासता है। जब चित्त की वृत्ति बाह्य फुरती है उसको जाग्रत् कहते हैं; जब अन्तर फुरती है तब उसको स्वप्न कहते हैं और जब स्थित होती है तब उसको सुषुप्ति कहते हैं; तो एक ही चित्तवृत्ति के तीन पर्याय हुए कुछ वास्तव से नहीं।

केवल आत्मा है

जगत् के आदि शुद्ध केवल आत्मसत्ता थी और उसमें जब चित्तसंवित् फुरी तब जगत् रूप भासने लगी और किसी कारण जगत् उपजा नहीं। जिसका कारण कोई नहीं आत्मा है उसको ~~असत्य~~ आत्मा ही जानिये—वास्तव में कुछ बना नहीं सर्वजगत् शान्तरूप ब्रह्म ही है। और यह सब विवर्त है उसी का.

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सुषुप्तिवर्णनन्नाम
द्विशताधिकपञ्चत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३५ ॥

बधिक बोला, हे मुनीश्वर! प्रलय के अन्तर तुमको क्या अनुभव हुआ था? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! तब मुझको उसके भीतर सृष्टि फुर आई और अपने पुत्र, कलत्र, स्त्री आदि सम्पूर्ण कुटुम्ब भासि आये। उनको देखकर मुझको ममत्व फुर आया और पूर्व की स्मृति भूल गई। अपनी षोड़शवर्ष की आयु भासी और गृहस्थाश्रम में स्थित हुआ तब राग-द्वेषसहित मुझको जीव के धर्म फुर आये, क्योंकि दृढ़ बोध मुझको न हुआ था। हे बधिक! जब दृढ़बोध होता है तब राग-द्वेषादिक जीव धर्म चला नहीं सकते और संसार को सत्य जानकर कोई वासना नहीं होती इसी कारण चलायमान नहीं होता। जिसको बोध की दृढ़ता नहीं हुई उसको जगत् की वासना खैंच ले जाती है। हे बधिक! अब मुझको दृढ़बोध हुआ है। इस वासना को तरना महाकठिन है; यह पिशाचिनी महाबली है, क्योंकि चिरकाल से दृश्य का अभ्यास हुआ इस कारण चला ले जाती है। जब सत्शास्त्र का विचार और सन्तों का संग जीव को प्राप्त होता है और अभ्यास दृढ़ होता है तब दृश्य का सद्भाव निवृत्त हो जाता है। जबतक यह मोक्ष का उपाय नहीं प्राप्त होता तबतक यह भ्रम दृढ़ रहता है और जब सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार से यह विचार उपजता है कि 'मैं कौनहूँ' और 'यह जगत् क्या है' और इसको विचारकर आत्मपद का दृढ़ अभ्यास होता है तब दृश्यभ्रम मिट जाता है, क्योंकि असम्यक्ज्ञान से जगत् सत् भासित हुआ है, जब सम्यक्ज्ञान हुआ तब जगत् का सद्भाव कैसे रहे। जैसे आकाश में नीलता; बाजीगर की बाज़ी और रस्सी में सर्प भ्रम से भासते हैं, तैसे ही आत्मा में जगत् भ्रम से भासता है। जब प्राणी अपने स्वरूप में जागता है तब जगत्भ्रम मिट

My
Case
Today
that i
why Da
ah Poor
Shamp
let m
start u
factory
& I leav
Promi
must b
fulfilled

जाता है पर जबतक स्वरूप में नहीं जागता तबतक जगत्भ्रम नहीं मिटता। बधिक बोला, हे मुनीश्वर! यह तुम सत्य कहते हो कि जगत्भ्रम मिटना कठिन है। मैं तुम्हारे मुख से बारम्बार सुनता हूँ और विचारता हूँ और पदपदार्थ का ज्ञान भी मुझको दृढ़ हो गया है परन्तु संसारभ्रम नष्ट नहीं होता। यह मैं जानता और सुनता हूँ कि सन्तों के संग और सत्शास्त्रों के विचार बिना शान्ति नहीं होती पर यह संशय मुझको होता है कि तुम जाग्रत् जगत् को स्वप्नवत् कैसे कहते हो? कई पदार्थ सत्य भासते हैं और कई असत्य भासते हैं। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह सर्वजगत् पृथ्वी आदिक पदार्थ सत्य भासते हैं और शशे के सींग आदिक असत्य भासते हैं सो सब मिथ्या हैं। जैसे स्वप्ने में सत्य-असत्य पदार्थ भासते हैं सो सर्व असत्य हैं, तैसे ही यह जगत् असत्य है पर उसमें अल्प और चिरकाल की प्रतीति का भेद है। जाग्रत् चिरकाल की प्रतीति है इससे उसमें पदार्थ सत्य भासते हैं और स्वप्ना अल्पकाल की प्रतीति है इससे स्वप्ने के पदार्थ असत्य भासते हैं परन्तु दोनों भ्रमरूप और असत्य हैं इस कारण मैं तुल्य कहता हूँ। असत्य ही पदार्थ भ्रम से सत्य की नाईं भासते हैं और यह सर्व जगत् स्वप्नमात्र है उसमें सत्य और असत्य क्या कहूँ। जैसे स्वप्ने में कई पदार्थ सत्य और कई असत्य भासते हैं पर सब ही असत्य हैं, तैसे ही जाग्रत् में कई पदार्थ सत्य भासते और कई असत्य भासते हैं परन्तु दोनों भ्रममात्र हैं इसी से असत्य हैं। हे बधिक! प्रतीति का भेद है, पदार्थों में भेद कुछ नहीं। जिसमें प्रतीति दृढ़ हो रही है उसको सत्य कहते हैं और जिसमें प्रतीति दृढ़ नहीं उसको असत्य कहते हैं। एक ऐसे पदार्थ हैं कि स्वप्ने में उनकी भावना दृढ़ हो गई है सो जाग्रत् में भी प्रत्यक्ष भासते हैं और मनोराज की दृढ़ता जाग्रत्रूप हो जाती है सो भावना ही की दृढ़ता है और भेद नहीं। जिसमें भावना दृढ़ हो गई है वह सत्य भासने लगा है जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनको जगत् संकल्पमात्र ही भासता है संकल्प से भिन्न जगत् का कुछ रूप नहीं तो उसमें सत्य और असत्य क्या कहूँ? सब जगत् भ्रममात्र है, जो ज्ञानवान् हैं उनको सत्य-असत्य कुछ नहीं सब ज्ञानरूप ही भासता है। जैसे जिसको स्वप्ने में जाग्रत् की स्मृति आई है उसको फिर स्वप्ना नहीं भासता है, तैसे ही जिसको स्वप्ने में भी स्वरूप का बोध हुआ है वह फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता। इससे न कोई जाग्रत् है, न कोई स्वप्ना है और न कोई नेति है, क्योंकि नेति भी कुछ और वस्तु नहीं। जैसे स्वप्ने में नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं और उनकी मर्यादा नेति भी भासती है तो वह नेति किससे है? सब ज्ञानरूप होती है; तैसे ही जाग्रत् में भी सब ज्ञानरूप है और संवित् के फुरने से नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं और उसमें नेति भी भासती है; इससे न कोई जगत् और न कोई नेति है। इसका कारण कोई नहीं; कारण बिना ही जगत् अकस्मात् फुर आता है और मिट भी जाता है। संवेदन के फुरने से जगत् फुर आता है और संवेदन के मिटे से मिट जाता है—इससे जगत् संवेदनरूप है। जैसे वायु स्पन्दरूप होती है; तैसे ही संवेदन ही जगत्रूप हो भासता है। जैसे वायु स्पन्दरूप होती है तब फुरनरूप हो भासती है और निस्स्पन्द को कोई नहीं जानता परन्तु वायु को दोनों तुल्य हैं; तैसे ही चित्तसंवेदन के फुरने में जगत् भासता है और ठहरने में जगत् किञ्चन मिट जाता है—फुरना और ठहरना दोनों उसके किञ्चन हैं और आप दोनों में तुल्य है। हे बधिक! नेति भी अज्ञानी के समझाने के निमित्त कही है। स्वप्ना भी असत्य है सब कोई जानता है पर स्वप्ने का वृत्तान्त जाग्रत् में सिद्ध होता दृष्टि आता है; कोई कहता है कि रात्रि में मुझको स्वप्ना आया है कि अमुक कार्य इस प्रकार होगा और जाग्रत् में वैसा ही होता दृष्टि आता है; पिता पुत्र से कह जाता है कि मेरी गति करना और अमुक स्थान में द्रव्य गड़ा है तुम निकाल लो सो उसी प्रकार होता दृष्टि आया है। जो नेति होती तो कोई कार्य सिद्ध न होता पर सो तो होता है इससे नेति भी कुछ वस्तु नहीं। आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जाग्रत् उसका नाम है जिसको आत्मशब्द कहते हैं और जिसको तुम जाग्रत् कहते हो सो कुछ वस्तु नहीं। जाग्रत् मनसहित षट्इन्द्रियों की संवेदन होती है सो स्वप्ने में भी मनसहित षट्इन्द्रियों की संवेदन होती हैं और उनमें ग्रहण होता है इससे जाग्रत् कुछ वस्तु नहीं। जो जाग्रत् में अर्थ सिद्ध

होता है और स्वप्ने में भी होवे तो जाग्रत् कुछ वस्तु न हुई और जो त कहे कि स्वप्ना कुछ वस्तु है तो स्वप्ना भी कुछ वस्तु नहीं, क्योंकि स्वप्ना तहाँ होता है जहाँ निद्राभ्रम होता है। केवल शुद्ध चिन्मात्र सत्ता का जगत् किञ्चन है जैसे रत्नों का चमत्कार स्थित होता है सो रत्नों से भिन्न कुछ वस्तु नहीं रत्न ही व्यापा है, तैसे ही जाग्रत् स्वप्न जगत् आत्मा का चमत्कार है। बोधसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है सो अनन्त है उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जो आत्मा से भिन्न जगत् भासता है सो नाशरूप है और आत्मा सदा अविनाशी है। हे बधिक! जब यह पुरुष शरीर को छोड़ता है तब परलोक में सुख-दुःख ऐसे भोगता है जैसे कि जल में तरङ्ग उठकर मिट जाता है और दूसरी ठौर और प्रकार से उठता है सो जल ही जल है; आगे भी जल था, पीछे भी जल है, तरङ्ग भी जल है और जल ही का विलास इस प्रकार फुरता है; तैसे ही यह शरीर भी अनुभवरूप है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं। जैसे मनुष्य एक स्वप्न को छोड़कर दूसरा स्वप्ना देखता है तो क्या है? अपना ही आप है; तैसे ही यह जगत् भी आत्मरूप है। हे बधिक! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया ये ही चारों वपु हैं। जाग्रत् जो सृष्टि की समष्टिता है उसका नाम विराट् है; स्वप्न जो लिङ्ग शरीर की समष्टिता है उसका नाम हिरण्यगर्भ है; सुषुप्ति शरीर की समष्टिता अव्याकृत माया है और तुरीया सर्व शरीरों की समष्टिता है सो चैतन्यरूप आत्मा है। तुरीया साक्षीभूत के जानने को कहते हैं; उसकी समष्टितारूप चैतन्य वपु है; चारों शरीर उसके हैं और वह सदा निराकार अचेत चिन्मात्र है। हे बधिक! ये चारों परमात्मा के शरीर हैं वह परमात्मा निराकार है और आकार जो उसमें दृष्टि आता है सो भी वही रूप है। आकार कल्पनामात्र है और आत्मा सर्वकल्पना से रहित है—इससे सब जगत् चिदाकाशरूप है। जैसे पत्थर की शिला में कमल के फूल नहीं लगते—उनका होना असंभव है; तैसे ही आत्मा में जगत् का होना असंभव है। हे बधिक! आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है; तू जागकर देख कि सर्व पदार्थ संकल्पमात्र हैं और जिसमें कल्पित हैं वह नामरूप से

is waves with

रहित है। जब तू उसको देखेगा तब सब जगत् आत्मरूप भासेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वप्ननिर्णयो नाम द्विशताधिकषट्त्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३६ ॥

बधिक बोला, हे मुनीश्वर! उस पुरुष के हृदय में जो तुमने सृष्टि देखी थी उसमें तुम किस प्रकार बिचरते थे और क्या देखा था सो कहो? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जो कुछ वृत्तान्त है सो तू सुन। जब मैंने उसके हृदय में नाना प्रकार का जगत् देखा तब मैं अपने कुटुम्ब में रहने लगा और पूर्व की स्मृति विस्मरणकर षोड़शवर्ष पर्यन्त उसी को सत्य जानकर चेष्टा करता रहा। तब मेरे गृह में मान करने योग्य उग्रतपा नाम एक ऋषीश्वर आया और उसका मैंने बहुत आदर किया। उसके चरण धोकर मैंने सिंहासन पर बैठाया और नाना प्रकार के भोजनों से उसको तृप्त किया। जब उस ऋषि ने भोजन करके विश्राम किया तब मैंने कहा, हे ऋषीश्वर! यह मैं जानता हूँ। तुम परम बोधवान् हो, क्योंकि आपको आपही जानते हो। जब तुम आये थे तब थके हुए थे परन्तु तुम में क्रोध न दृष्टि आया और जब तुमने नाना प्रकार के भोजन किये तब तुम हर्षवान् भी न हुए; इस कारण मैंने जाना कि तुम परम बोधवान् हो और तुम्हारे में राग-द्वेष कुछ नहीं है। इससे मैं संशययुक्त होकर एक प्रश्न करता हूँ कृपा करके उसका उत्तर देकर मेरे संशय को दूर कीजिये। हे भगवन्! इस जगत् में जो दुर्भिक्ष पड़ता है और सब इकट्ठे मर जाते हैं और कष्ट पाते हैं इसका क्या कारण है? यह तो मैं जानता हूँ कि जैसे शुभ अथवा अशुभकर्म जीव करता है उसका फल पाता है। जैसे धान को बोता है तो समय पाकर फल भी अवश्य आता है; तैसे ही कर्म का फल भी अवश्य प्राप्त होता है और जिसने किया है वही भोगता है पर दुर्भिक्ष में इकट्ठा कष्ट क्योंकर प्राप्त होता है? उग्रतपा बोले, हे साधो! प्रथम यह सुनो कि जगत् क्या वस्तु है। यह जगत् कारण बिना उत्पन्न हुआ है और जो कारण बिना दृष्टि आवे उसे भ्रममात्र जानिये इससे तू विचारकर देख कि 'यह जगत् क्या है'; 'तू कौन है'; इसमें क्या है' और इसका अन्त कहाँ तक है? हे बधिक! यह जगत्

किसका?

किसका?

① ② Dua

②

स्वप्नमात्र है और यह शरीर भी स्वप्नमात्र है। तू मेरा स्वप्ननर है; मैं तेरा स्वप्ननर हूँ और सब जगत् स्वप्नरूप है। कारण कार्य कोई नहीं सब आभासमात्र हैं; आभास में कुछ और वस्तु नहीं होती इससे स जगत् आत्मस्वरूप है। जैसे रस्सी में सर्प भ्रममात्र होता है; सर्प नहीं रस्सी ही है; तैसे ही सब जगत् चिन्मात्ररूप है। उसमें जगत् कु बना नहीं केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और उसमें आ होकर इस प्रकार चैतन्यता संवेदन फुरती है तब जगत् आकार का स रण होता है और जैसे-जैसे संकल्प फुरता है तैसा ही तैसा जगत् भास है। जैसे स्वप्न की सृष्टि और संकल्पनगर नाना प्रकार के भासते हैं प अनुभव से भिन्न नहीं, तैसे ही यह जगत् भासता है। जिस संवित् अपना स्वरूप विस्मरण होता है उसको जगत् कारण कार्यरूप भासता है वही जीव है और जिस संवित् को कर्म की कल्पना स्पर्श करती है उसक उन कर्मों का फल लगता है ज्ञानवान् कर्तव्य करता भी दृष्टि आत है परन्तु उसके हृदय में कर्तव्य का अभिमान नहीं स्पर्श करता जिसके हृदय में कर्तव्य का अभिमान होता है उसको फल भी होता है हे साधो! यह जो सृष्टि है उसका एक विराट् पुरुष है उसी का यह शरीर है और यह विराट् भी और विराट् के संकल्प में है। यह विराट् उस विराट् का रोमाञ्च है। जब विराट्पुरुष के अङ्ग में क्षोभ होता है और जीव की पापवासना उदय होती है तब वासना और अङ्ग का क्षोभ इकट्ठा होकर उस स्थान में उपद्रव और कष्ट होता है। जैसे वन में बड़े वृक्ष होते हैं और उन पर वज्र आन पड़ता है तो उससे सब चूर्ण हो जाते तैसे ही इकट्ठे पाप से इकट्ठे ही मर जाते हैं और इकट्ठे दुर्भिक्ष से कष्ट पाते हैं। जैसे किसी पुरुष के अङ्ग पर मक्खी काटे तो उससे वह अङ्ग काँपता है और उस अङ्ग के काँपने से रोम भी काँपने लग जाते हैं और जो सर्प दिक जीव कहीं डसता है तो सारा शरीर कष्ट पाता है और सब रोम कष्ट पाते हैं; तैसे ही यह जगत् विराट्पुरुष का शरीर है जब किसी नगर में पाप उदय होता है तब एक रोमरूपी नगर जीव कष्ट पाते हैं और जो सारे अङ्गरूपी देश में पाप उदय होता है तब सर्प के काटने के समान

विराट् का सारा शरीर क्षोभवान् होता है और उसके शरीर पर रोमरूपी सब जीव कष्ट पाते हैं। आत्मसत्ता केवल अनुभवरूप है उसके प्रमाद से यह आपदा दृष्टि आती है। यह जगत् कारण से उपजा होता तो सत्य होता सो तो कारण से उपजा नहीं सत्य कैसे हो? इस जगत् में सत्य प्रतीति करना ही अज्ञानता है। हे साधो! इस आकाश का कारण कोई नहीं; पृथ्वी का कारण कोई नहीं और अविद्या का कारण भी कोई नहीं। स्वयंभू अकारण है। स्वयंभू उसका नाम है कि जो अपने आपसे प्रकट है तो उसका कारण कौन हो? अग्नि, जल, वायु का कारण भी कहीं नहीं। जो तुम कहो कि सबका कारण आत्मा है तो आत्मा को निमित्तकारण कहोगे अथवा समवायकारण कहोगे? यदि प्रथम पक्ष निमित्तकारण कहिये तो नहीं बनता क्योंकि आत्मा अद्वैत है और दूसरी वस्तु कोई नहीं तो निमित्तकारण कैसे हो? यदि समवायकारण कहिये तो भी नहीं बनता, क्योंकि समवायकारण आप परिणाम करके कार्य होता है पर आत्मा अच्युत है और अपने स्वरूप को नहीं त्यागता सो समवायकारण कैसे हो? इससे यदि आत्मा में कारण-कार्यभाव नहीं तो फिर जगत् किसका कार्य हो? हे अङ्ग! जो कारण से रहित दृष्टि आवे उसको जानिये कि भ्रममात्र भासता है और जो तू कहे कि कारण विना पिण्डाकार नहीं होते कहीं कारण भी होगा; तो हे अङ्ग! जैसे मनुष्य देह को त्यागता है और परलोक जा देखता है तो कर्म के अनुसार सुख दुःख भोगता है पर उस शरीर का कारण किसे कहिये? वह तो कारण से नहीं उपजा भ्रममात्र है; तैसे यह भी भ्रममात्र जानो। जैसे स्वप्न में नाना प्रकार के आकार भासि आते हैं सो किसी कारण से नहीं उपजते और आकाश में तरुवरे और रङ्ग भासते हैं सो भ्रममात्र हैं; तैसे ही यह जगत् भी भ्रममात्र है। जैसे बालक को अनहोता वैताल भासता है और उससे वह भयवान् होता है तैसे ही यह जगत् भी अनहोता स्वरूप के प्रमाद से भासता है; वास्तव में परमात्मसत्ता ज्यों की त्यों है वही संवेदन से जगत्रूप हो भासती है—उसमें वही रूप है। जैसे वायु चलने और ठहरने में एक ही रूप है परन्तु चलने से भासती है और ठहरने से नहीं भासती; तैसे ही चित्त-

संवित् फुरने से जगत् आकार हो भासती है और उसमें नाना प्रकार के शब्द-अर्थ दृष्टि आते हैं और जब फुरने से रहित होती है तब अपने स्वभाव को देखती है जब संकल्प की दृढ़ता होती है तब कारणकार्य भासने लगते हैं। जिसको कारणकार्य भासता है उसको जगत् सत्य भासता है और जिसको कारणकार्य से रहित भासता है उसको जगत् आत्मरूप है। जिसको कारणकार्य बुद्धि है उसको वही सत्य है। वह पुण्य करेगा तो स्वर्ग में सुख पावेगा और पाप करेगा तो नरक दुःख भोगेगा—इससे उसको पुण्य ही करना भला है। जब जीव के पाप इकट्ठे होते हैं तब दुर्भिक्ष पड़ता और मृत्यु आती है। जैसे पत्थर की वर्षा हो तैसे ही वे कष्ट पाते हैं और जो मेरा निश्चय पूछो तो न पाप है, न पुण्य है, न दुःख है, न सुख और न जगत् है। जब स्वरूप के प्रमाद से अहन्ता उदय होती है तब नाना प्रकार के विकार भासते हैं और जब प्रमाद निवृत्त होता है तब सब आत्मरूप भासता है—इससे तुम सर्व कल्पना को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो तब सर्व संशय मिट जावेंगे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वप्नविचारो नाम
द्विशताधिकसप्तत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३७ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! इस प्रकार उग्रतपा ऋषीश्वर ने उपदेश किया उससे मैं अपने स्वभाव में स्थित हुआ और अकृत्रिमपद को प्राप्त हुआ। उग्रतपा के साथ मानो विष्णु भगवान् उपदेश करने आन बैठे थे, उन्हीं के उपदेश से मैं जागा। जैसे कोई रज से वेष्टित स्नान से उज्ज्वल हो तैसे ही मैं हुआ अपनी पूर्वस्मृति और अवस्था को स्मरणकर और समाधिवाले शरीर और आत्मवपु को भी जान, यह उग्रतपा तेरे पास बैठा है। अग्नि बोले, हे राजन्! जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तब बधिक विस्मय को प्राप्त हुआ और बोला, हे मुनीश्वर! बड़ा आश्चर्य है जो तुम कहते हो कि स्वप्न में मुझको उग्रतपा ने उपदेश किया था और फिर जाग्रत में कहते हो कि यह बैठा है। यह वार्ता तुम्हारी कैसे मानिये? जैसे बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पे और कहे यह प्रत्यक्ष बैठा है तो जैसे वह स्पष्ट नहीं भासता, तैसे ही यह तुम्हारा

वचन स्पष्ट नहीं भासता। यह अपूर्व वार्ता सुनकर मुझको संशय उपजा है सो तुम दूर करो मुनीश्वर बोले, हे बधिक! यह बात आश्चर्य के उपजानेवाली है परन्तु जैसे यह वृत्तान्त हुआ है सो संक्षेप से तुम से कहता हूँ सुनो। जब उग्रतपा ने मुझको उपदेश किया तब मैंने कहा, हे भगवन्! तुम यहाँ विश्राम करो और जिस प्रकार मैं रहता हूँ तैसे ही तुम भी रहो। तब मैं वहाँ रहने लगा और उसका उपदेश पाकर विचारा कि यह जगत् मिथ्या है, मेरा शरीर भी मिथ्या है और इसके सुख के निमित्त मैं क्यों यत्न करता हूँ? इन्द्रियाँ तो ऐसी हैं जैसे सर्प होते हैं; इनके सेवनेवाला संसाररूप बन्धन से कदाचित् मुक्त नहीं होता। मेरे जीने को धिक्कार है। जो इनके सुख की वाञ्छा करते हैं वे मूर्ख हैं और मृग की नाईं मरुस्थल के जलपान करने के निमित्त दौड़ते हैं और थक पड़ते हैं पर तृप्त कदाचित् न होंगे। मैं अविद्या से सुख के निमित्त यत्न करता था पर इनसे तृप्ति कदाचित् नहीं होती। हे बधिक! ममता के रूप जो बान्धव हैं सो ही चरणों में ज़ंजीर है और अन्धकूप में गिरने का कारण है इनसे बँधा हुआ मैं इन्द्रियों के विषयरूपी कूप में गिरा था। अब मैंने विचार किया है कि बन्धन का कारण कुटुम्ब है उसको मैं त्याग दूँ। फिर विचार किया कि इनके त्याग में भी सुख नहीं प्राप्त होता जबतक अविद्या को नष्ट न करूँ। हे बधिक! ऐसे विचारकर मैं गुरु के पास गया और मन में विचार किया कि जगत् भ्रममात्र है और गुरु भी स्वप्नमात्र है इनसे क्या प्राप्त होगा? फिर विचार किया कि नहीं ये ज्ञानवान् पुरुष हैं और इनको 'अहंब्रह्म' का निश्चय है इससे ये ब्रह्मस्वरूप हैं और कल्याणमूर्त्ति हैं इनसे जाके प्रश्न करूँ। तब मैंने जाकर उनको प्रणाम किया और कहा, हे भगवन्! उस अपने शरीर को देख आऊँ और इसके शरीर को भी देखूँ कि कहाँ है। इस जगत् का विराट्पुरुष है। हे बधिक! जब इस प्रकार मैंने कहा तब ऋषि ने हँसकर मुझसे कहा, हे ब्राह्मण! वह तेरा शरीर कहाँ है? वह शरीर तो दूर गया है अब उसे कहाँ देखेगा? तू आपही जानेगा। तब मैंने हाथ जोड़कर ऋषि से कहा, हे ऋषे! अब मैं जाता हूँ, मेरे आने तक तुम यहाँ बैठे रहना। हे बधिक!

ऐसे कहकर मैं आधिभौतिक देह के अभिमान को त्यागकर अन्तवाहक शरीर से उड़ा और आकाशमार्ग में उड़ता-उड़ता थक गया परन्तु शरीर कहीं न पाया। तब मैं फिर ऋषि के पास आया और कहा हे पूर्व अपर के वेत्ता और भूत भविष्यत् के जाननेवाले! वे दोनों शरीर कहाँ गये? न इस सृष्टि के विराट् का शरीर भासता है जिसके मार्ग से हम आये थे और न अपना शरीर भासता है? हे संशयरूपी अन्धकार के नाशकर्ता सूर्य! आप इसका कारण बताइये। उग्रतपा बोले, हे कमलनयन और तपरूपी कमल की खानि के सूर्य और ज्ञानरूपी कमल के धारण करनेहारे विष्णु की नाभि और आनन्दरूपी कमल की खानि! तू सब कुछ जानता है और आत्मपद में जागा है। तू तो योगीश्वर है, ध्यान करके देख कि सब वृत्तान्त तुझको दृष्टि आवे। हे मुनीश्वर! यह जगत् असत्यरूप है इसमें स्थिर कोई वस्तु नहीं। विचारकर देखो कि शरीर की अवस्था तुमको दृष्टि आवे और जो मुझसे पूछते हो तो मैं कहता हूँ। हे मुनीश्वर! जिस वन में तुम रहते थे और जहाँ तुम्हारे शरीर थे उस वन में एक काल में अग्नि लगी और सब प्रकार के वृक्ष और बेलि जल गईं जल भी अग्नि से क्षोभने लगा और वनचारी पशु-पक्षी सब जल गये और महाकष्ट को प्राप्त हुए उसी के साथ तुम्हारा शरीर भी जल गया और कुटी भी जल गई। मुनीश्वर बोले, हे भगवन्! उस अग्नि से जो सम्पूर्ण वन जल गया तो उसका कारण कौन था? उग्रतपा बोले, हे मुनीश्वर! यह जगत् जिसमें हम और तुम बैठे हैं इसी का विराट् हैं और जिसके शरीर में तुमने प्रवेश किया था और जिसमें उसका और तेरा समाधिवाला शरीर है उसका विराट् और है—वह सृष्टि उस विराट् का शरीर है। हे मुनीश्वर! उस विराट् के शरीर में जो क्षोभ हुआ इस कारण अग्नि उत्पन्न हुई और शरीर, वृक्ष इत्यादिक सब जल गये। इस सृष्टि के विराट् का नाम ब्रह्मा है; उस ब्रह्मा का विराट् और है और उसका विराट् आत्मा है जो सदा अपने आपमें स्थित है। और उसमें कुछ और नहीं बना। जिस पुरुष को उसका प्रमाद है उसको उपद्रव और कारण कार्यरूप पदार्थ भासते हैं उससे वह कर्मों के अनुसार दुःख सुख भोगता

है और जिसको स्वरूप का साक्षात्कार है उसको जगत् आत्मा भासता है अर्थात् सर्व ओर से ब्रह्म भासता है। हे मुनीश्वर! जब इस प्रकार वन के पशुपक्षी सब जले तब तुम्हारी कुटी में भी आग लगी इससे वह कुटी और तुम्हारा शरीर अग्नि से जलगया और जिसके शरीर में तुमने प्रवेश किया था वह भी जलगया। तुम्हारे शिष्य और उसका ओज भी जलगया। और तुम दोनों की संवित् आकाशरूप हो गई। वह अग्नि भी वन को जलाकर अन्तर्धान हो गई। जैसे अगस्त्य मुनि समुद्र का आचमन करके अन्तर्धान हो गये थे, तैसे ही वह अग्नि भी वन को जलाकर अन्तर्धान हो गई और अब तुम्हारे शरीर की राख भी नहीं रही। जैसे स्वप्नसृष्टि जाग्रत् में नहीं दिखाई देती तैसे ही तुम्हारे शरीर अदृष्ट हो गये। हे मुनीश्वर! यह सर्वजगत् स्वप्नमात्र है। मैं तेरे स्वप्न में हूँ और सब जगत् का अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है सो सबका अपना आप है, जगत् उसी का आभास है। जैसे संकल्पसृष्टि, स्वप्ननगर और गन्धर्वनगर होता है, तैसे ही यह जगत् भी है। हे मुनीश्वर! यह जगत् तेरे स्वप्ने में स्थित है और तुझको चिरकाल की प्रतीति से जाग्रत् रूप कारण कार्य नाना प्रकार का सत्य होकर भासता है। मुनीश्वर बोले, हे भगवन्! जो यह स्वप्ननगर सत्य हो गया है तो सबही स्वप्ननगर सत्य होंगे? उग्रतपा बोले, हे मुनीश्वर! प्रथम तू सत्य को जान कि सत्य क्या वस्तु है; पर जगत् जो तुझको भासता है सो सबही स्वप्ननगर है इसमें कोई पदार्थ सत्य नहीं। इस जगत् को तू समाधिवाले शरीर की अपेक्षा से असत्य कहता है और जिसको तू जाग्रत्वपु कहता है सो किसकी अपेक्षा से कहेगा? यह तो अदृष्टिरूप है इससे इसको स्वप्ना जान। जिस सत्ता में यह समाधिवाला शरीर भी स्वप्ना है उस सत्ता को जान तब तुझको सत्यपद की प्राप्ति होगी। जैसे यह जगत् आत्मसत्ता में आभास फुरा है, तैसे ही वह भी है। तू जागकर देख तो इसमें और उसमें कुछ भेद नहीं और सर्व जगत् जो भासता है सो सब आत्मरूप रत्न का चमत्कार है। जैसे सूर्य की किरणों में अनहोता ही जल भासता है, तैसे ही सब जगत् आत्मा में अनहोता भासता है और आत्मा के प्रमाद से सत्य

भासता है। तू अपने स्वभाव में स्थित होकर देख। मुनीश्वर बोले; हे बधिक! उग्रतपा ऋषीश्वर रात्रि के समय इस प्रकार कहते हुए शय्या पर सो गया और जब कुछ काल में जागा तब मैंने कहा कि हे भगवन्! और वृत्तान्त मैं फिर पूछूँगा परन्तु यह संशय प्रथम दूर करो कि व्याध का गुरु तुमने मुझको किस निमित्त कहा; मैं तो व्याध को जानता भी नहीं? उग्रतपा बोले, हे दीर्घतपस्विन्! ध्यान करके देख, तू तो सब कुछ जानता है जिस प्रकार वृत्तान्त है उसको जानेगा। जो मुझसे पूछता है तो मैं भी कहता हूँ और यह वृत्तान्त तो बड़ा है पर मैं तुझको संक्षेप से कहता हूँ; हे मुनीश्वर! तुम्हारे देश में राजा के बान्धव और सब लोग अपना धर्म छोड़ देंगे तब दुर्भिक्ष पड़ेगा और वर्षा न होगी इससे लोग दुःख पावेंगे और मर-मर जावेंगे। तेरे कुटुम्बी भी मरेंगे और कुटी भी नष्ट हो जावेगी और वृक्ष, फल, फूल से रहित होवेंगे। केवल तू और मैं दोनों वन में रह जावेंगे, क्योंकि हमको सुख-दुःख की वासना नहीं हम विदितवेद हैं—विदितवेद को दुःख कैसे हो? हे मुनीश्वर! कुछ काल तो इस प्रकार चेष्टा होगी, फिर कुटी के चौफेर फूल, फल, तमाल-वृक्ष, कल्पतरु, कमलताल आदि नाना प्रकार की सामग्री होगी; बड़ी सुगन्ध फैलेगी; मोर और कोकिला विराजेंगे और भँवरे कमल पर गुञ्जार करेंगे निदान ऐसा विलास प्रकट होगा मानो इन्द्र का नन्दनवन आन लगा है और ऐसी दशा फिर होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रात्रिसंवादो नाम द्विशताधिकाष्टत्रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३८ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! उग्रतपा ऋषीश्वर ने मुझसे फिर कहा कि हे मुनीश्वर! इस प्रकार वह वन होगा तब तू और मैं एक समय तप करने को उठेंगे और वहाँ एक व्याध मृग के पीछे दौड़ता तेरी कुटी के निकट आवेगा, उसको तू सुन्दर और पवित्र कथा उपदेश करेगा और उसमें स्वप्ने का प्रसंग चलेगा। उस प्रसंग को पाकर स्वप्न और जाग्रत का वृत्तान्त वह पूछेगा, उससे तू स्वप्ने का प्रसंग कहेगा और उस स्वप्ने के प्रसंग में उसको तू परमार्थ उपदेश करेगा, क्योंकि संत का स्वभाव यही है और मेरे समागम का वृत्तान्त उपदेश करेगा। तेरे वचनों को पाकर वह पुरुष विरक्तचित्त होकर तप करेगा; उससे उसका अन्तःकरण निर्मल होगा और सत्यपद को प्राप्त होगा। हे मुनीश्वर! इस प्रकार होगा सो मैंने तुझे संक्षेप से कहा है, तू भी ध्यान करके देख इस कारण मैंने तुझको व्याध का गुरु कहा है। हे व्याध! इस प्रकार जब उग्रतपा ने मुझसे कहा तब मैं सुनकर विस्मित हुआ कि इसने क्या कहा? बड़ा आश्चर्य है; ईश्वर की नीति जानी नहीं जाती कि क्या होना है। हे बधिक! इस प्रकार मेरी और उसकी चर्चा हुई तब रात्रि व्यतीत हो गई और मैंने स्नान करके प्रीति बढ़ाने के निमित्त भली प्रकार उसकी टहल की तब वह वहाँ रहने लगा। फिर मैं विचार करने लगा कि यह जगत् क्या है; इसका कारण कौन है और मैं क्या हूँ। तब मैंने विचार किया कि यह जगत् अकारण है, किसी का बनाया नहीं और स्वप्नमात्र है। आत्मरूपी चन्द्रमा की जगत्‌रूपी चाँदनी है; उसी का चमत्कार है और वही आत्मसत्ता घट, पट आदिक आकार हो भासती है वास्तव में न कोई कर्म है, न क्रिया है; न कर्ता है; न मैं हूँ और न जगत् है। जो तू कहै कि क्यों नहीं सर्व अर्थ और ग्रहण त्याग तो सिद्ध होते हैं तो ग्रहण त्याग पिण्ड से होता है और पिण्ड तत्त्वों से होता है, सो तो यह पिण्ड न किसी तत्त्व से बना है और न किसी माता-पिता से है; यह तो स्वप्ने में फुर आया है तो इसका कारण किसे कहिये? और जो कहिये कि भ्रममात्र है तो भ्रम का कारण कौन है और भ्रान्ति का द्रष्टा कौन है? जिस शरीर से दृष्टि आता था उसका द्रष्टारूप मैं तो भस्म हो गया इससे जगत् और कुछ वस्तु नहीं; केवल आदि अन्त से रहित आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है सो ही मेरा स्वरूप है। वहाँ यह जगत्‌रूप होकर भासता है; पर केवल ब्रह्मसत्ता स्थित है और पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश आदिक पदार्थ सब आत्मरूप हैं। जैसे समुद्र तरङ्गरूप हो भासता है परन्तु कुछ और नहीं होता, तैसे ही आत्मा नाना प्रकार हो भासता है पर कुछ और नहीं होता ब्रह्मसत्ता ही निराभास है और आभास भी कुछ हुआ नहीं केवल चैतन्यसत्ता ऐसे रूप

होकर भासती है। हे बधिक ! इस प्रकार विचार करके मैं विगतज्वर हुआ और मुनीश्वर के वचनों से पर्वत की नाईं अपने स्वभाव में अचल स्थित हुआ। जो कुछ इष्ट-अनिष्ट पदार्थ प्राप्त हो उसमें सम रहूँ अभिलाषा से रहित सब अपनी चेष्टा को करूँ अपने स्वभाव में स्थित रहूँ। हे बधिक! सुख भोगने के निमित्त न मुझको जीने की इच्छा है और न मरने की इच्छा है; न जीने में हर्ष है और न मरने में शोक है; मैं सदा आत्मपद में स्थित हूँ कुछ संशय मुझको नहीं। सम्पूर्ण संशय फुरने में है सो फुरना मेरे में नहीं रहा इसलिये संसार भी नहीं है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिकैकोनचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २३९ ॥

मुनीश्वर बोले, हे व्याध ! इस प्रकार जब मैंने निर्णय किया तब तीनों ताप मेरे नष्ट हो गये और वीतराग होकर निःशङ्क हुआ। तब किसी पदार्थ की मुझको तृष्णा न रही और निरहंकार हुआ और अनात्मा में जो आत्मअभिमान था सो निवृत्त होकर निर्वाण और निराधार और निराधेय हुआ और अपने स्वभाव आत्मत्व में मैं स्थित होकर सर्वात्मा हुआ। हे बधिक ! जो कुछ शरीर का प्रारब्ध है उसमें मैं यथाशास्त्र बिचरूँ परन्तु कर्तृत्व का अभिमान न हो जगत् मुझको आत्मरूप भासे और तृष्णा करनेवाली मिथ्याबुद्धि अभाव हुई किन्तु आभास कुछ वस्तु नहीं—चिदाकाश आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। हे बधिक ! मुनीश्वर का कहा वृत्तान्त सत्य होता गया। तुम मेरे पास आये हो इसलिए जो कुछ उपदेश मैंने किया है वह परम पावन और सबका सार है। जिस प्रकार जगत् के पदार्थ, तुम और मैं जो वृत्तान्त है सो मैंने तुमसे कहा। व्याध ने पूछा, हे मुनीश्वर ! यदि इस प्रकार है तो तुम, मैं और ब्रह्मादिक भी सब स्वप्ने के हुए और असत्य ही सत्य की नाईं भासते हैं? मुनीश्वर बोले, हे व्याध ! तुम, मैं और ब्रह्मा से आदि तृणपर्यन्त सब स्वप्ने के पदार्थ हैं; न यह जगत् सत्य है, न असत्य है और न सत्यासत्य के मध्य है; न अनिर्वचनीय है, क्योंकि अनुभवरूप है। हे व्याध! जो अनुभव से देखिये तो वही रूप है और जो अनुभव से भिन्न कहिये

तो है ही नहीं। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अनुभव में फुरती है, जो अधिष्ठान की ओर देखिये तो वही रूप है और उससे भिन्न कहने में नहीं आता। हे बधिक ! जैसे कोई नगर देखा है और वह दूर है तो यदि स्मृति करके देखिये तो भासता है परन्तु कुछ बना नहीं स्मृतिमात्र है; तैसे ही सब पदार्थ संकल्पमात्र हैं कुछ बने नहीं। अपने स्वभाव में स्थित होकर देख; तू तो बोधवान् है मिथ्याभ्रम में क्यों पड़ा है? हे व्याध ! तू मेरे उपदेश से विश्रामवान् हुआ कि नहीं हुआ? मैं जानता हूँ कि परमपद सत्ता में तुमने क्षण भी विश्राम नहीं पाया, क्योंकि दृढ़ भावना नहीं हुई। हे बधिक ! परमपद पाने का मार्ग यही है कि सन्तों की संगति और सत्शास्त्रों का विचार करे किन्तु उसमें दृढ़ अभ्यास करे। इस मार्ग विना शान्ति नहीं होती। जब दृढ़ अभ्यास हो तब शान्ति हो और चित्त निर्वाण हो तब द्वैत अद्वैत कल्पना मिटे। इसी का नाम निर्वाण कहते हैं; जबतक चित्त निर्वाण नहीं होता तबतक राग-द्वेष नहीं मिटता और जब अभ्यास के बल से चित्त निर्वाण हो जाता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्मपद और शान्त शिवपद प्राप्त होता है जो मान और मोह से रहित है। जिसने कुसंग को त्यागा है और किसी के संग से बन्धायमान नहीं होता; जो अध्यात्मविचार नित्य करता है और जिसकी सर्वकामनायें निवृत्त हुई हैं; जो इष्ट के रागद्वेषरूप द्वन्द्वों से मुक्त है और जो सुख दुःख में सम है ऐसा ज्ञानवान् पुरुष अविनाशी आत्मपद को पाता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे यथार्थोपदेशो नाम द्विशताधिकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४० ॥

अग्नि बोले, हे राजा विपश्चित् ! जब इस प्रकार मुनीश्वर ने कहा तब बधिक बड़े आश्चर्य को प्राप्त हुआ और मुनीश्वर के वचन सुनकर मूर्त्तिवत् हो गया। जैसे काग़ज़ पर मूर्त्ति लिखी होती है तैसे ही वह आश्चर्यवान् हुआ और संशय के समुद्र में डूब गया जैसे चक्र पर चढ़ा बासन भ्रमता है, तैसे ही वह संशय में भ्रमने लगा; मुनीश्वर का उपदेश उसने सुना परन्तु अभ्यास विना आत्मपद में विश्रान्ति न पाई। हे राजन् ! परम वचनों को उसने अङ्गीकार न किया। जैसे राख में डाली आहुति

निरर्थक होती है, तैसे ही मूर्ख को उपदेश करना निरर्थक होता है मूर्खता से ही वह संशय में रहा और विचारने लगा कि यह संसार अविद्यक है तो मैं इसका अन्त लेऊँ जो मुझको आत्मपद भासे इससे तप करूँ। हे राजा, विपश्चित्! इस प्रकार विचारकर वह उठा और उनके पास फिरने लगा। पवित्र चेष्टा अङ्गीकार करके उसने व्याध का धर्म त्याग किया और जिस प्रकार वह चेष्टा करे तैसे ही वह भी अधिक चेष्टा करे। निदान सहस्र वर्षपर्यन्त बड़ा तप किया परन्तु मन में कामना यही रक्खी कि मेरा शरीर बड़ा हो और दिन-दिन बहुत भोजन बढ़े; मैं अविद्यक संसार का अन्त लेऊँ कि कहाँ तक चला जाता है, क्योंकि जब अविद्या का अन्त आवेगा तब आत्मा का दर्शन होगा। सहस्र वर्ष के उपरान्त जब समाधि से उतरा तो गुरु के निकट जाकर प्रणाम किया और बोला, हे भगवन्! मैंने इतने काल तप किया है परन्तु शान्ति मुझको न हुई। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! तुझको जो मैंने उपदेश किया था उसका तूने भली प्रकार अभ्यास न किया इस कारण तुझको शान्ति न हुई। हे बधिक! मैंने तेरे हृदय में ज्ञानरूपी अग्नि की चिनगारी डाली थी परन्तु तूने अभ्यासरूपी पवन से उसे प्रज्वलित न किया इससे वह ढँप गई—जैसे बड़े काष्ठ के नीचे रञ्चक चिनगारी ढँप जाती है। हे बधिक! तू न मूर्ख है और न पण्डित है, क्योंकि जो तू पण्डित होता तो आत्मपद में स्थिति पाता। जब अविद्या नष्ट होगी और अभ्यास की दृढ़ता होगी तब ज्ञान और शान्ति उदय होगी। जो तेरी भविष्यत् है वह मैं तुझसे कहता हूँ। हे व्याध! यही तूने भली प्रकार विचारा है कि संसार अविद्यक है और इसका अन्त लेऊँ कि कहाँ तक चला जाता है। अब तेरे चित्त में यही निश्चय है और आगे तू यही करेगा कि सौ युगपर्यन्त उग्र तप करेगा तब तुझपर परमेष्ठी ब्रह्मा प्रसन्न होंगे और देवताओंसहित तेरे गृह में आकर तुझसे कहेंगे कि कुछ वर माँग। तब तू कहेगा, हे देव! अविद्यक जगत् है; वह अविद्या किसी और अणु में है। जैसे दर्पण में किसी ठौर मलीनता होती है और उसके नाश हुए दर्पण शुद्ध होता है; तैसे ही आत्मा के किसी कोण

में अविद्यारूपी मलीनता है; उसके नाश हुए चिदात्मा का साक्षात्कार होगा इसलिये जब अविद्यारूपी जगत् का अन्त देखूँगा तब मुझको आत्मा भासेगा। मेरा शरीर घड़ी-घड़ी में योजनपर्यन्त बढ़ता जावे। जैसे गरुड़ का वेग होता है तैसे ही मेरा शरीर बढ़ता जावे और मृत्यु भी मेरे वश हो, शरीर भी आरोग्य रहे और ब्रह्माण्ड खप्पर को भी मैं लाँघ जाऊँ। जहाँ मेरी इच्छा हो वहाँ चला जाऊँ और मुझको कोई न रोके; जब मैं संसार का अन्त देखूँगा तब आत्मा को प्राप्त होऊँगा। हे देव! इतने वर दो कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो; और कुछ नहीं चाहिये। हे बधिक! जब इस प्रकार तू वर माँगेगा तब ब्रह्माजी कहेंगे कि ऐसे ही हो। तब तेरा तप से दुर्बल हुआ शरीर फिर चन्द्रमा और सूर्य की नाईं प्रकाशवान् होगा और घड़ी-घड़ी में योजनपर्यन्त बढ़ता जावेगा। और जैसे गरुड़ का तीक्ष्ण वेग से चलना है; तैसे ही तेरा शरीर वेग से बढ़ता जावेगा। जैसे प्रातःकाल का सूर्य उदय होता है और प्रकाश बढ़ता जाता है, तैसे ही तेरा शरीर बढ़ता जावेगा और चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि की नाईं प्रकाशवान् होगा। ब्रह्माजी वर देकर अन्तर्धान हो जावेंगे और अपनी ब्रह्मपुरी में प्राप्त होंगे और तेरा शरीर प्रलयकाल के समुद्र की नाईं बढ़ता जावेगा। जैसे वायु से सूखे तृण उड़ते हैं, तैसे ही तुझको ब्रह्माण्ड उड़ते भासेंगे तब तेरा शरीर बढ़ता-बढ़ता ब्रह्माण्ड खप्पर को भी लाँघ जावेगा और उसके परे आकाश भासेगा, फिर ब्रह्माण्ड भासेगा और आगे फिर ब्रह्माण्ड भासेगा; इसी प्रकार तू कई ब्रह्माण्ड लाँघता जावेगा परन्तु तुझको खेद कुछ न होगा। निदान महाआकाश को भी तू ढाँप लेगा और जहाँ किसी तत्त्व का आवरण आवेगा उसको तू वरप्राप्त देह से सूक्ष्मतासहित लाँघता जावेगा। हे बाधिक! इसी प्रकार तू कई सृष्टि लाँघ जावेगा, जो इन्द्रजालवत् हैं। जो दीर्घदर्शी हैं वे इनको असत्य जानते हैं और जो प्राकृतजन हैं उनको जगत् सत्य भासता है। ज्ञानवान् को मिथ्या भासता है; उस मिथ्या जगत् को तू लाँघता जावेगा और तहाँ जा स्थित होगा जहाँ अनन्तसृष्टि फुरती भासेंगी। जैसे समुद्र में अनेक तरङ्ग उठते हैं; तैसे ही तुमको सृष्टि फुरती भासेंगी परन्तु जिसमें

सृष्टि फुरती है उस अधिष्ठान का तुझको ज्ञान न होगा। वहाँ तू देखेगा कि मैं बड़ा उत्कृष्ट हुआ हूँ और जब तुझको ऐसा अभिमान उदय होगा तब साथ ही तप का फल वैराग्य भी उदय होगा और उसी के साथ यह संस्कार तेरे हृदय में फुरेगा कि इससे तू उस शरीर का निरादर करेगा और कहेगा कि हा कष्ट! हा कष्ट! हे देव! क्या शरीर तूने मुझको दिया है। जगत् के अन्त लेने को जो मैंने शरीर बढ़ाया था सो तो अन्त कहीं न आया, क्योंकि अविद्या नष्ट न हुई। अविद्या तब नष्ट होती है जब ज्ञान होता है और आत्मज्ञान तब होता है जब सत्‌शास्त्रों का विचार और सन्तों का सङ्ग होता है। जब सङ्ग और सत्‌शास्त्र मुझको प्राप्त होवें तब ज्ञान उपजेगा। यह तो मुझको ऐसा शरीर प्राप्त हुआ है कि बड़ा भार उठाये फिरता हूँ और अनेक सुमेरु पर्वत भी इसके पास तृणवत् हैं। ऐसा उत्कृष्ट मेरा शरीर है; इस शरीर से मैं किसकी संगति करूँ और किस प्रकार शास्त्र का श्रवण करूँ? यह शरीर मुझको दुःख-दायी है इससे इस शरीर का त्याग करूँ। हे बधिक! ऐसे विचारकर तू प्राणायाम करेगा और उसकी धारणा से शरीर त्याग देगा। जैसे पक्षी फल को खाकर गुठली को त्याग देता है और जैसे इन्द्र के वज्र से खण्डित हुए पर्वत गिरते हैं तैसे ही एक सृष्टि भ्रम में तेरा शरीर गिरेगा और उसके नीचे कई पर्वत, नदियाँ और जीव चूर्ण होंगे और वहाँ बड़ा खेद होगा; तब सब देवता चण्डिका का आराधन करेंगे और वह चण्डिका भगवती तेरे शरीर को भोजन कर जावेगी तब सृष्टि में फिर कल्याण होवेगा। इस वन में जो तमाल वृक्ष हैं उनके नीचे तू तप करेगा। यह मैंने तेरी भविष्य कही; अब जैसी तेरी इच्छा हो तैसे कर। व्याध बोला, हे भगवन्! बड़ा कष्ट है कि मैं इतने खेद को प्राप्त होऊँगा; इससे कोई ऐसा उपाय करो जिससे यह भावना निवृत्त हो जावे। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जो कुछ वस्तु होनी है सो अन्यथा कदाचित् नहीं होती—जो कुछ शरीर की प्रारब्ध है सो अवश्य होती है। जैसे चिल्ले से छूटा बाण तबतक चला जाता है जबतक उसमें वेग होता है और जब वेग पूर्ण हो जाता है तब पृथ्वी पर गिर पड़ता है अन्यथा

नहीं गिरता; तैसे ही जैसा प्रारब्ध का वेग है तैसे ही होगा। भावी फिरने की नहीं अतः जीव उसमें बायाँ चरण दाहने और दाहना बायें नहीं कर सकता—जो होना है वही होगा। ज्योतिश्शास्त्रवाले जो भविष्यत्‌दशा आगे कहते हैं तैसे ही होता है, क्योंकि होनी होती है—जो न हो तो क्यों कहें इससे भावी मिटती नहीं। हे बधिक! मैंने तुझको दो मार्ग कहे हैं। जबतक कर्म की कल्पना स्पर्श करती है तबतक कर्म के बन्धन से नहीं छूटता और जो कर्म की कल्पना आत्मा को स्पर्श न करे तो कोई कर्म नहीं बन्धन करता, क्योंकि उसको अद्वैत आत्मा का अनुभव होता है और द्वैतरूप कर्म नहीं दिखाई देते सर्व सुख-दुःख आत्मरूप हो जाते हैं। कर्म तबतक बन्धन करते हैं जबतक आत्मबोध नहीं हुआ; जब आत्मबोध होता है तब सर्वकर्म दग्ध हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भविष्यत्कथावर्णनन्नाम
द्विशताधिकैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४१ ॥

व्याध बोला, हे भगवन्! यह जो तुमने मुझको कहा सो मैं सुन के आश्चर्य को प्राप्त हुआ। शरीर गिरने के उपरान्त मेरी क्या अवस्था होगी? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जब तेरा शरीर गिरेगा तब तेरी संवित् प्राणवासना सहित आकाशरूप महासूक्ष्म अणुवत् हो जावेगी और उस संवित् में तुझको फिर नाना प्रकार का जगत् भासेगा और पृथ्वी, देश, काल, पदार्थ सब भासि आवेंगे। जैसे सूक्ष्म संवित् में स्वप्न का जगत् भासि आता है तैसे ही तुझको जगत् भासि आवेगा। वहाँ तेरी संवित् में यह फुरेगा कि मैं अष्टवसुओं के समान राजा हूँ और मेरे पिता का नाम इन्द्र है और माता का नाम प्रद्युम्न की पुत्री बधलेखा है; मेरे पिता मुझको राज्य देकर वन को गये हैं और तप करने लगे हैं और चारों ओर समुद्रपर्यन्त हमारा राज्य है। हे बधिक! वहाँ तेरा नाम सिद्ध होगा और कई सौ वर्षपर्यन्त तू राज्य करेगा और नाना प्रकार के विषयों को भोगेगा। हे बधिक! विदूरथ नाम एक राजा पृथ्वी में होगा जो तेरे साथ शत्रुभाव करेगा और तेरी पृथ्वी और सीमा लेने का यत्न करेगा तब तू मन में विचार करेगा कि मैं बड़ा सिद्ध हूँ और

सृष्टि फुरती है उस अधिष्ठान का तुझको ज्ञान न होगा। वहाँ तू देखेगा कि मैं बड़ा उत्कृष्ट हुआ हूँ और जब तुझको ऐसा अभिमान उदय होगा तब साथ ही तप का फल वैराग्य भी उदय होगा और उसी के साथ यह संस्कार तेरे हृदय में फुरेगा कि इससे तू उस शरीर का निरादर करेगा और कहेगा कि हा कष्ट! हा कष्ट! हे देव! क्या शरीर तूने मुझको दिया है। जगत् के अन्त लेने को जो मैंने शरीर बढ़ाया था सो तो अन्त कहीं न आया, क्योंकि अविद्या नष्ट न हुई। अविद्या तब नष्ट होती है जब ज्ञान होता है और आत्मज्ञान तब होता है जब सत्शास्त्रों का विचार और सन्तों का सङ्ग होता है। जब सङ्ग और सत्शास्त्र मुझको प्राप्त होवें तब ज्ञान उपजेगा। यह तो मुझको ऐसा शरीर प्राप्त हुआ है कि बड़ा भार उठाये फिरता हूँ और अनेक सुमेरु पर्वत भी इसके पास तृणवत् हैं। ऐसा उत्कृष्ट मेरा शरीर है; इस शरीर से मैं किसकी संगति करूँ और किस प्रकार शास्त्र का श्रवण करूँ? यह शरीर मुझको दुःखदायी है इससे इस शरीर का त्याग करूँ। हे बधिक! ऐसे विचारकर तू प्राणायाम करेगा और उसकी धारणा से शरीर त्याग देगा। जैसे पक्षी फल को खाकर गुठली को त्याग देता है और जैसे इन्द्र के वज्र से खण्डित हुए पर्वत गिरते हैं तैसे ही एक सृष्टि भ्रम में तेरा शरीर गिरेगा और उसके नीचे कई पर्वत, नदियाँ और जीव चूर्ण होंगे और वहाँ बड़ा खेद होगा; तब सब देवता चण्डिका का आराधन करेंगे और वह चण्डिका भगवती तेरे शरीर को भोजन कर जावेगी तब सृष्टि में फिर कल्याण होवेगा। इस वन में जो तमाल वृक्ष हैं उनके नीचे तू तप करेगा। यह मैंने तेरी भविष्य कही; अब जैसी तेरी इच्छा हो तैसे कर। व्याध बोला, हे भगवन्! बड़ा कष्ट है कि मैं इतने खेद को प्राप्त होऊँगा; इससे कोई ऐसा उपाय करो जिससे यह भावना निवृत्त हो जावे। मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जो कुछ वस्तु होनी है सो अन्यथा कदाचित् नहीं होती—जो कुछ शरीर की प्रारब्ध है सो अवश्य होती है। जैसे चिल्ले से छूटा बाण तबतक चला जाता है जबतक उसमें वेग होता है और जब वेग पूर्ण हो जाता है तब पृथ्वी पर गिर पड़ता है अन्यथा

नहीं गिरता; तैसे ही जैसा प्रारब्ध का वेग है तैसे ही होगा। भावी फिरने की नहीं अतः जीव उसमें बायाँ चरण दाहने और दाहना बायें नहीं कर सकता—जो होना है वही होगा। ज्योतिश्शास्त्रवाले जो भविष्यत्दशा आगे कहते हैं तैसे ही होता है, क्योंकि होनी होती है—जो न हो तो क्यों कहें इससे भावी मिटती नहीं। हे बधिक! मैंने तुझको दो मार्ग कहे हैं। जबतक कर्म की कल्पना स्पर्श करती है तबतक कर्म के बन्धन से नहीं छूटता और जो कर्म की कल्पना आत्मा को स्पर्श न करे तो कोई कर्म नहीं बन्धन करता, क्योंकि उसको अद्वैत आत्मा का अनुभव होता है और द्वैतरूप कर्म नहीं दिखाई देते सर्व सुख-दुःख आत्मरूप हो जाते हैं। कर्म तबतक बन्धन करते हैं जबतक आत्मबोध नहीं हुआ; जब आत्मबोध होता है तब सर्वकर्म दग्ध हो जाते हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे भविष्यत्कथावर्णनन्नाम
द्विशताधिकैकचत्वारिंशत्तमस्सर्गः॥ २४१ ॥

व्याध बोला, हे भगवन्! यह जो तुमने मुझको कहा सो मैं सुन के आश्चर्य को प्राप्त हुआ। शरीर गिरने के उपरान्त मेरी क्या अवस्था होगी? मुनीश्वर बोले, हे बधिक! जब तेरा शरीर गिरेगा तब तेरी संवित् प्राणवासना सहित आकाशरूप महासूक्ष्म अणुवत् हो जावेगी और उस संवित् में तुझको फिर नाना प्रकार का जगत् भासेगा और पृथ्वी, देश, काल, पदार्थ सब भासि आवेंगे। जैसे सूक्ष्म संवित् में स्वप्न का जगत् भासि आता है तैसे ही तुझको जगत् भासि आवेगा। वहाँ तेरी संवित् में यह फुरेगा कि मैं अष्टवसुओं के समान राजा हूँ और मेरे पिता का नाम इन्द्र है और माता का नाम प्रद्युम्न की पुत्री बधलेखा है; मेरे पिता मुझको राज्य देकर वन को गये हैं और तप करने लगे हैं और चारों ओर समुद्रपर्यन्त हमारा राज्य है। हे बधिक! वहाँ तेरा नाम सिद्ध होगा और कई सौ वर्षपर्यन्त तू राज्य करेगा और नाना प्रकार के विषयों को भोगेगा। हे बधिक! विदूरथ नाम एक राजा पृथ्वी में होगा जो तेरे साथ शत्रुभाव करेगा और तेरी पृथ्वी और सीमा लेने का यत्न करेगा तब तू मन में विचार करेगा कि मैं बड़ा सिद्ध हूँ और

कई सौ वर्ष मैंने निर्विघ्न भोग भोगे हैं परन्तु एक विदूरथनाम शत्रु को नाश करूँ। हे बधिक! उसके मारने के निमित्त तू सेना लेके चढ़ेगा और वह चारों प्रकार की सेना नाश को प्राप्त होगी अर्थात् हाथी, घोड़े, रथ और प्यादा दोनों ओर की सेना नष्ट होगी और तुम रथ से उतरकर परस्पर युद्ध करोगे। तुम्हारे भी बहुत शस्त्र लगेंगे और शरीर काटा जावेगा, तो भी तुम उसके सम्मुख जा युद्ध करोगे और उसकी टाँग काटकर कुल्हाड़े से उसको मार के अपने गृह में आवोगे। सब दिक्पाल तुमसे भय पावेंगे और तुम बड़े तेजवान् होगे। बड़ा आश्चर्य है कि विदूरथ को जीतकर तुम यमपुरी पठावोगे तब तुम कहोगे कि हे मन्त्रियो! इसमें क्या आश्चर्य है? मेरे भय से तो दिक्पाल भी काँपते हैं और प्रलयकाल के समुद्र और मेघवत् मेरी सेना है जिसका किसी ओर से आदि और अन्त नहीं आता। विदूरथ के जीतने में मुझको क्या आश्चर्य है? तब मन्त्री कहेगा; हे राजन्! इतनी सेना तेरे साथ है तो क्या हुआ उस विदूरथ की स्त्री लीला को तुम नहीं जानते; उसने तप करके एक देवी को प्रसन्न किया है जिसके क्रोध करने से सम्पूर्ण विश्व का नाश होजाता है। वह माता सरस्वती ज्ञानशक्ति और सर्वभूतों के हृदय में स्थित है जैसा उसमें कोई अभ्यास करता है वही सरस्वती सिद्ध करती है। हे राजन्! वह राजा और उसकी स्त्री लीला सरस्वती से मोक्ष माँगते थे कि किसी प्रकार हम संसारबन्धन से मुक्त हों; इस कारण वे मुक्त हुए और तुम्हारी जय हुई। राजा ने पूछा; हे अङ्ग! जो सरस्वती मेरे हृदय में स्थित है तो मुझको मुक्त क्यों नहीं करती? मैं भी तो सदा सरस्वती की उपासना करता हूँ। मन्त्री बोला; हे राजन्! सरस्वती जो चिद्संवित् है उसमें जैसा निश्चय होता है उसी की सिद्धता होती है। हे राजन्! तुम सदा अपनी जय ही माँगते थे इससे तुम्हारी जय हुई और वह मुक्ति माँगता था इससे उसकी मुक्ति हुई उसका पिछला संस्कार उज्ज्वल था इससे मुक्त हुआ और तुम्हारा पिछले जन्म का संस्कार तामसी था इस कारण तुमको इच्छा न हुई और शान्ति भी प्राप्त न हुई। आदि परमात्मसत्ता से सब पदार्थ प्रकट हुए हैं। केवल आत्म

सत्ता जो निष्किञ्चन पद है सो सदा अपने स्वभाव में स्थित है उसी में चेतनता (संवेदन) फुरती है। 'अहं अस्मि' अर्थात् 'मैं हूं' इस भावना का नाम चित्त है; इसी चेतनता ने देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदिक दृश्य जगत् कल्पा है। उस कल्पना से विश्व चित्त में स्थित है और चित्त ने आत्मा से फुरकर प्रमाद से देहादिक को कल्पा है। राजा ने पूछा, हे साधो! आत्मा तो निष्किञ्चन और केवल निर्विकार है उसमें तामसीदेह कहां से उपजी? मन्त्री बोले, हे राजन्! जैसे स्वप्न में प्रमाद से तामसी वपु दृष्टि आता है परन्तु है नहीं; तैसे ही यह आकार भी दृष्टि आते हैं परन्तु हैं नहीं अज्ञान से भासते हैं। इससे तुझको प्रमाद हुआ है तब वासना के अनुसार जन्म पाता फिरा है; इस प्रकार तेरे बहुत जन्म बीते हैं परन्तु पिछला शरीर जो तू ने भोगा है वह तामस-तामसी था इस कारण तुझको मोक्ष की इच्छा न हुई। हे राजन्! तुम्हारे जो जन्म बीते हैं उनको मैं जानता हूँ पर तुम नहीं जानते। राजा ने पूछा, हे निर्मल आत्मन्! तामस-तामसी किसको कहते हैं? मन्त्री बोले, हे राजन्! एक सात्त्विक-सात्त्विकी है; दूसरा केवल सात्त्विकी है; तीसरा राजस-राजसी है; एक तामस-तामसी है और केवल तामसी है सो भिन्न भिन्न सुनो। हे राजन्! निर्विकल्प अचैत चिन्मात्र सत्ता से जो संवित् फुरी है और जिसकी अहंप्रतीति अधिष्ठान में रही है और निश्चय को नहीं प्राप्त हुए और अनात्मभाव को भी स्पर्श नहीं किया ऐसे जो ब्रह्मादिक हैं वे सात्त्विक-सात्त्विकी हैं। जिनको सात्त्विकी पदार्थ भासने लगे हैं और स्वरूप का प्रमाद है बुद्धि से स्पर्श हुआ अथवा न हुआ वे केवल सात्त्विकी हैं। जिनकी संवित् का बुद्धि से सम्बन्ध हुआ है और नाना प्रकार के राजसी पदार्थों में सत्यप्रतीति हुई है; जिन्हें राजसकर्मों में दृढ़ अभ्यास है और उसके अनुसार शरीर को धारते चले गये पर स्वरूप की ओर नहीं आये और चिर पर्यन्त ऐसे ही रहे वे राजस-राजसी हैं। जिनको बोध में अहंप्रतीति नहीं स्वरूप का प्रमाद है और जगत् सत्य भासता है एवम् राजसीपदार्थों में अधिक प्रीति है और राजसीकर्मों का अभ्यास है उसके अनुसार वे जन्म पाते

हैं और फिर शीघ्र ही स्वरूप की ओर आते हैं उनका नाम केवल राजसी हैं; वे राजस-राजसी से श्रेष्ठ हैं। जिनको स्वरूप का प्रमाद है और जगत् में सत्य प्रतीति हुई है एवम् उस जगत् के तामस कर्मों में दृढ़ अभ्यास हुआ है वे महामूढ़ उसमें चिरपर्यन्त जन्म पाते चले जाते हैं और यदि दैवसंयोग से कभी मुक्त पुरुष की संगति प्राप्त भी होती है तो उसे त्याग जाते हैं वे तामस-तामसी हैं। जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ है और तामसी कर्मों की रुचि है वे उन कर्मों के अनुसार जन्म पाते जाते हैं और जो हट पड़ा और तामसी कर्मों को त्यागकर मोक्षपरायण होते हैं सो केवल तामसी हैं पर वे तामस-तामसी से श्रेष्ठ हैं। हे राजन्! तुम तामस-तामसी थे इस कारण सरस्वती से तुम अपनी जय ही माँगते रहे और मोक्ष का अभ्यास तुमने नहीं किया। राजा बोला, हे निर्मल-चित्त, मन्त्रिन्! मैं तामस-तामसी था इस कारण मोक्ष की इच्छा न की परन्तु अब मुझसे तुम वही उपाय कहो जिससे मेरा अहंभाव निवृत्त हो और आत्मपद की प्राप्ति हो। मन्त्री बोला, हे राजन्! निश्चय करके जानो जो कोई कैसे ही पदार्थ की इच्छा करे अभ्यास से वह पदार्थ अवश्य प्राप्त होता है और जिसकी भावना करके वह अभ्यास करता है वह पदार्थ निस्सन्देह प्राप्त होता है; जिसका जो दृढ़ अभ्यास करता है वह वही रूप हो जाता है। ऐसा पदार्थ त्रिलोकी में कोई नहीं जो अभ्यास से न पाइये। जो प्रथम दिन में कोई विकर्म किसी से हुआ हो और अगले दिन शुभकर्म करे तो वह विकर्म लोप हो जाता है और शुभ कर्म ही मुख्य हो जाता है। जब तुम आत्मपद का अभ्यास करोगे तब तुमको आत्मपद प्राप्त होगा और तुम्हारा जो तामस-तामसी भाव है सो निवृत्त हो जावेगा। हे राजन्! जो पुरुष किसी पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और हटकर नहीं फिरता तो वह अवश्य उसको पाता है। देह इन्द्रियों का अभ्यास मनुष्य को दृढ़ हो रहा है उससे फिर-फिर देह इन्द्रियों ही पाता है, जब उनसे उलटकर आत्मा का अभ्यास करे तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और देह इन्द्रियों का वियोग हो जावेगा। इसलिये आप भी सदा आत्मपद का अभ्यास करें तो उससे आत्मपद प्राप्त होगा

इतना कह फिर मुनीश्वर बोले कि हे बधिक! इस प्रकार तू सिद्ध राजा होगा और मन्त्री तुझको उपदेश करेगा तब तू राज्य को त्यागकर वन में जावेगा और उपदेश करनेवाला मन्त्री दूसरे मन्त्रियों और सेनासंयुक्त तुझसे कहेंगे कि तू राज्य कर परन्तु तेरा चित्त विरक्त होगा और तू राज्य अङ्गीकार न करेगा। उस वन में किसी सन्त के स्थान में जाकर तू स्थित होगा और परम वैरागसंपन्न होगा तब उनकी कथा और प्रसंग तुझको स्पर्श करेगी। यदि सन्तों से कुछ न माँगिये तो भी वे अमृत-रूपी वचनों की वर्षा करते हैं—जैसे पुष्पों से बे माँगे सुगन्ध प्राप्त होती है तैसे ही सन्तजनों से माँगे विना ही अमृत प्राप्त होता है। जब मनुष्य सन्तों के अमृत वचन सुनता है तब उसको विचार उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूँ; 'यह जगत् क्या है' और 'जगत् किससे उपजा है'। निदान तू उनका उपदेश पाकर इस प्रकार जानेगा कि मैं अचेत चिन्मात्र स्वरूप हूँ और जगत् मेरा आभास है। चित्त का फुरना ही जगत् का कारण है सो चित्त ही मेरे में नहीं है तो जगत् कैसे हो? जगत् तो मेरे में नहीं है मैं अपने ही आप में स्थित हूँ। हे बधिक! इस प्रकार जब तू सर्व अर्थों से मन को शून्य करके अपने स्वरूप में स्थित होगा तब परमानन्द निर्वाण पद को प्राप्त होगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सिद्धनिर्वाणवर्णनन्नाम
द्विशताधिकद्विचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४२ ॥

मुनीश्वर बोले, हे बधिक! इस प्रकार तेरी भावी है सो सब मैंने तुझसे कही आगे जो भला जानता हो सो कर। अग्नि बोले, हे राजन्, विपश्चित्! इस प्रकार जब मुनीश्वर ने बधिक से कहा तब वह आश्चर्यमान हुआ और वहाँ से उठकर मुनीश्वर सहित स्नान को गया। निदान दोनों तप करने और शास्त्र को विचारने लगे तब कुछ काल के उपरान्त मुनीश्वर निर्वाण हो गया और केवल बधिक ही तप करने को समर्थ हुआ कि किसी प्रकार मेरी अविद्या नष्ट हो। हे राजन्, विपश्चित्! सौ युग पर्यन्त जब बधिक ने तप किया तब ब्रह्माजी देवताओं को साथ लेकर आये और बोले कि कुछ वर माँग; तब उस बधिक ने कहा कि

मेरा शरीर बड़ा हो और मैं अविद्या को देखूँ। हे राजन्! यद्यपि बधिक ने जाना कि इस वर के माँगे से मेरा भला नहीं है परन्तु दृढ़ भावना के बल से जानकर भी यही वर माँगा कि घड़ी-घड़ी में मेरा शरीर योजन पर्यन्त बढ़े। ब्रह्माजी ने कहा कि ऐसे ही होगा। इस प्रकार कहकर जब ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये तब उसका शरीर बढ़ने लगा और एक घड़ी में एक योजन बढ़ते बढ़ते कल्पपर्यन्त बढ़ता गया और कई ब्रह्माण्डों पर्यन्त चला गया पर जिस ओर को वह देखे उस ओर अविद्यारूपी अनन्त सृष्टियाँ उसे दीखें। निदान जब वह चलते-चलते थका तब उसने विचारा कि अविद्या का तो अन्त नहीं आता इस शरीर को मैं कहाँ तक उठाये फिरूँ अब इसका त्याग करूँ तब आत्मपद को प्राप्त होऊँगा। हे राजन्, विपश्चित्! तब उसने प्राण को ऊर्ध्व खैंचकर शरीर को त्याग दिया वही शरीर यहाँ आन पड़ा है। जिस ब्रह्माण्ड में यह गिरा है वह हमारे स्वप्न की सृष्टि है अर्थात् यह अन्य सृष्टि का था इसकी इस सृष्टि में स्वप्नवत् प्रतिभा हुई थी और यहाँ जाग्रत् सृष्टि में आन पड़ा है और पृथ्वी, पहाड़ आदि सब नाश कर डाले हैं जहाँ से यह गिरा है वहाँ आकाश में तरुवरेकी नाईं भासता था और यहाँ इस प्रकार गिरा है जैसे इन्द्र का वज्र हो। हे विपश्चितों में श्रेष्ठ! वही बाधिक का महाशव था। जब उसका शरीर गिरा तब भगवती ने उसका रक्तपान किया इसलिये उसका नाम रक्ता भगवती हुआ और जो शरीर की सामग्री रही सो पृथ्वी हुई। जब चिरकाल व्यतीत हुआ तब मूर्ति पृथ्वी हो गई और उस पृथ्वी का नाम मेदिनी पड़ा। ब्रह्माजी ने नवीन सृष्टि रची है उस पृथ्वी पर अब कल्याण हुआ है इससे जहाँ तेरी इच्छा हो वहाँ जा और मैं भी अब जाता हूँ। इन्द्र को करना है और उसने मेरा आवाहन किया है वहाँ मैं जाता हूँ। बोले, हे राजन्, दशरथ! इस प्रकार मुझसे कहकर अग्नि देवता अन्तर्धान हो गये। जैसे महाश्याम मेघ से दामिनी चमत्कार करके अन्तर्धान हो जाती है तैसे ही अग्नि जब अन्तर्धान हो गया तब मैं वहाँ से और एक सृष्टि में गया तो वहाँ और प्रकार के शास्त्र और

प्रकार के प्राणी थे। फिर आगे और सृष्टि में गया वहाँ ऐसे प्राणी देखे कि जिनकी टाँगें काष्ठ की और आचार मनुष्य का था। आगे और सृष्टि में गया तो उसमें लोगों के शरीर तो पाषाण के थे पर दौड़ते और व्यवहार करते थे। उसके उपरान्त और सृष्टि में गया तो वहाँ शास्त्ररूपी उनकी मूर्ति थी। उसके आगे गया तो वहाँ क्या देखा कि प्राणी बैठे ही रहते हैं और बल से वार्ता करते हैं परन्तु न कुछ खाते हैं और न पीते हैं। हे राजन्, दशरथ! इस प्रकार जब मैं चिरकाल पर्यन्त फिरता रहा परन्तु अविद्या का अन्त कहीं न आया तब मैंने विचार किया कि आत्मज्ञानी हो रहूँ तब अन्त आवेगा और किसी प्रकार अन्त न आवेगा। इस प्रकार विचार करके मैं एक वन में गया और ज्ञान की सिद्धि के लिये तप करने लगा। जब कुछ काल तप किया तब चित्त में यह उपजी कि किसी प्रकार सन्तों के निकट जाऊँ तो उनकी संगति से मुझको शान्तिपद प्राप्त होगा। हे राजन्! ऐसे विचार कर मैं वहाँ से चला और कल्पवृक्ष के वन में आया तो वहाँ एक पुरुष मुझको मिला और उसने कहा, हे साधो! तू कहाँ चला है; मेरे निकट तो आ? तब मैंने उससे पूछा कि तू कौन है? तब उसने कहा कि मैं तेरा तप हूँ जो तूने किया है। अब तू कुछ वर माँग सो मैं तुझको दे दूँ। तब मैंने कहा कि हे साधो! मेरी इच्छा यही है कि मैं आत्मपद को प्राप्त होऊँ। उसने कहा हे साधो! अब तुझे एक जन्म और मृग का पाना है। जब वह तेरा शरीर अग्नि में जलेगा तब तू मनुष्य शरीर पावेगा और ज्ञानवानों की सभा में जावेगा। उस सभा में जब तू मनुष्य शरीर धरेगा तब तुझे सब जन्मों और क्रियाओं की स्मृति हो आवेगी और स्वरूप की प्राप्ति होगी इसलिये तू अब मृगशरीर धारण कर। हे राजन्, दशरथ! इस प्रकार जब उसने कहा तब मैंने चिन्तना की कि मृग होऊँ और मुझे स्वप्नरूप प्रतिभा फुरी कि मैं मृग हो गया। तुम्हारी सृष्टि में एक पहाड़ की कन्दरा में मैं विचरता था कि उसका राजा शिकार खेलने चला और उसने मुझको देख मेरे पीछे घोड़ा उड़ाया। आगे-आगे मैं दौड़ता जाता था और पीछे घोड़ा था पर उसका वेग ऐसा तीक्ष्ण था कि उसने मुझको

पकड़ लिया और अपने गृह में ले आया। तीन दिन उसने मुझे गृह में रक्खा परन्तु मेरी बहुत सुन्दर चेष्टा देखी इस कारण प्रसन्नता से यहाँ ले आया। हे राजन्, दशरथ! अब मैंने मृग के शरीर को त्यागकर मनुष्य का शरीर पाया है और जो कुछ तुमने पूछा था सो सब तुमसे कहा। बाल्मीकिजी बोले, हे अङ्ग! जब इस प्रकार विपश्चित् कह चुका तब रामजी ने विपश्चित् से प्रश्न किया कि हे विपश्चित्! वह मृग तो और सृष्टि का था यहाँ क्योंकर आया? भास बोले, हे रामजी! जहाँ वह मिला था वह भी और सृष्टि का था। एक काल में दुर्वासा ऋषीश्वर आकाशमार्ग में ध्यान लगाये बैठा था कि उसी मार्ग से इन्द्र पृथ्वी में यज्ञ के निमित्त चला और दुर्वासा को शव जानकर चरण लगाया। तब दुर्वासा ने समाधि से उतरकर इन्द्र की ओर देखा और शाप दिया कि हे शक्र! तूने मुझे जानकर भी गर्व करके चरण लगाया इसलिये तेरे यज्ञ का एक शव नाश करेगा और जिस स्थान पर वह पड़ेगा सो पृथ्वी भी नाश होगी। जब ऐसे उस ऋषि ने शाप दिया और इन्द्र यज्ञ करने लगा तब और सृष्टि से वह शव आन पड़ा और पृथ्वी चूर्ण हो गई। वह तो उस प्रकार गिरा और मैं तपरूपी मुनीश्वर के वर से मृग होकर तुम्हारी सभा में आया। हे रामजी! जो असत्य होता तो प्रकट न होता और जो सत्य होता तो स्वप्नरूप न होता—जो स्वप्ने की सृष्टि का था। हे रामजी! तुम हमारी स्वप्ने की सृष्टि में हो और हम तुम्हारी सृष्टि के स्व में हैं। जैसे स्वप्न पदार्थों का होना हुआ है तैसे ही शव का होना भी हुआ है और मृग का भी हुआ है। जैसे यह सृष्टि है तैसे ही वह सृष्टि भी है जो यह सृष्टि सत्य है तो वह भी सत्य है परन्तु वास्तव में न यह सत्य है और न वह सत्य है; यह भी भ्रममात्र है और वह भी भ्रममात्र है। सत वस्तु वही है जो मनसहित षट्इन्द्रियों से अगम है और वह आत्मस है जिससे यह सर्व है और जिसमें सर्व है। ऐसी जो परमात्मसत्ता है परमसत्ता है और उसमें सब कुछ बनता है। हे रामजी! जगत् संकल्पमा है, संकल्प का मिलना क्या आश्चर्य है? जैसे छाया और धूप एक न होते और सत्य और झूठ और ज्ञान-अज्ञान इकट्ठे नहीं होते परन्

आत्मा में इकट्ठे होते दीखते हैं। हे रामजी! जब मनुष्य शयन करता है तब अनुभवरूप होता है; फिर स्वप्ने में स्वप्न नगर भासि आता है; छाया धूप भी भासि आता है और ज्ञान-अज्ञान, सच-झूठ भी भासते हैं। जैसे आकाश में विरुद्ध पदार्थ भासि आते हैं, तैसे ही संकल्प से संकल्प मिल जाता है इसमें क्या आश्चर्य है? सब जगत् आकाशवत् शून्य निराकार निर्विकार है; निराकार में आकार और निर्विकार में विकार भासते हैं यही आश्चर्य है। सर्व आकार दृष्टि आते हैं सो वही निराकार रूप हैं; ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासती है। जगत् को असत्य कहना भी नहीं बनता; जो असत्य होता तो प्रलय होकर पृथ्वी, अप, तेज और वायु से आकाश फिर प्रकट न होता पर प्रलय होकर जो फिर उत्पन्न होते हैं इससे असत्य नहीं। चैतन्यरूप आत्मा का ही स्वभाव है; आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासती है। हे रामजी! जब प्रलय होती है तब सब भूत पदार्थ नष्ट हो जाते हैं और फिर उत्पन्न होते हैं इसी से यह सृष्टि आत्मा का आभासमात्र है। ब्रह्मसत्ता में अनन्त जगत् फुरते हैं पर अपनी-अपनी सृष्टि ही को जीव जानते हैं। सब जीव ब्रह्मरूपी समुद्र के कणके हैं सो एक सृष्टि को दूसरा नहीं जानता। जैसे सिद्धों की सृष्टि अपने-अपने अनुभव में फुरती है और जैसे स्वप्ने की सृष्टि भिन्न-भिन्न होती है, तैसे ही यह अपनी-अपनी सृष्टि पृथक् है और मिल भी जाती है। आत्मा में सब कुछ बनता है जो कि अनादि और आदि; विधि और निषेध और विकार और निर्विकार इकट्ठे नहीं होते सो आकाश में आत्मसत्ता और स्वप्ने में इकट्ठे दृष्टि आते हैं इसमें कुछ आश्चर्य नहीं। जगत् कुछ भिन्न वस्तु नहीं; आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। हे रामजी! चार सत्ता इस जगत् में फुरी हैं—सारधी, गोपती, समान ब्रह्मसत्ता और अविद्या—उनमें से सारधी और गोपतीसत्ता तो जिज्ञासु की भावना में भासती है; समानसत्ता ज्ञानी को भासती है और अविद्या अज्ञानी को भासती है। ये चारों भी ब्रह्म से भिन्न नहीं, ब्रह्म ही के नाम हैं। ब्रह्मसत्ता स्वभाव चैतनता से ऐसे ही भासती है। जैसे वायु फुरने से चलती भासती है और

ठहरने से अचल भासती है तैसे ही चेतनता (फुरने) से नाना प्रकार के कौतुक उठते हैं और फुरने से रहित निर्विकल्प हो जाता है। ऐसा पदार्थ कोई नहीं कि उसमें सत्य नहीं और ऐसा भी पदार्थ कोई नहीं कि असत्य नहीं—सब समान हैं। जैसे आकाश के फूल हैं, तैसे ही घट, पटादिक हैं और जैसे इनके उत्थान का अनुभव होता है, तैसे ही उनका अनुभव होता है। सब पदार्थ सत्ता ही से सत्य भासते हैं। सर्व शब्द अर्थ जो फुरे हैं सो सब मिट जाते हैं इससे असत्य हैं और आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है कदाचित् अन्यथा नहीं होती। जो मरके न जन्मे तो आनन्द है, क्योंकि मुक्त हुआ और जो मरके जन्म लेता है वह भी अविनाशी हुआ इसलिये शोक करना व्यर्थ है। हे रामजी! जगत् के आदि में भी ब्रह्मसत्ता थी और अन्त में भी वही रहेगी; जो आदि और अन्त में वही है तो मध्य में भी उसे ही जानिये। इससे सब जगत् आत्मरूप है और सर्व शब्द अर्थसंयुक्त है और सर्व शब्द और अर्थाकार का अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही है। जिसको यथार्थ अनुभव होता है उसको ऐसे भासता है और जिसको यथार्थ अनुभव नहीं होता उसको नाना प्रकार का जगत् भासता है पर आत्मा में जगत् कुछ बना नहीं सब आकाशरूप है और ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। ब्रह्म से भिन्न जो कुछ भासता है सो भ्रममात्र और नाशरूप है। सब दृश्य पदार्थ नाशरूप हैं जिसने उन्हें सत्य जाना है उनसे हमको कुछ प्रयोजन नहीं। जो दूसरा कुछ बना नहीं तो मैं क्या कहूँ? जिसमें यह सब पदार्थ आभास फुरते हैं उस अधिष्ठान को देखे तो सब वही रूप भासेंगे। जो पुरुष स्वभाव में स्थित है उसको यह वचन शोभावान् होते हैं। मैंने अनन्त सृष्टियाँ देखी हैं और उनके भिन्न-भिन्न आचार भी देखे हैं। दशो दिशाओं में मैं फिरा हूँ और बहुत भोग भोगे हैं; बड़ी-बड़ी विभूति पाई और देखी और अनेक प्रकार की चेष्टा की हैं परन्तु मुझको स्वप्न प्राप्त हुआ, क्योंकि सब भोग पदार्थ और कर्म अविद्या के रचे हुए हैं। उसी अविद्या के अन्त लेने को मैं अनेक युगपर्यन्त फिरा पर अन्त कहीं न पाया। वशिष्ठजी की कृपा से अब मुझको स्वरूप का साक्षात्कार हुआ; अविद्या नष्ट हुई और मैं परमानन्द को प्राप्त हुआ हूँ।

इति श्रीयो० निर्वाण० द्विशताधिकत्रिचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४२ ॥

वाल्मीकिजी बोले, हे साधो! जब इस प्रकार विपश्चित् ने कहा तब सायंकाल हुआ और सूर्य अन्तर्धान हो गये—मानों विपश्चित् के वृत्तान्त देखने को अन्यसृष्टि में गये—और नौबत नगारे बाजने लगे मानो राजा दशरथ की जय-जय करते हैं। उस समय राजा दशरथ ने धन, जवाहिर और वस्त्राभूषण से राजा विपश्चित् का यथायोग्य पूजन किया; दशरथ से आदि लेकर सब राजाओं ने वशिष्ठजी को प्रणाम किया और परस्पर प्रणाम करके सर्वसभा ने अपने-अपने स्थानों को जा स्नान करके यथाक्रम भोजन किया और नियम करके विचारसहित रात्रि व्यतीत की और जब सूर्य की किरणें उदय हुईं तो फिर अपने अपने स्थानों पर परस्पर नमस्कार करके आ बैठे तब वशिष्ठजी पूर्व के प्रसंग को लेकर बोले; हे रामजी! यह अविद्या अविद्यमान है और है नहीं पर भासती है यही आश्चर्य है। जो वस्तु सदा विद्यमान है सो नहीं भासती और जो अविद्या है ही नहीं सो सदा भासती है इसी से इसका नाम अविद्या है। हे रामजी! आत्मसत्ता अनुभवरूप है; उसका अनुभव होना अनिश्चित हो रहा है और अविद्यक जगत् जो कभी कुछ हुआ नहीं सो स्पष्ट होकर भासता है—यही अविद्या है। हे रामजी! सिद्ध राजा के मन्त्री का उपदेश भी तुमने सुना और विपश्चित् का वृत्तान्त भी विपश्चित् के मुख से ही सुना; अब इस विपश्चित् की अविद्या हमारे आशीर्वाद और यथार्थ वचनों से नष्ट होती है और अब यह जीवन्मुक्त होकर बिचरेगा। मेरे उपदेश से इसकी अविद्या अब नष्ट होती है अतः जीवन्मुक्त होकर जहाँ-जहाँ इसकी इच्छा हो बिचरे। जब जीव आत्मा की ओर आता है तब अविद्या नष्ट हो जाती है। आत्मतत्त्व को यथार्थ न जानने ही का नाम अविद्या है जो आत्मज्ञान से नष्ट हो जाती है। जैसे अन्धकार तब तक रहता है; जबतक सूर्य उदय नहीं हुआ पर जब सूर्य उदय होता है तब अन्धकार नष्ट हो जाता है; तैसे ही अविद्या तबतक अनन्त है जबतक मनुष्य आत्मा की ओर नहीं आया पर जब आत्मा का साक्षात्कार होता है तब अविद्या का अत्यन्त अभाव हो जाता है। अविद्या अविद्यमान है पर असम्यक्दर्शी को सत्य भासती है। जैसे

मृगतृष्णा का जल अविद्यमान है और विचार किये से उसका अभाव होजाता है, तैसे ही भली प्रकार विचार किये से अविद्या का अभाव होजाता है। हे रामजी! अविद्यारूपी विष की बेलि देखनेमात्र फूलसहित सुन्दर भासती है परन्तु स्पर्श किये से काँटे चुभते हैं और फल भक्षण किये से कष्ट होता है। यह सब शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन्द्रियों के विषय देखनेमात्र सुन्दर भासते हैं यही फूल फल हैं पर जब इनका स्पर्श होता है तब तृष्णारूपी कण्टक चुभते हैं और इन्द्रियों के भोग भोगने से राग, द्वेष और कष्ट प्राप्त होता है। हे रामजी! अविद्या भीतर से शून्य है और बाहर से बड़े अर्थसंयुक्त भासती है। जैसे आकाश में इन्द्रधनुष नानाप्रकार के रङ्ग सहित दृष्टि आता है परन्तु अन्तर से शून्य है—अनहोता ही भासता है; तैसे ही अविद्या अनहोती ही भासती है; और जैसे इन्द्रधनुष जलरूप मेघ के आश्रय रहता है, तैसे ही यह अविद्या जड़ मूर्खों के आश्रय रहती है। अविद्यारूपी धूलि जिसको स्पर्श करती है उसको आवरण कर लेती है; जबतक अर्थ नहीं जाना तबतक भासती है और विचार किये से कुछ नहीं निकलता। जैसे सीपी में रूपा भासता है पर विचार किये से उसका अभाव हो जाता है, तैसे ही विचार किये से अविद्या का भी अभाव हो जाता है। विचार किये से ही अविद्या नष्ट हो जाती है और वह चञ्चल है और भासती है। हे रामजी! अविद्यारूपी नदी में तृष्णारूपी जल है; इन्द्रियों के अर्थरूपी भँवर हैं और राग-द्वेषरूपी तेंदुये (ग्राह) हैं; जो पुरुष इस नदी के प्रवाह में पड़ता है उसको बड़े कष्ट प्राप्त होते हैं। जो तृष्णारूपी प्रवाह में बहते हैं उनको अविद्यारूपी नदी का अन्त नहीं आता और जो किनारे के सन्मुख होकर वैराग्य और अभ्यासरूपी नावपर चढ़के पार हुए हैं उनको कोई कष्ट नहीं होता। जो पदार्थ अविद्यारूप हैं उनमें जो भावना करते हैं वे मूर्ख हैं। यह सब अविद्या का विलास है। एक ऐसी सृष्टि है जिसमें सैकड़ों चन्द्रमा और सहस्रों सूर्य उदय होते हैं; कई ऐसी सृष्टियाँ हैं जिनमें जीव सदा समताभाव को लिये बिचरते हैं और सदा आनन्दी रहते हैं; कई ऐसी सृष्टि हैं कि जिनमें अन्धकार कभी नहीं होता; कईं

ऐसी सृष्टि हैं जहाँ प्रकाश और तम जीवों के अधीन है कि जितना प्रकाश चाहें उतना ही करें और कई ऐसी सृष्टि हैं जहाँ जीव न मरते हैं, और न बूढ़े होते हैं सदा एकरस रहते हैं और प्रलयकाल में सब इकट्ठे ही मरते हैं। कहीं ऐसी सृष्टि है जहाँ स्त्री कोई नहीं, कहीं पहाड़ की नाईं जीवों के शरीर हैं। हे रामजी! इनसे लेकर अनन्त ब्रह्माण्ड फुरते हैं सो सब अविद्या का विलास है। जैसे समुद्र में वायु से तरङ्ग फुरते हैं, वायु विना नहीं फुरते; तैसे ही परमात्मरूपी समुद्र में जगत्रूपी तरङ्ग अविद्यारूपी वायु के संयोग से उठते हैं और मिट भी जाते हैं। हे रामजी! बड़े-बड़े मणि, मोती, सुवर्ण और धातुमय स्थान; भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य चारों प्रकार के तृप्तिकर्ता पदार्थ; घृतरूप स्थान; ऊख के रस के समुद्र; माखन, दही और दूध के समुद्र; अमृत के तालाब; बड़े-बड़े कल्प और तमाल वृक्ष से आदि लेकर सुन्दर स्थान और सुन्दर अप्सरा और बड़े दिव्य वस्त्रों से आदि लेकर जो पदार्थ हैं वे सब संकल्परूप अविद्या के रचे हुये हैं; जो इनकी तृष्णा करते हैं वे मूर्ख हैं उनके जीने को धिक्कार है। हे रामजी! यह अविद्या का विलास है विचार किये से कुछ नहीं निकलता। जैसे मरुस्थल में अनहोती नदी भासती है और विचार किये से उसका अभाव हो जाता है, तैसे ही आत्मविचार किये से अविद्या के विलासरूप जगत् का अभाव हो जाता है। जिसको आत्मा का प्रमाद है उसको देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिक इष्ट-अनिष्ट अनेक प्रकार के पदार्थ भासते हैं और कारण कार्य भाव से जगत् भी स्पष्ट भासता है पर जिसको आत्मा का अनुभव हुआ है उसको सर्व आत्मा ही भासता है। हे रामजी! एक सदृष्ट सृष्टि है और दूसरी अदृष्ट सृष्टि है। यह जो प्रत्यक्ष भासती है सो सदृष्ट सृष्टि है और जो दृष्टि नहीं आती वह अदृष्ट सृष्टि है पर दोनों तुल्य हैं जैसे सिद्धलोग आकाश में जो सृष्टि रच लेते हैं सो संकल्पमात्र होती है। उनकी सृष्टि परस्पर अदृष्ट है और अनेक प्रकार की रचना है। उनकी सुवर्ण की पृथ्वी है और रत्न और मणियों से जड़ी हुई है; अनेक प्रकार के विषय हैं और अमृत के कुण्ड भरे हुए हैं, उनके अधीन तम और

प्रकाश हैं और अनेक प्रकार की रचना बनी हुई है सो सब संकल्पमात्र है। इसी प्रकार यह जगत् संकल्पमात्र है जैसा-जैसा संकल्प होता है तैसी ही तैसी सृष्टि आत्मा में हो भासती है। हे रामजी ! आत्मारूपी डब्बे में सृष्टिरूपी अनेक रत्न हैं; जिस पुरुष को आत्मदृष्टि हुई है उसको सर्वसृष्टि आत्मरूप है और जिसको आत्मदृष्टि नहीं हुई उसको सर्वजगत् भिन्न-भिन्न भासता है। जैसा संकल्प दृढ़ होता है तैसा ही पदार्थ हो भासता है। जो कुछ जगत् भासता है सो सब संकल्पमात्र है; जो तुमको ऐसा तीव्र संवेग हो कि आकाश में नगर स्थित हो तो वही भासने लगे। हे रामजी ! जिस ओर मनुष्य दृढ़ निश्चय करता है वही सिद्ध होता है। जो आत्मा की ओर एकत्र होता है तो वही सिद्ध होता है और जो दोनों ओर होता है तो भटकता है। जो जगत् की सत्यता को छोड़कर आत्मपरायण हो रहे तो तीव्र भावना से मोक्ष प्राप्त होती है और जो संसार की ओर भावना होती है तो संसार की प्राप्ति होती है। निदान जैसा अभ्यास करता है वही सिद्ध होता है। वास्तव से सृष्टि कुछ हुई नहीं वही रूप है जैसी-जैसी भावना होती है उसके अनुसार जगत् भासता है। जिसकी भावना धर्म की ओर होती है और सकाम होता है उसको स्वर्गादिक सुख भासते हैं और जिसकी भावना अधर्म में होती है उसको नरकादिक भासते हैं। शुभकर्मों से शान्ति की आशा हो सकती है। शुभ भी दो प्रकार के हैं—एक से स्वर्गसुख भासते हैं और दूसरे को सिद्ध की भावना से सिद्धलोक भासते हैं। जिसको अशुभ भावना होती है उसको नाना प्रकार के नरक भासते हैं। हे रामजी ! जब यह संवित् अनात्म में आत्म अभिमान करती है और उनके कर्मों में आपको कर्ता जानती है वह पाप करके ऐसे अनेक दुःखों को प्राप्त होती है जो कहे नहीं जाते—जैसे पहाड़ों में दब जाने से बड़ा कष्ट होता है अथवा अङ्गारों की वर्षा और अन्धे कूप में गिरने से कष्ट होता है। पर स्त्री के भोगने से अङ्गारों के साथ स्पर्श करना होता है और अग्नि-तप्त लोहे को कण्ठ लगाना पड़ता है। जिस स्त्री ने परपुरुष को भोगा है वह अन्धे कूपरूप उखली में खड्गरूपी मूसल से कुटती है और जो

देहाभिमानी देवतों, पितरों और अतिथि के दिये विना भोजन करता है उसको भी यम के दूत बड़ा कष्ट देते हैं और खड्ग और बरछी से उसके मांस को काटते और प्रहार करते हैं और वे परलोक में क्षुधा और तृष्णा से कष्टवान् होते हैं। जिन नेत्रों से व्यभिचारियों ने पर स्त्री देखी है उन पर छुरी का प्रहार होता है। एक वृक्ष है जिसके पत्र खड्ग के प्रहार की नाईं लगते हैं और शूली के ऊपर चढ़ने से आदि लेकर उनको कष्ट होते हैं। जो शुभकर्म करते हैं वे स्वर्ग भोगते हैं। इससे जैसे-जैसे कर्म करते हैं उनके अनुसार जगत् देखते हैं और जिस-जिस भाव को चिन्तना करते शरीर त्यागते हैं वह उनको प्राप्त होते हैं। केवल वासनामात्र संसार है जैसा निश्चय होता है तैसा ही भासता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्वर्गनरकप्रारब्धवर्णनं नाम
द्विशताधिकचतुश्चत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४४ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! यह जो तुमने मुनीश्वर और बधिक का वृत्तान्त कहा है सो बड़ा आश्चर्यरूप है। यह वृत्तान्त स्वाभाविक हुआ है अथवा किसी कारण कार्य से हुआ है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसे समुद्र से तरङ्ग उठते हैं, तैसे ही ब्रह्म में यह प्रतिभा स्वाभाविक उठती है और जैसे पवन में फुरना स्वाभाविक होता है, तैसे ही आत्मा का चमत्कार जगत् रचना स्वाभाविक होती है सो वही रूप है, उससे भिन्न नहीं। चिन्मात्र में जो चेतना फुरी है वह जैसी फुरी है तैसे ही स्थित है; जबतक इससे भिन्न और फुरना नहीं होता तबतक वही रहता है। जिस प्रतिभा से कार्य-कारण भासता है—जैसे शुद्ध चिदाकाश में स्वप्ने की सृष्टि भासती है—उसमें साररूप वही है। वही चित्त चमत्कार से फुरता है—जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं सो समुद्ररूप हैं उससे भिन्न कुछ वस्तु नहीं तैसे ही सर्व शब्द अर्थ जगत् जो भासता है वही चिन्मात्र है भिन्न कुछ वस्तु नहीं। जिनको ऐसा यथार्थ अनुभव हुआ है उनको जगत् स्वप्नपुर और संकल्पनगरवत् भासता है और पृथ्वी आदि पदार्थ पिण्डाकार नहीं भासते सब ब्रह्मरूप हो भासता है। हे रामजी ! जो वस्तु व्यभिचारी और नाशवन्त है वह अविद्या रूप है और जो अव्यभिचारी और अविनाशी है वह

ब्रह्मसत्ता है। वह ब्रह्मसत्ता ज्ञानसंवित्‌रूप है और अपने भाव को कदाचित् नहीं त्यागती। वह अनुभव से सर्वदा काल प्रकाशती है उसमें अविद्या कैसे हो? जैसे समुद्र में धूलिका अभाव है, तैसे ही आत्मा में अविद्या का अभाव है जो सर्व आकार दृष्टि आते हैं सो सब चिदाकाशरूप हैं—जैसे तुम अपने मन में संकल्प धारकर इन्द्र हो बैठो और चेष्टा भी इन्द्र की सी करने लगो अथवा ध्यान में इन्द्र रचो और ध्यान से प्रतिभा सिद्ध हो आवै तो जबतक वह संकल्प रहे तब तक वही भासता है और जब इन्द्र का संकल्प क्षीण हो जाता है तब इन्द्र की चेष्टा भी निवृत्त हो जाती है सो संकल्प से वही चिन्मात्र इन्द्ररूप हो भासता है; तैसे ही यह सर्वजगत् जो भासता है सो सब चिन्मात्ररूप है पर संवेदन द्वारा पिण्डाकार हो भासता है और जब संवेदन फुरना निवृत्त होता है तब सब जगत् आत्मरूप भासता है। ब्रह्मसत्ता तो सदा अपने आप में स्थित है पर जैसा फुरना होता है, तैसा हो भासता है—सब जगत् उसी का चमत्कार है। जैसे समुद्र में तरङ्ग समुद्ररूप होते हैं। तैसे ही निराकार परमात्मा में जगत् भी आकाशरूप है, भिन्न कुछ नहीं सर्व ब्रह्मस्वरूप है। इसका नाम परमबोध है। जब इस बोध की दृढ़ता होती है तब मोक्ष होता है। जिसको सम्यक्‌बोध होता है उसको सर्वजगत् ब्रह्मस्वरूप अपना आप भासता है जिसको सम्यक्‌बोध नहीं हुआ उसको नानाप्रकार का द्वैतरूप जगत् भासता है। हे रामजी! जिसकी बुद्धि शास्त्रों से तीक्ष्ण हुई है और वैराग्य अभ्यास से संपन्न और निर्मल है उसको आत्मपद प्राप्त होता है और जिसकी बुद्धि शास्त्र के अर्थ से निर्मल नहीं भई उसको अज्ञानसहित जगत् भासता है। जैसे किसी पुरुष के नेत्र में दूषण होता है तो उसको आकाश में दो चन्द्रमा भासते हैं और भ्रम से तारे भासते हैं, तैसे ही अज्ञान से जगत् भासता है यह सर्व जाग्रत् जगत् स्वप्नमात्र है। जब जीव स्वप्ने में होता है तब स्वप्ना भी जाग्रत् भासता है और जाग्रत् स्वप्ना हो जाता है और जाग्रत् में स्वप्न का अभाव हो जाता है और जाग्रत् सत्य भासती है। अल्पकाल का नाम स्वप्ना है और दीर्घकाल का नाम जाग्रत् है पर आत्मा में दोनों तुल्य हैं। जैसे दो भाई जोड़े जन्मते हैं सो नाममात्र दो हैं वास्तव में एकरूप हैं; तैसे ही जाग्रत् स्वप्न तुल्य ही हैं। जब पुरुष शरीर को त्यागता है तब परलोक जाग्रत् हो जाता है और यह जगत् स्वप्नवत् हो जाता है जैसे स्वप्ने से जागकर स्वप्ने के पदार्थों को भ्रममात्र जानता है और जाग्रत् को सत् जानता है, तैसे ही जब जीव परलोक को जाता है तब इस जगत् को स्वप्न जानता है और कहता है कि स्वप्नासा मैंने देखा था और वह परलोक सत्य हो भासता है। फिर वहाँ से गिरकर इस लोक में आ पड़ता है तब इस लोक को सत्य जानता है और जाग्रत् मानता है और उस परलोक को स्वप्नभ्रम मानता है। हे रामजी! जबतक शरीर से सम्बन्ध है तबतक अनेक बार जाग्रत् देखता है और अनन्त ही स्वप्ने देखता है। हे रामजी! जैसे मृत्युपर्यन्त अनेक स्वप्ने आते हैं, तैसे ही मोक्षपर्यन्त अनेक जाग्रत्‌रूप जगत् भासते हैं और भ्रमान्तर में इनकी सत्यता और जाग्रत् में स्वप्ने के पदार्थ स्मरण करता है। जैसे सिद्ध प्रबुद्ध होकर अपने जन्म को स्मरण करता है और कहता है कि सब भ्रममात्र थे, तैसे ही यह जब जागेगा तब कहेगा कि सब भ्रममात्र प्रतिभा मुझको भासी थी, न कोई बन्ध है और न कोई मुक्त है, क्योंकि दृश्य अविद्यक बन्ध मोक्ष ऐसा है कि जब चित्त की वृत्ति निर्विकल्प होती है तब मोक्ष भासता है और जबतक वासना विकल्प सत्य है तबतक बन्ध भासता है। हे रामजी! आत्मा में बन्ध मोक्ष दोनों नहीं, क्योंकि बन्ध हो तो मोक्ष भी हो पर बन्ध ही नहीं तो मोक्ष कैसे हो? बन्ध और मोक्ष दोनों चित्तसंवेदन में भासते हैं इससे चित्त को निर्वाण करो तब सब कल्पना मिट जावेगी। जितने पदार्थों के प्रतिपादन करनेवाले शब्द हैं उनको त्यागकर निर्मल ज्ञानमात्र जो आत्मसत्ता है उसमें स्थित हो रहो और खाना, पीना, बोलना, चलना आदि सब क्रिया करो परन्तु हृदय से परमपद पाने का यत्न करो। हे रामजी! प्रथम नेति-नेति करके सर्वशब्दों का अभाव करो; फिर अभाव का भी अभाव करो तब उसके पीछे जो शेष रहेगा वह आत्मसत्ता परमनिर्वाणरूप है उसी में स्थित हो रहो। जो कुछ अपना आचार कर्म है उसे यथाशास्त्र करके हृदय

से सर्वकल्पना का त्याग करो—इस प्रकार आत्मसत्ता में स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणोपदेशो नाम
द्विशताधिकपञ्चचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४५ ॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! सर्वपदार्थ जो भासते हैं वे सब चिदाकाश आत्मरूप हैं। ज्ञानवान् को सदा वही भासता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता। रूप, दृश्य, अवलोक, इन्द्रियाँ और मनस्कार फुरने का नाम संसार है सो यह भी आत्मरूप है—आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। जैसे अपनी ही संवित् स्वप्ने में रूप, अवलोक और मनस्कार हो भासती है। आत्मा से भिन्न कुछ नहीं परन्तु अज्ञान से भिन्न भिन्न भासते हैं। जो जागा है उसको अपना आप भासता है। जैसे अपनी चैतन्यता ही स्वप्नपुर होकर भासती है; तैसे ही जगत् के पूर्व जो चैतन्यसत्ता थी वही जगत्रूप होकर भासती है। जगत् आत्मा से कुछ भिन्न वस्तु नहीं वही स्वरूप है। जैसे जल का स्वभाव द्रवीभूत होता है इससे तरङ्गरूप हो भासता है, तैसे ही आत्मा का स्वभाव चैतन्य है। वही आत्मसत्ता चैतन्यता से जगत् आकार हो भासती है इस प्रकार जानकर जो परमशान्ति निर्वाणपद है उसमें स्थित हो रहो। हे रामजी ! जगत् कुछ है नहीं और प्रत्यक्ष भासता है; असत्य ही सत्य होकर भासता है। यही आश्चर्य है कि निष्किञ्चन और किञ्चन की नाईं होकर भासता है। आत्मसत्ता सदा अद्वैत और निर्विकार है परन्तु अज्ञान दृष्टि से नाना प्रकार के विकार भासते हैं। जब सर्व विकारों को निषेध करके असत् रूप जानिये तब सर्व के अभाव हुए आत्मसत्ता शेष रहती है। जैसे शून्य स्थान में अनहोता वैताल भासि आता है, तैसे ही अज्ञानी को अनहोता जगत् आत्मा में भासि आता है। जो पुरुष स्वभाव में स्थित हुए हैं उनको जगत् भी अद्वैतरूप आत्मा भासता है। जब सत् शास्त्रों और सन्तों की संगति होती है और उनके तात्पर्य अर्थ में दृढ़ अभ्यास होता है तब स्वभाव सत्ता में स्थित होती है। जिन पदार्थों के पाने के निमित्त मनुष्य यत्न करता है वे मायिक पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् उदय भी होते हैं और नष्ट भी होते हैं। ये पदार्थ विचार विना सुन्दर भासते हैं और इनकी इच्छा मूर्ख करते हैं, क्योंकि उनको जगत् सत्य भासता है। ज्ञानवान् को जगत् के पदार्थों की तृष्णा नहीं होती, क्योंकि वह जगत् को मृगतृष्णा की नाईं असत्य जानता है और ब्रह्मभावना में दृढ़ है। अज्ञानी को जगत् की भावना है इससे ज्ञानी के निश्चय को अज्ञानी नहीं जानता पर अज्ञानी के निश्चय को ज्ञानी जानता है। जैसे सोये हुए पुरुष को निद्रा दोष से स्वप्न आता है और उसमें जगत् भासता है पर जाग्रत् पुरुष जो उसके निकट बैठा है उसको वह स्वप्ने का जगत् नहीं भासता। वह असत् है इसलिये उसके निश्चय को स्वप्नवाला नहीं जानता और स्वप्नेवाले के निश्चय को वह जाग्रत्वाला नहीं जानता; तैसे ही ज्ञानी के निश्चय को अज्ञानी नहीं जानता। मृत्तिका की सेना को बालक सेना करि मानता है पर जो जाननेवाले बड़े पुरुष हैं उनको वह सब सेना मृत्तिकारूप भासती है और जब वह बालक भी भली प्रकार जानता है तब उसको भी सेना और वैताल का अभाव हो जाता है मृत्तिका ही भासती है; तैसे ही ज्ञानवान् को सब जगत् ब्रह्मरूप ही भासता है। हे रामजी ! जब पुरुष को आत्मा का अनुभव होता है तब जगत् के पदार्थों की इच्छा नहीं रहती। जैसे स्वप्ने में किसी को मणि प्राप्त होती है तो वह प्रीति करके उसको रखता है पर जब जागता है तब उसे भ्रम जानकर उसकी इच्छा नहीं करता; तैसे ही जब जीव आत्मपद में जागेगा तब जगत् के पदार्थों की इच्छा न करेगा। जैसे जो कोई मरुस्थल की नदी को असत्य जानता है वह उसमें जलपान के निमित्त यत्न नहीं करता तैसे ही जो जगत् को असत् जानता है वह उसके पदार्थों की इच्छा नहीं करता। जिस शरीर के निमित्त मनुष्य यत्न करता है वह शरीर भी क्षणभंगुर है। जैसे पत्र पर जल की बूँद स्थित होती है सो क्षणभंगुर और असार है और पवन लगने से क्षण में गिर जाती है; तैसे ही यह शरीर भी नाशवन्त है। जैसे धूप से तपा हुआ मृग मरुस्थल की नदी को सत्य जानकर जलपान करने के निमित्त दौड़ता है और मूर्खता के कारण कष्ट पाता है परन्तु तृप्त नहीं होता; तैसे ही मूर्ख मनुष्य विषय पदार्थों को

सत्य जानकर उनके निमित्त यत्न करके कष्ट पाता है और कदाचि तृप्त नहीं होता। हे रामजी! पुरुष अपना आपही मित्र है और अपना आपही शत्रु है। जब सत्यमार्ग में बिचरता है और अपना उद्धार करता है तब पुरुष प्रयत्न से अपना आपही मित्र होता है और जो सत्यमार्ग में नहीं बिचरता और पुरुष प्रयत्न करके अपना उद्धार नहीं करता तो वह जन्ममरण संसार में आपको डालता है और वह अपना आपही शत्रु है। जो अपने आपको यत्न करके उद्धार करता है वह अपने ऊपर दया करता है। हे रामजी! जो इन्द्रियों के विषयरूपी कीचड़ में गिरा हुआ है और अपने ऊपर दया नहीं करता वह महा अज्ञान तम को प्राप्त होता है और जो पुरुष इन्द्रियों को जीत के आत्मपद में स्थित नहीं होता उसको शान्ति भी नहीं होती। जब बालक अवस्था होती है तब शून्यबुद्धि होती है; वृद्धअवस्था में अङ्ग क्षीण हो जाते हैं और यौवन अवस्था में इन्द्रियों को नहीं जीत सकता तो कब होगा? जो तिर्यक् आदिक योनि हैं वे मृतकवत् हैं। यत्न का समय यौवनअवस्था है, क्योंकि बाल अवस्था तो जड़ गुङ्गरूप है और वृद्धअवस्था महानिर्बल सी है उसमें अपने अङ्ग ही उठाने कठिन हो जाते हैं तो विचार का क्या फल हुआ-वह तो बालकवत् है। इससे कुछ यत्न यौवन अवस्था में ही होता है जो इस अवस्था में लम्पट रहा वह महाअनिष्ट नरक को प्राप्त होगा। हे रामजी! विषयों से प्रसन्न न होना। यह शरीर नाशरूप है तो विषय क्यों भोगे। श्रुति करके भी जानता है और अनुभव करके भी जानता है कि यह शरीर नाशरूप है पर उसी शरीर में सत्य भावना करके जो विषयों के सेवने का यत्न करता है उसके सिवा दूसरा मूर्ख कोई नहीं, वही मूर्ख है। इससे जो इन्द्रियों को जीतेगा वह जन्म-जन्मान्तर को न प्राप्त होगा। हे रामजी! तुम जागो और आपको अविनाशी और अच्युत परमानन्दरूप जानो। यह जगत् मिथ्या है—इसको त्याग दो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिकषट्चत्वा-
रिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४६ ॥

श्रीरामजी बोले, हे भगवन्! तुम सत्य कहते हो कि इन्द्रियों के जीते विना शान्ति नहीं होती; इससे इन्द्रियों के जीतने का उपाय कहो। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जिस पुरुष को बड़े भोग प्राप्त हुए हैं और उसने इन्द्रियों को जीता नहीं तो वह शोभा नहीं पाता जो त्रिलोकी का राज्य प्राप्त हो और इन्द्रियाँ न जीतीं तो उसकी कुछ प्रशंसा नहीं। जो बड़ा शूरवीर है पर उसने इन्द्रियों को नहीं जीता उसकी शोभा भी कुछ नहीं और जिसकी बड़ी आयु है पर उसने इन्द्रियाँ नहीं जीतीं तो उसका जीना भी व्यर्थ है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ जीती जाती हैं और आत्मपद प्राप्त होता है सो प्रकार सुनो। हे रामजी! इस पुरुष का स्वरूप अचिन्त्य चिन्मात्र है; उसमें जो संवित् फुरी है उस ज्ञानसंवित् को अन्तःकरण और दृश्य जगत् से सम्बन्ध हुआ है—उसी का नाम जीव है। जहाँ से चित्त फुरता है वहीं चित्त को स्थित करो तब इन्द्रियों का अभाव हो जावेगा। इन्द्रियों का नायक मन है; जब मनरूपी मतवाले हाथी को वैराग्य और अभ्यासरूपी ज़ंजीर से वश करो तब तुम्हारी जय होगी और इन्द्रियाँ रोकी जावेंगी। जैसे राजा के वश किये से सब सेना भी वश हो जाती है; तैसे ही मन को स्थित किये से सब इन्द्रियाँ वश हो जावेंगी। हे रामजी! जब इन्द्रियों को वश करोगे तब शुद्ध आत्मसत्ता तुमको भासि आवेगी। जैसे वर्षाकाल के अभाव से शरत्काल में शुद्ध निर्मल आकाश भासता है और कुहिरे और बादल का अभाव हो जाता है, तैसे ही जब मनरूपी वर्षाकाल और वासनारूपी कुहिरे का अभाव हो जावेगा तब पीछे शुद्ध निर्मल आत्मसत्ता ही भासेगी। हे रामजी! ये सर्व पदार्थ जो जगत् में दृष्टि आते हैं वे सब असत्यरूप हैं—जैसे मरुस्थल की नदी असत्यरूप होती है—इनमें तृष्णा करना अज्ञानता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष प्राप्त हों उनको त्यागकर आत्मा की ओर वृत्ति आवे तब जानिये कि मुझको इन्द्र का पद प्राप्त हुआ है। विषयों में आसक्त होना ही बड़ी कृपणता है। इनसे उपराम होना ही बड़ी उदारता है; इससे मन को वश करो कि तुम्हारी जय हो। जैसे ज्येष्ठ आषाढ़ में पृथ्वी तप्त होती है और जो चरणों में जूता होता है तब तपन नहीं लगती तैसे ही अपना मन

वश किये से जगत् आत्मरूप हो जाता है। हे रामजी! जिस प्रकार जनेन्द्र ने मन को वश किया था तैसे ही तुम भी मन को वश करो। जिस-जिस ओर मन जावे उस-उस ओर से रोको; जब दृश्य जगत् की ओर से मन को रोकोगे तब वृत्तिसंवित् ज्ञान की ओर आवेगी और जब संवित् ज्ञान की ओर आई तब तुमको परम उदारता प्राप्त होगी और शुद्ध आत्मसत्ता का अनुभव होगा। तीर्थ, दान और तप करके संवित् का अनुभव होना कठिन है परन्तु मन के स्थित करने से सुगम ही अनुभव की प्राप्ति होती है। मन स्थित करने का उपाय यही है कि सन्तों की संगति करना और राति-दिन सत्शास्त्रों का विचारना। सर्वदा काल यही उपाय करने से शीघ्र ही मन स्थित होता है और जब मन स्थित होता है तब आत्मपद का अनुभव होता है। जिसको आत्मपद प्राप्त हुआ है वह संसारसमुद्र में नहीं डूबता। चित्तरूपी समुद्र में तृष्णारूपी जल है और कामनारूपी लहरें हैं। जिस पुरुष ने शम और संतोष से इन्द्रियाँ जीती हैं वह चित्तरूप समुद्र में ग़ोते न खावेगा और जिसने इन्द्रियों को जीतकर आत्मपद पाया है उसको नानात्व जगत् फिर नहीं भासता। जैसे मरुस्थल की निराकार नदी में लहरें भासती हैं पर जब निकट जाकर भली प्रकार देखिये तो वह लहरों संयुक्त बहती दृष्टि नहीं आती; तैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है और जब भली प्रकार विचार के देखिये तब नानात्व दृष्टि नहीं आता आत्मसत्ता ही किञ्चन करके जगत्रूप हो भासती है। जैसे जल अपने द्रव स्वभाव से तरङ्गरूप हो भासता है, तैसे ही आत्मसत्ता चैतन्यता से जगत्रूप हो भासती है। हे रामजी! जब आत्मबोध होता है तब फिर दृश्यभ्रम नहीं भासता जैसे साकाररूप नदी का भाव निवृत्त होता है तो फिर बहती है और जो निराकार नदी का सद्भाव निवृत्त होता है तब फिर नदी का सद्भाव होता है। निराकार मृगतृष्णा की नदी जब ज्यों की त्यों जानो तब फिर सत् नहीं होती। हे रामजी! वास्तव में न कर्म हैं; न इन्द्रियाँ हैं; न कर्ता है अर्थात् कुछ उपजा नहीं। जैसे स्वप्ने में नाना प्रकार की क्रिया कर्म दृष्टि आते हैं परन्तु आकाशरूप हैं कुछ बने नहीं,

तैसे ही यह भी जानो। आकाशरूप आत्मा में आकाशरूप जगत् स्थित है। जैसे अवयवी और अवयव में भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं और जैसे अवयव अवयवी का रूप है, तैसे ही जगत् आत्मा का रूप है। जब आत्मा में स्थिति होगी तब अहं-त्वं आदिक शब्दों का अभाव हो जावेगा और द्वैत अद्वैत शब्द भी न रहेंगे। द्वैत अद्वैत शब्द भी अज्ञानी बालक के समझाने के निमित्त कहे हैं, जो शुद्ध ज्ञानवान् हैं वे इन शब्दों पर हँसी करते हैं कि अद्वैतमात्र में इन शब्दों का प्रवेश कहाँ है। जिनको यह दशा प्राप्त हुई है उनको न बन्ध है और न मोक्ष है। हे रामजी! सुषुप्ति और तुरीया में कुछ थोड़ा ही भेद है कि सुषुप्ति में अज्ञान और जड़ता रहती है और तुरीया में अज्ञान और जड़ता नहीं रहती वह चैतन्य अनुभव सत्तारूप है और स्वप्न और जाग्रत् में भी भेद नहीं परन्तु इतना भेद है कि अल्पकाल की अवस्था को स्वप्ना कहते हैं और चिरकाल की अवस्था को जाग्रत् कहते हैं। हे रामजी! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीनों स्वप्न और सुषुप्तिरूप हैं। जाग्रत् और स्वप्न ये उभय स्वप्नरूप हैं; सुषुप्ति अज्ञानरूप है; जाग्रत् तुरीयारूप है और जाग्रत् कोई नहीं। जिस जागने से फिर भ्रम प्राप्त हो उसको जाग्रत् कैसे कहिये? उसको तो भ्रममात्र जानिये और जिस जागने से फिर भ्रम को न प्राप्त हो उसका नाम जाग्रत् है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया चारों अवस्थाओं में चिन्मात्र घनीभूत हो रहा है वह चारों को नहीं देखता। ज्ञानवान् जब प्राण का स्पन्द रोककर आत्मा की ओर चित्त को लगाते हैं; परस्पर ज्ञानमात्र का निर्णय और चर्चा करते हैं और ज्ञान की ही कथा-कीर्तन करते और उससे प्रसन्न होते हैं ऐसे नित्य जाग्रत् पुरुष जो निरन्तर प्रीतिपूर्वक आत्मा को भजते हैं उनको आत्मविषयिणी बुद्धि उदय होती है और उससे वे शान्ति को प्राप्त होते हैं। जिनको सदा अध्यात्म अभ्यास है और उस अभ्यास में वे तत्पर हुए हैं उनको आत्मपद प्राप्त होता है जो अज्ञानी हैं वे राग-द्वेष से जलते हैं और जिनको आत्मा का दृढ़ अभ्यास हुआ है उनको शान्ति प्राप्त होती है और आत्मास्थिति प्राप्त होती है जिसके आगे–

इन्द्र का राज्य भी सूखे तृणवत् भासता है और सर्व जगत् उसको आत्मरूप भासता है। जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार के जगत् भासते हैं। जैसे सोये हुए पुरुष को स्वप्ने की सृष्टि सत्य होकर भासती है और जाग्रत् हुए को स्वप्ने की सृष्टि भी अपना आपरूप भासती है। ज्ञानवान् को सर्व आत्मरूप भासता है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता। जब आत्म अभ्यास का बल हो और अनात्मा के अभाव का अभ्यास दृढ़ हो तब जगत् का अभाव हो जावे और अद्वैत सत्ता का भान हो। हे रामजी! मैंने तुमको बहुत उपदेश किया है; जब इसका अभ्यास होगा तब इसका फल जो ब्रह्मबोध है सो प्राप्त होगा। अभ्यास विना नहीं प्राप्त होता। जो एक तृण लोप करना होता है तो भी कुछ यत्न करना होता है यह तो त्रिलोकी लोप करनी है। हे रामजी! जैसे बड़ा भार जिस पर पड़ता है वह बड़े ही बल से उठता है, विना बड़े बल नहीं उठता; तैसे ही जीव पर दृश्यरूपी बड़ा भार पड़ा है, जब आत्मरूपी अभ्यास का बड़ा बल हो तब वह इसको निवृत्त करे नहीं तो निवृत्त नहीं होता। यह जो मैंने तुमको उपदेश किया है इसको बारम्बार विचारो। मैंने तो तुमको बहुत प्रकार और बहुत बार कहा है। हे रामजी! अज्ञानी को ऐसे बहुत कहने से भी कुछ नहीं होता। तुमको जो मैंने उपदेश किया है वह सर्वशास्त्रों और वेदों का सिद्धान्त है। जिस प्रकार वेद को पाठ करते हैं उसी प्रकार इसको पाठ कीजिये और विचारिये और इसके रहस्य को हृदय में धारिये तब आत्मपद की प्राप्ति होगी और और शास्त्र भी इसके अवलोकन से सुगम हो जावेंगे। यदि नित्य इस शास्त्र को श्रद्धासहित सुने और कहे तो अज्ञानी जीव को भी अवश्य ज्ञान की प्राप्ति होती है। जिसने एक बार सुना है और कहने लगा है कि एक बार तो सुना है फिर क्या सुनना है उसकी भ्रान्ति निवृत्त न होगी और जो बारम्बार सुने, विचारे और कहे तो उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। सब शास्त्रों से उत्तम युक्ति की संहिता मैंने कही है जो शीघ्र ही मन में आती है। जो पुरुष मेरे शास्त्र के सुनने और कहनेवाले हैं उनको बोध उदय होता है और दूसरे शास्त्रों का अर्थ भी सुन्दरता से खुल आता है। जैसे लवण का अधिकारी व्यञ्जन पदार्थ है उसमें डाला लवण स्वादी होता है और प्रीति सहित ग्रहण किया जाता है; तैसे ही जो इस शास्त्र के सुनने और कहनेवाले हैं वे और शास्त्रों का भी सुन्दर अर्थ करेंगे। हे रामजी! किसी और पक्ष को मानकर इसका सुनना त्यागना न चाहिये। जैसे किसी के पिता का खारा कुवाँ था और उसके निकट एक मिष्ट जल का कुवाँ भी था पर वह अपने पिता का कूप मान कर खारी ही जल पीता था और निकट के मिष्ट जल के कुयें का त्याग करता था, तैसे ही अपने पक्ष को मानकर मेरे शास्त्र का त्याग न करना। जो ऐसे जानकर मेरे शास्त्र को न सुनेगा उसको ज्ञान प्राप्त न होगा। जो पुरुष इस शास्त्र में दूषण आरोपण करेगा कि यह सिद्धान्त यथार्थ नहीं कहा उसको कदाचित् ज्ञान न प्राप्त होगा—वह आत्महन्ता है उसके वाक्य न सुनना। जो प्रीतिपूर्वक पूजा भाव करके सुने और विचारकर पाठ करे उसको निर्मल ज्ञान होगा और उसकी क्रिया भी निर्मल होगी इससे यह नित्यप्रति विचारने योग्य है। हे रामजी! तुमको मैंने अपने किसी अर्थ के निमित्त उपदेश नहीं किया केवल दया करके किया है और तुम जो किसी को कहना तो अर्थ विना दया करके ही कहना।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इन्द्रिययज्ञवर्णनं नाम
द्विशताधिकसप्तचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४७ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! आत्मा में जगत् कुछ हुआ नहीं। जब शुद्ध चिन्मात्र में अहं फुरता है तब वही संवेदन फुरना जगत्‌रूप हो भासता है और जब वह अधिष्ठान की ओर देखता है तब वही संवेदन अधिष्ठानरूप हो जाता है और अपने रूप को त्यागकर अचेत चिन्मात्र होता है। हे रामजी! फुरने और अफुरने दोनों में वही है परन्तु फुरने से जगत् भासता है सो जगत् भी कुछ और वस्तु नहीं वही रूप है। जब संवित् संवेदन फुरने से रहित होती है तब चिन्मात्ररूप हो जाती है इस कारण ज्ञानवान् को जगत् आत्मरूप भासता है ब्रह्म से भिन्न नहीं भासता। जैसे किसी पुरुष का मन और ठौर गया होता है तो उसके आगे शब्द होता है तौ भी नहीं सुनाई देता और वह कहता है कि मैंने देखा सुना

कुछ नहीं, क्योंकि जिस ओर चित्त होता है उसी का अनुभव होता है; तैसे ही जिनका मन आत्मा की ओर लगता है उनको सब आत्मा ही भासता है—आत्मा से भिन्न जगत् कुछ नहीं भासता। जिसको आत्मसत्ता का प्रमाद है और जगत् की ओर चित्त है उसको जगत् ही भासता है। हे रामजी! ज्ञानवान् के निश्चय में ब्रह्म ही भासता है और अज्ञानी के निश्चय में जगत् भासता है तो ज्ञानी और अज्ञानी का निश्चय एक कैसे हो? जो मनुष्य स्वप्ने में है उसको स्वप्ने का जगत् भासता है और जाग्रत् को वह जगत् नहीं भासता तो उनका एक ही निश्चय कैसे हो? जगत् के आदि और अन्त दोनों में ब्रह्मसत्ता है और मध्य में भी उसे ही जानो—आत्मसत्ता ही चैतन्यता से जगत्रूप हो भासती है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि के आदि भी ब्रह्मसत्ता होती है, अन्त भी ब्रह्मसत्ता होती है और मध्य जो भासता है सो भी वही है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं तैसे ही यह जगत् आदि, अन्त और मध्य में भी आत्मा से भिन्न नहीं। ज्ञानवान् को सदा यही निश्चय है कि जगत् कुछ उपजा नहीं और न उपजेगा केवल आत्मसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और सर्व ब्रह्म ही है अहं त्वं आदिक अज्ञान से भासता है जैसे स्वप्ने में अहं त्वं आदि का अनुभव होता है तो अहं त्वं आदिक भी कुछ नहीं सब अनुभवरूप है, तैसे ही यह जगत् सर्व अनुभवरूप है। हे रामजी! जैसे एक ही रस फूल, फल, टहनी और वृक्ष होकर भासता है, रस से भिन्न कुछ नहीं होता, तैसे ही नानात्वरूप जगत् भासता है परन्तु आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर अपने-अपने अनुभव से भिन्न नहीं परन्तु स्वरूप के विस्मरण से आकाररूप भासते हैं, तैसे ही यह जगत् आकार भासता है सो ज्ञानरूप से भिन्न नहीं। सब जगत् आत्मरूप है परन्तु अज्ञान से भिन्न-भिन्न भासता है। यह जगत् सब अपना आपरूप है और जो आत्मरूप है तो ग्राह्य ग्राहकभाव कैसे हो? यह मिथ्या भ्रम है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, घट, पट आदिक सब जगत् ब्रह्मरूप है; ज्ञानवान् को सदा यही निश्चय रहता है कि अचेत चिन्मात्र अपने आपमें स्थित है। ब्रह्मादिक भी कुछ फुरकर उदय

नहीं हुए ज्यों के त्यों हैं। उत्थान कुछ नहीं हुआ पर अज्ञानी के निश्चय में नाना प्रकार का जगत् है और उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, ब्रह्मादिक सम्पूर्ण हैं। हे रामजी! यह कुछ उपजा नहीं कारणत्व के अभाव से सदा एकरस आत्मसत्ता ही है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मजगदेकताप्रतिपादनं नाम
द्विशताधिकाष्टचत्वारिंशत्तमस्सर्गः ॥ २४८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अब जाग्रत् और स्वप्न का निर्णय सुनो। जब मनुष्य सो जाता है तब स्वप्ने की सृष्टि देखता है; वह जाग्रत्रूप भासती है और जब स्वप्न निवृत्त होता है तब फिर यह सृष्टि देखता है तो यही जाग्रत् हो भासती है। यहाँ सोकर स्वप्ने में जाग्रत् होती है और वहाँ सोकर यहाँ जाग्रत् होती है तो स्वप्न जाग्रत् हुआ। जाग्रत् जो वस्तु है सो आत्मसत्ता है, उसमें जागना वही जाग्रत् में जाग्रत् है और सब स्वप्न जाग्रत् है। जब मनुष्य यहाँ शयन करता है तब स्वप्ने का जगत् सत्य होकर भासता है और यह असत्य हो जाता है और स्वप्ने में वहाँ शयन करता है अर्थात् जब स्वप्ने से निवृत्त होता है और जाग्रत् में जागता है तब वह असत्य हो जाता है और वह स्वप्ना जाग्रत् में स्मरण हो आता है। जब जाग्रत् में सोया और स्वप्ने में जागा तब जाग्रत् स्वप्नभाव को प्राप्त हुई और जब स्वप्ने से उठकर जाग्रत् में आया तब स्वप्नरूप जाग्रत् स्मृतिभाव को प्राप्त हुई सब जाग्रत् हुई तो हे रामजी! स्वप्ना तो कोई न हुआ। इसको सर्व ठौर जाग्रत् हुई और जाग्रत् तो कोई न हुई, क्योंकि जब जाग्रत् से स्वप्ने में गया तब स्वप्ना जाग्रत्रूप हो गया और जाग्रत् स्वप्ना हो गई और जब स्वप्ने से जाग्रत् में आया तब जाग्रत् जाग्रत्रूप हो गई और स्वप्ना जाग्रत् स्वप्नरूप हो गई तो क्या हुआ कि जाग्रत् कोई नहीं सब स्वप्न और असत्यरूप है। अपने काल में यह जाग्रत् है और स्वप्नरूप है और जब यहाँ से मृतक होता है तब यह जगत् स्वप्नरूप होता है और स्वप्नरूप परलोक जाग्रत् होता है और जाग्रत् स्मृति प्रत्यक्ष हो जाता है तो उसमें वह नहीं रहता और उसमें वह नहीं रहता और जाग्रत् स्वप्न दोनों में परलोक नहीं रहता। इस जाग्रत् में देखिये तो स्वप्ना

और परलोक दोनों नहीं भासते और स्वप्ने में इस जाग्रत् और परलोक दोनों का अभाव हो जाता है तो यह सिद्ध हुआ कि सब स्वप्नमात्र है। हे रामजी ! चिरकाल की प्रतीति को जाग्रत् कहते हैं और अल्पकाल की प्रतीति को स्वप्ना कहते हैं। जो आदि स्वप्ना हुआ और उसमें दृढ़ अभ्यास हो गया उससे जाग्रत् हो भासती है; इसलिये जो आकार तुमको सत्य भासते हैं वे सब निराकार आकाशरूप हैं कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्ने में त्रिलोकी जगत्भ्रम उदय होता है परन्तु सब आकाशरूप होता है; तैसे ही ये जगत् के पदार्थ अविद्या से साकार भासते हैं सो सब निराकार और आकाशरूप हैं। जब अधिष्ठान आत्मतत्त्व में जागोगे तब सब ही आकाशरूप भासेंगे। अद्वैत आत्मतत्त्व में जो ग्राह्य-ग्राहकभाव भासते हैं सो मिथ्या कल्पना है, वास्तव में कुछ नहीं। सब जगत् मृगतृष्णा के जलवत् मिथ्या है उसमें ग्रहण और त्याग क्या कीजिये ? इन दोनों की कल्पना को दूर करो। यह हो और यह न हो इस कल्पना को त्यागकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो तब सर्व शान्ति प्राप्त होगी।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जाग्रत्स्वप्नप्रतिपादनं नाम
द्विशताधिकैकोनपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २४६ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे राजन्! इन अर्थों का जो आश्रयभूत है सो मैं तुमसे कहता हूँ। इस जगत् के आदि अचेत चिन्मात्र था और उसमें किसी शब्द की प्रवृत्ति न थी—अशब्द पद था। फिर उसमें जागना फुरा और उसका आभास जगत् हुआ। उस आभास में जिसको अधिष्ठान की अहंप्रतीति है उसको जगत् आकाशरूप भासता है और वह संसार में नहीं डूबता; क्योंकि उसको अज्ञान का अभाव है। जो डूबता नहीं वह निकलता भी नहीं; उसे अज्ञाननिवृत्ति और ज्ञान का भी अभाव है, क्योंकि वह स्वतः ज्ञानस्वरूप है। जिनको अधिष्ठान का प्रमाद हुआ है उनको दोनों अवस्था होती हैं। जो ज्ञानवान् है उसको जगत् आत्मरूप भासता है और जो ज्ञान से रहित है उसको भिन्न-भिन्न नामरूप जगत् भासता है। हे रामजी! आत्मा निराख्यात है; वह चारों आख्यातों से रहित निराभाससत्ता है और चारों आख्यात उसमें आभास हैं एक आख्यात, दूसरा विपर्ययाख्यात; तीसरा असत्याख्यात और चौथा आत्माख्यात है। आख्यात ज्ञान को कहते हैं। जिसको यह ज्ञान है कि 'मैं आपको नहीं जानता;' इसका नाम आख्यात है। आपको देह इन्द्रियरूप जानने का नाम विपर्ययाख्यात है। जगत् असत्य जानने का नाम असत्याख्यात है और आत्मा को आत्मा जानने का नाम आत्माख्यात है। ये चारों आख्यात चिन्मात्र आत्मतत्त्व के आभास हैं। आत्मसत्ता निर्विकल्प अचैत चिन्मात्र है उसमें वाणी की गम नहीं है। हे रामजी ! जगत् भी वही स्वरूप है और कुछ बना नहीं और घनशिला की नाईं अचिन्त्यस्वरूप है। इस पर एक आख्यान है जो श्रवणों का भूषण है इसलिये तुमसे कहता हूँ। वह द्वैतदृष्टि को नाश करता है और ज्ञानरूपी कमल का विकास करनेवाला सूर्य है और परमपावन है सो सुनो। हे रामजी! एक बड़ी शिला है जिसका कोटि योजनपर्यन्त विस्तार है; अनन्त है किसी ओर उसका अन्त नहीं आता और शुद्ध, निर्मल और निरासाध है अर्थात् यह कि अणु-अणु से पुष्ट नहीं हुई अपनी सत्ता से पूर्ण है और बहुत सुन्दर है। जैसे शालग्राम की प्रतिमा सुन्दर होती है, तैसे ही वह सुन्दर है और जैसे शालग्राम पर शंख, चक्र, गदा और पद्म की रेखा होती हैं तैसे ही उस पर रेखा हैं और वही रूप है। वह वज्र से भी क्रूर, शिला की नाईं निर्विकाश और निराकार अचेतन परमार्थ है। यह जो कुछ चैतन्यता भासती है सो उस पर रेखा है और अनन्त कल्प बीत गये हैं परन्तु उसका नाश नहीं होता। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश; ये सब भी उस पर रेखा हैं और आप पृथ्वी आदिक भूतों से रहित और शिलावत् है और इन रेखाओं को जीवित की नाईं चेतती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो वह अचेतन है और शिला की नाईं निर्विकाश है तो उसमें चैतन्यता कहाँ से आई जिससे जीवितधर्मा हुई—वह तो अचैतन्य थी ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! वह तो न चैतन्य है और न जड़ है शिलारूप है और पत्थर से भी उज्ज्वल है यह चैतन्यता जो तुम कहते हो सो चैतन्यता स्वभाव से दृष्टि आती है—जैसे जल का स्वभाव द्रवीभूत है, तैसे ही चैतन्यता भी उसका स्व-

…is the differ…
…ख्यात चिन्मात्र आत्म तत्व का आभास
…सत्ता आत्मतत्व अचेत चिन्मात्र

और जगत

(२)

भाव है और जैसे जल में तरङ्ग स्वाभाविक भासते हैं, तैसे ही इसमें चैतन्यता स्वाभाविक भासती है परन्तु भिन्न कुछ नहीं। वह सदा अपने आपमें स्थित है और किसी से जानी नहीं जाती—अबतक किसी ने नहीं जाना। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! किसी ने उसको देखा भी है अथवा नहीं देखा और किसी से वह भङ्ग हुई है कि नहीं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैंने उस शिला को देखा है और तुम भी जो उस शिला के देखने का अभ्यास करोगे तो देखोगे। वह परमशुद्ध है—उसको मैल कदाचित् नहीं लगता। वह छिद्रों, पोलों और आदि, मध्य, अन्त से रहित है। न उसे कोई तोड़ सकता है और न वह तोड़ने योग्य है, उससे कोई अन्य हो तो उसको भेदे। ये जितने पदार्थ पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, अप, तेज, वायु, आकाश, देवता, दानव, सूर्य और चन्द्रमा हैं वे सब उसी की रेखा हैं और उसके भीतर स्थित हैं। वह शिला महासूक्ष्म निराकार आकाशरूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो वह आदि, मध्य और अन्त से रहित है तो तुमने कैसे देखी सो कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह और किसी से जानी नहीं जाती अपने आप अनुभव से जानी जाती है। मैंने उसे अपने स्वभाव में स्थित होकर देखा है। जैसे थम्भे को अनथम्भे में स्थित होकर देखे, तैसे ही मैंने उसमें स्थित होकर देखा। हम भी उस शिला की रेखा हैं; इससे मैंने उसमें स्थित होकर देखा है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह कौन शिला है और उस पर रेखा कौन है सो कहो? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह परमात्मरूपी शिला है। मैंने शिलारूप इसलिये कहा कि वह घन चैतन्यरूप है उससे इतर कुछ नहीं और अचिन्त्यरूप है उस पर पञ्चतत्त्व रेखा हैं सो वे रेखा भी वही रूप हैं। एक रेखा बड़ी है जिसमें और रेखा रहती हैं वह बड़ी रेखा आकाश है जिसमें और तत्त्व रहते हैं। सब पदार्थ आकाश में हैं सो सब वहीरूप हैं; तुम भी वहीरूप हो और मैं भी वहीरूप हूँ और कुछ हुआ नहीं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सर्व पदार्थ और कर्म जो भासते हैं सो सब ब्रह्मरूपी शिला की रेखा हैं और कुछ हुआ नहीं, सर्वकाल में ब्रह्म

सत्ता ही स्थित है। नाना प्रकार के व्यवहार भी दृष्टि आते हैं परन्तु वहीरूप हैं और कुछ है नहीं तैसे ही वह भी जानो। घट, पट, पहाड़, कन्दरा, स्थावर, जङ्गम, जगत् सब आत्मरूप हैं। आत्मा ही फुरने से ऐसे भासता है। जैसे जल ही तरङ्ग और लहरें होकर भासता है, तैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जगत्‌रूप होकर भासती है और सर्व पदार्थ पवित्र, अपवित्र, सत्य, असत्य, विद्या, अविद्या; सब आत्मसत्ता ही के नाम हैं इतर वस्तु कुछ नहीं। ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। हे रामजी! सर्व ही घन ब्रह्मरूप है और चिन्मात्र घन ही सबमें व्याप रही है वह परमार्थ-सत्ता घन शान्तरूप है और यह भी सर्वपरमार्थ घनरूप है इसलिये संकल्परूपी कलना को त्याग कर उसमें स्थित हो रहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिकपञ्चाशत्तमस्सर्गः २५०॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो पुरुष स्वभावसत्ता में स्थित हुए हैं उनको ये चारों आख्यात कहे हैं और इनसे लेकर जितने शब्दार्थ हैं वे अलग या अलाव शशे के सींगवत् असत्य भासते हैं। जगत् का निश्चय उनमें नहीं रहता और सर्वब्रह्माण्ड उनको आत्मवत आकाशवत् भासता है। आख्यात की कल्पना भी उन्हें कुछ नहीं फुरती और सर्व जगत् जो दीखता है वह निराकार परम चिदाकाशरूप है और परमनिर्वाणसत्ता से युक्त भासता है और उसी से निर्वाण हो जाता है इसलिये वही स्वरूप है। हे रामजी! जब इस प्रकार जानकर तुम उस पद में स्थित होगे तब बड़े शब्द को करते भी तुम निश्चय से पाषाण शिलावत् मौन रहोगे और देखोगे, खावोगे, पिवोगे, सूँघोगे परन्तु अपने निश्चय में कुछ न फुरेगा। जैसे पाषाण की शिला में फुरना नहीं फुरता, तैसे ही तुम रहोगे—जो चरणों से दौड़ते जावोगे तौ भी निश्चय से चलायमान न होगे। जैसे आकाश, सुमेरु, पर्वत अचल है; तैसे ही तुम भी स्थित रहोगे और क्रिया तो सब करोगे परन्तु हृदय में क्रिया का अभिमान तुमको कुछ न होगा केवल स्वभावसत्ता में स्थित होगे। जैसे मूढ़ बालक अपनी परछाहीं में वैताल कल्पता है सो अविचारसिद्ध है और विचार किये से कुछ नहीं रहता, तैसे ही मूर्ख अज्ञानी आत्मा में मिथ्या आकार कल्पते हैं विचार किये से सब आकाश -आत्म

रूप है कुछ बना नहीं। जैसे मरुस्थल में नदी तबतक भासती है जब तक विचार करके नहीं देखता और विचार किये से नदी नहीं रहती तैसे ही यह जगत् विचार किये से नहीं रहता। जगत् चैतन्यरूपी का चमत्कार है; चैतन्य आत्मा का किञ्चन फुरने से ही जगत्रूप हो भासता है। रामजी बोले, हे भगवन्! इस जगत् का कारण मैं स्मृति मानता हूँ; वह स्मृति अनुभव से होती है और स्मृति से अनुभव होता है। स्मृति और अनुभव परस्पर कारण हैं, जब अनुभव होता है तब उसको स्मृति भी होती है और वह स्मृतिसंस्कार फिर स्वप्ने में जगत्रूप हो क्यों भासती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जगत् किसी संस्कार से नहीं उपजा और किसी अनुभव का संस्कार नहीं काकतालीयवत् अकस्मात् फुर आया है। हे रामजी! यह जगत् आभासमात्र है; आभास का अभाव कदाचित् नहीं होता क्योंकि उसका चमत्कार है। इतर कुछ बना हो तो उसका नाश भी हो पर भिन्न तो कुछ हुआ ही नहीं नाश कैसे हो? यह जगत् सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं तन्याता। आत्मसत्ता अपने स्वभाव में स्थित है और जगत् उसका आभास है। हे रामजी! तुम जो स्मृति कारण कहते हो तो कारण कार्यभाव आभास वहाँ भासते हैं जहाँ द्वैत है स्वरूप में तो कुछ कारण कार्य भाव नहीं। जैसे स्वप्ने के मरुस्थल में जल भासित हुआ तो उसमें जल माना गया इसलिये जागकर जब देखा तो उस जल की स्मृति हुई अथवा स्वप्ने के व्यवहारकर्ता को स्वप्नान्तर हुआ और उस स्वप्नान्तर में फिर व्यवहार किया? हे रामजी! तुम देखो कि उसकी स्मृति भी असत्य हुई और जो उसने अनुभव किया सो भी असत्य है; तैसे ही यह संसार भी है कुछ भिन्न नहीं। हे रामजी! इसलिये न जाग्रत् है, न स्वप्ना है; न कोई सुषुप्ति है और न तुरीया है केवल अद्वैतसत्ता सर्वउत्थान से रहित चिन्मात्र स्थित है; इसलिये जगत् भी वही रूप है और जो क्रिया भी दृष्टि आती है तो भी कुछ हुआ नहीं। जैसे स्वप्ने में अङ्गना कण्ठ से आलि-लती है तो उसकी क्रिया कुछ सच नहीं होती; तैसे ही यह क्रिया भी सच नहीं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया शब्दों का अर्थ

[illegible] चतुष्ट्य तल वत् [illegible]

निश्चय ज्ञानवान् पुरुष को है और शशे के सींग और आकाश के फलवत् असत्य भासते हैं। जैसे बन्ध्या का पुत्र और श्याम चन्द्रमा शब्द कहनेमात्र हैं और इनका अर्थ असत्य है; तैसे ही ज्ञानी के निश्चय में पाँचों अवस्थाओं का होना असंभव है। वह सर्वदाकाल में जाग्रत् है; जाग्रत् उसका नाम है जहाँ अनुभव हो। वह अनुभवसत्ता सदा जाग्रत् रूप है और जैसा पदार्थ आगे आता है उसी का अनुभव करता है— इससे सर्वदा सब कालों में जाग्रत् है। अथवा सर्वदाकाल स्वप्ना है; स्वप्ना उसका नाम है जहाँ पदार्थ विपर्यय भासते हैं सो सर्वपदार्थ विपर्यय ही भासते हैं। विपर्यय से रहित आत्मा है उसमें जो पदार्थ भासते हैं सो विपर्यय हैं इसलिये सर्वकाल में स्वप्ना ही है; ② अथवा सर्वदाकाल सुषुप्ति ही है; सुषुप्ति उसका नाम है जहाँ अज्ञानवृत्ति हो। मैं आप को भी नहीं जानता इसलिये न जानने से सर्वदाकाल सुषुप्ति है, ③ अथवा सर्वदाकाल तुरीया है; तुरीया उसका नाम जो साक्षीभूतसत्ता हो और जिसमें जाग्रत्, स्वप्ना और सुषुप्ति अवस्था का अनुभव होता है। वह सर्वदाकाल सबका अनुभव करता है सो प्रत्यक् चैतन्य है इससे सर्वदाकाल में तुरीयापद है। ४ अथवा सर्वदाकाल तुरीयातीतपद है। तुरीयातीत उसको कहते हैं कि जो अद्वैतसत्ता है, जिसके पास द्वैत कुछ नहीं सो सर्वदाकाल अद्वैतसत्ता है और उसमें जगत् का अत्यन्त अभाव है जैसे मरुस्थल में जल का अभाव है—इसलिये सर्वदाकाल में तुरीयातीतपद है ५ और जो मुझसे पूछो तो मुझको तरङ्ग, बुद्बुदे, झाग और आवर्त कुछ नहीं भासते—सर्वदाकाल चितसमुद्र ही भासता है। उदय अस्त से रहित आत्मसत्ता अपने आप में स्थित है और पृथ्वी आदिक तत्त्व जो भासते हैं सो भी कुछ उपजे नहीं आत्मसत्ता का किञ्चन इस प्रकार भासता है। जैसे नख और केश उपजते भी हैं और नाश भी हो जाते हैं; तैसे ही आत्मा में जगत् उपजता भी है और लीन भी हो जाता है। नाश नहीं जैसे नख और केश के उपजने और काटने से शरीर ज्यों का त्यों रहता है; तैसे ही जगत् के उपजने और लीन होने में आत्मा ज्यों का त्यों रहता है। हे रामजी! यह जगत् उपजा नहीं तो उसमें सत्य और असत्य

स्वप्न अपनी ही तेज है

कल्पना और स्मृति क्या कहिये और भीतर और बाहर क्या कहिये! अद्वैतसत्ता में कुछ कल्पना नहीं बनती। जो तुम कहो कि स्मृति भीतर होती है परन्तु भीतर से बाहर दृष्टि आती है तो भीतर अनुभव की अपेक्षा से हुई है सो भी उत्पन्न नहीं हुई तो मैं भीतर और बाहर क्या कहूँ! जैसे स्वप्ने की सृष्टि भासि आती है सो अपना ही अनुभव होता है और वही सृष्टिरूप हो भासता है वहाँ तो भीतर बाहर कुछ नहीं है; तैसे ही यह जगत् भी भीतर बाहर कुछ नहीं है सब भ्रमरूप है। जिसको इच्छा कहते हैं उसे ही स्मृति कहते हैं और विद्या, अविद्या; इष्ट, अनिष्ट आदि शब्द सब आत्मा के नाम हैं—आत्मा से भिन्न और पदार्थ कुछ नहीं। हे रामजी! जागकर देखो कि सब तुम्हारा ही स्वरूप है। मिथ्याभ्रम को अङ्गीकार करके भिन्न क्यों देखते हो? सर्वशब्द अर्थ विना कहीं नहीं है और शब्द अर्थ का विचार संकल्प से होता है। संकल्प तब फुरता है जब चित्त में अहंअभिमान होता है। उस चित्त को आत्मासार में लीन करो। जब चित्त को निर्वाण करोगे तब सब जगत् शान्त हो जावेगा। जैसे दर्पण में जगत्रूपी प्रतिबिम्ब होता है। जगत् कुछ वस्तु नहीं; जब चित्त निर्वाण हो जावेगा तब द्वैतकल्पना सब मिट जावेगी। यह जो मोक्षशास्त्र मैंने तुमसे कहा है इसके अर्थ विचारकर और संकल्प को त्यागकर अपने परमानन्दस्वरूप में स्थित हो रहो। ॐ

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिकैकपञ्चाशत्तमस्सर्गः २५१

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जगत् किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ। जैसे समुद्र में तरङ्ग स्वाभाविक फुरते हैं तैसे ही संवित्सत्ता से आदि सृष्टि फुरी है और जैसे जल स्वाभाविक द्रवता से तरङ्गरूप अपनी सत्ता से बढ़ता जाता है; तैसे ही आत्मसत्ता से जगत् विस्तार होता है सो आत्मा से कुछ भिन्न नहीं; आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है। जब चिन्मात्र आत्मसत्ता का आभास बहिर्मुख फुरता है तब अन्तःकरण चतुष्टय होते हैं और उसमें जो निश्चय होता है उसका नाम नेति है। वह प्रथम आभासमात्र अकस्मात् से कारण विना स्वाभाविक ही फुरि आया है और आभासमात्र है जब वह दृढ़ हो गया तब नेति स्थित हुई और वास्तव में द्वैत कुछ

नीति नीति

बना नहीं। जो सम्यक्दर्शी पुरुष हैं उनको सब आत्मा ही दृष्टि आता है—जैसे पत्र, फूल, फल, टहनी सब वृक्ष हैं भिन्न नहीं। हे रामजी! वृक्ष में जो फूल, फल और टहनी होती हैं सो किसी कारण से बुद्धिपूर्वक नहीं होतीं? तैसे ही इस जगत् को भी जानो। जो सम्यक्दर्शी हैं उनको भिन्न-भिन्नरूप भी पत्र, टास आदिक विस्तार एक वृक्ष ही भासता है; तैसे ही यथार्थ ज्ञानी को सब आत्मा ही भासता है और मिथ्यादृष्टि को भिन्न-भिन्न पदार्थ भासते हैं। हे रामजी! वृक्ष का देखनेवाला भी और होता है और दृष्टान्त में दूसरा कोई नहीं। चैतन्य आत्मा का आभास ही चैत है, वही चैतन्यरूप हो भासता है। उस चैतन्य आभास को असम्यक् दृष्टि से भिन्न-भिन्न पदार्थ दीखते हैं और सम्यक्दर्शी सबको आत्मरूप देखता है। जैसे पत्र, फूल फल और वृक्ष आपको भिन्न जाने। ज्ञानी और अज्ञानी सब आत्मरूप हैं—जैसे दीवार पर पुतलियाँ लिखी होती हैं सो दीवार से भिन्न नहीं होतीं तैसे ही सर्वगत आत्मरूपी दीवार के चित्र हैं सो आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे आकाश में शून्यता; फूलों में सुगन्ध; जल में द्रवता; वायु में स्पन्द और अग्नि में उष्णता है तैसे ही ब्रह्म में जगत् है। हे रामजी! जगत् आत्मा का आभास है इसलिये वही रूप है। यह जगत् भी अचैत चिन्मात्र है। जो तू कहे कि अचैत चिन्मात्र है तो पृथ्वी, पहाड़ आदिक आकार क्यों भासते हैं? तो हे रामजी! जैसे नित्यप्रति जो तुमको स्वप्ना आता है और उस अनुभव आकाश में पृथ्वी आदिक तत्त्व भासि आते हैं तो वही चिन्मात्र ही आकार होकर भासता है और कुछ नहीं; तैसे ही इसे भी जानो। यह सब जगत् जो तुमको भासता है सो अनुभवरूप है। जैसे चिन्मात्र आत्मा में सृष्टि आभासमात्र है; तैसे ही कारण कार्य भाव भी आभासमात्र है। परन्तु वही रूप है—आत्मसत्ता ही इस प्रकार होकर भासती है। ये पदार्थ कार्य-कारण अभ्यास की दृढ़ता से उपजे भासते हैं पर आदि सृष्टि किसी कारण से नहीं उपजी—पीछे कारण से कार्य हुए दृष्टि आते हैं। यद्यपि कार्य-कारण दृष्टि आते हैं तो भी कुछ उपजे नहीं सदा अद्वैतरूप है। जैसे स्वप्ने में नाना प्रकार

के कार्य-कारण भासि आते हैं परन्तु कुछ हुए नहीं सदा अद्वैतरूप है
तैसे ही जाग्रत् में भी जानो। पदार्थों की स्मृति भी स्वप्ने में होती है
और अनुभव भी स्वप्ने में होता है; जो स्वप्ना ही नहीं फुरा तो स्मृ
कहाँ है और अनुभव कहाँ है? न जगत् का अनुभव है और न जग
है; अनुभवसत्ता ही जगत्रूप हो भासती है जो जाग्रत्रूप है; जब उसक
अनुभव होगा तब न स्मृति रहेगी और न जगत् रहेगा। इसलिये हे
रामजी! जो अनुभवरूप है उसका अनुभव करो। यह जगत् भ्रमरू
है। जो उपजा नहीं सो स्वतः सिद्ध है और जो उपजा है और जिस
भासता है उसको उसी का रूप जानो भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्ने
पदार्थ भासते हैं सो उपजे नहीं परन्तु उपजे दृष्टि आते हैं सो अनुभ
में उपजे हैं। अनुभव स्वतः सिद्ध है उसमें जो पदार्थ भासते हैं सो अ
भवरूप हैं और अनुभवरूप ही इस प्रकार हो भासता है; तैसे ही ये स
अनुभवरूप हैं—भिन्न कुछ नहीं। यह सर्व जगत् आत्मरूप है; इसलि
हे रामजी! सर्व जगत् अकारण है और आत्मा का आभास है—कार
से कुछ नहीं बना। अनन्त ब्रह्माण्ड ब्रह्मसत्ता में आभास फुरते हैं औ
अज्ञानी को कार्य-कारण सहित भासते हैं। उसमें नेति हुई है पर ज
जागकर देखोगे तब सर्व अद्वैतरूप भासेगा न कोई नेति है और न
जगत् है। जबतक अज्ञान निद्रा में सोया हुआ है तबतक जो पदा
उस सृष्टि में है वही भासेगा और जैसा कर्म है सो भासेगा। यह जगत
रूपी स्वप्ना है जिसमें स्वर्गादिक इष्ट पदार्थ हैं और नरकादिक अनि
पदार्थ हैं और उनके प्राप्त होने का साधन धर्म अधर्म है। धर्म स्वर्ग
सुख का साधन है और अधर्म नरकदुःख का साधन है। जबतक
अविद्यारूपी निद्रा में सोया हुआ है तबतक इनको यथार्थ जानता है
पर जब जागेगा तब सब आत्मरूप होगा और इष्ट अनिष्ट कोई न
रहेगा। यह सब जगत् अनुभवरूप है और अनुभव सदा जाग्रत् ज्योति
है उसी को जानो। जिन पुरुषों ने इस अनुभव को नहीं जाना
उन्मत्त पशु हैं, क्योंकि वे आत्मबोध से शून्य हैं और सदा समीप
आत्मा को नहीं जानते इससे उन्मत्त हैं, क्योंकि उन्मत्त को भी अपना

आप भूल जाता है। जैसे किसी को पिशाच लगता है तब उसको अपना स्वरूप विस्मरण हो जाता है और पिशाच ही देह में बोलता है तैसे ही जिसको अज्ञानरूपी भूत लगता है वह उन्मत्त हो जाता है; अपने आत्मस्वरूप को नहीं जानता और विपर्यय बुद्धि से देहादिक को आत्मा जानता है और विपर्यय शब्द करता है। जिनको स्वरूप में अहंप्रतीति है उनको सर्व जगत् आत्मरूप भासता है। हे रामजी! आदि-सृष्टि किसी कारण से बनी होती तो उसके पीछे प्रलयादिक में कुछ शेष रहता पर वह अत्यन्त अभाव होती है, इसलिये सब जगत् अकारण है। जैसे चिन्तामणि से अकारण पदार्थ दृष्टि आता है, तैसे ही यह अकारण है। न कहीं संस्कार है और न स्मृति है सब आत्मा के पर्याय हैं आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। इससे सर्व जगत् को आत्मरूप जानो। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! जो संस्कार से अनुभव नहीं होता और अनुभव से स्मृति नहीं होती तो इस प्रकार प्रसिद्ध क्यों दृष्टि आते हैं? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! यह संशय भी तुम्हारा दूर करता हूँ। जैसे हाथी के बालक के मारने में सिंह को कुछ यत्न नहीं होता, तैसे ही इस संशय के नाश करने में मुझे कुछ यत्न नहीं है। जैसे सूर्य के उदय हुए तिमिर का अभाव हो जाता है; तैसे ही मेरे वचनों से तुम्हारा संशय दूर हो जावेगा। हे रामजी! यह सर्व जगत् चिन्मात्रस्वरूप है—उससे भिन्न नहीं। जैसे थम्भे में शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है परन्तु पुतलियाँ कुछ बनी नहीं उसके चित्त में पुतलियों का आकार है; तैसे ही आत्मरूपी थम्भे में चित्तरूपी शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है। हे रामजी! थम्भे में पुतलियाँ निकालते हैं तभी निकलती हैं परन्तु आत्मा तो अद्वैत और निराकार है उसमें और कुछ नहीं निकलता और उसमें वाणी की भी गम नहीं चैतन्यमात्र है अहं के फुरने से वह आपको चैतन्य जानता है और फिर आगे शब्दों के अर्थ कल्पता है शुद्धअधिष्ठान चैतन्य आपको जानना यही ज्ञान है। ईश्वर, जीव, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, देश, काल इत्यादिक शब्द और अर्थ फुरने ही में हुए हैं—जैसे एक ही समुद्र में द्रवता से आवर्त, तरङ्ग, फेन और बुद्बुदे नाम होते हैं, तैसे ही

सब ब्रह्म ही के नाम हैं ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं; ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है और फुरने से जगत् आकार हो भासता है और फुरने से रहित होने से जगत् आकार मिट जाता है परन्तु फुरने अफुरने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है। जैसे स्पन्द और निस्पन्द में वायु ज्यों की त्यों है और सब पदार्थ जो भासते हैं सो ब्रह्मस्वरूप हैं। जैसे स्वप्ने में अपना ही अनुभव पहाड़, वृक्ष आदिक नाना प्रकार का जगत् हो भासता है, तैसे ही ब्रह्मसत्ता ही जाग्रत् जगत्रूप हो भासती है और वही कहीं अन्तवाहक; कहीं आधिभौतिक; कहीं ईश्वर और कहीं जीव आदि हो भासता है इससे आदि लेकर शब्द अर्थसंयुक्त जो जीव फुरता गया है सो ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार स्थित हुई है। जैसे थम्भे में पुतलियाँ थम्भरूप होती हैं, तैसे ही आत्माकाश में जगत् आत्मरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे उसमें जगत् आभास है, तैसे ही स्मृति अनुभव भी आभास है। स्मृति जो संस्कार है उससे जगत् की उत्पत्ति तब कहिये जब स्मृति आभास न हो सो तो स्मृति संस्कार भी आभास है यह जगत् का कारण कैसे हो? स्मृति भी तब होती है जब प्रथम जगत् होता है सो जगत् नहीं तो स्मृति कैसे हो? इससे जगत् आभासमात्र है और इसका कारण कोई नहीं। हे रामजी! स्मृति संस्कार जगत् का कारण तब हो जब कुछ जगत् आगे हुआ हो सो तो कुछ हुआ नहीं और अनुभव उसका होता है जो पदार्थ भासता है सो तो इस जगत् के आदि कुछ जगत् का अंश न था फिर अनुभव कैसे कहूँ? जो अनुभव ही न हुआ तो स्मृति किसको हो और जब स्मृति ही न हुई तो फिर उससे जगत् कैसे कहूँ? इसलिये हे रामजी! आदि जगत् अकारण अकस्मात् फुरा है। जैसे रत्न की लाट होती है तैसे ही जगत् है और पीछे से कारण कार्य रूप भासता है। इससे हे रामजी! जिसका कारण कोई न हो उसे जानिये कि उपजा नहीं जिसमें भासता है वही रूप है अधिष्ठान से भिन्न कुछ नहीं। सब जगत् ब्रह्मस्वरूप है; स्मृति भी भ्रम में आभास फुरा है और अनुभव भी आभास है सो ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं और आभास भी कुछ फुरा नहीं, आभास की नाईं जगत् भासता है—आत्मासत्ता अद्वैत है जिसमें आभास, स्मृति, अनुभव, जाग्रत् और स्वप्न कल्पना कुछ नहीं तो क्या है? ब्रह्म ही है फुरना जो कुछ कहते हैं सो कुछ वस्तु नहीं। जैसे थम्भे में शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है, तैसे ही स्पन्द चैतन्य आत्मा में जगत् कल्पती है। शिल्पी तो आप भिन्न होकर कल्पता है और यह चित्तसत्ता ऐसी है कि अपने ही स्वरूप में कल्पती है और जगत्रूपी पुतलियाँ देखती है। आत्मा आकाशरूपी थम्भ है उसमें जगत् भी आकाशरूपी पुतलियाँ हैं। जैसे आकाश अपने आकाशभाव में स्थित है, तैसे ही ब्रह्म अपने ब्रह्मत्वभाव में स्थित है। जगत् भिन्न भी दृष्टि आता है परन्तु अचैत चिन्मात्रस्वरूप है भेदभाव को नहीं प्राप्त हुआ और विकारवान् भी दृष्टि आता है परन्तु विकार नहीं हुआ। जैसे स्वप्ने में आपही सब स्पष्ट भासते हैं, तैसे ही यह जगत् अपने आपमें भासता है परन्तु कुछ नहीं है। हे रामजी! यही आश्चर्य है कि मैंने अपने अनुभव को प्रकट करके उपदेश किया है; जीव आप भी जानते हैं स्वप्ने में नित्य देखते हैं और सुनते भी हैं परन्तु निश्चय करके जान नहीं सकते और स्वप्ने के पदार्थों को मूर्खता से त्याग नहीं सकते।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे शालभजनकोपदेशो नाम
द्विशताधिकद्विपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो पुरुष इन्द्रियों के इष्ट विषयों को पाकर सुख नहीं मानता और अनिष्ट विषयों को पाकर दुःख नहीं मानता; इनके भ्रम से मुक्त है और बड़े भोग प्राप्त हों तौ भी अपने स्वरूप से चलायमान नहीं होता उसको जीवन्मुक्त जानो। हे रामजी! सर्वशब्द अर्थ जिसको द्वैतरूप नहीं भासते उसे तुम जीवन्मुक्त जानो। जिस अविद्यारूपी जाग्रत् में अज्ञानी जागते हैं उसमें ज्ञानवान् सो रहे हैं और परमार्थरूपी जाग्रत् में अज्ञानी सो रहे हैं वे नहीं जानते कि परमार्थ क्या है? परन्तु उसमें जीवन्मुक्त स्थित हैं इस कारण ज्ञानवान् इष्ट अनिष्ट विषयों को पाकर सुखी और दुःखी नहीं होते उनका चित्त सदा आत्मपद में स्थित है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो पुरुष सुख पाकर सुखी नहीं होता और दुःख से दुःखी नहीं होता सो तो जड़ हुआ, चैतन्य तो

न हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! सुख दुःख तबतक होता है जबतक चित्त को जगत् का सम्बन्ध होता है। जब चित्त जगत् के सम्बन्ध से रहित चिन्मात्र होता है तब उपाधिक सुख दुःख नहीं रहते और जो अपने स्वभाव में स्थित पुरुष हैं वे परम विश्राम को प्राप्त होते हैं और सब कुछ करते हैं परन्तु स्वरूप से उनको कर्तव्य का उत्थान कुछ नहीं होता और सदा अद्वैत में निश्चय रहता है। नेत्रों से वे देखते हैं परन्तु द्वैत की भावना उनको कुछ नहीं फुरती। जैसे अत्यन्त उन्मत्त को सर्व पदार्थ दृष्टि भी आते हैं परन्तु पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, तैसे ही जिसकी बुद्धि अद्वैत में घनीभूत हुई है उसको द्वैतरूप पदार्थ नहीं भासते। जिनको द्वैत नहीं भासता उनको सुख दुःख कैसे भासे ? उन पुरुषों ने वहाँ विश्राम किया है जहाँ न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है। वे सर्वद्वैत से रहित अद्वैतरूपी शय्या में विश्राम कर रहे हैं और संसारमार्ग से उल्लंघ गये हैं। आत्मा के प्रमाद से जीव को कष्ट होता है। जो अपनी विभूति विद्या को त्यागकर प्रसन्न होता है और फिर संसार के क्रूरमार्ग में कष्ट पाता है वह मनुष्य नहीं मानों मृग है। वह संसाररूपी जङ्गल में कष्ट पाता है और जब तृषा से कायर होता है तब जल की ओर दौड़ता है पर जहाँ जाता है वहाँ मरुस्थल की नदी भासती है और जल प्राप्त नहीं होता; तब आगे दौड़ता है और तृषा अधिक बढ़ती जाती है। इस प्रकार दौड़ता-दौड़ता जड़ हो जाता है और दुःखी होकर मर जाता है परन्तु जल प्राप्त नहीं होता। यह जल, दौड़ना, जड़ता और मरना चारों भिन्न-भिन्न सुनो। हे रामजी ! मनरूपी तो मृग है जो संसाररूपी जङ्गल में आन पड़ा है और इन्द्रियों के विषयरूपी जलाभास को सत्य जानकर शान्ति के निमित्त तृष्णारूपी मार्ग में दौड़ता है पर वे विषय आभासमात्र हैं और उनमें शान्तिरूपी जल नहीं है इसलिये वह दौड़ता-दौड़ता जब वृद्ध अवस्था में जा पड़ता है तब जड़ हो जाता है और बड़े कष्ट को प्राप्त होता है पर शान्तिरूपी जल नहीं पाता इससे तृप्त भी नहीं हाता। हे रामजी ! मनुष्य मानों मज़दूर है जिसके शिर पर बड़ा भार है और क्रूरमार्ग में चला जाता है जहाँ उसको चोर ने लूट लिया

है इससे जलता है। हे रामजी ! मनुष्यरूपी मज़दूर के शीश पर जन्म का बड़ा भार है और संशयरूपी क्रूर मार्ग में खड़ा है। कर्मइन्द्रिय और ज्ञानइन्द्रिय के इष्ट अनिष्ट विषय हैं इससे राग द्वेषरूपी तस्कर ने विचाररूपी धन हर लिया है इससे वह राग, द्वेष और तृष्णारूपी अग्नि से जलता है। बड़ा आश्चर्य है कि ऐसे क्रूरमार्ग को त्यागकर उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है और अन्य आनन्द को त्यागकर परमपद आनन्द को प्राप्त हुए हैं। उन मुक्त पुरुषों को संसार का दुःख सुख व्याप नहीं सकता, क्योंकि वे परम अद्वैत शुद्धसत्ता को प्राप्त हुए हैं। वे सर्वको देखते हैं और ग्रहण और त्यागरूपी अग्नि को त्यागकर उन्होंने परमपद में विश्राम पाया है और सदा सोये रहते हैं। वास्तव में सुख से जो सोते हैं तो वही सोते हैं और उनके भीतर सदा शान्ति रहती है परन्तु जड़ता से रहित हैं और आकाश से भी अधिक सूक्ष्मसत्ता को प्राप्त हुए हैं। जैसे समुद्र में धूलि नहीं होती और सूर्य में तम नहीं होता तैसे ही उनमें इन्द्रियों के इष्ट विषयों की तृष्णा नहीं होती। उनसे रहित होकर उन्होंने विश्राम पाया है। यह आश्चर्य है कि अणु से अणु होकर और महत् से महत् होकर भी वे केवल विश्रामवान् हुए हैं। हे रामजी ! जो आत्मसत्ता की ओर से सोये पड़े हैं उनको दुःख होता है और ज्ञानवान् द्वैत जगत् की ओर जड़ हुए हैं और अपने स्वरूप में स्थित हैं इससे उनको दुःख कुछ नहीं। वे जाग्रत् की ओर से सोये हैं और उनको अविद्यक जगत् और दृश्य का सम्बन्ध दूर हो गया है जब वे इस ओर से सोये हैं तो उनको फिर दुःख कैसे हो ? वे पुरुष सदा अद्वैतरूप हैं। जो अनन्त जगत् का कर्ता है और आपको सदा अकर्ता जानता है ऐसे आश्चर्यपद में उन्होंने विश्राम पाया है। जगत् के समूहसत्ता समान में स्थिति होके उन्होंने विश्राम पाया है यह आश्चर्य है। वे सम्पूर्ण क्रिया को करते हैं परन्तु सदा अक्रियपद में स्थित हैं और सम्पूर्ण पदार्थों को स्वप्नवत् जानकर सुषुप्त हुए हैं। वे आकाश से भी अधिक सूक्ष्म हैं, क्योंकि आत्मसत्ता में विश्राम पाया है। वह आत्मसत्ता आकाश को भी व्याप रही है; उसी को आत्मवत् जान करके वे स्थित हुए हैं। जो परमस्वच्छपद है उसमें

सर्वशब्द अर्थ आकाशरूप हो जाते हैं और आकाश भी आकाश हो जाता है; उस पद में उन्होंने विश्राम किया है सो ही आश्चर्य है। नेत्र उसके खुले हुए हैं पर सुषुप्ति में स्थित हैं। क्या सुषुप्ति है कि दृग और दृश्यभाव उनका दूर हो गया है और जगत् के प्रकाश से रहित और परम प्रकाशरूप हैं। हे रामजी! बाहर के भोग पदार्थों से वे रहित हैं और आत्मा में स्थित हैं। प्रकट वे सोते हैं पर सुषुप्ति में जागते हैं और जाग्रत् से उनको सुषुप्ति है। उस सुषुप्ति से वे सोये हैं और कर्म करते हैं परन्तु कर्ता कारणभाव से रहित हैं। क्रोध भी करते हैं परन्तु क्रोध के फुरने से रहित हैं और सर्व ओर से प्रकाशवान् निर्भय होकर विश्राम करते हैं। कामना करते भी दृष्टि आते हैं परन्तु तृष्णा से रहित हैं और निस्संकल्प पद में स्थित हुए हैं। यह आश्चर्य है कि जिस क्रिया की ओर वे देखते हैं उसी ओर उनको शान्ति भासती है, क्योंकि एक मित्र उनके साथ रहता है उससे कोई दुःख उनके निकट नहीं आता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तलक्षणवर्णनं नाम
द्विशताधिकत्रिपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५३ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वह मित्र कौन है? ज्ञानी का कोई कर्म मित्र है अथवा आत्मा में विश्राम का नाम मित्र है; यह संक्षेप पूर्वक मुझसे कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी निष्काम कर्म हैं वह अपने सुकर्म हैं अर्थात् अपना ही प्रयत्न उनका मित्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ये तीनों ताप सदा अज्ञानी को जलाते हैं पर ज्ञानी को नहीं होते। जो बड़ा कष्ट प्राप्त हो जिसे लाँघना कठिन है और बहुत कोप हो सो भी उसको स्पर्श नहीं करता। जैसे कमल को जल नहीं स्पर्श करता, तैसे ही ज्ञानी को कष्ट नहीं स्पर्श करता, क्योंकि वह मित्र उसके साथ रहता है। जैसे बालक का मित्र बालक होता है सो बड़े होने पर भी उसका हितू होता है, तैसे ही चिरकाल जो ज्ञानवान् ने अभ्यास किया है सो ही अभ्यास उसका मित्र हो रहता है और दुष्ट क्रिया की ओर उसे नहीं बिचरने देता शुभ की ओर बर्ताता है। जैसे पिता पुत्र को अशुभ की ओर से बर्जकर शुभ

की ओर लगाता है, तैसे ही विचाररूपी मित्र उसको तृष्णा से वर्जन करता है और आत्मा की ओर स्थित करता है। वह राग द्वेषरूपी अग्नि से निकालकर समतारूपी शीतलता को उसे प्राप्त करता है। ऐसा विचाररूपी उसका मित्र है जो सर्व दुःख क्लेशादि से उसे तार ले जाता है-जैसे मल्लाह नदी से तार ले जाता है। हे रामजी! विचाररूपी मित्र बहुत सुन्दर है; शान्तरूप है और सर्व मैल को जलानेवाली अग्नि है। जैसे सुवर्ण के मैल को अग्नि जलाकर निर्मल करती है, तैसे ही विचाररूपी अग्नि राग-द्वेषरूपी मल को जलाती है। जब विचाररूपी मित्र आता है तब स्वाभाविक चेष्टा निर्मल हो जाती है और वेदोक्त बिचरता है। तब सब कोई उसको देखकर प्रसन्न होता है और दया, कोमलता, अमान और अक्रोध आदिक गुण आन प्राप्त होते हैं। जैसे तिलों में तेल, फूल में सुगन्ध और अग्नि में उष्णता रहती है, तैसे ही विचार में शुभ आचार रहते हैं। विचाररूपी मित्र शूरमा है जो कोई शत्रु होता है प्रथम वह उसको मारता है और अज्ञानरूपी शत्रु को नाश करता है—जैसे सूर्य तम को नाश करता है—और दीपक के प्रकाशवत् साथ होता है एवं विषय भोगरूपी अन्धे कूप में जो मैल है उसमें गिरने नहीं देता और सर्व ओर से रक्षा करता है। जिस ओर से वह पुरुष जाता है उस ओर सबको प्रसन्नता उपजती है। हे रामजी! उसका वचन कोमल, मधुर और स्निग्ध होता है और वह उदारात्मा क्षोभ से रहित और लोगों पर उपकार और प्रसन्नता के लिये बोलता है और सुहृदता; शान्ति और परमार्थ का कारण है। हे रामजी! वचन तो उसकी प्रसन्नता के लिये होते हैं और आप भी सदा प्रसन्न रहता है। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने भर्तार को सदा प्रसन्न रखती है, तैसे ही विचाररूपी मित्र उसको सदा प्रसन्न रखता है और शुभ आचार में चलाता है। दान, तप, यज्ञादिक शुभ क्रिया वह आप भी करता है और लोगों से भी कराता है। जिसके अन्तःकरण में विवेकरूपी मन्त्री आता है वहाँ वह अपने परिवार को भी साथ ले आता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! उसका परिवार कौन है; उसका स्वरूप क्या है और क्या आचार है

संक्षेप से कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! स्नान, दान, तपस्या और ध्यान ये चारों उसके बेटे हैं। स्नान तो यह है कि वह सदा पवित्र रहता है और यथायोग्य और यथाशक्ति दान करता है। बाहर की वृत्ति को भीतर स्थित करने का नाम तप है और आत्मा में चित्तवृत्ति लगाने का नाम ध्यान है। ये चारों उसके बेटे हैं जो आत्मदर्शी हैं परन्तु वृत्ति को सदा स्वाभाविक अन्तर्मुख करके व्यवहार करते हैं। मुदिता उसकी स्त्री है—सदा प्रसन्न रहने का नाम मुदिता है—जो नमस्कार के योग्य है। जैसे द्वितीया के चन्द्रमा की रेखा को देखकर सब कोई प्रसन्न होता है और नमस्कार करता है तैसे ही उसको देखकर सब कोई प्रसन्न होता है और नमस्कार करता है। मुदितारूपी स्त्री के साथ करुणा और दयानामा एक सहेली रहती है और समतारूपी द्वारपालनी सम्मुख खड़ी रहती है। जब विवेक राजा अन्तःपुर में आता है तब वह सम्मुख होकर सब स्थान दिखाती है और सदा संगी रहती है। जिस ओर राजा देखता है उस ओर समता ही दृष्टि आती है जो आनन्द के उपजावनेवाली है। वह दो पुत्र साथ लेकर पुरी में विचरती है और जिस ओर राजा भेजता है उस ओर धैर्य और धर्म लिये फिरती है। जब राजा सवार होकर चलता है तब वह भी समतारूपी वाहन पर आरूढ़ होकर राजा के साथ जाती है और जब राजा विषयरूपी पाँचों शत्रुओं से लड़ाई करता है तब धैर्य और संतोष मन्त्री मन्त्र देता है और विचाररूपी बाण से उनको नष्ट करता है। हे रामजी ! विचार सदा उसके संग रहता है और सब कार्य को करता है। यह चेष्टा उससे स्वाभाविक होती है; आप सदा अमान रहता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अभिमान उसको कोई नहीं फुरता जैसे काग़ज़ पर मूर्ति लिखी होती हैं जो अभिमान से रहित है, तैसे ही वह भी अभिमान से रहित है और परमार्थ निरूपण से रहित निरर्थक वचन नहीं बोलता जैसे पाषाण नहीं सुनता—और जो क्रिया शास्त्रों और लोगों से निषेध की गई है वह नहीं करता जैसे शव से कुछ क्रिया नहीं होती, तैसे ही उसको क्रिया का उत्थान नहीं होता। जहाँ ज्ञानवान् और जिज्ञासुओं की सभा

होती है वहाँ वह परमार्थ के निरूपण को शेषनाग और बृहस्पति की नाईं होता है और सावधानता इत्यादिक जो शुद्ध क्रिया है सो उसमें स्वाभाविक होती है। जैसे सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि में प्रकाश स्वाभाविक होता है, तैसे ही उसमें शुभ क्रिया स्वाभाविक होती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवन्मुक्तिबाह्यलक्षणव्यवहारवर्णनं नाम द्विशताधिकचतुःपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५४ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जगत् वास्तव में ज्ञानस्वरूप है और आत्मसत्ता का चमत्कार है; और कुछ बना नहीं ब्रह्मसत्ता ही फुरने से इस प्रकार हो भासती है। इसका कारण भी कोई नहीं। जब महाप्रलय थी तब शब्द-अर्थ द्वैत कुछ न था उस अद्वैतसत्ता से जगत् फुर आया है। जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है सो बीज भी जगत् का कोई न था तो किस कारण से उत्पन्न हुआ और तो कोई कारण न था इससे अब भी जगत् को महाप्रलयरूप जानो। हे रामजी ! न कोई पृथ्वी आदिक तत्त्व हैं; न जगत् है, न आभास है और न फुरना है। जैसे आकाश के फूलों में सुगन्ध नहीं होती तैसे ही इनका होना भी नहीं है केवल स्वच्छ ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। रूप, इन्द्रियाँ और मन भी ब्रह्मस्वरूप है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव है और मन ही नाना प्रकार का जगत् आकार और इन्द्रियाँ होकर भासता है और तो कुछ नहीं; तैसे ही यह जगत् भी वही रूप है। हे रामजी ! सर्व जगत् आत्मरूप है। जैसे कारण विना आकाश में दूसरा चन्द्रमा भासि आता है सो कुछ हुआ नहीं; तैसे ही यह जगत् आत्मा का आभास है और जिसमें यह आभास फुरा है सो अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता है। ये सर्व पदार्थ जो तुमको भासते हैं उन्हें ब्रह्मस्वरूप जानो। जैसे मनोराज की सृष्टि होती है सो अपने अनुभव में होती है और उसका स्वरूप अनुभव से भिन्न नहीं होता, तैसे ही सृष्टि के आदि जो अनुभव होता है सो अनुभवरूप है और कुछ उपजा नहीं—वही अनुभवसत्ता इस प्रकार भासती है। हे रामजी ! देश से देशान्तर को जो संवित् प्राप्त होती है उसके मध्य में जो अनुभव है सो ही तुम्हारा स्वरूप है और सब आभासमात्र है। जाग्रत् देश को

त्यागकर जो स्वप्नशरीर के साथ नहीं मिली और जाग्रत् स्वप्नदेश के म
में ब्रह्मसत्ता है वही तुम्हारा स्वरूप है। वह प्रकाशरूप और अपने आप
स्थित है और जाग्रत् जगत् जो भासता है सो भी उसी का स्वभाव है
जैसे रत्नों का स्वभाव चमत्कार है; अग्नि का स्वभाव उष्ण है, जल का
स्वभाव द्रव है और पवन का स्वभाव फुरना है, तैसे ही ब्रह्म का स्वभा
जगत् है। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है, तैसे ही आत्मा में
जगत् भासता है। हे रामजी! यह आश्चर्य है कि अज्ञानी सत्य को
असत्य और असत्य को सत्य जानते हैं; जो अनुभवसत्ता है उसको
छिपाते हैं और शशे के सींगवत् जगत् को प्रत्यक्ष जानते हैं। वे मूर्ख हैं
सबका प्रकाशक आत्मसत्ता है। जिसको तुम सूर्य देखते हो सो वह
परमदेव सूर्य होकर भासता है और चन्द्रमा और अग्नि उसी के प्रका
से प्रकाशते हैं निदान सबका प्रकाश और तेजसत्ता वही है। जैसे
सूर्य की किरणों में सूक्ष्म अणु होते हैं; तैसे ही आत्मसत्ता में सूर्या
दिक भासते हैं। जिसको साकार और निराकार कहते हो वह स
शशे के सींगवत् हैं। ज्ञानवान् को ऐसे ही भासता है कि जगत् कुछ
उपजा नहीं तो मैं क्या कहूँ? जहाँ सर्व शब्दों का अभाव हो जाता है
और उसके पीछे चिन्मात्रसत्ता शेष रहती है वहाँ शून्य का भी अभाव
हो जाता है। हे रामजी! जिनको तुम जीता कहते हो सो जीता भी
कोई नहीं और जो जीता नहीं तो मुआ कैसे हो? जो कहिये जीता है
तो जैसे जीता है तैसे ही मृतक है; मृतक और जीते में कुछ भेद नहीं।
इसलिये सर्व शब्दों से रहित और सबका अधिष्ठान वही सत्ता है। उसमें
नानात्व भासता भी है परन्तु हुआ कुछ नहीं। पर्वत जो स्थूल दृष्टि
आते हैं सो अणुमात्र भी नहीं—जैसे स्वप्ने में पृथ्वी आदिक तत्त्व भासते
हैं परन्तु कुछ हुए नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है
और उसी में जगत् भासता है। हे रामजी! जो परमार्थसत्ता से जगत्
भास आया सो तो और कुछ न हुआ; इससे वही सत्ता जगत्रूप हो
भासती है। कोई कहते हैं कि आत्मा में है और कोई कहते हैं कि
आत्मा में कुछ नहीं है पर आत्मा में दोनों शब्दों का अभाव है और

अभाव का भी अभाव है। यह भी तुम्हारे जानने के निमित्त कहता हूँ; वह तो स्वस्थ और परम शान्तरूप है और उसमें और तुम्हारे में कुछ भेद नहीं। वह परिपूर्ण अच्युत अनन्त और अद्वैत है और वही जगद्रूप होकर भासता है जैसे कोई पुरुष शयन करता है तो सुषुप्ति में अद्वैतरूप हो जाता है; फिर सुषुप्ति से स्वप्न फुर आता है और फिर सुषुप्ति में लीन हो जाता है तो उपजा क्या और लीन क्या हुआ? स्वप्ने के आदि भी अद्वैतसत्ता थी; अन्त में भी वही रही और मध्य में जो कुछ भासा वह भी वही रूप हुआ, आत्मा से भिन्न तो कुछ न हुआ? इसलिये सर्व जगत् ब्रह्मस्वरूप है—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। हे रामजी! हमको तो सदा अनुभवरूप जगत् भासता है। हम नहीं जानते कि अज्ञानी को क्या भासता है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि से जो जागा है उसको अद्वैत अपना आप भासता है, तैसे ही तुरीया में भासता है। तुरीया और जाग्रत् में भेद कुछ नहीं, जाग्रत् ही तुरीया का नाम है और जाग्रत् तुरीयारूप है बल्कि यह भी क्या कहना है सब ही अवस्था तुरीयारूप हैं। तुरीया जाग्रत् सत्ता का नाम है। जो अनुभव साक्षी ज्योति है सो जाग्रत् में भी साक्षीरूप है; स्वप्ने में भी साक्षीरूप है और सुषुप्ति में भी साक्षीरूप है। इसलिये सब तुरीयारूप है परन्तु जिसको स्वरूप का अनुभव हुआ है उस ज्ञानवान् को ऐसे ही भासता है और अज्ञानी को भिन्न-भिन्न अवस्था भासती हैं। हे रामजी! एक पदार्थ का वृत्ति ने त्याग किया पर दूसरे पदार्थ में नहीं लगी वह जो मध्य में अनुभव ज्योति है उसको तुम आत्मसत्ता जानो और उसमें जो फिर कुछ भासा उसे भी वही रूप जानो। जैसे जाग्रत को त्यागकर स्वप्ने के आदि साक्षी अनुभवमात्र होता है और उस सत्ता में स्वप्ने का शरीर और पदार्थ भासते हैं वह भी आत्मरूप हैं; तैसे ही जो कुछ जाग्रत् शरीर और पदार्थ भासते हैं सो आत्मरूप हैं। जब तुम ऐसे जानोगे तब तुमको कोई दुःख स्पर्श न करेगा। जैसे स्वप्ने की सृष्टि में अपने स्वरूप की स्मृति आने से दुःख भी सुख होता है और बोलना, चालना, खाना, पीना, देना, लेना आदि शब्द और अर्थ और द्वैतरूप युद्ध कर्म सब अद्वैत अपना आप

हो जाते हैं और व्यवहार भी सब करता है परन्तु अपने निश्चय में कुछ नहीं फुरता, तैसे ही जो पुरुष अपने स्वरूप में जागे हैं उनको सब जगत् आत्मरूप ही भासता है। जैसे अग्नि में उष्णता और बरफ़ में शीतलता स्वाभाविक है, तैसे ही ज्ञानवान् की आत्मदृष्टि स्वाभाविक है। और लोगों को यह दृष्टि यत्न से प्राप्त होती है पर ज्ञानवान् को स्वाभाविक होती है जिसको तुम इच्छा कहते हो सो ज्ञानवान् को सब भ्रमरूप है और अनिच्छा भी ब्रह्मरूप भासती है। ज्ञानवान् को आत्मानन्द प्राप्त हुआ है वह अपना जो स्वभाव है उसमें सदा स्थित है इससे उसको कोई कल्पना नहीं उठती और वह विद्यमान निरावरण दृष्टि लेकर स्थित होता है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्वैतैकताऽभाववर्णनं नाम
द्विशताधिकपञ्चपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे स्वप्ने में पृथ्वी आदिक पदार्थ भासते हैं सो अविद्यमान हैं–कुछ हैं नहीं; तैसे ही पितामह जो आदि ब्रह्माजी हैं उनको भी आकाशरूप जानो। वह भी कुछ हैं नहीं अर्थात् आत्मसत्ता से भिन्न हुए नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग और बुद्बुदे उठते हैं सो स्वाभाविक हैं और तरङ्ग शब्द कहना भी उनको नहीं बनता वे तो जलरूप हैं, तैसे ही जिनको तुम ब्रह्माजी कहते हो सो और कोई नहीं आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। ब्रह्माजी ही विराट् हैं जैसे पत्र फूल, फल और टास वृक्ष के अङ्ग हैं, तैसे ही सब भूत उस विराट् के अङ्ग हैं। जो (विराट्) ब्रह्मा ही आकाशरूप है तो उसके अङ्ग जगत् की वार्त्ता क्या कहिये? हे रामजी! विराट् के न प्राण हैं, न आकार है न इन्द्रियाँ हैं; न मन है, न बुद्धि है, और न इच्छा है केवल अद्वैत चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है। जो विराट् ही नहीं तो जगत् कैसे हो? जो तुम कहो आकाशरूप के अङ्ग कैसे भासते हैं? तो हे रामजी! जैसे स्वप्ने में बड़े पहाड़ और पर्वत प्रत्यक्ष दृष्टि आते हैं परन्तु कुछ बने नहीं आकाशरूप हैं; तैसे ही आदि विराट् भी कुछ बना नहीं आकाशरूप है तो उसके अङ्ग में आकाररूप कैसे कहूँ? सब आकार संकल्पपुर की नाईं कल्पित हैं। एक आत्मसत्ता ही सर्वदाकाल ज्यों की

त्यों स्थित है उसमें स्मृति और अनुभव क्या कहिये? अनुभव और स्मृति भी उसी का आभास है। जैसे समुद्र में तरङ्ग आभास होते हैं, तैसे ही आत्मा में अनुभव और स्मृति भी आभास है। स्मृति भी उसकी होती है जिसका प्रथम अनुभव होता है सो अनुभव भी जगत् में होता है पर जहाँ जगत् ही उपजा न हो तो अनुभव और स्मृति उसको कैसे हो? इसलिये न अनुभव है और न स्मृति है इस कल्पना को त्याग दो। जहाँ पृथ्वी होती है तहाँ धूलि भी होती है पर जहाँ पृथ्वी से रहित आकाश ही हो वहाँ धूलि कैसे उड़े? इसी प्रकार जहाँ पदार्थ होते हैं वहाँ स्मृति अनुभव भी होता है और जहाँ पदार्थ ही नहीं तो यह कैसे हो? इससे दोनों का अभाव है। रामजी ने पूछा, हे ज्ञानवानों में श्रेष्ठ! स्मृति का अनुभव तो प्रत्यक्ष होता है? प्रथम पदार्थ का अनुभव होता है पीछे उसकी स्मृति होती है और उस स्मृतिसंस्कार से फिर अनुभव होता है तो ऐसे ही ब्रह्मादिक का क्यों नहीं होता ये तो प्रत्यक्ष भासते हैं? तुम कैसे इनका अभाव कहते हो और अभाव में विशेषता क्या है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! स्मृति से अनुभव वहाँ होता है जहाँ कार्य-कारण भाव होता है। ब्रह्मा से आदि लेकर काष्ठपर्यन्त सर्व जगत् जो तुमको भासता है सो सब आकाशरूप है कुछ बना नहीं और अविद्यमान ही भ्रम से विद्यमान भासता है। जैसे सूर्य की किरणों में जल आभास है सो अविद्यमान है पर भ्रम से जल भासता है; तैसे ही यह जगत् भ्रम से भासता है। स्मृति उसकी होती है जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव होता है। जो कहिये कि ब्रह्मादिक स्मृति संस्कार से उपजी है तो ऐसे नहीं बनता, क्योंकि प्रथम तो ज्ञानवान् स्मृति से नहीं होता तो उनका स्मृति कारण कैसे कहिये? और द्वितीय यह है कि इस जगत् के आदि कोई जगत् न था जिसकी स्मृति मानिये। इस जगत् के आदि केवल अद्वितीय आत्मसत्ता थी उसमें स्मृति क्या और अनुभव क्या? इसलिये ब्रह्मादिक और जगत् किसी कारण कार्यभाव से नहीं उपजे अकारण हैं। हे रामजी! प्रथम तो तुम यह देखो कि ज्ञानी को जगत् नहीं भासता तो स्मृति किसको कहिये? उसको तो केवल ब्रह्मसत्ता ही भासती है। जैसे सूर्य को रात्रि की स्मृति

नहीं होती; तैसे ही ज्ञानी को जगत् की स्मृति नहीं होती हमारे निश्चय में तो यह है कि जगत् न हुआ है और न आगे होगा केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है सो अद्वैत है और उसी का सब आभास है जो आभास को सत्य जानते हो तो स्मृति को भी सत्य जानो और जो आभास को असत्य जानते हो तो स्मृति को भी असत्य जानो। जैसे स्वप्न में सृष्टि का आभास होता है और उसमें अनुभव और स्मृति होती है पर जागे से सृष्टि अनुभव स्मृति का अभाव हो जाता है; तैसे ही अद्वैत परमात्मसत्ता के जाग्रत् में अनुभव और स्मृति का अभाव है और उसमें जगत् कुछ बना नहीं। जैसे कोई पुरुष मरुस्थल में भ्रम से नदी देखता है और सत्य जानकर उसकी स्मृति करता है पर वह नदी तो कुछ नहीं है जो नदी ही असत्य है तो उसकी स्मृति कैसे सत्य हो; तैसे ही अज्ञानी के निश्चय में जगत् भासित हुआ है सो जगत् ही असत्य है तो उसकी स्मृति अनुभव कैसे हो? ज्ञानवान् के निश्चय में ऐसे ही भासता है। हे रामजी! स्मृति पदार्थ की होती है सो पदार्थ कोई नहीं सर्व ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है और जैसे-जैसे उनमें फुरना होता है तैसा ही होकर भासते हैं परन्तु और कुछ वस्तु नहीं। जैसे वायु चलता भी है और ठहरता भी है पर चलने और ठहरने में वायु को कुछ भेद नहीं; तैसे ही ज्ञानवान् को जगत् के फुरने अफुरने में ब्रह्मसत्ता अभेद भासती है और कारण कार्य नहीं भासता। जैसे पत्र, टहनी, फूल और फल सब वृक्ष के अवयव हैं तैसे ही जगत् आत्मा के अवयव हैं; आत्मा में प्रकट होते हैं और फिर आत्मा में ही लीन भी हो जाते हैं भिन्न कुछ नहीं। जब चित्त स्वभाव फुरता है तब जगत् होकर भासता है कुछ आरम्भ और परिणाम करके नहीं होता—आभासमात्र है। जैसे घट पट आदिक आत्मा का आभास है, तैसे ही स्मृति भी आभास है। स्मृति भी जगत् में उदय हुई है जो जगत् ही असत्य है तो स्मृति कैसे सत्य हो? जो यथार्थदर्शी हैं उनको सब ब्रह्मरूप भासता है। हमको न कुछ मोक्ष उपाय भासता है और न इसका कोई अधिकारी भासता है; हमारे निश्चय में अद्वैत ब्रह्मसत्ता ही भासती है। जैसे नट स्वाँग धारता है पर सब स्वाँगों को आभासमात्र जानता है किसी को सत्य नहीं जानता पर उससे भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही हमको ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं भासता। अज्ञानी के निश्चय को हम नहीं जानते। जिस प्रकार उसको जगत् शब्द है सो उसके निश्चय को कोई नहीं जानता। हमारे निश्चय में सब चिन्मात्र है। अज्ञानी को जगत् द्वैतरूप भासता है और विपर्यय भावना होती है और ज्ञानवान् को चिन्मात्र से भिन्न कुछ नहीं भासता। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने अनुभव में स्थित होती है और सर्व का अधिष्ठान अनुभवसत्ता है परन्तु निद्रादोष से भिन्न-भिन्न भासती है; तैसे ही अज्ञानी को जगत् भिन्न-भिन्न भासता है और जो जागे हुए ज्ञानवान् हैं उनको भिन्न कुछ नहीं भासता और न उनको अविद्या, न मूर्खता और न मोह भासता है उन्हें सब अपना आप ही ब्रह्मस्वरूप भासता है। जहाँ कुछ दूसरी वस्तु नहीं बनी वहाँ स्मृति और अनुभव किसका कहिये? यह कलना सब ही मिथ्या है। हे रामजी! सब अर्थों का जो अर्थभूत है सो ब्रह्म है उसी में सब पदार्थ कल्पित हैं। स्मृति और अनुभव मन में होता है सो मन आत्मा में ऐसे है जैसे सूर्य की किरणों में जलाभास होता है तो उसमें स्मृति और अनुभव क्या कहिये? सब कल्पित है। पृथ्वी आदिक तत्त्व आत्मा में कुछ बने नहीं ब्रह्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है—ज्ञानवान् को सदा ऐसे ही भासता है। आभास भी आत्मा में आभास है और कारण-कार्य भाव कदाचित् नहीं भासता। जैसे सूर्य को अन्धकार कदाचित् नहीं भासता; तैसे ही ज्ञानवान् को कारण कार्यभाव दिखाई नहीं देता। जैसे स्वप्न के आदि अद्वैतसत्ता होती है और उसमें अकारण स्वप्न की सृष्टि फुर आती है; तैसे ही अद्वैतसत्ता में अकारण आदि सृष्टि फुर आई है। न पृथ्वी है और न कोई दूसरा पदार्थ है सब चिदाकाशरूप है और कुछ बना नहीं तो आभासमात्र जगत् में स्मृति की कल्पना कैसे हो?

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे स्मृत्यभावजगत्परमाकाश-
वर्णनन्नाम द्विशताधिकषट्पञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५६ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जिसमें सर्व अनुभव होता है उसके देह में अहंप्रत्यय किस प्रकार होती है? वह तो सर्वात्मा है उस सर्वात्मा को

एक देह में अहंप्रत्यय क्योंकर होती है और काष्ठ पाषाण पर्वत और चैतन्यता का अनुभव किस प्रकार हो गया है वह तो अद्भुत स्वरूप है उसमें जड़ चैतन्य ये दोनों भेद कैसे हुए ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जैसे शरीर में हाथ आदिक अपने अङ्ग हैं और उन सब अङ्गों में एक शरी फुरना व्यापा हुआ है पर जो उन अङ्गों में एक अङ्ग को पकड़कर कहे कि नाम ले कौन है तब वह अपना नाम कहता है; तो तुम देखो कि उस एक अङ्ग में अपना आप कहा परन्तु सर्व अङ्गों में उसकी आत्मता तो नाश नहीं हो जाती है; तैसे ही आत्मा अनुभवरूप है तौ भी एक अङ्ग में उसकी आत्मता होते हुए सर्वात्मता खण्डित तो नहीं हो जाती। जैसे पत्र, फूल, फल और टहनी आदिक सर्व अङ्ग में वृक्ष एक ही व्याप हुआ है परन्तु जो एक टहनी अथवा पत्र को पकड़कर कहता है कि य वृक्ष है तो इसके एक अङ्ग में वृक्षभावना कहना वृक्ष का सर्वात्मभाव न नहीं होता; तैसे ही सर्वात्मा का एक देह में अहंभाव सिद्ध होता है जड़ और चैतन्य भी दोनों भाव एक ही ने धारे हैं और एक ही के दोनों स्वरूप हैं। जैसे एक ही शरीर में दोनों सिद्ध होते हैं और हाथ, पाँ आदिक जड़ हैं और नेत्र इसके द्रष्टा चेतन हैं सो एक ही शरीर दोनों हैं और दोनों एक ही शरीर के स्वरूप हैं तैसे ही एक आत्मा ने दोनों धारे हैं और एक ही के स्वरूप हैं। जैसे वृक्ष अपने अङ्ग को धारता है और वृक्ष स्वभाव को भी धारता है तैसे ही सर्वात्मा सर्व को धारता है जैसे स्वप्न की सृष्टि को अनुभव ही धारता है और सर्वक्रिया को भी धारता है; तैसे ही आत्मसत्ता सर्वजगत् और जगत् की सर्वक्रिया को धारती है, क्योंकि सर्वात्मा है और जो सर्वात्मा है सो क्यों न धारे? जैसे एक ही समुद्र में अनेक तरङ्ग उठते हैं परन्तु सब ही समुद्र के आश्रय हैं और वही रूप हैं; तैसे ही सर्वजीव परमात्मा में फुरते हैं; परमात्मा के आश्रय हैं और वही रूप हैं। जैसे तरङ्ग आपको जाने कि मैं जल ही हूँ तो तरङ्ग उसकी संज्ञा जाती रहती है जलरूप ही दिखता है; तैसे ही जीव जब परमात्मा से आपको अभेद जाने कि 'मैं आत्मा ही हूँ' तब उसके जीवत्वभाव का अभाव हो जाता है, परमात्मा ही दीखता है। हे रामजी! जैसे जल में द्रवता से तरङ्ग भासते हैं परन्तु तरंग जल से भिन्न कुछ वस्तु नहीं, तैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन से आदि ब्रह्मा फुरा है और उसने यह जगत् मनोराज से कल्पा है सो आकाशरूप निराकार है और कुछ बना नहीं। जो विराट् ही आकाशरूप हुआ तो उसका शरीर कैसे साकार हो—वह भी निराकार है। जैसे अपना अनुभव स्वप्ने में पर्वत, नदियाँ, जड़ और चैतन्य होकर भासता है; तैसे ही सर्व जगत् जो भासता है सो आत्मरूप है। हे रामजी! जैसे एक निद्रा के दो स्वरूप हैं—स्वप्न और सुषुप्ति; तैसे ही एक ही आत्मा ने जड़ और चैतन्य दो स्वरूप धारे हैं। जगत् आत्मा में कुछ बना नहीं यह आभासरूप है और आत्मसत्ता ही अपने किंचनद्वारा जगत्रूप हो भासती है। जैसे आकाश में घन शून्यता के कारण नीलता भासती है सो अविचारसिद्ध है—नीलता कुछ बनी नहीं; तैसे ही आत्मा में घन चैतन्यता से जगत् भासता है परन्तु जगत् आकार कुछ बना नहीं सर्वदाकाल आत्मा अद्वैत निराकार है। अनन्तसृष्टि आत्मा में आभास उपज कर लीन हो जाती है और आत्मा ज्यों का त्यों है। जैसे समुद्र में तरङ्ग उपजकर लीन हो जाते हैं परन्तु जलरूप हैं; तैसे ही परब्रह्म में सृष्टि परब्रह्मरूप है। हे रामजी! यह जगत् विराट्र का शरीर है; महाकाश उसका शीश है; दशों दिशा उसकी भुजा हैं; पृथ्वी उसके चरण हैं; पातालरूप तली हैं, अन्तरिक्ष मध्यलोक उदर है; सर्व जीव उसकी रोमावली हैं और इनसे लेकर सर्वपदार्थ विराट्र के अङ्ग हैं सो विराट्र आकाशरूप है। जैसे विराट्र ब्रह्माजी आकाशरूप है, तैसे ही उसका जगत् भी आकाशरूप है। इससे सर्व जगत् विराट्ररूप है सो ब्रह्म ही है और कुछ बना नहीं। चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र हैं; मैं और तुमसे आदि लेकर सर्व शब्दों का अधिष्ठान ब्रह्म ही है सो ब्रह्म मैं हूँ। जिसमें दूसरा बना नहीं सदा मैं अपने ही आपमें स्थित हूँ। हे रामजी! शून्यवादी पाँचरात्रिक, शैवी, शक्ति आदि जो शास्त्र हैं उन सबका अधिष्ठान ब्रह्मरूप है और सबका साररूप वही सर्वात्मरूप है। जैसा किसी को निश्चय होता है तैसा ही उसको वह सर्वरूप होकर फल देता है और कुछ बना नहीं।

इति श्रीयो॰ ब्रह्मजगदेकताप्रति॰ नाम द्विशताधिकसप्तपञ्चाशत्तमस्सर्गः॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इस जगत् के आदि शुद्ध ब्रह्मसत्ता थी और उसमें जो जगत् आभास फुरा है उसको भी तुम वही स्वरूप जानो जैसे स्वप्ने के आदि अनुभव आकाश होता है और उसमें स्वप्ने की सृष्टि फुर आती है सो अनुभवरूप है भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है भिन्न नहीं। जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्गरूप हो भासता है, तैसे ही चैतन्य ब्रह्म जगतरूप हो भासता है सो जगत् भी वही रूप है। हे रामजी ! वास्तव में कोई दुःख नहीं है; दुःख और सुख अज्ञान से भासते हैं। जैसे एक निद्रा में दो वृत्ति भासती हैं–एक स्वप्नवृत्ति और दूसरी सुषुप्तिवृत्ति; तैसे ही अज्ञानी की दो वृत्ति होती हैं–सुख की और दुःख की और ज्ञानवान् ब्रह्मरूप है। जैसे कोई पुरुष स्वप्ने से जाग उठता है तो उसको स्वप्ने की सृष्टि असत्यरूप भासती है तैसे ही ज्ञानवान् को यह सृष्टि असत्य भासती है। जैसे जिसने मरुस्थल की नदी के जल का अत्यन्ताभाव जाना है वह जलपान की इच्छा नहीं करता, तैसे ही सम्यक्दर्शी जगत् को असत्य जानता है, इसलिये वह जगत् के पदार्थों की इच्छा भी नहीं करता। जो असम्यक्दर्शी हैं उनको जगत् सत्य भासता है और वह किसी पदार्थ को ग्रहण करता है और किसी का त्याग करता है। हे रामजी ! ईश्वर जो परमात्मा है उसमें जगत् इस प्रकार है जैसे समुद्र में तरङ्ग होते हैं। जैसे समुद्र और तरङ्ग में भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। जो तुम कहो कि अविद्या ही जगत् का कारण है तो अविद्या जगत् का कारण तब कहाती जो वह जगत् से प्रथम सिद्ध होती पर अविद्या तो अविद्यमान है जैसे परमात्मा में जगत् आभासमात्र है, तैसे ही अविद्या भी आभासमात्र है। जो आपही आभासमात्र हो तो उसे जगत् का कारण कैसे कहिये ? जगत् आभास और अविद्या का आभास इकट्ठा हो फुरा है। जैसे स्वप्ने में सृष्टि भास आती है और उसमें घट-पटादि पदार्थ भासते हैं सो किसी कुलाल ने मृत्तिका लेकर तो नहीं बनाये। जैसे घट भासा है, तैसे ही कुलाल और मृत्तिका भी भासि आये हैं। जैसे इन सब का भासना इकट्ठा ही होता है, तैसे ही जगत् और अविद्या इकट्ठे ही फुरे हैं।

अविद्या पूर्व में तो सिद्ध नहीं होती तो उसको जगत् का कारण कैसे मानिये ? हे रामजी ! परमात्मा से जगत् और अविद्या इकट्ठे ही आभासमात्र फुरे हैं पर वह आभास कुछ वस्तु नहीं, ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है, न कहीं अविद्या है; न जगत् है आत्मसत्ता सदा ज्यों की त्यों स्थित है। हे रामजी ! निर्विकल्प में जगत् का अत्यन्ताभाव होता है सो निर्विकल्प कैसे हो ? जो निर्विकल्प होता है तब जड़ता आती है और जब विकल्प उठता है तब संसार उदय होता। जब ध्यान लगाता है तब ध्याता, ध्यान और ध्येय त्रिपुटी हो जाती है। इस प्रकार तो निर्विकल्पता सिद्ध नहीं होती क्योंकि निर्विकल्प से भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। निर्विकल्प उसका नाम है जहाँ चित्त की वृत्ति न फुरे पर तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि वहाँ भी अभाव वृत्ति सुषुप्तिवत् रहती है और जड़ात्मक सुषुप्तिरूप है। सविकल्प सुषुप्ति में भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती इससे सम्यक् बोध का नाम निर्विकल्प है। जिसको सम्यक्बोध निर्विकल्पता से जगत् का अत्यन्ताभाव हुआ है वह जीवन्मुक्त है, वही निर्विकल्प कहाता है और वही परम जड़ता है जहाँ जगत् का असम्भव है। हे रामजी ! वह जो निर्विकल्प और सविकल्प है उससे स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि ये दोनों मन की वृत्ति हैं। जैसे एक निद्रा की वृत्ति स्वप्न और सुषुप्तिरूप है, तैसे ही यह निर्विकल्प और सविकल्प मन की वृत्ति है। निर्विकल्प सुषुप्तिरूप और पत्थरवत् है और सविकल्प स्वप्नवत् चञ्चलरूप है। निर्विकल्प में भी अभाववृत्ति रहती है इससे उससे भी मुक्ति नहीं होती। मुक्ति तब होती है जब दृश्य का अत्यन्ताभाव होता है। हे रामजी ! जहाँ आत्म अनुभव आकाश से इतर उत्थान नहीं होता–उसका नाम अत्यन्त सुषुप्ति निर्विकल्पता है। हे रामजी ! ऐसे होकर तुम चेष्टा भी करोगे तो भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान तुमको न होगा। आत्मा को अद्वैत और जगत् का अत्यन्ताभाव जानने ही का नाम बोध है। जब बोध और ध्यान की दृढ़ता हो तब उसका नाम परमपद है; उसी का नाम निर्वाण है और उसी को मोक्ष भी कहते हैं। जो पद किञ्चन और अकिञ्चन है और सर्वदाकाल अपने

आपमें स्थित है उसमें न नानात्व कहना है; न अनाना शब्द है; न सविकल्प है; न निर्विकल्प है; न सत्य है; न असत्य है; न एक है और न दो हैं उसमें सर्व शब्दों का अन्त है और किसी शब्द से वाणी नहीं प्रवर्त्तती। उसी सत्ता को प्राप्त होने का उपाय मैं कहता हूँ। हे रामजी! यह मोक्ष का उपाय ग्रन्थ जो मैंने तुमसे कहा है इसको विचारना। जो पुरुष अर्धप्रबुद्ध है और पदपदार्थ जाननेवाला है उसको यदि मोक्ष की इच्छा है तो वह इस ग्रन्थ को विचारता है, शुभ आचार करके बुद्धि को निर्मल करता है और अशुभ क्रिया का त्याग करता है तो उसको शीघ्र ही आत्मपद की प्राप्ति होगी। हे रामजी! जो मोक्ष उपाय शास्त्र के विचार से प्राप्त होता है सो तीर्थ-स्नान, तप और दान से नहीं प्राप्त होता। तप, दानादिक करके स्वर्ग प्राप्त होता है मोक्ष नहीं मिलता। मोक्षपद अध्यात्म शास्त्र के अर्थ अभ्यास से ही प्राप्त होता है। यह जगत आभासमात्र है; वही ब्रह्मसत्ता जगत्‌रूप होकर भासती है। जैसे जल ही तरङ्गरूप होकर भासता और वायु ही स्पन्दरूप है, तैसे ही ब्रह्म जगतरूप होकर भासता है। जैसे स्पन्द और निस्स्पन्द में वायु ज्यों की त्यों है परन्तु स्पन्द होती है तब भासती है और निस्स्पन्द होती है तो नहीं भासती, तैसे ही ब्रह्म में संवेदन फुरती है तब जगत् हो भासती है और जब निर्वेदन होती है और अन्तर्मुख अधिष्ठान की ओर आती है तब जगत् समेटा जाता है परन्तु संवेदन के फुरने में भी वही है और न फुरने में भी वही है। इसलिये हे रामजी! सर्वजगत् ब्रह्मस्वरूप है, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं बना और जो इतर भासता है सो भ्रममात्र ही जानना। जब आत्मपद का अभ्यास हो तब भ्रान्ति शान्त हो जाती है। जैसे प्रकाश से अन्धकार नष्ट हो जाता है, तैसे ही आत्मपद के अभ्यास से भ्रान्ति निवृत्त हो जाती है। यद्यपि नाना प्रकार की सृष्टि भासती है परन्तु कुछ हुई नहीं। जैसे स्वप्ने में सृष्टि दृष्टि आती है परन्तु कुछ बनी नहीं; वही अनुभवरूप आत्मसत्ता सृष्टि आकार होकर भासती है, तैसे ही यह जगत् सब अनुभवरूप है। जैसे रत्न और रत्न के चमत्कार में कुछ भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में कुछ भेद नहीं। हे रामजी!

तुम स्वभाव निश्चय होकर देखो कि भ्रम मिट जावे। सृष्टि, स्थिति और प्रलय सब उसी की संज्ञा हैं और दूसरी वस्तु कुछ नहीं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मगीतापरमनिर्वाणवर्णनन्नाम द्विशताधिकाष्टपञ्चाशत्तमस्सर्गः ॥ २५८ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ये सब आकार जो तुमको भासते हैं सो संवेदनरूप हैं और कुछ बने नहीं। सृष्टि के आदि भी अद्वैतसत्ता थी; अन्त में भी वही रहती है और मध्य में जो आकार भासते हैं उसे भी वही रूप जानो। जैसे स्वप्ने की सृष्टि के आदि शुद्ध संवित् होती है और उसमें आकार भासि आता है सो भी अनुभवरूप है और कुछ नहीं बना; आत्मसत्ता ही पिण्डाकार हो भासती है और जितने पदार्थ भासते हैं सो आकाशरूप आभासमात्र हैं। आत्मसत्ता सदा शुद्ध है परन्तु अज्ञान से अशुद्ध की नाईं भासती है; विकार से रहित है परन्तु विकारसहित भासती है; अनाना है परन्तु नाना की नाईं भासती है और आकार से रहित है परन्तु आकार सहित भासती है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अपना अनुभवरूप होती है परन्तु स्वरूप के प्रमाद से नाना प्रकार भिन्न भिन्न हो भासती है और जागे से एक आत्मरूप हो जाती है; तैसे ही यह सृष्टि भी अज्ञान से नाना प्रकार भासती है और ज्ञान से एकरूप भासती है। विद्यमान भासती है पर उसे असत्य ही जानो। आत्मसत्ता सदा शुद्ध रूप, शान्त और अनन्त है और उसमें देश, काल और पदार्थ आभासमात्र हैं। जो तुम कहो कि आभासमात्र है तो अर्थाकार क्यों होते हैं? तो उसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न में अङ्गना कण्ठ से मिलती है और उसमें प्रत्यक्ष राग और विषयरस होता है सो आभासमात्र है; तैसे ही जाग्रत् में अर्थाकार, क्षुधा को अन्न, तृषा को जल और और भी सब ऐसे ही होते हैं और सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष भासते हैं पर जो इनका कारण विचारिये तो कारण कोई नहीं मिलता। जिसका कोई कारण न मिले उसे जानिये कि आभासमात्र है। हे रामजी! यह जगत् बुद्धिपूर्वक नहीं बना; आदि जो आभास फुरा है वह बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ और उसमें जगत् का संकल्प दृढ़ हुआ है तब कारण

करके कार्य भासने लगा परन्तु जिनको स्वरूप का प्रमाद हुआ है उनक कारण से कार्य भासने लगे और जो आत्मस्वभाव में स्थित हुए हैं उनक सर्वजगत् आत्मस्वरूप है। हे रामजी ! कारण से कार्य तब हो जब पदा भी कुछ वस्तु हो। जैसे पिता की संज्ञा तब होती है जब पुत्र होता है और जो पुत्र ही न हो तो पिता कैसे कहिये? तैसे ही कारण तब कहिये जब कार्य हो; जो कार्य जगत् ही कुछ नहीं तो कारण कैसे कहिये! हे रामजी ! कारण और कार्य अज्ञानी के निश्चय में होते हैं जैसे चरख पर बालक भ्रमता है तो उसको सब पृथ्वी भ्रमती दृष्टि आती है तैसे ही अज्ञानी को मोहदृष्टि से कारण कार्यभाव दृष्टि आता है और ज्ञानी को कारण कार्य भाव नहीं भासता। स्मृति भी जगत् का कारण तब कहिये जो स्मृति जगत् से पूर्व हो पर स्मृति अनुभव भी जगत् में ही फुरे हैं। यह भी आभासमात्र हैं परन्तु जिनको भासे हैं उसको तैसे ही हैं। हे रामजी! स्मृति, संस्कार और अनुभव ये तीनों आभासमात्र हैं। जैसे सूर्य की किरणों में जल भासता है तैसे ही आत्मा में तीनों भासते हैं। इसलिये इस कलना को त्यागकर जगत् को आभासमात्र जानो। जैसे स्वप्न में घट भासते हैं पर उनका कारण मृत्तिका कहिये तो नहीं बनता, क्योंकि घट और मृत्तिका का आभास इकट्ठा फुरा है इसलिये वे आभासमात्र हुए उसमें कारण किसको कहिये और कार्य किसको कहिये; तैसे ही स्मृति, संस्कार, अनुभव और जगत् सब इकट्ठे फुरे हैं इनमें कारण किसको कहिये और कार्य किसको कहिये? इसलिये सब जगत् आभासमात्र है। हे रामजी! यह सर्व जगत् जो तुमको भासता है सो आत्मसत्ता का आभास है; आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। जैसे नेत्र का खोलना और मूँदना होता है, तैसे ही परमात्मा में जगत् की उत्पत्ति और प्रलय होती है। जब चित्तसंवेदन फुरती है तब जगत्रूप हो भासती है और जब फुरने से रहित होती है तब जगत् आभास मिट जाता है। जगत् की उत्पत्ति और प्रलय में आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है। जैसे खुलना और मूँदना नेत्रों का स्वभाव है, तैसे ही फुरना और न फुरना संवेदन के स्वभाव हैं। जैसे चलना और ठहर जाना उभय वायु के स्वभाव

हैं; जब चलती है तब भासती है और जब नहीं चलती तब नहीं भासती। चलने में वायु की तीन संज्ञा होती हैं–एक मन्द मन्द चलती है अथवा बहुत चलती है; दूसरे शीतल अथवा उष्ण स्पर्श होता है और तीसरे सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध युक्त होती है। ये तीनों संज्ञा फुरने में होती हैं पर जब फुरने से रहित होती है तब तीनों संज्ञा मिट जाती हैं। जैसे एक ही अनुभव में स्वप्न और सुषुप्ति की कल्पना होती है; स्वप्न में जगत् ही भासता है और सुषुप्ति में नहीं भासता परन्तु दोनों में अनुभव एक ही है, तैसे ही संवित् के फुरने से जगत् भासता है और ठहरने में अच्युतरूप हो जाता है पर आत्मसत्ता ज्यों की त्यों एकरूप है। इसलिये जो कुछ जगत् भासता है सो आत्मा से भिन्न नहीं वही रूप है और जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों आत्मा के आभास हैं–उनमें आस्था न करना। हे रामजी ! यह परम सिद्धान्त तुमको मैंने उपदेश किया है और जिन युक्तियों से कहा है वैसी कोई नहीं कहेगा। अज्ञानी को संसाररूपी बड़ी भ्रान्ति उदय हुई है परन्तु जो मेरे शास्त्र को बारम्बार विचारेगा उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। दिन के दो विभाग करे; आधे दिन पर्यन्त मेरा शास्त्र विचारे और आधा दिन अपने आचार में व्यतीत करे पर जो आधे दिन इस शास्त्र का विचार न कर सके तो एक प्रहर ही विचारे। जैसे सूर्य के उदय हुए अन्धकार निवृत्त होता है, तैसे ही उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। जो मेरे वचनों को वृथा जानकर निन्दा करेगा उसको आत्मपद की प्राप्ति न होगी, क्योंकि उसने शास्त्र के नेव को नहीं जाना। जीव को यह कर्तव्य है कि प्रथम और शास्त्रों को विचार ले फिर पीछे से इसको विचारे कि उसको इस शास्त्र की महिमा भासे। हे रामजी! यह मोक्षोपाय शास्त्र आत्मबोध का परम कारण है यदि जीव पदपदार्थों का जाननेवाला हो और इस शास्त्र को बारम्बार विचारे तो उसकी भ्रान्ति निवृत्त हो जावेगी। जो सम्पूर्ण ग्रन्थ के आशय को न जान सके तो थोड़ा-थोड़ा बाँचे और विचारे तो उसको सब समझ पड़ेगा। हे रामजी ! यदि मनुष्य कुछ भी पदार्थ जाने तो इसके विचारने और पढ़ने से बुद्धिमान् होता है और यह प्रीतिमान्

कर लेता है। इसके विचारनेवाले की बुद्धि और शास्त्रों की ओर नहीं जाती इससे यह विचारने योग्य है। जो पुरुष आत्मविचार से रहित है उसका जीना वृथा है और जिनको यह विचार है उनको सब पदार्थ आत्मरूप हो जाते हैं। जो एक श्वास भी आत्मविचार से रहित होता है सो वृथा जाता है। एक श्वास के समान सम्पूर्ण पृथ्वी का धन नहीं है। यदि एक श्वास निष्फल जाय तो फिर माँगे नहीं मिलता। ऐसे श्वास को जो वृथा गँवाते हैं उनको तुम पशु जानो। हे रामजी! आयु बिजली के चमत्कारवत् है। जैसे बिजली का चमत्कार होकर मिट जाता है, तैसे ही आयु नष्ट हो जाती है। ऐसे शरीर को धारकर जो सुख की तृष्णा करते हैं वे महामूर्ख हैं। हे रामजी! यह सम्पूर्ण जगत् आभासमात्र है और सत्य भासता है तौ भी इसको असत्य जानो। जैसे स्वप्न की सृष्टि में कोई मृतक होता है और उसके बान्धव रुदन करते हैं और इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है परन्तु हुआ कुछ नहीं सब भ्रान्तिमात्र है तैसे ही यह जगत् भ्रममात्र जानो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे परमार्थगीतावर्णनं नाम
द्विशताधिकैकोनषष्टितमस्सर्गः ॥ २५९ ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जगत् तो अनेक और असंख्यरूप हुए हैं और आगे होंगे पर उन जगतों की कथाओं से आपने मुझे उपदेश करके क्यों न जगाया? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ये जो जगज्जाल के समूह हैं उनमें जो पदार्थ हैं सो सब शब्द अर्थ से रहित हैं और जो शब्द अर्थ से रहित हुए तो कुछ न हुए; इसलिये व्यर्थ कहने का क्या प्रयोजन है? हे रामजी! जब तुम विदितवेद और निर्मल त्रिकालदर्शी होगे तब इन जगतों को जानोगे। मैंने आगे भी तुमसे बहुत बार कहा है और बारम्बार वही वर्णन करने में पुनरुक्ति दूषण होता है परन्तु समझाने के निमित्त कहा है। जैसे एक सृष्टि को जाना तैसे ही सम्पूर्ण सृष्टियों को जानो। जैसे अन्न के समूह से एक मुट्ठी भर के देखने से जान लिया जाता है कि सब ऐसे ही हैं; तैसे ही एक ही सृष्टि को यथार्थ जाना तो सब सृष्टियों को भी जान लिया। हे रामजी! यह सर्व

जगत् किसी कारण से नहीं उत्पन्न हुआ। जिसमें कारण बिन पदार्थ भासे उसे जानिये कि वही रूप है। सृष्टि के आदि भी वही सत्ता थी; अन्त भी वही होगी और मध्य में जो कुछ भासता है उसे भी वही रूप जानिये। जैसे स्वप्न के आदि भी अपना निर्मल अनुभव होता है; स्वप्न के निवृत्त हुए भी वही रहता है और स्वप्न के मध्य जो पदार्थ भासता है उसे भी वही जानिये और वस्तु कुछ नहीं अनुभवसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। जब तुम विदितवेद होगे तब सर्वजगत् तुमको अपना आप भासेगा। हे रामजी! एक एक अणु में अनेक सृष्टि हैं सो सब आकाशरूप हैं कुछ हुई नहीं। इस पर एक आख्यान कहता हूँ सो सुनो। एक काल मैंने ब्रह्माजी को एकान्त पाकर प्रश्न किया कि हे भगवन्! यह सृष्टि कितनी हैं और किसमें हैं? तब पितामह ने कहा, हे मुनीश्वर। सर्वजगतों के शब्द अर्थ सब ब्रह्मरूप हैं, ब्रह्म से इतर कुछ नहीं; जो अज्ञानी हैं उनको नाना प्रकार का जगत् भासता है और जो ज्ञानवान् हैं उनको सब जगत् आत्मरूप भासता है। जिस प्रकार जगत् हुआ है सो भी सुनो। हे रामजी! ब्रह्मरूपी आकाश के सूक्ष्मअणु में फुरना हुआ कि 'अहमस्मि'; तब उस अणु ने आपको जीव जाना। जैसे अपने स्वप्न में आपको जीव जाने और सर्वात्मा हो तैसे ही चिद्-अणु सर्वात्मा अहंकार को अङ्गीकार करके आपको जीव जानने लगा और उसमें जो निश्चय हो गया वह बुद्धि हुई। जैसे वायु में फुरना हो तैसे ही तिसमें संकल्प विकल्परूपी फुरना हुआ उसका नाम मन हुआ। तब मन के साथ मिलकर चिद्अणु ने देह को चेता और अपने में देह और इन्द्रियाँ भासने लगीं और अपने साथ शरीर देखा कि यह शरीर मेरा है। जैसे स्वप्न में अपने साथ कोई शरीर को देखे और बड़ा स्थूल दृष्टि आवे, तैसे ही उसने अपने साथ स्थूल शरीर देखा। जैसे स्वप्न में सूक्ष्म अनुभव से बड़े पर्वत दृष्टि आते हैं, तैसे ही सूक्ष्म अणु से स्थूल विराट् शरीर भासने लगा। फिर देशकाल की कल्पना की और नाना प्रकार के स्थावर जङ्गम प्राणी और विराट् भासने लगा। जैसे स्वप्न में देश, काल और पदार्थ भासि आवें सो कुछ नहीं हैं, तैसे ही देश काल पदार्थ

भासि आये परन्तु हैं कुछ नहीं। जब चित्तसंवित् बहिर्मुख फुरती है तब नाना प्रकार का जगत् भासता है और जब अन्तर्मुख होती है तब अवाच्यरूप हो जाती है। जैसे वायु चलने और ठहरने में एकरूप होती है तैसे ही फुरने अफुरने में संवित् एक ही अभेद है। हे रामजी! जितना जगत् है वह आकाश में आकाशरूप अपने आपमें स्थित है और अणु-अणु प्रति सर्वदाकाल सृष्टि है परन्तु आभासमात्र है जो चैत-सम्बन्धी होकर जीव सृष्टि का अन्त ले तो सृष्टि अनन्त है इसका अन्त कहीं नहीं आता। यह सृष्टि अविद्यारूप है सो अविद्या ही चैत है। जब अविद्यासम्बन्धी होकर जगतों का अन्त देखेगा तब अन्त कहीं न आवेगा किन्तु संसरने का नाम संसार है; जब स्वरूप में स्थित होगा तब सब जगत् ब्रह्मरूप हो जावेगा और जगत् की कल्पना कुछ न भासेगी। हे रामजी! इस जगत् के आदि भी अद्वैतसत्ता थी; अन्त भी भी अद्वैतसत्ता रहेगी और मध्य में जो कुछ भासता है उसको भी वही रूप जानो और कुछ बना नहीं। यह जगत् अकारण है अधिष्ठानसत्ता के अज्ञान से भासता है। इसी का नाम जगत् है और इसी का नाम अविद्या है। अधिष्ठान को जानने का नाम विद्या है। हे रामजी! न कोई अविद्या है और न जगत् है, ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है। चाहे जगत् कहो और चाहे ब्रह्म कहो दोनों एक ही वस्तु के नाम हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्माण्डोपाख्यानं नाम
द्विशताधिकषष्टितमस्सर्गः ॥ २६० ॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन्! यह मैंने जाना कि जगत् अकारण है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर होता है, तैसे ही यह जगत् है। पर जो अकारण ही है तो अब यहाँ पदार्थ कारण से काहे को उपजते दृष्टि आते हैं? कारण विना तो नहीं होते; यह क्यों भासते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ब्रह्मसत्ता सर्वात्म है, उसमें जैसा निश्चय होता है तैसा ही होकर भासता है; पर क्या भासता है; अपना अनुभव ही ऐसे होकर भासता है। जैसे स्वप्ने में अपना अनुभव ही नाना प्रकार के पदार्थ होकर भासता है परन्तु उपजा कुछ नहीं सर्व पदार्थ आकाशरूप हैं; तैसे ही यह जगत् कुछ उपजा नहीं कारण से रहित आकाशरूप है। हे रामजी! आदि सृष्टि अकारण हुई है; पीछे से सृष्टि में आभासरूप मन ने जैसा-जैसा निश्चय किया है तैसे ही हैं, क्योंकि सर्व शक्तिरूप है। आदि सृष्टि जो उपजती है सो अकारणरूप है और पीछे से सृष्टिकाल में कारण कार्यरूप हुए हैं। जैसे स्वप्न सृष्टि आदि कारण विना होती है और पीछे से कारण कार्य भासते हैं पर वास्तव में न कोई आकाश है; न शून्य है, न अशून्य है; न सत्य है, न असत्य है; न असत्य सत्य के मध्य है, न नित्य है, न अनित्य है; न परम है, न अपरम है; न शुद्ध है, न अशुद्ध है; द्वैत कुछ नहीं सब भ्रम है। हे रामजी! ज्ञानवान् को सर्व शब्द और अर्थ ब्रह्मरूप भासते हैं। हमको तो कारण-कार्य-भाव की कल्पना कुछ नहीं। जैसे सूर्य में अन्धकार का अभाव है, तैसे ही ज्ञानवान् को कारण कार्य का अभाव है। जो सर्वात्मा ही है तो कारण कार्य किसको कहिये? रामजी ने कहा कि हे भगवन्! मैं ज्ञानी की बात पूछता हूँ; उनको कारणकार्यभाव किस निमित्त नहीं भासता? जो कारण कार्य नहीं तो मृत्तिका और कुलाल आदि द्वारा घटादिक क्योंकर उत्पन्न होते दृष्टि आते हैं? इससे तुम कहो कि ज्ञानवान् को अकारण कैसे भासता है और अज्ञानी को सकारण क्योंकर भासता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! न कोई कारण है, न कार्य है और न कोई अज्ञानी है मैं तुझसे क्या कहूँ? जो ज्ञानवान् पुरुष हैं उनके निश्चय में जगत् की कल्पना कोई नहीं फुरती; उनके निश्चय में तो जगत् है ही नहीं तो ज्ञानी और अज्ञानी क्या हैं? हे रामजी! आकाश का वृक्ष नहीं तो उसका वर्णन क्या कीजिये? जैसे हिमालय पर्वत में अग्नि का कणका नहीं पाया जाता, तैसे ही ज्ञानी के निश्चय में जगत् नहीं। ज्ञानी और अज्ञानी और कारण और कार्य ये शब्द जगत् में होते हैं पर जो जगत् ही नहीं फुरा तो कारण, कार्य, ज्ञानी और अज्ञानी तुमसे क्या कहूँ? जैसे स्वप्ने की सृष्टि सुषुप्ति में लीन हो जाती है और वहाँ शब्द और अर्थ कोई नहीं फुरता, तैसे ही ज्ञानवान् के निश्चय में जगत् ही नहीं फुरता। हे रामजी! हमको तो सर्व ब्रह्म ही भासता है। मुझको कुछ

कहना नहीं आता परन्तु तुमने पूछा है इस निमित्त कुछ कहता हूँ औ
अज्ञानी के निश्चय को अङ्गीकार करके कहता हूँ । हे रामजी ! य
जगत् अकारण और आभासमात्र है; किसी आरम्भ और परिणाम
नहीं हुआ । जब पदार्थों का कारण विचारिये तो सबका अधिष्ठान ब्र
ही निकलता है जो अद्वैत, अच्युत और सर्वइच्छा से रहित है तो उसक
कारण कैसे कहिये ? इससे जाना जाता है कि जगत् आभासमात्र है
और कुछ वस्तु नहीं आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है। जैसे स्वप्ने की
सृष्टि अकारण होती है और उसमें अनेक पदार्थ भासते हैं पर उसक
कारण विचारिये तो सबका अधिष्ठान अनुभव ही निकलता है और उस
आरम्भ और परिणाम कुछ हुआ नहीं । सृष्टि अनुभवरूप हो भासती है
जो पुरुष स्वप्ने में है उसको स्वरूप के प्रमाद से कारण कार्य जगत् औ
पुण्यपाप सब यथार्थ भासते हैं; तैसे ही जाग्रत् जगत् भासता है ।
रामजी ! सृष्टि आदि अकारण हुई है और पीछे सृष्टिकाल में कारण
कार्यरूप हो भासते हैं । जिसको अपना वास्तव स्वरूप स्मरण है उसक
अकारण भासता है और जिस अज्ञानी को अपने वास्तव स्वरूप क
प्रमाद है उसको कारण कार्यरूप सृष्टि भासती है । हे रामजी ! वास्त
में एक ही अनुभव आत्मसत्ता है परन्तु जैसा-जैसा अनुभव में संकल
दृढ़ होता है उसही की सिद्ध होती है और जिसका तीव्र संवेग होता
है वही हो भासता है । इसमें कुछ सन्देह नहीं कि कल्पवृक्ष के पदा
संकल्प की तीव्रता से प्रत्यक्ष होते हैं तो उन्हें किसका कार्य कहिये
यदि जगत् किसी कारण से उत्पन्न होता तो महाप्रलय में भी कुछ शे
रहता—जैसे अग्नि के पीछे राख रह जाती है पर जगत् के पीछे तो कु
नहीं रहता और जैसे स्वप्ने की सृष्टि जागे हुए पर कुछ नहीं रहती
तैसे ही महाप्रलय में जगत् का शेष कुछ नहीं रहता; इससे जाना जाता
है कि यह आभासमात्र है । जैसे ध्यान में ध्याता पुरुष किसी आकार
को रचता है तो उसका कारण कोई नहीं होता वह तो आकाशरू
है और अनुभवसत्ता ही फुरने से इस प्रकार हो भासती है—आकार तो
कोई नहीं और जैसे गन्धर्वनगर कारण से रहित भासता है, तैसे ही

यह जगत् कारण विना भासि आया है । न कोई पृथ्वी है, न कोई जल है, न तेज, वायु और आकाश है सब आकाशरूप है परन्तु संकल्प की दृढ़ता से पिण्डाकार भासते हैं । हे रामजी ! जब मनुष्य मर जाता है तब शरीर यहीं भस्म हो जाता है, फिर परलोक में अपने साथ शरीर देखता है और उस शरीर से स्वर्ग नरक में सुख-दुःख भोगता है तो उसका कारण कौन है? उसका कारण कोई नहीं पाया जाता केवल चैतन्यता में संकल्परूप वासना जो दृढ़ हुई है उसी के अनुसार शरीर भासता है और स्वर्ग नरक में दुःख सुख भासते हैं और तो कुछ वस्तु नहीं। सब पदार्थ संकल्प के रचे हुए हैं सो सब आत्मरूप हैं जैसे आकाश व्योम और शून्य एक ही वस्तु के नाम हैं, तैसे ही कोई जगत् कहो और कोई ब्रह्म कहो इनमें भेद नहीं । फुरने का नाम जगत् कहते हैं और अफुरने का नाम ब्रह्म है । जैसे वायु के चलने और ठहरने में भेद नहीं, तैसे ही ब्रह्म को संवेदन के फुरने और न फुरने में भेद कुछ नहीं। जो सम्यक्दर्शी हैं उनको सब जगत् ब्रह्मस्वरूप भासता है इस कारण दोष किसी में नहीं रहता और जो बड़ा कष्ट प्राप्त होता है तो भी वे खेदवान् नहीं होते । जैसे कोई पुरुष स्वप्ने में युद्ध करता है और उसको अपना जाग्रत् स्वरूप भास आता है तो स्वप्ने को स्वप्ना जानता हुआ युद्ध करता है तो भी दुःख नहीं होता तैसे ही जो पुरुष परमपद में जागा है उसकी सब क्रिया होती हैं परन्तु आपको अक्रिय जानता है। हे रामजी ! ज्ञानवान् की सब चेष्टा होती हैं परन्तु उसके निश्चय में क्रिया का अभिमान नहीं होता। जैसे नटुवा सब स्वाँग धारता है परन्तु आपको स्वाँग से रहित जानता है और स्वाँग की क्रिया को असत्य जानता है, क्योंकि उसको अपना स्वरूप स्मरण रहता है; तैसे ही ज्ञानवान् सब क्रिया को असत्य जानता है । हे रामजी ! ये सर्व पदार्थ अजातजात हैं—उपजे कुछ नहीं। जैसे स्वप्ने में पदार्थ भासते हैं परन्तु उपजे नहीं अपना अनुभव ही इस प्रकार भासता है; तैसे ही ये जगत् के पदार्थ भी अनुभवरूप जानो। हे रामजी ! बहुत शास्त्र और वेद में तुमको किस निमित्त सुनाऊँ और किस निमित्त पढ़ूँ; वेदान्तशास्त्रों का सिद्धान्त

यही है कि वासना से रहित हो। इसी का नाम मोक्ष है और वासना सहित का नाम बन्ध है। वासना किसकी कीजिये यह तो सब सृष्टि अकारणरूप भ्रममात्र है। इसमें क्या आस्था बढ़ाइये; ये तो स्वप्ने के पर्वत हैं।

इति श्रीयो० नि० ब्रह्मगीतावर्णनंनामद्विशताधिकैकषष्टितमस्सर्गः २६१

श्रीरामजी ने पूछा; हे भगवन्! सब जगत् में तीन प्रकार के पदार्थ हैं—एक अप्रत्यक्ष पदार्थ; दूसरे प्रत्यक्षपदार्थ और तीसरे मध्यभावी। जैसे वायु अप्रत्यक्ष है, क्योंकि रूप से रहित है परन्तु स्पर्श से भासती है इसलिये मध्यभावी प्रत्यक्ष है। अप्रत्यक्ष जो किसी से मिले नहीं सो यह संवित् अप्रत्यक्ष है। हे मुनीश्वर! चन्द्रमा के मण्डल में भी यह संवेदन जाती है और फिर गिरती है और चित्त करके चन्द्रमा को देखती है और फिर आती है इससे जाना कि निराकार है; जो साकार होती तो चन्द्रमारूप हो जाती फिर लौटकर आती—जैसे जल में जल डाला फिर नहीं निकलता इस कारण जानता हूँ कि यह अप्रत्यक्ष अर्थात् निराकार है। हे मुनीश्वर! अज्ञानी का आशय लेकर मैं कहता हूँ कि इस शरीर में जो प्राण आते-जाते हैं सो कैसे आते-जाते हैं? जो तुम कहो कि संवित् जो ज्ञानशक्ति है सो इस शरीर और प्राण को लिये फिरती है—जैसे मज़दूर भार को लिये फिरता है—तो ऐसे कहना नहीं बनता क्योंकि संवित् अप्रत्यक्ष निराकार है। अप्रत्यक्ष साकार से नहीं मिलती तो वह चेष्टा क्योंकर करे? जो कहो कि निराकार संवित् ही चेष्टा कराती है तो पुरुष की संवित् चाहती है कि पर्वत नृत्य करे पर वह तो इसका चलाया नहीं चलता और कहते हैं कि ये पदार्थ उठ आवें परन्तु वे तो नहीं उठते, क्योंकि पदार्थ साकाररूप हैं और वृत्ति निराकार है; इसका उत्तर कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! इस शरीर में एक नाड़ी है जब वह अवकाशरूपी होती है तब उसमें से प्राणवायु निकलता है और जब संकोचरूप होती है तब प्राणवायु भीतर आता है जैसे लुहार की धौंकनी होती है तैसे ही इसके भीतर पुरुष बल है उससे चेष्टा होती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! धौंकनी भी तब हलती है जब उसके साथ बल का स्पर्श होता है और स्पर्श तब होता है जब प्रत्यक्ष वस्तु होती है पर चैतन्यता तो निराकार है

उसको स्पर्श क्योंकर कहिये? जो तुम कहो कि उसकी इच्छा ही से स्पर्श होता है तो हे मुनीश्वर! मैं चाहता हूँ कि मेरे सम्मुख जो वृक्ष है सो गिर पड़े पर वह तो नहीं गिरता क्योंकि इच्छा निराकार है जो साकार से स्पर्श हो तब उसकी शक्ति से गिर पड़े। यदि इच्छा से ही चेष्टा होती है तो कर्मइन्द्रियाँ किस निमित्त हैं इच्छा ही से जगत् की चेष्टा हो? यह भी संशय है कि एक के बहुत क्योंकर हो जाते हैं और बहुत का एक क्योंकर हो जाता है? एक चैतन्य है पर जब प्राण निकल जाते हैं तब पाषाण और वृक्ष की नाईं जड़ हो जाता है; आत्मा तो सर्वव्यापी है जड़ कैसे हो जाता है? कोई पाषाण और वृक्षरूप जड़ है और कोई चेतन है यह भेद एक आत्मा में कैसे हुआ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! तुम्हारे संशयरूपी वृक्षों को मैं वचनरूपी कुल्हाड़े से काटता हूँ। जिनको तुम प्रत्यक्ष साकार कहते हो सो आकार कोई नहीं सब निराकार हैं; वह शुद्ध आत्मा अद्वैतसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है—ये आकार कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्ननगर में आकार भासते हैं सो सब आकाशरूप निराकार हैं; तैसे ही ये आकार भी जो तुमको दृष्टि आते हैं सो सब निराकार हैं। स्वप्न में जो पर्वत भासते हैं सो किसके आश्रय होते हैं और देहादिक भासते हैं सो किसके आश्रय हैं; इसलिये वे कुछ बने नहीं अनुभवसत्ता ही आकाररूप हो भासती है; तैसे इसे भी जानो कि आकार कोई नहीं। हे रामजी! जब इन पदार्थों का कारण विचारिये तो कारण कोई नहीं निकलता, इसी से जाना जाता है कि आभासमात्र हैं बने कुछ नहीं और आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। आत्मसत्ता अद्वैत और परमशुद्ध है उसमें जगत् कुछ बना नहीं तो मैं आकार क्या कहूँ और निराकार क्या कहूँ? पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश भी कुछ नहीं शुद्ध आत्मसत्ता ही इस प्रकार हो भासती है। जैसे संकल्प रचे पदार्थ होते हैं सो अनुभवरूप हैं; तैसे ही ये सब पदार्थ अनुभवरूप हैं—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं। इस पर एक आख्यान कहता हूँ उसे मन लगाके सुनो। हे रामजी! आगे भी मैंने तुमसे कहा है और अब भी प्रसंग को पाकर कहता हूँ। एक समय एक सृष्टि में एक इन्द्र ब्राह्मण था

जो मानो ब्रह्मा ही था। उसके गृह में दश पुत्र हुए जो मानो दशों दिश
थे। कुछ काल में वह ब्राह्मण मृतक हुआ और उसकी स्त्री पतिव्रता थी
इसलिये उसके प्राण भी छूट गये—जैसे दिन के पीछे संध्या आ जाती है
तब उन पुत्रों ने यथाशास्त्र क्रम से उनकी क्रिया की और फिर एक पहा
की कन्दरा में जा स्थित हुए और विचारने लगे कि किसी प्रकार हम ऊँ
पद को पावें। हे रामजी! आगे मैंने तुमको सुनाया है कि प्रथम उन्होंने
मण्डलेश्वर; चक्रवर्ती राजा और इन्द्रादिक के पद को विचारा और फि
बड़े भाई ने निर्णय करके यही कहा कि सबसे ऊँचा ब्रह्माजी का पद है
जिनकी यह सब सृष्टि रची हुई है इसलिये हम दशों ब्रह्मा होवें। ऐ
विचार करके वे दशों पद्मासन बाँध के बैठे और यह निश्चय धारा कि ह
चतुर्मुख ब्रह्मा हैं और सब सृष्टि हमारी रची है। निदान वे ऐसे हो ग
मानो पुतलियाँ लिखी हुई हैं और खान-पान से रहित मास, युग औ
वर्ष व्यतीत हो गये पर वे ज्यों के त्यों रहे चलायमान न हुए। जैसे ज
नीचे ठौर में जाता है ऊँचे को नहीं जाता, तैसे ही उन्होंने अपना निश्च
न त्यागा और दृढ़ रहे। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब उनके श
गिर पड़े और उनको पक्षी खा गये पर उनकी जो ब्रह्मा की वासनासं
संवित् थी उस वासना से दशों ब्रह्मा हो गये और उनकी दश ही
देश, काल, पदार्थ और नेति सहित हो गईं। जैसे हमारी सृष्टि है, तैसे
वे सृष्टि हुईं। हे रामजी! वे सृष्टि क्या रूप हुईं आत्मा ही वस्तु हुई औ
तो कुछ नहीं; कुछ और होवे तो कहूँ। इससे सृष्टि का और रूप कुछ न
अपना अनुभव ही सृष्टिरूप भासता है और जो कुछ पदार्थ भासते हैं
सब आत्मरूप हैं। हे रामजी! जैसे हम ब्रह्मा के संकल्प में रचे हैं तैसे
उन्होंने भी रच लिये और वे भी इस प्रकार स्थित हो गये; इससे स
जगत् ब्रह्मस्वरूप है। जो किसी कारण से जगत् बना होता तो जा
जाता कि कुछ हुआ है पर इसका कारण कोई नहीं पाया जाता इस
संकल्पमात्र और आभासमात्र है। इससे कहता हूँ कि ब्रह्म ही है और ब
कुछ नहीं। जो कुछ पदार्थ पाषाण, वृक्ष, जड़-चेतन भासते हैं सो स
ब्रह्मस्वरूप हैं उससे भिन्न कुछ नहीं। हे रामजी! महाभूत जो वृक्ष, पृ

आकाश, पहाड़ हैं ये सब चिदाकाशरूप हैं—चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं।
जैसे इन्द्र के पुत्र एकसे अनेक होगये, तैसे ही यह सृष्टि भी एक से अनेक
ह और प्रलय में अनेक से एक हो जाती है। जैसे एक तुम स्वप्न में
अनेक हो जाते हो और सुषुप्ति में अनेक से एक हो जाते हो तैसे ही
यह जगत् भी है और अकारणरूप है। यदि इसे सकारण भी मानिये
तो आत्मरूपी कुलाल है; संकल्प चक्र है और अनुभव चैतन्यरूपी घट
उससे उपजते हैं और आभास भी वही है कुछ दूसरी वस्तु नहीं। यह
जगत् वही रूप है। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों को अपने अनुभव
ही से सृष्टि फुर आई सो अनुभवरूप ही भासने लगा इससे और कुछ
भई, तैसे ही सृष्टि को भी जानो। हे रामजी! घट, वृक्ष, पृथ्वी, जल,
अग्नि, वायु सब चैतन्यरूप हैं—चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्न में
अपना अनुभव ही घट, पहाड़, नदियाँ और पदार्थ हो भासता है—अनु-
भव से भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही यह जगत् अनुभव से भिन्न नहीं—ज्ञानी
को सदा यही निश्चय रहता है। अब एक-अनेक का उत्तर सुनो। हे
रामजी! जैसे मनोराज में एकसे अनेक हो जाते हैं और अनेक से एक
जाता है; एवम् चैतन्य से जड़ हो जाता है पर जड़ कोई पदार्थ
नहीं भासता सर्व पदार्थ चैतन्यरूप है। जहाँ अन्तःकरण प्रकट होता है
चैतन्य भासता है और जहाँ अन्तःकरण नहीं मिलता सो जड़ भासता
—चैतन्य का आभास अन्तःकरण में मिलता है पर जब पुर्यष्टका
निकल जाती है तब जड़ भासता है। यह अज्ञानी की दृष्टि कही है
मुझसे पूछो तो जिसको जड़ कहते हैं और जिसको चेतन कहते हैं
पहाड़, वृक्ष, पृथ्वी कहते हैं वे सब ब्रह्मरूप हैं—ब्रह्म से भिन्न कुछ
नहीं। जैसे स्वप्न में कितने जड़ और कितने चेतन पदार्थ भासते हैं और
प्रकार के पदार्थ भिन्न भिन्न भासते हैं पर सब आत्मरूप हैं; भिन्न कुछ
नहीं; तैसे ही यह जगत् सब आत्मरूप है और इच्छा अनिच्छा सब
रूप हैं। सब नामरूप आत्मा के हैं और दूसरी वस्तु कुछ नहीं।
अशून्य, सत्य, असत्य सब आत्मा के नाम हैं—आत्मा से भिन्न
नहीं। हे रामजी! जिसको मूर्ख जड़ कहते हैं सो जड़ नहीं सब

चैतन्यरूप हैं और सृष्टिकाल में जड़ ही हैं। वे संवेदन में जड़रूप हो रचित हुए हैं; वे चैतन्य में रचे हैं जिसको अपने वास्तव स्वरूप का प्रमा होता है उसको ये जड़ चैतन्य भिन्न-भिन्न भासते हैं पर जो ज्ञानवा पुरुष हैं उनको एक ब्रह्मसत्ता ही भासती है। हे रामजी! यह मैंने तुम उपदेश किया है सो बारम्बार विचारने योग्य है। जो कोई इसको नि विचारता रहेगा उसके दोष घटते जावेंगे और हृदय शुद्ध होगा औ जो ब्रह्मविद्या को त्यागकर जगत् की ओर चित्त लगावेगा उसके दो बढ़ते जावेंगे। हे रामजी! ज्यों-ज्यों जीव को ब्रह्मविचार उदय हो जावेगा त्यों-त्यों दुःख नाश होते जावेंगे जैसे ज्यों-ज्यों दिन उ होता है त्यों-त्यों तम नष्ट हो जाता है—और विचार के त्यागे दु बढ़ते जाते हैं। जो महापापी हैं उनके पाप मेरे शास्त्र का संग न क देंगे और उनको यह जगत् वज्रसार की नाईं दृष्टि आता है और सं भ्रम कदाचित् निवृत्त नहीं होता। यह सब जगत् मैं, तुम आदि आ रूप हैं और भाव-अभाव आदिक सब शब्द ब्रह्मसत्ता के नाम हैं परमशुद्ध, निरामय और अद्वैत है और सदा अपने ही आपमें है। जितने पदार्थ उसमें भासते हैं वे ऐसे हैं जैसे शिला में शिल्पी लियाँ कल्पता है सो सब शिल्पी के चित्त में होती हैं, तैसे ही ज के पदार्थों की प्रतिभा जो सब मन में है सो उसी का किञ्चनरूप कुछ भिन्न वस्तु नहीं। वह सदा अपने आपमें स्थित है और मौनरूप है उसमें विकल्प कोई नहीं प्रवेश कर सकता।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे इन्द्राख्यानवर्णनं नाम
द्विशताधिकद्विषष्टितमस्सर्गः ॥ २६२ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! सर्वलोक चिन्मात्र है इसी से शान्त अद्वैतरूप है। अज्ञानी को भिन्न-भिन्न जगत् भासता है और ज्ञानी सब निराकार और आकाशरूप है। आकार कुछ बने नहीं, आत्म निराकार है और वही परमशुद्धसत्ता इस प्रकार भासती है सो शा रूप, अनन्त और चिन्मात्र है; इन्द्रियाँ भी ज्ञानरूप हैं और हाड़, रुधिर, हाथ, पैर, शिर आदिक सम्पूर्ण शरीर भी ज्ञानमात्र है—ज्ञान

भिन्न कुछ नहीं—चिन्मात्र ही इस प्रकार हो भासता है। जैसे स्वप्ने में शरीरादिक और पहाड़, नदियाँ और वृक्ष भासते हैं सो अपना ही अनुभवरूप है कुछ और नहीं बना तैसे ही यह जगत् सब अनुभवरूप है और कारण से रहित कार्य भासता है। तुम अपने अनुभव में जागकर देखो कि सब अनुभवरूप है। आकाश में आकाश भी आकाशरूप है; सत्य में सत्य है; भाव में भाव है और अभाव में अभाव है सर्व आत्मरूप है भिन्न कुछ नहीं। जो तुम कहो कि वस्तु कारण ही से उत्पन्न होती है सो सत्य होती है परन्तु जगत् का कारण कहीं नहीं मिलता इससे यह मिथ्या है तो कारण भी इसका तब कहिये जब यह कुछ वस्तु हो और कार्य भी तब कहिये जब इसका कारण सत्य हो। हे रामजी! ब्रह्मसत्ता तो न किसी का समवाय कारण है और न किसी का निमित्त कारण है। वह तो केवल अच्युत है इसी से समवाय कारण नहीं और अद्वैत है इससे निमित्त कारण भी नहीं। वह तो सर्व इच्छा से रहित है उसको किसका कारण कहिये और जो कारण नहीं तो कार्य किसका हो। इससे सर्व जगत् जो भासता है सो आभासमात्र है—उसी ब्रह्मसत्ता का नाम जगत् है। जैसे निद्रा एक है और उसके दो स्वरूप हैं—एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति फुरनेरूप का नाम स्वप्ना है और न फुरने रूप का नाम सुषुप्ति है; तैसे ही चैतन्य के भी दो स्वरूप हैं—फुरनेरूप चैतन्य का नाम जगत् है और अफुररूप का नाम ब्रह्म है। जैसे एक ही वायु के चलना और ठहरना दो पर्याय हैं—जब चलती है तब लखने में आती है और ठहरती है तब अलक्ष्य हो जाती है और शब्द का विषय नहीं होती; तैसे ही ब्रह्मसत्ता अफुर में शब्द की प्रवृत्ति नहीं होती। जब फुरती है तब द्रष्टा, दर्शन और दृश्य त्रिपुटीरूप हो भासती है और एक से अनेक रूप हो भासती है, अनेक से एक रूप है। जैसे एक ही जल नदी, नाला, तालाब आदि भिन्न-भिन्न संज्ञा पाता है और जब समुद्र में मिलता है तब एकरूप हो भासता है; एवम् जैसे एकही काल के दिन, मास, वर्ष, युग, कल्प, घड़ी, मुहूर्त आदिक बहुत नाम होते हैं परन्तु काल एकही है; एक मृत्तिका की सेना के हाथी, घोड़े आदिक बहुत

नाम होते हैं परन्तु मृत्तिका तो एक ही है; एक वृक्ष के फूल, फल, टास पत्र भिन्न-भिन्न नाम होते हैं परन्तु वृक्ष तो एक ही रूप है और एक जल के तरङ्ग, बुद्बुदे, आवर्त फेन आदिक नाम होते हैं परन्तु जल तो एक ही है; तैसे ही परमात्मा में जगत् अनेक नाम रूप को प्रा होता है परन्तु सदा एक ही रूप है। जैसे स्वप्ने में एक ही अद्वै अनुभवसत्ता होती है और भिन्न-भिन्न नामरूप हो भातसी है पर ज जागता है तब अद्वैतरूप होता है; तैसे ही यह जगत् भी भिन्न-भि नामरूप भासता है परन्तु आत्मसत्ता एक ही है। हे रामजी! जब तु उसमें जागोगे तब तुमको सब अपना आप अनुभव ही भासेगा ज केवल आत्मत्वमात्र और अनन्य अनुभवरूप है। आत्मरूपी समुद्र के जगत्रूपी जल के कणके हैं। जैसे आकाश में नक्षत्र फुरते हैं, तैं ही आत्मा में जगत् फुरते हैं। तारे तो आकाश से भिन्न हैं परन्तु जगत आत्मा से भिन्न नहीं—जैसे जल से बूँद अभिन्न है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वब्रह्मप्रतिपादनं नाम
द्विशताधिकत्रिषष्टितमस्सर्गः ॥ २६३ ॥

श्रीरामजी ने पूछा, हे भगवन्! अन्धकार में जो पदार्थ होता है स ज्यों का त्यों क्यों नहीं भासता पर जब सूर्य का प्रकाश होता है तब ज्यों का त्यों भासता है इस निमित्त कहता हूँ कि संशयरूपी तम के कारण जग ज्यों का त्यों नहीं भासता। पर तुम्हारे वचनरूपी सूर्य के प्रकाश से ज पदार्थ सत्य है उसको सम्यक्ज्ञान से जानूँगा। हे भगवन्! पूर्व में ए इतिहास हुआ है उसमें मुझको संशय है सो दूर कीजिये। एक काल मे मैं अध्ययनशाला में विपश्चित् पण्डित से अध्ययन करता था और बहु ब्राह्मण बैठे थे कि एक ब्राह्मण विदितवेद; बहुत सुन्दर; वेदान्त; सांख आदि शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न; बड़ा तपस्वी और ब्रह्मलक्ष्मी से तेजवा मानो दुर्वासा ब्राह्मण है—सभा में आकर परस्पर नमस्कार करके आस पर बैठा और हम सबने उसको प्रणाम किया। उस समय वेदान्त, सांख्य, पातञ्जलादिक शास्त्रों की चर्चा होती थी परन्तु सब तूष्णीं हो गये और मै

उससे बोला कि हे ब्राह्मण! तुम बड़ी दूर से आये हो; तुमने किस परमार्थ के निमित्त इतना कष्ट उठाया और तुम कहाँ से आते हो सो कहो? ब्राह्मण बोला, हे भगवन्! जिस प्रकार वृत्तान्त हुआ है सो मैं कहता हूँ। हे रामजी! विदेहनगर का मैं ब्राह्मण हूँ—वहाँ मैंने जन्म लिया था और कुन्दवृक्ष के श्वेतफूलों के समान मेरे दाँत हैं इस कारण मेरे पिता माता ने मेरा नाम कुन्ददन्त रक्खा है। विदेह राजा जनक का जो नगर है वहाँ से मैं आया हूँ। वह नगर आकाश में जो स्वर्ग है मानो उसका प्रतिबिम्ब है और वहाँ के रहनेवाले शान्तिमान् और निर्मल हैं। वहाँ मैं विद्या पढ़ने लगा और मेरा मन उद्वेगवान् हुआ कि यह संसार महाक्रूर बन्धन है इसलिये किसी प्रकार इस बन्धन से छूटूँ। हे रामजी! ऐसा वैराग्य मुझको उत्पन्न हुआ कि किसी प्रकार शान्तिमान् न हुआ। तब मैं वहाँ से निकला और जो-जो शुभ स्थान थे वहाँ विचरने लगा। सन्तों और ऋषियों के स्थान, ठाकुरद्वारे और तीर्थ आदि जो-जो पवित्र स्थान थे उनका दर्शन किया। वहाँ से आते एक पर्वत मिला उस पर मैं चढ़ गया और एक उत्तम स्थान पर चिरपर्यन्त तप किया। फिर वहाँ से एकान्त के निमित्त चला तो आगे एक आश्चर्य देखा सो कहता हूँ। हे रामजी! मैं वहाँ से चला जाता था कि बड़ा श्याम वन दिखलाई दिया जो मानो आकाश की मूर्ति था और शून्य और तमरूप था। उस वन में एक वृक्ष मुझको दृष्टि आया जिसके कोमल पत्र और सुन्दर टहनियाँ थीं और उसमें एक पुरुष लटकता था जिसके पाँव में मूँज का रस्सा बँधा था जो वृक्ष से बँधा हुआ था और उसका शीश नीचे, चरण ऊपर और दोनों हाथ छाती पर पड़े हुए थे। तब मैंने विचार किया कि यह मृतक होगा इसको देखूँ। जब मैं निकट गया तब उसमें श्वास आते-जाते देखे। उसका युवावस्था का शरीर था और वह हृदय से सबका ज्ञाता और शीत, उष्ण, अँधेरी और मेघ को सह रहा था। हे रामजी! तब मैंने जाना कि यह तपस्वी है और इसकी शूरवीरता बड़ी है। निदान मैं उसके निकट बैठ गया और उसके चरण जो बँधे हुए थे उनको कुछ ढीला किया। फिर उससे मैंने कहा कि हे साधो! ऐसी क्रूर तपस्या तुम किस

निमित्त करते हो; अपना वृत्तान्त मुझसे कहो ? उसने नेत्र खोलके कहा, हे साधो ! यह तप मैं अपनी किसी कामना के अर्थ करता हूँ पर वह ऐसी कामना है कि जो तुम उसे सुनोगे तो हँसी करोगे । हे रामजी ! जब इस प्रकार उसने कहा तब मैंने कहा, हे साधो ! मैं हँसी न करूँगा, तू अपना वृत्तान्त कह और जो कुछ तेरा कार्य हो तो कह मैं कर दूँगा । जब मैंने इस प्रकार बारम्बार कहा तब उसने कहा कि मन को उद्वेग से रहित करके सुन मैं कहता हूँ । मैं ब्राह्मण हूँ और मथुरा में मेरा जन्म हुआ है । वहाँ जब मेरी बाल अवस्था व्यतीत हुई और यौवन अवस्था का प्रारम्भ हुआ तब मैंने वेद और शास्त्रों को भली प्रकार जाना पर एक वासना मुझे उदय हुई कि सबसे बड़ा सुख राजा भोगता है इसलिये मैं राजा होकर सुख भोगूँ कि क्या सुख है, क्योंकि और सुख मैंने भोगे हैं । फिर विचार किया कि राज्य का सुख तो तब भोग सकता हूँ जब राजा होऊँ पर राजा क्योंकर हो जाऊँ; राजा तब होता है जब तप करता है; इससे तप करूँ । हे साधो ! ऐसे विचारकर मैं तप करने लगा हूँ । द्वादशवर्ष मुझे तप करते व्यतीत हुए हैं और आगे भी करूँगा । जबतक सप्तद्वीप का राज्य मुझको नहीं प्राप्त होता तबतक मैं तप करूँगा । मैंने यही निश्चय धारा है कि या तो मेरा शरीर ही नष्ट होगा अथवा सप्तद्वीप का राज्य ही मुझको प्राप्त होगा । यही मेरा निश्चय है सो मैंने तुझसे कहा, अब जहाँ जाने की तुझको इच्छा हो वहाँ जा । हे रामजी ! इस प्रकार कहकर उस तपस्वी ने फिर नेत्र मूँदकर चित्त स्थित करने को समाधान किया और इन्द्रियों से विषयों को त्यागकर मन निश्चल किया । तब मैंने उससे कहा कि हे मुनीश्वर ! मैं भी तेरे पास बैठा हूँ और जबतक तुझे वर की प्राप्ति नहीं होती तबतक मैं तेरी टहल करूँगा मुझे तेरे ऊपर दया आई है । हे रामजी ! इस प्रकार उससे कहकर मैं उद्वेग से रहित षट् मास पर्यन्त उसके पास बैठा रहा और उसकी रक्षा करता रहा; जब धूप आवे तब छाया करूँ और आँधी और मेघ में अपने शरीर को देके उसकी रक्षा करूँ । निदान छः महीने बीते तब सूर्य के मण्डल से एक पुरुष निकला जो बड़ा प्रकाशवान्—मानो विष्णु भगवान् का तेज

था और वह हमारे निकट आया । उसको देखकर मैंने मन, वाणी और शरीर तीनों से उसकी पूजा की; तब उस पुरुष ने कहा; हे तपस्विन् ! अब इस तप को त्याग और जो कुछ इच्छा है सो माँग । तेरी इच्छा तो यही है कि मैं सप्तद्वीपों का राजा होऊँ सो तू सप्तद्वीप पृथ्वी का राजा और जन्म में होगा और सप्त सहस्रवर्ष पर्यंत राज्य करेगा परन्तु और शरीर से होगा । हे रामजी ! इस प्रकार कहकर वह पुरुष सूर्य के मण्डल में अन्तर्धान हो गया जैसे समुद्र से तरङ्ग निकल कर लय हो जावे, तैसे ही वह लीन हुआ तब मैंने उससे कहा, हे ब्राह्मण ! अब तू क्यों संकट सहता है ? जिस निमित्त तू तप करता था सो वर तो तुझको प्राप्त हुआ—अब क्यों संकट सहता है ? हे रामजी ! जब इस प्रकार मैंने कहा कि सूर्य के मण्डल से निकलकर एक बड़ा तेजवान् पुरुष तुझको वर दे गया है तब उसने नेत्र खोल दिये और मैंने उसके चरणों से रस्सी खोल दी । उसका तेज उस समय बड़ा हो गया और उसके शरीर की कान्ति प्रकाशवान् हुई । उस स्थान के निकट एक जल से रहित तालाब था सो उसके पुण्य से जल से पूर्ण हो गया और उसमें हम दोनों ने स्नान किया और मन्त्र पाठ करके संध्या की । और फिर हम दोनों वृक्ष के नीचे आये और जो वृक्ष फल से रहित थे वे उसकी पुण्यवासना से फल से पूर्ण हो गये निदान उन फलों को हमने भक्षण किया और तीन दिन पर्यन्त वहाँ रहकर फिर चले तब वह बोला; हे साधो ! हम देश को चले हैं । जबतक शरीर है तबतक शरीर के स्वभाव भी हैं । फिर आगे एक वन आया जिसमें बहुत सुन्दर फूल, फल और बूटे लगे हुए थे और उन पर भँवरे विचरते थे; जल के प्रवाह चलते थे और कोयल, तोते, बगले आदि पक्षी संयुक्त वृक्ष हमने देखे । आगे फिर ताल वृक्ष बहुत देखे और कन्दरा के स्थान आये उन्हें हम लाँघते गये । हे रामजी ! इसी प्रकार हम राजसी, तामसी और सात्त्विकी तीनों गुणों के रचे स्थानों को लाँघते-लाँघते मथुरानगर के मार्ग आये जो सूधा था पर उसको छोड़कर वह टेढ़े मार्ग को चला तब मैंने कहा: हे साधो ! सूधे मार्ग को छोड़कर तू टेढ़े मार्ग से क्यों चलता है ? उसने कहा, हे साधो ! चला आ इस मार्ग में

गौरी भगवती का स्थान है उनका दर्शन करते चलें और मेरे सात भाई जो गौरी के स्थान पर इसी कामना को लेकर तप करते थे उनकी भी सुधि लें। हे रामजी! जब हम उस मार्ग के सम्मुख चले तब आगे एक महाशून्य वन आया जो मानो शून्य आकाश था और महातमरूप था कि वहाँ वृक्ष, पशु, पक्षी और मनुष्य कोई दृष्टि न आता था। उस वन में पहुँचकर उसने मुझसे कहा, हे ब्राह्मण! इस स्थान में मैं आगे षट्मास रहा हूँ और मेरे सात भाई और थे उन्होंने भी यही कामना धार करके देवी का तप आरम्भ किया था चलो देखें। वह महापवित्र स्थान है जिसके दर्शन किये से सम्पूर्ण पाप नष्ट होजाते हैं। तब मैंने कहा चलिये पवित्र स्थान को अवश्य देखना चाहिये। हे रामजी! ऐसे विचार कर हम चले और जाते-जाते मरुस्थल की तपी हुई पृथ्वी पर जा निकले तब वह ब्राह्मण देखकर गिर पड़ा और कहने लगा कि हा कष्ट-कष्ट हम कहाँ आन पड़े! तब तो मुझको भी भ्रम उदय हुआ कि यह क्या हुआ। निदान वह फिर उठा और दोनों आगे गये तो एक वृक्ष हमको दृष्टि आया कि उसके नीचे एक तपस्वी ध्यान में स्थित बैठा था। हम उसके निकट गये और कहा; हे मुनीश्वर! जाग जाग। जब हमने बहुत बार कहा तब उसने नेत्र खोलकर हमको देखा और कहा तुम कौन हो? ऐसे कहकर फिर कहा बहुत आश्चर्य है कि यहाँ गौरी का स्थान था वह कहाँ गया और भी वृक्ष, बावलियाँ, कमल और सुन्दर स्थान और बड़े ऋषीश्वर और मुनीश्वरों के स्थान थे वह कहाँ गये? हे साधो! यह क्या आश्चर्य हुआ सो तुम कहो? तब हमने कहा, हे मुनीश्वर! हम नहीं जानते हम तो अभी आये हैं; इसको तो तुम्हीं जानो। तब उनने कहा बड़ा आश्चर्य है। हे रामजी! ऐसे कहकर वह फिर ध्यान में स्थित हो गया और व्यतीत वृत्तान्त का ध्यान करके देखने लगा। एक मुहूर्त पर्यन्त देखकर उसने फिर नेत्र खोलकर कहा कि बड़ा आश्चर्य हुआ है। तब हमने कहा, हे भगवन्! जो कुछ वृत्तान्त हुआ है सो कृपा करके हमसे कहो। तब तपस्वी ने कहा, हे साधो! एक समय वागीश्वरी भवानी इस वन में आई और उसने रहने का एक स्थान बनाया जिसमें वह शिव की

अर्धशरीर गौरी रही। उस स्थान के निकट बहुत सुन्दर कल्पवृक्ष, तमालवृक्ष, कदम्बवृक्ष इत्यादिक बहुत वृक्ष लगाये; कमलफूल आदि सर्व ऋतुओं के फूल लगाये और बावलियाँ और बगीचे अति रमणीय रचे जिन पर कोयल, भँवरे, तोते, मोर, बगले आदि पक्षी विश्राम करने और शब्द करने लगे। उसके निकट ऋषीश्वरों, मुनीश्वरों और तपस्वियों की कुटियाँ इन्द्र के नन्दनवन सदृश थीं और निकट व गाँव की बस्ती बहुत हुई। हे साधो! यहाँ आठ ब्राह्मण तप के निमित्त आये थे और षट्मास यहाँ ही रहे।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्रह्मगीतागौर्युद्यानवर्णनं नाम
द्विशताधिकचतुःषष्टितमस्सर्गः॥ २६४॥

कदम्ब बोले, हे साधो! मुझसे पूछो तो अपना वृत्तान्त मैं कहता हूँ। मैं मालव देश का राजा था और चिरपर्यन्त खेद से रहित मैंने विषय-भोग भोगे तब मुझको यह विचार उपजा कि यह संसार स्वप्नमात्र है और इसको सत्य जानकर स्थित होना मूर्खता है। इतनी मेरी आयु बीती पर मैंने सुकृत कुछ न किया। यह विषयभोग आपातरमणीय और नाशवन्त हैं इनको मैं चिरपर्यन्त भोगता रहा हूँ और मुझको शान्ति न प्राप्त हुई—तृष्णा बढ़ती गई—इससे वही उपाय करूँ जिससे मुझको शान्ति हो और फिर कदाचित् दुःखी न होऊँ। हे साधो! जब यह विचार मुझको उदय हुआ तब मैंने वैराग्य करके राज्य की लक्ष्मी त्याग की और ऋषि और मुनियों के स्थान देखता इस कदम्बवृक्ष के नीचे आया। यहाँ आठ भाई ब्राह्मण आये थे उनमें से एक यह तो इसी पर्वत पर तप करने लगा था; दूसरा स्वामिकार्त्तिक के पर्वत पर तप करने गया; तीसरा बनारस में तप करने लगा और चौथा हिमालय पर तप करने गया। चार भाई तो इस प्रकार चारों स्थानों को गये और चार भाई यहाँ तप करने लगे। उन सबकी यही कामना थी कि हम पृथ्वी के सातों द्वीपों के राजा हों। हे साधो। इसको तो सूर्य ने वर दिया है और बाक़ी जो सात थे उन्होंने वागीश्वरी भवानी का इष्ट करके तप किया जब वह प्रसन्न हुई और बोली कि वर माँगो तब उन्होंने कहा कि हम सप्तद्वीप पृथ्वी के राजा हों। निदान उन सातों ने एक ही वर माँगा और उनको वर देकर परमेश्वरी

अन्तर्धान हो गई। उन्होंने यह भी वर माँगा था कि यहाँ के वासियों का स्थान भी हमारे पास हो। हे साधो! इस वर को पाकर वे वहाँ से चले और अपने गृह गये और वागीश्वरी वहाँ बारह वर्ष पर्यन्त रहकर फिर उनकी मर्यादा थापने के निमित्त यहाँ से अन्तर्धान हो गई और यहाँ के वासी भी सब जाते रहे। वागीश्वरी के जाने से यह स्थान शून्य हो गया। एक यह कदम्ब का वृक्ष रह गया है और मैं ध्यान में स्थित रहा हूँ। यह कदम्ब का वृक्ष वागीश्वरी ने अपने हाथ से लगाया था इस कारण यह नष्ट नहीं हुआ और जर्जरीभाव भी नहीं हुआ। हे साधो! और सब जीव यहाँ आकर अदृष्ट हो गये इस कारण सब शुभ आचार न रहे। उन आठों भाइयों में सात आगे गये हैं और एक यह बैठा है इसको भी घर जाना है; वहाँ सब इकट्ठे होंगे। जैसे अष्टवसु ब्रह्मपुरी में एकत्र हों। हे साधो! जब वे गृह से तप करने के निमित्त निकले तब उनकी स्त्रियों ने विचार किया कि हमारे भर्ता तो तप करने गये हैं हम भी जाकर तप करें इसलिये उन आठों ने तप आरम्भ किया और सौ सौ चान्द्रायणव्रत किये तब उनका शरीर जैसे वसन्तऋतु की मञ्जरी जेठ आषाढ़ में कृश हो जाती है तैसे ही हो गया। एक तो भर्ता का वियोग; दूसरे तप से वे कृश हो गईं तब पार्वती वागीश्वरी प्रसन्न हुईं और बोलीं कि कुछ वर माँगो। जैसे मेघ को देखकर मोर प्रसन्न होकर बोलता है तैसे ही वे प्रसन्न होके बोलीं; हे देवताओं की ईश्वरी! हम यह वर माँगती हैं कि हमारे भर्ता अमर हों और जैसे तेरा और शिव का संयोग है तैसे ही हमारा उनका हो। तब भवानी ने कहा, हे सुभद्रे! इस शरीर से तो कोई अमर नहीं होता। आदि जो सृष्टि हुई है उसमें नेति हुई है कि शरीर से कोई अमर न रहेगा और जितना कुछ जगत् देखती हो वह सब नाशरूप है; कोई पदार्थ स्थिर नहीं रहता इसलिये और कुछ वर माँगो। तब ब्राह्मणियों ने कहा, हे देवि! भला जो हमारे भर्ता मरें तो उनके जीव हमारे गृह में रहें और उनकी संवित् बाहर न जावे। तब वागीश्वरी ने कहा, ऐसे ही होगा कि उनके जीव तुम्हारे ही घर में रहेंगे और उनको जो लोकान्तर भासेगा उसके साथ ही तुम भी उनकी स्त्री होकर स्थित होगी। ऐसे कहकर वागीश्वरी अन्तर्धान हो गई। कुन्ददन्त बोले, हे रामजी! इस प्रकार सुनकर मैं आश्चर्यवान् हुआ तब मैंने कहा, हे मुनीश्वर! यह तो तुमने बड़ी आश्चर्य कथा सुनाई कि आठों भाइयों ने एक ही वर पाया। उनको एक पृथ्वी में सातों द्वीपों का राज्य क्योंकर प्राप्त होगा? हे रामजी! जब इस प्रकार उससे मैंने पूछा; तब कदम्बतपा ने कहा, हे साधो! यह क्या आश्चर्य है और आश्चर्य सुनो। हे ब्राह्मण! जब यह आठों भाई तप के लिये घर से निकले थे तब इनके पिता माता ने भी विचार किया कि हमारे पुत्र तो तप करने गये हैं इसलिये हम भी उनके निमित्त जाकर तप करें और उनकी स्त्रियों को अपने साथ लेकर तीर्थ और ठाकुरद्वारे दिखाते फिरें। निदान उन्होंने भी बैठकर तप किया और कुछ चान्द्रायण व्रत करके देवी को प्रसन्न किया। देवी से वर लेकर जब वे अपने घर को आने लगे तब एक स्थान में दुर्वासा ऋषीश्वर बैठा था, जिसके दुर्बल अङ्ग और विभूति लगी थी और जटा खुली हुई थी। उसको देखकर वे पास से ही चले गये पर उसे नमस्कार न किया तब उसने कहा, हे ब्राह्मण! तुम क्यों दुष्ट स्वभाव से हमारे पास से चले गये और हमको नमस्कार भी न किया? अब तुम्हारा वर निवृत्त होगा। जो वर तुमको प्राप्त हुआ है सो न होगा उसके विपरीत हो जावेगा। तब उन्होंने कहा, हे मुनीश्वर! यह वचन तुम कैसे कहते हो; हमारे ऊपर क्षमा करो। यह ऐसे ही कह रहे थे कि वह अन्तर्धान हो गया और ब्राह्मण अपने गृह में आये और शोकवान् हुए। हे ब्राह्मण! देख जबतक आत्मबोध से शून्य है तबतक अनेक दुःख उपजेंगे; कई प्रकार के आश्चर्य भासेंगे और सन्देह दूर न होवेगा। जब आत्मबोध होगा तब कोई आश्चर्य न भासेगा। हे ब्राह्मण! यह सब चिदाकाश में मायामात्र ही रचना बनती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे ब्राह्मणकथावर्णनं नाम
द्विशताधिकपञ्चषष्टितमस्सर्गः ॥ २६५ ॥

कुन्ददन्त ने कहा, हे भगवन्! मैं यह सुनकर आश्चर्यवान् हुआ हूँ और मुझे एक संशय उत्पन्न हुआ है सो निवृत्त कीजिये? तुमने कहा कि एक द्वीप में आठों इकट्ठे सप्तद्वीप के राजा होंगे पर सातों द्वीप तो

एक ही हैं और राज्य करनेवाले आठ हैं, यह कैसे राज्य करेंगे और इन्होंने वर और शाप दोनों पाये हैं यह इकट्ठे क्योंकर होंगे ? जैसे धूप और छाया और दिन और रात्रि इकट्ठे होने कठिन हैं; तैसे ही वर और शाप एक होने कठिन हैं। कदम्बतपा बोले, हे साधो ! जो कुछ इनकी भविष्यत् होगी सो मैं कहता हूँ जब कुछ काल गृहस्थी में व्यतीत होगा तब इनके शरीर छूट जावेंगे और इनको कुटुम्बी जलावेंगे। इनकी पुर्यष्टका अनुभव से मिली हुई है इस कारण एक मुहूर्तपर्यन्त इनको जड़ीभूत सुषुप्ति होगी और उसके अनन्तर चैतन्यता फुर आवेगी। तब शंख, चक्र, गदा, पद्मसहित चतुर्भुज विष्णु का रूप धार के वर आवेंगे और त्रिनेत्र हाथ में त्रिशूल लिये और भृकुटी चढ़ाये क्रोधवान् सदाशिव का रूप धारणकर शाप आवेंगे; तब वर कहेंगे कि हे शाप ! तुम क्यों आये हो अब तो हमारा समय है ? जैसे एक ऋतु के समय दूसरी नहीं आती, तैसे ही तुम न आवो। तब शाप कहेंगे, हे वरो ! तुम क्यों आये हो अब तो हमारा समय है ? जैसे एक ऋतु के होते दूसरी का आना नहीं बनता, तैसे ही तुम्हारा आना नहीं बनता। तब वर कहेंगे हे शाप ! तुम्हारा कर्ता ऋषि मनुष्य है और हमारा कर्ता देवता है। मनुष्य से देवता पूजने योग्य हैं, क्योंकि बड़े हैं, इससे तुम जावो। जब इस प्रकार वर कहेंगे, तब शाप क्रोधवान् होंगे और मारने के निमित्त त्रिशूल हाथ में उठावेंगे, तब वर कहेंगे, हे शाप ! यदि तुम और हम लड़ेंगे तो पीछे किसी बड़े न्यायकर्ता के पास जावेंगे जो हमारा न्याय चुका देगा इससे प्रथम ही क्यों न जावें ? तब शाप कहेंगे, हे वर ! जो कोई युक्तिसहित वचन कहता है उसको सब कोई मानते हैं; तुमने भला कहा है चलिये। ऐसे चर्चा करके दोनों ब्रह्मपुरी में जावेंगे और ब्रह्माजी को प्रणाम करेंगे और सब वृत्तान्त कहकर कहेंगे, हे देव ! हमारा न्याय करो कि उनको वर स्पर्श करे अथवा शाप स्पर्श करे? तब ब्रह्माजी कहेंगे, हे साधो! जिसका अभ्यास उनके भीतर दृढ़ हो वह प्रवेश करे। तब वर के स्थान शाप जाकर ढूँढ़ेंगे और शाप के स्थान वर जाय ढूँढ़ेंगे और ढूँढ़कर शाप आय के कहेंगे; हे स्वामिन् ! हमारी हानि हुई और वर की जय हुई है

क्योंकि उनके भीतर वर ही स्थित है। जिसका अभ्यास हृदय में स्थित है उसी की जय होती है सो तो इनके भीतर वज्रसार की नाईं वर स्थित है। हे स्वामिन् ! हमारा आधिभौतिक शरीर कोई नहीं; हम तो संकल्परूप हैं। जिस संकल्प की दृढ़ता होती है वही उदय होता है वर का कर्ता भी ज्ञानमात्र होता है; वर को लेता भी वही ज्ञानरूप है और वर को ग्रहण करता जानता है कि यह हमारा स्वामी है उस संकल्प से वर का कर्ता देवता जानता है कि मैंने वर दिया है और ग्रहण करनेवाला जानता है कि मैंने वर लिया है। हे ईश्वर ! उसका जो वररूप संकल्प है सो उसके निश्चय में दृढ़ हो जाता है। जिस संकल्प की संवित् से एकता होती है वही प्रकट होता है। इसी प्रकार शाप भी है परन्तु न कोई वर है, न शाप है दोनों संकल्परूप हैं। जैसा संकल्प अनुभव आकाश में दृढ़ होता है वही भासता है। वर देनेवाला भी अनुभवसत्ता है और लेनेवाला भी आत्मसत्ता है। वही सत्ता वररूप होकर स्थित होती है और वही सत्ता शापरूप होकर स्थित होती है। जिस संकल्प की दृढ़ता होती है उसी का अनुभव होता है। हे स्वामिन्! यह तुमसे सुना हुआ हम कहते हैं कि इसको कोई बाहर का कर्म फलदायक नहीं होता जो कुछ भीतर सार होता है वही फल होता है। इनके भीतर तो वर का संकल्प दृढ़ है और हमारा नहीं है तो हमारा तुमको नमस्कार है—अब हम जाते हैं। हे कुन्ददन्त ! इस प्रकार से शाप आधिभौतिक शरीर त्यागकर अन्तवाहक शरीरसे अन्तर्धान हो जावेंगे। जैसे आकाश में भ्रम से तरुवरे भासें और सम्यक्ज्ञान से अन्तर्धान हो जावें; तैसे ही शाप अन्तर्धान हो जावेंगे तब ब्रह्माजी कहेंगे, हे वर ! तुम शीघ्र ही उनके पास जावो और वह वर और दूसरा वर जो उनकी स्त्रियों ने लिया था कि उनकी पुर्यष्टका अन्तःपुर में रहे। फिर पूछेंगे, हे भगवन् ! हमको क्या आज्ञा है। हमको तो उनको उसी मन्दिर में रखना है और उनको सप्तद्वीप पृथ्वी का राज्य भी भोगना है और दिग्विजय करना है यह कैसे होगा ? तब ब्रह्माजी कहेंगे हे साधो यह क्या है ? जो उन्हें सप्तद्वीप की पृथ्वी का राज्य करना है तो उनका

तुम्हारे साथ विरोध कुछ नहीं। तुमको उसी मन्दिर में उनकी पुर्यष्टका रखनी है और वहीं राज्य भुगावना है इसलिये जो कुछ तुम्हारा स्वभाव है सो करना! कुन्ददन्त ने पूछा, हे भगवन्! इससे तो हमको बड़ा संशय उत्पन्न हुआ है कि उसी मन्दिर में आठों भाई सप्तद्वीप पृथ्वी का राज्य कैसे करेंगे? इतनी पृथ्वी उस मन्दिर में क्योंकर समावेगी यही आश्चर्य है? जैसे कमल के फूल की कली में कोई कहे कि हाथी शयन करे वा हाथियों की पंक्ति है सो आश्चर्य है; तैसे ही यह आश्चर्य है। ब्राह्मण बोले, हे साधो! ब्रह्मरूपी आकाश है उसके अणु का जो सूक्ष्म अणु है उसमें जो स्वप्ना फुरा है सो हमारा जगत् है। यदि स्वप्ने में यह सृष्टि समा रही है तो मन्दिर में समाना क्या आश्चर्य है! हे साधो! यह सब जगत् स्वप्नमात्र है और अहंत्वमादिक सब जगत् स्वप्ननिद्रा में फुरता है। आत्मसत्ता सदा अद्वैत, परमशान्त और अनन्त है और उसमें जगत् आभासमात्र है। जैसे स्वप्ने में अपना अनुभव ही सूक्ष्म से सूक्ष्म होता है और उसमें त्रिलोकी भासि आती है। यदि सूक्ष्म संवित् में त्रिलोकी भासि आती है तो मन्दिर में भासना क्या आश्चर्य है? हे साधो! जब यह पुरुष मर जाता है तब इसकी सूक्ष्म पुर्यष्टका जड़ हो जाती है और उसमें फिर त्रिलोकी फुर आती है। तुम देखो कि यदि सूक्ष्म ही में भासि आई और जो परमसूक्ष्म में सृष्टि बन जाती है तो मन्दिर में होने का क्या आश्चर्य है? हे साधो! यह सर्व जगत् जो भासता है सो आत्मा में स्थित है और उसका किञ्चन इस प्रकार हो भासता है। अब तुम जावो उनको राज्य भुगावो। हे कुन्ददन्त! जब इस प्रकार ब्रह्माजी कहेंगे तब वर नमस्कार करके आधिभौतिक शरीर त्याग देंगे और अन्तवाहक शरीर से उनके हृदय में स्थित होंगे। जैसे एक शत्रु को दूर करके दूसरा स्थित हो तैसे ही शाप को दूर करके उनके हृदय में वर आन स्थित हुए और उनको त्रिलोकी भासने लगी और पुर्यष्टका को अन्तःपुर में वर ने रोक छोड़ा। जैसे बाँध जल को रोकता है तैसे ही उनकी पुर्यष्टका को वर ने रोका। हे कुन्ददन्त! इस प्रकार उनको अपने अन्तःपुर में सृष्टि भासी और उन्होंने जाना कि हम सातों द्वीप के

राजा हुए हैं। इस प्रकार वे आठों उस अन्तःपुर में सातों द्वीप पृथ्वी के राजा हुए परन्तु परस्पर अज्ञात रहे। एक सप्तद्वीप का राजा हुआ और जम्बूद्वीप में जो उज्जैननगर है उसमें उसकी राजधानी हुई। दूसरा कुशद्वीप में रहने लगा; तीसरा क्रौंचद्वीप में रहने लगा, चौथा शाकद्वीप का राजा हुआ और उससे हरकारे कहने लगे कि पाताल के नाग बड़े दुष्ट हैं उनको किसी प्रकार जीतो। तब वह समुद्र के मार्ग से पाताल में नागों को जीतने जावेगा और एक द्वीप में अपनी स्त्री से शान्त हो जावेगा। पाँचवाँ शाल्मलिद्वीप में स्थित होगा जहाँ बड़ी प्रकाशसंयुक्त स्वर्ण की पृथ्वी है। वहाँ एक पर्वत होगा और उसके ऊपर एक ताल होगा जिसमें वह विद्याधरों से लीला करता फिरेगा। और दिग्विजय करके आवेगा। उसकी प्रजा बड़ी धर्मात्मा और मानसी पीड़ा से रहित होगी। छठा गोमेदक नाम द्वीप में होगा और उसका युद्ध पुष्करद्वीपवाले से होवेगा। सातवाँ पुष्करद्वीप का राजा होगा जो गोमेदकवाले राजा से युद्ध करेगा और आठवाँ लोकालोक पर्वत का राजा होगा। हे कुन्ददन्त! इस प्रकार वे अपने अन्तःपुर में सृष्टि देखेंगे और राज्य भोगेंगे परन्तु परस्पर उनकी सृष्टि अदृश्य होगी। सबकी राजधानी भी मैंने तुमसे कही कि एक की जम्बूद्वीप के उज्जैननगर में, दूसरे की कुशद्वीप में, तीसरे की क्रौंचद्वीप में, चौथे की शाकद्वीप में, पाँचवें की शाल्मलिद्वीप में, छठे की गोमेदकद्वीप में, सातवें की पुष्करद्वीप में और आठवें की लोकालोक पर्वत की स्वर्णमय पृथ्वी में होगी। हे साधो! इस प्रकार उनकी भविष्यत् होगी सो मैंने सब तुमसे कही। जैसा हृदय में निश्चय होता है तैसा ही फल होता है। बाहर कैसी ही क्रिया करो और भीतर सत्ता नहीं तो वह फलदायक नहीं होती। जैसे नट स्वाँग बनाकर चेष्टा करता है परन्तु उसके भीतर उसका सद्भाव नहीं होता इससे वह फलदायक नहीं होती। हे साधो! जैसा हृदय में निश्चय होता है वही वरदायक होता है, इसलिये परमार्थ का निश्चय करना योग्य है।

इति श्रीयो० ब्राह्मणभवि० वर्णनन्नामद्विशताधिकषट्षष्टितमस्सर्गः २६६

कुन्ददन्त बोले, हे मुनीश्वर! मुझको बड़ा संशय हुआ है कि उन अन्तःपुर में अपने-अपने द्वीपों का राज्य वे क्योंकर करेंगे? कदम्ब तपा बोले, हे साधो! यह सर्व जगत् जो तुझको दृष्टि आता है सो कुछ बना नहीं; शुद्ध चिन्मात्रसत्ता अपने आपमें स्थित है। उनको जो अन्तःपुर में अपनी-अपनी सृष्टि भासेगी सो क्या रूप होगी? उनका जो अपना अनुभव है वही सृष्टिरूप हो भासेगा; आप ही सृष्टि रूप और आप ही राजा होंगे। यह जो कुछ जगत् तुझको भासता है सो भी परब्रह्म है भिन्न कुछ नहीं। जैसे समुद्र में तरङ्ग स्वाभाविक फुरते हैं सो जल ही रूप हैं और लीन होते हैं तो भी जल ही रूप हैं, जल से भिन्न नहीं और न कुछ उपजता है, न मिटता है; तैसे ही ब्रह्म में जगत् न उपजता है और न लीन होता है परब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं इससे वे ब्राह्मण भी अजरूप अपने आपको फुरने से जगत्रूप देखेंगे। हे साधो! जब सुषुप्ति होती है तब अद्वैत अपना ही अनुभव होता है और फिर उसमें स्वप्ने की सृष्टि फुर आती है पर वही सुषुप्तिरूप है; तैसे ही परम सुषुप्तिरूप आत्मा है जहाँ सुषुप्ति भी लीन हो जाती है और उसमें यह जगत् फुरता है सो वही रूप है। आधारआधेय से रहित ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। हे साधो! जैसे एक ही मन्दिर में बहुत पुरुष शयन करें तो उनको अपने-अपने स्वप्ने की सृष्टि भासती है इसमें कुछ आश्चर्य नहीं, तैसे ही उनको अपनी-अपनी सृष्टि भासेगी तो इसमें क्या आश्चर्य है? जो कुछ जगत् भासता है सो ब्रह्म में है और ब्रह्मरूप ही अपने आपमें स्थित है। कुन्ददन्त बोले, हे भगवन्! आत्मसत्ता तो एक और केवल है बल्कि उसको एक भी नहीं कह सकते और परम शान्त रूप, शिवपद और अद्वैतरूप है तो नाना प्रकार क्यों भासती है? यह तो स्वभावसिद्ध है सो नानात्व होकर वास्तव क्यों भासती है? कदम्ब तपा बोले, हे साधो! सर्वशान्तरूप और चैतन्य आकाश है और नाना प्रकार की जो भासती है सो और कोई नहीं आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि भासती है सो कुछ नहीं बनी अपना अनुभव ही सृष्टिरूप हो भासता है; तैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है।

हे साधो! सृष्टि के आदि अद्वैत आत्मसत्ता थी उसमें जो जगत् भासि आया सो भी तुम वही रूप जानो। जैसे समुद्र ही तरङ्गरूप हो भासता है, तैसे ही आत्मसत्ता सृष्टिरूप हो भासती है। जैसे कोई थम्भे से रहित स्थान में सोया हो उसको बहुत थम्भोंसंयुक्त मन्दिर भासि आवे तो वहाँ बना तो कुछ नहीं अनुभव आकाश ही थम्भरूप हो भासता है; तैसे ही जो कुछ जगत् तुमको भासता है सो अपना अनुभवरूप जानो। जैसे आकाश में शून्यता; अग्नि में उष्णता और बरफ में शीतलता है; तैसे ही आत्मा में जगत् है। चाहे कोई जगत् कहो अथवा ब्रह्म कहो पर ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। जैसे वृक्ष और तरु एक ही वस्तु है; तैसे ही ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु के दो नाम हैं। जगत्; इन्द्रियाँ और मन से अतीत आत्मा को जानो और जो इन तीनों का विषय है सो भी आत्मा को जानो दूसरी वस्तु कुछ नहीं। नानारूप जो दृष्टि आता है सो नानात्व नहीं हुआ—दूसरा नहीं भासता है। जैसे स्वप्ने में बड़े आरम्भ दृष्टि आते हैं और सेना और नाना प्रकार के पदार्थ भासते हैं परन्तु कुछ हुए नहीं, तैसे ही यह जगत् नाना प्रकार भासता है परन्तु कुछ हुआ नहीं सर्वचिदाकाशरूप है। जैसे एक निद्रा की दो वृत्ति हैं—एक स्वप्न और दूसरी सुषुप्तिरूप—स्वप्ने में नानात्व भासती है और सुषुप्ति में एक सत्ता होती है; तैसे ही चित् संवित् के फुरने में नानात्व भासता है और न फुरने में एक है। हे साधो! वह तो सर्वदाकाल में एकरूप है परन्तु प्रमाद से भेद भासता है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अपना ही अनुभवरूप है परन्तु प्रमाद से भिन्न भिन्न भासती है; तैसे ही यह जगत् है। हमको तो सर्वदाकाल वही भासता है। जैसे पत्र, फूल, फल और टहनी एक ही वृक्ष के नाम हैं; जो वृक्ष का ज्ञाता है उसको सब वृक्षरूप ही भासता है; तैसे ही सर्वनामरूप से हमको आत्मा ही भासता है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं भासता। आदि फुरने में जैसे निश्चय हुआ है सो और निश्चय पर्यन्त तैसे ही रहता है यह सब विश्व संकल्परूप है और संकल्प का अधिष्ठान ब्रह्म है—ब्रह्म ही संकल्परूप होकर भासता है। संकल्प से जगत् भासता है सो ब्रह्मरूप है; ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं—एकही

वस्तु के दो नाम हैं। जैसे वृक्ष और तरु दोनों एक वस्तु के नाम हैं; तै ही ब्रह्म और जगत् दोनों एक चैतन्य के नाम हैं। हे साधो! जो वा से अकथ है उसको ब्रह्म जानो और जो शब्द वाणी में आता है उस भी तुम ब्रह्म जानो—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जो ज्ञानवान् है उसको स ब्रह्मही भासता है पर अज्ञानी को नानात्व भासता है। जब अध्यात्म अभ्यास करोगे तब सब जगत् ब्रह्मरूप ही भासेगा—इसका नाम बोध है हे साधो! नाना प्रकार होकर जगत् दिखाई देता है तो भी नानात्व कुछ नहीं। जैसे समुद्र में द्रवता से नाना प्रकार के तरङ्ग, बुद्बुदे और चक्र दृष्टि आते हैं परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही सर्व पदार्थ ज दृष्टि आते हैं सो सब आत्मरूप हैं और जितने जीव बोलते दृष्टि आते हैं सो भी महा मौनरूप हैं कुछ बने नहीं। चित्त के फुरने से नाना प्रकार पदार्थ भासते हैं परन्तु आत्मा से भिन्न कुछ नहीं—वही चिदाकाश ज्यों का त्यों स्थित है और जो कुछ आत्मा से भिन्न विद्यमान भासता है उस अविद्यमान जानो। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से आदि जितना जगत् भासता सो सब स्वप्ने का विलास है जैसे नेत्रदूषण से आकाश में तरुवरे भास हैं, तैसे ही भ्रमदृष्टि से आत्मा में जगत् भासता है—कुछ बना नहीं। जैसे सुषुप्ति में पुरुष सोया होता है उसको फुरना नहीं फुरता और फिर उस सुषुप्ति से स्वप्ने की सृष्टि फुर आती है सो बनी कुछ नहीं वही सुषुप्ति है पर स्वप्ने में स्थित पुरुष को सत्य भासता है और जो अनुभव में जाग है उसको सुषुप्तिरूप है; तैसे ही इस जगत् को जानो। आत्मा से भि कुछ नहीं, जब जागकर देखोगे तब सब चिन्मात्र ही भासेगा जो शान्त रूप, अनन्त और सदा अपने आपमें स्थित है। उसमें जो जगत् भासता है सो सत्य भी नहीं और असत्य भी नहीं; सत्य इस कारण नहीं कि आभासमात्र और नाशवन्त है और असत्य इस कारण नहीं कि प्रकट भासता है और वास्तव में आत्मसत्ता से भिन्न नहीं। भाव, अभाव, सुख, दुःख, उदय, अस्त वही आत्मसत्ता इस प्रकार भासती है जैसे एक ही निद्रा के स्वप्न और सुषुप्ति दो पर्याय हैं तैसे ही जगत् और आत्मा दोनों एक ही सत्ता के पर्याय हैं। जैसे

एक ही वायु स्पन्द और निस्पन्द दो रूप होती है; तैसे ही आत्मसत्ता के दोनों रूप हैं। जब संवेदन नहीं फुरता तब अनिर्वचनीय होती है और जब अहंभाव को लेकर फुरती है तब संकल्परूपी सृष्टि बन जाती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, तत्त्व, नक्षत्र, चक्र, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी जल का नीचे चलना; अग्नि का ऊर्ध्व चलना; तारागणों का प्रकाशवान् होना; पृथ्वी स्थित भूत आदि जो स्थावर-जङ्गमरूप सृष्टि है सो अपने स्वभाव सहित भासि आती है और शुभ-अशुभ कर्म होते हैं उनमें सुख दुःख फल की नीति होती है परन्तु आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है। जैसे तू मनोराज से स्वप्ननगर कल्प ले और उसमें अनेक प्रकार की चेष्टा करे सो जबतक संकल्प होता है तबतक वही सृष्टि स्थित होती है और जब संकल्प मिट गया तब सृष्टि लय हो जाती है तो और वस्तु कुछ न हुई तेरा अनुभव ही सृष्टि रूप होकर स्थित हुआ; तैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है और कुछ नहीं। कुन्ददन्त ने पूछा, हे तपस्विन्! संकल्प तो पूर्वस्मृति को लेकर फुरता है; ब्रह्मा में मनोराज संकल्प की सृष्टि किस संस्कार को लेकर फुरती है यह संशय मेरा निवृत्त करो? कदम्बतपा बोले, हे साधो! यह सम्पूर्ण सृष्टि किसी संस्कार से नहीं उत्पन्न हुई, भ्रम से भासती है। जैसे स्वप्ने में मनुष्य आपको मृतक हुआ जानता है सो उसको पूर्व के संस्कार की स्मृति तो नहीं होती अपूर्व ही भासि आती है; तैसे ही ये पदार्थ जो तुझको भासते हैं सो अपूर्व हैं किसी स्मृति से नहीं हुए। स्मृति और अनुभव तो जगत् ही में उत्पन्न हुए हैं पर जब जगत् का फुरना न था तब स्मृति और अनुभव भी न थे। जब जगत् फुरा तब ये भी फुरे हैं इससे सम्पूर्ण जगत् अपूर्व है और भ्रम से भासता है। जैसे स्वप्ने में मुआ किसी कुल में अपना जन्म देखे और उसको ऐसे भासे कि कुल चिरकाल से चला आता है पर जब जाग उठे तब पूर्व किसको कहे और स्मृति किसकी करे; न कहीं जन्म रहता है और न कुल रहता है; तैसे ही ज्ञानवान् को यह जगत् आकाशरूप भासता है तो मैं तुझको पूर्व की स्मृति क्या कहूँ? हे ब्राह्मण! और कुछ बना

नहीं आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों स्थित है। जिससे यह सर्व जगत् हुआ है; जिसमें यह सर्व है और जो सर्व है सो सर्वात्मा है। जो वही है तो दूसरा किसको कहूँ ? इससे ऐसे जानकर तुम विचारो तब सब दुःख तुम्हारे नष्ट होंगे। हे साधो ! कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक ब्रह्मरूप हैं। कर्ता कर्म के करनेवाले को कहते हैं; कर्म जो है सो करने की संज्ञा है; करण क्रिया का साधक है; सम्प्रदान जिस निमित्त हो; अपादान जिससे लय कीजिये और अधिकरण जिसमें कीजिये। हे साधो ! ये छः कारक ब्रह्मरूप हैं। विश्व का कर्ता भी ब्रह्म है; विश्वकर्मा भी ब्रह्म है; विश्व का साधक भी ब्रह्म है; जिसके निमित्त यह विश्व है सो भी ब्रह्म है और जिसमें यह विश्व होता है सो भी ब्रह्म है। हे साधो ! ऐसा जो सर्वात्मा है उसको नम स्कार है। हे साधो ! उस सर्वात्मा को ऐसे जानना ही उसकी परम पूजा है। ऐसे ही तुम भी पूजन करो। हे साधो ! अब तुम जावो और अपने वाञ्छित में विचरो। तुम्हारे बान्धव तुमको चितवते होंगे उनके पास जावो—जैसे कमल के पास भँवरे जाते हैं—और हम भी समाधि में स्थित होते हैं। जो कुछ गुह्य बात है सो भी मैं कहता हूँ। जिससे कोई सुख पाता है वही करता है। मुझको तो जगत् दुःखदायक दृष्टि आता है इस कारण मैं समाधि में लगता हूँ। हे साधो ! यद्यपि मुझे सब अवस्था तुल्य हैं तो भी चित्त की वृत्ति जो संसार के कष्ट से दुःखित होकर आत्मपद में स्थित हुई है उस स्थिति के सुख के संस्कार से फिर उसी ओर धावती है। अब तुम जावो मैं समाधि में स्थित होता हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे द्विशताधिकसप्तषष्टितमस्सर्गः॥२६७॥

कुन्ददन्त बोले, हे रामजी ! इस प्रकार कहकर वह फिर समाधि में लगा और इन्द्रियों और मन की क्रिया से रहित हुआ—मानो कागज पर मूर्ति लिखी हो। तब फिर हम उसे बहुत जगाते रहे और बड़े शब्द किये परन्तु वह न जागा। निदान हम वहाँ से चले और उस ब्राह्मण के घर आये तो उसके घर में बड़ा उत्साह हुआ और समय पाकर क्रम से वे सातों भाई मर गये पर अष्टम मेरा मित्र जीता रहा वह भी कुछ दिन में मृतक हो गया तब मैं बहुत शोकवान् हुआ कि मेरा प्रियतम भी मर गया अब मैं क्या करूँ। हे रामजी ! तब मैंने विचार किया कि फिर मैं कदम्बतपा के पास जाऊँ तो मेरा दुःख नष्ट होगा। निदान मैं वहाँ गया और तीन मास पर्यन्त उसके पास रहा। उसको मैं जगाता रहा परन्तु वह न जागा पर जब तीन मास हो चुके तब वह जागा और मैंने उसको प्रणाम करके कहा; हे मुनीश्वर ! वे तो अपने-अपने राज्य को भोगने लगे और मैं अकेला कष्टवान् हूँ इससे मेरा दुःख तुम नष्ट करो—मैं तुम्हारी शरण आया हूँ। कदम्बतपा बोले, हे साधो ! मेरे उपदेश से तुझको स्वरूप का साक्षात्कार न होगा; क्योंकि तुझको अभ्यास नहीं है। अभ्यास विना स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता इससे मेरा कहना भी व्यर्थ होगा। मैं दुःख नष्ट होने का एक उपाय तुझसे कहता हूँ उससे तू मेरे समान दुःख से रहित होकर अनन्त आत्मा होगा। हे साधो ! अयोध्यानगरी के राजा दशरथ के गृह में रामजी पुत्र हुए हैं जिनको वशिष्ठजी मोक्षोपाय उपदेश करेंगे और बड़ी सभा में कहेंगे वहाँ तू जा तो तुझको भी स्वरूप की प्राप्ति होगी—संशय मत कर। हे रामजी ! जब इस प्रकार उस तपस्वी ने मुझसे कहा, तब मैं वहाँ से चलकर तुम्हारे पास आया हूँ। जो कुछ तुमने पूछा था सो सब वृत्तान्त मैंने कहा और जो कुछ देखा सुना था वह भी कहा। रामजी बोले, हे वशिष्ठजी ! जो वृत्तान्त मैंने उससे सुना था सो प्रभु के आगे कहा और कुन्ददन्त भी तुम्हारे पास बैठा है अब इससे पूछिये कि स्वरूप की प्राप्ति हुई अथवा नहीं हुई ? बाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब इस प्रकार रामजी ने कहा तब मुनियों में शार्दूल वशिष्ठजी उसकी ओर कृपादृष्टि करके बोले, हे ब्राह्मण ! यह मोक्षोपाय जो मैंने सम्पूर्ण कहा है उसको सुनकर तूने क्या जाना ? कुन्ददन्त बोले, हे सर्वसंशयों के निवृत्त करनेवाले ! तुम्हारे वचनरूपी प्रकाश से मेरे अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश हुआ है; जो कुछ जानने योग्य पद है सो मैंने जाना है और जो कुछ पाने योग्य था सो मैंने पाया। अब मैं अपने स्वभाव में स्थित हुआ हूँ और मुझको कोई कल्पना नहीं रही। मैं अनन्त आत्मा हूँ और नित्य, शुद्ध, अच्युत,

परमानन्द स्वरूप हूँ—सर्व जगत् मेरा ही स्वरूप है। हे भगवन्! अन्तः पुर में इतनी सृष्टि के समा जाने का जो संशय था सो तुम्हारे वचनों से दूर हुआ और अब एक-एक राई में मुझको ब्रह्माण्ड भासते हैं और आत्मत्व भाव से दिखाई देते हैं। जैसे अनेक दर्पणों में अपना मुख ही भासता है; तैसे ही मुझको सर्व ओर अपना आप ही भासता है। हे भगवन्! तुम्हारे वचन मैंने आदि से लेकर अन्त पर्यन्त सम्पूर्ण सुने हैं जो परम पावन; सार के परमसार और आत्मबोध के कारण हैं। उनके विचारों से मेरी भ्रान्ति निवृत्त हो गई है और अब मैं अपने आप में स्थित हुआ हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे कुन्ददन्तविश्रामप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकाष्टषष्टितमस्सर्गः ॥ २६८ ॥

बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार कुन्ददन्त ने कहा तब वशिष्ठजी सुनकर परम उचित वचन परमपदपावन का कारण फिर कहने लगे कि हे रामजी ! अब कुन्ददन्त ने आत्मअनुभव में विश्राम पाया है इसको अब हस्तामलकवत् अपना आप अनुभवरूप जगत् भासता है। आत्मा ही दृश्यरूप होकर भासता है और आत्मा ही द्रष्टारूप है दूसरी वस्तु कुछ नहीं। अपना अनुभव ही जगत्रूप हो भासता है सो अनुभव आकाश सम शान्तरूप, अनन्त और अखण्ड सदा ज्यों का त्यों है। हे साधो ! वह नानारूप भासता है परन्तु अनाना है और सदा ज्यों का त्यों अचेत चिन्मात्र परमशून्य है जिसमें शून्य भी शून्य हो जाता है और चेत दृश्यरूप फुरने से रहित है इसी कारण परमशून्य है; बोलता दृष्टि आता है परन्तु परममौन है। हे रामजी ! उसमें जगत् कुछ बना नहीं; जैसे स्वप्न में पहाड़ दृष्टि आते हैं सो न सत्य हैं और न असत्य हैं; तैसे ही यह जगत् सत्य असत्य से विलक्षण है, क्योंकि कुछ बना नहीं—जो कुछ भासता है सो आत्मा है। जैसे रत्नों का प्रकाश चमत्कार होता है, तैसे ही आत्मा का प्रकाश जगत् है और जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्गरूप हो भासता है, तैसे ही ब्रह्म संवेदन से जगत्रूप हो भासता है। आदि स्पन्द फुर आई है सो जगत्रूप होकर स्थित है और वह जैसे हुआ है तैसे हुआ है पर आत्मा कार्य-कारणभाव से रहित है। जिसको

प्रमाद है उसको यह कार्य-कारणभाव सहित भासता है और उसको तैसा ही है पर जो सत्य जानकर पाप करते हैं उनके बड़े पाप उदय होते हैं और स्थावररूप होकर फिर जङ्गम मनुष्य होते हैं। हे रामजी ! इस प्रकार यह ज्ञानसंवित् चैतसम्बन्धी होकर नाना प्रकार के रूप धारती है और प्रमाद से भिन्न-भिन्न भासती है परन्तु स्वरूप से कुछ और नहीं होती सदा अखण्डरूप है। जबतक प्रमाद होता है तबतक जगत् का आदि और अन्त नहीं भासता और जब प्रमाद से जागता है तब सर्वकल्पना मिट जाती हैं। हे रामजी ! यह सर्व जगत् जो भासता है सो कुछ बना नहीं वही ब्रह्मसत्ता अपने आप में स्थित है। जब जाग्रत् अवस्था का अभाव होता है और सुषुप्ति आती है तो उसमें न शुभ की कल्पना रहती है और न अशुभ की कल्पना रहती है; उदय-अस्त की कल्पना से रहित केवल अद्वैतसत्ता रहती है और जब फिर उसमें चैतन्यता फुरती है तब फिर स्वप्न की सृष्टि भासती है। कहीं स्थावर जङ्गम सृष्टि भासती है जिसमें संवेदन फुरती भासती है सो जङ्गम कहाता है और जिसमें संवेदन फुरना नहीं भासता सो स्थावर कहाता है परन्तु और कुछ नहीं वही अद्वैत अनुभवसत्ता स्थावर जङ्गमरूप हो भासती है; तैसे ही आत्मा अनुभव यह जगत् हो भासता है। हे रामजी ! सृष्टि के आदि परम सुषुप्तिसत्ता थी उसमें संवेदन फुरने से जगत् भासि आया सो वही संवेदनरूप जगत् है और जिस आत्मसत्ता में फुरी है वही रूप है भिन्न कुछ नहीं। जैसे शरीर के अङ्ग हाथ, पाँव, नख, केशादिक सब शरीररूप हैं तैसे ही परमात्मा के अङ्ग हस्त पादादिक हैं रोम सृष्टि और नख केशादिक स्थावर सृष्टि सब आत्मरूप है और दूसरी वस्तु कुछ नहीं बनी। जैसे स्वप्न की सृष्टि अनुभवरूप होती है और संकल्पपुर की रची सृष्टि संकल्परूप होती है; तैसे ही यह सृष्टि अनुभवरूप है और किसी कारण से नहीं उपजी—इससे ब्रह्म ही रूप है। ब्रह्म के सूक्ष्म अणु में सृष्टि फुरी है सो क्या रूप है ? ब्रह्म ही सृष्टि है और सृष्टि ही ब्रह्म है—ब्रह्म और जगत् में भेद कुछ नहीं परन्तु अज्ञाननिद्रा से भिन्न-भिन्न भासता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! निद्रा का कितना प्रमाण है और कितने

काल पर्यन्त रहती है ? सूक्ष्म अणु में सृष्टि कैसी फुरी है और कैसे स्थित है ? अणु में उसकी क्यों संज्ञा है और अनन्त क्योंकर है ? जो देवता असुरादिकरूप को चित्त प्राप्त हुआ है वह क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अज्ञान निद्रा अपने काल में तो अनादि है और नहीं जानी जाती कि कबकी हुई है और अन्त भी नहीं जाना जाता कि कबतक रहेगी। अज्ञानकाल में तो इसका आदि अन्त प्रमाण कुछ नहीं भासता और बोध में इसका अत्यन्ताभाव दीखता है। चित्सत्ता की जो अनन्तता पूछो तो वह तो अद्वैत चिन्मात्र आत्मसमुद्र है और उसमें सूक्ष्मभाव अहमस्मि जो संवित् फुरती है उसका नाम चित्त है। उस चित्त में आगे जगत् होता है। शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन चित्त फुरता है उसमें जगत् है; वही चिद्सत्ता देवता, असुर और जङ्गमरूप हो भासती है और नाग, पिशाच, कीटादिक स्थावर-जङ्गमरूप हो भासती है। वास्तव में चैतन्यसत्ता ही है उससे भिन्न कुछ नहीं और सब चिदाकाशरूप है फुरने से नाना प्रकार है। हे रामजी ! परम शुद्ध चिद्अणु से मिलकर चित्त अनेक ब्रह्माण्ड धारता है और उस सूक्ष्म अणु में अनन्त ब्रह्माण्ड फुरते हैं परन्तु उससे भिन्न नहीं। जैसे एक पुरुष शयन करता है तो उसको स्वप्ने में अनेक जीव भासि आते हैं और उन जीवों में अपने-अपने स्वप्ने की सृष्टि फुरती है सो अनेक सृष्टि हो जाती हैं तैसे ही सूक्ष्म चिद्अणु में अनन्त सृष्टि फुरती है परन्तु आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं बना। जैसे सूर्य की किरणों में अनन्त सूक्ष्म त्रसरेणु होती हैं; तैसे ही परमात्मसूर्य के चिद्अणु सूक्ष्म हैं। इन त्रसरेणु से भी सूक्ष्म चिद्अणु में अनन्त सृष्टि अपनी-अपनी फुरती हैं। हे रामजी ! जबतक चित्त फुरता रहता है तबतक सृष्टि का अन्त नहीं आता। असंख्य जगत् भ्रम आगे देखे हैं और असंख्य ही आगे देखेंगे। जब चित्त फुरने से रहित होता है तब जगत् कल्पना मिट जाती है। जैसे स्वप्ने में सृष्टि भासती है और बड़े व्यवहार होते हैं पर जब जाग उठता है तब स्वप्ने की सृष्टि व्यवहार की कल्पना मिट जाती है और अद्वैत अपना आपही भासता है; तैसे ही चित्त के ठहरने से सब भ्रम मिट जाता है। हे रामजी ! सूक्ष्म चिद्अणु की भी संज्ञा तब हुई है जब इसको चित् का सम्बन्ध हुआ है। जब चित् को अपने स्वभाव में स्थित करोगे तब द्वैतकल्पना और सूक्ष्म स्थूलभाव मिट जावेंगे। इसकी सूक्ष्म संज्ञा अविद्यकभाव से है जो इन्द्रियों का विषय नहीं इससे अणुता है; सूक्ष्म अणु में भी व्यापा हुआ है इससे सूक्ष्म अणु कहाता है और अनन्तता इस कारण है कि सब को धार रहा है। हे रामजी ! यह जगत् अभावमात्र है। जैसे मरुस्थल में जलाभास होता है, तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। यह जगत् ही नहीं है तो इसका कारण किसे कहिये ? आदि सृष्टि अकारण फुरी है और फिर उसमें कारण-कार्य भासने लगे हैं सो आभास की दृढ़ता से है। जैसे स्वप्ने में आदि सृष्टि अकारण बीज, वृक्ष, कुलाल, मिट्टी और घट इकट्ठे फुर आते हैं। जब उस स्वप्ने की दृढ़ता हो जाती है तब कारण कार्य भासते हैं परन्तु जो सोया पड़ा है उसको दृढ़ भासते हैं; तैसे ही अज्ञानी को जगत् कार्य कारण दृढ़ भासता है और ज्ञानवान् को सब अपना आपही भासता है। जैसे स्वप्ने से जागे स्वप्ने की सृष्टि अपना आपही भासती है कि मैं ही था और कुछ न था; तैसे ही ज्ञानवान् को सब जगत् आकाशरूप भासता है पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष, नदी, स्थावर-जङ्गम सर्व जगत् सब आकाशरूप हैं और संवेदन के फुरने से दृष्टि आते हैं वास्तव में भिन्न कुछ नहीं। हे रामजी ! यह जगत् चित्त में स्थित ह। जैसे किसी पुरुष ने थम्भे में पुतलियाँ कल्पीं तो उन पुतलियों के दो रूप होते हैं एक शिल्पी के चित्त में फुरती हैं सो आकाशरूप ह और एक थम्भे में कल्पी हैं सो थम्भरूप हैं पर शिल्पी के चित्त में नृत्य करती हैं। हे रामजी ! और तो कुछ नहीं बना सब थम्भेरूप हैं और शिल्पी के चित्त में कल्पनामात्र हैं; तैसे ही चित्तरूपी शिल्पी की जगद्रूपी पुतलियाँ कल्पनामात्र हैं पर आत्मरूपी थम्भा ज्यों का त्यों है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे पट के ऊपर मूर्ति लिखी हो तो उस मूर्त्ति का रूप पट ही है—पट से भिन्न कुछ नहीं—वह पट ही मूर्तिरूप भासता है; तैसे ही यह जगत् आत्मा से भिन्न नहीं—आत्मा ही जगत्रूप हो भासता है। आत्मा और

जगत् में कुछ भेद नहीं—जैसे ब्रह्म आकाशरूप है, तैसे ही जगत् आकाशरूप है। जगत्रूप आधार है और उसमें ब्रह्म बसनेवाला है। ब्रह्मरूप आधार है और उसमें जगत् बसनेवाला है। हे रामजी! जितने समूह जगत् में विद्या और अविद्यारूप हैं सो सब संकल्प से रचित हैं और वास्तव में सब आत्मस्वरूप हैं। समता, सत्ता और निर्विकारता आदि और इनसे विपरीत अविद्यारूप सब एक ही रूप हैं; एक ही में फुरते हैं और एक ही रूप हैं। जैसे अनुभवरूप स्वप्न जगत् अनुभव में स्थित होता है सो सर्व आत्मरूप होता है; तैसे ही यह जगत् सर्व ब्रह्मरूप है—ब्रह्म से भिन्न न कुछ वर की कल्पना है और न शाप की कल्पना है। ब्रह्मसत्ता निर्विकार अपने आपमें स्थित है उसमें न कारण है और न कार्य है। जैसे ताल, नदी और मेघ जल ही होते हैं; तैसे ही सब जगत् ब्रह्मरूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! वर और शाप के कर्ता तो परिच्छिन्न हैं और कारण विना तो कार्य नहीं बनता तुम कैसे कहते हो कि कारण-कार्य कोई नहीं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शुद्ध चिदाकाश आत्मसत्ता का किञ्चन जगत् होता है जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं, तैसे ही आत्मसत्ता में जगत् फुरते हैं और जैसे तरङ्ग जलरूप होते हैं, तैसे ही जगत् आत्म-रूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे आदि परमात्मा से सृष्टि का फुरना हुआ है तैसे ही स्थित है अन्यथा नहीं होता। सब जगत् संकल्प है। अनेक प्रकार की वासना संवेदन में फुरती हैं पर जिनको स्वरूप का विस्मरण हुआ है उनको यह जगत् सत्यरूप भासता है। जो उनको विचार उत्पन्न हो तो वही काल है जिस काल में विचार उत्पन्न होता है और उसी काल में अज्ञाननिद्रा का अभाव होता है। हे रामजी! जब विचार अभ्यास करके मन तद्रूप होता है तब यथाभूत दर्शन होता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अपना आप ही भासता है, क्योंकि अपने आप में स्थित हैं। सबका अधिष्ठान जो आत्मसत्ता है उसमें अहंप्रतीति होती है इस कारण अपने आप में सृष्टि भासती है। जैसे स्पन्द फुरते हैं; तैसे ही उनकी सिद्धि होती है; निरावरण दृष्टि होता है निरावरण दृष्टि करके सर्व संकल्प सिद्ध होता है, क्योंकि यह जगत् सब आत्मा में संकल्प

का रचा हुआ है और उसमें इसको अहंप्रत्यय हुई है। हे रामजी! जो यह संकल्प उठता है कि यह कार्य ऐसे हो तो वह तैसे ही होता है। हे रामजी! शुद्ध संवेदन में जैसा संकल्प होता है वही हो भासता है संकल्परूप ही है संकल्प से भिन्न नहीं। इस कारण वर और शाप का और कोई कारण नहीं; वर और शाप भी संकल्परूप हैं और उससे जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे किसी समवायकारण से तो नहीं उत्पन्न हुए संकल्प ही से हुए हैं इससे सब अकारण रूप है। ब्रह्मरूपी समुद्र में तरङ्ग उठते हैं तो कारण और कार्य में तुमसे क्या कहूँ? सब जगत् ब्रह्मरूप है और द्वैत और एक की कल्पना कुछ नहीं। हे रामजी! हमको सदा ब्रह्मसत्ता ही भासती है और कार्य कारण कोई नहीं भासता। जैसे स्वप्ने में किसी के घर में पुत्र हुआ और वह बड़े उत्साह को प्राप्त हुआ पर जब जाग्रत् का संस्कार चित्त में आया तब उसका पिता ही उपजा नहीं तो पुत्र कैसे कहिये? तब तो सब अपना आपही हो जाता है, न कोई कारण भासता है और न कार्य भासता है। जो स्वप्ने में सोया है उसको जैसे भासता है तैसे ही है। जैसे वर और शाप का आसरा संकल्प है और संकल्प ही वर और शाप हो भासता है और अकारण ही होता है। जिसको शुद्ध संवेदन से एकता हुई है वह निरावरण है और उसमें जैसे फुरना आभास फुरता है, तैसा ही सिद्ध होता है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! एक ऐसे हैं कि जिनको आवरण है और उनका संकल्प जैसे फुरता है—वर देवें अथवा शाप देवें—तैसे ही हो जाता है और स्वरूप का साक्षात्कार उनको नहीं हुआ पर शुभकर्म उनमें प्रत्यक्ष मिलते हैं तो शुभकर्म ही वर और शाप के कारण हुए; तुम कैसे कहते हो कि निरावरण पुरुष का संकल्प सिद्ध होता है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! शुद्ध चिन्मात्र जो सत्ता है वही चित् धातु कहाती है। उस चित्धातु में जो आभास फुरना है वही संवेदन कहाता है। वह संवेदन जब फुरती है तब जीव जानता है कि 'मैं ब्रह्मा हूँ'; तो संवेदन ने ही आपको जगत् का पितामह जाना और उसी ने आगे मनोराज कल्पा तब पञ्चभूतों का ज्ञान हुआ कि शून्यरूप आकाश; स्पन्दरूप वायु; उष्णरूप अग्नि; द्रवता-

रूप जल और कठोररूप पृथ्वी है, फिर उसी से देश और काल की कल्पना हुई और स्थावर जङ्गम पदार्थ की कल्पना से वेद, शास्त्र, धर्म, अधर्म का फुरना हुआ जिससे यह निश्चय हुआ कि यह तपस्वी है और इसने तप किया है इसके कहे से वर हो पर स्वरूप के साक्षात्कार से रहित है तौ भी इसका कहा हो यह तप का फल है। आदि संकल्प ऐसे हुआ है तो वर और शाप का कर्ता तपस्वी नहीं इसका अधिष्ठान वही संवेदन है जिससे आदि संकल्प फुरा है। हे रामजी! वर और शाप संकल्परूप हैं, संकल्प संवेदन से फुरा है और संवेदन आत्मा का आभास है तो मैं कारण और कार्य क्या कहूँ? और जगत् क्या कहूँ? आत्मा का आभास संवेदन ब्रह्मा है जिसने आगे संकल्पपुर सृष्टि रची है और हम तुम आदिक सब उसके संकल्प में हैं। वह ब्रह्माजी निराकार, निराधार और निरालम्ब स्थित हैं कुछ आकार को नहीं प्राप्त हुए, इससे उसका विश्व भी वही रूप जानो। हे रामजी! जैसे उसका स्पन्द हुआ है तैसे ही स्थित है; अन्यथा नहीं होता जो वही विपर्यय करे तो हो और नहीं होता। अग्नि में उष्णता; वायु में स्पन्दता इत्यादिक जो पदार्थ हैं सो अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं और हमको सब ब्रह्मरूप हैं। जैसे शरीर में हाड़ मांस से भिन्न नहीं होता तैसे ही हमको ब्रह्म से भिन्न नहीं भासता। जैसे घट में मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं होता और काष्ठ की पुतली को काष्ठ से भिन्न चेष्टा नहीं होती तैसे ही जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं होता। हे रामजी! यह सर्व जगत् जो तुमको भासता है सो ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही फुरने से नाना प्रकार जगत् हो भासता है। जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्ग, बुद्बुदे, फेन हो भासता है; तैसे ही ब्रह्म-संवेदन से जगत्रूप हो भासता है पर ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जैसे पर्वत से जल गिरता है सो कणके हो भासता है और जब गिरकर ठहर जाता है तब समुद्ररूप होता है परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं होता; तैसे ही जब चित्त फुरता है तब नाना प्रकार का जगत् हो भासता है और जब ठहर जाता है तब सर्व जगत् एक अद्वैतरूप हो भासता है पर ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं होता; ब्रह्म ही स्थावर जङ्गमरूप हो भासता है। जहाँ

पुर्यष्टका का सम्बन्ध नहीं भासता सो अजङ्गम कहाता है और जहाँ पुर्यष्टका का सम्बन्ध होता है वह जङ्गमरूप भासता है परन्तु आत्मा में उभय तुल्य हैं। जैसे एक ही हाथ की अँगुली है जिसको उष्णता अथवा शीतलता का संयोग होता है सो फुरने लगती है और जिसको शीत उष्ण का संयोग नहीं होता सो नहीं फुरती; तैसे ही जिस आकार को पुर्यष्टका का संयोग है सो फुरता है और चैतन्यता भासती है और जिसको पुर्यष्टका का संयोग नहीं होता उसमें जड़ता भासती है। जड़ भी दो प्रकार के हैं—एक को पुर्यष्टका का संयोग है और जड़ है और दूसरे को पुर्यष्टका का संयोग नहीं और जड़ है। वृक्ष और पर्वतों को पुर्यष्टका का संयोग है परन्तु घनसुषुप्ति जड़ता में स्थित हैं इस कारण जड़ भासते हैं और मृत्तिका पुर्यष्टका से रहित है इस कारण जड़ है परन्तु वास्तव में स्थावर, जङ्गम; इष्ट, अनिष्ट; वर, शाप; देश, काल, पदार्थ; सब ही ब्रह्मरूप है और ब्रह्मसत्ता ही ऐसे स्थित हुई है जैसे अपने अनुभव में संकल्पनगर नाना प्रकार का भासता है परन्तु संकल्परूप है—संकल्प से भिन्न कुछ नहीं और मृत्तिका की सेना अनेक प्रकार की होती है परन्तु मृत्तिकारूप है—मृत्तिका से भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही सर्व अर्थ के धारनेवाली चैतन्यधातु नाना प्रकार के आकार को प्राप्त होती है परन्तु चैतन्यता से भिन्न कुछ नहीं होती। हे रामजी! धातु उसको कहते हैं जो अर्थ को धारे। जितने पदार्थ तुमको भासते हैं सो सब अर्थरूप हैं और वस्तुरूप जो धातु है सो आत्मसत्ता है। उसने दो अर्थ धारे हैं—एक स्वप्न अर्थ और दूसरा बोध अर्थ—स्वप्न अर्थ में तो नानात्व भासती है और बोध अर्थ में एक अद्वैत सत्ता भासती है। जैसे एक ही धातु मिलने और बिछुड़ने से दो अर्थ धारती है सो परस्पर प्रतियोगी शब्द हैं परन्तु एक ही ने धारे हैं; तैसे ही स्वप्न और बोध अर्थ इन दोनों को आत्मसत्ता ने धारा है। जैसे तरङ्ग और बुद्बुदे जलरूप हैं; तैसे ही जगत् ब्रह्मरूप है। जो ज्ञानवान् हैं उनको सब ब्रह्मरूप भासता है और अज्ञानी को नानात्व भासता है। इससे तुम स्वभाव में निश्चय होकर देखो सब ब्रह्मरूप है—भिन्न कुछ नहीं।

इति श्रीयो० ब्रह्मप्रतिपादनं नाम द्विशताधिकैकोनसप्ततितमस्सर्गः २६९॥

रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो सर्व ब्रह्म ही है तो नेति क्या है और नाना प्रकार के पदार्थ क्यों भासते हैं ? तुम कहते हो कि जगत् संकल्प से रचित है तो हे भगवन् ! ये जो पदार्थ असंख्यरूप हैं कि उनकी संख्या की नहीं जाती और इन पदार्थों का स्वभाव एक-एक का अचलरूप होकर कैसे स्थित है ? सर्व देवताओं में सूर्य का प्रकाश क्यों अधिक है और एक ही सूर्य में दिन और रात्रि छोटे बड़े क्यों होते हैं; यह विचित्रता क्या है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! शुद्ध चिन्मात्रसत्ता में अकस्मात् से जो आभास फुरा है उस आभास का नाम नेति है और सृष्टि भी आभासमात्र है किसी कारण करके नहीं उपजी। जिसके आश्रय आभास फुरता है वही वस्तु अधिष्ठान होती है, इससे जगत् सब ब्रह्मरूप है और चिन्मात्रसत्ता अपने आप में स्थित है, न उदय होती है और न अस्त होती है वह परिणाम से रहित सदा अद्वैतरूप स्थित है और उसमें न जाग्रत् है; न स्वप्न है और न सुषुप्ति है तीनों अवस्था आभासमात्र हैं पर चैतन्यसत्ता में इनसे द्वैत नहीं बना; यह तीनों इसी का स्वभाव प्रकाशरूप है—इससे भिन्न कुछ नहीं। जैसे आकाश और शून्यता; वायु और निस्पन्द; अग्नि और उष्णता और कर्पूर और सुगन्ध में भेद नहीं; तैसे ही जाग्रदादिक जगत् और ब्रह्म में भेद नहीं। हे रामजी ! शुद्ध चिन्मात्र में जो चित्तभाव हुआ है उसमें चैतन्य आभास फुरा है और उसमें जैसा संकल्प फुरा है तैसे ही स्थित हुआ है कि यह इस प्रकार हो और इतने काल रहे; उसी संकल्प निश्चय का नाम नेति है। जैसे आदि संकल्प दृढ़ हुआ है, तैसे ही अबतक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश अपने-अपने भाव में स्थित हैं और अपने स्वभाव को नहीं त्यागते जब तक उनकी नेति है तबतक तैसे ही जगत् सत्ता में स्थित हैं। हे रामजी ! इसका नाम नेति है। जैसे आदि संकल्प धारा है तैसे ही स्थित है सो और वास्तव में आभासरूप है। अकस्मात् से यह आभास फुरा है किसी सूक्ष्म अणु में फुरा है। जैसे समुद्र के किसी स्थान में तरङ्ग बुद्बुदे फुरते हैं, सम्पूर्ण समुद्र में नहीं फुरते; तैसे ही जहाँ संवेदन फुरा है जैसा फुरना होता है तैसे ही स्थित होता है सो नेति है। जैसे तरङ्ग और बुद्बुदे समुद्र से भिन्न नहीं, तैसे ही नेति आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे द्रवता से समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं, तैसे ही आत्मा में संवेदन करके नेति और जगत् जो फुरते हैं सो वही रूप है—आत्मा से भिन्न कुछ नहीं। जैसे किसी ने कहा कि चन्द्रमा का प्रकाश है सो चन्द्रमा और प्रकाश में भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। यह विश्व आत्मा का स्वभाव है। जैसे एक ही काल की दिन, पक्ष, बार, मास, वर्ष, युग, कल्प इत्यादिक बहुत संज्ञा हैं परन्तु काल एक ही है, तैसे ही भिन्न भिन्न जगत् के नाम हैं सो सब ब्रह्म ही है। हे रामजी ! जब संवेदन चित्तरूप होती है तब प्रथम शब्द तन्मात्रा फुरती है और उससे आकाश उपजता है जिसका स्वभाव शून्यता है; फिर जब उसने स्पर्शतन्मात्रा को चेता तब उससे इसमें वायु फुरा और वायु का स्पन्दस्वभाव है। फिर रूप तन्मात्रा को चेता तब उससे अग्नि प्रकट हुई जिसका उष्ण स्वभाव है। फिर रसतन्मात्रा को चेता तब उससे जल प्रकट हुआ जिसका द्रव स्वभाव है। फिर गन्ध तन्मात्रा को चेता तब उससे पृथ्वी प्रकट हुई जिसका स्थिर स्वभाव है। इस प्रकार पञ्चभूत फुर आये। हे रामजी ! आदि जो शब्द तन्मात्रा फुरी है सो जितने कुछ शब्दसमूह हैं उनका बीज है सब उसी से उत्पन्न हुए हैं। पदार्थ, वाक्य, वेद, शास्त्र, पुराण सब उसी से फुरे हैं इसी प्रकार पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश इनका जो कार्य है सो उन सबका बीज तन्मात्रा है और उस तन्मात्रा का बीज वह संवित्सत्ता है। हे रामजी ! अब इन तत्त्वों की खानि सुनो। पृथ्वी सो अणु भी होती है और एकदला भी होती है सो पृथ्वी तो एक है और अणु भी वही है; तैसे ही सर्व तत्त्वों को समझ देखना। पृथ्वी की खानि भू पीठ है जो सम्पूर्ण भूतजात को धारती है; जल की खानि समुद्र है जो सर्वपदार्थों में रसरूप होकर स्थित है; अग्नि का तेज जो प्रकाश है उसकी समाष्टिता सूर्य है; सर्वस्पन्द की समाष्टिता पवन है और सम्पूर्ण शून्य पदार्थों की खानि आकाश है। इस प्रकार ये पाँचों तत्त्व संकल्प से उपजे हैं। जैसे बीज से अंकुर उपजता है, तैसे ही यह भूत संकल्प से उपजे हैं। संकल्प संवेदन से फुरा है और संवेदन आत्मा का आभास

है जो अद्वैत, अच्युत, निर्विकल्प और सर्वदा अपने आपमें स्थित है उसी के आश्रय संवेदन आभास फुरा है, फिर संवेदन से संकल्प फुरा है और संकल्प से जगत् बन गया है। जैसे समुद्र में तरङ्ग फुरते हैं और लीन होते हैं; तैसे ही संकल्प से जगत् उपजा है और फिर संकल्पही में लीन होता है। जैसे तरङ्ग जलरूप है, तैसे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु आकाश सब चैतन्यरूप हैं। सर्वपदार्थ जो देखने सुनने में आते हैं और नहीं आते सो सब चैतन्यरूप हैं, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं; वही आत्मा इस प्रकार होता है। स्वप्ने में अपना अनुभवही पदार्थ हो भासता है परन्तु कुछ बना नहीं। नाना प्रकार भासता है तो भी अनाना है तैसे ही जगत् नाना प्रकार भासता है तो भी कुछ बना नहीं। जैसे एक निद्रा के दो रू हैं—एक स्वप्न और दूसरा सुषुप्ति—जब फुरना होता है तब स्वप्ने की सृ भासती है और जब फुरना निवृत्त हो जाता है तब सुषुप्ति होती है और ज जैसे वायु के दो रूप हैं; जब स्पन्द होती है तब भासती है तैसे निस्पन्द होती है तब नहीं भासती; तैसे ही जब संवेदन फुरती है तब जगत् भासता है और जब नहीं फुरती तब जगत् भी नहीं भासता इसी का नाम महाप्रलय है—पर दोनों आत्मा के आभास हैं। हे रामजी ! संकल्परूप ब्रह्मा ने आत्मा में आकाश, पृथ्वी, नक्षत्र, व इत्यादि क्रम से रचे हैं जैसे बालक अपने में संकल्प रचे, तैसे ही ब्र ने रचा है। उसने एक भूगोल रचा है जिस पर नक्षत्रचक्र रचा है और उस चक्र के दो भाग किये हैं जो अन्योन्य सम्मुख स्थित हैं। जब सू उसके सम्मुख होता है तब साठ घड़ी दिन और रात्रि का प्रमाण हो है। जब सूर्य उस नक्षत्रचक्र के ऊर्ध्व ओर उदय होता है तब दिन बड़े होते हैं और जब अधः की ओर उदय होता है तब दिन छोटे ही हैं निदान ज्यों ज्यों सूर्य क्रम करके ऊर्ध्व से अधः की ओर उदय हो है त्यों त्यों दिन छोटे होते जाते हैं और रात्रि बढ़ती जाती है और षट्मास के उपरान्त पौषत्रयोदशी से सूर्य क्रम करके ऊर्ध्व को उ होता है तब दिन बढ़ता जाता है। आषाढ़ की द्वादशी से लेकर पौ त्रयोदशी पर्यन्त रात्रि बढ़ती है और दिन घटता है और फिर रा

घटती जाती है और दिन बढ़ता जाता है। जब सूर्य उस चक्र के मध्य उदय होता है तब दिन और रात्रि समान हो जाते हैं परन्तु संवेदनरूप ब्रह्मा का सब संकल्प विलास है। जैसे शिल्पी शिला में पुतलियाँ कल्पता है और चेष्टा करता है पर बना कुछ नहीं शिला ही अपने घनस्वभाव में स्थित होती है, तैसे ही चित्तरूपी शिल्पी आत्मारूपी शिला में जगत्-रूपी पुतलियाँ कल्पता है परन्तु बना कुछ नहीं ब्रह्मसत्ता ही सदा अपने आपमें स्थित है। संवेदन फुरने से जब उसे रूप देखने की इच्छा होती है तब चक्षु इन्द्रियाँ बन जाती है जो रूप को ग्रहण करती है; जब स्पर्श की इच्छा होती है तब त्वचा इन्द्रिय बन जाती है जो स्पर्श को ग्रहण करती है; जब गन्ध की इच्छा होती है तब घ्राण इन्द्रिय बनकर गन्ध ग्रहण करती है; जब शब्द सुनने की इच्छा होती है तब श्रवण इन्द्रियाँ बन जाती हैं जो शब्द आदि विषयों को ग्रहण करती हैं और जब रस की इच्छा होती है तब रसना इन्द्रिय प्रकट होकर स्वाद ग्रहण करती है। जब अपने और वायु देखने की ओर चेतती है तब अपने साथ वायु देखती है और उस वायु में प्राण फुरते देखती है। हे रामजी ! देखना, सुनना, रस लेना, स्पर्श करना, बोलना और गन्ध लेना जहाँ जहाँ इन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करती गईं सो देश हैं; जिस विषय को ग्रहण करने लगती हैं सो पदार्थ हैं और जिस समय ग्रहण करने लगती हैं सो काल है इस प्रकार देश, काल और पदार्थ हुए हैं और फिर क्रम से शुभ अशुभ कर्म भासने लगे। हे रामजी ! इस प्रकार संवेदन ने फुरकर जगत को रचा है और शरीर को रचकर इष्ट अनिष्ट को ग्रहण करती है। जो तुम कहो कि इन्द्रियाँ तो भिन्न भिन्न हैं और अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं सर्व इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट इस जीव को कैसे होते हैं तो इसका दृष्टान्त सुनो। हे रामजी ! जैसे तुम एक हो और माला के दाने बहुत हैं पर सब का आश्रय सूत्र है; तैसे ही अहंकाररूपी सूत्र में सर्व इन्द्रियरूपी दाने हैं, इस कारण अहंकाररूप जीव इन्द्रियों के सुख से सुखी होता है और दुःख से दुःखी होता है। इन्द्रियाँ आप ही से कार्य करने को समर्थ नहीं होतीं अहंकार (जीव) की सत्ता से चेष्टा

करती हैं। जैसे शङ्ख को आपसे बजने की सामर्थ्य नहीं पर जब पुरु बजाता है तो शब्द करता है; तैसे ही इन्द्रियों की चेष्टा अहंकार औ जीव से होती है। हे रामजी! वास्तव में न कोई इन्द्रियाँ हैं, न इनके विषय हैं और न मन का फुरना है सर्व आभासमात्र है। जब संवेदन फुरती है तब इतनी संज्ञा धारती है और जब संवेदन निर्वाण होती है तब सर्वकल्पना मिट जाती हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे जीवसंसारवर्णनं नाम
द्विशताधिकसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७० ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह सम्पूर्ण कल्पना का क्रम मैंने तुमसे कहा है जितना कुछ जगत् देखते हो सो संवेदनरूप है। शुद्ध चिन्मात्र सत्ता का आदि आभास और चैतन्यता का लक्षण चित्त अहं जो आभि हैं उसका नाम संवेदन है और उसके इतने पर्याय हुए हैं कि कोई तो ब्रह्म कहते हैं, कोई विष्णु कहते हैं, कोई प्रजापति कहते हैं और कोई शि आदि नाम लेते हैं। उस संवेदन ने आगे संकल्प फुरके विश्व रचा जो अकारण है किसी कारण से नहीं बनी काकतालीयवत् अकस्मात् आभास फुरा है और आकार सहित दृष्टि आती है परन्तु अन्तवाहक और व्यवहार सहित दृष्टि आती है परन्तु अव्यवहार है। हे रामजी संवेदन जो अन्तवाहकरूप है उसने आगे विश्व रचा है सो भी अन्तवाहकरूप है परन्तु अज्ञानी को संकल्प की दृढ़ता से आधिभौतिकरू हो भासती है। जैसे संकल्पनगर और स्वप्नपुर संकल्प से भिन्न नहीं संकल्प की दृढ़ता से ही आकाररूप पहाड़, नदियाँ, घट, पट आ पदार्थ प्रत्यक्ष भासते हैं परन्तु बने तो कुछ नहीं शून्यरूप हैं; तैसे ही जगत् निराकार शून्यरूप है। हे रामजी! आदि अन्तवाहकरूप संवेदन बहिर्मुख फुरने से देश, काल, पदार्थरूप होकर स्थित हुई है। जब अ मुख फुरना मिट जाता है तब जगत् आभास भी मिट जाता है। जै स्वप्ने का आभास जगत् तबतक भासता है जबतक निद्रा में सोया है है पर जब जागता है तब स्वप्ने का जगत् मिट जाता है और एक अ रूप अपना आप ही भासता है; तैसे ही यह जगत् अज्ञान के निवृत्त

लीन हो जाता है। सब जगत् निराकार है पर संकल्प की दृढ़ता से आकार भासते हैं। हे रामजी! संवेदन में जो संकल्प फुरता है वही अन्तःकरण चतुष्टय होके भासता है। पदार्थों के चितवने से इसका नाम चित्त होता है; संकल्प विकल्प के संसरने से इसका नाम मन होता है; ज्यों का त्यों निश्चय करने से इसका नाम बुद्धि होता है और वासना के समूह मिलने से पुर्यष्टका कहाती है पर सब संकल्पमात्र हैं और उनसे जगत् उपजा है वह भी संकल्परूप है। जैसे इन्द्रजाल की बाजी और स्वप्ने का नगर संकल्प की दृढ़ता से पिण्डाकार भासते हैं परन्तु सब आकाशरूप हैं; तैसे ही यह जगत् आकाशरूप है—आत्मा से भिन्न कुछ है नहीं। जो तुम कहो कि भासता क्यों है? तो जिसमें भासता है उसे वही रूप जानो और देश, काल, नदी, पहाड़, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, दैत्य, ब्रह्मा से आदि कीटपर्यन्त जो स्थावर-जङ्गमरूप जगत् भासता है सो सब ब्रह्मरूप है और वेद, शास्त्र, जगत्, कर्म, स्वर्ग, तीर्थ इत्यादिक जो पदार्थ हैं वे भी सब ब्रह्मरूप हैं। वही निराकार अद्वैत ब्रह्मसत्ता संवेदन से जगत्‌रूप हो भासती है। जैसे स्वप्ने में अपना ही अनुभव सृष्टिरूप हो भासता है; तैसे ही अपना ही अनुभव यह जगत् हो भासता है और जैसे समुद्र द्रवता से तरङ्ग हो भासता है पर जल ही जल है; तैसे ही शुद्ध चिन्मात्र में संवेदन से जगत् आभास फुरता है सो ब्रह्म ही ब्रह्म है भिन्न कुछ नहीं। हे रामजी! जो कुछ तुमको भासता है सो सब अच्युत और अनन्तरूप अपने आपमें स्थित है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे सर्वब्रह्मरूपप्रतिपादनं नाम
द्विशताधिकैकसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७१ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जब द्रष्टा दृश्यरूप को चेतता है तब विश्व होता है सो विश्व सब अन्तवाहकरूप है। निराकार संकल्प को अन्तवाहक कहते हैं। जब दृश्य में अहंभाव से चैतन्यता रहती है तब अन्तवाहक से आधिभौतिक शरीर हो जाता है। आदि जो ब्रह्मा संवेदन फुरा है सो अन्तवाहक शरीर हुआ है और जब उसने बारम्बार अपने शरीर को देखा तब वह भी चतुष्टयमुख आधिभौतिक हो गया। उसने

ओंकार का उच्चारण करके वेद और वेद के क्रम को रचा और संकल्प विश्व रचा। जैसे कोई बालक मनोराज से बगीचा रचे और उसमें नाना प्रकार के वृक्ष, फल, फूल, टास और पत्र रचे; तैसे ही ब्रह्माजी ने और अन्तवाहक जीव उपजे और जब जीवों को शरीर में दृढ़ अभ्यास हुआ तब वे अन्तवाहक से आधिभौतिक हो गये। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ब्रह्मसत्ता तो निराकार थी उसको शरीर का संयोग कैसे हुआ है और उससे आधिभौतिकता कैसे हो गई? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! न कोई शरीर है और न किसी को शरीर का संयोग हुआ है केवल अद्वैत आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और उसमें जो चैतन्य संवेदन फुरी है वही संवेदन दृश्य को चेतती रहती है। वही जगत्‌रूप होकर स्थित हुई है। जब संकल्प की दृढ़ता हुई तब अपने साथ शरीर और आकार भासने लगे परन्तु सब आकाश ही रूप हैं—कुछ बने नहीं। जैसे स्वप्न की सृष्टि को उपजी कहिये तो उपजी नहीं और उसका कारण भी कोई नहीं केवल आकाशरूप है और कोई पदार्थ उपजा नहीं परन्तु स्वरूप के विस्मरण से आकार भासते हैं; तैसे ही यह शरीर और जगत् जो भासता है सो केवल आभासमात्र है और असंभावना की दृढ़ता से प्रत्यक्ष भासता है। जब स्वरूप का विचार करके देखोगे तब शान्त हो जावेगा हे रामजी! अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं। जैसे स्वप्न के पदार्थ अविद्य मान होते हैं और विद्यमान भासते हैं पर जब जागता है तब अविद्य मान हो जाते हैं; तैसे ही यह जगत् अविचारसिद्ध है विचार किये शान्त हो जाता है। जब विचार करके देखोगे तब सर्वात्मा ही भासेगा हे रामजी! आत्मसत्ता अव्यभिचारी है अर्थात् सत्तामात्र है उसका अभाव कदाचित् नहीं होता और अच्युत है अर्थात् सदा ज्यों का त्यों है अपने भाव को कदाचित् नहीं त्यागता इसलिये जो उससे भिन्न भासे उसे भ्रममात्र जानो। हे रामजी! विचार करके जब दृश्यभ्रम शान्त होता है तब मोक्ष प्राप्त होता है। आत्मसत्ता ज्ञानरूप और निराकार सदा अपने आपमें स्थित है। जब सम्यक् ज्ञान का बोध होता है तब जगद्भ्रम नष्ट होता है। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! सम्यक्

और बोध किसको कहते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अनुभव ही बोध कहाता है और उसको ज्यों का त्यों जानना सम्यक् ज्ञान है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! केवल बोध और केवलज्ञान किसको कहते हैं? वशिष्ठजी बोले, हे राघव! दृश्य से रहित जो चिन्मात्र है उसको तुम केवल बोध जानो—उसमें वाणी की गम नहीं। इसी प्रकार अचेत चिन्मात्र सत्ता को ज्यों का त्यों जानना ही केवल ज्ञान है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! केवल बोध अचेत चिन्मात्र है तो उसमें जगद्भ्रम क्यों भासता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! चिन्मात्र जो द्रष्टारूप है उसमें जब संवेदन चेतना फुरती है तब वही चेतना चैतरूप दृश्य हो भासती है। जैसे स्पन्द से रहित वायु निलक्षरूप होती है और जब स्पन्दरूप होती है तब स्पर्श से भासती है; तैसे ही संवेदन से जो दृश्य भासती है सो वही संवेदन दृश्य हो भासती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो द्रष्टा दृश्यरूप भासता है तो दृश्य बाहर क्यों भासता है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! इसी कारण भ्रम कहा है कि अपने भीतर है और बाहर भासती है। जैसे स्वप्न की सृष्टि अपने ही अन्तर होती है वास्तव से न भीतर है और न बाहर है, आत्मसत्ता ही अपने आप में स्थित है; तैसे ही अब भी ज्यों की त्यों स्थित है, भीतर और बाहर भ्रम से भासती है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है और दृश्यभ्रम से भासती है तो शशे के सींग भी भ्रममात्र हैं वे क्यों नहीं भासते और अहं और त्वं क्यों भासते हैं? भूतों की चेष्टा तो प्रत्यक्ष भासती है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! अहं त्वमादिक जगत् भी कल्पनामात्र है। जैसे शशे के सींग कल्पनामात्र हैं और आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रम से भासता है, तैसे ही यह जगत् भी भ्रममात्र है। जैसे मृगतृष्णा का जल और संकल्पनगर भ्रममात्र है; तैसे ही यह जगत् भ्रममात्र है, किसी कारण से नहीं उपजा। जैसे स्वप्न में शशे के सींग नहीं भासते हैं और जगत् भासता है; तैसे ही यह भ्रम है। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों में जगत् की स्मृति अनुभव से जानते हैं और कारण-कार्य

भाव पाते हैं तो तुम भ्रममात्र कैसे कहते हो ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! मैं यह कहता हूँ कि जो कारण से कार्य होता है सो सत्य होता है । तुम कहो कि जगत् का कारण क्या है अर्थात् जैसे बीज से वट होता है; तैसे ही इसका कारण कौन है ? रामजी बोले, हे भगवन् ! जगत सूक्ष्म अणु से उपजता है और लीन भी सूक्ष्मतत्त्व के अणु में ही होता है । वशिष्ठजी ने पूछा, हे रामजी ! सूक्ष्म अणु किसमें रहते हैं ? रामजी बोले, हे मुनीश्वर ! महाप्रलय में शुद्ध चिन्मात्र सत्ता शेष रहती है और उसी में अणु रहते हैं । वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! महाप्रलय किसको कहते हैं ? जहाँ सर्व शब्द और अर्थ का अभाव है उसका नाम महाप्रलय है। वहाँ तो शुद्ध चिन्मात्र सत्ता रहती है जिसमें वाणी की गम नहीं तो उसमें सूक्ष्म अणु कैसे हों और कारण-कार्यभाव कैसे हो ? रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! जो शुद्ध चिन्मात्रसत्ता ही रहती है तो उसमें जगत कैसे निकल आता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! विश्व कुछ उपजा हो तो मैं तुमसे कहूँ कि इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति होती है पर जो जगत् कुछ उपजा ही नहीं तो इसकी उत्पत्ति कैसे कहूँ ! जब चिन्मात्र में चैतता फुरती है तब जगत् अहं त्वमादिक भासता है सो फुरना ही रूप है और कुछ उपजा नहीं—वही रूप है । हे रामजी ! ज्ञान का जो दृश्य भ्रम से मिलाप है सो ही बन्धन का कारण है और उसका अभाव होना मोक्ष है । रामजी ने पूछा; हे भगवन् ! ज्ञान के हुए जगत् का अभाव कैसे होता है ? यह तो दृढ़ हो रहा है इसकी शान्ति कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! सम्यक्ज्ञान से जो बोध होता है उस बोध से दृश्य का सम्बन्ध निवृत्त होता है । वह बोध निराकार और शीतलरूप है उसी से मोक्ष में प्रवर्त्तता है । रामजी ने पूछा; भगवन् ! बोध तो केवलरूप है; सम्यक्ज्ञान किसको कहते हैं जिससे यह जीव बन्धन से मुक्त होता है ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! जिस ज्ञान से ज्ञेय दृश्य का संयोग नहीं उसको ज्ञानी अविनाशी रूप कहते हैं । जब ज्ञेय का अभाव होता है तब सम्यक्ज्ञान कहाता है । जगत् ज्ञेय अविचारसिद्ध है । रामजी ने पूछा; हे भगवन् ! ज्ञान से ज्ञेय भिन्न है अथवा अभिन्न है और ज्ञान क्योंकर उत्पन्न होता है ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! बोधमात्र का नाम ज्ञान है और उससे ज्ञान ज्ञेय भिन्न नहीं । जैसे वायु से वायु का फुरना भिन्न नहीं । रामजी ने पूछा कि हे भूत, भविष्यत् और वर्तमान के जाननेवाले ! जो शशे के सींग की नाईं ज्ञेय असत्य है तो भिन्न होकर क्यों भासती है । वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! बाह्य जगत् ज्ञेय भ्रान्ति से भासता है; उसका सद्भाव नहीं है और न भीतर जगत् है, न बाहर जगत् है, अर्थ से रहित भासता है । रामजी ने पूछा; हे भगवन् ! अहं त्वमादिक तो प्रत्यक्ष भासते हैं और इनका अर्थ सहित अनुभव होता है तुम कैसे अभाव कहते हो ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! यह सर्व जगत् विराट् पुरुष का वपु है सो आदि विराट् ही उपजा नहीं, तो और की उत्पत्ति कैसे कहिये ? रामजी ने पूछा; हे मुनीश्वर ! जगत् का सद्भाव तो तीनों कालों में पाया जाता है पर तुम कहते हो कि उपजा ही नहीं ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! जैसे स्वप्न में जगत् के सब पदार्थ प्रत्यक्ष भासते हैं पर कुछ उपजे नहीं और जैसे मृगतृष्णा का जल; आकाश में द्वितीय चन्द्रमा और संकल्पनगर भ्रम से भासता है; तैसे ही अहं त्वमादिक जगत् भ्रम से भासता है । रामजी ने पूछा; हे भगवन् ! अहं त्वमादिक जगत् दृढ़ भासता है तो कैसे जानिये कि उपजा नहीं ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! जो पदार्थ कारण से उपजता है वह निश्चय सत्य जाना जाता है । जब महाप्रलय होती है तब कारण कार्य कुछ नहीं रहता सब शान्तरूप होता है और फिर उस महाप्रलय से जगत् फुर आता है । इसी से जाना जाता है कि सब आभासमात्र है । रामजी ने पूछा; हे मुनीश्वर ! जब महाप्रलय होता है तब अज और अविनाशी सत्ता शेष रहती है, इससे जाना जाता है कि वही जगत् का कारण है । वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जैसा कारण होता है तैसा ही उसका कार्य होता है उससे विपर्यय नहीं होता । जो आत्मसत्ता अद्वैत और आकाशरूप है तो जगत् भी वही रूप है । घट से पट की नाईं और तो कुछ नहीं उपजता ? रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जब महाप्रलय होता है तब जगत् सूक्ष्मरूप होकर

स्थित होता है और उसी से फिर प्रवृत्ति होती है। वशिष्ठजी बोले; हे निष्पाप, रामजी ! महाप्रलय में जो तुमने सृष्टि का अनुभव किया सो क्या रूप होती है ? रामजी बोले, हे भगवन् ! ज्ञप्तिरूप सत्ता ही वहाँ स्थित होती है और तुम जैसों ने अनुभव भी किया है कि चिदाकाशरूप है। सत्य और असत्य शब्द से नहीं कहा जाता। वशिष्ठजी बोले, हे महाबाहो ! जो ऐसे हुआ तो भी जगत् तो ज्ञप्तिरूप हुआ–इससे जन्म मरण से रहित शुद्धज्ञानरूप है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! तुम कहते हो कि जगत् कुछ उत्पन्न नहीं हुआ भ्रममात्र है सो भ्रम कहाँ से आया है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह जगत् चित्त के फुरने से भासता है जैसे-जैसे चित्त फुरता है तैसे ही तैसे भासता है इसका और कोई कारण नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो यह चित्त के फुरने से भासता है तो परस्पर विरुद्ध कैसे भासते हैं कि अग्नि को जल नष्ट करता है और जल को अग्नि नष्ट करती है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! जो द्रष्टा पुरुष है सो दृश्यभाव को नहीं प्राप्त होता और ऐसी कुछ वस्तु नहीं। भानरूप आत्मा ही चैतन्यघन सर्वरूप हो भासता है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! चिन्मात्रतत्त्व आदि अन्त से रहित है और जब वह जगत् को चैतता है तब होता है पर तौ भी तो कुछ हुआ ? जगत्‌रूप चैत को असंभव कैसे कहिये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! इसका कारण कोई नहीं, इससे चैत का असंभव है। चैतन्य सदा मुक्त और अवाच्यपद है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो इस प्रकार है तो जगत् और तत्त्व कैसे फुरते हैं और अहं त्वं आदिक द्वैत कहाँ से आये ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! कारण के अभाव से यह जगत् कुछ आदि से उपजा नहीं सर्वशान्तरूप है और नाना भासता है सो भ्रममात्र है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! निर्मलतत्त्व जो सर्वदा प्रकाशरूप है सो निरुल्लेख और अचलरूप है उसमें भ्रान्ति कैसे है और किसको है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! कारण के अभाव से निश्चय करके जानो कि भ्रान्ति कुछ वस्तु नहीं। अहं त्वं आदिक सर्व एक अनामय सत्ता स्थित है। रामजी ने पूछा, हे ब्राह्मण ! मैं भ्रम को प्राप्त हुआ हूँ इससे और अधिक पूछना

नहीं जानता और अत्यन्त प्रबुद्ध भी नहीं तो अब क्या पूछूँ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! यह प्रश्न करो कि कारण विना जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? जब विचार करके कारण का अभाव जानोगे तब परम स्वभाव अशब्दपद में विश्रान्ति पावोगे। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! मैं यह जानता हूँ कि कारण के अभाव से जगत् कुछ उपजा नहीं परन्तु चैत का फुरना भ्रम कैसे हुआ ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! कारण के अभाव से सर्वत्र शान्तिरूप है। भ्रम भी कुछ दूसरी वस्तु नहीं। जबतक आत्मपद में अभ्यास नहीं होता तबतक भ्रम भासता है और शान्ति नहीं होती पर जब अभ्यास करके केवल तत्त्व में विश्रान्ति पावोगे तब भ्रम मिट जावेगा। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! अभ्यास और अनभ्यास कैसे होता है और एक अद्वैत में अभ्यास अनभ्यास भ्रान्ति कैसे होती है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! अनन्ततत्त्व में शान्ति भी कुछ वस्तु नहीं और जो आभास शान्ति भासती है सो महाचिद्घन अविनाशरूप है। रामजी ने पूछा, हे ब्राह्मण ! उपदेश और उपदेश के अधिकारी ये जो भिन्न-भिन्न शब्द हैं सो सर्व आत्मा में कैसे भासते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! उपदेश और उपदेश के योग्य ये शब्द भी ब्रह्म में कल्पित हैं। शुद्ध बोध में बन्ध और मोक्ष दोनों का अभाव है। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! जो आदि में कुछ उत्पन्न नहीं हुआ तो देश, काल, क्रिया और द्रव्य के भेद कैसे भासते हैं ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! देश, काल, क्रिया और द्रव्य के जो भेद हैं सो संवेदन दृश्य में हैं और अज्ञानमात्र भासते हैं–अज्ञानमात्र से कुछ भिन्न नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! बोध को दृश्य की प्राप्ति कैसे हुई ? जहाँ द्वैत और एकता का अभाव है वहाँ दृश्यभ्रम कैसे है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! बोध को दृश्य की प्राप्ति और द्वैत एक का भ्रम मूर्ख का विषय है; हम जैसों का विषय नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन् ! अनन्ततत्त्व जो केवल बोधरूप है तो अहं त्वं हमारे में कैसे होता है ? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! शुद्ध बोधसत्ता में जो बोध का जानना है सो अहं त्वं करके कहाता है। जैसे पवन में फुरना है तैसे ही उसमें चेतना फुरती है। रामजी ने पूछा, हे

भगवन्! जैसे निर्मल अचल समुद्र में तरङ्ग और बुद्बुदे होते हैं सो कुछ जल से भिन्न नहीं; तैसे ही बोध में बोधसत्ता से भिन्न कुछ नहीं जो अपने आपमें स्थित है। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो ऐसे है तो किसका किसको दुःख हो। एक अनन्ततत्त्व अपने आपमें स्थित और पूर्ण है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो वह एक और निर्मल है तो अहं त्वं आदिक कलना कहाँ से आई और दृढ़ हुई कि भोक्ता की नाईं भोगता है? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ज्ञेय जो चिद्सत्ता है उसका जानना बन्धन नहीं क्योंकि ज्ञान ही सर्व अर्थरूप होकर स्थित हुआ है तो बन्ध और मोक्ष कैसे हो? रामजी ने पूछा, हे भगवन्! ज्ञप्ति जो बाह्य अर्थ को देखती है—जैसे आकाश में नीलता और स्वप्ने में पदार्थ सो असत्यरूप सत्य हो भासते हैं; तैसे ही यह बाह्य अर्थ भी असत्य ही सत्य हो भासते हैं। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! कारण से रहित जो बाह्य अर्थ भासते हैं सो भ्रममात्र हैं—भिन्न कुछ नहीं, रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जैसे स्वप्नकाल में स्वप्ने के पदार्थों के दुःख-सुख होते हैं चाहे वे सत्य हों अथवा असत्य हों तैसे ही इस जगत् में दुःख सुख होता है परन्तु इसकी निवृत्ति का उपाय कहिये। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो इस प्रकार है कि जगत् स्वप्न की नाईं है तो यह सब पिण्डाकार भ्रममात्र से भासता है और सर्व अर्थ शान्तरूप है नानात्व कुछ नहीं। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! स्वप्न और जाग्रत् में पिण्डाकार और पर अपररूप कैसे उत्पन्न होते हैं और कैसे शान्त होते हैं? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! पूर्व अपर का विचार कीजिये कि जगत् आदि में क्या रूप था और अन्त में क्या रूप होता है; जब ऐसा विचार होगा तब शान्ति हो जावेगी। जैसे स्वप्ने में स्थूल पदार्थ पिण्डरूप भासते हैं सो सब आकाशरूप हैं; तैसे ही जाग्रत्पदार्थ भी आकाशरूप हैं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जब भिन्नभाव की भावना प्राप्त होती है तब जगत् को कैसे देखता है और संस्कार भ्रम शान्त कैसे होता है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो निर्वासी पुरुष है उसके हृदय से जगत् का सद्भाव उठ जाता है जैसे संकल्पनगर और काग़ज़ की मूर्ति असत् भासती है, तैसे ही उसको

जगत् असत् भासता है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! जब वासना से रहित पिण्डभाव शान्त हुए जगत् को स्वप्नवत् जानता है तो उसके उपशान्त क्या अवस्था होती है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जगत् को जीव जब संकल्परूप जानता है तब वासना निर्वाण हो जाती है और पञ्चतत्त्वों का क्रम उपजना और विनशना लीन हो जाता है। तब केवल परमतत्त्व भासता है और सब आकाशरूप हो जाता है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! अनेक जन्म की जो वासना दृढ़ हो रही है और अनेक शाखा होकर फैली है इसलिये संसार का कारण घोरवासना ही है सो कैसे शान्त होती है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जब यथा भूतार्थज्ञान होता है तब आत्मा में भ्रान्तिरूप जगत् स्थित हुआ शान्त होता है। जब पिण्डाकार पदार्थों का अभाव हो जाता है तब कर्मरूप दृश्यचक्र भी शान्त हो जाता है जैसे स्वप्ने के पदार्थ जाग्रत् में नष्ट हो जाते हैं; तैसे ही आत्मतत्त्व के बोध से सब वासना नष्ट हो जाती हैं। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर! जब पिण्डग्रहण निवृत्त हुआ और कर्मरूप दृश्यचक्र निवृत्त हुआ तब फिर क्या प्राप्त होता है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जब पिण्डग्रहण भ्रम शान्त होता है तब जीव निर्मल होकर क्षोभ से रहित होता है; जगत् की आस्था शान्ति हो जाती है और चित्त परमात्मतत्त्व को प्राप्त होता है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! यह बालक के संकल्पवत् कैसे स्थित है? जो संकल्परूप है तो इसके जो पदार्थ हैं उनके नष्ट हुए इसको दुःख क्यों प्राप्त होता है और इस जगत् की आस्था कैसे शान्त होती है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो पदार्थ संकल्प से उत्पन्न हुआ है उसके नष्ट करने में दुःख नहीं होता और जो पूर्व अपर विचार करके चित्त से रचा जानिये तो भ्रम शान्त हो जाता है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! चित्त कैसा है और उससे कैसे रचा जानिये? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! चित्तसत्ता जो चैत्योन्मुखत्व फुरती है उसी को संकल्परूप चित्त कहते हैं। उससे रहित सत् के विचारने से वासना शान्त हो जाती है। रामजी बोले; हे ब्रह्मन्! चैत्य से रहित चित्त कैसे होता है और चित्त से उदय हुआ जगत् निर्वाण कैसे होता है? वशि-

ष्ठजी बोले; हे रामजी! चित्त कुछ उत्पन्न नहीं हुआ, अनहोता ही द्वैत भासता है—कुछ है नहीं। रामजी बोले; हे भगवन्! जगत् तो प्रत्यक्ष भासता है; जो उपजा ही नहीं तो इसका अनुभव कैसे होता है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! अज्ञानी को जो जगत् भासता है सो सत्य नहीं और ज्ञानवान् को जो भासता है सो अवाच्यसत्ता अद्वैतरूप है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! अज्ञानी को तीनों जगत् कैसे भासते हैं और ज्ञानवान् को कैसे भासते हैं जो कहने में नहीं आते? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! अज्ञानी को द्वैत सघन दृढ़ भासता है और ज्ञानवान् को सघन द्वैत नहीं भासता, क्योंकि आदि तो उपजा नहीं अद्वैत आत्मतत्त्व अवाच्यपद है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! जो आदि उपजा नहीं तो अनुभव भी न हो पर यह तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसे असत्य कैसे कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! असत्य ही सत्य की नाईं हो भासता है—इसी से कारण रहित भासता है। जैसे स्वप्ने में पदार्थ का अनुभव होता है परन्तु वास्तव में कुछ नहीं, तैसे ही यह असत्य ही अनुभव होता है। रामजी बोले; हे भगवन्! स्वप्ने में संकल्प से जो दृश्य का अनुभव होता है सो जाग्रत् के संस्कारों से होता है और कुछ नहीं। वशिष्ठजी ने पूछा; हे रामजी! स्वप्ना और संकल्प संस्कार से होता है सो जाग्रत् के संस्कार से कैसे होता है? वही रूप है अथवा जाग्रत् से अन्य है? रामजी बोले; हे भगवन्! स्वप्ने के पदार्थ और मनोराज जाग्रत् के संस्काररूप भ्रम से जाग्रत् की नाईं भासते हैं। वशिष्ठजी ने कहा; हे रामजी! जो स्वप्ने में जाग्रत् संस्कार से जगत् जाग्रत् की नाईं भासता है कि स्वप्ने में किसी का घर लुट गया अथवा जल के प्रवाह में बह गया—तो जाग्रत् में तो कुछ हुआ नहीं, क्योंकि प्रातःकाल उठकर देखता है तब ज्यों का त्यों भासता है—तो संसार भी कुछ न हुआ सब कल्पनामात्र जानना। रामजी बोले; हे भगवन्! अब मैंने जाना कि यह सब ब्रह्म ही है, न कोई देह है, न जगत् है, न उदय है और न अस्त है; सर्वदाकाल सर्वप्रकार वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और उससे भिन्न जो कुछ भासता है सो भ्रममात्र है और भ्रम भी कुछ वस्तु नहीं, सर्वचिदाकाश ब्रह्मरूप है। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो कुछ भासता है सो सब ब्रह्म ही का प्रकाश है। वही अपने आपमें प्रकाशता है। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! सर्ग के आदि में देह चित्तादिक कैसे फुर आये हैं और आत्मा का प्रकाशरूप जगत् कैसे है? प्रकाश भी उसका होता है जो साकाररूप होता है परब्रह्म तो निराकार है उसका प्रकाश कैसे कहिये? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! सर्वब्रह्मरूप है। प्रकाश और प्रकाशक का भेद भी कुछ नहीं और दूसरी वस्तु भी कुछ नहीं वही अपने आपमें स्थित है—इसी से स्वप्रकाश कहा है। सूर्य आदिक का प्रकाश त्रिपुटी से भासता है सो भी उसके आश्रय होकर प्रकाशता है और उसके प्रकाश का आधारभूत कहाता है जिसके आश्रय होकर सूर्य जगत् को प्रकाशता है। आत्मसत्ता अद्वैत और विज्ञानघन है उसमें जो चित्तसंवेदन फुरी है वही जगत्रूप होकर स्थित हुई है। आत्मसत्ता और जगत् में कुछ भेद नहीं। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं—वही इस प्रकार हुए की नाईं स्थित हुआ है। हे रामजी! निराकार ही स्वप्नवत् साकाररूप हो भासता है। इस जगत् के आदि अद्वैत चिन्मात्रसत्ता थी उसी से जो नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आया सो वही रूप हुआ और कारण तो कोई नहीं जैसे स्वप्ने के आदि अद्वैतसत्ता निराकार है और उससे जो सूर्यादिक पदार्थ भासि आते हैं सो भी वही रूप हुए पर प्रकट भासते भी हैं; तैसे ही इस जगत् को भी अकारण और निराकार जानो। हे रामजी! न कोई जाग्रत् है; न स्वप्न है और न सुषुप्ति है सब आभासमात्र है—वही आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। हमको तो वही सदा विज्ञानघन आत्मसत्ता भासती है जैसे दर्पण में अपना मुख भासता है; तैसे ही हमको अपना आप भासता है और अज्ञानी को भ्रान्तिरूप जगत् भासता है। जैसे वृक्ष के ठूँठ में दूर से भ्रान्ति करके पुरुष भासता है; तैसे ही अज्ञानी को जगत् भासता है। हे रामजी! न कोई द्रष्टा है और न दृश्य है। द्रष्टा तो तब कहिये जो दृश्य हो और दृश्य तब कहिये जो द्रष्टा हो; जो दृश्य नहीं तो द्रष्टा किसका और जो द्रष्टा ही नहीं

तो दृश्य किसका ? इससे निर्विकार ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है जो आकार भी भासते हैं तो भी निराकार हैं—आत्मसत्ता ही संवेदन करके आकाररूप हो भासती है और जैसे थम्भे में चितेरा पुतलियाँ कल्पता है कि इतनी पुतलियाँ थम्भे में निकलेंगी तो उसको खोदे विना ही प्रत्यक्ष भासती हैं; तैसे ही खोदे विना ब्रह्मरूपी थम्भे में मनरूपी चितेरा ये पुतलियाँ देखता है सो हुआ कुछ नहीं। हे रामजी ! इन मेरे वचनों को तुम स्वप्न और संकल्प दृष्टान्त से देखो कि अनुभवरूप ही आकार हो भासता है—अनुभव से भिन्न कुछ नहीं। इस मेरे वचनरूपी उपदेश को हृदय में धारो और अज्ञानियों के वचन को त्याग दो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विद्यावादबोधोपदेशो नाम
द्विशताधिकद्विसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७२ ॥

रामजी बोले; हे भगवन् ! बड़ा आश्चर्य है कि हम अज्ञान से जगत् को देखते थे। जगत् तो कुछ वस्तु नहीं सर्वब्रह्म ही है और अपने आप में स्थित है। यह जगत् भ्रम से भासता है। अब मैंने जाना कि यह जगत् वास्तव में न पीछे था और न आगे होवेगा; सर्वशान्त निरालम्ब विज्ञानघनसत्ता है और भ्रान्ति भी कुछ वस्तु नहीं ब्रह्म ही अपने आप में स्थित है जो निर्विकार और शान्तरूप है। जैसे स्वर्ग, परलोक, स्वप्न और संकल्पपुर के आदि अद्वैतचिन्मात्रसत्ता होती है और उसका आभास संवेदन स्पन्द फुरती है तो अनेक पदार्थोंसहित जगत् भासि आता है सो अनुभवरूप है भिन्न कुछ सत् नहीं; तैसे ही यह जगत् अनुभवरूप है। हे प्रभो! अब मैंने तुम्हारी कृपा से ऐसे निश्चय किया है कि जगत् अविचार सिद्ध है और विचार किये से निवृत्त हो जाता है। जैसे शशे के सींग और आकाश के फूल असत्य होते हैं; तैसे ही जगत् असत्य है। बड़ा आश्चर्य है कि असत्यरूप अविद्या ने जगत् को मोहित किया था। अब मैंने जाना कि अविद्या कुछ वस्तु नहीं अपनी कल्पना ही आपको बन्धन करती है। जैसे अपनी परछाहीं में बालक भूत कल्पता है और आप ही भय पाता है; तैसे ही अपनी कल्पना ही अविद्यारूप भासती है पर जबतक विचार प्राप्त नहीं हुआ तभी तक भासती है विचार किये से उसका

अत्यन्त अभाव हो जाता है। जैसे जेवरी में सर्प भासता है और जेवरी के जानने से सर्प का अत्यन्त अभाव हो जाता है। जैसे किसी स्थान में भ्रम से मनुष्य भासता है; तैसे ही आत्मा में भ्रम से अविद्यारूप जगत् भासता है। जैसे आकाश के फूल और शशे के सींग कुछ वस्तु नहीं; तैसे ही अविद्या भी कुछ वस्तु नहीं। जैसे बन्ध्या का पुत्र भासे तो भी भ्रममात्र है और स्वप्ने में अपने मरने का अनुभव हो वह भी भ्रम है; तैसे ही अविद्यारूप जगत् भासता है तो भी असत्य है प्रमाणरूप नहीं। प्रमाण उसे कहते हैं जो यथार्थ ज्ञान का साधक हो पर यह जो प्रत्यक्ष प्रमाण है सो यथार्थ नहीं; क्योंकि वस्तुरूप आत्मा है सो ज्यों का त्यों नहीं भासता सीपी में रूपे के समान विपर्यय भासता है। यह प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है तो भी असत्यरूप है—प्रमाणरूप क्योंकर जाने। हे भगवन् ! यह जगत् और कुछ वस्तु नहीं केवल कल्पनामात्र है जैसे जैसे आत्मा में संकल्प दृढ़ होता है; तैसे ही तैसे जगत् भासता है। जैसे जो पुरुष स्वर्ग में बैठा हो उसके हृदय में यदि कोई चिन्ता उपजे तो उसको स्वर्ग भी नरकरूप हो जाता है, क्योंकि भावना नरक की हो जाती है। हे भगवन्! यह जगत् केवल वासनामात्र है। आत्मा में जगत् कुछ आरम्भ परिणाम से नहीं बना केवल यह जगत् चित्त में है। जैसे पत्थर की शिला में शिल्पी पुतलियाँ कल्पता है सो जैसी कल्पता है तैसे ही भासती हैं—शिला से भिन्न कुछ नहीं; तैसे ही आत्मा में चित्त ने जगत् पदार्थ रचे हैं और जैसे जैसे भावना करता है तैसे ही तैसे यह भासता है। आत्मा में जगत् न कुछ हुआ है और न आगे होगा। ब्रह्मसत्ता केवल अपने आपमें स्थित है जो स्वच्छ, अद्वैत, परम मौनरूप और द्वैत और एक कल्पना से रहित है और मुनीश्वरों से सेवने योग्य है। ऐसा जो पद है सो मैंने पाया है और अपने आपमें स्थित और सर्वदुःखों से रहित हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रान्तिवर्णनं नाम
द्विशताधिकत्रिसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७३ ॥

रामजी ने पूछा; हे मुनीश्वर ! आदि, अन्त और मध्य से रहित जो पद है और जिसका मुनियों को भी जानना कठिन है वह पद मैंने पाया है और एक और द्वैत की कल्पना जो शास्त्र और वेदों में कही है वह मेरी मिट गई है। अब मैं परमशान्त होकर निश्शङ्क हुआ हूँ और कोई दुःख मुझको नहीं रहा। सब जगत् मुझको आत्मरूप ही भासता है। हे भगवन् ! अब मैंने जाना कि न कोई अविद्या है; न विद्या है; न सुख है और न दुःख है मैं सर्वदा अपने आत्मपद में स्थित हूँ और पाने योग्य पद पाया है जो आगे भी प्राप्त था। जो कहते हैं कि हम उस पद को नहीं जानते उनको भी वह प्राप्तरूप है परन्तु वे अज्ञान से नहीं जानते। वह पद और किसी से नहीं जाना जाता अपने आप से जाना जाता है और ऐसे भी नहीं है कि किसी से जनाइये और जानने योग्य और हो; वह तो आपही बोधरूप है और न कोई भ्रान्ति है; न जगत् है सर्व आत्मा ही है। हे मुनीश्वर ! अज्ञान और ज्ञान भी ऐसे हैं जैसे स्वप्ने की सृष्टि हो। जैसे उसमें अन्धकार भासता है सो तब नाश होता है जब सूर्य उदय हो। जब स्वप्ने से जाग उठे तब न अन्धकार रहता है और न प्रकाश ही रहता है; तैसे ही आत्मपद में जागे से ज्ञान और अज्ञान दोनों का अभाव हो जाता है और द्वितीय कल्पना मिट जाती है। जब संवेदन फुरती है तब जगत् भासता है परन्तु जगत् आत्मा से भिन्न नहीं। जैसे आकाश और शून्यता में कुछ भेद नहीं, तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं जैसे शिला का अन्तर जड़ीभूत होता है; तैसे ही ही आत्मा का रूप जगत् है जैसे जल और तरङ्ग में भेद नहीं; तैसे ही आत्मा और जगत् अभेदरूप है। हे मुनीश्वर ! जिस पुरुष को ऐसे आत्मा में अहंप्रतीति हुई है वह कार्यकर्ता दृष्टि आता है तो भी निश्चय से कुछ नहीं करता और अशान्तरूप दृष्टि आता है तो भी सदा शान्तरूप है। हे मुनीश्वर ! अज्ञानरूपी मध्याह्न का सूर्य है और जगत् की सत्यतारूपी दिन है। जगत् का भाव अभाव पदार्थरूपी उसका प्रकाश है और तृष्णारूपी मरुस्थल है जिसमें अज्ञानी जीवरूपी पथी हैं उनको दिन और मार्ग निवृत्त नहीं होता। जो ज्ञानवान् स्वभाव में स्थित हैं

उनको न संसार की सत्यतारूपी दिन भासता है और न तृष्णारूपी मरुस्थल भासता है। वे संसार की ओर से सो रहे हैं। ऐसी अद्वैतसत्ता उनको प्राप्त हुई है जहाँ सत्य और असत्य दोनों नहीं इस कारण उन्हें जगत् की कलना नहीं भासती। हे मुनीश्वर ! अब मैं जागा हूँ और सब जगत् मुझको अपना आप ही दृष्टि आता है। मैं निर्वाणरूप, निराकार, निरिच्छित और स्वभावसत्तारूप हूँ। अब कोई दुःख मुझको नहीं। हे मुनीश्वर ! उस पद को मैंने पाया है जिसके पाने से तृष्णा कदाचित् नहीं उपजती। जैसे पाषाण की शिला में प्राण नहीं फुरते, तैसे ही मुझमें तृष्णा नहीं फुरती। सर्व आत्मरूप ही मुझको भासता है। यह जो जीव है उसमें जीवत्व कुछ नहीं; जीवत्व भ्रान्ति सिद्ध है सब आत्मस्वरूप है। मुझको तो निरालम्बसत्ता अपनी आप ही भासती है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रांतिवर्णनं नाम द्विशताधिकचतुस्सप्ततितमस्सर्गः ॥ २७४ ॥

रामजी ने पूछा; हे मुनीश्वर ! आत्मा में अनन्तसृष्टि फुरती हैं। जैसे मेघ की बूँदों की गिनती नहीं होती, तैसे ही परमात्मा में सृष्टियों की गिनती नहीं होती। जैसे एक रत्न की असंख्य किरणें होती हैं; तैसे ही परमात्मा में असंख्य सृष्टि हैं; कई परस्पर मिलतीं और कई नहीं मिलतीं परन्तु स्वरूप से एकरूप हैं। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं तो उनमें कई नूतन भिन्न भिन्न और ही प्रकार की उठती हैं; कई परस्पर ज्ञात होती हैं और कई नहीं होतीं और एक ही ज्वाला के बहुत दीपक होते हैं और कोई अन्योन्य और कोई परस्पर मिलते हैं और पर स्वरूप से एकरूप है तैसे ही आत्मा में अनन्त जगत् फुरते हैं परन्तु परस्पर एकरूप हैं यदि नाना प्रकार का जगत् दृष्टि आया तो उसमें वही रूप हुआ और कारण तो कोई नहीं ? जैसे शून्य के आदि निराकार सत्ता होती है और उसी से सूर्यादिक पदार्थ भासि आते हैं सो भी वहीरूप हुए प्रकट भासते भी हैं परन्तु निराकार होते हैं; तैसे ही यह जगत् भी अकारण निराकार है। हे मुनीश्वर ! अब मैंने ज्यों का त्यों जाना है। जैसे स्वप्न में मुये हुए बोलते हैं, जीते हुए मृतक दृष्टि आते हैं और सब पदार्थ विपर्यय भासते

हैं परन्तु जब जाग उठे तब सब ज्यों के त्यों भासते हैं; तैसे ही मैं जाग उठा हूँ अब मुझको विपर्यय नहीं भासता—यथाभूतार्थ मुझको अब सर्वात्मा ही भासता है। हे मुनीश्वर! जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे परमसमाधि में स्थित हैं और उनको उत्थान कदाचित् नहीं होता अर्थात् स्वरूप से भिन्न नहीं भासता। वे व्यवहार करते दृष्टि आते हैं परन्तु व्यवहार से रहित हैं, क्योंकि उनको अभिलाषा कुछ नहीं रहती बिना अभिलाषा चेष्टा करते हैं और उनको हृदय से कुछ कर्तृत्व का अभिमान नहीं फुरता। इसी का नाम परम समाधि है। जब बोध की प्राप्ति होती है तब तृष्णा कोई नहीं रहती और सब पदार्थ विरस हो जाते हैं, क्योंकि आत्मपद परमानन्दरूप है और तृष्णा से रहित है। उसी का नाम मोक्ष है और उसी का नाम निर्वाण है, जिसमें उत्थान कोई नहीं। हे मुनीश्वर! आत्मानन्द ऐसा पद है जिसके आनन्द को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादिक और ज्ञानवानों की वृत्ति सदा दौड़ती है और संसार के पदार्थों की ओर नहीं धावती। जिस पुरुष को शीतल स्थान प्राप्त हुआ है वह फिर ज्येष्ठ आषाढ़ की धूप को नहीं चाहता कि मरुस्थल में दौड़े; तैसे ही ज्ञानवान् की वृत्ति और आनन्द की ओर नहीं धावती। हे मुनीश्वर! मैंने निश्चय किया है कि तृष्णा का सा ताप कोई नहीं और अतृष्णा की सी शान्ति कोई नहीं। यदि कोई पुरुष परमैश्वर्य को प्राप्त हुआ हो पर उसको हृदय में तृष्णा जलाती हो तो वह कृपण और दरिद्री है और आपदा का स्थान है और जो निर्धन दृष्टि आता हो परन्तु उसके हृदय में कोई तृष्णा नहीं तो वह परमैश्वर्य से सम्पन्न है और परम सम्पदा की मूर्ति है। जो बड़ा पण्डित हो परन्तु तृष्णासहित हो तो उसे परम मूर्ख जानिये; उसको बोध की प्राप्ति कदाचित् न होगी। जैसे मूर्ति की अग्नि शीत को निर्वाण नहीं करती; तैसे ही उसकी मूर्खता को पण्डित भी निर्वाण नहीं कर सकता। हे मुनीश्वर! सहस्रों में कोई बिरला पुरुष तृष्णा से रहित होता है। जैसे पिंजरे में पड़ा सिंह पिंजरे को तोड़कर निकले, तैसे ही कोई बिरला तृष्णा के जाल को तोड़कर निकलता है। जो पण्डित स्वरूप को विचार के वैतृष्ण नहीं होता और अतीत होकर वैतृष्ण नहीं होते

तो वे पण्डित और अतीत दोनों मूर्ख हैं। ज्यों-ज्यों तृष्णा को घटावे त्यों-त्यों जाग्रत्‌रूप बोध उदय होगा। जैसे ज्यों-ज्यों रात्रि की क्षीणता होती है, त्यों-त्यों दिन का प्रकाश होता है और ज्यों-ज्यों रात्रि की वृद्धि होती है त्यों-त्यों दिन की क्षीणता होती है; तैसे ही ज्यों-ज्यों तृष्णा बढ़ती जावेगी त्यों-त्यों बोध की प्राप्ति कठिन होगी और ज्यों-ज्यों तृष्णा घटती जावेगी त्यों-त्यों बोध की प्राप्ति सुगम होगी। हे मुनीश्वर! अब मैं उस पद को प्राप्त हुआ हूँ जो अच्युत, निराकार और द्वैत—एक कलना से रहित है। उस पद को मैंने आत्मरूप जाना है और अब मैं निश्शङ्क हुआ हूँ। जिस पद के पाये से कोई इच्छा नहीं रहती सो परमानन्द आत्मपद है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रान्तिवर्णनं नाम
द्विशताधिकपञ्चसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७५ ॥

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! बड़ा कल्याण हुआ है कि तुम जागे हो। ऐसे परम पावन वचन तुमने कहे हैं कि जिनको सुनने से पाप का नाश होता है। ये वचन अज्ञानरूपी अन्धकार के नाशकर्ता सूर्य हैं और तन मन के ताप को नाशकर्ता चन्द्रमा की किरणें हैं। हे रामजी! जो पुरुष अपने स्वभाव में स्थित हैं उनको व्यवहार और समाधि में एक ही दशा है और वे अनेक प्रकार की चेष्टा करते भी दृष्टि आते हैं परन्तु उनके निश्चय में कर्तृत्व का अभिमान कुछ नहीं फुरता, वे सदा परमस्थान में स्थित हैं। जैसे पत्थर की शिला में स्पन्द कुछ नहीं फुरता; तैसे ही उनको कुछ कर्तृत्व बुद्धि नहीं फुरती, क्योंकि उनके हृदय में देहाभिमान निवृत्त हुआ है और चिन्मात्र स्वस्वरूप में स्थित हुई है। यह आत्मपद परम शान्तरूप, द्वैत कलना से रहित एक है। ऐसा जो पद है उसे ज्ञानवान् आत्मता से जानता है; उसको निर्वाण कहते हैं और उसी को मोक्ष कहते हैं। हे रामजी! ऐसा जो पद है उसमें हम सदा स्थित हैं और ब्रह्मा, विष्णु से आदि लेकर जो ज्ञानवान् पुरुष हैं वे भी उसी पद में स्थित हैं। वे नाना प्रकार की चेष्टा करते भी दृष्टि आते हैं परन्तु सदा शान्तरूप हैं और उनको क्रिया और समाधि में एक ही आत्मपद का निश्चय रहता है। जैसे वायु स्पन्द और निस्पन्द में

एक ही है और जल और तरङ्ग ठहरने में एक ही है; तैसे ही ज्ञानी दोनों में सम है। जैसे आकाश और शून्यता में भेद नहीं; तैसे ही आत्मा और जगत् में भेद नहीं। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! तुम्हारी कृपा से मुझको कोई कलना नहीं फुरती। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र से आदि लेकर जो कुछ जगत् है सो सब आकाशरूप मुझको भासता है और सर्वदाकाल सर्वप्रकार मैं अपने आपमें स्थित अच्युत और अद्वैतरूप हूँ। मेरे जगत् की कलना कोई नहीं; चित्तसंवेदनद्वारा मैं ही जगत्रूप हो भासता हूँ पर स्वरूप से कदाचित् चलायमान नहीं होता। मैं अचैत चिन्मात्र स्वरूप हूँ और अपने आप से भिन्न मुझको कुछ नहीं भासता। वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! मैं जानता हूँ कि तुम जागे हो परन्तु अपने दृढ़बोध के निमित्त मुझसे फिर प्रश्न करो कि “यह जगत् है नहीं” तो भासता क्या है? रामजी बोले, हे भगवन्! मैं तुमसे तो तब पूछूँ जो मुझको जगत् का आकार भासता हो मुझको तो जगत् कुछ भासता ही नहीं जैसे संकल्प के अभाव हुए संकल्प की चेष्टा भी नहीं भासती; जैसे बाजीगर की माया के अभाव हुए बाजी नहीं रहती; स्वप्न के अभाव हुए स्वप्न की सृष्टि नहीं भासती और भविष्यत्कथा के पुरुष नहीं भासते; तैसे ही मुझको जगत् नहीं भासता; तो फिर मैं किसका संशय उठाऊँ? आदि जो संवेदन फुरी है सो विराट् पुरुष होकर स्थित हुई है और उसी ने आ देश, काल, पदार्थ, स्थावर-जङ्गम जगत् रचा है—उसी के समष्टि वपु का नाम विराट् है। जैसे स्वप्न का पर्वत हो; तैसे ही यह विराट् पुरुष है जो आकाशरूप है। जो वह आप ही आकाशरूप है तो उसका रचा जगत् मैं क्यों पूछूँ? जैसे स्वप्न की मृत्तिका आकाशरूप है अर्थात् जो उपजी ही अनउपजी है तो उसके पात्रों को मैं क्यों पूछूँ? इसलिये न कोई विराट् है और न उसका जगत् है; मिथ्या ही विराट् है और मिथ्या ही उसकी चेष्टा है। केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है; न कोई जगत् है और न कोई उसका विराट् है। जैसे स्वप्न का पर्वत आभासमात्र होता है तैसे ही यह जगत् आकार भासता है। जैसे बीज से वृक्ष होता तैसे ही ब्रह्म से जगत् प्रकट हुआ है। बल्कि, यह भी कैसे कहिये? बीज

तो साकार होता है और उसमें वृक्ष का सद्भाव रहता है जो परिणाम से वृक्ष होता है और आत्मा ऐसे कैसे हो; वह तो निराकार है और उसमें जगत् नहीं है, क्योंकि वह निर्विकार, अद्वैत और निर्वेद है उसको जगत् का कारण कैसे कहिये? न कोई जाग्रत् है; न स्वप्न है और न सुषुप्ति है; ये अवस्था भी आकाशमात्र हैं। आत्मा परिणाम भाव को नहीं प्राप्त होता वह तो सदा अपने आपमें स्थित है। हे मुनीश्वर! मैं, तुम, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी सब आकाशरूप है और अब मुझको सर्व आत्मा ही भासता है। हे मुनीश्वर! एक सविकल्पज्ञान है और दूसरा निर्विकल्पज्ञान है सो आकाशवत् अचैत चिन्मात्र है। जो दृश्य के सम्बन्ध से रहित है उसे आकाशवत् निर्मल जानो; वही निर्विकल्पज्ञान है। जिनको यह ज्ञान प्राप्त हुआ है वे महापुरुष हैं उनको मेरा नमस्कार है और जिनको दृश्य का संयोग है वे सविकल्प ज्ञानी हैं। वे संसारी हैं और उनको जगत् भिन्न-भिन्न विषमता सहित भासता है परन्तु तो भी भिन्न कुछ नहीं। जैसे समुद्र में नाना प्रकार के तरंग भासते हैं तो भी जल स्वरूप है; तैसे ही भिन्न-भिन्न जीव और उनका ज्ञान है तो भी मुझको अपना आप ही भासता है। जैसे अवयवी को सब अङ्ग अपने ही भासते हैं; तैसे ही सर्व जगत् मुझको अपना आप ही केवल अद्वैतरूप भासता है और जगत् की कलना कोई नहीं फुरती। जैसे स्वप्न से जागे को स्वप्न की सृष्टि नहीं फुरती, कल्पना से रहित अपना आप ही अद्वैत भासता है; तैसे ही मुझको जगत् कल्पना से रहित अपना आप ही भासता है। मुनीश्वर! निगम से लेकर जो शास्त्र हैं उनसे उल्लंघनकर मैंने वचन कहे हैं परन्तु जो मेरे हृदय में है वही कहा है। जो कुछ हृदय में होता है वही बाहर से वाणी से कहा जाता है। जैसे जो बीज बोया है सोई अंकुर निकलता है, बीज विना अंकुर नहीं निकलता; तैसे ही जो कुछ मेरे हृदय में है सोई वाणी से कहता हूँ। यह विद्या सर्वप्रमाण से सिद्ध है। हे मुनीश्वर! जिसको यह दशा प्राप्त है वही जानता है और कोई नहीं जान सकता। जैसे जिसने मद्यपान किया है वही उन्मत्तता को जानता है और कोई नहीं जान सकता; तैसे ही जो ज्ञानवान् है वही

आत्मरस को जानता है और कोई नहीं जानता। उस आत्मरस के पाने से फिर कोई कल्पना नहीं रहती। हे मुनीश्वर ! मैं आत्मा, अजन्मा, अविनाशी और परमशान्तरूप हूँ; उभय एक की कल्पना से रहित अचे चिन्मात्र हूँ और जगत्‌रूप हुए की नाईं भी मैं भासता हूँ पर निराभा हूँ; मेरे में आभास भी कोई वस्तु नहीं, क्योंकि निराकार हूँ। इस प्रका मैंने अपने आपको यथार्थ चिन्मात्र जाना है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे रामविश्रान्तिवर्णनं नाम
द्विशताधिकषट्सप्ततितमस्सर्गः ॥ २७६ ॥

वाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! इस प्रकार कहकर रामजी एक मुहूर्त पर्यन्त तूष्णी हो गये अर्थात् उन्होंने परमात्मपद में विश्रान्ति पाई और इन्द्रियों और मन की वृत्ति आत्मपद में उपशम हुई। उसके उपरान्त जानकर भी कमलनयन रामजी ने लीला के निमित्त प्रश्न किया। हे संशयरूपी मेघ के नाशकर्ता शरत्काल ! मुझको एक कोमल सा संशय हुआ है उसको दूर करो? हे मुनीश्वर! आत्मपद अव्यक्त और अचिन्त्य है अर्थात् इन्द्रियों और मन का विषय नहीं और मन की चिन्तना में भी नहीं आता और जो बड़े महापुरुष हैं उनके कहने में भी नहीं आता त ऐसा जो अचैत चिन्मात्र आत्मतत्त्व है वह शास्त्र से कैसे जाना जात है? शास्त्र तो अविच्छेद प्रतियोगी करके कहते हैं सो सविकल्प है प सविकल्प से निर्विकल्प पद कैसे जाना जाता है कि गुरु और शास्त्र जानिये? विकल्परूप शास्त्र हैं उनमें भी सार अर्थ मिलता है परन् विकल्प परिच्छेद प्रतियोगी जो उसके साथ हैं उनसे सर्वात्मा क्योंक जानिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! वह गुरु और शास्त्र से नहीं जान जाता और गुरु और शास्त्र विना भी नहीं जाना जाता। हे रामजी नाना प्रकार के जो विकल्परूप शास्त्र हैं उनसे निर्विकल्परूप कैसे जान है सो भी सुनो। हे रामजी ! व्यवधान देश के एक किटक गृहस्थी में रहते थे, निदान उनको आपदा प्राप्त हुई और चिन्ता दुर्बल होने लगे और भोजन भी न मिले जैसे वसन्तऋतु की म ज्येष्ठ आषाढ़ के धूप से सूख जाती है और जैसे जल से निकला कम

सूख जाता है; तैसे ही सम्पदारूपी जल से निकलकर आपदारूपी धूप से किटक सूख गये। तब उन्होंने विचार किया कि किसी प्रकार हमारा उदर पूर्ण हो इसलिये हम वन में जाकर लकड़ी चुनें कि हमारा कष्ट दूर हो। हे रामजी ! ऐसे विचार करके वे वन में गये और लकड़ियाँ ले आये। इसी प्रकार वे लकड़ियाँ ले आवें और बाज़ार में बेंचकर उदर पूर्ण करें। जब कुछ काल व्यतीत हुआ तब उनमें से किसी एक ने चन्दन की लकड़ी पहिंचानी और उनसे विशेष मोल पाया। इसी प्रकार एक को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते रत्न प्राप्त हुए और उनको विशेष ऐश्वर्य प्राप्त हुआ इसलिये उन्होंने लकड़ी उठानी छोड़ दी। वे फिर और स्थान ढूँढ़ने लगे कि रत्न से भी विशेष कुछ पाइये और वन की पृथ्वी को खोदते-खोदते उनको चिन्तामणि मिली, इसलिये उनको बड़ा ही ऐश्वर्य प्राप्त हुआ और जैसे ब्रह्मा; इन्द्रादिक हैं तैसे ही हो गये। हे रामजी ! जिन्होंने उद्यम करके वन की सेवना की थी उनको बड़ा सुख प्राप्त हुआ कि लकड़ियाँ उठाते-उठाते उनका उदर पूर्ण हुआ और दुःख निवृत्त हुआ; जिनको चन्दन की लकड़ी प्राप्त हुई उनका उदर पूर्ण होने से और भी सन्ताप मिटे और जिनको चिन्तामणि प्राप्त हुई उनके सर्वसन्ताप मिट गये और वे परमैश्वर्यवान् हुए परन्तु सबको वन से प्राप्त हुआ और जो वन के निकट उद्यम करने न गये घर ही बैठे रहे उन्होंने दुःखित होकर प्राणों को त्याग दिया परन्तु सुख न पाया।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिन्तामणिप्राप्तिर्नाम
द्विशताधिकसप्तसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७७॥

रामजी ने पूछा; हे भगवन्! यह जो तुमने किटक का वृत्तान्त कहा उसका तात्पर्य मैंने कुछ न जाना। वे किटक कौन-कौन थे; वह वन क्या था और आपदा क्या थी सो कृपा करके प्रकट कहो। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! ये सर्वजीव जो तुम देखते हो सो सब किटक हैं और उनको अज्ञानरूपी आपदा लगी है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापों की चिन्ता से वे जलते हैं। आध्यात्मिक काम-क्रोधादिक मानसी दुःख हैं; आधिभौतिक देह के वात, पित्त, कफ आदिक दुःख हैं और

आधिदैविक वे दुःख हैं जो ग्रहों से अनिच्छित प्राप्त होते हैं। हे रामजी! उनमें प्रयत्न करके जो शास्त्ररूपी वन में गये हैं सो सुखी भये और जो अर्थी सुख के निमित्त शास्त्ररूपी वन को सेवते हैं उनको सत्यकर्मरूपी लकड़ियाँ प्राप्त होती हैं जिनसे नरकरूपी उदर पूर्ण का जो दुःख था सो निवृत्त होता है और स्वर्गरूपी सुख पाते हैं। फिर शास्त्ररूपी वन को सेवते-सेवते उपासनारूपी चन्दनवृक्ष प्राप्त होता है उससे और दुःख भी निवृत्त होते हैं और विशेष सुख को पाते हैं जब अपने इष्टदेव को सेवता है तब स्वर्गादिक विशेष सुख पाता है और अपने स्थान को प्राप्त होता है। फिर जब शास्त्ररूपी वन को ढूँढ़ता है तब विचाररूपी रत्नविशेष पाता है। जब सत्य-असत्य का विचार प्राप्त होता है तब सर्व दुःख नष्ट हो जाते हैं। यह जो सुख प्राप्त होता है सो शास्त्र से ही होता है। जैसे चन्दन और लकड़ियाँ आदि पदार्थ वन में प्रकट थे और चिन्तामणि गुप्त थी; तैसे ही और शास्त्रों में धर्म, अर्थ और काम प्रकट हैं और ज्ञानरूपी चिन्तामणि गुप्त है। जब दूसरे शास्त्ररूपी वन को वैराग्य और अभ्यासरूपी यत्न से खोजे तब आत्मरूपी चिन्तामणि पाता है। हे रामजी! वन में ही उसने चिन्तामणि पाई थी, क्योंकि वहाँ चिन्तामणि का वन था परन्तु जब अभ्यास किया था तब पाई थी और उसी वन में पाई थी; तैसे ही गुरु और शास्त्र का भी जब मिट्टी के खोदने के समान अभ्यास करता है तब आप ही चिन्तामणिवत् आत्मप्रकाश होता है। जैसे मिट्टी के खोदने से चिन्तामणि का प्रकाश नहीं उपजता, क्योंकि चिन्तामणि तो आगे ही प्रकाशरूप थी; खोदने से केवल आवरण दूर हुआ तब आप ही भासि आई; तैसे ही गुरु और शास्त्रों के वचन के अभ्यास से अन्तःकरण शुद्ध होता है तब आत्मसत्ता स्वतः प्रकाश आती है। गुरु और शास्त्र हृदय की मलीनता दूर करते हैं और जब मलीनता दूर होती है तब आत्मसत्ता स्वाभाविक प्रकाशती है। इससे गुरु और शास्त्रों से मलीनता दूर होती है परन्तु इनकी कल्पना भी द्वैत में होती है सो कल्पना द्वैत संसार को नाश करनेवाली है। परमार्थ की अपेक्षा से शास्त्र और गुरु भी द्वैत कल्पना है और अज्ञानी की अपेक्षा से गुरु और शास्त्र कृतार्थ करते हैं और इनके अभ्यास से आत्मपद पाता है। प्रथम अज्ञानी शास्त्र को भोग के निमित्त सेवते हैं और शास्त्र में भोग का अर्थ जानते हैं। जैसे लकड़ियों के निमित्त वे किटक वन को सेवते थे। शास्त्र में सब कुछ है; जैसे जिसको रुचि से अभ्यास होता है तैसे ही पदार्थ उसको प्राप्त होते हैं। शास्त्र एक ही है परन्तु पदार्थों में भेद है। जैसे पौंड़े के रस से गुड़, शक्कर और मिश्री होती है; तैसे ही शास्त्र एक है उसमें पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं जिस-जिस अर्थ के पाने के निमित्त कोई यह यत्न करेगा उसी को पावेगा—शास्त्र में भोग भी हैं और मोक्ष भी हैं। अज्ञानी भोग के निमित्त यत्न करते हैं परन्तु वे भी धन्य हैं, क्योंकि शास्त्र तो सेवने लगे; उन्हें सेवते-सेवते कभी किसी काल में आत्मपदरूपी चिन्तामणि भी प्राप्त होवेगी परन्तु आत्मपद पाने के निमित्त शास्त्र श्रवण करना योग्य है। सुन सुनकर अभ्यास द्वारा आत्मपद प्राप्त होगा आत्मपद पाने से तब सर्व ओर से समभाव होगा। जैसे सूर्य के उदय हुए सब ओर से प्रकाश फैल जाता है; तैसे ही सब ओर से समता प्रकाशेगी तब सुषुप्ति की नाईं स्थित होगी अर्थात् द्वैत और एक कलना भी शान्त हो जावेगी और अनुभव अद्वैत में जाग्रत् होगी परन्तु सन्तों के संग और शास्त्रों के विचार अभ्यास द्वारा होगी। जो जन परोपकारी संसारसमुद्र से पार करनेवाले हों सो ही सन्तजन हैं; उनके संग से आत्मपद प्राप्त होगा। हे रामजी! गुरु और शास्त्र नेति-नेति करके जानते हैं अर्थात् अनात्मधर्म को निषेध करके आत्मतत्त्व शेष रखते हैं। जब अनात्मधर्म को त्याग करोगे तब आत्मतत्त्व शेष रहेगा। उसको जान लोगे तो उसके जाने से और कुछ जानना नहीं रहता और उसके जानने में यत्न भी कुछ नहीं केवल आवरण दूर करने के निमित्त यत्न है। जैसे सूर्य के आगे बादल आता है तो सूर्य नहीं भासता इसलिये बादलों के दूर करने का यत्न चाहिये, सूर्य के प्रकाश के निमित्त यत्न नहीं चाहिये। जब बादल दूर होते हैं तब स्वाभाविक ही सूर्य प्रकाशता है; तैसे ही गुरु और शास्त्र के यत्न से जब अहंकाररूपी आवरण दूर होते हैं तब सुप्रकाश आत्मा भासि आता है सात्त्विकगुणी जो गुरु और शास्त्र हैं

उनसे जब रज और तमगुणों का अभाव होता है तब परम अद ज्योति आत्मा अकस्मात् प्रकाशि आता है और जब वह प्रकाश हु तब उससे उन्मत्त हो जाता है और द्वैतरूपी संसार की कल्पना न रहती। जैसे सुन्दर स्त्री को देखकर कामी पुरुष उन्मत्त हो जाता है औ संसार की सुरति भूल जाती है; तैसे ही ज्ञानी आत्मपद को पाकर उन्म होता है और संसार की सुरति उसे भूल जाती है और परमैश्वर्यवा होता है उसका साधन केवल शास्त्र का विचार है। वन के सेवने चिन्तामणि पाने का जो दृष्टान्त कहा है सो जान लेना।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे गुरुशास्त्रोपमावर्णनं नाम
द्विशताधिकाष्टसप्ततितमस्सर्गः ॥ २७८ ॥

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो कुछ सिद्धान्त सम्पूर्ण है सो मैं तुमसे विस्तारपूर्वक कहा है उसके सुनने और बारम्बार विचारने से मु भी निरावरण होंगे तो उत्तम पुरुष को निरावरण होने में क्या आश्च है? हे रामजी! यह मैं भी जानता हूँ कि तुम विदितवेद हुए हो प्र मैंने उत्पत्तिप्रकरण तुमसे कहा है कि जगत् की उत्पत्ति चित्तसंवेद से हुई है फिर स्थितिप्रकरण कहा है कि जगत् की स्थिति इस प्र हुई है। उत्पत्ति यह कि चित्तसंवेदन के फुरने से जगत् उपजा है औ संवेदन फुरने की दृढ़ता से ही उसकी स्थिति हुई है। उसके उपरान्त उ शमप्रकरण कहा है कि मन इस प्रकार अफुर होता है। जब चित्त शम हुआ तब परम कल्याण हुआ। मन के फुरने का नाम संसार है जब मन उपशम हो जाता है तब संसार की कल्पना मिट जाती है यह सम्पूर्ण विस्तारपूर्वक कहा है परन्तु अब जानता हूँ कि तुम बो वान् हुए हो। हे रामजी! मैंने तुमसे प्रथम भी आत्मज्ञान का उपा कहा है और जिनको ज्ञान प्राप्त हुआ है उनके लक्षण भी कहे हैं औ अब भी संक्षेप से कहता हूँ। प्रथम बालअवस्था में सन्तजनों का सं करना चाहिये और सच्छास्त्रों को विचारना चाहिये। इस शुभ आ से अभ्यास द्वारा जब आत्मपद की प्राप्ति होती है तब समता आ होती है और सबका सुहृद हो जाता है। सुहृदता परमानन्द

जननी है जो सदा संग रहती है। जैसे सुन्दर पुरुष को देखकर उसकी स्त्री प्रसन्न होती है और प्राण का त्यागना भी अङ्गीकार करती है परन्तु उस पुरुष को नहीं त्यागती; तैसे ही जिस ज्ञानवान् पुरुष की ब्रह्मलक्ष्मी से सुन्दर कान्ति है उसको समता, मुदिता और सुहृदतारूपी स्त्री नहीं त्यागती; सदा उसके हृदयरूपी कण्ठ में लगी रहती है और वह पुरुष सदा प्रसन्न रहता है। हे रामजी! जिसको देवताओं का राज्य प्राप्त होता है वह भी ऐसा प्रसन्न नहीं होता और जिसको सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं वह भी ऐसा प्रसन्न नहीं होता जैसा ज्ञानवान् प्रसन्न होता है। हे रामजी! समता तो द्विधारूपी अन्धकार का नाशकर्ता सूर्य है और तीनों तापरूपी उष्णता के नाश करने को पूर्णमासी का चन्द्रमा है सुहृदता और समता सौभाग्यरूपी जल का नीचा स्थान है। जैसे जल नीचे स्थान में स्वाभाविक ही चला जाता है; तैसे ही सुहृदता में सौभाग्यता स्वाभाविक होती है। जैसे चन्द्रमा की किरणों के अमृत से चकोर तृप्तवान् होता है; तैसे ही आत्मरूपी चन्द्रमा की समता और सुहृदतारूपी किरणों को पाकर ब्रह्मादिक चकोर तृप्त होकर आनन्दवान् होते हैं और जीते हैं। हे रामजी! वह ज्ञानवान् ऐसी कान्ति से पूर्ण है जो कदाचित् क्षीण नहीं होती। जैसे पूर्णमासी के चन्द्रमा में भी उपाधि दृष्टि आती है परन्तु ज्ञानवान् के मुख में तैसी भी उपाधि नहीं। जैसे उत्तम चिन्तामणि की कान्ति होती है, तैसे ही ज्ञानवान् की कान्ति होती है जो रागद्वेष से कदाचित् क्षीण नहीं होती। वह सदा प्रसन्न रहता है। हे रामजी! समता ही मानों सौभाग्यरूपी कमल की खानि है समदृष्टि पुरुष ऐसे आनन्द के लिये जगत् में बिचरता है और प्राकृत आचार को करता है। वह भोजन करता है, ग्रहण करता है, वा कुछ लेता-देता है सब लोग उसके कर्तृत्व की स्तुति करते हैं। हे रामजी! ऐसा पुरुष ब्रह्मादिकों से भी पूजने योग्य है; सबही उसका मान करते हैं और सब उसके दर्शन की इच्छा करते हैं और दर्शन करके प्रसन्न होते हैं। जैसे सूर्य के उदय हुए सूर्यमुखी कमल खिल आते हैं और सर्वहुलास को प्राप्त होते हैं; तैसे ही उसका दर्शन करके सब हुलास

को प्राप्त होते हैं। वह जो करता है सो शुभ आचार ही करता है जो कुछ और भी कर बैठता है तो भी उसकी निन्दा लोग नहीं क्योंकि जानते हैं कि यह समदर्शी है। समता से वह सबका होता है और शत्रु भी उसके मित्र हो जाते हैं। जिनको समता उदय हुआ है उनको अग्नि जला नहीं सकता; जल डुबा नहीं और वायु सुखा नहीं सकता। वह जैसी इच्छा करे तैसे ही सिद्धि है। हे रामजी! जिसको समता प्राप्त हुई है वह पुरुष अतोल हो है और संसार की उपमा उसको कोई दे नहीं सकता। जिसको नहीं प्राप्त हुई वह सबके संग सुहृदता का अभ्यास करे तो जो शत्रु हो वह भी मित्र हो जाता है, क्योंकि अभ्यास की दृढ़ता शत्रु भी मित्र भासने लगते हैं। जो सर्व में समता का अभ्यास है वही दृढ़ होता है और समताभाव से कदाचित् चलायमान होता। हे रामजी! एक राजा था उसने अपने शरीर का मांस काट क्षुधा को दिया परन्तु समता से चलायमान न हुआ; ज्यों का त्यों रहा। एक पुरुष को उसकी पुत्री अति प्यारी थी और उसने उसे किसी को जिसने शत्रु को दी परन्तु वह ज्यों का त्यों रहा। एक और राजा था जिसको स्त्री अति प्यारी थी पर उसने उसका कुछ व्यभिचार सुना और मारडाला परन्तु समतारूप धर्म को न त्यागा। हे रामजी! जब राजा के गृह में मङ्गल होता है तब वह अपने नगर को भूषणों और सुन्दर करता है और प्रसन्न होता है सो अवस्था राजा जनक की देखी थी। एक समय उसने सर्वस्थान अति प्रज्वलित अग्नि से जलते देखे पर अपने समताभाव से चलायमान न हुआ। एक और राजा था उसने राज्य भी और को दे दिया और आप राज्य विना बिचरता रहा परन्तु समताभाव से चलायमान न हुआ। हे रामजी! एक दैत्य था उसको देवताओं का राज्य मिला और फिर राज्य नष्ट हो गया परन्तु दोनों भावों में वह सम ही रहा। एक बालक था उसने चन्द्रमा को लड्डू जानकर मारी परन्तु वह ज्यों का त्यों रहा। हे रामजी! इसी प्रकार मैंने अनेक देखे हैं जिनको सम्यक् आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है और वे सुख-दुःख

चलायमान नहीं हुए। हे रामजी! ज्ञानी और अज्ञानी का प्रारब्धभोग तुल्य है परन्तु अज्ञानी रागद्वेष से तपायमान होता है और ज्ञानी दृढ़ समझ के वश से तपायमान नहीं होता; सर्व अवस्थाओं में उसको समताभाव होता है। जो फल आत्मपद के साक्षात् होने से प्राप्त होता है सो तप, तीर्थ, दान और यज्ञ से प्राप्त नहीं होता। जब अपना विचार उत्पन्न होता है तब सर्वभ्रान्ति निवृत्त हो जाती हैं और सर्वजगत् आत्मरूप ही भासता है। इसी दृष्टि को लिये ज्ञानी प्राकृत आचार में बिचरते हैं परन्तु निश्चय में सदा निर्गुण हैं। रामजी ने पूछा; हे मुनीश्वर! ऐसी अद्वैतदृष्टिनिष्ठा जिनको प्राप्त हुई है उनको कर्मों के करने से क्या प्रयोजन है; वे त्याग क्यों नहीं करते? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! जो पुरुष अद्वैतनिष्ठ हैं उनसे त्याग-ग्रहण की भ्रान्ति चली जाती है और उस भ्रम से रहित होकर वे प्रारब्ध के अनुसार चेष्टा करते हैं। हे रामजी! जो कुछ स्वाभाविक क्रिया उनको बन पड़ी है उसका वे त्याग नहीं करते। उसमें उनको ज्ञान प्राप्त हुआ है सो आचार करते हैं—और को ग्रहण नहीं करते और उसका त्याग नहीं करते। हे रामजी! जिनको गृहस्थी ही में ज्ञान प्राप्त हुआ है वे गृहस्थी ही में बिचरते हैं और उसका त्याग नहीं करते—जैसे हम स्थित हैं और जिनको राज्य में ज्ञान प्राप्त हुआ है सो राज्य ही में रहे हैं—जैसे तुम हो। जो ब्राह्मण को ज्ञान प्राप्त हुआ है वह ब्राह्मण ही के कर्मों में रहे हैं और इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र जिस वर्णाश्रम में किसी को ज्ञान प्राप्त हुआ है वही कर्म करता है। हे रामजी! कई ज्ञानवान् गृहस्थी ही में रहे हैं; कई राज्य ही करते हैं; कई संन्यासी हो रहे हैं; कई वन में बिचरते फिरते हैं; कई पर्वत-कन्दरा में ध्यान स्थित हो रहे हैं; कई नगरों में रहते रहे हैं; कई मथुरा, केदारनाथ, प्रयाग, जगन्नाथ इत्यादिक में रहे हैं; कई देवता का पूजन; कई कर्म; कई तीर्थ और अग्निहोत्र करते हैं और कई हमारी नाईं जप करते हैं। कई अस्ताचल पर्वत में; कई उदयाचल पर्वत में और कई मन्दराचल, हिमाचल इत्यादिक पर्वत स्थानों में बिचरते रहे हैं। कई शास्त्रविहित कर्म करते रहे हैं; कई अवधूत हो रहे हैं; कई भिक्षा माँग-माँग भोजन करते रहे हैं; कई

कठिन वचन बोलते रहे हैं; कई अज्ञानी की नाईं हुए बिचरते रहे हैं
कई विद्याध्ययन इत्यादिक नाना प्रकार की चेष्टा करते रहे हैं, क्यों
उनको चेष्टा स्वाभाविक प्राप्त हुई है; वे यत्न से कुछ नहीं करते।
रामजी ! वे शुभकर्म करें अथवा अशुभकर्म करें परन्तु कोई क्रिया उन
बन्धन नहीं करती और जो अज्ञानी हैं सो जैसे कर्म करेंगे तैसे ही
को भोगेंगे। जो पुण्यकर्म करेंगे तो स्वर्गसुख भोगेंगे और पाप से नर
दुःख भोगेंगे। जो कामना से रहित शुभकर्म करेगा उसका अन्तःकर
शुद्ध होगा और सन्तों के संग और सच्छास्त्रों से शुद्धता को प्रा
होगा। हे रामजी! जो अर्धप्रबुद्ध हैं वे पाप करने लग जावें और आ
अभ्यास त्याग दें तो वे दोनों मार्गों से भ्रष्ट हैं—न स्वर्ग को प्राप्त हो
हैं और न आत्मपद को प्राप्त होते हैं। तप, दान, तीर्थादिक सेवने
भी आत्मपद नहीं प्राप्त होता; जब विचार उपजता है और आत्मपद
अभ्यास होता है तभी आत्मपद मिलता है और जब आत्मपद प्रा
होता है तब निश्शङ्क हो जाता है चेष्टाव्यवहार करता भी दृष्टि आत
है परन्तु उसका चित्त शान्त हो जाता है। जैसे ताँबे को जब पार
का स्पर्श कीजिये तब वह सुवर्ण हो जाता है; आकार उसका तैसा ही
रहता है परन्तु ताँबेभाव का अभाव हो जाता है तैसे ही जब चित्त को
आत्मपद का स्पर्श होता है तब चित्त शान्त हो जाता है परन्तु चेष्टा
उसी प्रकार होती है और जगत् की सत्यता नष्ट हो जाती है। हे रामजी!
अब तुम जागे हो और निश्शङ्क हुए हो। रागद्वेष तुम्हारा नष्ट हो
गया है और तुम निर्विकार आत्मपद को प्राप्त हुए हो। जन्म, मृत्यु
बढ़ना, घटना, युवा और वृद्ध होना; इन सर्वविकारों से रहित आत्म
पद को तुमने पाया है और सबका अधिष्ठान जो परम शुद्ध चैतन्य है
सो तुमको प्राप्त हुआ है। हे रामजी ! जो कुछ मुझको कहना था स
कहा। यह सार का सार आत्मपद है और जो कुछ जानने योग्य
सो तुमने जाना इसके उपरान्त न कुछ कहना रहा है और न कु
जानना रहा है—यहीं तक कहना और जानना है। अब तुम निश्श
होकर बिचरो तुमको संशय कोई नहीं रहा और क्षय और अतिशय

रहित पद तुमने पाया है अर्थात् तुमने अविनाशी और सबसे उत्तम पद पाया है। बाल्मीकिजी बोले; हे साधो ! जब इस प्रकार मुनियों में शार्दूल वशिष्ठजी कहकर तूष्णीं हो रहे तब सर्वसभा जो बैठी थी सो परम निर्विकल्पपद में स्थित हो गई और जैसे वायु से रहित कमल फूल पर भँवरे अचल होते हैं, तैसे ही चित्तरूपी भँवरे आत्मपदरूपी कमल के रस को लेते हुए स्थित हो रहे। सबके सब ब्रह्म को जानकर ब्रह्मरूप हुए और ब्रह्म ही में स्थित हुए। निकट जितने मृग थे वे भी तृण का खाना छोड़कर अचल हो गये; दूसरे पशु; पक्षी भी सुनकर निस्पन्द हो रहे और स्त्रियाँ जो बालकों संयुक्त चपल थीं वे सुनकर जड़वत् हो गईं पूर्व जो मुक्तिवान् सिद्धों के गण मोक्ष के उपाय के श्रवण को आये थे और देवता अरु सिद्धों ने तमाल, कदम्ब, पारिजात कल्प इत्यादिक दिव्यवृक्षों के फूलों की वर्षा की और नगाड़े, भेरी और शंख, बजने और वशिष्ठजी की स्तुति करने लगे। निदान बड़े शब्द हुए जिनसे दशों दिशा पूर्ण हो गईं और ऊपर से देवताओं और सिद्धों के नगाड़ों के शब्द हुए जिनसे पर्वतों में शब्द भाव उठे और दिव्यफूलों की ऐसी सुगन्ध फैली—मानो पवन भी रञ्जित हुआ है। तब सिद्धों ने कहा; हे वशिष्ठजी ! हमने भी अनेक मोक्ष के उपाय सुने और उच्चार किये परन्तु जैसा तुमने कहा है तैसा न आगे सुना है; न गाया है और न कहा है। जो तुम्हारे मुखारविन्द से श्रवण किया है उससे हम परम सिद्धान्त को जान गये हैं। इसके श्रवण से पशु, पक्षी और मृग भी कृतार्थ हुए हैं और मनुष्यों की तो क्या वार्ता कहिये वे तो कृतार्थ ही हुए हैं और निष्पाप ज्ञान को पाकर मुक्त होंगे। बाल्मीकिजी बोले; हे साधो ! ऐसे कहकर उन्होंने फिर फूलों की वर्षा की और वशिष्ठजी को चन्दन का लेप किया। जब इस प्रकार वे पूजा कर चुके तब और जो निकट बैठे थे सो परम विस्मय को प्राप्त हुए कि ऐसा परम उपदेश वशिष्ठजी ने किया। तब राजा दशरथ उठ खड़े हुए और हाथ जोड़कर वशिष्ठजी को नमस्कार करके बोले; हे भगवन् ! तुम्हारी कृपा से हम षडैश्वर्यों से सम्पन्न हुए हैं। हे भगवन् ! तुमने सम्पूर्ण शास्त्र सुनाया है जिसको सुनकर हम पूजन करने के योग्य

हुए हैं; इसलिये हे देव ! हम तुम्हारा पूजन किससे करें ? ऐसा कोई पदार्थ पृथ्वी, आकाश और देवताओं में भी नहीं दृष्टि आता जो तुम्हारी पूजा के योग्य हो—सब पदार्थ कल्पित हैं; और जो सत्य पदार्थ से पूजा करें तो सत्य तुमहीं से पाया है । इससे ऐसा पदार्थ कोई नहीं जो तुम्हारी पूजा के योग्य हो तथापि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार हम पूजन करते हैं तुम क्रोधवान् न होना और हँसी भी न करना । हे मुनीश्वर ! मैं राजा दशरथ; मेरे अन्तःपुर की सम्पूर्ण स्त्रियाँ; मेरे चारों पुत्र; मेरा सम्पूर्ण राज्य और सम्पूर्ण प्रजासहित जो कुछ मैंने लोक में यश किया है और परलोक के निमित्त पुण्य किया है वह सर्व तुम्हारे चरणों के आगे निवेदन करता हूँ । हे साधो ! इस प्रकार कहकर राजा दशरथ वशिष्ठजी के चरणों पर गिरे । तब वशिष्ठजी बोले, हे राजन् ! तुम धन्य हो, जिनको ऐसी श्रद्धा है परन्तु हमतो ब्राह्मण हैं हमको राज्य क्या करना है और हम राज्य का व्यवहार क्या जानें । कभी ब्राह्मण ने राज्य किया है; राजा तो क्षत्रिय ही होते हैं; इसलिये तुमहीं से राज्य होगा । यह जो तुम्हारा शरीर है उसे मैं अपना ही जानता हूँ और ये तेरे चतुष्टय पुत्र मैं आगे से अपने जानता हूँ । हम तो तुम्हारे प्रणाम से ही सन्तुष्ट हैं; यह राज्य का प्रसाद हमने तुमको ही दिया । फिर बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब राजा दशरथ ने फिर कहा कि हे स्वामिन् ! तुम्हारे लायक कोई पदार्थ नहीं । तुम ब्रह्माण्ड के ईश्वर हो बल्कि तुमसे ऐसे वचन कहते भी हमको लज्जा आती है परन्तु योग्यता के निमित्त तुम्हारे आगे विनती की है कि मोक्ष उपाय-शास्त्र श्रवण किया है इसलिये अपनी शक्ति के अनुसार तुम्हारा पूजन करें । तब वशिष्ठजी ने कहा; बैठो और राजा बैठ गया । फिर रामजी ने निरभिमान होकर कहा; हे संशयरूपी तिमिर के नाशकर्ता सूर्य ! तुम्हारा पूजन हम किससे करें ? कोई पदार्थ गृह में अपना नहीं । हे गुरुजी ! मेरे पास और कुछ नहीं है केवल एक नमस्कार ही है । ऐसे कहकर वे चरणों पर गिरे और नेत्रों से जल चलने लगा । वे बार-बार उठें और आत्मानन्द प्राप्ति के उत्साह से फिर गिर पड़ें । निदान

वशिष्ठजी ने कहा बैठ जाओ तब रामजी भी बैठ गये । फिर लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, राजर्षि और ब्रह्मर्षि आदि सब अर्घ्य-पाद्य से पूजने लगे और फूलों की वर्षा की जिससे वशिष्ठजी का शरीर भी ढक गया और जब वशिष्ठजी ने भुजा से फूल दूर किये तब मुख दृष्टि आने लगा । जैसे बादलों के दूर हुए चन्द्रमा दृष्टि आता है; तैसे ही मुख दीखने लगा । फिर वशिष्ठजी ने व्यास, वामदेव, विश्वामित्र, नारद, भृगु, अत्रि इत्यादिक जो बैठे थे उनसे कहा; हे साधो ! जो कुछ मैंने सिद्धान्त के वचन कहे हैं इनसे न्यून वा अधिक जो कुछ हो सो अब तुम कहो । जैसे जैसा स्वर्ण होता है तैसा ही अग्नि में दिखाई देता है; तैसे ही तुम कहो । तब सबने कहा; हे मुनीश्वर ! ये तुमने परम सार वचन कहे हैं; जो तुम्हारे वचन को न्यून वा अधिक जानकर उनकी निन्दा करेगा वह महापतित होगा । ये वचन परमपद पाने के कारण हैं । हे मुनीश्वर ! हमारे हृदय में भी जो कुछ जन्म-जन्मान्तर का मैल था वह नष्ट हो गया । हम तो पूर्ण ज्ञानवान् थे परन्तु पूर्वजन्म जो धरे हैं उनकी स्मृति हमारे चित्त में थी कि अमुक जन्म हमने इस प्रकार पाया था और अमुक जन्म इस प्रकार पाया था सो सर्वस्मृति अब नष्ट हुई है और जैसे अग्नि में डाला सुवर्ण शुद्ध होता है तैसे ही तुम्हारे वचनों से हमारा स्मृतिरूप मल नष्ट हुआ है । अब हम जानते हैं कि न कोई जन्म था और न हमने कोई जन्म पाया है—हम अपने ही आपमें स्थित हैं । हे मुनीश्वर ! तुम सम्पूर्ण विश्व के गुरु और ज्ञान-अवतार हो इसलिये तुमको हमारा नमस्कार है । राजा दशरथ भी धन्य हैं जिनके संयोग से हमने मोक्ष-उपाय सुना है और ये रामजी विष्णु भगवान् हैं । इतना कह फिर बाल्मीकिजी बोले कि इसी प्रकार ऋषीश्वर और मुनीश्वर वशिष्ठजी को परमगुरु जानकर स्तुति करने लगे, रामजी को विष्णु भगवान् जानकर उनकी भी स्तुति की और राजा दशरथ की भी स्तुति की कि जिनके गृह में विष्णु भगवान् ने अवतार लिया फिर वशिष्ठजी को अर्घ्य-पाद्य से पूजने लगे । आकाश के सिद्ध बोले; हे वशिष्ठजी ! तुमको हमारा नमस्कार है तुम गुरु के भी

गुरु हो। हे प्रभो ! जो कुछ तुमने उपदेश किया है और जो कुछ उसमें युक्ति कही है ऐसे वचन वागीश्वरी भी कहे अथवा न कहे। तुमको बारम्बार नमस्कार है और राजा दशरथ चतुर्द्वीप पृथ्वी के राजा को भी नमस्कार है जिसके प्रसंग से हमने ज्ञान और युक्ति सुनी। ये रामजी विष्णु भगवान् नारायण हैं और चारों आत्मा हैं इनको हमारा प्रणाम है। ये चारों भाई ईश्वर हैं। जिन पर विष्णु भगवान् दया करते हैं और जीवन्मुक्त अवस्था को धारकर बैठे हैं। वशिष्ठजी परमगुरु हैं और विश्वामित्र तप की मूर्ति हैं। बाल्मीकिजी बोले कि इस प्रकार जब सिद्ध कह चुके तब वे फूलों की वर्षा करने लगे। जैसे हिमालय पर्वत पर बरफ़ की वर्षा होती है और वह बरफ़ से पूर्ण हो जाता है; तैसे ही वशिष्ठजी पुष्पों से पूर्ण हुए। आकाशचारी जो ब्रह्मलोक के वासी थे उन्होंने भी उनपर पुष्पों की वर्षा की और जो सभा में ब्रह्मर्षि आदि बैठे थे उनका भी यथायोग्य पूजन किया। इस प्रकार जब सिद्ध पूजन कर चुके तब कई ध्याननिष्ठ हो रहे; सबके चित्त शरत्काल के आकाशवत् निर्मल हो गये और अपने स्वभाव में स्थित हुए। जैसे स्वप्न की सृष्टि का कौतुक देखकर कोई जाग उठे और हँसे; तैसे ही वे हँसने लगे। तब वशिष्ठजी ने रामजी से कहा; हे रघुवंश के कुलरूपी आकाश के चन्द्रमा! तुम अब किस दशा में स्थित हो और क्या जानते हो? रामजी बोले; हे भगवन् ! सर्व धर्मज्ञान के समुद्र! तुम्हारी कृपा से मैं अब अपने आपमें स्थित हूँ और कोई कल्पना मुझे नहीं रही। अब मैं परम शान्तिमान् हुआ हूँ और मुझको शेष विशेष कोई नहीं भासता केवल अपना आपही पूर्ण भासता है—अब मुझको कोई संशय नहीं रहा और इच्छा भी कुछ नहीं रही। मैंने अब परमनिर्विकल्प पद पाया है और कोई कल्पना मुझको नहीं फुरती। जैसे नील, पीतादिक उपाधि से रहित स्फटिक प्रकाशती हैं; तैसे ही मैं निरुपाधि स्थित हूँ और संकल्प-विकल्प उपाधि का अभाव हो गया है। अब मैं परम शुद्धता को प्राप्त हुआ हूँ; मेरा चित्त शान्त हो गया है और मेरी चेष्टा पूर्ववत् होगी पर निश्चय में कुछ न फुरेगा। जैसे शिला में प्राण नहीं फुरते; तैसे ही मुझको द्वैत

कल्पना कुछ नहीं फुरती। हे मुनीश्वर ! अब मुझको सब आकाशरूप भासता है। मैं शान्तरूप होकर परम निर्वाण हूँ और भिन्नभाव जगत् मुझको कुछ नहीं भासता—सर्व अपना आपही भासता है। अब जो कुछ तुम कहो वही करूँ। अब मुझको शोक कोई नहीं रहा और राज्य करना, भोजन, छादन, बैठना, चलना, पान करना जैसे तुम कहो तैसे ही करूँ। तुम्हारे प्रसाद से मुझको सर्व समान हैं।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे विश्रामप्रकटीकरणं नाम
द्विशताधिकैकोनाशीतितमस्सर्गः ॥ २७९ ॥

बाल्मीकिजी बोले; हे भरद्वाज! जब ऐसे रामजी ने कहा तब वशिष्ठजी बोले, हे रामजी ! बड़ा कल्याण हुआ कि तुम अपने आपमें स्थित हुए हो। अब तुमने यथार्थ जाना है पर अब जो कुछ सुनने की इच्छा हो सो कहो। रामजी बोले; हे संशयरूपी अन्धकार के नाशकर्ता सूर्य और संशयरूपी वृक्षों के नाशकर्ता कुठार ! अब तुम्हारे प्रसाद से मैं परमविश्रान्ति को प्राप्त हुआ हूँ और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति की कलना से रहित हूँ। जाग्रत् जगत् भी मुझको सुषुप्तिवत् भासता है और श्रवण करने की इच्छा नहीं रही। अब परमध्यान मुझको प्राप्त हुआ है अर्थात् आत्मा से भिन्न कुछ वस्तु नहीं भासती। मैं आत्मा, अज, अविनाशी, शान्तरूप और अनन्त, सदा अपने आप में स्थित हूँ। ऐसे मुझको मेरा नमस्कार है। अब प्रलयकाल का पवन चले और समुद्र उछलें और नाना क्षोभ हों तौ भी मेरा चित्त स्वरूप से चलायमान न होगा और जो त्रिलोकी का राज्य मुझको प्राप्त हो तो भी मेरे चित्त में हर्ष न उपजेगा। मैं सत्तासमान में स्थित हूँ। बाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज ! जब इस प्रकार रामजी ने कहा तब मध्याह्न का सूर्य शिर पर उदय हुआ और राजा जो रत्न और मणियों के भूषण पहिनकर बैठे थे उन मणियों की कान्ति किरणों से अति विशेष हुई और सूर्य के साथ हो एक हो गई—मानों ऐसे वचन सुनकर नृत्य करती है। तब वशिष्ठजी ने कहा; हे रामजी ! अब हम जाते हैं क्योंकि मध्याह्न की उपासना का समय है; जो कुछ तुम्हें पूछना हो सो कल फिर पूछना। तब राजा दशरथ पुत्रोंसहित

उठ खड़े हुए और वशिष्ठजी का बहुत पूजन किया। जो ऋषीश्वर, मुनीश्वर और ब्राह्मण थे उनका भी यथायोग्य पूजन किया और मोती और हीरों की माला; मोहरें, रुपये, घोड़े, गऊ, वस्त्र, भूषण आदि जो ऐश्वर्य की सामग्री है उससे यथायोग्य पूजन किया। जो विरक्त संन्यासी थे उनको प्रणाम करके प्रसन्न किया और जो राजर्षि थे उनका भी पूजन किया। तब वशिष्ठजी उठ खड़े हुए और परस्पर सबने नमस्कार किया और मध्याह्न के नौबत नगाड़े बजने लगे। सब श्रोता उठकर बिचरने लगे। कोई चले जाते थे और कोई शीश हिलाते, कोई हाथ की अँगुली हिलाते, नेत्रन की भवें हिलाते परस्पर चर्चा करते जाते थे। इस प्रकार सब अपने स्थानों को गये। वशिष्ठजी सन्ध्या उपासना करने लगे और सर्व श्रोता विचारपूर्वक रात्रि को व्यतीतकर सूर्य की किरणों के निकलते ही आ पहुँचे। गगनचारी; सप्तलोक के रहनेवाले; ऋषि और देवता; भूमिवासी राजर्षि; ब्रह्मर्षि और जो श्रोता थे सो सब आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये और सबने परस्पर नमस्कार किया। तब रामजी हाथ जोड़कर उठ खड़े हुए और बोले, हे भगवन् ! अब जो कुछ मुझको सुनना और जानना रहा है सो तुम ही कृपा करके कहो। वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! जो कुछ सुनने योग्य था सो तुमने सुना है। अब तुम कृतकृत्य हुए हो और सर्व रघुवंशियों का कुल तुमने तारा है और जो आगे होंगे सो सब तुमने कृतकृत्य किये हैं। अब तुम परमपद को प्राप्त हुए हो और जो कुछ तुमको पूछने की इच्छा है सो पूछ लो। हे रामजी! जो सत्तासमान में स्थित हुए हो तो विश्वामित्र के साथ जाकर इनका कार्य करो और जो कुछ पूछने की इच्छा हो सो पूछ लो। रामजी ने पूछा; हे भगवन्! आगे मैं अपने आपको इस देह संयुक्त परिच्छिन्नरूप देखता था और अब अपने आपसे भिन्न मुझको कुछ नहीं भासता- सब अपना आप ही भासता है। हे मुनीश्वर! अब इस शरीर से मुझको कुछ प्रयोजन नहीं रहा। जैसे फूल से सुगन्ध लेकर पवन चला जाता है और फूल से उसका प्रयोजन नहीं रहता; तैसे ही इस देह में जो कुछ सार था सो मैं पाकर अपने आपमें स्थित हूँ और शरीर के साथ मुझको प्रयोजन नहीं रहा। अब राज्य भोगने से कुछ सुख दुःख नहीं और इन्द्रियों के इष्ट अनिष्ट में मुझको कुछ हर्ष शोक नहीं। मैं अब सबसे उत्तमपद को प्राप्त हुआ हूँ और सब कलना से रहित अविनाशी, अव्यक्तरूप सर्व से निरन्तर सदा अपने आपमें स्थित और निराकार और निर्विकार हूँ। जो कुछ पाने योग्य था सो मैंने पाया है और जो कुछ सुनने योग्य था सो सुना है और जो कुछ तुमको कहना था सो कहा है अब तुम्हारी वाणी सफल हुई है। जैसे कोई रोगी को औषध देता है तो उस औषध से उसका रोग जाता है और उसका कल्याण होता है; तैसे ही तुम्हारी वाणी से मेरा संशयरूप रोग गया है और अपने आपसे तृप्त हुआ हूँ। अब मैं निःशङ्क होकर अपने आपमें स्थित हूँ।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे निर्वाणवर्णनं नाम
द्विशताधिकाशीतितमस्सर्गः ॥ २८० ॥

वशिष्ठजी बोले; हे महाबाहो, रामजी ! तुम मेरे परम वचन सुनो दृढ़ अभ्यास के निमित्त मैं फिर कहता हूँ। जैसे आदर्श को ज्यों-ज्यों मार्जन करते हैं त्यों-त्यों उज्ज्वल होता है; तैसे ही बारम्बार सुनने से अभ्यास दृढ़ होता है। जितना कुछ जगत् भासता है सो सब चिदानन्दस्वरूप है। भासती भी वही वस्तु है जो आगे भानरूप होती है। वह भानरूप चेतन है इससे जो पदार्थ भासते हैं सो सब चेतनरूप हैं और जो भिन्न-भिन्न पदार्थ द्वैत की कल्पना से भासते हैं सो भी वास्तव में भानरूप चेतन हैं। जैसे जो कुछ उच्चार करते हैं सो सब शब्द है पर शब्दरूप एक है और अर्थ से भिन्न-भिन्न भासते हैं। जब अर्थ की कल्पना त्याग दीजे तब यही शब्द है और जो अर्थ कीजिये कि यह जल है, यह पृथ्वी है; यह अग्नि है इनसे आदि लेकर अनेक शब्द और अर्थ होते हैं और अर्थ रहित शब्द एक ही है; तैसे ही यह सब चेतन है पर चित्त की कल्पना से भिन्न-भिन्न पदार्थ भासते हैं और कुछ वस्तु नहीं और जो भासता है सो उसी का आभास है। हे रामजी ! आभास भी अधिष्ठानसत्ता भासती है ज्ञान में भेद है पर स्वरूप ज्ञान में भी भेद नहीं जिससे अर्थ भासते हैं। ज्ञानरूप अनुभवसत्ता है; इसमें जिस

अर्थ का आभास होता है उसी को जानता है। जैसे एक ही रस्सी है उसमें सर्प का भ्रम करे तो सर्प तो कुछ नहीं वह रस्सी ही है; तैसे ही अर्थ भेद ग्रहण कीजिये तो भेद है नहीं तो ज्ञान ही है सर्व पदार्थ जो भासते हैं वे सब ज्ञानरूप ही हैं और कुछ बना नहीं। हे रामजी! स्वप्न का दृष्टान्त मैंने तुमको जताने के निमित्त कहा है, वास्तव में स्वप्ना भी कोई नहीं; अद्वैतसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे समुद्र सदा जलरूप है पर द्रवता से तरङ्ग बुद्बुदे भासते हैं सो नानारूप नहीं और नाना हो भासता है; तैसे ही सर्व जगत् अनानारूप है और नाना हो भासता है। तुम अपने स्वप्न को विचारकर देखो कि तुम्हारा अनुभव ही नाना प्रकार हो भासता है परन्तु कुछ हुआ नहीं तैसे ही यह जाग्रत् जगत् भी तुम्हारा अपना आप है और दूसरा कुछ नहीं। सदा निराकार, निर्विकार और आकाशरूप आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! जो अद्वैतसत्ता निराकार, निर्विकार और सदा अपने आपमें स्थित है तो पृथ्वी, कहाँ से उपजी है; जल कैसे उपजा है और अग्नि, वायु, आकाश, पुण्य, पाप इत्यादिक कल्पना चिदाकाश में कैसे उपजे हैं मेरे दृढ़बोध के निमित्त कहो? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! यह तुम कहो कि स्वप्ने में पृथ्वी कहाँ से उपज आती है और जल, वायु, अग्नि, आकाश, पाप, पुण्य, देश, काल, पदार्थ कहाँ से उपजते हैं? रामजी बोले; हे मुनीश्वर! स्वप्ने में जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, देश, काल, पदार्थ भासते हैं सो सब आत्मरूप होते हैं और आत्मसत्ता ही ज्यों की त्यों होती है सो तत्त्ववेत्ताओं को ज्यों की त्यों भासती है और जो असम्यक्दर्शी हैं उनको भिन्न भिन्न पदार्थ भासते हैं। भासना दोनों का तुल्य होता है परन्तु जिसकी वृत्ति यथाभूत अर्थ को ग्रहण करती है उसको ज्यों की त्यों आत्मसत्ता भासती है और जिसकी वृत्ति यथाभूत अर्थ ग्रहण नहीं करती उसको वही वस्तु और रूप हो भासती है। हे मुनीश्वर! और जगत् कुछ बना नहीं वही आत्मसत्ता स्थित है। जब कठोररूप की संवेदन फुरती है तब पृथ्वी और पहाड़ रूप हो भासती है; जब द्रवता

का स्पन्द फुरता है तब जलरूप हो भासती है और उष्णरूप की संवेदन फुरती है तब अग्नि भासती है; इसी प्रकार वायु, आकाशादिक पदार्थों में जैसे फुरना होता है तैसे ही हो भासता है। जैसे जल तरङ्गरूप हो भासता है परन्तु जल से भिन्न कुछ नहीं, जल ही रूप है तैसे ही आत्मसत्ता जगत्‌रूप हो भासती है और वही रूप है जगत् कुछ वस्तु नहीं। यह गुण और क्रिया सब आकाश में है वास्तव में कुछ नहीं, क्योंकि कारणरहित असत्यरूप है। यह अहं त्वं से आदिक लेकर सब जगत् आकाशरूप है कुछ बना नहीं, आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और कोई आधार नहीं है। अद्वैतसत्ता सदा अपने आपमें स्थित है और नानारूप हो भासती है। जब चित्त संवेदन फुरती है तब पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, पदार्थ, देश, काल हो भासता है। कहीं सर्व आत्मा का ज्ञान फुरता है और कहीं परिच्छिन्नता भासती है परन्तु वास्तव में कुछ बना नहीं वही वस्तु है; जैसा उसमें फुरना फुरता है तैसा ही हो भासता है। अनुभव सत्ता परम आकाशरूप है जिसमें आकाश भी आकाशरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे चिदाकाशजगदेकताप्रतिपादनं
नाम द्विशताधिकैकाशीतितमस्सर्गः ॥ २८१ ॥

रामजी बोले; हे भगवन्! अब यह प्रश्न है कि जो जाग्रत् और स्वप्ने में कुछ भेद नहीं और परम आकाशरूप है तो उस सत्ता को जाग्रत् और स्वप्ने के शरीर से कैसे संयोग है; वह तो निरवयव और निराकार है? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी! यह सर्व आकार जो तुमको भासते हैं सो सब आकाशरूप हैं और आकाश में आकाश ही स्थित है सर्ग के आदि में आकार का अभाव था सो ही अब भी जानो कि उपजा कोई नहीं परम आकाशसत्ता अपने आपमें स्थित है। जब वह अद्वैतसत्ता चिन्मात्र में चित्त किञ्चन होता है तब वही सत्ता आकार की नाईं भासती है परन्तु कुछ हुआ नहीं, आकाश ही रूप है। जैसे स्वप्ने में शरीरों का अनुभव करता है पर वे कुछ आकार तो नहीं होते केवल आकाशरूप होते हैं; तैसे ही यह जगत् भी निराकार है परन्तु फुरने से आकार हो भासता है। जिन तत्त्वों से शरीर होता है सो तत्त्व ही उपजे नहीं तो शरीर

की उत्पत्ति कैसे कहूँ ? हे रामजी ! और जगत् कुछ उपजा नहीं ब्रह्म ही किञ्चन से जगत्रूप हो भासता है। जैसे जल और द्रवता में भेद नहीं और जैसे आकाश और शून्यता में भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। संवेदन में अर्थसंकेत है और जब संवेदन न फुरे तब अर्थसंकेत न हो। भिन्न-भिन्न वस्तु एक ही सत्ता के नाम हैं। भिन्न-भिन्न नाम तब भासते हैं जब वेदना फुरती है, नहीं तो शब्द कल्पित जल के तुल्य है—वस्तु से भेद नहीं। जैसे वायु और स्पन्द में भेद नहीं; स्पन्द भासती है निस्पन्द नहीं भासती परन्तु दोनों रूप वायु के ही हैं; तैसे ही स्पन्द से ब्रह्म में किञ्चन जगत् भासता है और जब संवेदन नहीं फुरती तब जगत् नहीं भासता परन्तु दोनों रूप ब्रह्म के ही हैं। ब्रह्म और जगत् में भेद कुछ नहीं। जैसे एक निद्रा के दो रूप होते हैं—एक स्वप्ना और दूसरी सुषुप्ति—परन्तु दोनों एक, निद्रा के ही पर्याय हैं, तैसे ही जगत् का होना और न भासना एक ब्रह्म की दोनों संज्ञा हैं, चाहे ब्रह्म कहो और चाहे जगत् कहो, ब्रह्म और जगत् में भेद कुछ नहीं ब्रह्म ही जगत्रूप हो भासता है। जैसे निर्मल अनुभव से स्वप्ने में शिला भासि आती है पर वह शिला तो स्वप्ने में कुछ उपजी नहीं, अपना अनुभव ही शिलारूप हो भासता है; तैसे ही ये सर्व आकार जो भासते हैं सो आकाशरूप हैं और आत्मसत्ता ही आकाशरूप जगत् हो भासती है। जगत् कुछ उपजा नहीं और न सत्य है, न असत्य है, न आता है, न जाता है केवल आत्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। रामजी ने पूछा, हे मुनीश्वर ! आगे तुमने मुझसे अनेक सृष्टि कही हैं कि कई जल में; कई अग्नि में; कई पृथ्वी में; कई वायु में; कई पहाड़ और पत्थरों में और कई आकाश में पक्षीवत् इत्यादिक नाना प्रकार की सृष्टि तुमने कही हैं तो अब यह प्रश्न है कि हमारी सृष्टि किससे उत्पन्न हुई है ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! तुम तो वही प्रश्न करते हो जो अपूर्व होता है और जो आगे देखा और सुना न हो और जगत् में जाना भी न हो। इस जगत् की उत्पत्ति वेदपुराण तो यों ही कहते हैं और लोक में भी प्रसिद्ध है कि ब्रह्मा से हुई है पर वास्तव में चिदाकाशरूप है

कुछ उपजी नहीं। ये दोनों प्रकार मैंने तुमसे कहे हैं पर उनको तुम जानकर भी प्रश्न करते हो इसलिये तुम्हारा प्रश्न ही नहीं बनता। रामजी ने पूछा; हे मुनीश्वर ! यह सृष्टि कितनी है; कहाँ तक चली जाती है और कितने कालपर्यन्त रहेगी ? वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! जितनी सृष्टि तुम जानते हो वह है नहीं—ब्रह्म ही ब्रह्म में स्थित है—और सृष्टि बहुत हैं परन्तु वास्तव में कुछ हुई नहीं और आदि, अन्त और मध्य से रहित हैं वही ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है और यह जितनी सृष्टि हैं सो आभासमात्र हैं। ब्रह्म जो आदि, अन्त और मध्य से रहित है उसका आभास भी तैसा ही है। जैसे जितना वृक्ष होता है उतनी ही छाया होती है; तैसे ही ब्रह्म का आभास सृष्टि है और वास्तव में पूछो तो आभास भी कोई नहीं ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है और वही जगत्रूप आपको देखता है—ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। जैसे स्वप्ने के पुर में पर्वत, नदी, आयुध आदि नाना प्रकार के व्यवहार के रूप धारकर आत्मसत्ता ही स्थित होती है और कुछ नहीं बना और जैसे संकल्पनगर भासता है; तैसे ही इस जगत् को भी जानो, क्योंकि और कुछ बना नहीं आत्मसत्ता ही जगत्रूप हो भासती है। जगत् यदि किसी कारण से उपजा होता तो सत् होता पर इसका कारण कोई नहीं पाया जाता इसलिये असत् है, इसका न कोई निमित्तकारण पाया जाता है और न समवायकारण पाया जाता है। हे रामजी ! जो किसी कारण से न उपजा हो और भासे उसको स्वप्नपुरवत् आकाशमात्र जानो। जिसमें आभास भासती है सो अधिष्ठान सत्ता है। जैसे रस्सी में सर्प भासता है सो सर्प कुछ नहीं रस्सी ही सर्परूप होकर भासती है; तैसे ही जगत् का अधिष्ठान ब्रह्मसत्ता सत्य है और शुद्ध, निर्दुःख, अच्युत, विज्ञान सदा अपने आपमें स्थित है। वही सत्ता जगत्रूप हो भासती है। जैसे जल ही तरङ्गरूप हो भासता है तैसे ही ब्रह्म ही जगत्रूप हो भासता है। हे रामजी ! यह जगत् ब्रह्म का हृदय है अर्थात् उसी का स्वभाव है ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं। ज्ञानी को सर्वदा ऐसे ही भासता है। जैसे स्वप्ने से जागकर सब अपना आप ही भासता है; तैसे ही यह जगत् अपना आप है।

इति श्रीयो० जगदभाववर्णनं नाम द्विशताधिकद्व्यशीतितमस्सर्गः २८२

वशिष्ठजी बोले; हे रामजी ! इस जगत् का कारण कोई नहीं । जो जगत् ही नहीं तो कारण कैसे हो और कारण नहीं तो जगत् कैसे हो? इससे सर्व ब्रह्म ही है । इसी पर एक उपाख्यान है सो सुनो । हे रामजी! कुशद्वीप के पूर्व और पश्चिम दिशा के मध्य में सुवर्ण की ऐलवती नगरी महा उज्ज्वलरूप है और उसमें बड़े-बड़े ऊँचे थम्भ बने हैं मानो पृथ्वी और आकाश को उन्होंने ही पूर्ण किया है । उस नगरी का एक प्रगपती राजा है । एक काल में मैं आकाश से शीघ्र वेग से उसके गृह में आया और उसने भली प्रकार अर्घ्य-पाद्य से प्रीतिपूर्वक मेरा पूजन किया और सिंहासन पर बैठाकर मुझसे एक महाप्रश्न किया कि जिस प्रश्न से अधिक कोई प्रश्न नहीं । राजा बोले, हे भगवन् ! तुम संशयरूपी तम के नाशकर्ता सूर्य हो । मुझको एक संशय है सो दूर करो । हे मुनीश्वर ! प्रथम तो यह प्रश्न है कि जब महाप्रलय होता है तब कार्य, कारण और सर्वशब्द की कल्पना का अभाव हो जाता है । उसके पीछे महाआकाशसत्ता शेष रहती है जिसमें वाणी की भी गम नहीं अवाच्य पद है तो उससे फिर सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है ? वहाँ उपादानकारण और निमित्तकारण तो कोई नहीं रहता तो सृष्टि कैसे होती है ? श्रुति और पुराणों में सुनता हूँ कि महाप्रलय से फिर सृष्टि उत्पन्न होती है । दूसरा यह प्रश्न है कि जम्बूद्वीप में कोई मृतक हुआ अथवा किसी और ठौर गया हुआ मृतक हुआ तो उसका वह शरीर तो वहीं भस्म हो जाता है और परलोक में पुण्य पाप का फल दुःख सुख भोगता है तो जिस शरीर से भोगता है उस शरीर का कारण तो कोई नहीं ? जो तुम कहो कि पुण्य और पाप ही उस शरीर का कारण है तो पुण्य पाप तो आप ही निराकार हैं उनसे साररूप शरीर कैसे उपजे और जो तुम कहो परलोक कोई नहीं और पुण्य पाप भी कोई नहीं तो श्रुति और पुराणों के वचनों से विरोध होता है, क्योंकि सब ही वर्णन करते हैं कि मरकर परलोक जाता है और जैसे कर्म किये हैं तैसे भोगता है ? जिस शरीर से भोगता है उसका कारण तो कोई नहीं और न कोई पिता है; न माता है ? वह शरीर कैसे उत्पन्न हुआ ? तीसरा प्रश्न यह है कि जब यह परलोक में जाता है तो उसके निमित्त दान पुण्य करते हैं उनका फल उसको कैसे प्राप्त होता है ? चतुर्थ प्रश्न यह है कि महाप्रलय के पश्चात् जो ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है उसका नाम स्वयंभू कैसे हुआ ? जो महाप्रलय में न उपजा हो और अपने आप ही से उपजे वह स्वयंभू कहाता है पर महाप्रलय में तो शेष अद्वैत रहा था उससे जो उत्पन्न हुआ उसे स्वयंभू कैसे कहिये ? जो कहो स्वयंभू अपने आपसे उपजता है तो अपना आप आत्मा है जो सबका अपना आप है; अब क्यों नहीं उससे ब्रह्मा उत्पन्न होता है ? पाँचवाँ प्रश्न यह है कि एक पुरुष था जिसका एक मित्र था और एक शत्रु था और उन दोनों ने प्रयागक्षेत्र में जाकर करवट लिया । जो इसका मित्र था उसने वाञ्छा की कि मेरा मित्र चिरकाल जीता रहे और चिरंजीवी हो और दूसरे ने यह संकल्प धारा कि मेरा शत्रु इसी काल में मर जावे । हे मुनीश्वर ! एक ही काल में दो अवस्था कैसे होवेंगी ? छठा प्रश्न यह है कि सहस्रों मनुष्य ध्यान लगाये बैठे हैं कि हम इसी आकाश के चन्द्रमा हों सो एक ही आकाश में सहस्रों चन्द्रमा कैसे होंगे ? सप्तम प्रश्न यह है कि सहस्रों पुरुष यही ध्यान लगाये बैठे हैं कि एक सुन्दर स्त्री जो बैठी थी वह हमको मिले पर वह स्त्री पतिव्रता है उसके सहस्रभर्ता एक काल में कैसे होंगे ? अष्टम प्रश्न यह है कि एक पुरुष था उसको किसी ने वर दिया कि तुम जाकर मृतक हो और सप्तद्वीप का राज्य करो और किसी ने शाप दिया कि तेरा जीव अपने ही गृह में रहेगा और मृतक हो बाहर न जावेगा तो ये दोनों एक ही काल में कैसे होंगे ? नवम प्रश्न यह है कि एक काष्ठ का थम्भा था उसको एक ने कहा कि यह सुवर्ण का हो जावेगा और वह सुवर्ण का हो गया; तो सुवर्ण कैसे उत्पन्न हुआ ? उसका कारण कोई न था—कारण विना कार्य कैसे उत्पन्न हुआ ? जैसा अन्न का बीज बोते हैं तैसा ही अन्न उत्पन्न होता है और नहीं उगता तो काष्ठ से स्वर्ण कैसे उत्पन्न हुआ ? जो कहो संकल्प से उपजा तो हम भी संकल्प करते हैं कि अमुक कार्य ऐसे हो पर वह क्यों नहीं होता ? इसलिये जाना जाता है कि संकल्प से भी उत्पन्न नहीं होता । हे मुनीश्वर ! जिस प्रकार यह वृत्तान्त है सो कहो । एक कहते हैं

कि आगे असत् ही था तो असत् से जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई ? यह मुझको संशय है उसको दूर करो। जो कोई सन्त के निकट आता है सो निष्फल नहीं जाता इसलिये कृपा करके कहो।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रश्नवर्णनं नाम
द्विशताधिकत्र्यशीतितमस्सर्गः ॥ २८३ ॥

वशिष्ठजी बोले कि हे रामजी ! जब इस प्रकार उसने मुझसे अपने संशयों का समूह कहा तब मैंने उससे कहा; हे राजन् ! ये सर्व संशय जो तुझको हैं सो मैं सब दूर करूँगा। जैसे सम्पूर्ण अन्धकार को सूर्य नाश करता है। हे राजन् ! यह सर्व जगत् जो तुझको भासता है सो ब्रह्मरूप है और सदा अपने आपमें स्थित है। जब उसमें चित्त फुरता है तब वही चित्त संवेदन जगत्रूप हो भासता है, इससे जो कुछ आकार भासते हैं सो सब चिन्मात्ररूप हैं; न कोई कार्य है और न कारण है; और जो तुम प्रत्यक्ष प्रमाण से संशय करो कि सब चिन्मात्ररूप है तो जब यह शरीर मृतक हो जाता है तब चेतता क्यों नहीं; चाहिये कि उस काल में भी उसमें ज्ञान हो। हे राजन् ! जब जाग्रत् का अन्त होता है पर स्वप्न नहीं आया तब शुद्ध चिन्मात्र रहता है। फिर जब उसमें स्वप्ने की सृष्टि भासि आती है तो उस सृष्टि में कई चेतन भासते हैं; कई मृतक भासते हैं; कई जड़ भासते हैं और स्थावर-जङ्गम नाना प्रकार की सृष्टि भासती हैं परन्तु और तो कुछ नहीं वही चिन्मात्र स्वरूप है जो अनुभवरूप हो भासती है। कहीं चेतन बोलते और चलते भासते हैं परन्तु वही है ? जो चेतनता न होती तो कैसे भासते ? जिससे भासते हैं तिससे सब चेतन हैं। तैसे ही इस जगत् में भी कहीं बोलते चलते भासते हैं और कहीं शव भासते हैं परन्तु वही चिन्मात्रसत्ता है; जैसा जैसा संकल्प उसमें फुरता है तैसा तैसा हो भासता है। हे राजन् ! जैसे प्रथम प्रलय से सृष्टि उत्पन्न हुई थी तैसे ही उत्पन्न होती है। यह सृष्टि किसी का कार्य नहीं और किसी का कारण भी नहीं—विना कारण उपजी भासती है। हे राजन् ! जो महाप्रलय में शेष रहता है सो चिन्मात्र है। उस चिन्मात्रसत्ता से जो प्रथम शुद्ध संवेदन फुरी है सो ब्रह्मा विराट्रूप होकर स्थित हुई और उसी ने जगत् कल्पना की है। उसमें उसने नीति रची है कि यह पदार्थ इस प्रकार हो तैसे ही चित्त संवेदन में दृढ़ होकर भासित हुआ है उसका नाम जगत् है। वही आत्मसत्ता किंचनरूप होकर जगत्रूप भासती है। हे राजन्। जैसे तेरे संकल्प और स्वप्ने के सृष्टि की आदि शुद्ध आत्मसत्ता थी और वही फुरने से पदार्थरूप हो भासती है; तैसे ही इसे भी जानो; वास्तव में न कोई कार्य है और न कोई कारण है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि अकारण होती है; तैसे ही यह जगत् भी अकारण है और आदि-अन्त के विचार से रहित है। जो वर्तमान प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं उनको कार्य और कारण प्रत्यक्ष भासते हैं और उनके वचन भी निरर्थक हैं। जैसे अन्धे कूप के दर्दुर शब्द करते हैं; तैसे ही वे भी निरर्थक प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्यकारण के वाद करते हैं। उनको हमारे वचन सुनने का अधिकार नहीं और हमको भी उनके वचन सुनने योग्य नहीं। हे राजन् ! जिस शास्त्र के सुनने और जिस गुरु के मिलने से सम्पूर्ण संशय निवृत्त न हों उस शास्त्र और गुरु का कहना भी अन्धकूप के दर्दुरवत् व्यर्थ है। जो परमार्थसत्ता से विमुख हुए हैं उनको यह भ्रम अपने में भासता है और शरीर के मृतक हुए आपको मरता जानता है और फिर वासना के अनुसार शरीर उपजता और जीता है तब मानते हैं कि अब हम उपजे हैं। फिर अपने पुण्य पाप कर्म का अनुभव करते हैं। जैसे स्वप्ने में कोई अपने साथ शरीर देखता है तैसे ही परलोक में जीव को अपने साथ शरीर भासि आता है और तैसे ही यह शरीर भी भासि आया है। न कोई इसका कारण है; न पञ्चभौतिक है; न इसका शरीर है और न किसी कारण से भूत उपजे हैं, अपनी ही कल्पना आकाररूप होकर भासती है; और आकार कोई नहीं केवल ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और जैसा संकल्प उसमें दृढ़ होता है तैसा पदार्थ भासि आता है। हे राजन् ! जो तू इस जगत् को सत्य मानता है तो सब कुछ सिद्ध होता है, शरीर भी है; परलोक भी है और नरक स्वर्ग भी है। जैसा यह लोक है तैसा ही परलोक है; जो यह लोक निश्चय

में सत्य है तो वह लोक भी सत्य हो भासेगा। और जैसा कर्म करेगा तैसा फल भोगेगा।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे प्रश्नोत्तरवर्णनं नाम
द्विशताधिकचतुरशीतितमस्सर्गः ॥ २८४ ॥

वशिष्ठजी बोले कि हे राजन्! यह सर्व जगत् जो तुझको भासता है सो सब संकल्पमात्र है। जैसे कोई बालक अपने मन में वृक्ष और उसमें फूल, फल और टास कल्पे सो संकल्पमात्र है; तैसे ही यह जगत् भी संवेदनरूपी ब्रह्मा ने कल्पा है और उसके मन में फुरता है सो संकल्परूप है। जैसे उसने संकल्प किया है तैसे ही स्थित है और जैसे उसमें क्रम रचा है कि इस प्रकार यह पदार्थ होगा सो तैसे ही स्थित हुआ है और देश, काल, पदार्थ भी तैसे ही स्थित हैं। इसका नाम नोति है। हे राजन्! तूने प्रश्न किया था कि जो पुरुष अरूप है और दूर है यदि उसके अर्थ किसी ने दिया तो उसको कैसे पहुँचता है और अरूप और स्वरूप का कैसे संयोग है? जो कोई शुद्ध संवेदन पुरुष है उसको सब पदार्थ निकट भासते हैं और जो कोई पुरुष मनोराज कल्पता है और उसमें बड़ा देश रचता है सो दूर से दूर मार्ग है तो जो उस देश के वासी हैं उनको देश की अपेक्षा से दूसरा देश दूर से दूर है परन्तु जिसका मनोराज है उसको तो सब निकट है और अपना आप ही रूप है। इस प्रकार जो शुद्धसंवेदनरूप है उसके अर्थ जो कोई देता है—ईश्वर अर्थ अथवा देवता के अर्थ हो—उसको निकट से निकट सब अपने में भासता है। आदिनोति इसी प्रकार हुई है कि शुद्धसंवेदन को सब अपने निकट से निकट ही भासता है, क्योंकि सब संकल्प है और जैसी रचना संकल्प में रचती है तैसे ही होती है—संकल्प में क्या नहीं होता? थम्भे का प्रश्न जो तूने किया है कि काष्ठ का था सुवर्ण का कैसे हो गया; सो भी सुनो। हे राजन्! आदि जो संवेदनरूप ब्रह्मा है उसने अपने मनोराज में नोति की है कि तपादिक से वर और शाप सिद्ध होता है। उसके कहे से जो काष्ठ का थम्भा स्वर्ण हो गया तो तू विचारकर देख कि किस कारण से काष्ठ का सुवर्ण हुआ। वह केवल संकल्पमात्र है; जो संकल्प से भिन्न कुछ भी होता

तो काष्ठ का सुवर्ण न होता। यह सर्व विश्व संकल्परूप है; जैसा संकल्प दृढ़ होता है, तैसा ही हो भासता है। जैसे तू अपने मनोराज में संकल्प करे है कि, यह ऐसे रहे और जो उससे और प्रकार करे तो भी हो जावे सो होता है; तैसे ही वर और शाप भी और प्रकार हो जाते हैं। न और कोई जगत् है, न कार्य है और न कारण है वही आत्मसत्ता ज्यों की त्यों है; जैसा संकल्प जिसमें फुरता है तैसा हो भासता है तू पूछता है कि असत्य से फिर जगत् कैसे उत्पन्न होता है जो आप ही न हो तो उसमें जगत् कैसे प्रकटे? हे राजन्! असत्य इसी का नाम है कि जो जगत् असत्य था इसलिये श्रुति ने उसे असत्य कहा। जो आदि असत्य था इसलिये असत्यता जगत् की कही है पर आत्मा तो असत्य नहीं होता? सबका शेषभूत आत्मा है; जब उसमें संवेदन फुरती है तब ब्रह्म अलक्ष्यरूप हो जाता है परन्तु उस संवेदन के फुरने और मिटने में ब्रह्म ज्यों का त्यों है उसका अभाव नहीं होता। जैसे जल में तरङ्ग उपजता है और फिर लीन हो जाता है परन्तु उसके उपजने और मिटने में जल ज्यों का त्यों है और तरङ्ग उसके आभास फुरते हैं। जैसे तू मनोराज से एक नगर कल्पे और फिर संकल्प छोड़दे तब संकल्परूप नगर का अभाव हो जाता है परन्तु सदा अविनाशी रहता है। जैसे स्वप्ने की सृष्टि उपजती भी है और लीन भी हो जाती है परन्तु अधिष्ठान ज्यों का त्यों है और जैसे रत्नों का प्रकाश उठता है और लीन भी हो जाता है परन्तु रत्न ज्यों का त्यों होता है; तैसे ही आत्मा विश्व के भाव अभाव में ज्यों का त्यों रहता है पर उसका आभास जगत् उपजता मिटता भासता है। उपजता है तब उत्पत्ति भासती है और जब मिटता है तब प्रलय हो जाती है परन्तु उभय आभास हैं। जैसे वायु फुरती है तब भासती है और ठहर जाती है तब नहीं भासती परन्तु वायु एक है; तैसे ही आत्मा एक ही है फुरने का नाम उत्पत्ति है और न फुरने का नाम जगत् की प्रलय है सो सर्व किंचनरूप है।

इति श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाण० द्विशताधिकपञ्चाशीतितमस्सर्गः ॥२८५॥

वशिष्ठजी बोले कि हे राजन्! तूने प्रयाग के जो दो पुरुषों का प्रश्न किया है उसका उत्तर सुन। जो उसका शत्रु बन गया था सो तो उसका पाप था और जो उसका मित्र बन गया था सो उसका पुण्य था। प्रयागतीर्थ धर्मक्षेत्र था। हे राजन्! पापरूप वासना के अनुसार मृत्यु भासती है पर पुण्यरूपी जो मित्र है सो पापरूपी शत्रु को रोंकता है और पुण्यरूपी तीर्थ के बल से हृदय से अल्परूपी पाप वेग से भासता है। जब मृत्यु आती है तब वह आपको मरता जानता है और भाईजन कुटुम्बी रुदन करते हैं पर जब अपनी ओर देखता है तब जानता है कि मैं तो मुआ नहीं। जब मृतक सर्ग की ओर देखता है तब आपको मुआ जानता है और भाईजन रुदन करते हैं। इस प्रकार उसको मरना भासता है और यह देखता है कि भाईजन जलाने चले हैं; उन्होंने अग्नि में मुझको डाला है और मैं जलता हूँ। जब फिर पुण्य की ओर देखता है तब जानता है कि मैं मुआ नहीं जीता हूँ और जब फिर पाप की ओर देखता है तब जानता है कि मैं मुआ हूँ और मुझको यमदूत ले चले हैं; यह परलोक है और यहाँ मैं सुख दुःख भोगता हूँ। जब फिर पुण्य की ओर देखता है तब जानता है कि मैं मुआ नहीं; जीता हूँ; यह मेरे भाईजन बैठे हैं और वहाँ मेरा व्यवहार चेष्टा है। इस प्रकार उभय अवस्था को पुरुष देखता है। जैसे संकल्पपुर और स्वप्ननगर में उभय अवस्था देखे और एकही पुरुष नाना प्रकार की चेष्टा देखता है। कहीं जीता देखता है, कहीं मृतक देखता है; कहीं व्यवहार देखता है और कहीं निर्व्यापार इत्यादिक नाना प्रकार की चेष्टा एक ही पुरुष में होती है; तैसे ही एक ही पुरुष को पुण्य पाप की वासना से जीना मरना भासता है। हे राजन्! यह सम्पूर्ण जगत् संकल्पमात्र है; जैसा संकल्प दृढ़ होता है तैसा ही रूप हो भासता है। परलोक जानना भी अपने वासना के अनुसार भासता है और जो कुछ उसके निमित्त पुत्र बान्धव देते हैं सो पुत्र बान्धव भी उसकी पुण्य पाप वासना में स्थित हुए हैं। वे जो कुछ इसके निमित्त करते हैं उनसे यह सुख, दुःख, नरक, स्वर्ग भोगता है पर वास्तव में कोई बान्धव और पुत्र नहीं;

उसकी वासना ही नाना प्रकार के आकार को धारकर स्थित हुई है। हे राजन्! सहस्र चन्द्रमा का जो तूने प्रश्न किया है उसका उत्तर सुन। सहस्र भी इसी आकाश में स्थित होते हैं और अपनी अपनी वासना से कलासंयुक्त चन्द्रमा हो विराजते हैं परन्तु एक को दूसरा नहीं जानता परस्पर अज्ञात हैं—जो अन्तवाहक दृष्टि से देखे उसको भासते हैं। हे राजन्! जो कोई ऐसी भावना करे कि मैं उनके मण्डल को प्राप्त होऊँ तो तत्काल ही जा प्राप्त होता है। जैसे एकही मन्दिर में बहुत मनुष्य सोये हों तो उनको अपने अपने स्वप्न की सृष्टि भासती है और अन्योन्य विलक्षण है—एक की सृष्टि को दूसरा नहीं जानता; तैसे ही एक आकाश में सहस्र चन्द्रमा बनते हैं। जैसे इन्द्र ब्राह्मण के दशपुत्र दशब्रह्मा हो बैठे थे तैसे ही जिसकी कोई तीव्र भावना करता है वही हो जाता है। जो कोई भावना करे कि हम इसी मन्दिर में सप्तद्वीप का राज्य करें तो वैसा ही हो जाता है, क्योंकि अनुभवरूपी कल्पवृक्ष है उसमें जैसी तीव्रभावना होती है, तैसे ही हो भासती है। वर के वश से उस पुरुष को सप्तद्वीप का राज्य प्राप्त हुआ और शाप के वश से उसका जीव उसी मन्दिर में रहकर द्वीप का राज्य करता रहा। जैसे स्वप्न में राज्य करे हैं तैसे ही अपने मन्दिर में अपनी संवेदन ही सृष्टिरूप होकर भासती है। इसी प्रकार जो एक स्त्री की भावना करके सहस्र पुरुष ध्यान लगाये बैठे थे कि हम उसके भर्ता हों सो भी हो जाते हैं। हे राजन्! उनकी जो तीव्रभावना है वही स्त्री का रूप धारकर उनको प्राप्त होगी वे जानेंगे कि वही स्त्री हमको प्राप्त हुई है। यह जगत् केवल संकल्पमात्र है, संकल्प से भिन्न कुछ वस्तु नहीं और सब चिदाकाशरूप है अपने ही अनुभव से प्रकाशता है और जैसे उसमें संकल्प फुरता है तैसे ही हो भासता है। पृथ्वी, जल, तेज आदिक तत्त्व कोई नहीं आत्मसत्ता ही इस प्रकार स्थित है जो परम शान्त, निराकार, निर्विकार और अद्वैतरूप है। राजा बोले; हे मुनीश्वर! जगत् के आदि जो आत्मसत्ता थी सो किस आकाररूप देह में स्थित थी; देह विना तो स्थित नहीं होती? जैसे आधार विना दीपक नहीं रहता आधार होता है तो उसमें जागता

है तैसे ही आत्मसत्ता किसमें स्थित थी? वशिष्ठजी ने कहा, हे राजन्! जितने आकार तुझको भासते हैं और जिनको देखकर तूने प्रश्न उठाया है सो है नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जिन भूतों से बना देह भासता है सो भूत भी मृगतृष्णा के जलवत् हैं। जैसे रस्सी में सर्प; सीपी में रूपा; आकाश में दूसरा चन्द्रमा भ्रममात्र है, क्योंकि इनका अत्यन्त अभाव है; तैसे ही यह भूताकार ब्रह्म में भ्रम से भासते हैं—ब्रह्मसत्ता अपने आपमें स्थित है। तूने पूछा था कि जो स्वयंभू अपने आपसे उपजता है तो अब क्यों नहीं होता सो हे राजन्! कई उसके सदृश उत्पन्न होते हैं पर वास्तव में कुछ उपजा नहीं और नाना प्रकार भासता है परन्तु नाना प्रकार नहीं हुआ। जैसे स्वप्ने में सदा तू देखता है कि अद्वैत अपना आप ही नानारूप हो भासता है और पर्वत पर दौड़ता फिरता है सो किस शरीर से दौड़ता है और क्या रूप होता है? जैसे वह पर्वत और शरीर आकाशरूप होता है और भ्रम से पिण्डाकार भासता है; तैसे ही यह जगत् भी आकाशरूप है भ्रम से पिण्डाकार भासता है। हे राजन्! तू अपने स्वभाव में स्थित होकर देख कि यह सब जगत् तेरा अनुभव आकाश है स्वप्ने का दृष्टान्त भी मैंने तुमसे चेतने के निमित्त कहा है। स्वप्ना भी कुछ हुआ नहीं, सदा आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है; जब उसमें आभास संवेदन फुरती है तब वही जगत्‌रूप हो भासती है और जब आभास संकल्प मिट जाता है तब प्रलयकाल भासता है। वास्तव में न कोई उत्पन्न होता है और न प्रलय होता है ज्यों की त्यों आत्मसत्ता स्थित है। जैसे एक निद्रा के दो रूप होते हैं—एक स्वप्ना और दूसरा सुषुप्ति पर जाग्रत् में यह दोनों आकाशमात्र होती हैं; तैसे ही आभास की दो संज्ञा होती हैं—एक जगत् और दूसरी महाप्रलय पर आत्मरूपी जाग्रत् में दोनों का अभाव हो जाता है। हे राजन्! तू स्वरूप में जागकर और कलना को त्यागकर देख कि सब आत्मरूप है—और कुछ नहीं। हे रामजी! इस प्रकार मैं राजा को कहकर उठ खड़ा हुआ तब उसने भली प्रकार प्रीतिसंयुक्त मेरा पूजन किया और जब वह पूजन कर चुका तब मैं जिस कार्य के लिये आया था सो कार्य करके स्वर्ग को चला गया।

इतिश्रीयो०राजप्रश्नो०वर्णनं नाम द्विशताधिकषडशीतितमस्सर्गः २८६

वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! यह जगत् सब चिदाकाशरूप है और दूसरा कुछ बना नहीं। रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि सब चिदाकाश है बना कुछ नहीं तो सिद्ध, साधु, विद्याधर, लोकपाल, देवता इत्यादिक जो भासते हैं; कुछ बने क्यों नहीं? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! ये जो सिद्ध, साधु, विद्याधर, देवता, लोक और लोकपाल हैं सो वास्तव में कुछ उपजे नहीं; ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और ये जो प्रत्यक्ष भासते हैं सो शुद्ध संकल्प से रचे हुए हैं परन्तु वास्तव में कुछ बने नहीं, भ्रम से इनकी सत्यता भासती है। जैसे मृगतृष्णा की नदी, रस्सी में सर्प, सीपी में रूपा और संकल्पनगर है; तैसे ही आत्मा में यह जगत् है। हे रामजी! जैसे स्वप्ने में नाना प्रकार की रचना भासती है परन्तु कुछ हुआ नहीं; तैसे ही यह जगत् है। जो पुरुष इसको देखकर सत्य मानता है वह असम्यक्‌दर्शी है और जो आत्मा को देखता है वही देखता है और वही सम्यक्‌दर्शी है। हे रामजी! ये लोक और लोकपाल जगत्सत्ता में ज्यों के त्यों हैं और जैसे स्थित हैं तैसे ही हैं परन्तु परमार्थ से कुछ उपजे नहीं, अनुभवसत्ता ही संवेदन से दृश्यरूप हो भासती है और द्रष्टा ही दृश्यरूप हो भासता है परन्तु स्वरूप से भिन्न कुछ नहीं हुआ। जैसे आकाश और शून्यता और अग्नि और उष्णता में भेद नहीं; तैसे ही ब्रह्म और जगत् में भेद नहीं। हे रामजी! अब एक और वृत्तान्त तुम सुनो। स्वप्ने में जैसे अब हम हैं तैसे ही एक आगे भी चित्त प्रतिमा हुई थी। पूर्व एक कल्प में तुम और हम हुए थे। तुम मेरे शिष्य थे और मैं तुम्हारा गुरु था। तूने एक वन में मुझसे प्रश्न किया था कि हे भगवन्! एक मुझको संशय है सो नाश करो। महाप्रलय में नाश क्या होता है और अविनाशी क्या रहता है? तब मैंने कहा था, हे तात! जितना शेष विशेषरूप जगत् है सो सब नाश हो जाता है—जैसे स्वप्ने का नगर सुषुप्ति में लीन हो जाता है और निर्विशेष ब्रह्मसत्ता शेष रहती है। क्रिया, काल, कर्म, आकाश, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, पहाड़, नदियाँ और इनसे लेकर जो कुछ जगत् क्रिया, काल और द्रव्य संयुक्त है वह सब नाश हो जाता है और ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र,

इन्द्र ये जो कार्य के कारण हैं उनका नाश भी नहीं रहता। संवेदन शक्ति जो चैतन्य का लक्षणरूप है सो भी नहीं रहती, केवल अचेत चिन्मात्र एक चिदाकाश ही शेष रहता है। शिष्य बोले, हे मुनीश्वर ! जो वस्तु सत्य होती है उसका नाश नहीं होता और जो असत्य होती है सो आभासरूप है पर यह जगत् तो विद्यमान भासता है सो महाप्रलय में कहाँ जावेगा ? गुरु बोले, हे तात ! जो सत्य है उसका नाश कदाचित् नहीं होता और जो असत्य है उसका भाव नहीं; इसलिये जितना कुछ जगत् तुझको भासता है सो सब भ्रममात्र है इसमें कोई वस्तु भी सत्य नहीं भासती है परन्तु जैसे मृगतृष्णा का जल स्थित नहीं होता और दूसरा चन्द्रमा व आकाश में तरुवरे भ्रममात्र हैं; तैसे ही यह जगत् भी जो भासता है सो भ्रममात्र है। जैसे स्वप्न का नगर प्रत्यक्ष भी भासता है परन्तु भ्रममात्र है; तैसे ही यह जगत् भी भ्रमरूप जानो। हे तात ! आत्मसत्ता सर्वदाकाल सर्वत्र अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् का अभाव होता है और जाग्रत् में स्वप्न का अभाव होता है तो सृष्टि कहाँ जाती है ? जैसे जाग्रत् में स्वप्न की सृष्टि का अभाव हो जाता है; तैसे ही महाप्रलय में इसका अभाव हो जाता है। शिष्य बोले; हे भगवन् ! यह जो भासता है सो क्या है और जो नहीं भासता सो क्या है ? इसका रूप क्या है और चिदाकाश से कैसे हुआ है ? गुरु बोले; हे शिष्य ! जब शुद्ध चिदाकाश में किञ्चन संवेदन फुरती है तब जगत्‌रूप हो भासती है इससे इसका रूप भी चिदाकाश ही है—चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं सृष्टि और प्रलय दोनों उसी के रूप हैं जब संवेदन फुरती है तब सृष्टि हो भासती है और जब अफुर होती है तब प्रलयरूप हो भासती है पर दोनों उसके रूप हैं। जैसे एक ही वपु में दो स्वरूप हैं—दन्तों से शुक्ल लगता है और केशों से कृष्ण लगता है; तैसे ही आत्मा में सर्ग और प्रलय दो रूप होते हैं पर दोनों आत्मरूप हैं। जैसे एक ही निद्रा की दो अवस्था होती हैं—एक स्वप्ना और दूसरी सुषुप्ति, पर जाग्रत् में उभय नहीं; तैसे ही निद्रारूप संवेदन में सर्ग और प्रलय भासती है पर जाग्रत्‌रूप आत्मा में दोनों का अभाव है। हे तात ! जो कुछ तुमको भासता है सो सब चिदाकाशरूप है—और कुछ नहीं ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही जगत्‌रूप हो भासता है; तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। शिष्य बोले; हे भगवन् ! जो इसी प्रकार है कि द्रष्टा ही दृश्यरूप हो भासता है तो और जगत् तो कुछ न हुआ सब वही है ? गुरु बोले; हे तात ! इसी प्रकार है। जगत् कुछ वस्तु नहीं चिदाकाश ही जगत्‌रूप हो भासता है और आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है और कुछ नहीं, क्योंकि सब उसी का किञ्चन है और सर्व में सर्वदाकाल सर्वप्रकार वही सृष्टि होकर फुरती है और किसी में किसी काल किसी प्रकार कुछ हुआ नहीं आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और जो कुछ जगत् भासता है उसे वही रूप जानो। जिसको तू सर्ग और प्रलय कहता है सो सब आत्मसत्ता के नाम हैं वही सर्व में सर्वदाकाल सर्वप्रकार स्थित है। एक ही जो परमदेव है वही घट पटरूप हुआ है। पर्वत, पट, जल, तृण, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, स्थावर, जङ्गम, अस्ति, नास्ति, शून्य, अशून्य, क्रिया, काल, मूर्त्ति, अमूर्ति, बन्ध और मोक्ष आदि सर्व शब्द अर्थ से जो पदार्थ सिद्ध होते हैं सो सर्व आत्मरूप हैं और सर्व में सर्वदाकाल सर्व प्रकार आत्मा ही है और जिसमें सर्वदाकाल सर्व प्रकार नहीं वह भी आत्मा ही है जो सदा ज्यों का त्यों ही है। जैसे स्वप्न में जो कुछ भासता है सो सब आत्मसत्ता ही है और दूसरा कुछ बना नहीं। हे तात ! तृण ही कर्ता है; तृण ही भोक्ता है और तृण ही सर्वेश्वर है, घट कर्ता है, घट भोक्ता है और घट ही सर्व ईश्वर है। पट कर्ता है; पट भोक्ता है और पट ही परमेश्वर है। नर कर्ता है; नर भोक्ता है और नर ही सर्व का ईश्वर है। इसी प्रकार एक-एक वस्तु नाम से जो वस्तु है सो कर्ता भोक्ता सर्व ब्रह्मरूप है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ जगत् भासता है सो सर्व आत्मरूप है और क्षय, उदय, भीतर, बाहर, कर्ता, भोक्ता सब ईश्वर है सो विज्ञानमात्र है। कर्ता-भोक्ता वही है और न कर्ता है, न भोक्ता भी वही है। विधिमुख करके भी वही है और निषेध भी वही है। शुद्ध दृष्टि से सब चिदात्मा ही भासता है जो सर्व दुःख से रहित है। जिनको आत्मदृष्टि

इन्द्र ये जो कार्य के कारण हैं उनका नाम भी नहीं रहता। संवेदन शक्ति जो चैतन्य का लक्षणरूप है सो भी नहीं रहती, केवल अचेत चिन्मात्र एक चिदाकाश ही शेष रहता है। शिष्य बोले, हे मुनीश्वर! जो वस्तु सत्य होती है उसका नाश नहीं होता और जो असत्य होती है सो आभासरूप है पर यह जगत् तो विद्यमान भासता है सो महाप्रलय में कहाँ जावेगा? गुरु बोले, हे तात! जो सत्य है उसका नाश कदाचित् नहीं होता और जो असत्य है उसका भाव नहीं; इसलिये जितना कुछ जगत् तुझको भासता है सो सब भ्रममात्र है इसमें कोई वस्तु भी सत्य नहीं भासती है परन्तु जैसे मृगतृष्णा का जल स्थित नहीं होता और दूसरा चन्द्रमा व आकाश में तरुवरे भ्रममात्र हैं; तैसे ही यह जगत् भी जो भासता है सो भ्रममात्र है। जैसे स्वप्न का नगर प्रत्यक्ष भी भासता है परन्तु भ्रममात्र है; तैसे ही यह जगत् भी भ्रमरूप जानो। हे तात! आत्मसत्ता सर्वदाकाल सर्वत्र अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में जाग्रत् का अभाव होता है और जाग्रत् में स्वप्न का अभाव होता है तो सृष्टि कहाँ जाती है? जैसे जाग्रत् में स्वप्न की सृष्टि का अभाव हो जाता है; तैसे ही महाप्रलय में इसका अभाव हो जाता है। शिष्य बोले; हे भगवन्! यह जो भासता है सो क्या है और जो नहीं भासता सो क्या है? इसका रूप क्या है और चिदाकाश से कैसे हुआ है? गुरु बोले; हे शिष्य! जब शुद्ध चिदाकाश में किञ्चन संवेदन फुरती है तब जगत्रूप हो भासती है इससे इसका रूप भी चिदाकाश ही है—चिदाकाश से भिन्न कुछ नहीं सृष्टि और प्रलय दोनों उसी के रूप हैं जब संवेदन फुरती है तब सृष्टि हो भासती है और जब अफुर होती है तब प्रलयरूप हो भासती है पर दोनों उसके रूप हैं। जैसे एक ही वपु में दो स्वरूप हैं—दन्तों से शुक्ल लगता है और केशों से कृष्ण लगता है; तैसे ही आत्मा में सर्ग और प्रलय दो रूप होते हैं पर दोनों आत्मरूप हैं। जैसे एक ही निद्रा की दो अवस्था होती हैं—एक स्वप्ना और दूसरी सुषुप्ति, पर जाग्रत् में उभय नहीं; तैसे ही निद्रारूप संवेदन में सर्ग और प्रलय भासती है पर जाग्रत्रूप आत्मा में दोनों का अभाव है। हे तात! जो कुछ तुमको

भासता है सो सब चिदाकाशरूप है—और कुछ नहीं ब्रह्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है। जैसे स्वप्न में अपना अनुभव ही जगत्‌रूप हो भासता है; तैसे ही आत्मा में जगत् भासता है। शिष्य बोले; हे भगवन्! जो इसी प्रकार है कि द्रष्टा ही दृश्यरूप हो भासता है तो और जगत् तो कुछ न हुआ सब वही है? गुरु बोले; हे तात! इसी प्रकार है। जगत् कुछ वस्तु नहीं चिदाकाश ही जगत्‌रूप हो भासता है और आत्मसत्ता ही इस प्रकार भासती है और कुछ नहीं, क्योंकि सब उसी का किञ्चन है और सर्व में सर्वदाकाल सर्वप्रकार वही सृष्टि होकर फुरती है और किसी में किसी काल किसी प्रकार कुछ हुआ नहीं आत्मसत्ता ही अपने आपमें स्थित है और जो कुछ जगत् भासता है उसे वही रूप जानो। जिसको तू सर्ग और प्रलय कहता है सो सब आत्मसत्ता के नाम हैं वही सर्व में सर्वदाकाल सर्वप्रकार स्थित है। एक ही जो परमदेव है वही घट पटरूप हुआ है। पर्वत, पट, जल, तृण, अग्नि, पृथ्वी, आकाश, स्थावर, जङ्गम, अस्ति, नास्ति, शून्य, अशून्य, क्रिया, काल, मूर्त्ति, अमूर्ति, बन्ध और मोक्ष आदि सर्व शब्द अर्थ से जो पदार्थ सिद्ध होते हैं सो सर्व आत्मरूप हैं और सर्व में सर्वदाकाल सर्व प्रकार आत्मा ही है और जिसमें सर्वदाकाल सर्व प्रकार नहीं वह भी आत्मा ही है जो सदा ज्यों का त्यों ही है। जैसे स्वप्न में जो कुछ भासता है सो सब आत्मसत्ता ही है और दूसरा कुछ बना नहीं। हे तात! तृण ही कर्ता है; तृण ही भोक्ता है और तृण ही सर्वेश्वर है, घट कर्ता है, घट भोक्ता है और घट ही सर्व ईश्वर है। पट कर्ता है; पट भोक्ता है और पट ही परमेश्वर है। नर कर्ता है; नर भोक्ता है और नर ही सर्व का ईश्वर है। इसी प्रकार एक-एक वस्तु नाम से जो वस्तु है सो कर्ता भोक्ता सर्व ब्रह्मरूप है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त जो कुछ जगत् भासता है सो सर्व आत्मरूप है और क्षय, उदय, भीतर, बाहर, कर्ता, भोक्ता सब ईश्वर है सो विज्ञानमात्र है। कर्ता-भोक्ता वही है और न कर्ता है, न भोक्ता भी वही है। विधिमुख करके भी वही है और निषेध भी वही है। शुद्ध दृष्टि से सब चिदात्मा ही भासता है जो सर्व दुःख से रहित है। जिनको आत्मदृष्टि

नहीं प्राप्त हुई उनको भिन्न-भिन्न जगत् भासता है जो अनुभव से भिन्न नहीं है। ऐसे जानकर अपने स्वरूप में स्थित हो रहो। हे रामजी! इस प्रकार मैंने तुमसे कहा था परन्तु उससे तुमको अभ्यास की न्यूनता से बोध न हुआ इसलिये वही संस्कार अब तुमको प्राप्त हुआ है और इसी कारण से अब तुम जागे हो। हे रामजी! अब तुम अपने स्वरूप में स्थित होकर कृतकृत्य हुए हो इसलिये अपनी राजलक्ष्मी को भोगो; प्रजा की पालना करो और हृदय से आकाशवत् निर्लेप रहो।

इतिश्रीयोगवाशिष्ठेनिर्वाणप्रकरणेद्विशताधिकसप्ताशीतितमस्सर्गः २८७

बाल्मीकिजी बोले, हे भरद्वाज! जब वशिष्ठजी इस प्रकार रामजी से कह चुके तब आकाश में जो सिद्ध और देवता स्थित थे फूलों की वर्षा करने लगे—मानों मेघ बरफ़ की वर्षा करते हैं अथवा आकाश कम्पायमान हुआ है उससे तारे गिरते हैं—जब वे पुष्पों की वर्षा कर चुके तब राजा दशरथ उठ खड़े हुए और अर्घ्य पाद्य दे और पूजन कर हाथ जोड़ के कहने लगे कि हे मुनीश्वर! बड़ा कल्याण और बड़ा हर्ष हुआ जो तुम्हारे प्रसाद से हम आत्मपद को प्राप्त होकर कृतकृत्य हुए। चित्त का वियोग हुआ है इससे दृश्य फुरने का भी अभाव हुआ है और हम अचित; चिन्मात्र हैं। अब हम परमपद को प्राप्त हुए हैं और हमारे सब सन्ताप मिट गये हैं। संसाररूपी जो अन्धमार्ग था उससे थके हुए अब हम विश्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। अब मैं पहाड़ की नाईं अचल हुआ हूँ; सब आपदा से तर गया हूँ और जो कुछ जानना था सो जान रहा हूँ। हे मुनीश्वर! तुमने बहुत युक्ति से दृष्टान्त देकर जगाया है अर्थात् शून्य के दृष्टान्त, सीपी में रूपा; मृगतृष्णा का जल; रस्सी में सर्प; आकाश में दूसरा चन्द्रमा और नाव पर नदी के किनारों का चलते भासना; जल में तरङ्ग; स्वर्ण में भूषण; वायु का फुरना; गन्धर्बनगर; संकल्पपुर आदि दृष्टान्त कहे हैं जिनसे हमने तुम्हारी कृपा से जाना है कि आत्मसत्ता से भिन्न कुछ नहीं। बाल्मीकिजी बोले कि जब इस प्रकार दशरथ कह चुके तब रामजी उठे और हाथ जोड़कर इस प्रकार कहने लगे कि हे मुनीश्वर! तुम्हारी कृपा से मेरा मोह नष्ट हुआ है। अब मैं परम-

को प्राप्त हुआ हूँ; किसी में मुझको न राग है और न द्वेष है और मशान्ति को प्राप्त हुआ हूँ। न अब मुझे किसी के करने से अर्थ है और न करने में कुछ अनर्थ है—मैं परमशान्तपद को प्राप्त हुआ हूँ। हे मुनीश्वर! तुम्हारे वचनों को स्मरण करके मैं आश्चर्य को प्राप्त होकर हर्षित होता हूँ। मेरे सब सन्देह नष्ट हो गये हैं और अब मुझको और नहीं भासता सर्व ब्रह्म ही भासता है। लक्ष्मण बोले, हे भगवन्! मैं सन्तों के वचन इकट्ठे करता रहा था और सम्पूर्ण जो मेरे पुण्य थे सो अब इकट्ठे हुए थे जिन सबका फल अब उदय हुआ है। तुम्हारी कृपा से अब मैं सर्वसंशयों से रहित होकर परम पद को प्राप्त हुआ हूँ। तुम्हारे वचन चन्द्रमा की किरणों के समान शीतल हैं किन्तु उनसे भी अधिक हैं इससे मैंने परम शान्ति पाई है और मेरे दुःख सन्ताप सब नष्ट हुए हैं। शत्रुघ्न बोले, हे मुनीश्वर! जगत् और मृत्यु का जो भय था वह तुमने दूर किया है और अपने अमृतरूपी वचनों का सुधापान कराया है। अब हमारे संशय सब नष्ट हुए हैं और हम आत्मपद को प्राप्त हुए हैं। हमारे जो चिरकाल के पुण्य थे उनका फल आज पाया है। विश्वामित्र बोले, हे मुनीश्वर! सर्व तीर्थों के स्नान करने और दूसरे कर्मों से भी मनुष्य ऐसा पवित्र नहीं होता जैसे तुम्हारे वचनों से हम पवित्र हुए हैं। आज हमारे श्रवण पवित्र हुए हैं। नारदजी बोले, हे मुनीश्वर! ऐसा मोक्ष उपाय मैंने देवताओं और सिद्धों के स्थान में भी नहीं सुना और ब्रह्मा के मुख से भी नहीं सुना जैसा कि तुमने उपदेश किया है। इसके श्रवण किये से फिर संशय नहीं रहता। फिर दशरथ बोले, हे मुनीश्वर! आत्मज्ञान ऐसी सम्पदा कोई नहीं; इससे तुमने परम सम्पदा हमको दी है जिसके पाये से फिर किसी पदार्थ की इच्छा नहीं रही। अब तो हम अपने स्वभाव में स्थित हुए हैं और सम्पूर्ण कर्म हमको छोड़ गये हैं। हमारे बहुत जन्मों के पुण्य इकट्ठे हुए थे उनके फल से ये तुम्हारे पावन वचन सुने हैं। रामजी बोले; हे मुनीश्वर! बड़ा हर्ष हुआ कि सर्वसम्पदा का अधिष्ठान प्राप्त हुआ है और सर्व आपदा का अन्त हुआ है। ज्ञान से रहित जो अज्ञानी हैं वे बड़े अभागी हैं। जो आत्मपद को

त्यागकर अनात्मपदार्थ की ओर धावते हैं वे भी यत्न करके भिन्न हैं पर उनसे विमुख हो तब आत्मपद प्राप्त होता है उसी आ पाकर मैं शान्तिमान् होकर हर्षशोक से रहित हुआ हूँ और मैं पद पाया है और अजित अविनाशी सदा अपने आप में तुम्हारी कृपा से आपको ऐसा जानता हूँ। लक्ष्मण बोले; हे मुने सहस्र सूर्य एकत्र उदय हों तो भी हृदय के तम को दूर नहीं कर पर वह तम तुमने दूर किया है; और सहस्र चन्द्रमा इकट्ठे उदय हों तो भी हृदय की तपन निवृत्त नहीं कर सकते पर तुमने सम्पूर्ण तपन निवृत्त की है। हम निःसंताप पद को प्राप्त हुए हैं। बाल्मीकिजी बोले; हे साधो! जब इस प्रकार सब कह चुके तब वशिष्ठजी ने कहा। हे रामजी! इस मोक्षउपाय कथा को सुनकर सर्वब्राह्मणों का यथायोग्य पूजन करो और दान करो और जो इतर जीव हैं वे भी यथायोग्य यथाशक्ति पूजन करते हैं। तुम तो राजा हो। जब इस प्रकार वशिष्ठजी ने कहा तब राजा दशरथ ने उठकर सहस्र मथुरावासी विद्यावान् ब्राह्मणों को भोजन कराया और दक्षिणा, वस्त्र, भूषण, घोड़े, गाँव आदिक दिये और यथायोग्य पूजन किया। निदान बड़ा उत्साह हुआ; अङ्गना नृत्य करने लगीं और नगाड़े, सहनाई आदि बाजन बजने लगे और चक्रवर्ती राजा होकर दशरथ ने उत्साह किया। इस प्रकार सात दिन तक ब्राह्मणों, अतिथियों और निर्धनों को द्रव्य देकर राजा ने पूजन किया और अन्न और वस्त्र आदिक से सबको प्रसन्न किया।

इति श्रीयो० नि० द्विशताधिकाष्टाशीतितमस्सर्गः॥ २८८॥

बाल्मीकिजी बोले कि हे भरद्वाज! इस प्रकार वशिष्ठमुनि के वचन सुनकर सब रघुवंशी कृतकृत्य हुए। जैसे रामजी सुनकर संशयरहित जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं; तैसे ही तुम भी बिचरो। यह मोक्ष उपाय ऐसा है कि जो अज्ञानी श्रवण करे तो वह भी परमपद को प्राप्त हो। तुम्हारी क्या बात है तुम तो आगे से भी बुद्धिमान् हो। जिस प्रकार मुझसे कुमार ब्रह्माजी ने कहा था सो मैंने तुमको सुनाया है। जैसे रामजी आदिक कुमार और दशरथ आदिक राजा जीवन्मुक्त होकर बिचरे हैं; तैसे ही तुम भी

ाता था परन्तु वे स्वरूप से चलायमान कोई नहीं और अज्ञान जैसा दुःख भी कहिये। यह जो मोक्ष उपाय मैंने तुमसे ; संसारसमुद्र से पार करनेवाला है; दुःखरूपी सूर्यरूप है और सुखरूपी कमल की खानि का ना वारम्बार विचार करे वह यदि महामूर्ख हो तो भी शान्तपद को प्राप्त हो। जो कोई इस मोक्ष उपाय को पढ़ेगा; कहेगा; सुनेगा; लिखेगा अथवा लिखकर पुस्तक देगा उसके हृदय में जो कामना होगी वह पूर्ण होगी; ब्रह्मलोक को प्राप्त होगा और वह राजसूययज्ञ का फल पावेगा और फिर विचारकर ज्ञान पाकर मुक्त होगा। हे अङ्ग! यह जो मोक्षउपाय है सो बड़ा शास्त्र है; इसमें बड़ी कथा है और नाना प्रकार की युक्ति हैं जिन कथाओं और युक्तियों से वशिष्ठजी ने रामजी को जगाया था सो मैंने तुझको सुनाया है। अपने उपदेश से उन्होंने उनको जीवन्मुक्त किया था और कहा था कि तुम राजलक्ष्मी भोगो। वही मैंने भी तुमसे कहा है कि जीवन्मुक्त होकर अपने तपकर्म में सावधान हो रहो और निश्चय आत्मसत्ता में रखना। जिस उपदेश से रघुवंशी कृतकृत्य हुए हैं सो मैंने तुमसे ज्यों का त्यों कहा है। इस निश्चय को धारकर कृतकृत्य हो रहो। इसमें जितने इतिहास और कथा हैं उनके भिन्न भिन्न नाम सुनो। वैराग्यप्रकरण में सम्पूर्ण रामजी के प्रश्न हैं; मुमुक्षुप्रकरण में शुकनिर्वाण ही कहा है; उत्पत्तिप्रकरण में ये आठ आख्यान कहे हैं; एक आकाशज का; दूसरा लीला का; तीसरा सूची का; चतुर्थ इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों का; पञ्चम कृत्रिम इन्द्र और अहल्या का; षष्ठ चितोपाख्यान; सप्तम बाल्मीकि की कथा और अष्टम साम्बर का आख्यान; स्थितिप्रकरण में चार आख्यान हैं; एक भृगु के सुत का; दूसरा दामव्याल और कट का; तीसरा भीम, भास, दटका और चतुर्थ दासुर का। उपशमप्रकरण में एकादश आख्यान कहे हैं; एक जनक की सिद्धगीता; दूसरा पुण्यपावन; तीसरा बलि को विज्ञान की प्राप्ति का वृत्तान्त; चतुर्थ प्रह्लादविश्रान्ति; पञ्चम गाधि का वृत्तान्त; षष्ठ उद्दालकनिर्वाण; सप्तम

स्वर्गनिश्चय; अष्टम परिघनिश्चय; नवम
एकादश वीतव । निर्वाणप्रकरण में
भुशुण्डि और वशिष्ठ का; महेश और वशि
अर्जुनगीता; स्वप्नसत्यरुद्र; वैताल का; भर्ग
शिखरध्वज का; बृहस्पतिकचप्रबोध; मिथ्या
इक्ष्वाकु; निर्वाण; मृगव्याध दृष्टान्त; बलबृहस्
धर का; हरिणोपाख्यान; आख्यानोपाख्यान; ।
शिबिका; शिला का; इन्द्र ब्राह्मण के पुत्रों का; कुन्ददन्त का;
उत्तरवाक्य; शिष्य गुरु; महोत्सव और ग्रन्थप्रशं
में सब पचास आख्यान वर्णन किये गये हैं ।

वे भी यत्न करके भिन्न
होता है उसी आ
हुआ हूँ और मैं
अपने आप में ।
मण बोले; हे मुनि
को दूर कते
पश्चित तो भी
निवृत्त
चन्द्र जी बोले; हे
। हे रामजी !

इति श्रीयोगवाशिष्ठे महारामायणे वशिष्ठरामचन्द्रसंवादे निर्वाणप्रकरणे मोक्षोपायवर्णनं नाम द्विशताधिकैकोनननवतितमस्सर्गः ॥ २८६ ॥

समाप्तोयं श्रीयोगवाशिष्ठे निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्द्धः ।

इति ।

शान्त
लिखेगा
वह पूर्ण हो
पावेगा औ

दृष्टान्त
1. स्वपन
2. रस्सी में सांप
3. मरुस्थल को पानी, की नदी
4. चलती और न चलता पवन.
5. समुद्र मे तरंग
6. शशो के सींग
7. आकाश की नीलता
8. किरणे में जल
9. वन्ध्या स्त्री के स्वप्न पुत्र
10. आकाश में दूसरा चंद्रमा
11. मृग तृष्णा की नदी
12. अपनी परछाई [illegible]
13. काक तालीय वत
14. शशों के सींग
15. आकाश पुष्प.
16. श्याम चन्द्रमा.